प्रकाशक :
मनुभाई भ० मोदी, अध्यक्ष
श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल,
श्रीमद् राजचंद्र आश्रम,
स्टेशन अगास; वाया आणंद,
पोस्ट बोरिया—३८८१३० (गुजरात)

[प्रथम संस्करण विक्रम संवत् १९७५]
[द्वितीय संस्करण विक्रम संवत् २०३०]
[तृतीय संस्करण विक्रम संवत् २०३८]

प्रति : २२००

मुद्रक :
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कालोनी,
वाराणसी–१

प्रस्तावना

[प्रथम आवृत्ति]

प्रियविज्ञपाठको ! मैं श्रीजिनेंद्रदेव की कृपा से आज आप के सन्मुख श्री समयसार तीन टीकाओं सहित उपस्थित करता हूं। यह भी प्रसिद्ध नाटकत्रयी में से सम्यग्ज्ञान की प्रधानता का निरूपक ग्रंथ है और वह द्वितीय श्रुतस्कंध के नाम से प्रसिद्ध है। इसी से जैन संप्रदाय में परम आदरणीय है।

इस ग्रंथ के होने का संबंध भाषाकार ने ऐसा लिखा है—"श्रीवर्धमानस्वामी अंतिम तीर्थंकर देव सर्वज्ञ वीतराग परम भट्टारक के निर्वाण जाने के बाद पांच श्रुतकेवली हुए, उनमें अंत के श्रुतकेवली श्रीभद्रबाहुस्वामी हुए। वहां तक तो द्वादशांग शास्त्र के प्ररूपण से व्यवहार निश्चयात्मक मोक्षमार्ग यथार्थ प्रवर्तता ही रहा, पीछे कालदोष से अंगों के ज्ञान की व्युच्छित्ति होती गई। कितने ही मुनि शिथिलाचारी हुए उनमें श्वेतपट हुए। उन्होंने शिथिलाचार पोषने को जुदे सूत्र बनाये। उनमें शिथिलाचार पोषने की अनेक कथायें लिख अपना संप्रदाय दृढ़ किया। वह अब तक प्रसिद्ध है। और जो जिनसूत्र की आज्ञा में रहे, उनका आचार भी यथावत् रहा, प्ररूपणा भी यथावत् रही वे दिगंबर कहलाये। उनके संप्रदाय में श्रीवर्धमान को निर्वाण (मोक्ष) पधारने पर छह सौ तिरासी वर्ष के बाद दूसरे भद्रबाहुस्वामी आचार्य हुए। उनकी परिपाटी में कितने एक वर्ष बाद मुनि हुए, उन्होंने सिद्धांतों की प्रवृत्ति की। उसे लिखते हैं—

एक तो धरसेन नामा मुनि हुए, उनको आग्रायणी पूर्व के पांचवें वस्तु अधिकार के महाकर्मप्रकृति नामा चौथे प्राभृत का ज्ञान था। यह प्राभृत भूतबली और पुष्पदंत नाम के दो मुनियोंको पढ़ाया। पश्चात् उन दोनों मुनियों ने आगामी कालदोष से बुद्धि की मंदता जान उस प्राभृत के अनुसार षट्खंडसूत्र रच पुस्तकरूप लिखाकर उनकी प्रवृत्ति की। उसके बाद जो मुनि हुए उन्होंने उन्हीं सूत्रों को पढ़कर उनकी टीका विस्ताररूप कर धवल, महाधवल, जयधवल आदि सिद्धांत रचे। उनको पढ़कर श्रीनेमिचंद्र आदि आचार्यों ने गोमटसार, लब्धिसार क्षपणासार आदि शास्त्रों की प्रवृत्ति की। यह तो प्रथम सिद्धांत की उत्पत्ति है। इनमें तो जीव और कर्म के संयोग से हुआ जो आत्मा का संसार पर्याय उसका विस्तार गुणस्थानमार्गणारूप संक्षेप कर वर्णन है। यह पर्यायार्थिक नय को प्रधान कर कथन है। इसी नय को अशुद्ध द्रव्यार्थिक भी कहते हैं तथा अध्यात्मभाषा कर अशुद्ध निश्चय व व्यवहार कहते हैं।

दूसरे गुणधर नामा मुनि हुए। उनको ज्ञानप्रवाद पूर्व के दशम वस्तु के तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। उस प्राभृत को नागहस्ती नामा मुनि ने पढ़ा। उन दोनों मुनियों से यतिनायक नामा मुनि ने उस प्राभृतको पढ़ उसकी चूर्णिकारूप छह हजार सूत्रों का शास्त्र रचा। उसकी टीका समुद्धरण नामा मुनि ने बारह हजार प्रमाण रची। इस तरह आचार्यों की परंपरा से कुंदकुंद मुनि उन सिद्धांतों के ज्ञाता हुए। ऐसे इस द्वितीय सिद्धांत की उत्पत्ति है। इसमें ज्ञान को प्रधान कर शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से कथन है। अध्यात्म भाषा कर आत्मा का ही अधिकार है। इसको शुद्ध निश्चय तथा परमार्थ कहते हैं। इसमें पर्यायार्थिकनय को गौणकर व्यवहार कह असत्यार्थ कहा है। सो जब तक पर्यायबुद्धि रहे तब तक इस जीव के संसार है। और जब शुद्धनय का उपदेश पाकर द्रव्यबुद्धि हो, अपने आत्मा को अनादि अनंत एक, सब परद्रव्य पर भावों के

निमित्त से हुए अपने भावों से भिन्न जाने, अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव कर शुद्धोपयोग में लीन हो तब कर्म का अभाव करके निर्वाण को पाता है। इस प्रकार इस द्वितीय शुद्धनय के उपदेश के पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार, परमात्म प्रकाश आदि शास्त्र प्रवर्ते हैं। उनमें यह समय प्राभृत (सार) नामा शास्त्र है, वह श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत प्राकृत भाषामय गाथाबद्ध है। उसकी आत्मख्यातिनामा संस्कृत टीका अमृतचंद्र आचार्य ने की है, सो कालदोष से जीवों की बुद्धि मंद होती जाती है उसके निमित्त से प्राकृत संस्कृत के अभ्यास करने वाले विरले रह गये हैं। और गुरुओं की परंपरा का उपदेश भी विरला हो गया, इसलिये मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रंथों का अभ्यास कर इस ग्रंथ की देश भाषामय वचनिका करने का प्रारंभ किया है। जो भव्य जीव वाचेंगे पढ़ेंगे सुनेंगे उसका तात्पर्य धारेंगे उनके मिथ्यात्व का अभाव हो जायगा, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होगी ऐसा अभिप्राय है। कुछ पंडिताई का तथा मान लोभ आदि का अभिप्राय नहीं है। इसमें कहीं बुद्धि की मंदता से तथा प्रमाद से हीनाधिक अर्थ लिखूं तो बुद्धि के धारक जनो! मूलग्रंथ देख शुद्ध कर वांचना, हास्य नहीं करना, क्योंकि सत्पुरुषों का स्वभाव गुणग्रहण करने का ही है। यह मेरी परोक्ष प्रार्थना है।

यहां कोई कहे कि "इस समयसार ग्रंथ की तुम वचनिका करते हो, यह अध्यात्म ग्रंथ है इसमें शुद्धनय का कथन है, अशुद्धनय व्यवहारनय है उसको गौणकर असत्यार्थ कहा है। वहां पर व्यवहार चारित्र को और उसके फल पुण्यबंध को अत्यंत निषेध किया है। मुनिव्रत भी पाले उसके भी मोक्षमार्ग नहीं है ऐसा कहा है। सो ऐसे ग्रंथ तो प्राकृत संस्कृत ही चाहिये। इनकी वचनिका होने पर सभी प्राणी वांचेंगे। तब व्यवहार चारित्र को निष्प्रयोजन जानेंगे, अरुचि आने से अंगीकार नहीं करेंगे तथा पहले कुछ अंगीकार किया है उससे भी भ्रष्ट होके स्वच्छंद हुए प्रमादी हो जायेंगे। श्रद्धान का विपर्यय होगा यह बड़ा दोष आयेगा। यह ग्रंथ तो—जो पहले मुनि हुए हों, दृढ़ चारित्र पालते हों, शुद्ध आत्मस्वरूप के सन्मुख न हों और व्यवहार मात्र से ही सिद्धि होने का आशय हो उनको शुद्धात्मा के सन्मुख करने के लिये है, उन्हीं के सुनने का है। इसलिये देश भाषामय वचनिका करना ठीक नहीं है?" उसका उत्तर कहते हैं—"यह बात तो सच है कि इसमें शुद्धनय का ही कथन है परंतु जहां जहां अशुद्धनय रूप व्यवहारनय का गौणता से कथन है वहां आचार्य ऐसा भी कहते आये हैं कि पहिली अवस्था में यह व्यवहारनय हस्तावलंबरूप है अर्थात् ऊपर चढ़ने को पैड़ी रूप है इसलिये कथंचित् कार्यकारी है। इसको गौण करने से ऐसा मत जानना कि आचार्य व्यवहार को सर्वथा ही छुड़ाते हैं, आचार्य तो ऊपर चढ़ने के लिये नीचली पैड़ी छुड़ाते हैं! जब अपने स्वरूप की प्राप्ति हो जायगी तब तो शुद्ध अशुद्ध दोनों ही नयों का आलंबन छूट जायगा। नय का आलंबन तो साधक अवस्था में है। ऐसे ग्रंथ में जहां जहां कथन है उसको यथार्थ समझने से श्रद्धान का विपर्यय नहीं होगा। जो यथार्थ समझेंगे उनके व्यवहार चरित्र से अरुचि नहीं होगी। और जिनकी होनहार (भवितव्य) ही खोटी है वे तो शुद्धनय सुनें अथवा अशुद्धनय सुने विपरीत ही समझेंगे। उनको तो सब ही उपदेश निष्फल है।

यहां तीन प्रयोजन मन में विचार के प्रारंभ किया है। प्रथम तो अज्ञमति वेदांती तथा सांख्यमती आत्मा को सर्वथा एकांत पक्ष से शुद्ध नित्य अभेद रूप एक ऐसे विशेषणों कर कहते हैं, और ऐसा कहते हैं कि जैनी कर्मवादी हैं इनके आत्मा की कथनी नहीं है। आत्मज्ञान के विना वृथा कर्म का क्लेश करते हैं आत्मा को विना जाने मोक्ष नहीं हो सकता। जो कर्म में ही लीन हैं उनके संसार का दुःख कैसे मिट सकता है? तथा ईश्वरवादी नैयायिक कहते हैं कि ईश्वर सदा शुद्ध है नित्य है सब कार्यों के प्रति एक निमित्त कारण है उसके विना जाने व उसको भक्तिभाव से विना ध्याये संसारी जीव का मोक्ष नहीं, ईश्वर का शुद्ध

ध्यान कर उसी से लय लगाये तभी मोक्ष हो सकता है, जैनी ईश्वर को तो मानते ही नहीं हैं जीव को ही मानते हैं सो जीव तो अज्ञानी है असमर्थ है आप ही अहंकार से ग्रस्त हैं सो अहंकार को छोड़ के ईश्वर का ध्यावना जैनियों के नहीं है इसलिये इनके मोक्ष ही नहीं, इत्यादिक कहते हैं। सो लौकिक जन उनके मत के हैं उनमें यह प्रसिद्धि कर रक्खी है। वे जिनमत की स्याद्वाद कथनी को तो समझे ही नहीं हैं परंतु प्रसिद्ध व्यवहार देख निषेध करते हैं। उनका निषेध (खंडन) शुद्धनय की कथनी के प्रगट हुए बिना नहीं हो सकता। यदि यह कथनी प्रगट न हो तो भोले जीव अन्यमतियों का कथन सुनें तब भ्रम उत्पन्न हो जाय श्रद्धान से चिग जाय इस लिये कथन प्रगट किया है इसके प्रकट होने से श्रद्धान से नहीं चिग सकते। एक तो यह प्रयोजन है।

दूसरा यह है—कि इस ग्रंथ की वचनिका पहले भी हुई है उसके अनुसार बनारसीदास कविवर ने कलशों के कवित्त भाषा में बनाये हैं वे स्वमत परमत में प्रसिद्ध हुए हैं परंतु उनमें सामान्य अर्थ ही लोक समझते हैं विशेष समझे बिना किसी के पक्षपात भी हो जाता है। तथा उन कवित्तों को अन्यमती पढ़कर अपने मत के अर्थ में मिला लेते हैं। सो विशेष अर्थ समझे बिना यथार्थ होता नहीं भ्रम मिटता नहीं। इसलिये इस वचनिका में कहीं कहीं नयविभाग का अर्थ स्पष्ट (खुलासा) किया गया है इससे भ्रम न रहे। तथा तीसरा प्रयोजन यह है कि कालदोष से बुद्धि की मंदता से प्राकृतसंस्कृत के पढ़ने वाले तो विरले हैं उनमें भी स्वपरमत का विभाग (भेद) समझ यथार्थ तत्त्व के अर्थ को समझने वाले थोड़े हैं। और जैन ग्रंथों की गुरु आम्नाय कम रह गई है स्याद्वाद के मर्म की बात कहने वाले गुरुओं की व्युच्छित्ति (हीनता) दीखती है। इस कारण शुद्धनय का मर्म स्याद्वादविद्या को समझ कर समझे तभी यथार्थ तत्त्वज्ञान हो सकता है। अतएव इस ग्रंथ की वचनिका विशेष अर्थरूप हो तो सभी वांचें पढ़ें तथा पहली वचनिका के सामान्य अर्थ में कुछ भ्रम हुआ हो वह मिट जाय इस शास्त्र का यथार्थ ज्ञान हो जाय तो अर्थ में विपर्यय नहीं हो सकेगा। ऐसे तीन प्रयोजन मन में धारण कर वचनिका का प्रारंभ किया है।

एक प्रयोजन यह भी है कि जैनमत में मोक्षमार्ग के वर्णन में पहले सम्यग्दर्शन मुख्य (प्रधान) कहा गया है सो व्यवहारनय कर तो सम्यग्दर्शन भेदरूप अन्य ग्रंथों में अनेक प्रकार कहा है वह प्रसिद्ध ही है। परंतु इस ग्रंथ में शुद्धनय का विषय जो शुद्धआत्मा उसी के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन एक ही प्रकार नियम से कहा गया है। सो लोक में यह कथन बहुधा प्रसिद्ध नहीं हैं इसलिये व्यवहार को लोक समझते हैं। पहले लोकों के अशुभ व्यवहार था उसको निषेध कर व्यवहारनय शुभ में प्रवर्ताता है सो लोक अशुभ की पक्ष को छोड़ शुभ में प्रवर्तते हैं। कदाचित् शुभ का ही पक्ष पकड़ इसी का एकांत किया जाय तो पहले अशुभ की पक्ष का एकांत था अब शुभ का एकांत हुआ, इसी को मोक्ष मार्ग माना तब मिथ्यात्व ही दृढ़ हुआ। इसलिये शुभ की पक्ष छुड़ाने को शुद्धनय के आलम्बन का उपदेश है। इसीको निश्चयनय कह सत्यार्थ कहा है, अशुद्धनय को व्यवहार कह असत्यार्थ कहा है। क्योंकि व्यवहार शुभाशुभ रूप है बंधका कारण है, इसमें तो प्राणी अनादिकाल से ही प्रवर्त रहा है शुद्धनयरूप कभी हुआ नहीं, इसलिये इसका उपदेश सुन इसमें लीन होके व्यवहार का आलंबन छोड़े तब बंध का अभाव कर सकता है। तथा स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्ध अशुद्ध दोनों ही नयों का आलंबन नहीं रहता। नय का आलंबन तो साधक अवस्था में ही प्रयोजनवान है। सो इस ग्रंथ में ऐसा वर्णन है। इसलिये इसको खुलासा कर स्पष्ट अर्थ वचनिकारूप लिखा जाय तो सर्वथा एकांत का पक्ष मिट जाय, स्याद्वाद का मर्म यथार्थ समझे, यथार्थ श्रद्धान होवे तब मिथ्यात्व का नाश हो, यह भी वचनिका बनाने का प्रयोजन है। तथा ऐसा भी जानना कि स्वरूप की प्राप्ति दो प्रकार से होती है, प्रथम तो यथार्थ ज्ञान होकर श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन होना सो यह तो अविरत सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुण स्थान

वाले के भी होता है वहाँ वाह्य व्यवहार तो अविरतरूप ही है वहाँ व्यवहार का आलंबन है ही, और अंतरंग सब नयों के पक्षपातरहित अनेकांत तत्त्वार्थ की श्रद्धा होती है। जब संयम धार प्रमत्ताप्रमत्त गुण स्थानवर्ती मुनि होय जब तक साक्षात् शुद्धोपयोग की प्राप्ति न होय श्रेणी न चढ़े तब तक तो शुभरूप व्यवहार का भी वाह्य आलम्बन रहता है। तथा दूसरा साक्षात् शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र का होता है वह अनुभव में शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति है उसमें व्यवहार का भी आलंबन नहीं है और शुद्धनय का भी आलंबन नहीं, क्योंकि आप साक्षात् शुद्धोपयोग रूप हुआ तब नय का आलंबन कैसा? नयका आलंबन तो जब तक राग अंश था तब तक ही था। इस तरह अपने स्वरूप की प्राप्ति के होने वाद पहले तो श्रद्धा में नयपक्ष मिट जाता है पीछे साक्षात् वीतराग होय तब चारित्र का पक्षपात मिटता है। ऐसा नहीं है कि, साक्षात् वीतराग तो हुआ नहीं और शुभ व्यवहार को छोड़ स्वछंद प्रमादी हो प्रवर्ते। ऐसा हो तो नय विभाग में समझा ही नहीं उल्टा मिथ्यात्व ही दृढ़ किया। इस प्रकार मंद बुद्धियों के भी यथार्थ ज्ञान होने का प्रयोजन जान इस ग्रंथ की भाषा वचनिका का प्रारंभ किया गया है ऐसा जानना।"

भाषाकार की भूमिका से यह तो सिद्ध ही है कि इसके मूलकर्ता कुन्दकुन्दाचार्य हैं। वे पट्टावलियों के अनुसार वि० सं० ४९ में हुए हैं। इस ग्रन्थ की दो संस्कृत टीकायें और एक भाषा टीका इस तरह तीन टीकायें मिलती हैं उनमें से एक आत्मख्याति नाम की संस्कृतटीका अमृतचन्द्राचार्यकृत है, दूसरी तात्पर्यवृत्ति संस्कृत टीका जयसेनाचार्य की है, तीसरी भाषा टीका पं० जयचन्द्रजी कृत है वह आजकल की प्रचलित भाषा में अन्वय सहित परिवर्तित की गई है। पहले जैपुरी भाषा में छपी थी। इन तीनों टीकाओं का सर्व-साधारण में प्रचार होने के लिए मूल्य भी लागत के लगभग ४) चार रुपये जिल्द सहित रक्खा गया है और गाथा सूची विषय सूची भी साथ में लगा दी है जिससे कि पाठकों को सुभीता हो। इसका उद्धार श्रीराय-चन्द्रजी द्वारा स्थापित परमश्रुतप्रभावक मंडल की तरफ से हुआ है अतः उन कार्य कर्ताओं को कोटिशः धन्यवाद देता हूँ। तथा श्रीमान् सेठ भैरून्दानजी लाडनूं निवासी ने जो ५०) पचास रुपये इसकी सहायतार्थ भेजे हैं इसलिए उनको भी शतशः धन्यवाद है। अन्त में यह प्रार्थना है कि यदि प्रमाद से, दृष्टि दोष से कहीं पर अशुद्धियां रह गई हों पाठक गण मेरे ऊपर क्षमा करके शुद्ध करते हुए पढ़ें क्योंकि अल्पबुद्धि से अशुद्धियों का रह जाना सम्भव है। इस तरह धन्यवाद पूर्वक प्रार्थना करता हुआ इस प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ। अलं विज्ञेषु।

जैनग्रंथ उद्धारक कार्यालय
खत्तरगली हौदावाड़ी
पो० गिरगांव—बम्बई.
माघ वदि ६, वी०सं० २४४५

जैनसमाज का सेवक—
पं० मनोहरलाल
पाढम (मैनपुरी) निवासी

इति प्रस्तावना

प्रस्तावना

(द्वितीय आवृत्ति)

— ० —

समयसार के रचयिता प्रातःस्मरणीय श्री कुन्दकुन्दाचार्य हैं अतः ग्रन्थ के सन्दर्भ में उनके जीवनवृत्त पर कुछ प्रकाश डालना प्रासंगिक है—

कुन्दकुन्दाचार्य और उनका प्रभाव

दिगम्बर जैनाचार्यों में कुन्दकुन्द का नाम सर्वोपरि है। मूर्तिलेखों, शिलालेखों, ग्रन्थप्रशस्तिलेखों एवं पूर्वाचार्यों के संस्मरणों में कुन्दकुन्द स्वामी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ लिया मिलता है।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ॥

इस मङ्गल पद्य के द्वारा भगवान् महावीर और उनके प्रधान गणधर गौतम के बाद कुन्दकुन्द स्वामी को मङ्गल कहा गया है। इनकी प्रशस्ति में कविवर वृन्दावन का निम्नांकित सवैया अत्यन्त प्रसिद्ध है, जिसमें बतलाया गया है कि मुनीन्द्र कुन्दकुन्द सा आचार्य न हुआ है, और न होगा—

जासके मुखारविन्दतैं प्रकाश भासवृन्द
स्याद्वाद जैन बैन इंद कुन्दकुन्द से
तासके अभ्यास तैं विकास भेद ज्ञान होत
मूढ़ सो लखे नहीं कुबुद्धि कुन्दकुन्द से।
देत हैं असीस शीस नाय इन्द चंद जाहि
मोह मार खंड मारतंड कुन्दकुन्द से
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा
हुए, न हैं, न होंहिगे मुनिंद कुन्दकुन्द से ॥

श्रीकुन्दकुन्द स्वामी के इस जयघोष का कारण है उनके द्वारा प्रतिपादित वस्तुतत्त्व का, विशेषतया आत्मतत्त्व का विशद वर्णन। समयसार आदि ग्रन्थों में उन्होंने पर से भिन्न तथा स्वकीय गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा का जो वर्णन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने इन ग्रंथों में अध्यात्मधारारूप जिस मन्दाकिनी को प्रवाहित किया है उसके शीतल एवं पावन प्रवाह में अवगाहन कर भवभ्रमणश्रान्त पुरुष शाश्वत शान्ति को प्राप्त करते हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य का विदेह गमन

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के विषय में यह मान्यता प्रचलित है कि वे विदेह क्षेत्र गये थे और सीमंधर स्वामी की दिव्यध्वनि से उन्होंने आत्मतत्त्व का स्वरूप प्राप्त किया था। विदेह गमन का सर्वप्रथम उल्लेख करने वाले आचार्य देवसेन (वि० सं० दशवीं शती) है। जैसा कि उनके दर्शनसार से प्रकट है—

जइ पउमणंदिणाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कह सुमग्गं पयाणंति ॥४३॥

इसमें कहा गया है कि यदि पद्मनन्दिनाथ, सीमंधर स्वामी द्वारा प्राप्त दिव्य ज्ञान से बोध न देते तो श्रमण-मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?

देवसेन के बाद ईसा की बारहवीं शताब्दी के विद्वान् जयसेनाचार्य ने भी पञ्चास्तिकाय की टीका के आरम्भ में निम्नलिखित अवतरण पुष्पिका में कुन्दकुन्द स्वामी के विदेह गमन की चर्चा की है—"अथ श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञ श्रीमंधरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमलविनिर्गतदिव्यवाणीश्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्त्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे यथाक्रमेणाधिकारशुद्धिपूर्वकं तात्पर्यव्याख्यानं कथ्यते।"

'जो कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे, प्रसिद्ध कथा के अनुसार पूर्वविदेह क्षेत्र जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमंधरस्वामी तीर्थंकर परमदेव के दर्शन कर तथा उनके मुखकमल से विनिर्गत दिव्य ध्वनि के श्रवण से अवधारित पदार्थों से शुद्ध आत्मतत्त्व आदि सारभूत अर्थ को ग्रहण कर जो पुनः वापिस आये थे तथा पद्मनन्दी आदि जिनके दूसरे नाम थे, ऐसे श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव के द्वारा अन्तस्तत्त्व की मुख्य रूप से और बहिस्तत्त्व की गौणरूप से प्रतिपत्ति कराने के लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचिवाले शिष्यों को समझाने के लिए पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्र रचा गया।'

षट्प्राभृत के संस्कृतटीकाकार श्रीश्रुतसागरसूरि ने अपनी टीका के अन्त में भी कुन्दकुन्द स्वामी के विदेहगमन का उल्लेख किया है—

'श्रीमत्पद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्यवक्रग्रीवाचार्यैलाचार्य—गृध्रपिच्छाचार्यनामपञ्चकविराजितेन चतुरङ्गुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवन्दितश्रीमंधरापरनामस्वयंप्रभजिनेन तत्प्राप्तश्रुतज्ञानसम्बोधितभारतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचन्द्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन कलिकालसर्वज्ञेन विरचिते षट्प्राभृतग्रंथे'—

'पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य, इन पाँच नामों से जो युक्त थे, चार अंगुल ऊपर आकाश गमन की ऋद्धि जिन्हें प्राप्त थी, पूर्वविदेह क्षेत्र के पुण्डरीकिणी नगर में जाकर श्रीमंधर अपरनाम स्वयंप्रभ जिनेन्द्र की जिन्होंने वन्दना की थी, उनसे प्राप्त श्रुतज्ञान के द्वारा जिन्होंने भरतक्षेत्र के भव्य जीवोंको सम्बोधित किया था, जो जिनचन्द्र सूरि भट्टारक के पट्ट के आभूषण स्वरूप थे तथा कलिकाल के सर्वज्ञ थे, ऐसे कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा विरचित षट् प्राभृत ग्रंथ में।'

उपर्युक्त उल्लेखों से साक्षात् सर्वज्ञदेव की वाणी सुनने के कारण कुन्दकुन्द स्वामी की अपूर्व महिमा प्रख्यापित की गई है। किन्तु कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थों में उनके स्वमुख से कहीं विदेह गमन की चर्चा उपलब्ध नहीं होती। उन्होंने समयप्राभृत के प्रारम्भ में सिद्धों की वन्दनापूर्वक निम्न प्रतिज्ञा की है—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥१॥

इसमें कहा गया है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा भणित समयप्राभृत को कहूँगा। यद्यपि 'सुयकेवलीभणियं' इस पद की टीका में श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने कहा है—'अनादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन, निखिलार्थसाक्षात्कारिकेवलीप्रणीतत्वेन, श्रुतकेवलिभिः स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्य।'

अर्थात् अनादिनिधन परमागम शब्दब्रह्म द्वारा प्रकाशित होने से, तथा सब पदार्थों के समूह का साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञदेव के द्वारा प्रणीत होने से और स्वयं अनुभव करने वाले श्रुतकेवलियों के द्वारा कहे जाने से जो प्रमाणता को प्राप्त है।

तो भी इस कथन से यह स्पष्ट नहीं होता कि मैंने केवली की वाणी प्रत्यक्ष सुनी है अतः केवली इसके कर्ता हैं। यहाँ तो मूलकर्ता की अपेक्षा केवली का उल्लेख जान पड़ता है। जयसेनाचार्य ने भी केवली का साक्षात् कर्ता के रूप में कोई उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने 'सुयकेवलीभणियं' की टीका इस प्रकार की है—'श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं। अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरकथितमिति।'

अर्थात् श्रुत—परमागम में केवली—सर्वज्ञ भगवान् के द्वारा कहा गया। अथवा श्रुतकेवली—गणधर के द्वारा कहा गया। फिर भी देवसेन आदि के उल्लेख सर्वथा निराधार नहीं हो सकते। देवसेन ने आचार्य परम्परा से जो चर्चाएं चली आ रही थीं उन्हें दर्शनसार में निबद्ध किया है। इससे सिद्ध होता है कि कुन्दकुन्द के विदेहगमन की चर्चा दर्शनसार की रचना के पहले भी प्रचलित रही होगी।

कुन्दकुन्दाचार्य के नाम

पञ्चास्तिकाय के टीकाकार जयसेनाचार्य ने कुन्दकुन्द के पद्मनन्दी आदि अपर नामों का उल्लेख किया है। षट् प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने पद्मनन्दी, कुन्दकुन्दाचार्य, वक्रग्रीवाचार्य, एलाचार्य और गृध्रपिच्छाचार्य इन पांच नामों का निर्देश किया है। नन्दिसंघ से सम्बद्ध विजयनगर के शिलालेख में भी जो लगभग १३८६ ई० का है, उक्त पांच नाम बतलाये गये हैं। नन्दिसंघ की पट्टावली में भी उपर्युक्त पांच नाम निर्दिष्ट हैं। परन्तु अन्य शिलालेखों में पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द अथवा कोण्डकुन्द इन दो नामों का ही उल्लेख मिलता है।

कुन्दकुन्द का जन्मस्थान

इन्द्रनन्दी आचार्य ने पद्मनन्दी को कुण्डकुन्दपुर का बतलाया है। इसलिए श्रवणबेलगोला के कितने ही शिलालेखों में उनका कोण्डकुन्द नाम लिखा है। श्री पी० बी० देसाई ने 'जैनिज्म इन साउथ इंडिया' में लिखा है कि गुण्टकल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग ४ मील पर एक कोनकुण्डल नाम का स्थान है जो अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित है। शिलालेख में उसका प्राचीन नाम 'कोण्डकुन्दे' मिलता है। यहाँ के निवासी इसे आज भी 'कोण्डकुन्दि' कहते हैं। बहुत कुछ सम्भव है कि कुन्दकुन्दाचार्य का जन्म-स्थान यही हो।

कुन्दकुन्द के गुरु

संसार से निःस्पृह वीतराग साधुओं के माता-पिता के नाम सुरक्षित रखने-लेखबद्ध करने की परम्परा प्रायः नहीं रही है। यही कारण है कि समस्त आचार्यों की माता-पिता विषयक उपलब्धि प्रायः नहीं है। हाँ, इनके गुरुओं के नाम किसी न किसी रूप में उपलब्ध होते हैं। पञ्चास्तिकाय की तात्पर्यवृत्ति में जयसेना-चार्य ने कुन्दकुन्द स्वामी के गुरु का नाम कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव लिखा है और नन्दिसंघ की पट्टावली में उन्हें जिनचन्द्र का शिष्य बतलाया गया है। परन्तु कुन्दकुन्दाचार्य ने बोधपाहुड के अन्त में अपने गुरु के रूप में भद्रबाहु का स्मरण करते हुए अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य बतलाया है। बोधपाहुड की गाथाएं इस प्रकार हैं—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णाणं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥
बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउलवित्थरणं।
सुयणाणि भद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयओ ॥६२॥

प्रथम गाथा में कहा गया है कि जिनेन्द्र भगवान् महावीर ने अर्थ रूप से जो कथन किया है वह भाषा सूत्रों में शब्द विकार को प्राप्त हुआ अर्थात् अनेक प्रकार के शब्दों में ग्रथित किया गया है। भद्रबाहु के शिष्य ने उसे उसी रूप में जाना है और कथन किया है। द्वितीय गाथा में कहा गया है कि बारह अंगों और चौदह पूर्वों के विपुल विस्तार के वेत्ता गमक गुरु भगवान् श्रुतकेवली भद्रबाहु जयवन्त हों।

ये दोनों गाथाएं परस्पर में सम्बद्ध हैं। पहली गाथा में अपने आपको जिन भद्रबाहु का शिष्य कहा है दूसरी गाथा में इन्हीं का जयघोष किया है। यहाँ भद्रबाहु से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ही ग्राह्य जान पड़ते हैं क्योंकि द्वादश अंग और चतुर्दश पूर्वों का विपुल विस्तार उन्हीं से सम्भव था। इसका समर्थन समयप्राभृत के पूर्वोक्त प्रतिज्ञावाक्य 'वंदित्तु सव्वसिद्धे'—से भी होता है। जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं श्रुतकेवली के द्वारा प्रतिपादित समयप्राभृत को कहूंगा। श्रवणबेलगोला के अनेक शिलालेखों में यह उल्लेख मिलता है कि अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ भद्रबाहु यहाँ पधारे और वहीं एक गुफा में उनका स्वर्गवास हुआ। इस घटना को आज ऐतिहासिक तथ्य के रूप में स्वीकृत किया गया है।

अब विचारणीय बात यह रहती है कि यदि कुन्दकुन्द को अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य माना जाता है तो वे विक्रम शताब्दी से ३०० वर्ष पूर्व ठहरते हैं और उस समय जबकि ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों के जानकार आचार्यों की परम्परा विद्यमान थी तब उनके रहते हुए कुन्दकुन्द स्वामी की इतनी प्रतिष्ठा कैसे सम्भव हो सकती है और कैसे उनका अन्वय चल सकता है? इस स्थिति में कुन्दकुन्द को उनका परम्परा शिष्य माना जा सकता है, साक्षात् नहीं। श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व उन्हें गुरुपरम्परा से प्राप्त रहा होगा, उसी के आधार पर उन्होंने अपने आपको भद्रबाहु का शिष्य घोषित किया है। बोधपाहुड में संस्कृत टीकाकार श्री श्रुतसागरसूरि ने भी 'भद्दबाहुसीसेण' का अर्थ विशाखाचार्य कर कुन्दकुन्द को उनका परम्परा शिष्य ही स्वीकृत किया है। श्रुतसागरसूरि की पंक्तियां निम्न प्रकार हैं—

'भद्रबाहुशिष्येण अर्हद्बलिगुप्तिगुप्तापरनामद्वयेन विशाखाचार्यनाम्ना दशपूर्वधारिणामेकादशाचार्याणां मध्ये प्रथमेन ज्ञातम्।'

इन पंक्तियों द्वारा कहा गया है कि यहां भद्रबाहु के शिष्य से विशाखाचार्य का ग्रहण है। इन विशाखाचार्य के अर्हद्बलि और गुप्तिगुप्त ये दो नाम और भी हैं तथा ये दशपूर्व के धारक ग्यारह आचार्यों के मध्य प्रथम आचार्य थे। भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली थे जैसा कि श्रुतसागरसूरि ने ६२ वीं गाथा की टीका में कहा है—

'पञ्चानां श्रुतकेवलिनां मध्येऽन्त्यो भद्रबाहुः'

अर्थात् भद्रबाहु पांच श्रुतकेवलियों में अन्तिम श्रुतकेवली थे। अतः उनके द्वारा उपदिष्ट तत्त्व को उनके शिष्य विशाखाचार्य ने जाना। उसी की परम्परा आगे चलती रही। गमक गुरु का अर्थ श्रुतसागरसूरि ने उपाध्याय किया है सो विशाखाचार्य के लिए यह विशेषण उचित ही है।

कुन्दकुन्द स्वामी का समय

कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण पर 'प्रवचनसार' की प्रस्तावना में डा० ए० एन० उपाध्ये ने, 'समन्तभद्र' की प्रस्तावना में स्व० श्री जुगलकिशोर जी मुख्तार ने, 'पञ्चास्तिकाय' की प्रस्तावना में डा० ए० चक्रवर्ती ने तथा 'कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह' में श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने विस्तार से चर्चा की है। लेख विस्तार के भय से मैं उन सब चर्चाओं के अवतरण नहीं देना चाहता। जिज्ञासु पाठकों को तत्-तत् ग्रन्थों से जानने की प्रेरणा करता हुआ कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण के विषय में प्रचलित मात्र दो

मान्यताओं का उल्लेख कर रहा हूँ। एक मान्यता प्रो० हार्नले द्वारा सम्पादित नन्दिसंघ की पट्टावलियों के आधार पर यह है कि कुन्दकुन्द विक्रम की पहली शताब्दी के विद्वान् थे। विक्रम सं० ४९ में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए, ४४ वर्ष की अवस्था में उन्हें आचार्य पद मिला, ५१ वर्ष १० महीने तक वे उस पद पर प्रतिष्ठित रहे और उनकी कुल आयु ९५ वर्ष १० माह १५ दिन की थी। डा० ए० चक्रवर्ती ने पञ्चास्तिकाय की प्रस्तावना में अपना यही अभिप्राय प्रकट किया है और दूसरी मान्यता यह है कि वे विक्रम की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध अथवा तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ के विद्वान् हैं। जिसका समर्थन श्री स्व० नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्त्यार आदि विद्वान् करते आये हैं।

कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और उनकी महत्ता

दिगम्बर जैन ग्रंथों में कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित ग्रंथ अपना अलग प्रभाव रखते हैं। उनकी वर्णन शैली ही इस प्रकार की है कि पाठक उससे वस्तु स्वरूप का अनुगम बड़ी सरलता से कर लेता है। व्यर्थ के विस्तार से रहित, नपे-तुले शब्दों में किसी बात को कहना इन ग्रन्थों की विशेषता है। कुन्दकुन्द की वाणी सीधी हृदय पर असर करती है। निम्नांकित ग्रन्थ कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित निर्विवाद रूप से माने जाते हैं तथा जैन समाज में उनका सर्वोपरि मान है। १. पञ्चास्तिकाय, २. समयसार, ३. प्रवचनसार, ४. नियमसार. ५. अष्टपाहुड (दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्खपाहुड, सीलपाहुड और लिङ्गपाहुड), ६. बारसणुवेक्खा और भत्तिसंगहो।

इनके सिवाय 'रयणसार' नाम का ग्रंथ भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित प्रसिद्ध है परन्तु उसके अनेक पाठ भेद देखकर विद्वानों का मत है कि यह कुन्दकुन्द के द्वारा रचित नहीं है अथवा इसके अन्दर अन्य लोगों की गाथाएँ भी सम्मिलित हो गई हैं। भाण्डारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट पूना से हमने १८२५ संवत् की लिखित हस्तलिखित प्रति बुलाकर उससे मुद्रित रयणसार की गाथाओं का मिलान किया तो बहुत अन्तर मालूम हुआ। मुद्रित प्रति में बहुत सी गाथायें छूटी हुई हैं तथा नवीन गाथाएं मुद्रित हैं। उस प्रति पर रचयिता का नाम नहीं है। उधर सूची में भी यह प्रति अज्ञात लेखक के नाम से दर्ज है। चर्चा आने पर पं० परमानन्द जी शास्त्री ने बतलाया कि हमने ७०–८० प्रतियां देखी हैं सबका यही हाल है। मुद्रित प्रति में अपभ्रंश का एक दोहा भी शामिल हो गया है तथा कुछ इस अभिप्राय की गाथाएँ हैं जिनका कुन्दकुन्द की विचारधारा से मेल नहीं खाता। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खण्डागम के आद्य भाग पर कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित परिकर्म ग्रंथ का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ का उल्लेख षट्खण्डागम के विशिष्ट पुरस्कर्त्ता आचार्य वीरसेन ने अपनी टीका में कई जगह किया है। इससे पता चलता है कि उनके समय तक तो वह उपलब्ध रहा। परन्तु आजकल उसकी उपलब्धि नहीं है। शास्त्र भण्डारों, खासकर दक्षिण के शास्त्र भण्डारों में इसकी खोज की जानी चाहिए। मूलाचार भी कुन्दकुन्द स्वामी के द्वारा रचित माना जाने लगा है क्योंकि उसकी अन्तिम पुष्पिका में 'इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीतमूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरियं वसुनन्दिनः श्रमणस्य, यह उल्लेख पाया जाता है। विशेष परिज्ञान के लिए पुरातनवाक्यसूची की प्रस्तावना में स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्त्यार का संदर्भ पठितव्य है। कुन्दकुन्द स्वामी के समस्त ग्रन्थों का परिचय कुन्दकुन्द भारती की प्रस्तावना में मैंने दिया है। समयसार का विषय परिचय यहाँ भी आगे दिया जा रहा है।

कुन्दकुन्द साहित्य में साहित्यिक सुषमा

कुन्दकुन्दाचार्य ने अधिकांश गाथा छन्द का, जो कि आर्या नाम से प्रसिद्ध है, प्रयोग किया है। कहीं अनुष्टुप् और उपजाति का भी प्रयोग किया है। एक ही छन्द को पढ़ते-पढ़ते बीच में यदि विभिन्न छन्द आ

जाता है तो उससे पाठक को एक विशेष प्रकार का हर्ष होता है। कुन्दकुन्द स्वामी के कुछ अनुष्टुप् छन्दों का नमूना देखिए।

ममत्तिं परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥५७॥–भावप्राभृत
एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥–भावप्राभृत
सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥६२॥–मोक्षप्राभृत
विरदी सव्वसावज्जे तिगुत्ती पिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२५॥
जो समो सव्वभूदेसु थावरेसु तसेसुवा।
तस्स सामाइगं ठाइ इदि केवलिसासणे ॥१२६॥—नियमसार
चेया उ पयडी अट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हं वि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥—समयप्राभृत

एक उपजाति का नमूना देखिए—

णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहियेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥—प्रवचनसार

अलङ्कारों की पुट भी कुन्दकुन्द स्वामी ने यथास्थान दी है। जैसे, अप्रस्तुतप्रशंसा का एक उदाहरण देखिए—

ण मुयइ पयडि अभव्वो सुट्ठु वि आयण्णिऊण जिणधम्मं।
गुडदुद्धं पि पिवंता ण पण्णया णिव्विसा होंति ॥१३६॥–भावप्राभृत

थोड़े से हेर-फेर के साथ यह गाथा समयप्राभृत में आई है। उपमालंकार की छटा देखिये—

जह तारयाण चंदो मयराओ मयउलाण सव्वाणं।
अहिओ तह सम्मत्तो रिसिसावय दुविहधम्माणं ॥१४२॥
जह फणिराओ रेहइ फलमणिमाणिक्ककिरणविप्फुरिओ।
तह विमलदंसणधरो जिणभत्ती पवयणो जीवो ॥१४३॥
जह तारायणसहियं ससहरबिंबं खमंडले विमले।
भाविय तह वयविमलं जिणलिंगं दंसणविशुद्धं ॥१४४॥
जह सलिलेण ण लिप्पइ कमलिणिपत्तं सहावपयडीए।
तह भावेण ण लिप्पइ कसायविसए हि सप्पुरिसो ॥१५२॥–भावप्राभृत

रूपकालंकार की बहार देखिये—

जिणवर चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिरायेण।
ते जम्मवेल्लिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५१॥

ते धीर वीर पुरिसा खमदमखग्गेण विप्फुरंतेण ।
दुज्जयपवलबलुद्धरकसायमडणिज्जिया जेहिं ॥१५४॥
मायावेल्लि असेसा मोहमहातरुवरम्मि आरूढा ।
विसयविसपुप्फफुल्लिय लुणंति मुणि णाणसत्थेहिं ॥१५६॥ भावप्राभृत

कहीं पर कूटक पद्धति का भी अनुसरण किया है । यथा,

तिहि तिण्णि धरवि णिच्चं तिअरहिओ तह तिएण परियरिओ ।
दो दोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥४४॥–मोक्षप्राभृत

अर्थात् तीन के द्वारा (तीन गुप्तियों के द्वारा) तीन को (मन, वचन, काय को) धारण कर निरन्तर तीन से (शल्यत्रय) रहित, तीन से (रत्नत्रय से) सहित और दो दोषों (राग, द्वेष) से मुक्त रहने वाला योगी परमात्मा का ध्यान करता है ।

[1]कुन्दकुन्द का शिलालेखों तथा उत्तरवर्ती ग्रन्थों में उल्लेख

कुन्दकुन्द स्वामी अत्यन्त प्रसिद्ध और सर्वमान्य आचार्य थे अतः इनका उल्लेख अनेक शिला लेखों में मिलता है । तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों ने बड़ी श्रद्धा के साथ इनका संस्मरण किया है । जैन-संदेश के शोधाङ्कों के आधार पर कुछ उल्लेखों का यहाँ संकलन किया जाता है—

श्रीमतो वर्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने ।
श्रीकोण्डकुन्दनामाभून्मूलसङ्घाग्रणीर्गणी ॥—श्र० बे० शि० ५५।६९।४९२
वन्द्यो विभुर्भुवि न कैरिह कोण्डकुन्दः
कुन्दप्रभाप्रणयिकीर्तिविभूषिताशः ।
यश्चारुचारणकराम्बुजचञ्चरीक—
श्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ॥श्र० बे० शि० ५४।६७
तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः ।
श्रीकोण्डकुन्दादिमुनीश्वराख्यस्तत्संयमादुद्गतचारणर्द्धिः ॥—श्र० बे० शि० ४०।६०
श्रीपद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकोण्डकुन्दः ।
द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजातसुचारणर्द्धिः ॥
—श्र० बे० शि० ४२, ४३, ४७, ५०
इत्याद्यनेकसूरिष्वथ सुपदमुपेतेषु दीव्यत्तपस्या—
शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि स जगतां कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।
रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः ।
रजःपदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरङ्गुलं सः ॥ —श्र० बे० शि० १०५
तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला ।
बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुन्दोदितचण्डदण्डः ॥—श्र० बे० शि० १०८
श्रीमूलसङ्घेऽजनि कुन्दकुन्दः सूरिर्महात्माखिलतत्त्ववेदी ।
सीमन्धरस्वामिपदप्रबन्दी पञ्चाह्वयो जैनमतप्रदीपः ॥ धर्मकीर्ति, हरिवंशपुराण

---

१. जैन संदेश के शोधांकों के आधार पर संकलित

कवित्वनलिनीग्रामनिबोधनसुधाघृणिम् ।
वन्द्यैर्वन्द्यमहं वन्दे कुन्दकुन्दाभिधं मुनिम् ॥ मु० विद्यानन्दि-सुदर्शन च०
श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणोऽतिरम्यः ।
तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनन्दी ॥
आचार्यकुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामतिः ।
एलाचार्यो गृध्रपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥ सा० इ० इन्स, नं० १५२
कुन्दकुन्दमुनिं वन्दे चतुरङ्गुलचारणम् ।
कलिकाले कृतं येन वात्सल्यं सर्वजन्तुषु ॥ सोमसेन पुराण
सृष्टेः समयसारस्य कर्ता सूरिपदेश्वरः ।
श्रीमच्छ्रीकुन्दकुन्दाख्यस्तनोतु मतिमेदुराम् ॥ अजितब्रह्म-हनूमच्चरित्र
सन्नन्दिसङ्घसुर कल्पदिवाकरोऽभूच्छ्रीकुन्दकुन्द इतिनाम मुनीश्वरोऽसौ ।
जीयात् स वै विहितशास्त्रसुधारसेन मिथ्याभुजङ्गगरलं जगतः प्रणष्टम् ॥

—मेधावी धर्मसंग्रह श्रावकाचार

आसाद्य द्युसदां सहायमसमं गत्वा विदेहं जवा—
दद्राक्षीत् किल केवलेक्षणमिनं द्योतक्षमध्यक्षतः ।
स्वात्री साम्यपदाधिरूढधिषणः श्रीनन्दिसङ्घश्रियो
मान्यः सोऽस्तु शिवाय शान्तमनसां श्रीकुन्दकुन्दाभिधः ॥

—अमरकीर्तिसूरि, जिनसहस्रनाम टीका

श्रीमूलसङ्घेऽजनि नन्दिसङ्घस्तस्मिन् बलात्कारगणेऽतिरम्ये ।
तत्राभवत्पूर्वपदांशवेदी श्रीमाघनन्दी नरदेववन्द्यः ॥
पदे तदीये मुनिमान्यवृत्तौ जिनादिचन्द्रः समभूदतन्द्रः ।
ततोऽभवत्पञ्चसुनामधामा श्रीपद्मनन्दी मुनिचक्रवर्ती ॥

—नन्दिसङ्घ पट्टावली

कुन्दकुन्दाचार्य की नयव्यवस्था

वस्तुस्वरूप का अधिगम—ज्ञान, प्रमाण और नय के द्वारा होता है। प्रमाण वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मो को एक साथ ग्रहण करता है और नय वह है जो पदार्थ में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्मो में से एक को प्रमुख और दूसरे को गौण कर विवक्षानुसार क्रम से ग्रहण करता है। नयों का निरूपण करने वाले आचार्यो ने उनका शास्त्रीय और आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन किया है। शास्त्रीय दृष्टि की नय विवेचना में नय के द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक तथा उनके नैगमादि सात भेद निरूपित किये गये हैं और आध्यात्मिक दृष्टि में निश्चय तथा व्यवहार नय का निरूपण है। यहाँ द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों ही निश्चय में समा जाते हैं और व्यवहार में उपचार कथन रह जाता है। शास्त्रीय दृष्टि में वस्तु स्वरूप की विवेचना का लक्ष्य रहता है और आध्यात्मिक दृष्टि में उस नयविवेचना के द्वारा आत्मा के शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करने का अभिप्राय रहता है। इन दोनों दृष्टियों का अन्तर बतलाते हुए कुन्दकुन्द-प्राभृतसंग्रह की प्रस्तावना में पृष्ठ ८२ पर श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र जी ने निम्नांकित पंक्तियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण लिखी हैं—

"शास्त्रीय दृष्टि वस्तु का विश्लेषण करके उसकी तह तक पहुंचने की चेष्टा करती है। उसकी दृष्टि में निमित्त कारण के व्यापार का उतना ही मूल्य है जितना उपादान कारण के व्यापार का और परसंयोगजन्य अवस्था भी उतनी ही परमार्थ है जितनी स्वाभाविक अवस्था। जैसे उपादान कारण के बिना कार्य नहीं होता वैसे ही निमित्त कारण के बिना कार्य नहीं होता। अतः कार्य की उत्पत्ति में दोनों का सम व्यापार है। जैसे मिट्टी के बिना घट उत्पन्न नहीं होता वैसे ही कुम्हार-चक्र आदि के बिना भी घट उत्पन्न नहीं होता। ऐसी स्थिति में वास्तविक स्थिति का विश्लेषण करने वाली शास्त्रीय दृष्टि किसी एक के पक्ष में अपना फैसला कैसे दे सकती है? इसी तरह मोक्ष जितना यथार्थ है संसार भी उतना ही यथार्थ है और संसार जितना यथार्थ है, उसके कारण कलाप भी उतने ही यथार्थ हैं। संसार दशा न केवल जीव की अशुद्ध दशा का परिणाम है और न केवल पुद्गल की अशुद्ध दशा का परिणाम है। किन्तु जीव और पुद्गल के मेल से उत्पन्न हुई अशुद्ध दशा का परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जितना सत्य जीव का अस्तित्व है और जितना सत्य पुद्गल का अस्तित्व है, उतना ही सत्य उन दोनों का मेल और संयोगज विकार भी है। वह सांख्य की तरह पुरुष में आरोपित नहीं है किन्तु प्रकृति और पुरुष के संयोगजन्य बन्ध का परिणाम है। अतः शास्त्रीय दृष्टि से जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, पुण्य, पाप और मोक्ष सभी यथार्थ और सारभूत हैं। अतः सभी का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। और चूँकि उसकी दृष्टि में कार्य की उत्पत्ति में निमित्त कारण भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उपादान कारण, अतः आत्म-प्रतीति में निमित्तभूत देव शास्त्र और गुरु वगैरह का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन है। उसमें गुण स्थान भी हैं, मार्गणास्थान भी हैं—सभी हैं। शास्त्रीय दृष्टि का किसी वस्तु-विशेष के साथ कोई पक्षपात नहीं है। वह वस्तु स्वरूप का विश्लेषण किसी के हित अहित को दृष्टि में रखकर नहीं करती।"

आध्यात्मिक दृष्टि का विवेचन करते हुए पृष्ठ ८३ पर लिखा है—

"शास्त्रीय दृष्टि के सिवाय एक दृष्टि आध्यात्मिक भी है। उसके द्वारा आत्मतत्त्व को लक्ष्य में रखकर वस्तु का विचार किया जाता है। जो आत्मा के आश्रित हो उसे अध्यात्म कहते हैं। जैसे वेदान्ती ब्रह्म को केन्द्र में रखकर जगत् के स्वरूप का विचार करते हैं वैसे ही अध्यात्मदृष्टि आत्मा को केन्द्र में रखकर विचार करती है। जैसे वेदान्त में ब्रह्म ही परमार्थसत् है और जगत् मिथ्या है, वैसे ही अध्यात्म विचारणा में एकमात्र शुद्ध बुद्ध आत्मा ही परमार्थ सत् है और उसकी अन्य सब दशायें व्यवहार सत्य हैं। इसी से शास्त्रीय क्षेत्र में जैसे वस्तुतत्त्व का विवेचन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के द्वारा किया जाता है वैसे ही अध्यात्म में निश्चय और व्यवहार नय के द्वारा आत्मतत्त्व का विवेचन किया जाता है और निश्चयदृष्टि को परमार्थ और व्यवहारदृष्टि को अपरमार्थ कहा जाता है। क्योंकि निश्चयदृष्टि आत्मा के यथार्थ शुद्धस्वरूप को दिखलाती है और व्यवहारदृष्टि अशुद्ध अवस्था को दिखलाती है। अध्यात्मी-मुमुक्षु, शब्द आत्मतत्त्व को प्राप्त करना चाहता है अतः उसकी प्राप्ति के लिये सबसे प्रथम उसे उस दृष्टि की आवश्यकता है जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन करा सकने में समर्थ है। ऐसी दृष्टि निश्चयदृष्टि है अतः मुमुक्षु के लिये वही दृष्टि भूतार्थ है। जिससे आत्मा के अशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है वह व्यवहारदृष्टि उसके लिये कार्यकारी नहीं है अतः वह अभूतार्थ कही जाती है। इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने समयप्राभृत के प्रारम्भ में 'ववहारोऽभूदत्थो भूदत्थो देसिदो य सुद्धणयो' लिखकर व्यवहार को अभूतार्थ और शुद्धनय अर्थात् निश्चय को भूतार्थ कहा है।"

कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार और नियमसार में आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म स्वरूप का विवेचन किया है अतः इनमें निश्चय नय और व्यवहारनय ये दो भेद ही दृष्टिगत होते हैं। वस्तु के एक—

अभिन्न और स्वाश्रित—पर निरपेक्ष त्रैकालिक स्वभाव को जानने वाला नय निश्चयनय है और अनेक—भेदरूप वस्तु तथा उसके पराश्रित—परसापेक्ष परिणमन को जानने वाला नय व्यवहार नय है। यद्यपि अन्य आचार्यों ने निश्चयनय के शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय इस प्रकार दो भेद किये हैं तथा व्यवहारनय के सद्भूत, असद्भूत, अनुपचरित और उपचरित के भेद से अनेक भेद स्वीकृत किये हैं। परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने इन भेदों के चक्र में न पड़कर मात्र दो भेद स्वीकृत किये हैं। अपने गुण पर्यायों से अभिन्न आत्मा के त्रैकालिक स्वभाव को उन्होंने निश्चय नय का विषय माना है और कर्म के निमित्त से होने वाली आत्मा की परिणति को व्यवहार नय का विषय कहा है। निश्चय नय आत्मा में काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विकारों को स्वीकृत नहीं करता। चूंकि वे पुद्गल के निमित्त से होते हैं अतः उन्हें पुद्गल के मानता है। इसी तरह गुणस्थान तथा मार्गणा आदि विषय जीव के स्वभाव नहीं हैं अतः निश्चय नय उन्हें स्वीकृत नहीं करता। इन सबको आत्मा के कहना व्यवहारनय का विषय है। निश्चयनय स्वभाव को विषय करता है विभाव को नहीं। जो स्व में स्व के निमित्त से सदा रहता है वह स्वभाव है जैसे जीव के ज्ञानादि, और जो स्व में पर के निमित्त से होते हैं वे विभाव हैं जैसे जीव में क्रोधादि। ये विभाव, चूंकि आत्मा में ही पर के निमित्त से होते हैं इसलिए इन्हें कथंचित् आत्माके कहने के लिये जयसेन आदि आचार्यों ने निश्चयनय में शुद्ध और अशुद्ध का विकल्प स्वीकृत किया है। परन्तु कुन्दकुन्द महाराज विभाव को आत्मा का मानना स्वीकृत नहीं करते, वे उसे व्यवहार का ही विषय मानते हैं। अमृतचन्द्र सूरि ने भी इन्हीं का अनुसरण किया है।

यद्यपि वर्तमान में जीव की बद्धस्पृष्ट दशा है और उसके कारण रागादि विकारी भाव उसके अस्तित्व में प्रतीत हो रहे हैं तथापि निश्चयनय जीव की अबद्धस्पृष्ट दशा और उसके फलस्वरूप रागादि रहित—वीतराग परिणति की ही अनुभूति कराता है। स्वरूप की अनुभूति कराना इस नय का उद्देश्य है अतः वह संयोगज दशा और संयोगज परिणामों की ओर से मुमुक्ष का लक्ष्य हटा देना चाहता है। निश्चयनय का उद्घोष है कि हे मुमुक्षु प्राणी! यदि तू अपने स्वभाव की ओर लक्ष्य नहीं करेगा तो इस संयोगज दशा और तज्जन्य विकारों को दूर करने का तेरा पुरुषार्थ कैसे जागृत होगा?

अध्यात्म दृष्टि आत्मा में गुणस्थान तथा मार्गणा आदि के भेदों का अस्तित्व भी स्वीकृत नहीं करती। वह परनिरपेक्ष आत्मस्वभाव को और उसके प्रतिपादक निश्चयनय को भूतार्थ तथा उपादेय मानती है और परसापेक्ष आत्मा के विभाव और उसके प्रतिपादक व्यवहारनय को अभूतार्थ तथा हेय मानती है। इसकी दृष्टि में एक निश्चय ही मोक्ष मार्ग है व्यवहार नहीं। यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्ग, निश्चय मोक्षमार्ग का साधक है तथापि वह साध्य साधक के विकल्प से हटकर एक निश्चय मोक्षमार्ग को ही अंगीकृत करती है। व्यवहार मोक्षमार्ग इसके साथ चलता है इसका निषेध यह नहीं करती।

पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार में आचार्यो ने आध्यात्मिक दृष्टि के साथ शास्त्रीय दृष्टि को भी प्रश्रय दिया है इसलिये इन ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का भी वर्णन प्राप्त होता है। सम्यग्दर्शन के विषयभूत जीवादि पदार्थों का वर्णन करने के लिये शास्त्रीय दृष्टि को अंगीकृत किये बिना काम नहीं चल सकता। इसलिये द्रव्यार्थिक नय से जहां जीव के नित्य-अपरिणामी स्वभाव का वर्णन किया जाता है वहां पर्यायार्थिक नय से उसके अनित्य-परिणामी स्वभाव का भी वर्णन किया जाता है। द्रव्य यद्यपि गुण और पर्यायोंका एक अभिन्न-अखण्ड पिण्ड है तथापि उनका अस्तित्व बतलानेके लिये उनका भेद भी स्वीकृत किया जाता है। इसलिये द्रव्यमें गुण और पर्यायोंका भेदाभेद दृष्टिसे निरूपण मिलता है। इन ग्रन्थों में व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गकी भी चर्चा की गई है तथा उनमें साधकसाध्यभावका उल्लेख किया गया है।

प्रवचनसार के अन्त में अमृतचन्द्र स्वामी ने द्रव्यनय, पर्यायनय, अस्तित्वनय, नास्तित्वनय, नामनय, स्थापनानय, नियतिनय, अनियतिनय, कालनय, अकालनय, पुरुषकारनय, दैवनय, निश्चयनय, व्यवहारनय, शुद्धनय तथा अशुद्धनय आदि ४७ नयों के द्वारा आत्मा का निरूपण किया है। इन नयों को द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक अथवा निश्चय और व्यवहारनय का विषय न बनाकर स्वतन्त्ररूप से प्रतिपादित किया गया है।

निश्चयनय की भूतार्थता और व्यवहारनय की अभूतार्थता

आध्यात्मिक दृष्टि में भूतार्थग्राही होने से निश्चयनय को भूतार्थ और अभूतार्थग्राही होने से व्यवहार-नय को अभूतार्थ कहा गया है। इसकी संगति अनेकान्त के आलोक में ही सम्पन्न होती है क्योंकि व्यवहार-नयकी अभूतार्थता निश्चयनयकी अपेक्षा है। स्वरूप और स्वप्रयोजनकी अपेक्षा नहीं। उसे सर्वथा अभूतार्थ माननेमें बड़ी आपत्ति दीखती है। श्री अमृतचन्द्र सूरिने समयसार की ४६ वीं गाथाकी टीकामें लिखा है—

'व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थ-प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव। तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद् भवत्येव बन्धस्याभावः। तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावाद्भवत्येव मोक्षस्याभावः।'

यही भाव तात्पर्यवृत्ति में जयसेनाचार्य ने भी दिखलाया है—

'यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेनाभूतार्थस्तथापि—रागादि बहिर्द्रव्यालम्बनरहितविशुद्ध-ज्ञानदर्शनस्वाभावालम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद् दर्शयितुमुचितो भवति। यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः। ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति, ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम्। तस्माद् व्यवहारनयव्याख्या-नुचितं भवतीत्यभिप्रायः।'

इन अवतरणों का भाव यह है—

यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तो भी जिस प्रकार म्लेच्छों को समझाने के लिये म्लेच्छ भाषा का अंगीकार करना उचित है—उसी प्रकार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का प्रतिपादक होने से तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त, अपरमार्थ होने पर भी व्यवहारनय का दिखलाना न्याय संगत है। अन्यथा व्यवहार के बिना परमार्थनय से जीव, शरीर से सर्वथा भिन्न दिखाया गया है, इस दशा में जिस प्रकार भस्म का उपमर्दन करने से हिंसा नही होती उसी प्रकार त्रस स्थावर जीवों का निःशङ्क उपमर्दन करने से हिंसा नहीं होगी और हिंसा के न होने से बंध का अभाव हो जायगा, बंध के अभाव से संसार का अभाव हो जायगा। इसके अतिरिक्त 'रागी द्वेषी और मोही जीव बंध को प्राप्त होता है अतः उसे ऐसा उपदेश देना चाहिये कि जिससे वह राग, द्वेष और मोह से छूट जावे' यह जो आचार्यो ने मोक्ष का उपाय बतलाया है वह व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि परमार्थ से जीव, राग द्वेष मोह से भिन्न ही दिखाया जाता है। जब भिन्न है तब मोक्ष का उपाय स्वीकृत करना असंगत होगा, इस तरह मोक्ष का भी अभाव हो जायगा।

नय श्रुतज्ञान के विकल्प हैं और श्रुत स्वार्थ तथा परार्थ की अपेक्षा दो प्रकार का है। जिससे अपना अज्ञान दूर हो वह स्वार्थ श्रुत है और जिससे दूसरे का अज्ञान दूर हो वह परार्थ श्रुत है। नयों का प्रयोग पात्रभेद की अपेक्षा रखता है। एक ही नय से सब पात्रों का कल्याण नहीं हो सकता। कुन्दकुन्द

स्वामी ने स्वयं भी समयसार की १२ वीं गाथा में इसका विभाग किया है कि शुद्धनय किसके लिये और अशुद्धनय किसके लिये आवश्यक है। शुद्धनय से तात्पर्य निश्चयनय का और अशुद्ध नय से तात्पर्य व्यवहार नय का लिया गया है।

गाथा इस प्रकार है—

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरसीहिं।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

अर्थात् जो परमभाव को देखने वाले हैं उनके द्वारा तो शुद्धतत्त्व का कथन करने वाला शुद्धनय जानने के योग्य है और जो अपरमभाव में स्थित हैं वे व्यवहारनय के द्वारा उपदेश देने के योग्य हैं। नयों के विसंवाद से मुक्त होने के लिये कहा गया है—

जइ जिणमअं पवज्जह तो मा ववहारणिच्छए मुयह।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं ॥

अर्थात्, यदि जिनेन्द्र भगवान् के मत की प्रवृत्ति चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। क्योंकि यदि व्यवहार को छोड़ोगे तो तीर्थ की प्रवृत्ति का लोप हो जावेगा अर्थात् धर्म का उपदेश ही नहीं हो सकेगा, फलतः धर्म तीर्थ का लोप हो जावेगा, और यदि निश्चय को छोड़ोगे तो तत्त्व के स्वरूप का ही लोप हो जावेगा, क्योंकि तत्त्व को कहने वाला तो वही है।

यही भाव श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने कलशकाव्य में दर्शाया है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै—
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥१४॥

अर्थात् जो जीव स्वयं मोह का वमन कर निश्चय और व्यवहारनय के विरोध को ध्वस्त करने वाले एवं स्यात्पद से चिह्नित जिन वचन में रमण करते हैं वे शीघ्र ही उस समयसार का अवलोकन करते हैं जो कि परम ज्योतिःस्वरूप है, नवीन नहीं है अर्थात् द्रव्यदृष्टि से नित्य है और अनय पक्ष—एकान्तपक्ष से जिसका खण्डन नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ का सार यह है—

चूंकि वस्तु, सामान्यविशेषात्मक अथवा द्रव्य पर्यायात्मक है अतः उसके दोनों अंशों की ओर दृष्टि रहने पर ही वस्तु का पूर्ण विवेचन होता है। सामान्य अथवा द्रव्य को ग्रहण करने वाला नय द्रव्यार्थिक नय कहलाता है और विशेष अथवा पर्याय को ग्रहण करने वाला नय पर्यायार्थिक नय कहलाता है। आध्यात्मिक ग्रन्थों में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के स्थान पर निश्चय और व्यवहार नय का उल्लेख किया गया है। द्रव्य के त्रैकालिक स्वभाव को ग्रहण करने वाला निश्चय नय है और विभाव को ग्रहण करने वाला व्यवहार नय है। एक काल में दोनों नयों से पदार्थ को जाना तो जा सकता है पर उसका कथन नहीं किया जा सकता। कथन क्रम से ही किया जाता है। वक्ता अपनी विवक्षानुसार जिस समय जिस अंश को कहना चाहता है वह विवक्षित अथवा मुख्य अंश कहलाता है और जिस अंश को नहीं कहना चाहता है वह अविवक्षित अथवा गौण कहलाता है। 'स्यात्' निपात का अर्थ कथंचित्—किसी प्रकार होता है। वक्ता किसी विवक्षा से जब पदार्थ के एक अंश का वर्णन करता है तब वह दूसरे अंश को गौण तो कर

देता है पर सर्वथा छोड़ता नहीं है क्योंकि सर्वथा छोड़ देने पर एकान्तवाद का प्रसङ्ग आता है और उससे वस्तु तत्त्व का पूर्ण विवेचन नहीं हो पाता। इसी अभिप्राय से आचार्यों ने कहा है कि जो दोनों नयों के विरोध को नष्ट करने वाले स्यात्पदचिह्नित जिनवचन में रमण करते हैं वे ही समयसार रूप परमज्योति को प्राप्त करते हैं।

सम्यग्दृष्टि जीव वस्तुतत्त्व का परिज्ञान प्राप्त करने के लिये दोनों नयों का आलम्बन लेता है परन्तु श्रद्धा में वह अशुद्ध नय के आलम्बन को हेय समझता है। यही कारण है कि वस्तुस्वरूप का यथार्थ परिज्ञान होने पर अशुद्धनयका आलम्बन स्वयं छूट जाता है। कुन्दकुन्द स्वामी ने उभयनयों के आलम्बन से वस्तु-स्वरूप का प्रतिपादन किया है इसलिये वह निर्विवाद रूप से सर्वग्राह्य है।

समयप्राभृत अथवा समयसार

'वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं' इस प्रतिज्ञावाक्य से मालूम होता है कि इस ग्रन्थ का नाम कुन्दकुन्द स्वामी को समयपाहुड (समयप्राभृत) अभीष्ट था। परन्तु पीछे चलकर 'प्रवचनसार' और 'नियमसार' इन सारान्त नामों के साथ 'समयसार' नाम से प्रचलित हो गया। 'समयते एकत्वेन युगपज्जानाति गच्छति च' अर्थात् जो पदार्थों को एक साथ जाने अथवा गुणपर्यायरूप परिणमन करे वह समय है। इस निरुक्ति के अनुसार समय शब्द का अर्थ जीव होता है और 'प्रकर्षेण आसमन्तात् भृतम् इति प्राभृतम्' जो उत्कृष्टता के साथ सब ओर से भरा हुआ हो—जिसमें पूर्वापर विरोध रहित साङ्गोपाङ्ग वर्णन हो उसे प्राभृत कहते हैं इस निरुक्ति के अनुसार प्राभृत का अर्थ शास्त्र होता है। 'समयस्य प्राभृतम्' इस समास के अनुसार समयप्राभृत का अर्थ जीव-आत्मा का शास्त्र होता है। ग्रन्थ का चालू नाम समयसार है अतः इसका अर्थ त्रैकालिक शुद्धस्वभाव अथवा सिद्धपर्याय है।

समयप्राभृत ग्रन्थ निम्नलिखित १० अधिकारों में विभाजित है—१. पूर्वरङ्गाधिकार, २. जीवाजीवाधिकार, ३. कर्तृकर्माधिकार, ४. पुण्यपापाधिकार, ५. आस्रवाधिकार, ६. संवराधिकार, ७. निर्जराधिकार, ८. बन्धाधिकार, ९. मोक्षाधिकार और १०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार। नयों का सामञ्जस्य बैठाने के लिये अमृतचन्द्र स्वामी ने पीछे से स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयभावाधिकार नामक दो स्वतन्त्र परिशिष्ट और जोड़े हैं। अमृतचन्द्रसूरिकृत टीका के अनुसार समग्र ग्रन्थ ४१५ गाथाओं में समाप्त हुआ है और जयसेनाचार्यकृत टीका के अनुसार ४४२ गाथाओं में।

उपर्युक्त अधिकारों का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—

पूर्वरङ्गाधिकार—

कुन्दकुन्द स्वामी ने स्वयं पूर्वरङ्गनामका कोई अधिकार सूचित नहीं किया है परन्तु संस्कृत टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि ने ३८वीं गाथा की समाप्ति पर पूर्वरङ्ग समाप्ति की सूचना दी है। इन ३८ गाथाओं में प्रारम्भ की १२ गाथाएँ पीठिकारूप में हैं। जिनमें ग्रन्थकर्ता ने मङ्गलाचरण, ग्रन्थप्रतिज्ञा, स्वसमय-परसमय का व्याख्यान तथा शुद्धनय और अशुद्धनय के स्वरूप का दिग्दर्शन कराया है। इन नयों के ज्ञान के बिना समयप्राभृत को समझना अशक्य है। पीठिका के बाद ३८वीं गाथा तक पूर्वरङ्ग नाम का अधिकार है जिसमें आत्मा के शुद्ध स्वरूप का निदर्शन कराया गया है। शुद्धनय आत्मा में जहाँ परद्रव्यजनित विभाव-भाव को स्वीकृत नहीं करता वहाँ वह अपने गुण और पर्यायों के साथ भेद भी स्वीकृत नहीं करता। वह इस बात को भी स्वीकृत नहीं करता कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र ये आत्मा के गुण हैं, क्योंकि इनमें गुण और गुणी का भेद सिद्ध होता है। वह, यह घोषित करता है कि आत्मा सम्यग्दर्शनादिरूप

है। 'आत्मा प्रमत्त है और आत्मा अप्रमत्त है' इस कथन को भी शुद्धनय स्वीकृत नहीं करता, क्योंकि इस कथन में आत्मा प्रमत्त और अप्रमत्त पर्यायों में विभक्त होता है। वह तो आत्मा को एक ज्ञायक ही स्वीकृत करता है। जीवाधिकार में जीव के निजस्वरूप का कथन कर उसे परपदार्थों और परपदार्थों के निमित्त से होने वाले विभावों से पृथक् निरूपित किया है। नोकर्म मेरा नहीं है, द्रव्यकर्म मेरा नहीं है और भावकर्म भी मेरा नहीं है, इस तरह इन पदार्थों से आत्मतत्व को पृथक् सिद्ध कर ज्ञेय-ज्ञायक भाव एवं भाव्यभावक भाव की अपेक्षा भी आत्मा को ज्ञेय तथा भाव्य से पृथक् सिद्ध किया है। जिस प्रकार दर्पण अपने में प्रतिबिम्बित मयूर से भिन्न है उसी प्रकार आत्मा अपने ज्ञान में आये हुये घटपटादि ज्ञेयों से भिन्न है और जिस प्रकार दर्पण ज्वालाओं के प्रतिबिम्ब से संयुक्त होने पर भी तज्जन्यताप से उन्मुक्त रहता है इसी प्रकार आत्मा अपने अस्तित्व में रहने वाले सुख दुःखरूप कर्मफल के अनुभव से रहित है। इस प्रकार प्रत्येक परपदार्थों से भिन्न आत्मा के अस्तित्व का श्रद्धान करना जीवतत्व के निरूपण का लक्ष्य है। इस प्रकरण के अन्त में कुन्दकुन्द स्वामी ने उद्घोष किया है—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥३८॥

अर्थात् निश्चय से मैं एक हूं, शुद्ध हूं, दर्शन-ज्ञान से तन्मय हूं, सदा अरूपी हूं, अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है।

इस सब कथन का तात्पर्य यह है कि यह जीव, पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुई संयोगज पर्याय में आत्मबुद्धि कर उनकी इष्ट-अनिष्ट परिणति में हर्षविषाद का अनुभव करता हुआ व्यर्थ ही रागी द्वेषी होता है और उनके निमित्त से नवीन कर्मबन्ध कर अपने संसार की वृद्धि करता है। जब यह जीव परपदार्थों से भिन्न निज शुद्धस्वरूप की ओर लक्ष्य करने लगता है तब पर पदार्थों से इसका ममत्व भाव स्वयमेव दूर होने लगता है।

जीवाजीवाधिकार

जीव के साथ अनादिकाल से कर्म-नोकर्मरूप पुद्गल द्रव्य का सम्बन्ध चला आ रहा है। मिथ्यात्व-दशा में यह जीव शरीररूप नोकर्म की परिणति को आत्मा की परिणति मानकर उसमें अहंकार करता है—इस रूप ही मैं हूं, ऐसा मानता है, अतः सर्वप्रथम इसकी शरीर से पृथक्ता सिद्ध की है। उसके बाद ज्ञाना-वरणादि द्रव्यकर्म और रागादिक भावकर्मों से इसका पृथक्त्व दिखाया है। आचार्य महाराज ने कहा है कि हे भाई! ये सब पुद्गल द्रव्य के परिणमन से निष्पन्न हैं अतः पुद्गल के हैं, तू इन्हें जीव क्यों मान रहा है? यथा—

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा।
केवलिजिणेहि भणिया कह ते जीवोत्ति वुच्चंति॥४४॥

जो स्पष्ट ही अजीव हैं उनके कहने में तो कोई खास बात नहीं है परन्तु जो अजीवाश्रित परिणमन जीव के साथ घुल-मिलकर अनित्य तन्मयीभाव से तादात्म्य जैसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं उन्हें अजीव सिद्ध करना इस अधिकार की विशेषता है। रागादिक भाव अजीव हैं, गुणस्थान, मार्गणा, जीवसमास आदि भाव अजीव हैं यह बात यहाँ तक सिद्ध की गई है। अजीव हैं—इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ये घट-पटादि के समान अजीव हैं। यहां 'अजीव है' इसका इतना ही तात्पर्य है कि ये जीव की स्वभावपरिणति नहीं है। यदि जीव की स्वभाव-परिणति होती तो त्रिकाल में इनका अभाव नहीं होता परन्तु जिस पौद्ग-लिक कर्म की उदयावस्था में ये भाव होते हैं उसका अभाव होने पर ये स्वयं विलीन हो जाते हैं। अग्नि

के संसर्ग से पानी में उष्णता आती है परन्तु वह उष्णता सदा के लिये नहीं आती है। अग्नि का सम्बन्ध दूर होते ही दूर हो जाती है। इसी प्रकार क्रोधादि द्रव्यकर्मों के उदयकाल में होने वाले रागादि भाव आत्मा में अनुभूत होते हैं परन्तु वे संयोगज भाव होने से आत्मा के विभाव भाव है, स्वभाव नहीं, इसीलिये इनका अभाव हो जाता है।

ये रागादिक भाव आत्मा को छोड़कर अन्य पदार्थों में नहीं होते इसलिये उन्हें आत्मा के कहने के लिये अन्य आचार्यों ने एक अशुद्धनिश्चयनय की कल्पना की है। वे, शुद्धनिश्चयनय से आत्मा के नहीं हैं परन्तु अशुद्धनिश्चय नय से आत्मा के हैं, ऐसा कथन करते है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी विभाव को आत्मा मानने के लिये तैयार नहीं हैं। उन्हें आत्मा के कहना, वे व्यवहार नय का विषय मानते हैं और उस व्यवहार का जिसे कि उन्होंने अभूतार्थ कहा है।

इसी प्रसंग में जीव का स्वरूप बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥४९॥

अर्थात् हे भव्य ! तू आत्मा को ऐसा जान कि वह रसरहित है, रूपरहित है, गंध रहित है, अव्यक्त अर्थात् स्पर्श रहित है, शब्द रहित है, अलिङ्गग्रहण है अर्थात् किसी खास लिङ्ग से उसका ग्रहण नहीं होता तथा जिसका कोई आकार निर्दिष्ट नहीं किया गया है, ऐसा है, किन्तु चेतनागुण वाला है।

यहां चेतनागुण जीव का स्वरूप है और रस गन्ध आदि उसके स्वरूप नहीं है। परपदार्थ से उसका पृथक्त्व सिद्ध करने के लिये ही यहां उनका उल्लेख किया गया है। वर्णादिक और रागादिक—सभी जीव से भिन्न हैं—जीवेतर हैं। इस तरह इस जीवाजीवाधिकार में आचार्य ने मुमुक्षुप्राणी के लिये परपदार्थ से भिन्न जीव के शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराया है। साथ ही उससे सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ को अजीव दिखलाया है। यह जीवाजीवाधिकार ३९ वीं गाथा से लेकर ६८ वीं गाथा तक चला है।

कर्तृकर्माधिकार

जीव और अजीव (पौद्गलिक कर्म) अनादि काल से सम्बद्ध अवस्था को प्राप्त हैं इसलिये प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इनके अनादि सम्बन्ध का कारण क्या है ? जीव ने कर्म को किया या कर्म ने जीव को किया ? यदि जीव ने कर्म को किया तो जीव में ऐसी कौन-सी विशेषता थी कि जिससे उसने कर्म को किया ? यदि बिना विशेषता के ही किया तो सिद्ध महाराज भी कर्म को करें, इसमें क्या आपत्ति है ? और कर्म ने जीव को किया तो कर्म में ऐसी विशेषता कहाँ से आई कि वे जीव को कर सकें—उसमें रागादिक भाव उत्पन्न कर सकें। बिना विशेषता के ही यदि कर्म रागादिक करते हैं तो कर्म के अस्तित्वकाल में सदा रागादिक उत्पन्न होना चाहिये। इस प्रश्नावली से बचने के लिए यह समाधान किया गया है कि जीव के रागादि परिणामों से पुद्गल द्रव्य में कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गल के कर्मरूप परिणमन—उनकी उदयावस्था का निमित्त पाकर आत्मा में रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं। इस समाधान में जो अन्योन्याश्रय दोष आता है उसे अनादि संयोग मानकर दूर किया गया है। इस कर्तृकर्माधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने इसी बात का बड़ी सूक्ष्मता से वर्णन किया है।

अमृतचन्द्र स्वामी ने कर्ता, कर्म और क्रिया का लक्षण लिखते हुए कहा है—

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ॥५१॥

अर्थात् जो परिणमन करता है वह कर्ता कहलाता है, जो परिणाम होता है उसे कर्म कहते हैं और जो परिणति होती है वह क्रिया कहलाती है। वास्तव में ये तीनों ही भिन्न नहीं हैं एक द्रव्य की ही परिणति है।

निश्चयनय, कर्तृकर्मभाव उसी द्रव्य में मानता है जिसमें व्याप्यव्यापकभाव अथवा उपदानोपादेय भाव होता है। जो कार्यरूप परिणत होता है उसे व्यापक या उपादान कहते हैं और जो कार्य होता है उसे व्याप्य या उपादेय कहते हैं। 'मिट्टी से घट बना' यहाँ मिट्टी व्यापक या उपादान है और घट व्याप्य या उपादेय है यह व्याप्यव्यापकभाव या उपादानोपादेयभाव सदा एक द्रव्यमें ही होता है, दो द्रव्योंमें नहीं, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप परिणमन त्रिकाल में भी नहीं कर सकता। जो उपादान के कार्यरूप परिणमन में सहायक होता है वह निमित्त कहलाता है जैसे मिट्टी के घटाकार परिणमन में कुम्भकार तथा दण्ड चक्र आदि। और उस निमित्त की सहायता से उपादान में जो कार्य होता है वह नैमित्तिक कहलाता है जैसे कुम्भकार आदि की सहायता से मिट्टी में हुआ घटाकार परिणमन। यह निमित्तनैमित्तिकभाव दो विभिन्न द्रव्यों में भी बन जाता है परन्तु उपादानोपादेय भाव या व्याप्यव्यापक भाव एक द्रव्य में ही बनता है। जीव के रागादिभाव का निमित्त पाकर पुद्गल में कर्मरूप परिणमन होता है और पुद्गल की उदयावस्था का निमित्त पाकर जीव में रागादिभाव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार दोनों में निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी निश्चयनय उनमें कर्तृकर्मभावको स्वीकृत नहीं करता। निमित्तनैमित्तिकभाव के होने पर भी कर्तृकर्मभाव न मानने में युक्ति यह दी जाती है कि ऐसा मानने पर निमित्त में द्विक्रियाकारित्व का दोष आता है अर्थात् निमित्त अपने परिणमन का भी कर्ता होगा और उपादान के परिणमन का भी कर्ता होगा, जो कि सम्भव नहीं है। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुणजोगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीव न तो घट को करता है, न पट को करता है और न बाकी के अन्य द्रव्यों को करता है जीव के योग और उपयोग ही उनके कर्ता हैं।

इसकी टीका में अमृतचन्द्र स्वामी ने लिखा है—जो घटादिक और क्रोधादिक परद्रव्यात्मक कर्म हैं यदि इन्हें आत्मा व्याप्यव्यापकभाव में करता है तो तद्रूपता का प्रसंग आता है और निमित्त नैमित्तिकभाव से करता है तो नित्यकर्तृत्व का प्रसंग आता है परन्तु ऐसा है नहीं, क्योंकि आत्मा उनसे न तो तन्मय ही है और न नित्यकर्ता ही है अतः न तो व्याप्यव्यापकभाव से कर्ता है और न निमित्तनैमित्तिकभाव से। किन्तु अनित्य जो योग और उपयोग हैं वे ही घट पटादि द्रव्यों के निमित्त कर्ता हैं। उपयोग और योग आत्मा के विकल्प और व्यापार हैं अर्थात् जब आत्मा ऐसा विकल्प करता है कि मैं घट को बनाऊँ, तब काययोग के द्वारा आत्मा के प्रदेशों में चञ्चलता आती है और चञ्चलता की निमित्तता पाकर हस्तादिक के व्यापार द्वारा दण्डनिमित्तक चक्रभ्रमि होती है तब घटादिक की निष्पत्ति होती है। यह विकल्प और योग अनित्य हैं, कदाचित् अज्ञान के द्वारा करने से आत्मा इनका कर्ता हो भी सकता है परन्तु परद्रव्यात्मक कर्मो का कर्ता कदापि नहीं हो सकता। यहां निमित्तकारण को दो भागों में विभाजित किया है—एक साक्षात् निमित्त और दूसरा परम्परा निमित्त। कुम्भकार अपने योग और उपयोग का कर्ता है, यह साक्षात् निमित्त की अपेक्षा कथन है क्योंकि इनके साथ कुम्भकार का साक्षात् सम्बन्ध है और कुम्भकार के योग तथा उपयोग से दण्ड तथा चक्रादि में जो व्यापार होता है तथा उससे जो घटादिक की उत्पत्ति होती है वह परम्परानिमित्त की

अपेक्षा कथन है। जब परम्परा निमित्त से होने वाले निमित्तनैमित्तिकभाव को गौण कर कथन किया जाता है तब यह बात कही जाती है कि जीव घटपटादि का कर्ता नहीं है परन्तु जब परम्परा निमित्त से होने वाले निमित्तनैमित्तिकभाव को प्रमुखता देकर कथन किया जाता है तब जीव घटपटादि का कर्ता होता है। तात्पर्यवृत्ति की निम्न पंक्तियों से यही भाव प्रकट होता है—

'इति परंपरया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात्। यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसंगात् मोक्षाभावः।' गाथा १००

इस प्रकार परम्परा निमित्त रूप से जीव घटादिक का कर्ता होता है, यदि मुख्यवृत्ति से जीव को निमित्तकर्ता माना जावे तो जीव के नित्य होने से सदा ही कर्मकर्तृत्व का प्रसंग आ जायगा और उस प्रसंग से मोक्ष का अभाव हो जावेगा।

'घट का कर्ता कुम्हार नही है पट का कर्ता कुविन्द नहीं है और रथ का कर्ता बढ़ई नहीं है', यह कथन लोकविरुद्ध अवश्य प्रतीत होता है पर यथार्थ में जब विचार किया जाता है तब कुम्हार कुविन्द और बढ़ई अपने-अपने उपयोग और योग के ही कर्ता होते है। लोक में उनका जो कर्तृत्व प्रसिद्ध है वह परंपरा-निमित्त की अपेक्षा ही संगत होता है।

मूल प्रश्न यह था कि कर्म का कर्ता कौन है? तथा रागादिक का कर्ता कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में जब व्याप्यव्यापकभाव या उपादानोपादेयभाव की अपेक्षा विचार होता है तब यह बात आती है कि चूंकि कर्मरूप परिणमन पुद्‍गलरूप उपादान में हुआ है अतः इसका कर्ता पुद्‍गल ही है जीव नहीं है। परन्तु जब परम्परा निमित्तनैमित्तिक भाव की अपेक्षा विचार होता है तब जीव के रागादिक भावों का निमित्त पाकर पुद्‍गल में कर्मरूप परिणमन हुआ है इसलिये उनका कर्ता जीव है। उपादानोपादेय भाव की अपेक्षा रागादिक का कर्ता जीव है और परम्परा निमित्तनैमित्तिक भाव की अपेक्षा उदयावस्था को प्राप्त रागादिक द्रव्यकर्म।

जीवादिक नौ पदार्थों के विवेचन के बीच में कर्तृकर्मभाव की चर्चा छेड़ने में कुन्दकुन्द स्वामी का इतना ही अभिप्राय ध्वनित होता है कि यह जीव अपने आपको किसी पदार्थ का कर्ता, धर्ता तथा हर्ता मानकर व्यर्थ ही रागद्वेष के प्रपञ्च में पड़ता है। अपने आपको पर का कर्ता मानने से अहंकार उत्पन्न होता है और परको इष्ट अनिष्ट परिणति में हर्ष विषाद का अनुभव होता है। जब तक पर पदार्थो और तन्निमित्तक वैभाविकभावों में हर्ष विषाद का अनुभव होता रहता है तब तक यह जीव अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव में सुस्थिर नहीं होता। वह मोह की धारा में बहकर स्वरूप से च्युत रहता है। मोक्षाभिलाषी जीव को अपनी यह भूल सबसे पहले सुधार लेनी चाहिये। इसी उद्देश्य से आस्रवादि तत्त्वों की चर्चा करने के पूर्व कुन्दकुन्द महाराज ने सचेत किया है कि हे मुमुक्षु प्राणी! तू कर्तृत्व के अहंकार से बच, अन्यथा रागद्वेष की दल-दल में फँस जायेगा।

'आत्मा कर्मों का कर्ता और भोक्ता नहीं है' निश्चयनय के इस कथन का विपरीत फलितार्थ निकाल-कर जीवों को स्वच्छन्द नहीं होना चाहिये। क्योंकि अशुद्ध निश्चयनय से जीव रागादिक भावों का और व्यवहार नय से कर्मो का कर्ता तथा भोक्ता स्वीकृत किया गया है। परस्पर विरोधी नयों का सामञ्जस्य पात्र भेद के विचार से ही सम्पन्न होता है।

इसी कर्तृकर्माधिकार में अमृतचन्द्र स्वामी ने अनेक नयपक्षों का उल्लेख कर तत्त्ववेदी पुरुष को उनके पक्षसे अतिक्रान्त—परे रहनेवाला बताया है। आखिर नय वस्तुस्वरूपको समझनेके साधन है, साध्य

नहीं। एक अवस्था ऐसी भी आती है जहां व्यवहार और निश्चय दोनों प्रकारके नय विकल्पोंका अस्तित्व नहीं रहता, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपचक्र का तो पता ही नहीं चलता कि वह कहाँ गया—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि न च विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि—
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥९॥

पुण्यपापाधिकार

संसारचक्र से निकलकर मोक्ष प्राप्त करने के अभिलाषी प्राणी को पुण्य का प्रलोभन अपने लक्ष्य से भ्रष्ट करने वाला है इसलिए कुन्दकुन्द स्वामी आस्रवाधिकार का प्रारम्भ करने के पहले ही इसे सचेत करते हुए कहते हैं कि हे मुमुक्षु ! तू मोक्षरूपी महानगर की यात्रा के लिए निकला है। देख, कहीं बीच में ही पुण्य के प्रलोभन में नहीं पड़ जाना। यदि उसके प्रलोभन में पड़ा तो एक झटके में ऊपर से नीचे आ जावेगा और सागरों पर्यन्त के लिए उसी पुण्यमहल में नजरकैद हो जावेगा।

अधिकार के प्रारम्भ में कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं कि लोग अशुभ को कुशील और शुभ को सुशील कहते हैं परन्तु वह शुभ सुशील कैसे हो सकता है ? जो इस जीव को संसार में ही प्रविष्ट रखता है—उससे बाहर नहीं निकलने देता। बन्धन की अपेक्षा सुवर्ण और लोह—दोनों की वेड़ियाँ समान हैं। जो बन्धन से वचना चाहता है उसे सुवर्ण की वेड़ी भी तोड़नी होगी।

वास्तव में यह जीव पुण्य का प्रलोभन तोड़ने में असमर्थ सा हो रहा है। यदि अपने आत्मस्वातन्त्र्य तथा शुद्धस्वभाव की ओर इसका लक्ष्य बन जावे तो कठिन नहीं है। दया, दान, व्रताचरण आदि के भाव लोक में पुण्य कहे जाते हैं और हिंसादि पापों में प्रवृत्तिरूप भाव पाप कहे जाते हैं। पुण्य के फलस्वरूप पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है और पाप के फलस्वरूप पापप्रकृतियों का। जब उन पुण्य और पाप प्रकृतियों का उदयकाल आता है तब इस जीव को सुख दुःख का अनुभव होता है। परमार्थ से विचार किया जावे तो पुण्य और पाप दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का बन्ध इस जीव को संसार में ही रोकने वाला है। इसलिए इनसे वचकर उस तृतीयावस्था को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये जो पुण्य और पाप—दोनों के विकल्प से परे है। उस तृतीयावस्था में पहुंचने पर ही यह जीव कर्मबन्ध से वच सकता है और कर्मबन्ध से वचने पर ही जीव का वास्तविक कल्याण हो सकता है। उन्होंने कहा है—

परमट्ठबाहिरा जें अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

जो परमार्थ से बाह्य हैं अर्थात् ज्ञानात्मक आत्मा के अनुभव से शून्य हैं, वे अज्ञान से संसार गमन का कारण होने पर भी पुण्य की इच्छा करते हैं तथा मोक्ष के कारण को जानते भी नहीं हैं।

यहाँ आचार्य महाराज ने कहा है कि जो मनुष्य परमार्थज्ञान से रहित हैं वे अज्ञानवश मोक्ष का साक्षात् कारण जो वीतराग परिणति है उसे तो जानते नहीं है और पुण्य को मोक्ष का साक्षात् कारण समझ कर उसकी उपासना करते हैं जबकि यह पुण्य संसार की ही प्राप्ति का कारण है। यहाँ पुण्यरूप आचरण का निषेध नहीं है किन्तु पुण्याचरण को मोक्ष का साक्षात् मार्ग मानने का निषेध किया है। ज्ञानी जीव अपने पद के अनुरूप पुण्याचरण करता है और उसके फलस्वरूप प्राप्त हुए इन्द्र, चक्रवर्ती आदि के वैभव का उपभोग भी करता है परन्तु श्रद्धा में यही भाव रखता है कि हमारा यह पुण्याचरण मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं है तथा उसके फलस्वरूप जो वैभव प्राप्त होता है वह मेरा स्वपद नहीं है। यहाँ इतनी बात

ध्यान में रखने योग्य है कि जिस प्रकार पापाचरण बुद्धिपूर्वक छोड़ा जाता है उस प्रकार बुद्धिपूर्वक पुण्याचरण नहीं छोड़ा जाता, वह तो शुद्धोपयोग की भूमिका में प्रविष्ट होने पर स्वयं छूट जाता है।

जिनागम का कथन नयसापेक्ष होता है अतः शुद्धोपयोग की अपेक्षा शुभोपयोग रूप पुण्य को त्याज्य कहा गया है। परन्तु अशुभोपयोग रूप पाप की अपेक्षा उसे उपादेय बताया गया है। शुभोपयोग में यथार्थ मार्ग जल्दी मिल सकता है परन्तु अशुभोपयोग में उसकी सम्भावना ही नहीं है। जैसे प्रातःकाल सम्बन्धी सूर्यलालिमा का फल सूर्योदय है और सायंकाल सम्बन्धी सूर्यलालिमा का फल सूर्यास्त है। इसी आपेक्षिक कथन को अंगीकृत करते हुए श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने मोक्ष पाहुड में कहा है—

वर वयतवेहिं सग्गो मा दुक्खं होउ णिरय इयरेहिं।
छायातवट्ठियाणं पडिवालंताण गुरुभेयं ॥२५॥

और इसी अभिप्रायसे पूज्यपाद स्वामीने भी इष्टोपदेशमें शुभोपयोग रूप व्रताचरणसे होनेवाले देवपदको कुछ अच्छा कहा है और अशुभोपयोगरूप पापाचरणसे होनेवाले नारकपदको बुरा कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्वत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

अर्थात् व्रतों से देवपद पाना कुछ अच्छा है परन्तु अव्रतों से नारकपद पाना अच्छा नहीं है। क्योंकि छाया और धूप में बैठकर प्रतीक्षा करने वालों में महान् अन्तर है।

अशुभोपयोग सर्वथा त्याज्य ही है और शुद्धोपयोग उपादेय ही है। परन्तु शुभोपयोग पात्रभेद की अपेक्षा हेय और उपादेय दोनों रूप हैं।[१] किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने सम्यग्दृष्टि के पुण्य को मोक्ष का कारण बताया है। और मिथ्यादृष्टि के पुण्य को बन्ध का कारण। उनका यह कथन भी नयविवक्षा से संगत होता है। वस्तुतत्त्व का यथार्थ विश्लेषण करने पर यह बात अनुभव में आती है कि सम्यग्दृष्टि जीव की, मोह का आंशिक अभाव हो जाने से जो आंशिक निर्मोह अवस्था हुई है वही उसकी निर्जरा का कारण है और जो शुभरागरूप अवस्था है वह बन्ध का ही कारण है। बन्ध के कारणों की चर्चा करते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने तो एक ही बात कही है—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

अर्थात् रागी जीव कर्मों को बांधता है और विराग को प्राप्त हुआ जीव कर्मों को छोड़ता है। यह श्री जिनेश्वर का उपदेश है, इससे कर्मों में राग मत करो।

यहां आचार्य ने शुभ अशुभ दोनों प्रकार के राग को बन्ध का कारण कहा है। यह बात जुदी है कि शुभराग से शुभ कर्म का बन्ध होता है और अशुभ राग से अशुभ कर्म का। शुभ राग के समय शुभ कर्मोंमें स्थिति-अनुभाग बन्ध अधिक होता है और अशुभ रागमें अशुभ कर्मोंमें स्थिति-अनुभाग बन्ध अधिक होता है। वैसे प्रकृति और प्रदेश बन्ध तो यथासम्भव व्युच्छित्ति पर्यन्त सभी कर्मोंका होता रहता है।

यह पुण्यपापाधिकार १४५ से १६३ गाथा तक चलता है।

आस्रवाधिकार—

संक्षेप में जीव द्रव्य की दो अवस्थाएँ हैं—एक संसारी और दूसरी मुक्त। इनमें संसारी अवस्था अशुद्ध होने से हेय है और मुक्त अवस्था शुद्ध होने से उपादेय है। संसार अवस्था का कारण आस्रव और

---

१. सम्मादिट्ठीपुण्णं ण होइ संसारकारणं णियमा।
मोक्खस्स होइ हेउं जइवि णिदाणं ण सो कुणई ॥४०४॥ भावसंग्रहे देवसेनस्य

बन्धतत्त्व है तथा मोक्ष अवस्था का कारण संवर और निर्जरा तत्त्व हैं। आत्मा के जिन भावों से कर्म आते हैं उन्हें आस्रव कहते हैं। ऐसे भाव चार हैं—१. मिथ्यात्व, २. अविरमण, ३. कषाय और ४ योग। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रकार ने इन चार के सिवाय प्रमाद का भी वर्णन किया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी प्रमाद को कषाय का ही एक रूप मानते हैं अतः उन्होंने चार आस्रवों का ही वर्णन किया है। इन्हीं चार के निमित्त से आस्रव होता है। मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में चारों ही आस्रव हैं, उसके बाद अविरतसम्यग्दृष्टि तक अविरमण, कषाय और योग ये तीन आस्रव हैं। पञ्चम गुणस्थानमें एक देश अविरमणका अभाव हो जाता है। सातवें गुणस्थान से दशवें गुणस्थान तक कषाय और योग ये दो आस्रव हैं और उसके बाद ११, १२ और १३ वें गुणस्थान में मात्र योग आस्रव है तथा चौदहवें गुणस्थान में आस्रव बिल्कुल ही नहीं हैं।

इस अधिकार की खास चर्चा यह है कि ज्ञानी अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीव के आस्रव और बन्ध नहीं होते। जबकि करणानुयोग की पद्धति से अविरतसम्यग्दृष्टि को आदि लेकर तेरहवें गुणस्थान तक क्रम से ७७, ६७, ६३, ५९, ५८, २२, १७, १, १, १ प्रकृतियों का बन्ध बताया है। यहां कुन्दकुन्द स्वामी का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के उदयकाल में इस जीव के तीव्र अर्थात् अनन्तसंसार का कारण बन्ध होता था उस प्रकार का बन्ध सम्यग्दृष्टि जीव के नहीं होता। सम्यग्दर्शन की ऐसी अद्भुत महिमा है कि उसके होने के पूर्व ही बध्यमान कर्मों की स्थिति घटकर अन्तःकोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण हो जाती है और सत्ता में स्थित कर्मों की स्थिति इससे भी संख्यात हजार सागर कम रह जाती है। वैसे भी अविरत सम्यग्दृष्टि जीव के ४१ प्रकृतियों का आस्रव और बन्ध तो रुक ही जाता है। वास्तविक बात यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के सम्यग्दर्शन रूप परिणामों से बन्ध नही होता। उसके जो बन्ध होता है उसका कारण अप्रत्याख्यानावरणादि कषायों का उदय है। सम्यग्दर्शनादि भाव, मोक्ष के कारण हैं वे बन्ध के कारण नहीं हो सकते किन्तु उनके सद्भावकाल में जो रागादिक भाव हैं वे ही बन्ध के कारण हैं। इसी भाव को अमृतचन्द्र सूरि ने निम्नांकित कलश में प्रकट किया है—

रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसंभवः।
तत एव न बन्धोऽस्य ते हि बन्धस्य कारणम् ॥११९॥

चूंकि ज्ञानी जीव के रागद्वेष और विमोह का अभाव है इसलिए उसके बन्ध नहीं होता। वास्तव में रागादिक ही बन्ध के कारण हैं। जहां जघन्य रत्नत्रय को बन्ध का कारण बतलाया है वहां भी यही विवक्षा ग्राह्य है कि उसके काल में जो रागादिक भाव हैं वे बन्ध के कारण हैं। रत्नत्रय को उपचार से बन्ध का कारण कहा गया है।

यह आस्रवाधिकार १६४ से १८० गाथा तक चलता है।

संवराधिकार—

आस्रव का विरोधी तत्त्व संवर है अतः आस्रव के बाद ही उसका वर्णन किया जा रहा है। [1]'आस्रवनिरोधः संवरः' आस्रव का रुक जाना संवर है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारों ने गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र को संवर कहा है किन्तु इस अधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने भेद विज्ञान को ही संवर का मूल कारण बतलाया है। उनका कहना है कि उपयोग, उपयोग में ही है, क्रोधादिक में नहीं है और क्रोधादिक, क्रोधादिक ही में है उपयोग में नहीं है। कर्म और नोकर्म तो स्पष्ट ही आत्मा से भिन्न हैं

१. तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय १ सूत्र, २ 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः' तत्त्वार्थसूत्र नवमाध्याय, सूत्र २

अतः उनसे भेदज्ञान प्राप्त करने में महिमा नहीं है। महिमा तो उन रागादिक भाव कर्मों से अपने ज्ञानोपयोग को भिन्न करने में है जो तन्मयीभाव को प्राप्त होकर एक दीख रहे हैं। अज्ञानी जीव इस ज्ञानधारा और रागादिधारा को भिन्न-भिन्न नहीं समझ पाता इसलिये वह किसी पदार्थ का ज्ञान होने पर उसमें तत्काल राग द्वेष करने लगता है। परन्तु ज्ञानी जीव उन दोनों धाराओं के अन्तर को समझता है इसलिये वह किसी पदार्थ को देखकर उसका ज्ञाता द्रष्टा तो रहता है परन्तु रागी द्वेषी नहीं बनता। जहां यह जीव रागादिक को अपने ज्ञाता द्रष्टा स्वभाव से भिन्न अनुभव करने लगता है वहीं उनके सम्बन्ध से होने वाले राग द्वेष से बच जाता है। राग द्वेष से बच जाना ही सच्चा संवर है। किसी वृक्ष को उखाड़ना हो तो उसके पत्ते नोंचने से काम नहीं चलेगा, उसकी जड़ पर प्रहार करना होगा। राग द्वेष की जड़ है भेद विज्ञान का अभाव। अतः भेद विज्ञान के द्वारा उन्हें अपने स्वरूप से पृथक् समझना, यही उनके नष्ट करने का वास्तविक उपाय है। इस भेद-विज्ञान की महिमा का गान करते हुए भी अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

अर्थात् आज तक जितने सिद्ध हुये हैं वे सब भेदविज्ञान से ही सिद्ध हुए हैं और जितने संसार में बद्ध हैं वे भेदविज्ञान के अभाव से ही बद्ध हैं।

इस भेदविज्ञान की भावना तब तक करते रहना चाहिए जब तक कि ज्ञान, पर से च्युत होकर ज्ञान में ही प्रतिष्ठित नहीं हो जाता। परपदार्थ से ज्ञान को भिन्न करने का पुरुषार्थ चतुर्थ गुणस्थान से शुरू होता है और दशम गुणस्थान के अन्तिम समय में समाप्त होता है। वहाँ वह जीव परमार्थ से अपनी ज्ञान-धारा को रागादिक की धारा से पृथक् कर लेता है। इस दशा में इस जीव का ज्ञान, सचमुच ही ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है और इसीलिये जीव के रागादिक के निमित्त से होने वाले बन्ध का सर्वथा अभाव हो जाता है। मात्र योग के निमित्त से सातावेदनीय का आस्रव और बन्ध होता है सो भी सांपरायिक आस्रव और स्थिति तथा अनुभाग बन्ध नहीं। मात्र ईर्यापथ आस्रव और प्रकृति-प्रदेश बन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्त के भीतर ऐसा जीव नियम से केवलज्ञान प्राप्त करता है। अहो भव्यप्राणियो! संवर के इस साक्षात् मार्ग पर अग्रसर होओ जिससे आस्रव और बन्ध से छुटकारा मिले।

संवराधिकार १८१ से १९२ गाथा तक चलता है।

निर्जराधिकार

सिद्धों के अनन्तवें भाग और अभव्यराशि से अनन्तगुणित कर्मपरमाणुओं की निर्जरा संसार के प्रत्येक प्राणी के प्रतिसमय हो रही है पर ऐसी निर्जरा से किसी का कल्याण नहीं होता। क्योंकि जितने कर्मपर-माणुओं की निर्जरा होती है उतने ही कर्मपरमाणु आस्रव पूर्वक बन्ध को प्राप्त हो जाते हैं। कल्याण उस निर्जरा से होता है जिसके होने पर नवीन कर्मपरमाणुओं का आस्रव और बन्ध नहीं होता। इसी उद्देश्य से यहाँ कुन्दकुन्द महाराज ने संवर के बाद ही निर्जरा पदार्थ का निरूपण किया है। संवर के बिना निर्जरा की कोई सफलता नहीं है।

निर्जराधिकार के प्रारम्भ में ही कहा गया है—

उवभोग मिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥११३॥

सम्यग्दृष्टि जीव के इन्द्रियों द्वारा जो चेतन अचेतन पदार्थों का उपभोग होता है वह सब निर्जरा के निमित्त होता है। अहो! सम्यग्दृष्टि जीव की कैसी उत्कृष्ट महिमा है कि उसके पूर्वबद्ध कर्म उदय में आ

रहे हैं और उनके उदयकाल में होने वाला उपयोग भी हो रहा है परन्तु उससे नवीन बन्ध नहीं होता। किन्तु पूर्वबद्ध कर्म अपना फल देकर खिर जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव कर्म और कर्म के फल का भोक्ता अपने आपको नहीं मानता। उनका ज्ञायक तो होता है वह, परन्तु भोक्ता नहीं। भोक्ता अपने ज्ञायकस्वभाव का ही होता है। यही कारण है कि उसकी वह प्रवृत्ति निर्जरा का कारण बनती है।

सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य की अद्भुत सामर्थ्य है। ज्ञानसामर्थ्य की महिमा बतलाते हुए कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है कि जिस प्रकार विष का उपभोग करता हुआ वैद्यपुरुष मरण को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष पुद्गल कर्म के उदय का उपभोग करता हुआ बन्ध को प्राप्त नहीं होता। वैराग्यसामर्थ्य की महिमा बतलाते हुए कहा है कि जिस प्रकार अरतिभाव से मदिरा का पान करने वाला मनुष्य मद को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार अरतिभाव से द्रव्य का उपभोग करने वाला ज्ञानी पुरुष बन्ध को प्राप्त नहीं होता। कैसी अद्भुत महिमा ज्ञान और वैराग्य की है कि उसके होने पर सम्यग्दृष्टि जीव मात्र निर्जरा को करता है बन्ध को नहीं। अन्य ग्रन्थों में इस अविद्या की निर्जरा का कारण तपश्चरण कहा गया है परन्तु कुन्दकुन्द स्वामी ने तपश्चरण को यथार्थ तपश्चरण बनाने वाला जो ज्ञान और वैराग्य है उसीका सर्वप्रथम वर्णन किया है। ज्ञान और वैराग्यके बिना तपश्चरण निर्जराका कारण न होकर शुभबन्ध का कारण होता है। ज्ञान और वैराग्यसे शून्य तपश्चरणके प्रभावसे यह जीव अनन्त बार मुनिव्रत धारण कर नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न हो जाता है परन्तु उतने मात्रसे संसारभ्रमणका अन्त नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव के क्या निर्जरा ही निर्जरा होती है बन्ध बिल्कुल नहीं होता? इसका उत्तर करणानुयोग की पद्धति से यह होता है कि सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा का होना प्रारम्भ हो गया। मिथ्यादृष्टि जीव के ऐसी निर्जरा आज तक नहीं हुई। किन्तु सम्यग्दर्शन होते ही वह ऐसी निर्जरा का पात्र बन जाता है। 'सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षयकोपशमकोपशान्तमोहक्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः'—आगम में गुणश्रेणी निर्जरा के ये दश स्थान बतलाये हैं। इनमें निर्जरा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा और बन्ध दोनों चलते हैं। निर्जरा के कारणों से निर्जरा होती है और बन्ध के कारणों से बन्ध होता है। जहां बन्ध का सर्वथा अभाव होकर मात्र निर्जरा ही निर्जरा होती है ऐसा तो सिर्फ चौदहवां गुणस्थान है। उसके पूर्व चतुर्थ गुणस्थान से तेरहवें गुणस्थान तक निर्जरा और बन्ध दोनों चलते हैं। यह ठीक है कि जैसे जैसे यह जीव उपरितन गुणस्थानों में चढ़ता जाता है वैसे वैसे निर्जरा में वृद्धि और बन्ध में न्यूनता होती जाती है। सम्यग्दृष्टि जीव के ज्ञान और वैराग्य शक्ति की प्रधानता हो जाती है इसलिए बन्ध के कारणों की गौणता कर ऐसा कथन किया जाता है कि सम्यग्दृष्टि के निर्जरा ही होती है, बन्ध नहीं। इसी निर्जराधिकार में कुन्दकुन्द स्वामी ने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का विशद वर्णन किया है।

यह अधिकार १९३ से लेकर २३६ गाथा तक चलता है।

बन्धाधिकार—

आत्मा और पौद्गलिक कर्म—दोनों ही स्वतन्त्र द्रव्य हैं और दोनों में चेतन अचेतन की अपेक्षा पूर्व और पश्चिम जैसा अन्तर है। फिर भी इनका अनादिकाल से संयोग बन रहा है जिस प्रकार चुम्बक में लोहा को खींचने की और लोहा में खिचने की योग्यता है उसी प्रकार आत्मा में कर्म रूप पुद्गल को खींचने की और कर्मरूप पुद्गल में खिचने की योग्यता है। अपनी अपनी योग्यता के कारण दोनों का एक क्षेत्रावगाह हो रहा है। इसी एक क्षेत्रावगाह को बन्ध कहते हैं। इस बन्ध दशा के कारणों का वर्णन करते

हुए आचार्य ने स्नेह अर्थात् रागभाव को ही प्रमुख कारण बतलाया है। अधिकार के प्रारम्भ में ही वे एक दृष्टान्त देते हैं कि जिस प्रकार धूलिबहुल स्थान में कोई मनुष्य शस्त्रों से व्यायाम करता है, ताड़ तथा केले आदि के वृक्षों को छेदता-भेदता है, इस क्रिया से उसके शरीर के साथ धूलि का सम्बन्ध होता है सो इस सम्बन्ध के होने में कारण क्या है ? उस व्यायामकर्त्ता के शरीर में जो स्नेह-तैल लग रहा है, वही उसका कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव, इन्द्रियविषयों में व्यापार करता है, उस व्यापार के समय जो कर्मरूपी धूलिका सम्नन्ध उसकी आत्मा के साथ होता है, उसका कारण क्या है ? उसका कारण भी उसकी आत्मा में विद्यमान स्नेह अर्थात् रागभाव है। यह रागभाव जीव का स्वभाव नहीं किन्तु विभाव है और वह भी द्रव्यकर्मो की उदयावस्थारूप कारण से उत्पन्न हुआ है।

आस्रवाधिकार में आस्रव के जो चार प्रत्यय—मिथ्यादर्शन, अविरमण, कषाय और योग बतलाये हैं वे ही बन्ध के भी प्रत्यय—कारण हैं। इन्हीं प्रत्ययों का संक्षिप्त नाम रागद्वेष अथवा अध्यवसान-भाव है। इन अध्यवसान-भावों का जिनके अभाव हो जाता है वे शुभ अशुभ कर्मों के साथ बन्ध को प्राप्त नहीं होते। जैसा कि कहा है—

एयाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

मैं किसी की हिंसा करता हूं तथा कोई अन्य जीव मेरी हिंसा करते हैं। मैं किसी को जिलाता हूं तथा कोई अन्य मुझे जिलाते हैं। मैं किसी को सुख दुःख देता हूं तथा अन्य कोई मुझे सुख दुःख देते हैं—यह सब भाव अध्यवसान भाव कहलाते हैं। मिथ्यादृष्टि जीव इन अध्यवसान भावों को कर कर्मबन्ध करता है और सम्यग्दृष्टि जीव उससे दूर रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव बन्ध के इस वास्तविक कारण को समझता है इसलिए वह उसे दूर कर निर्बन्ध अवस्था को प्राप्त होता है परन्तु मिथ्यादृष्टि जीव इस वास्तविक कारण को नहीं समझ पाता इसलिये करोड़ों वर्ष की तपस्या के द्वारा भी वह निर्बन्ध अवस्था प्राप्त नहीं कर पाता। मिथ्यादृष्टि जीव धर्म का आचरण—तपश्चरण आदि करता भी है परन्तु 'धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं' धर्म को भोग के निमित्त करता है, कर्मक्षय के निमित्त नहीं।

अरे भाई! सच्चा कल्याण यदि करना चाहता है तो इन अध्यवसान भावों को समझ और उन्हें दूर करने का पुरुषार्थ कर।

कितने ही जीव निमित्त की मान्यता से बचने के लिये ऐसा व्याख्यान करते हैं कि आत्मा में रागादिक अध्यवसान भाव स्वतः होते हैं, उनमें द्रव्यकर्म की उदयावस्था निमित्त नहीं है। ऐसे जीवों को बन्धाधिकार की निम्नगाथाओं का मनन कर अपनी श्रद्धा ठीक करनी चाहिए—

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥

जैसे स्फटिकमणि आप शुद्ध है, वह स्वयं ललाई आदि रंग-रूप परिणमन नहीं करता किन्तु लाल आदि द्रव्यों से ललाई आदि रङ्गरूप परिणमन करता है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव आप शुद्ध है, वह स्वयं राग आदि विभावरूप परिणमन नहीं करता, किन्तु अन्य राग आदि दोषों—द्रव्यकर्मोदयजनित विकारों से रागादि विभावभावरूप परिणमन करता है।

श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने भी कलशा के द्वारा उक्त भाव प्रकट किया है—

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

जिस प्रकार अर्ककान्त–स्फटिकमणि स्वयं ललाई आदि को प्राप्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा स्वयं रागादि के निमित्त भाव को प्राप्त नहीं होता उसमें निमित्त परसंग ही है—आत्मा के द्वारा किया हुआ पर का संग ही है।

ज्ञानी जीव स्वभाव और विभाव के अन्तर को समझता है। वह स्वभाव को अकारण मानता है पर विभाव को सकारण मानता है। ज्ञानी जीव स्वभाव में स्वत्व बुद्धि रखता है और विभाव में परत्व-बुद्धि। इसीलिए वह बन्ध से बचता है।

यह अधिकार २३७ से लेकर २८७ गाथा तक चलता है।

मोक्षाधिकार

आत्मा की सर्वकर्म से रहित जो अवस्था है उसे मोक्ष कहते हैं। मोक्ष शब्द ही इसके पूर्व रहने वाली बद्ध अवस्था का प्रत्यय कराता है। मोक्षाधिकार में मोक्षप्राप्ति के कारणों का विचार किया गया है। प्रारम्भ में ही कुन्दकुन्द स्वामी लिखते हैं—जिस प्रकार चिरकाल से बन्धन में पड़ा हुआ कोई पुरुष उस बन्धन के तीव्र, मन्द या मध्यमभाव को जानता है तथा उसके कारणों को भी समझता है परन्तु उस बन्धन का–बेड़ी का छेदन नहीं करता है तो उस बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार जो जीव कर्मबन्ध के प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध को जानता है तथा उनकी स्थिति आदि को भी समझता है परन्तु उस बन्ध को छेदने का पुरुषार्थ नहीं करता तो वह उस कर्मबन्ध से मुक्त नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में कुन्दकुन्द स्वामी ने बड़ी उत्कृष्ट बात कही है। मेरी समझ से वह उत्कृष्ट बात महाव्रताचरण रूप सम्यक्चारित्र है। हे जीव! तुझे श्रद्धान है कि मैं कर्म बन्धन से बद्ध हूँ और तू बद्ध होने के कारणों को भी जानता है परन्तु तेरा यह श्रद्धान और ज्ञान तुझे कर्मबन्ध से मुक्त करने वाला नहीं है। मुक्त करने वाला तो यथार्थ श्रद्धान और ज्ञान के साथ होने वाला सम्यक्चारित्र रूप पुरुषार्थ ही है। जब तक तू इस पुरुषार्थ को अङ्गीकृत नहीं करेगा तब तक बन्धन से मुक्त होना दुर्भर है। मात्र ज्ञान और दर्शन को लिये हुये तेरा सागरों पर्यन्त का दीर्घकाल यों ही निकल जाता है। पर तू बन्धन से मुक्त नहीं हो पाता। परन्तु उस श्रद्धान ज्ञान के साथ जहाँ चारित्र रूपी पुरुषार्थ को अङ्गीकृत करता है वहाँ तेरा कार्य बनने में विलम्ब नहीं लगता। यहाँ तक कि अन्तर्मुहूर्त में भी काम बन जाता है।

हे जीव! तू मोक्ष किसका करना चाहता है? आत्मा का करना चाहता हूँ। परन्तु संयोगी पर्याय के अन्दर तूने आत्मा को समझा या नहीं? इस बात का तो विचार कर। कहीं इस संयोगी पर्याय को ही तो तूने आत्मा नहीं समझ रक्खा है? मोक्षप्राप्ति का पुरुषार्थ करने के पहले आत्मा और बन्ध को समझना आवश्यक है। कुन्दकुन्द स्वामी ने कहा है—

जीवो बन्धो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बन्धो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेतव्वो ॥२९५॥

जीव और बन्ध अपने-अपने लक्षणों से जाने जाते हैं सो जानकर बन्ध तो छेदने के योग्य है और जीव—आत्मा ग्रहण करने के योग्य है।

शिष्य कहता है भगवन्! वह उपाय तो बताओ जिसके द्वारा मैं आत्मा का ग्रहण कर सकूँ। उत्तर में कुन्दकुन्द महाराज कहते हैं—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥२९६॥

उस आत्मा का ग्रहण कैसे किया जावे ? प्रज्ञा—भेद ज्ञान के द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जावे। जिस तरह प्रज्ञा से उसे विभक्त किया था उसी तरह प्रज्ञा से उसे ग्रहण करना चाहिए ।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञा के द्वारा ग्रहण करने योग्य जो चेतयिता है वही मैं हूँ और अवशेष जो भाव हैं वे मुझ से पर हैं ।

इस प्रकार स्वपर के भेदविज्ञानपूर्वक जो चारित्र धारण किया जाता है वही मोक्ष प्राप्ति का वास्तविक पुरुषार्थ है । मोह और क्षोभ से रहित आत्मा की परिणति को चारित्र कहते हैं । व्रत, समिति, गुप्ति आदि, इसी वास्तविक चारित्र की प्राप्ति में साधक होने से चारित्र कहे जाते हैं ।

यह अधिकार २८८ से लेकर ३०७ गाथा तक चलता है ।

सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार

आत्मा के अनन्त गुणों का ज्ञान ही सबसे प्रमुख गुण है। उसमें किसी प्रकार का विकार न शेष रह जावे, इसलिये पिछले अधिकारों में उक्त अनुक्त बातों का एक बार फिर से विचार कर ज्ञान को सर्वथा निर्दोष बनाने का प्रयत्न इस सर्वविशुद्धि ज्ञानाधिकार में किया गया है ।

'आत्मा परद्रव्य के कर्तृत्व से रहित है' इसके समर्थन में कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने ही गुणपर्यायरूप परिणमन करता है अन्यद्रव्यरूप नहीं, इसलिये वह पर का कर्त्ता नहीं हो सकता, अपने ही गुण और पर्यायों का कर्त्ता हो सकता है। यही कारण है कि आत्मा कर्मों का कर्त्ता नहीं है। कर्मों का कर्त्ता पुद्गल द्रव्य है क्योंकि ज्ञानावरणादि रूप परिणमन पुद्गल द्रव्य में ही हो रहा है। इसी तरह रागादिक का कर्त्ता आत्मा ही है, पर द्रव्य नहीं, क्योंकि रागादिरूप परिणमन आत्मा ही करता है। निमित्त प्रधान दृष्टि को लेकर पहले अधिकार में पुद्गलजन्य होने के कारण राग को पौद्गलिक कहा है। यहाँ उपादान-प्रधान दृष्टि को लेकर कहा गया है कि चूँकि रागादिरूप परिणमन आत्मा का होता है, अतः आत्मा के हैं। अमृतचन्द्र सूरि ने तो यहाँ तक कहा है कि जो जीव रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही निमित्त मानते हैं वे शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धि हैं तथा मोह रूपी नदी को नहीं तैर सकते—

रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ॥२२१॥

कितने ही महानुभाव अपनी एकान्त उपादान की मान्यता का समर्थन करने के लिये इस कलशा का अवतरण दिया करते है पर वे श्लोक में पड़े हुए 'एव' शब्द की ओर दृष्टिपात नहीं करते। यहाँ अमृतचंद्र सूरि 'एव' शब्द के द्वारा यह प्रकट कर रहे हैं कि जो राग की उत्पत्ति में परद्रव्य को ही कारण मानते है, स्वद्रव्य को नहीं मानते, वे मोहनदी को नहीं तैर सकते। रागादिक की उत्पत्ति में परद्रव्य निमित्तकारण है और स्वद्रव्य उपादानकारण को न मानकर परद्रव्य कारण है। जो पुरुष स्वद्रव्यरूप उपादान कारण को न मानकर परद्रव्य को ही कारण मानते हैं—मात्र निमित्त कारण से उनकी उत्पत्ति मानते हैं वे मोह नदी को नहीं तैर सकते। यह ठीक है कि निमित्त, कार्यरूप परिणत नहीं होता परन्तु कार्य की उत्पत्ति में उसक

साहाय्य अनिवार्य आवश्यक है। अन्तरंग बहिरंग कारणों से कार्य की उत्पत्ति होती है, यह जिनागम की निर्विवाद सनातन मान्यता है। यहाँ जिस निमित्त के साथ कार्य का अन्वय व्यतिरेक रहता है वही निमित्त शब्द से विवक्षित है इसका ध्यान रखना चाहिये।

आत्मा पर का—कर्म का कर्ता नहीं है, यह सिद्ध कर जीवों को कर्म चेतना से रहित सिद्ध किया गया है। इसी तरह ज्ञानी जीव अपने ज्ञायकस्वभाव का ही भोक्ता है, कर्मफल का भोक्ता नहीं है, यह सिद्ध कर उसे कर्मफलचेतना से रहित सिद्ध किया गया है। ज्ञानी तो एक ज्ञानचेतना से ही सहित है, उसी के प्रति उसकी स्वत्व बुद्धि रहती है।

इस अधिकार के अन्त में एक बात और बड़ी सुन्दर कही गई है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि कितने ही लोग मुनिलिङ्ग अथवा गृहस्थ के नानालिङ्ग धारण करने की प्रेरणा इसलिए करते हैं कि ये मोक्षमार्ग हैं परन्तु कोई लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है, मोक्ष का मार्ग तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्‌चारित्र की एकता है। इसलिए—

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेया।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

मोक्ष मार्ग में आत्मा को लगाओ, उसी का ध्यान करो, उसी का चिन्तन करो और उसी में विहार करो, अन्य द्रव्यों में नहीं।

इस निश्चयपूर्ण कथन का कोई यह फलितार्थ न निकाल ले कि कुन्दकुन्द स्वामी मुनिलिङ्ग और श्रावकलिङ्ग का निषेध करते हैं। इसलिये वे लगे हाथ अपनी नयविवक्षा को प्रकट करते हैं—

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

परन्तु व्यवहार नय दोनों नयों को मोक्षमार्ग में कहता है और निश्चयनय मोक्षमार्ग में सभी लिङ्गों को इष्ट नहीं मानता।

इस तरह विवाद के स्थलों को कुन्दकुन्द स्वामी तत्काल स्पष्ट करते हुए चलते हैं। जिनागम का कथन नयविवक्षा पर अवलम्बित है यह तो सर्वसम्मत बात है, इसलिए व्याख्यान करते समय वक्ता अपनी नयविवक्षा को प्रकट करते चलें और श्रोता भी व्याख्यात तत्त्व को उसी नयविवक्षा से ग्रहण करने का प्रयास करें तो विसंवाद होने का अवसर ही नहीं आवे।

यह अधिकार ३०८ से लेकर ४१५ गाथा तक चलता है।

स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयभावाधिकार

ये अधिकार अमृतचंद्र स्वामी ने स्वरचित आत्मख्याति टीका के अङ्गरूप लिखे हैं। इतना स्पष्ट है कि समयप्राभृत या समयसार अध्यात्म ग्रन्थ है। अध्यात्म ग्रंथों का वस्तुतत्त्व सीधा आत्मा से संबंध रखने वाला होता है। इसलिए उसके कथन में निश्चयनय का आलम्बन प्रधान रूप से लिया जाता है। परपदार्थ से संबंध रखने वाले व्यवहारनय का आलम्बन गौण रहता है। जो श्रोता दोनों नयों के प्रधान और गौण-भाव पर दृष्टि नहीं रखते उन्हें भ्रम हो सकता है। उनके भ्रम का निराकरण करने के उद्देश्य से ही अमृतचन्द्र स्वामी ने इन अधिकारों का अवतरण किया है।

स्याद्वाद अधिकार में उन्होंने स्याद्वाद के वाच्यभूत अनेकान्त का समर्थन करने के लिए तत्-अतत्, सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य आदि अनेक नयों से आत्मतत्त्व का निरूपण किया है। अन्त में कलश

काव्यों के द्वारा इसी बात का समर्थन किया है। अमृतचंद्र स्वामी ने अनेकान्त को परमागम का जीव-प्राण और समस्त नयों के विरोध को नष्ट करने वाला माना है। जैसा कि उन्होंने स्वरचित पुरुषार्थसिद्धयुपाय ग्रंथ के मङ्गलाचरणरूप में कहा है—

परमागमस्य जीवं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

आत्मख्याति टीका के प्रारम्भ में भी उन्होंने यही आकांक्षा प्रकट की है—

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥२॥

अनेकधर्मात्मक परमात्मतत्त्व के स्वरूप का अवलोकन करने वाली अनेकान्तमयी मूर्ति निरन्तर ही प्रकाशमान रहे।

इसी अधिकार में उन्होंने जीवत्वशक्ति, चितिशक्ति आदि ४७ शक्तियों का निरूपण किया है जो नयविवक्षा के परिज्ञान से ही सिद्ध होता है।

उपायोपेयाधिकार में उपायोपेयभाव की चर्चा की गयी है जिसका सार यह है—

पाने योग्य वस्तु जिससे प्राप्त की जाती है वह उपाय है और उस उपाय के द्वारा जो वस्तु प्राप्त की जाती है वह उपेय है। आत्मारूप वस्तु यद्यपि ज्ञानमात्र वस्तु है तो भी उसमें उपायोपेयभाव विद्यमान है। क्योंकि उस आत्मवस्तु के एक होने पर भी उसमें साधक और सिद्ध के भेद से दोनों प्रकार का परिणाम देखा जाता है अर्थात् आत्मा ही साधक और आत्मा ही सिद्ध है। उन दोनों परिणामों में जो साधकरूप है वह उपाय कहलाता है और जो सिद्धरूप है वह उपेय कहलाता है। यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। जब तक व्यवहार रत्नत्रय को निश्चलरूप से अङ्गीकृत कर अनुक्रम से अपने स्वरूपानुभव की वृद्धि करता हुआ निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता को प्राप्त होता है तब तक तो साधकभाव है और निश्चय रत्नत्रय की पूर्णता से समस्त कर्मों का क्षय होकर जो मोक्ष प्राप्त होता है वह सिद्धभाव है। इन दोनों भावरूप परिणमन ज्ञान का ही है इसलिए वही उपाय है और वही उपेय है। यह गुण की प्रधानता से कथन है।

संस्कृत टीकाकारों का परिचय

अमृतचन्द्र सूरि

समयप्राभृत या समयसार पर दो संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध हैं—एक आत्मख्याति और दूसरी तात्पर्यवृत्ति। आत्मख्याति के रचयिता अमृतचन्द्र सूरि हैं इन्होने कुन्दकुन्द स्वामी के हार्द (अभिप्राय) को खोलने का पूर्ण प्रयास किया है। कुन्दकुन्द स्वामी के प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसार पर इनकी संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं जो तद्-तद् ग्रन्थों के साथ मुद्रित हो चुकी हैं। आपकी भाषा पाण्डित्यपूर्ण है। अध्यात्मग्रन्थों की टीका में यदि सरल भाषा का प्रयोग होता तो और भी अधिक लाभदायक होता। समयसार की टीका के साथ आपने गाथाओं के अभिप्राय को स्पष्ट अथवा पल्लवित करने के लिए श्लोक भी लिखे हैं जो कलश के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनके संस्कृत टीका सहित तथा मात्र हिन्दी टीका सहित अलग से भी संस्करण प्रकाशित हुए हैं। ये कलशकाव्य इतने लोकप्रिय सिद्ध हुए हैं कि कितने ही महानुभावों के नित्य पाठ में सम्मिलित हो गये हैं। इन्हीं की शैली का अनुकरण कर पद्मप्रभमलधारी देव ने नियमसार की संस्कृत टीका लिखी है तथा टीका के बाद कलशकाव्य भी लिखे हैं।

इन टीकाओं के सिवाय अमृतचन्द्र स्वामी के द्वारा विरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय तथा तत्त्वार्थसार ये दो ग्रन्थ और मिलते हैं। प्रसन्नता है कि इन्हीं अमृतचन्द्राचार्य द्वारा विरचित एक 'शक्तिमणितकोष' ग्रन्थ भी मिला है जिसमें पच्चीस-पच्चीस श्लोकों के पच्चीस प्रकरण हैं। इनकी कविता दुरूह तथा आध्यात्मिक और दार्शनिक शैली का सम्मिश्रण है। इसके प्रकाशन की योजना चल रही है।

इन आचार्य ने अपना परिचय किसी ग्रन्थ में नहीं दिया है। यहां तक कि समयसार के इस निरूपण का कि 'एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता नहीं है' इनके ऊपर गहरा प्रभाव पड़ा है जिससे वे समयसार की टीका के अन्त में लिखते हैं—

स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥२७८॥

अपनी शक्ति से वस्तुस्वरूप को सूचित करने वाले शब्दों के द्वारा यह समय—आगम अथवा समयसार की व्याख्या की गई है। स्वरूप में गुप्त रहने वाले अमृतचन्द्र सूरि का इसमें कुछ भी कर्तृत्व नहीं है। इसी भाव के श्लोक पञ्चास्तिकाय तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के अन्त में उपलब्ध हैं।

यह आचार्य अनेकान्त के अनन्य भक्त थे। निश्चय और व्यवहारनय के पारस्परिक विरोध का शमन करने के लिये पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में इन्होंने लिखा है—

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः॥८॥

जो यथार्थ रूप में व्यवहार और निश्चय को जानकर मध्यस्थ होता है वही शिष्य देशना के पूर्ण फल को प्राप्त होता है।

आपने पञ्चास्तिकाय की टीका के अन्त में निश्चयाभास, व्यवहाराभास और उभयाभास का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है।

ये विक्रम संवत् १००० के लगभग हुए हैं क्योंकि जयसेन के धर्मरत्नाकर में इनके द्वारा रचित पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय के ५९ पद्य उद्धृत हैं। जयसेन ने अपना यह ग्रन्थ वि० सं० १०५५ में बनाया है, ऐसा उसकी प्रशस्ति के अन्तिम पद्य से प्रकट है। इस तरह अमृतचन्द्र सूरि १०५५ के पूर्ववर्ती ही हैं, उत्तरवर्ती नहीं[1]।

जयसेनाचार्य—

तात्पर्यवृत्ति के कर्ता श्री जयसेनाचार्य हैं इनकी टीका की भाषा बहुत सरल और हृदयग्राही है। वास्तव में अध्यात्म ग्रन्थों की टीका ऐसी ही भाषा में होनी चाहिये। इन्होंने कुन्दकुन्द के प्रवचनसार, समयसार और पञ्चास्तिकाय, इन तीनों ग्रन्थों पर टीकाएं लिखी हैं और उनमें निश्चय-व्यवहारनय का ऐसा सामञ्जस्य बैठाया है कि पढ़ते समय हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति की गाथाओं में कहीं कहीं हीनाधिकता पाई जाती है अर्थात् तात्पर्यवृत्ति में ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिनकी टीका अमृतचन्द्र सूरि ने नहीं की है। इससे इतना सिद्ध होता है कि इन ग्रन्थों की प्रतियों में पाठ भेद बहुत पहले से पाया जाता है। अमृतचन्द्र स्वामी ने अपनी टीका का आधार अन्य प्रति को बनाया होगा और जयसेन ने दूसरी प्रति को। अमृतचन्द्र स्वामी ने छानबीन कर द्विरुक्त अथवा अनावश्यक गाथाओं को छोड़ा है परन्तु जयसेन ने ऐसा नहीं किया।

---

१. देखो, अनेकान्त वर्ष ८ अंक ४-५

जयसेन बारहवीं शताब्दी के विद्वान् हैं। इनकी टीका की पद्धति का अनुसरण कर परमात्मप्रकाश और बृहद् द्रव्यसंग्रह की टीकाएँ तत्तत्कर्ताओं के द्वारा लिखी गयीं।

पं० बनारसीदासजी—

जैन साहित्य में हिन्दी भाषा का इतना बड़ा अन्य कवि नहीं हुआ। इनका जन्म एक धनी मानी सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। इनके प्रपितामह जिनदास का साका चलता था। पितामह मूलदास हिन्दी और फारसी के पण्डित थे और यह नर वर मालवा में वहाँ के मुसलमान नवाब के मोदी होकर गये थे। इनके मातामह मदनसिंह चिनालिया जौनपुर के प्रसिद्ध जौहरी थे और पिता खड्गसेन कुछ दिनों तक बंगाल के सुलतान मोदीखां के पोतदार रहे थे। इनका जन्म जौनपुर माघ सुदी ११ संवत् १६४३ में हुआ था। यह श्रीमाल वैश्य थे। यह बड़े ही प्रतिभाशाली कवि थे। शिक्षा सामान्य प्राप्त की थी पर अद्भुत प्रतिभा होने के कारण यह अच्छे कवि थे। इन्होंने चौदह वर्ष की अवस्था में एक हजार दोहा चौपाइयों का नवरस नामक ग्रन्थ बनाया था, जिसे आगे चलकर, इस भय से कि संसार पथ-भ्रष्ट न हो, गोमती में प्रवाहित कर दिया था।

इनके पिता मूलतः आगरा निवासी ही थे तथा इन्हें भी बहुत दिनों तक आगरा रहना पड़ा था। उस समय आगरा जैन-विद्वानों का केन्द्र था। इनके सहयोगियों में पं० रामचन्द्रजी, चतुर्भुज बैरागी, भगवतीदास जी, धर्मदास जी, कुंवरपाल जी और जगजीवनराम जी विशेष उल्लेख योग्य हैं। ये सभी कवि थे। महाकवि बनारसीदास जी का सन्त कवि सुन्दरदास से सम्पर्क था। बताया गया है—'प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास के साथ सुन्दरदास की मैत्री थी। सुन्दरदास जब आगरा गये थे तब बनारसीदास के साथ संपर्क हुआ था। बनारसीदासजी सुन्दरदासकी योग्यता, कविता और यौगिक चमत्कारोंसे मुग्ध हो गये थे। तभी इतनी श्लाघायुक्त कण्ठसे उन्होंने प्रशंसा की थी। परन्तु वैसे ही त्यागी और मेधावी बनारसीदास जी भी थे। उनके गुणों से सुन्दरदास प्रभावित हो गये। इसी से वैसी अच्छी प्रशंसा उन्होंने भी की थी।

महाकवि बनारसीदास का सम्पर्क महाकवि तुलसीदास के साथ भी था। एक किवदन्ती में कहा गया है कि कवि तुलसीदास ने अपनी रामायण बनारसीदास को देखने के लिये दी थी। जब मथुरा से लौट कर तुलसीदास आगरा आये तब बनारसीदास ने रामायण पर अपनी संमति 'विराजै रामायण घटमाहिं मर्मी होय मर्म सो जानै मूरख मानै नाहिं।' इत्यादि पद लिख कर दी थी। कहते हैं इस सम्मति से प्रसन्न होकर ही तुलसीदास जी ने कुछ पद्य भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति में लिखे हैं। ये पद्य शिवनन्दन द्वारा लिखित गोस्वामी जी की जीवनी में प्रकाशित हैं। इनकी निम्न रचनाएँ हैं—

१. नाममाला—एकसौ पचहत्तर दोहों का छोटा-सा शब्द कोष है, इसकी सं० १६७० में जौनपुर में रचना की थी।

२. नाटक समयसार—यह कविवर की सबसे प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसकी रचना सं० १६९३ में आगरा में की गयी थी।

३. बनारसी विलास—इसमें ५७ फुटकर रचनाएँ संग्रहित हैं। इसका संकलन सं० १७०१ में पं० जगजीवन ने किया था।

४. अर्द्धकथानक—इसमें कवि ने आत्मकथा लिखी है इसमें सं० १६९८ तक की सभी घटनाएँ दी गयी हैं।[१]

---

१. श्री डा० नेमिचन्द्र शास्त्री कृत हिन्दी जैन साहित्य-परिशीलन भाग १ पृष्ठ २४४ से साभार उद्धृत।

आद्य हिन्दी टीकाकार श्री जयचन्द्रजी

आत्मख्याति के आधार पर समयसार की सर्व प्रथम हिन्दी–टीका पं० जयचन्द्र जी ने की है। इस टीका का निर्माण इन्होंने कार्तिक वदी १० वि० सं० १८६४ को किया है।

श्री पं० जयचन्द्र जी छावड़ा खण्डेलवाल जैन थे। जयपुर से ३० मील की दूरी पर स्थित फागई (फागी) ग्राम में रहने वाले श्री मोतीराम जी के पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही इनकी जैनतत्त्व चर्चा में रुचि थी। कुछ समय बाद आप फागई से जयपुर आ गये। यहाँ आने पर इन्होंने विद्वानों की अच्छी शैली देखी। उन विद्वानों के सम्पर्क से आपकी स्वाध्याय सम्बन्धी अभिरुचि बढ़ती गयी। इनका जन्म वि० सं०में १८१५ को हुआ था और समाधिमरण १८८१–८२ के लगभग माना जाता है। आपकी रचनाओं में उनका काल दिया हुआ है जिससे जान पड़ता है कि आपने १८५९ से रचना करना शुरू कर दिया था और यह रचना कार्य १८७४ वि० सं० तक चलता रहा है। आप संस्कृत भाषा के अच्छे जानकार थे। न केवल धर्म विषय के आप ज्ञाता थे किन्तु न्याय विषय में भी अच्छे विख्यात थे। ये स्वतन्त्र कविताएँ भी लिखते थे। समयसार के प्रत्येक अधिकार में जो आपने सवैया आदि पद्य दिये हैं वे बहुत ही भावपूर्ण हैं। आपकी साहित्यिक रचनाएँ निम्न प्रकार हैं।[1]

१	तत्त्वार्थ सूत्र वचनिका	वि० सं० १८५९
२	सर्वार्थसिद्धि वचनिका*	चैत्र शुक्ला ५ सं० १८६१
३	प्रमेयरत्नमाला वचनिका*	आषाढ़ शुक्ला ४ सं० १८६३
४	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षावचनिका*	श्रावण कृ० ३ सं० १८६३
५	द्रव्यसंग्रह वचनिका*	श्रावण कृ० १४ सं० १८६३
६	समयसार वचनिका*	कार्तिक कृ० १० सं० १८६४
७	देवागम (आप्तमीमांसा) वचनिका*	चैत्र कृष्ण १४ सं० १८६६
८	अष्टपाहुड वचनिका*	भाद्र० शु० १२ सं० १८६७
९	ज्ञानार्णव वचनिका*	माघ कृ० ५ सं० १८६९
१०	भक्तामरस्तोत्र वचनिका	कार्तिक कृ० १२ सं० १८७०
११	पद्यों की पुस्तक (मौलिक २४६ पद्यों का संग्रह)	आषाढ शुक्ल १० सं० १८७४
१२	सामायिकपाठ वचनिका	
१३	पत्रपरीक्षा वचनिक	
१४	चन्द्रप्रभचरित्र द्वितीयसर्ग वचनिका	
१५	मतसमुच्चय वचनिका	
१६	धन्यकुमार चरित वचनिका	

इन रचनाओं में तारकाङ्कित ग्रन्थों की प्रतियां स्वयं पण्डित जी के हाथ की लिख ई दि० जैनहुी बड़ा मन्दिर जयपुर में विराजमान हैं।

---

१. श्री पं० जयचन्द्र जी छावड़ा का परिचय तथा उनके साहित्यिक कार्यों की सूची द्रव्य-संग्रह की डा० दरबारीलाल जी कोठिया द्वारा लिखित भूमिका से साभार ली गयी है।

समयसार का यह संस्करण

उपलब्ध जैनागमों में **समयप्राभृत (समयसार)** अपना खास महत्त्व रखता है। उसका स्वाध्याय कर अन्य अनेक धर्मी लोग शाश्वत कल्याणकारी वीतराग मार्ग में दीक्षित हुए हैं। कुन्दकुन्द महाराज के हृदय-हिमालय से जो अध्यात्म की मन्दाकिनी प्रवाहित हुई है उसकी सरस-शीतल धार में अवगाहन कर संसार भ्रमणरूप दाह से संतप्त मानव परमशान्ति का अनुभव करते हैं। इस समय समाज में समयसार के स्वाध्याय का पर्याप्त प्रसार हुआ है। जगह जगह से इसके सुन्दर संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। सर्वप्रथम इसका प्रकाशन पं० जयचन्द्र जी छावड़ाकृत हिन्दीवचनिका के साथ श्री रायचन्द्रजैनशास्त्रमाला बम्बई से हुआ था। पण्डित जी की भाषा प्राचीन हिन्दी थी उसे खड़ी बोली में परिवर्तित करने का कार्य सर्वप्रथम श्रीमान् पं० मनोहरलाल जी शास्त्री ने किया था। यह संस्करण सन् १९१९ में प्रकाशित हुआ था। इसी संस्करण के आधार पर अहिंसामन्दिर दिल्ली से भी एक संस्करण १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ था। रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला से प्रकाशित यह संस्करण कई वर्षों से दुष्प्राप्य था। संस्कृत की दो टीकाओं और हिन्दी की सरल तथा स्पष्टतम व्याख्या से अलंकृत होने के कारण इसकी मांग आती रहती थी। इसलिये कागज की दुर्लभता के समय भी इसका यह संस्करण प्रकाशित किया जा रहा है। समयसार के पिछले संस्करणों की संस्कृत टीकाओं में छपाई की सुविधा के कारण जो सन्धिगत परमवर्णसम्बन्धी त्रुटियां चली आ रही थीं उन्हें इस संस्करण में ठीक कर दिया है।

प्रस्तावनालेख में जिन विद्वानों की रचनाओं से सहयोग लिया गया है उनका आभार यद्यपि तत्तत्-प्रकरणों के पादटिप्पण आदि में करता आया हूं फिर भी यहाँ समुदाय रूप से उनका आभार मानता हूँ। इसका सुन्दर मुद्रण भी महेन्द्र प्रिन्टर्स जबलपुर ने किया है अतः उनका भी आभारी हूं। प्रूफ देखने में यद्यपि सावधानी बरती गई है फिर भी अशुद्धियों का रह जाना असंभव नहीं है अतः उनके लिये विद्वानों से क्षमाप्रार्थी हूं। 'श्री कुन्दकुन्द स्वामी की अध्यात्मदेशना से जगत् के मानव मात्र आत्मकल्याण में अग्रसर होते रहें' इस भावना के साथ प्रस्तावना लेख समाप्त करता हूं।

सागर
दिनांक ८-१-७४

विनीत
पन्नालाल जैन साहित्याचार्य पी-एच० डी०

इस युगके महान् तत्त्ववेत्ता

श्रीमद् राजचन्द्र

जिस महापुरुषकी विश्वविहारी प्रज्ञा थी, अनेक जन्मोंमें आचारित जिसका योग था अर्थात् जन्मसे ही योगीश्वर जैसी जिसकी निरपराध वैराग्यमय दशा थी तथा सर्व जीवोंके प्रति जिसका विश्वव्यापी प्रेम था, ऐसे आश्चर्यमूर्ति महात्मा श्रीमद् राजचन्द्रका जन्म महान् तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत सौराष्ट्रके ववाणिया बंदर नामक एक शान्त रमणीय गाँवके वणिक कुटुम्बमें विक्रम संवत् १९२४ (ईस्वी सन् १८६७) की कार्तिकी पूर्णिमा रविवारको रात्रिके दो बजे हुआ था। इनके पिताका नाम श्री रवजीभाई पंचाणभाई मेहता और माताका नाम श्री देववाई था। इनके एक छोटा भाई और चार बहनें थीं। श्रीमद्‌जीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनन्दन' था। बादमें यह नाम बदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमें आप 'श्रीमद् राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए।

बाल्यावस्था, समुच्चय वयचर्या

श्रीमद्‌जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे और उनकी माताजी देववाई जैनसंस्कार लाई थीं। उन सभी संस्कारोंका मिश्रण किसी अद्‌भुत ढंगसे गंगा-यमुनाके संगमकी भाँति हमारे बाल-महात्माके हृदयमें प्रवाहित हो रहा था। अपनी प्रौढ़ वाणीमें बाईस वर्षकी उम्रमें इस बाल्यावस्थाका वर्णन 'समुच्चयवयचर्या' नामके लेखमें उन्होंने स्वयं किया है—

"सात वर्ष तक बालवयकी खेलकूदका अत्यंत सेवन किया था। खेलकूदमें भी विजय पानेकी और राजेश्वर जैसी उच्च पदवी प्राप्त करनेकी परम अभिलाषा थी। वस्त्र पहननेकी, स्वच्छ रखनेकी, खाने-पीनेकी, सोने-बैठनेकी, सारी विदेही दशा थी; फिर भी अन्तःकरण कोमल था। वह दशा आज भी बहुत याद आती है। आजका विवेकी ज्ञान उस वयमें होता तो मुझे मोक्षके लिये विशेष अभिलाषा न रहती।

सात वर्षसे ग्यारह वर्ष तकका समय शिक्षा लेनेमें बीता। उस समय निरपराध स्मृति होनेसे एक ही बार पाठका अवलोकन करना पड़ता था। स्मृति ऐसी बलवत्तर थी कि वैसी स्मृति बहुत ही थोड़े मनुष्योंमें इस कालमें, इस क्षेत्रमें होगी। पढ़नेमें प्रमादी बहुत था। बातोंमें कुशल, खेलकूदमें रुचिवान और आनन्दी था। जिस समय शिक्षक पाठ पढ़ाता, मात्र उसी समय पढ़कर उसका भावार्थ कह देता। उस समय मुझमें प्रीति-सरल वात्सल्यता—बहुत थी। सबसे ऐक्य चाहता; सबमें भ्रातृभाव हो तभी सुख, इसका मुझे स्वाभाविक ज्ञान था। इस समय कल्पित बातें करनेकी मुझे बहुत आदत थी। आठवें वर्षमें मैंने कविता की थी; जो बादमें जाँचने पर समाप थी।

अभ्यास इतनी त्वरासे कर सका था कि जिस व्यक्तिने मुझे प्रथम पुस्तकका बोध देना आरम्भ किया था उसीको गुजराती शिक्षण भली-भाँति प्राप्त कर उसी पुस्तकका पुनः मैंने बोध किया था।

मेरे पितामह कृष्णकी भक्ति करते थे। उनसे उस वयमें कृष्णकीर्तनके पद मैंने सुने थे तथा भिन्न-भिन्न अवतारोंके संबंधमें चमत्कार सुने थे, जिससे मुझे भक्तिके साथ-साथ उन अवतारोंमें प्रीति हो गई थी, और रामदासजी नामके साधुके पास मैंने बाल-लीलामें कंठी बँधवाई थी।....उनके सम्प्रदायके महन्त होवें,

श्रीमद् राजचन्द्र

जन्म : ववाणिया

वि. सं. १९२४ कार्तिक पूर्णिमा, रविवार

देहोत्सर्ग : राजकोट

वि. सं. १९५७ चैत्र वद ५, मंगलवार

जगह-जगह पर चमत्कारसे हरिकथा करते होवें और त्यागी होवें तो कितना आनन्द आये ? यही कल्पना हुआ करती; तथा कोई वैभवी भूमिका देखता कि समर्थ वैभवशाली होनेकी इच्छा होती।....गुजराती भाषा-की वाचनमालामें जगतकर्त्ता सम्बन्धी कितने ही स्थलोंमें उपदेश किया है वह मुझे दृढ़ हो गया था, जिससे जैन लोगोंके प्रति मुझे बहुत जुगुप्सा आती थी....तथा उस समय प्रतिमाके अश्रद्धालु लोगोंकी क्रियाएँ मेरे देखनेमें आई थीं, जिससे वे क्रियाएँ मलिन लगनेसे मैं उनसे डरता था अर्थात् वे मुझे प्रिय न थीं।

लोग मुझे पहलेसे ही समर्थ शक्तिशाली और गाँवका नामांकित विद्यार्थी मानते थे, इसलिए मैं अपनी प्रशंसाके कारण जानबूझकर वैसे मंडलमें बैठकर अपनी चपल शक्ति दर्शानेका प्रयत्न करता। कंठीके लिए बार-बार वे मेरी हास्यपूर्वक टीका करते; फिर भी मैं उनसे वाद करता और उन्हें समझानेका प्रयत्न करता। परन्तु धीरे-धीरे मुझे उनके (जैनके) प्रतिक्रमणसूत्र इत्यादि पुस्तकें पढ़नेके लिए मिलीं; उनमें बहुत विनयपूर्वक जगतके सब जीवोंसे मित्रता चाही है। अतः मेरी प्रीति इसमें भी हुई और उसमें भी रही। धीरे-धीरे यह प्रसंग बढ़ा। फिर भी स्वच्छ रहनेके तथा दूसरे आचार-विचार मुझे वैष्णवोंके प्रिय थे और जगतकर्त्ताकी श्रद्धा थी। उस अरसेमें कंठी टूट गई; इसलिए उसे फिरसे मैंने नहीं बाँधा। उस समय बाँधने, न बाँधनेका कोई कारण मैंने ढूँढ़ा न था। यह मेरी तेरह वर्षकी वयचर्या है। फिर मैं अपने पिताकी दूकान पर बैठता और अपने अक्षरोंकी छटाके कारण कच्छ-दरबारके उतारे पर मुझे लिखनेके लिए बुलाते तब मैं वहाँ जाता। दूकान पर मैंने नाना प्रकारकी लीला-लहर की है, अनेक पुस्तकें पढ़ी हैं, राम इत्यादिके चरित्रों पर कविताएँ रची हैं; सांसारिक तृष्णाएँ की हैं, फिर भी मैंने किसीको न्यून-अधिक दाम नहीं कहा या किसीको न्यून-अधिक तौल कर नहीं दिया, यह मुझे निश्चित याद है।" (पत्रांक ८९)

जातिस्मरणज्ञान और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्‌जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके जीवनमें बना। उन दिनों ववाणियामें अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्‌जीके प्रति बहुत प्रेम था। एक दिन साँपके काट खानेसे उनकी तत्काल मृत्यु हो गई। यह बात सुनकर श्रीमद्‌जी पितामहके पास आये और पूछा—'अमीचन्द गुजर गये क्या ?' पितामहने सोचा कि मरणकी बात सुननेसे बालक डर जायेगा, अतः उन्होंने, ब्यालू कर ले, ऐसा कहकर वह बात टालनेका प्रयत्न किया। मगर श्रीमद्‌जी बार-बार वही सवाल करते रहे। आखिर पितामहने कहा—'हाँ, यह बात सच्ची है।' श्रीमद्‌जीने पूछा—'गुजर जानेका अर्थ क्या ?' पितामहने कहा—'उसमेंसे जीव निकल गया, और अब वह चल-फिर या बोल नहीं सकेगा; इसलिए उसे तालाबके पासके स्मशानमें जला देंगे।' श्रीमद्‌जी थोड़ी देर घरमें इधर-उधर घूमकर छिपे-छिपे तालाब पर गये और तटवर्ती दो शाखावाले बबूल पर चढ़ कर देखा तो सचमुच चिता जल रही थी। कितने ही मनुष्य आसपास बैठे हुए थे। यह देखकर उन्हें विचार आया कि ऐसे मनुष्यको जला देना यह कितनी क्रूरता ! ऐसा क्यों हुआ ? इत्यादि विचार करते हुए परदा हट गया; और उन्हें पूर्वभवोंकी स्मृति हो आई। फिर जब उन्होंने जूनागढ़का गढ़ देखा तब उस (जातिस्मरणज्ञान) में वृद्धि हुई।

इस पूर्वस्मृतिरूप ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन अध्याय जोड़ा। इसीके प्रतापसे उन्हें छोटी उम्रसे वैराग्य और विवेककी प्राप्ति द्वारा तत्त्वबोध हुआ। पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई। संवत् १९४९, कार्तिक वद १२ के एक पत्रमें लिखते हैं—"पुनर्जन्म है—जरूर है। इसके लिए 'मैं' अनुभवसे हाँ कहनेमें अचल हूँ। यह वाक्य पूर्वभवके किसी योगका स्मरण होते समय सिद्ध हुआ लिखा है। जिसने पुनर्जन्मादि भाव किये हैं, उस पदार्थको किसी प्रकारसे जानकर यह वाक्य लिखा गया है।" (पत्रांक ४२४)

एक अन्य पत्रमें लिखते हैं—"कितने ही निर्णयोंसे मैं यह मानता हूँ कि इस कालमें भी कोई-कोई महात्मा गतभवको जातिस्मरणज्ञानसे जान सकते हैं; यह जानना कल्पित नहीं किन्तु सम्यक् (यथार्थ) होता है ! उत्कृष्ट संवेग, ज्ञानयोग और सत्संगसे भी यह ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् पूर्वभव प्रत्यक्ष अनुभवमें आ जाता है। जब तक पूर्वभव अनुभवगम्य न हो तब तक आत्मा भविष्यकालके लिए सशंकित धर्मप्रयत्न किया करता है; और ऐसा सशंकित प्रयत्न योग्य सिद्धि नहीं देता।" (पत्रांक ६४)

अवधान-प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

वि० सं० १९४० से श्रीमद्‌जी अवधान-प्रयोग करने लगे थे। धीरे-धीरे वे *शतावधान तक पहुँच गये थे। जामनगरमें बारह और सोलह अवधान करने पर उन्हें 'हिन्दका हीरा' ऐसा उपनाम मिला था। वि० सं० १९४३ में १९ वर्षकी उम्रमें उन्होंने बम्बईकी एक सार्वजनिक सभामें डॉ० पिटर्सनकी अध्यक्षतामें शतावधानका प्रयोग दिखाकर बड़े-बड़े लोगोंको आश्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया था और 'साक्षात् सरस्वती' की उपाधिसे सम्मानित किया था।

श्रीमद्‌जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामें उन्हें भिन्न-भिन्न प्रकारके बारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हें पढ़ कर सुना दिये गये। बादमें उनकी आँखोंपर पट्टी बाँध कर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथ पर रखे गये उन सब ग्रन्थोंके नाम हाथोंसे टटोलकर उन्होंने बता दिये।

श्रीमद्‌जीकी इस अद्‌भुत शक्तिसे प्रभावित होकर तत्कालीन बम्बई हाईकोर्टके मुख्य न्यायाधीश सर चार्ल्स सारजन्टने उन्हें यूरोपमें जाकर वहाँ अपनी शक्तियाँ प्रदर्शित करनेका अनुरोध किया, परन्तु उन्होंने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें कीर्त्तिकी इच्छा न थी, बल्कि ऐसी प्रवृत्ति आत्मोन्नतिमें बाधक और सन्मार्गरोधक प्रतीत होनेसे प्रायः बीस वर्षकी उम्रके बाद उन्होंने अवधान-प्रयोग नहीं किये।

महात्मा गांधीने कहा था

महात्मा गांधीजी श्रीमद्‌जीको धर्मके सम्बन्धमें अपना मार्गदर्शक मानते थे। वे लिखते हैं—

"मुझ पर तीन पुरुषोंने गहरा प्रभाव डाला है—टाल्सटॉय, रस्किन और रायचन्दभाई। टाल्सटॉयने अपनी पुस्तकों द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्रव्यवहारसे, रस्किनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दि लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैंने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचन्दभाईने अपने गाढ़ परिचयसे। जब मुझे हिन्दुधर्ममें शंका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमें मदद करनेवाले रायचन्दभाई थे····

जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कड़ियोंमें झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ़ परिचयमें प्रतिक्षण उनमें देखा है। उनके लेखोंमें एक असाधारणता यह है कि उन्होंने जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पंक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा।····

---

* शतावधान अर्थात् सौ कामोंको एक साथ करना। जैसे शतरंज खेलते जाना, मालाके मनके गिनते जाना, जोड़ बाकी गुणाकार एवं भागाकार मनमें गिनते जाना, आठ नई समस्याओंकी पूर्ति करना, सोलह निर्दिष्ट नये विषयोंपर निर्दिष्ट छन्दमें कविता करते जाना, सोलह भाषाओंके अनुक्रमविहीन चार सौ शब्द कर्ताकर्मसहित पुनः अनुक्रमबद्ध कह सुनाना, कतिपय अलंकारोंका विचार, दो कोठोंमें लिखे हुए उलटे-सीधे अक्षरोंसे कविता करते जाना इत्यादि। एक जगह ऊँचे आसनपर बैठकर इन सब कामोंमें मन और दृष्टिको प्रेरित करना, लिखना नहीं या दुबारा पूछना नहीं और सभी स्मरणमें रख कर इन सौ कामोंको पूर्ण करना। श्रीमद्‌जी लिखते हैं—"अवधान आत्मशक्तिका कार्य है यह मुझे स्वानुभवसे प्रतीत हुआ है।" (पत्रांक १८)

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें वैराग्य तो होता ही। किसी समय इस जगतके किसी भी वैभवमें उन्हें मोह हुआ हो ऐसा मैंने नहीं देखा।""

व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैंने कविमें देखा उतना किसी अन्यमें नहीं देखा।"

'श्रीमद् राजचन्द्र जयन्ती' के प्रसंग पर ईस्वी सन् १९२१ में गांधीजी कहते हैं—"बहुत बार कह और लिख गया हूँ कि मैंने बहुतोंके जीवनमेंसे बहुत कुछ लिया है। परन्तु सबसे अधिक किसीके जीवनमेंसे मैंने ग्रहण किया हो तो वह कवि (श्रीमद्‌जी) के जीवनमेंसे है। दयाधर्म भी मैंने उनके जीवनमेंसे सीखा है।""खून करनेवालेसे भी प्रेम करना यह दयाधर्म मुझे कविने सिखाया है।"

गृहस्थाश्रम

वि० सं० १९४४ माघ सुदी १२ को २० वर्षकी आयुमें श्रीमद्‌जीका शुभ विवाह जौहरी रेवाशंकर जगजीवनदास मेहताके बड़े भाई पोपटलालकी महाभाग्यशाली पुत्री झबकबाईके साथ हुआ था। इसमें दूसरोंकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं। विवाहके एकाध वर्ष बाद लिखे हुए एक लेखमें श्रीमद्‌जी लिखते हैं—"स्त्रीके संबंधमें किसी भी प्रकारसे रागद्वेष रखनेकी मेरी अंशमात्र इच्छा नहीं है। परन्तु पूर्वोपार्जनसे इच्छाके प्रवर्तनमें अटका हूँ।" (पत्रांक ७८)

सं० १९४६ के पत्रमें लिखते हैं—"तत्त्वज्ञानकी गुप्त गुफाका दर्शन करनेपर गृहाश्रमसे विरक्त होना अधिकतर सूझता है।" (पत्रांक ११३)

श्रीमद्‌जी गृहवासमें रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी मान्यता थी—"कुटुंबरूपी काजलकी कोठड़ीमें निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो, तो भी एकान्तवाससे जितना संसारका क्षय हो सकता है उसका शतांश भी उस काजलकी कोठड़ीमें रहनेसे नहीं हो सकता, क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है।" (पत्रांक १०३) फिर भी इस प्रतिकूलतामें वे अपने परिणामोंकी पूरी सम्भाल रखकर चले।

सफल एवं प्रामाणिक व्यापारी

श्रीमद्‌जी २१ वर्षकी उम्रमें व्यापारार्थ ववाणियासे बंबई आये और सेठ रेवाशंकर जगजीवनदासकी दुकानमें भागीदार रहकर जवाहिरातका व्यापार करने लगे। व्यापार करते हुए भी उनका लक्ष्य आत्माकी ओर अधिक था। व्यापारसे अवकाश मिलते ही श्रीमद्‌जी कोई अपूर्व आत्मविचारणामें लीन हो जाते थे। ज्ञानयोग और कर्मयोगका इनमें यथार्थ समन्वय देखा जाता था। श्रीमद्‌जीके भागीदार श्री माणेकलाल घेलाभाईने अपने एक वक्तव्यमें कहा था—"व्यापारमें अनेक प्रकारकी कठिनाइयाँ आती थीं, उनके सामने श्रीमद्‌जी एक अडोल पर्वतके समान टिके रहते थे। मैंने उन्हें जड़ वस्तुओंकी चिंतासे चिंतातुर नहीं देखा। वे हमेशा शान्त और गम्भीर रहते थे।"

जवाहिरातके साथ मोतीका व्यापार भी श्रीमद्‌जी ने शुरू किया था और उसमें वे सभी व्यापारियोंमें अधिक विश्वासपात्र माने जाते थे। उस समय एक अरब अपने भाईके साथ मोतीकी आढ़तका धन्धा करता था। छोटे भाईके मनमें आया कि आज मैं भी बड़े भाईकी तरह बड़ा व्यापार करूँ। दलालने उसकी श्रीमद्‌जीसे भेंट करा दी। उन्होंने कस कर माल खरीदा। पैसे लेकर अरब घर पहुँचा तो उसके बड़े भाईने पत्र दिखाकर कहा कि वह माल अमुक किंमतके बिना नहीं बेचनेकी शर्त की है और तूने यह क्या किया? यह सुनकर वह घबराया और श्रीमद्‌जीके पास जाकर गिड़गिड़ाने लगा कि मैं ऐसी आफतमें आ पड़ा हूँ।

श्रीमद्‌जीने तुरन्त माल वापस कर दिया और पैसे गिन लिये। मानो कोई सौदा किया ही न था ऐसा समझकर होनेवाले बहुत नफेको जाने दिया। वह अरब श्रीमद्‌जीको खुदाके समान मानने लगा।

इसी प्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निःस्पृही जीवनका ज्वलंत उदाहरण है। एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्‌जीने हीरोंका सौदा किया कि अमुक समयमें निश्चित किये हुए भावसे वह व्यापारी श्रीमद्‌जीको अमुक हीरे दे। उस विषयका दस्तावेज भी हो गया। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय भाव बहुत बढ़ गये। श्रीमद्‌जी खुद उस व्यापारीके यहाँ जा पहुँचे और उसे चिन्तामग्न देखकर वह दस्तावेज फाड़ डाला और बोले—"भाई, इस चिट्ठी (दस्तावेज) के कारण तुम्हारे हाथ-पाँव बँधे हुए थे। बाजार भाव बढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये लेने निकलते हैं, परन्तु मैं तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ। इतने अधिक रुपये मैं तुमसे ले लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, खून नहीं।" वह व्यापारी कृतज्ञभावसेश्रीमद् जीकी ओर स्तब्ध होकर देखता ही रह गया।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्‌जीका ज्योतिष-संबंधी ज्ञान भी प्रखर था। वे जन्मकुंडली, वर्षफल एवं अन्य चिह्न देख कर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्री जूठाभाई (एक मुमुक्षु) के मरणके बारेमें उन्होंने सवा दो मास पूर्व स्पष्ट बता दिया था। एक बार सं० १९५५ की चैत वदी ८ को मोरबीमें दोपहरके ४ बजे पूर्व दिशाके आकाशमें काले बादल देखे और उन्हें दुष्काल पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा—"ऋतुको सन्निपात हुआ है।" तदनुसार सं० १९५५ का चौमासा कोरा रहा और सं० १९५६ में भयंकर दुष्काल पड़ा। श्रीमद्‌जी दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निर्मल आत्मशक्तिका प्रभाव था।

कवि-लेखक

श्रीमद्‌जीमें, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमें करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने 'स्त्रीनीति-बोधक', 'सद्‌बोधशतक', 'आर्यप्रजानी पडती', 'हुन्नरकला वधारवा विषे' आदि अनेक कविताएँ केवल आठ वर्षकी वयमें लिखी थीं। नौ वर्षकी आयुमें उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त न हो सकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ हैं। प्रमुखरूपसे 'आत्मसिद्धि', 'अमूल्य तत्त्वविचार', 'भक्तिना वीस दोहरा', परमपदप्राप्तिनी भावना (अपूर्व अवसर)', 'मूलमार्ग-रहस्य', 'तृष्णानी विचित्रता' हैं।

'आत्मसिद्धि-शास्त्र'के १४२ दोहोंकी रचना तो श्रीमद्‌जीने मात्र डेढ़ घंटेमें नड़ियादमें आश्विन वदी १ (गुजराती) सं० १९५२ को २९ वर्षकी उम्रमें की थी। इसमें सम्यग्दर्शनके कारणभूत छः पदोंका बहुत ही सुन्दर पक्षपातरहित वर्णन किया है। यह कृति नित्य स्वाध्यायकी वस्तु है। इसके अंग्रेजीमें भी गद्य पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं।

गद्य-लेखनमें श्रीमद्‌जीने 'पुष्पमाला', 'भावनाबोध' और 'मोक्षमाला' की रचना की। इसमें 'मोक्ष-माला' तो उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है जिसे उन्होंने १६ वर्ष ५ मासकी आयुमें मात्र तीन दिनमें लिखी थी। इसमें १०८ शिक्षापाठ हैं। आज तो इतनी आयुमें शुद्ध लिखना भी नहीं आता जब कि श्रीमद्‌जीने एक अपूर्व पुस्तक लिख डाली। पूर्वभवका अभ्यास ही इसमें कारण था। 'मोक्षमाला'के संबंधमें श्रीमद्‌जी लिखते हैं—"जैनधर्मको यथार्थ समझानेका उसमें प्रयास किया है, जिनोक्त मार्गसे कुछ भी न्यूनाधिक उसमें नहीं कहा है। वीतराग मार्गमें आबालवृद्धकी रुचि हो, उसके स्वरूपको समझे तथा उसके बीजका हृदयमें रोपण हो, इस हेतुसे इसकी बालावबोधरूप योजना की है।"

श्री कुन्दकुन्दाचार्यके 'पंचास्तिकाय' ग्रन्थकी मूल गाथाओंका श्रीमद्‌जीने अविकल (अक्षरशः) गुजराती अनुवाद भी किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने श्री आनन्दघनजीकृत चौवीसीका अर्थ लिखना भी प्रारम्भ किया था, और उसमें प्रथम दो स्तवनोंका अर्थ भी किया था; पर वह अपूर्ण रह गया है। फिर भी इतने से, श्रीमद्‌जीकी विवेचन शैली कितनी मनोहर और तलस्पर्शी है उसका ख्याल आ जाता है। सूत्रोंका यथार्थ अर्थ समझने-समझानेमें श्रीमद्‌जीकी निपुणता अजोड़ थी।

मतमतान्तरके आग्रहसे दूर

श्रीमद्‌जीकी दृष्टि बड़ी विशाल थी। वे रूढ़ि या अन्धश्रद्धाके कट्टर विरोधी थे। वे मतमतान्तर और कदाग्रहादिसे दूर रहते थे, वीतरागताकी ओर ही उनका लक्ष्य था। उन्होंने आत्मधर्मका ही उपदेश दिया। इसी कारण आज भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदायवाले उनके वचनोंका रुचिपूर्वक अभ्यास करते हुए देखे जाते हैं।

श्रीमद्‌जी लिखते हैं—

"मूलतत्त्वमें कहीं भी भेद नहीं है, मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आशय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।" (पुष्पमाला–१४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गसे संसारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर।" (पुष्पमाला-१५)

"दुनिया मतभेदके बन्धनसे तत्त्व नहीं पा सकी।" (पत्रांक २७)

"जहाँ तहाँसे रागद्वेषरहित होना ही मेरा धर्म है····मैं किसी गच्छमें नहीं हूँ, परन्तु आत्मामें हूँ यह मत भूलियेगा।" (पत्रांक ३७)

श्रीमद्‌जीने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह मेहता आदि सन्तोंकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हें मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने जैनशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है—

"श्रीमत् वीतराग भगवन्तोंका निश्चितार्थ किया हुआ ऐसा अचिन्त्य चिन्तामणिस्वरूप, परम-हितकारी, परम अद्‌भुत, सर्व दुःखका निःसंशय आत्यन्तिक क्षय करनेवाला, परम अमृतस्वरूप ऐसा सर्वोत्कृष्ट शाश्वत धर्म जयवन्त वर्तो, त्रिकाल जयवन्त वर्तो। उस श्रीमत् अनन्तचतुष्टयस्थित भगवानका और उस जयवन्त धर्मका आश्रय सदैव कर्तव्य है।" (पत्रांक ८४३)

परम वीतरागदशा

श्रीमद्‌जीकी परम विदेही दशा थी। वे लिखते हैं—

"एक पुराणपुरुष और पुराणपुरुषकी प्रेमसम्पत्ति सिवाय हमें कुछ रुचिकर नहीं लगता; हमें किसी पदार्थमें रुचिमात्र रही नहीं है····हम देहधारी हैं या नहीं—यह याद करते हैं तब मुश्केलीसे जान पाते हैं।" (पत्रांक २५५)

"देह होते हुए भी मनुष्य पूर्ण वीतराग हो सकता है ऐसा हमारा निश्चल अनुभव है। क्योंकि हम भी अवश्य उसी स्थितिको पानेवाले हैं, ऐसा हमारा आत्मा अखण्डतासे कहता है और ऐसा ही है, जरूर ऐसा ही है।" (पत्रांक ३३४)

"मान लें कि चरमशरीरीपन इस कालमें नहीं है, तथापि अशरीरी भावसे आत्मस्थिति है तो वह भावनयसे चरमशरीरीपन नहीं, अपितु सिद्धत्व है; और यह अशरीरीभाव इस कालमें नहीं है ऐसा यहाँ कहें तो इस कालमें हम खुद नहीं हैं, ऐसा कहने तुल्य है।" (पत्रांक ४११)

अहमदाबादमें आगाखानके बँगलेपर श्रीमद्जीने श्री लल्लुजी तथा श्री देवकरणजी मुनिको बुलाकर अन्तिम सूचना देते हुए कहा था—"हमारेमें और वीतरागमें भेद न मानियेगा।"

एकान्तचर्या, परमनिवृत्तिरूप कामना

मोहमयी (बम्बई) नगरीमें व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे और पत्रों द्वारा मुमुक्षुओंकी शंकाओंका समाधान करते रहते थे; फिर भी बीच-बीचमें पेढ़ीसे विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जंगल या पर्वतोंमें पहुँच जाते थे। मुख्यरूपसे वे खंभात, वडवा, काविठा, उत्तरसंडा, नडियाद, वसो, रालज और ईडरमें रहे थे। वे किसी भी स्थान पर बहुत गुप्तरूपसे जाते थे, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नहीं पाती थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनके सत्समागमका लाभ पानेके लिए पीछे-पीछे कहीं भी पहुँच ही जाते थे। ऐसे प्रसंगों पर हुए बोधका यत्किंचित् संग्रह 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें 'उपदेशछाया', 'उपदेशनोंध' और 'व्याख्यानसार' के नामसे प्रकाशित हुआ है।

यद्यपि श्रीमद्जी गृहवास-व्यापारादिमें रहते हुए भी विदेहीवत् थे, फिर भी उनका अन्तरङ्ग सर्वसंगपरित्याग कर निर्ग्रन्थदशाके लिए छटपटा रहा था। एक पत्रमें वे लिखते हैं—"भरतजीको हिरनके संगसे जन्मकी वृद्धि हुई थी और इस कारणसे जड़भरतके भवमें असंग रहे थे। ऐसे कारणोंसे मुझे भी असंगता बहुत ही याद आती है: और कितनी ही बार तो ऐसा हो जाता है कि उस असंगताके बिना परम दुःख होता है। यम अन्तकालमें प्राणीको दुःखदायक नहीं लगता होगा, परन्तु हमें संग दुःखदायक लगता है।" (पत्रांक २१७)

फिर हाथनोंधमें वे लिखते हैं—"सर्वसंग महास्रवरूप श्री तीर्थंकरने कहा है, सो सत्य है। ऐसी मिश्रगुणस्थानक जैसी स्थिति कहाँ तक रखनी? जो बात चित्तमें नहीं सो करनी; और जो चित्तमें है उसमें उदास रहना ऐसा व्यवहार किस प्रकारसे हो सकता है? वैश्यवेषमें और निर्ग्रन्थभावसे रहते हुए कोटि-कोटि विचार हुआ करते हैं।" (हाथनोंध १-३८) "आकिंचन्यतासे विचरते हुए एकान्त मौनसे जिनसदृश ध्यानसे तन्मयात्मस्वरूप ऐसा कब होऊँगा?" (हाथनोंध १-८७)

संवत् १९५६ में अहमदाबादमें श्रीमद्जीने श्री देवकरणजी मुनिसे कहा था—"हमने सभामें स्त्री और लक्ष्मी दोनोंका त्याग किया है, और सर्वसंगपरित्यागकी आज्ञा माताजी देंगी ऐसा लगता है।" और तदनुसार उन्होंने सर्वसंगपरित्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी अपनी माताजीसे अनुज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन बिगड़ता गया। ऐसे ही अवसर पर किसीने उनसे पूछा—"आपका शरीर कृश क्यों होता जाता है?" श्रीमद्जीने उत्तर दिया—"हमारे दो बगीचे हैं, शरीर और आत्मा। हमारा पानी आत्मारूपी बगीचेमें जाता है, इससे शरीररूपी बगीचा सूख रहा है।" अनेक उपचार करने पर भी स्वास्थ्य ठीक नहीं हुआ। अन्तिम दिनोंमें एक पत्रमें लिखते हैं—"अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ बीचमें सेहराका मरुस्थल आ गया। सिर पर बहुत बोझ था उसे आत्मवीर्यसे जिस प्रकार अल्पकालमें सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोंने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नहीं होता यही अद्भुत आश्चर्य है। अव्याबाध स्थिरता है।" (पत्रांक ९५१)

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौंडसे घटकर मात्र ४३ पौंड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था। देहत्यागके पहले दिन शामको अपने छोटे भाई मनसुखलाल

आदिसे कहा—"तुम निश्चिन्त रहना। यह आत्मा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होनेवाला है। तुम शान्ति और समाधिपूर्वक रहना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकनेवाली थी उसे कहनेका समय नहीं है। तुम पुरुषार्थ करना।" रात्रिको ढाई बजे वे फिर बोले—"निश्चिन्त रहना, भाईका समाधिमरण है।" अवसानके दिन प्रातः पौने नौ बजे कहा—"मनसुख, दुःखी न होना। मैं अपने आत्मस्वरूपमें लीन होता हूँ।" फिर वे नहीं बोले। इस प्रकार पाँच घंटे तक समाधिमें रहकर संवत् १९५७ की चैत्र वदी ५ (गुजराती) मंगलवारको दोपहरके दो बजे राजकोटमें इस नश्वर शरीरका त्याग करके उत्तम गतिको प्राप्त हुए। भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी सन्तको खो बैठी। उनके देहावसानके समाचारसे मुमुक्षुओंमें अत्यन्त शोकके बादल छा गये। जिन-जिन पुरुषोंको जितने प्रमाणमें उन महात्माकी पहचान हुई थी उतने प्रमाणमें उनका वियोग उन्हें अनुभूत हुआ था।

उनकी स्मृतिमें शास्त्रमालाकी स्थापना

वि० सं० १९५६ के भादों मासमें परम सत्श्रुतके प्रचार हेतु बम्बईमें श्रीमद्जीने परमश्रुतप्रभावक-मण्डलकी स्थापना की थी। श्रीमद्जीके देहोत्सर्गके बाद उनकी स्मृतिस्वरूप 'श्री रायचन्द्रजैनग्रन्थमाला' की स्थापना की गई जिसके अन्तर्गत दोनों सम्प्रदायोंके अनेक सद्ग्रन्थोंका प्रकाशन हुआ है जो तत्त्वविचारकोंके लिए इस दुषमकालको वितानेमें परम उपयोगी और अनन्य आधाररूप है। महात्मा गांधीजी इस संस्थाके ट्रस्टी और श्री रेवाशंकर जगजीवनदास मुख्य कार्यकर्त्ता थे। श्री रेवाशंकरके देहोत्सर्ग बाद संस्थामें कुछ शिथिलता आ गई परन्तु अब उस संस्थाका काम श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम अगासके ट्रस्टियोंने सम्भाल लिया है और सुचारुरूपसे पूर्वानुसार सभी कार्य चल रहा है।

श्रीमद्जीके स्मारक

श्रीमद्जीके अनन्य भक्त आत्मनिष्ठ श्री लघुराजस्वामी (श्री लल्लुजी मुनि) की प्रेरणासे श्रीमद्जीके स्मारकके रूपमें और भक्तिधामके रूपमें वि० सं० १९७६ की कार्तिकी पूर्णिमाको अगास स्टेशनके पास 'श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम' की स्थापना हुई थी। श्री लघुराज स्वामीके चौदह चातुर्मासोंसे पावन हुआ यह आश्रम आज बढ़ते-बढ़ते गोकुल-सा गाँव बन गया है। श्री स्वामीजी द्वारा योजित सत्संगभक्तिका क्रम आज भी यहाँ पर उनकी आज्ञानुसार चल रहा है। धार्मिक जीवनका परिचय करानेवाला यह उत्तम तीर्थ बन गया है। संक्षेपमें यह तपोवनका नमूना है। श्रीमद्जीके तत्त्वज्ञानपूर्ण साहित्यका भी मुख्यतः यहींसे प्रकाशन होता है। इस प्रकार यह श्रीमद्जीका मुख्य जीवंत स्मारक है।

इसके अतिरिक्त वर्तमानमें निम्नलिखित स्थानोंपर श्रीमद् राजचन्द्र मंदिर आदि संस्थाएँ स्थापित हैं जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्म-कल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं—ववाणिया, राजकोट, मोरबी, वडवा, खंभात, काविठा, सीमरडा, वडाली, भादरण, नार, सुणाव, नरोडा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बोरसद, बम्बई (घाटकोपर एवं चौपाटी), देवलाली, बैंगलोर, इन्दोर, आहोर (राजस्थान), मोम्बासा (आफ्रिका) इत्यादि।

अन्तिम प्रशस्ति

आज उनका पार्थिव देह हमारे बीच नहीं है मगर उनका अक्षरदेह तो सदाके लिए अमर है। उनके मूल पत्रों तथा लेखोंका संग्रह गुर्जरभाषामें 'श्रीमद् राजचन्द्र' ग्रन्थमें प्रकाशित हो चुका है (जिसका हिन्दी अनुवाद भी प्रगट हो चुका है) वही मुमुक्षुओंके लिए मार्गदर्शक और अवलम्बनरूप है। एक-एक पत्रमें कोई अपूर्व रहस्य भरा हुआ है। उसका मर्म समझनेके लिये संतसमागमकी विशेष आवश्यकता है। इन पत्रोंमें

श्रीमद्जीका पारमार्थिक जीवन जहाँ-तहाँ दृष्टिगोचर होता है। इसके अलावा उनके जीवनके अनेक प्रेरक प्रसंग जानने योग्य हैं, जिसका विशद वर्णन श्रीमद् राजचंद्र आश्रम प्रकाशित 'श्रीमद् राजचंद्र जीवनकला' में किया हुआ है (जिसका हिंदी अनुवाद भी प्रकट हो चुका है)। यहाँ पर तो स्थानाभावसे उस महान् विभूतिके जीवनका विहगावलोकनमात्र किया गया है।

श्रीमद् लघुराजस्वामी (श्री प्रभुश्रीजी) 'श्री सद्गुरुप्रसाद' ग्रन्थकी प्रस्तावनामें श्रीमद्के प्रति अपना हृदयोद्गार इन शब्दोंमें प्रकट करते हैं—"अपरमार्थमें परमार्थके दृढ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभूलैयांके प्रसंग दिखाकर, इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्संग और उत्तम बोध प्रबल उपकारक बने हैं''''संजीवनी औषध समान मृतको जीवित करें, ऐसे उनके प्रबल पुरुषार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमें ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है; वे इस दुषम कलिकालमें आश्चर्यकारी अवलम्बन हैं। परम माहात्म्यवंत सद्गुरु श्रीमद् राजचंद्रदेवके वचनोंमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई हैं या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।"

ऐसे महात्माको हमारे अगणित वन्दन हों!

अथ समयसारस्य विषयानुक्रमणिका

—: o :—

विषय	पृ० सं०
मङ्गलाचरण ग्रन्थप्रतिज्ञा	
जीवाजीवाधिकार ॥१॥	
रङ्गभूमिस्थल बांधा है, उसमें जीवनामा पदार्थका स्वरूप कहा है, यह जीवाजीवरूप छह द्रव्यात्मक लोक है इसमें धर्म अधर्म आकाश काल ये चार द्रव्य तो स्वभावपरिणतिस्वरूप ही हैं, और जीव पुद्गलद्रव्यके अनादि काल के संयोगसे विभावपरिणति भी है, क्योंकि स्पर्शरस गन्ध वर्ण शब्दरूप मूर्तीक पुद्गलको देखकर यह जीव रागद्वेषमोहरूप परिणमता है और इसके निमित्तसे पुद्गल कर्मरूप होकर जीवसे बंधता है। इस तरह इन दोनोंके अनादिसे बन्धावस्था है। जब निमित्त पाकर रागादिकरूप नहीं परिणमता तब नवीन कर्म भी नहीं बंधते और पुराने कर्म झड़ जाते हैं इसलिये मोक्ष होता है। ऐसे जीवके स्वसमय परसमयकी प्रवृत्ति होती है। सो जब जीव सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र भावमय अपने स्वभावरूप परिणमता है तब स्वसमय होता है और जब मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणमता है तब तक पुद्गलकर्ममें ठहरा हुआ परसमय है ऐसा कथन	१-६
जीवके पुद्गलकर्मके साथ बन्ध होनेसे परसमयपना है सो यह सुन्दर नहीं है इसमें जीव संसारमें भ्रमता अनेक तरहके दुःख पाता है, इसलिये स्वभावमें ठहरे सबसे जुदा होकर अकेला ठहरे तभी सुन्दर (ठीक) है	७-९
जीवको जुदापन और एकपनका पाना दुर्लभ है, क्योंकि बन्धकी कथा तो सभी प्राणी करते हैं यह कथा विरले जानते हैं इसलिये	१०-१२
इस कथाको हम अनुभवसे बुद्धिके अनुसार कहते हैं इसी तरह अन्य भी अनुभवसे परीक्षाकर ग्रहण करना	१३
शुद्धनयकर देखिये तो जीव प्रमत्त अप्रमत्त दोनों दशाओंसे जुदा एक ज्ञायकभाव मात्र है जो कि जाननेवाला है वही जीव है	१४-१५
ज्ञायकभावमात्र आत्माके दर्शन ज्ञान चारित्रके भेदकर भी अशुद्धपन नहीं है ज्ञायक है वह ज्ञायक ही है ...	१६-१७
आत्माको व्यवहारनय अशुद्ध कहता है उससे कहनेका प्रयोजन ...	१८-२०
शुद्धनय सत्यार्थ, व्यवहारनय असत्यार्थ कहा गया है	२१-२३
जो स्वरूपकर शुद्ध परमभावको प्राप्त हो गये उनके तो शुद्धनय ही प्रयोजनवान् है और जो साधक अवस्थामें हैं उनके व्यवहारनय भी प्रयोजनवान् है ऐसा कथन	२४-२८
जीवादितत्त्वोंको शुद्धनयकर जानना सम्यक्त्व है यह कथन	२९-३३
शुद्धनयका विषयभूत आत्माको बद्ध, स्पृष्ट अन्य अनियत विशेष इन पांच भावोंसे रहितका कथन ...	३४-३८

विषय	पृ० सं०
शुद्धनयका विषय आत्माको जानना सम्यग्ज्ञान है ऐसा कथन	३९-४०
सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र साधुको सेवन करना योग्य है उसका दृष्टांत-सहित कथन	४२-४६
शुद्धनयके विषयभूत आत्माको जब तक न जाने तब तक ये जीव अज्ञानी है ऐसा कथन अज्ञानीको समझानेकी रीति	४७-४८
अज्ञानीने जीवदेहको एक देख तीर्थंकर-की स्तुतिका प्रश्न किया उसका उत्तर और	४९-५५
इस उत्तरमें जीव देहकी भिन्नताका दृश्य	५६-६५
चारित्रमें जो प्रत्याख्यान कहा गया है वह क्या है ऐसा शिष्यका प्रश्न, उसका उत्तर ज्ञान ही प्रत्याख्यान है यह दिया है	६६-६८
दर्शन ज्ञानचारित्रस्वरूप परिणत हुए आत्माका स्वरूप कहकर रङ्गभूमिका-का स्थल अडतीस गाथाओंमें पूर्ण	६९-७०
जीव अजीव दोनों बन्धपर्यायरूप होकर एक देखनेमें आते हैं उनमें जीवका स्वरूप न जाननेसे अज्ञानी जन जीवकी कल्पना अध्यवसानादि भावरूप अन्यथा करते हैं उनकी व्यवस्थाका पांच गाथाओंमें वर्णन	७६-७९
जीवका स्वरूप अन्यथा कल्पते हैं उनके निषेध की गाथा एक	८०-८२
अध्यवसानादिकभाव पुद्गलमय हैं जीव नहीं है ऐसा कथन	८३
अध्यवसानादिक भाव को व्यवहारनयसे जीव कहा गया है	८४-८५
परमार्थरूप जीव का स्वरूप	८६-८९
वर्णको आदि लेकर गुणस्थानपर्यंत जितने भाव हैं वे जीवके नहीं हैं यह कथन	९०-९५
ये वर्णादिक भाव जीवके हैं ऐसा व्यवहारनय कहता है निश्चयनय नहीं कहता ऐसा दृष्टांतपूर्वक कथन	९६-१०५
वर्णादिक भावोंका जीव के साथ तादात्म्य कोई अज्ञानी माने उसका निषेध	१०६-१११

कर्तृकर्माधिकार ॥२॥

विषय	पृ० सं०
यह अज्ञानी जीव क्रोधादिकमें जब तक वर्तता है तब तक कर्मका बन्ध करता है	११२-११४
आस्रव और आत्माका भेदज्ञान होनेपर बन्ध नहीं होता	११५
आस्रवोंसे निवृत्त होने का विधान	११६-११९
आस्रवोंसे निवृत्त हुए आत्मा का चिह्न	१२०-१२३
आस्रव और आत्मा का भेदज्ञान होनेपर आत्मा ज्ञानी होता है तब कर्तृकर्म भाव भी नहीं होता	१२४-१२५
जीवपुद्गलकर्मके परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है तो कर्तृकर्मभाव नहीं कहा जा सकता	१२६-१३३
आत्मा और कर्मके कर्तृकर्मभाव जैसे नहीं वैसे भोक्तृभोग्यभाव भी नहीं अपनेमें ही कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्य-भाव है	१३४
व्यवहारनय आत्मा और पुद्गलकर्मके कर्तृकर्मभाव और भोक्तृभोग्यभाव कहता है	१३५
आत्माको पुद्गलकर्मका कर्ता माना जाय तो महान दोष, दो क्रियाओंका कर्ता आत्मा ठहरता है यह जिनमत नहीं ऐसा माननेवाला मिथ्यादृष्टि है ऐसा कथन	१३६-१४०
मिथ्यात्वादि आस्रवोंको जीव अजीवके भेद से दो प्रकारका कथन और उसका हेतु	१४१-१४२
आत्माके मिथ्यात्व अज्ञान अविरति ये तीन परिणाम अनादि हैं उनका कर्तृ-	

विषय	पृ० सं०
पना और उनके निमित्तसे पुद्गलका कर्मरूप होना ···· ···· ···	१४३-१४७
आत्मा मिथ्यात्वादिभावरूप न परिणमे तब कर्मका कर्ता नहीं है ···· ····	१४८-१४९
अज्ञानसे कर्म कैसे होता है ऐसा शिष्यका प्रश्न और उसका उत्तर कर्मके कर्तापनका मूल अज्ञान ही है ···· ····	१५०-१५४
अज्ञानका अभाव होनेपर ज्ञान होता है तब कर्तापन नहीं ··· ····	१५५-१५७
व्यवहारी जीव पुद्गलकर्मका कर्ता आत्माको कहते हैं यह अज्ञान है ····	१५८-१५९
आत्मा पुद्गलकर्मका कर्ता निमित्तनैमित्तिकभावसे भी नहीं है, आत्माके योग उपयोग हैं वे निमित्तनैमित्तिकभाव कर कर्ता है और योग उपयोगका आत्मा कर्ता है ···· ····	१६०-१६२
अज्ञानी भी अपने अज्ञानभावका कर्ता है पुद्गलकर्मका कर्ता निश्चयकर नहीं है क्योंकि परद्रव्यके तो परस्पर कर्तृकर्मभाव निश्चयसे नहीं ···· ····	१६३-१६५
जीवको परद्रव्यके कर्तापने का हेतु देख उपचारसे कहा जाता है कि यह कार्य जीवने किया। यह व्यवहारनयका वचन है ···· ···· ····	१६६-१६८
मिथ्यात्वादिक सामान्य आस्रव और विशेष गुणस्थान ये बंधके कर्ता हैं निश्चयकर इनका जीव कर्ता भोक्ता नहीं है ··· ···· ····	१६९-१७२
जीव और आस्रवोंका भेद दिखलाया है अभेद कहनेमें दूषण दिया है ····	१७३-१७४
सांख्यमती पुरुष और प्रकृतिको अपरिणामी कहते हैं उसका निषेधकर पुरुष और पुद्गलको परिणामी कहा है····	१७५-१८१
ज्ञानकर ज्ञानभाव और अज्ञानकर अज्ञान भाव ही उत्पन्न होता है···· ····	१८२-१८४
अज्ञानी जीव द्रव्यकर्म बंधनेका निमित्त होता है ···· ···· ····	१८५-१९०
पुद्गलका परिणाम तो जीवसे जुदा है और जीवका पुद्गलसे जुदा ····	१९१-१९३
कर्म जीवसे बद्धस्पृष्ट है या अबद्धस्पृष्ट ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर निश्चयव्यवहार दोनों नयोंसे दिया है ····	१९४
जो नयोंके पक्षसे रहित हैं वह कर्तृकर्मभावसे रहित समयसार शुद्ध आत्मा है ऐसा कह अधिकार पूर्ण ····	१९५-२०६
पुण्यपापाधिकार ॥३॥	
शुभअशुभकर्मके स्वभावका वर्णन	२०७-२०९
दोनों ही कर्म बंधके कारण हैं ····	२१०
इसलिये दोनों कर्मोंका निषेध ····	२११-२१३
उसका दृष्टांत और आगमकी साक्षी ····	२१४
मोक्षका कारण ज्ञान है ···· ····	२१५
व्रतादिक पाले तौभी ज्ञानके विना मोक्ष नहीं है ···· ····	२१६-२१८
परमार्थस्वरूप मोक्षका कारण कहा है अन्यका निषेध किया है ···	२१९-२२०
कर्म मोक्षके कारणको घातता है उसका घातना दृष्टान्तद्वारा दिखलाया है····	२२१-२२२
कर्म आप बंधस्वरूप ही है ···· ···	२२३
सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र मोक्षके कारण हैं उनके प्रतिपक्षी घातक हैं सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी मिथ्यात्व, ज्ञानका प्रतिपक्षी अज्ञान,. चारित्रका प्रतिपक्षी कषाय है ऐसा कहा है। ऐसे तीसरा अधिकार पूर्ण किया है ··· · ·	२२४-२२८
आस्रवाधिकार ॥४॥	
आस्रवका स्वरूप वर्णन ···· ····	२२९-२३०
मिथ्यात्व अविरत योग कषाय ये जीव अजीवके भेदसे दो प्रकारके हैं वे कर्म बंधके कारण हैं ज्ञानीके उनका अभाव कहा है . ···· ····	२३१-२३२

विषय	पृ० सं०
रागद्वेषमोहरूप जीवके अज्ञानमय परिणाम ही आस्रव हैं	२३३
रागादिक विना जीवके भावका संभव	२३४
ज्ञानीके द्रव्यभाव दोनों आस्रवोंका अभाव दिखलाया है	२३५
ज्ञानी निरास्रव किस तरह हैं ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर	२३६
अज्ञानी और ज्ञानीके आस्रवका होना और न होनेका युक्तिकर वर्णन	२३७-२३८
रागद्वेषमोह ही अज्ञान परिणाम है वही वंधका कारणरूप आस्रव है। वह ज्ञानी के नहीं है इसलिये ज्ञानीके कर्मवंध भी नहीं है ऐसा कह अधिकार पूर्ण	२३९-२४९

संवराधिकार ॥५॥

विषय	पृ० सं०
संवरका मूल उपाय भेदविज्ञान है उसकी रीतिका तीन गाथाओंमें कथन	२५०-२५४
भेदविज्ञानसे ही संवर कैसे होता है? ऐसे शिष्यके प्रश्नका दृष्टांतपूर्वक उत्तर	२५५-२५६
भेदज्ञानसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है उससे संवर होने का विधान	२५७
ंवर होनेका प्रकार तीन गाथामें	२५८-२५९
संवर होनेका क्रम कथन, अधिकार पूर्ण	२६०-२६५

निर्जराधिकार ॥६॥

विषय	पृ० सं०
द्रव्यनिर्जराका स्वरूप	२६६-२६७
भावनिर्जराका स्वरूप	२६८
ज्ञानका सामर्थ्य कथन	२६९
वैराग्यका सामर्थ्य कथन	२७०
ज्ञानवैराग्यसामर्थ्यका प्रगट कथन	२७१-२७२
सम्यग्दृष्टिके अपने परके जाननेका सामान्य विशेषकर विधान	२७३-२७४
इसी विधानसे वैराग्य होता है	२७५-२७६
सम्यग्दृष्टि रागी कैसे नहीं ऐसे प्रश्नका उत्तर	२७७-२७९
अज्ञानी रागी प्राणी रागादिकको अपना पद जानता है उस पदको छोड़ अपने वीतराग एक ज्ञायकभावपदमें ठहरनेका उपदेश दिया है	२८०-२८१
आत्माका पद ज्ञायकस्वभाव है, ज्ञानमें जो भेद हैं वे कर्मके क्षयोपशमके निमित्तसे हैं ऐसा कथन	२८२-२८३
ज्ञान ज्ञानसे ही प्राप्त होता है	२८४-२८६
ज्ञानी परको क्यों नही ग्रहण करता ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर	२८७
ज्ञानी परिग्रहका त्याग करता है उसका विधान	२८८
इस विधिसे परिग्रहको त्यागे तो कर्मसे लिप्त नही होता	२८९
कर्मके फलकी वांछाकर कर्म करे वह कर्मसे लिपटता है वांछाके विना कर्म करे तौभी कर्मसे नहीं लिप्त होता	२९०-२९९
उसका दृष्टांतद्वारा कथन	३००-३०७
सम्यग्दृष्टि निःशंक तथा सात भय रहित है	३०८-३१२
निष्कांक्षितता, निर्विचिकित्सा, उपगूहन, अमूढत्व, वात्सल्य, स्थितीकरण, प्रभावना इनका वर्णन निश्चयनयकी प्रधानतासे	३१३-३२०

बन्धाधिकार ॥७॥

विषय	पृ० सं०
वन्धका कारण कथन	३२१-३२५
ऐसे कारणरूप आत्मा न प्रवर्ते तो वन्ध न हो ऐसा कथन	३२६-३२८
मिथ्यादृष्टिके वन्ध होता है। उसके आशयको प्रगट कर दिखलाया है	३२९-३३६
मिथ्यादृष्टिका आशय प्रगट अज्ञान कहा वह अज्ञान कैसे ऐसे प्रश्नका उत्तर	३३७-३४०
वाह्य वस्तुके निश्चयनयकर वन्धके कारणपनेका निषेध	३४१-३४४

विषय	पृ० सं०
मिथ्यादृष्टि अज्ञानरूप अध्यवसायसे अपने आत्माको अनेक अवस्थारूप करता है ऐसा कथन	३४५-३४७
यह अज्ञानरूप अध्यवसाय जिसके नहीं है उसके कर्मबन्ध नहीं होता	३४८-३४९
यह अध्यवसाय क्या है ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर	३५०
इस अध्यवसानका निषेध है वह व्यवहार नयका ही निषेध है	३५१
जो केवल व्यवहारका ही आलंबन करता है वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि इसका आलंबन अभव्य भी करता है व्रत समिति गुप्ति पालता है ग्यारह अंग पढ़ता है तो भी मोक्ष नहीं है ऐसा कथन	३५२-३५३
अभव्य धर्मकी भी सामान्य श्रद्धा करता है तो भी उसके भोगके निमित्त है मोक्षके निमित्त नहीं है	३५४-३५५
निश्चयव्यवहारका स्वरूप	३५६-३६०
रागादिक भावोंका निमित्त आत्मा है या परद्रव्य ? उसका उत्तर	३६१-३६८
मोक्षाधिकार ॥८॥	
मोक्षका स्वरूप कर्मबन्धसे छूटना है सो कोई बन्धके स्वरूपको जानकर ही संतुष्ट होता है कि इसी तरह बन्धसे छूट जायेंगे उसका निषेध है कि बन्धको छेदे विना नहीं छूट सकते	३६९-३७०
बन्धकी चिन्ता करनेपर भी बन्ध नहीं छूटता बन्ध छेदनेसे ही मोक्ष होता है	३७१
बन्धसे छूटनेका कारण कथन	३७२
बन्धका छेद किससे करना ऐसे प्रश्नका उत्तर यह है कि कर्मबन्धके छेदनेको प्रज्ञाशास्त्र ही कारण है	३७३-३७६
प्रज्ञारूप कारणसे आत्मा और बन्ध दोनोंको जुदे जुदेकर प्रज्ञाकर ही आत्माको ग्रहण करना बन्धको छोड़ना	३७७-३७९
आत्माको चैतन्यमात्र ग्रहण करना	३७९
चेतना दर्शनज्ञानरूप है उनके बिना अलग नहीं रहती	३८०-३८३
आत्माके सिवाय अन्य भावका त्याग करना ऐसा कौन पंडित (बुद्धिमान्) होगा कि परके भावको जानकर ग्रहण करेगा ? कोई नहीं करता	३८४
जो परद्रव्यको ग्रहण करता है वह अपराधी है बंधनमें पड़ता है, अपराध जो नहीं करता वह बंधनमें भी नहीं पड़ता	३८५-३८६
अपराधका स्वरूप वर्णन	३८७-३८८
शुद्ध आत्माके ग्रहणसे मोक्ष कहा, आत्मा तो प्रतिक्रमण आदिकर भी दोषोंसे छूट जाता है शुद्ध आत्माके ग्रहणसे क्या लाभ ? ऐसे शिष्यके प्रश्नका उत्तर यह दिया है कि प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमणसे रहित तीसरी अप्रतिक्रमणादि अवस्थास्वरूप शुद्ध आत्माका ही ग्रहण है इसीसे आत्मा निर्दोष होता है	३८९-३९४
सर्वविशुद्ध-ज्ञानाधिकार ॥९॥	
आत्माके परद्रव्यके कर्ता भोक्तापनेके अभावका कथन है उसमें पहले कर्तापनेका अभाव दृष्टान्तपूर्वक कहा है	३९५-३९८
कर्तापना जीव अज्ञानसे मानते हैं सो अज्ञानकी सामर्थ्य दिखलाई है	३९९
अज्ञानीको मिथ्यादृष्टि कहा है	४००
परद्रव्यके भोक्तापनका भी आत्माका स्वभाव नहीं है अज्ञानी भोक्ता है ऐसा कथन	४०१
ज्ञानी कर्मफलका भोक्ता नहीं है ...	४०२-४०३
जो आत्माको कर्ता मानते हैं उनके मोक्ष नहीं है ऐसा कथन	४०४

विषय	पृ० सं०
अज्ञानी अपने भावकर्मका कर्ता है ऐसा युक्तिकर कथन	४०५-४१८
आत्माके कर्तापना और अकर्तापना जिस तरहमें है उस तरह स्याद्वादकर गाथा तेरहमें सिद्ध किया है	४१९-४२८
बौद्धमती ऐसा मानते हैं कि कर्मको करनेवाला दूसरा है और भोगनेवाला दूसरा है उसका युक्तिकर निषेध	४२९-४३३
कर्तृकर्मका भेद अभेद जैसे है उसी तरह नयविभागकर दृष्टांतपूर्वक साधन	४३४-४३८
निश्चयव्यवहारके कथनको खडियाके दृष्टान्तकर स्पष्ट कहा है दस गाथाओंमें	४३९-४५०
रागद्वेषमोहकर अपने दर्शन ज्ञान चारित्रका ही घात होता है इसके छह गाथा	४५१-४५४
अन्यद्रव्यका अन्यद्रव्य कुछ नहीं करसकता यह कथन	४५५-४५७
स्पर्श आदि पुद्गलके गुण हैं वे आत्माको कुछ ऐसा नहीं कहते कि हमको ग्रहण करो परन्तु अज्ञानी जीव इनसे वृथा राग द्वेष करता है ऐसा दस गाथासे	४५८-४६४
चारित्रका विधान, उसमें ज्ञानचेतनाका तो अनुभवन और कर्मचेतना कर्मफलचेतनाके त्यागकी रीतिका वर्णन	४६५-४६७
जो कर्म और कर्मफलको अनुभवता अपनेको उसरूप करता है वह नवीनकर्मको बांधता है ऐसा तीन गाथामें	४६८
इस जगह टीकाकारने कर्मचेतना और कर्मफलचेतनाके विधानको स्पष्ट किया है, कर्मचेतनाके तो अतीत वर्तमान अनागत कर्मके त्यागसे कृत कारित अनुमोदनासे मन वचन कायसे उनंचास उनंचास भंग (भेद) कर त्यागका विधान और कर्मफलचेतनाके त्यागके एकसौ अड़तालीस कर्मप्रकृतियों के नाम लेकर त्यागका विधान दिखलाया है	४६९-४९१
कर्तृकर्मभावसे ज्ञानको जुदा दिखाकर समस्त अन्यद्रव्योंसे जुदा पंद्रह गाथाओंमें दिखलाया है	४९१-४९७
आत्मा अमूर्तीक है इसलिये इसके पुद्गलमयी देह नहीं है उसके तीन गाथा	४९८-५००
द्रव्यलिंग देहमयी है इसलिये आत्माके मोक्षका कारण नहीं है दर्शन ज्ञान चारित्र अपना भाव है वही मोक्षका कारण है ऐसा तीन गाथाओंमें कथन	५००-५०१
मोक्षका अर्थी दर्शनज्ञानचारित्र स्वरूप मोक्ष मार्गमें ही आत्माको प्रवर्तावे ऐसा उपदेश किया है जो द्रव्यलिंगमें ही ममत्व करते हैं उनके मोक्ष नहीं है	५०२-५०५
व्यवहारनय तो मुनि श्रावकके लिङ्गको मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय किसी लिङ्गको मोक्षमार्ग नहीं कहता ऐसा कथन इस ग्रन्थको पूर्ण किया है उसके पढ़नेके, अर्थ जाननेके फलकी एक गाथा कह ग्रन्थ पूर्ण	५०६-५१२
टीकाकारके वचन हैं कि इस ग्रन्थमें आत्माको ज्ञानमात्र कहकर अनुभव कराया पर आत्मा अनन्तधर्मवाला है वह स्याद्वादसे सधता है। ज्ञानमात्र कहनेमें स्याद्वादसे विरोध आता है उसके मेंटनेके लिये तथा एक ही ज्ञानमें उपायभाव उपेयभाव किस तरह बन सकता है ? उसके सिद्ध करनेके लिये स्याद्वादाधिकार और उपायोपेयाधिकारका इस सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकारमें परिशिष्टरूपसे व्याख्यान किया है	५१३-५१७

विषय	पृ० सं०
एक ही ज्ञानमें तत् अतत् एक अनेक सत् असत् नित्य अनित्य इन भावोंके १४ भेद कर उनके १४ काव्य हैं	५१८-५२५
स्याद्वादकर ज्ञानमात्र भावमें अनेकान्तात्मक वस्तुपना दिखलाया है ज्ञानमात्र कहनेका प्रयोजन लक्षणकी प्रसिद्धिसे लक्ष्य प्रसिद्ध होता है इसलिये ज्ञान लक्षण है आत्मा लक्ष्य है ऐसा वर्णन	५२६-५३०
एक ज्ञानक्रियारूप ही परिणत आत्मामें अनंतशक्तियां प्रगट हैं उनमेंसे सैंतालीस शक्तियोंके नाम तथा लक्षणोंका कथन उपायोपेयभावका वर्णन, उसमें आत्मा परिणामी है इसलिए साधकपना और सिद्धपना ये दोनों भाव अच्छी तरह बनते हैं ऐसा कथन	५३१
स्याद्वादकी महिमाका वर्णन	५३२-५३८
इस समयसार शुद्ध आत्माके अनुभवकी प्रशंसाकर ग्रन्थ पूर्ण	५३९
टीकाकारोंका वक्तव्य	५३९
ग्रन्थ सटीक समाप्त	५४०-५४१

इति विषयानुक्रमणिका

"हे कुन्दकुन्दादि आचार्यों ! आपके वचन भी स्वरूपानुसंधानमें इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं, इसलिये मैं आपको अतिशय भक्तिसे नमस्कार करता हूं।"

*

"कुन्दकुन्दाचार्य और आनन्दघनजीका सिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञान तीव्र था। कुन्दकुन्दाचार्यजी तो आत्मस्थितिमें बहुत स्थित थे।"

*

"समयसार पढ़नेसे भी कई जीवोंको एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धान्त हो जाता है। सिद्धान्तका विचार बहुत सत्संगसे और वैराग्य एवं उपशमका बल विशेषत: बढ़नेके बाद कर्त्तव्य है। यदि ऐसा करनेमें नहीं आता तो जीव अन्य प्रकारमें बहकर वैराग्य और उपशमसे रहित हो जाता है।

*

'निश्चय'से अकर्त्ता, 'व्यवहार' से कर्त्ता, इत्यादि जो व्याख्यान समयसारमें है वह विचारने योग्य है, तथापि जिसके बोधसम्बन्धी दोष निवृत्त हो गये हैं ऐसे ज्ञानीसे यह प्रकार समझने योग्य है।

—श्रीमद् राजचंद्र

समयसार

■

नमः श्रीपरमात्मने

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यविरचितः

समयसारः

(टीकात्रयसहितः)

जीवाजीवाधिकारः ॥१॥

श्रीमदमृतचन्द्रसूरिकृता आत्मख्यातिः

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥१॥

श्रीजयसेनाचार्यकृता तात्पर्यवृत्तिः

वीतरागं जिनं नत्वा ज्ञानानन्दैकसम्पदम् ।
वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥

अथ शुद्धपरमात्मतत्त्वप्रतिपादनमुख्यत्वेन विस्तररुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवनिर्मिते समयसारप्राभृतग्रन्थे अधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन पातनिकासहितं व्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ 'वंदित्तु सव्वसिद्धे'

श्री पण्डित श्रीजयचन्द्रकृत आत्मख्याति-भाषाटीका

मङ्गलाचरण

दोहा—श्रीपरमातमकूं प्रणमि, शारद सुगुरु मनाय ।
समयसार शासन करूं, देशवचनमय भाय ॥ १ ॥

शब्दब्रह्मपरब्रह्मके, वाचकवाच्यनियोग ।
मंगलरूप प्रसिद्ध है, नमों धर्म धन भोग ॥ २ ॥

इति नमस्कारगाथामादिं कृत्वा सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाषट्कं भवति । तदनन्तरं द्वितीयस्थले भेदाभेदरत्नत्रयप्रतिपादनरूपेण 'ववहारेणुवदिस्सदि इत्यादि गाथाद्वयम् । अथ तृतीयस्थले निश्चयव्यवहारश्रुत-केवलिव्याख्यानमुख्यत्वेन 'जो हि सुदेण' इत्यादि गाथासूत्रद्वयम् । अतःपरं चतुर्थस्थले भेदाभेदरत्नत्रयभावनार्थं

नयनय लहइ सार शुभवार, पयपय दहइ मार दुखकार ।
लय लय गहइ पार भवधार, जय जय समयसार अविकार ॥ ३ ॥

शब्द अर्थ अरु ज्ञान समयत्रय आगम गाये
मतसिद्धान्त रु कालभेदत्रय नाम बताये ।

इनहि आदि शुभ अर्थसमयवचके सुनिये वहु
अर्थ समयमें जीव नाम है सार सुनहु सहु ॥

तातें जु सार विनकर्ममल शुद्ध जीव शुध नय कहै ।
इस ग्रंथ मांहि कथनी सबै समयसार बुधजन गहै ॥ ४ ॥

नामादिक छह ग्रन्थमुख, तामें मंगलसार ।
विघन हरन नास्तिक हरन, शिष्टाचार उचार ॥ ५ ॥

समयसार जिनराज है, स्यादवाद जिनवैन ।
मुद्रा जिन निरग्रन्थता, नमूं करै सब चैन ॥ ६ ॥

इस तरह मङ्गलपूर्वक प्रतिज्ञा कर श्रीकुन्दकुन्द आचार्यकृत गाथाबद्ध समयप्राभृत ग्रन्थकी जो संस्कृत टीका श्रीअमृतचन्द्र आचार्यकृत आत्मख्याति नामकी है उसकी देशभाषामय टीका प्रारम्भ करते हैं ।

अब संस्कृत टीकाकार श्रीमान् अमृतचन्द्र आचार्य ग्रंथकी आदि में मंगलके लिये इष्टदेवको नमस्कार करते हैं—'नमः' इत्यादि । अर्थ—'समय' अर्थात् जीवनामा पदार्थ उसमें 'सार' जो द्रव्य-कर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित शुद्ध आत्मा उसके लिये मेरा नमस्कार हो । कैसा है वह ? 'भावाय' अर्थात् शुद्ध सत्तास्वरूप वस्तु है । इस विशेषणपद से सर्वथा अभाववादी नास्तिकों का मत खंडित हुआ । फिर कैसा है ? 'चित्स्वभावाय'—जिसका स्वभाव चेतनागुणरूप है । इस विशेषणसे गुण गुणी का सर्वथा भेद मानने वाले नैयायिकका निषेध हुआ । फिर कैसा है ? 'स्वानुभूत्या चकासते' अपनी ही अनुभवनरूप क्रियासे प्रकाश करता है—अपने को अपने द्वारा ही जानता है, प्रगट करता है । इस विशेषणसे आत्माको तथा ज्ञानको सर्वथा परोक्ष ही मानने वाले जैमिनीय-भट्ट-प्रभाकर भेद वाले मीमांसकों का व्यवच्छेद होता है । तथा ज्ञान अन्य ज्ञानकर जाना जाता है अपने आप को नहीं जानता ऐसा मानने वाले नैयायिकों का प्रतिषेध होता है । फिर कैसा है ? 'सर्वभावान्तरच्छिदे' जो अपनेसे अन्य सब जीव अजीव चराचर पदार्थोंको उनके सब क्षेत्रकाल सम्बन्धी सब विशेषणों के साथ एक ही समय जानने वाला है, तथा अपने चैतन्यस्वभाव से भिन्न रागद्वेषादि भावों को पृथक् करता है । इस विशेषण से सर्वज्ञ का अभाव मानने वाले मीमांसक आदि का निराकरण होता है । इन विशेषणों से अपने इष्टदेव समयसार को नमस्कार किया है ।

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती [1]प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयीमूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

तथैव भावनाफलप्रतिपादनार्थं च 'णाणम्हि भावणा' इत्यादि सूत्रद्वयम् । तदनन्तरं पञ्चमस्थले निश्चयव्यवहार-नयद्वयव्याख्यानरूपेण 'ववहारोऽभूदत्थो' इत्यादि सूत्रद्वयम् । एवं चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन समयसारपीठिका-व्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा अथ प्रथमतस्तावद्गाथायाः पूर्वार्धेन मङ्गलार्थमिष्टदेवतानमस्कारमुत्त-रार्धेन तु समयसारग्रन्थव्याख्यानं करोमीत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति—

भावार्थ—यहाँ मङ्गलके लिए शुद्ध आत्माको नमस्कार किया है । प्रश्न—किसी विशेष इष्ट-देव का नाम लेकर नमस्कार क्यों नहीं किया ? उसका समाधान—अध्यात्मग्रन्थ है, इसलिये इष्टदेव का सामान्य स्वरूप सर्व कर्मरहित सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध आत्मा ही है, इसलिये समयसार कहने से इष्टदेव आ गया । एक ही नाम लेने में अन्यमतवादी मतपक्ष का विवाद करते हैं उन सबका निरा-करण इन कहे हुए विशेषणों से बतलाया गया है । अन्यवादी अपने इष्टदेव का नाम लेते हैं, उसमें इष्टशब्द का अर्थ नहीं घटता, बाधायें आती हैं, और स्याद्वादी जैनियों के सर्वज्ञ, वीतराग शुद्ध आत्मा इष्ट है, इसके नाम कथंचित् सभी सत्यार्थ होते हैं । इष्टदेव को परमात्मा कहो, परमज्योति कहो, परमेश्वर, शिव, निरञ्जन, निष्कलङ्क, अक्षय, अव्यय, शुद्ध, बुद्ध, अविनाशी, अनुपम, अभेद्य, अच्छेद्य, परमपुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानन्द, सर्वज्ञ, वीतराग, अर्हत्, जिन, आप्त, भगवान्, समयसार-इत्यादि हजारों नामों से कहो, कुछ विरोध नहीं । परन्तु सर्वथा एकान्तवादियों के यहाँ इन नामों में विरोध है । इसलिये इसका अर्थ यथार्थ समझना चाहिये ।

प्रगटै निज अनुभव करै, सत्ता चेतनरूप ।
सब ज्ञाता लखिकैं नमों समयसार सब भूप ॥ १ ॥

आगे सरस्वती को नमस्कार करते हैं—"अनन्त" इत्यादि । **अर्थ**—जिसमें अनेक अन्त-धर्म हैं, ऐसा जो ज्ञान तथा वचन उस रूप मूर्ति नित्य ही प्रकाशरूप हो । वह मूर्ति ऐसी है कि जिसमें अनन्त धर्म हैं ऐसा और प्रत्यक्—परद्रव्यों से, परद्रव्य के गुणपर्यायों से भिन्न तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार ऐसा जो आत्मा उसके तत्त्व को अर्थात् असाधारण सजातीय विजातीय द्रव्यों से विलक्षण निजस्वरूप को अवलोकन करती है ।

भावार्थ—यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचनरूप नमस्कार किया है । जो लोक में सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है, वह यथार्थ नहीं है, इसलिये उसका यथार्थ वर्णन किया है । जो सम्यग्ज्ञान है, वह सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है । इसलिये उसमें भी सम्पूर्ण तो केवलज्ञान है जिसमें सब पदार्थ प्रत्यक्ष प्रतिभासित हैं, वही अनन्त धर्मो सहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है । और उसी के अनुसार श्रुतज्ञान है वह परोक्ष देखता है इसलिये वह भी उसी की मूर्ति है । तथा द्रव्यश्रुत

---

१. 'प्रत्यगात्मन्' शब्द वेदान्त और उपनिषद् में भी प्रयुक्त हुआ है । इसका वाच्य परमात्मा या समयसार ही है जिसे टीकाकार ने आद्य श्लोक में प्रणाम किया है ।

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावादविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्तेर्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

'वंदित्तु' इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते । वंदित्तु निश्चयनयेन स्वस्मिन्नेवाराध्याराधक-भावरूपेण निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन भावनमस्कारेण, व्यवहारेण तु वचनात्मकद्रव्यनमस्कारेण वन्दित्वा । कान् सव्वसिद्धे स्वात्मोपलब्धिसिद्धिलक्षणसर्वसिद्धान् । किं विशिष्टान् । पत्ते प्राप्तान् । कां ? गदिं सिद्धगतिं सिद्धपरिणतिम् । कथंभूताम् । धुवं टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वेन ध्रुवामविनश्वराम् । अमलं भावकर्मद्रव्य-

---

वचनरूप है सो यह भी उसी की मूर्ति है क्योंकि वचनों द्वारा अनेक धर्म वाले आत्मा को यह बतलाती है। इस तरह सब पदार्थों के तत्त्व को जताने वाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकान्तमयी सरस्वती की मूर्ति है। इसी कारण सरस्वती के नाम वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुत से कहे जाते हैं। यह अनन्त धर्मों को स्यात्पद से एक धर्मी में अविरोधरूप साधती है इसलिये सत्यार्थ है। कितने अन्यवादी सरस्वती की मूर्ति को अन्यथा मानते हैं वह पदार्थ को सत्यार्थ कहने वाली नहीं है। प्रश्न—आत्मा का जो अनन्तधर्मा विशेषण दिया है उसमें अनन्त धर्म कौन-कौन हैं ? उसका उत्तर—वस्तु में सत्त्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशवत्त्व चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिमत्त्व, अमूर्तिमत्त्व इत्यादि तो धर्म (गुण) हैं और उन गुणों का तीनों कालों में समय समयवर्ती परिणमन होना पर्याय हैं, वे अनन्त हैं। तथा एकत्व, अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भिन्नत्व, अभिन्नत्व, शुद्धत्व, अशुद्धत्व, आदि अनेक धर्म हैं, वे सामान्यरूप तो वचनगोचर हैं और विशेषरूप वचनके अविषय हैं, ऐसे वे अनन्त हैं सो ज्ञानगम्य हैं। ऐसा होनेपर आत्मा भी वस्तु है उसमें भी अपने धर्म अनन्त हैं उनमें से चेतनपना असाधारण है, दूसरे अचेतनद्रव्य में नहीं है। और सजातीय जीवद्रव्य अनन्त हैं उनमें भी चेतनपना है तो भी निजस्वरूप से जुदा जुदा कहा है। क्योंकि हर एक द्रव्योंके प्रदेश भिन्न-भिन्न हैं इसलिये किसी का प्रदेश किसी में नहीं मिलता। चेतनत्व अपने अनन्तधर्मो में व्यापक है इस कारण इसी को आत्मा का तत्त्व कहा है। उसको यह सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है। इसलिये इस सरस्वती को आशीर्वादरूप वचन कहा है-जो सदा प्रकाशरूप रहो। इसी से सब प्राणियोंका कल्याण होता है, ऐसा जानना ॥ २ ॥

आगे टीकाकार इस ग्रन्थ के व्याख्यान करने के फल को चाहते हुए प्रतिज्ञा करते हैं—'पर' इत्यादि।

अर्थ—श्रीमान् अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि इस समयसार (शुद्धात्मा तथा ग्रन्थ) की व्याख्या से ही मेरी अनुभूति-अनुभवनरूप परिणति की परमविशुद्धि-समस्त रागादि विभावपरिणति-रहित उत्कृष्ट निर्मलता हो जाय। यह मेरी परिणति ऐसी है कि परपरिणतिका कारण जो मोहनीय कर्म, उसका अनुभाव-उदयरूप विपाक उससे जो अनुभाव्य-रागादिक परिणामों की व्याप्ति है उससे निरन्तर कल्माषित—मैली है। और मैं द्रव्यदृष्टि से शुद्ध चैतन्यमात्र मूर्ति हूँ।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि शुद्ध द्रव्यार्थिकनयकी दृष्टि से तो मैं शुद्धचैतन्यमात्र मूर्ति हूँ। परन्तु मेरी परिणति मोहकर्म के उदय का निमित्त पाकर मैली है—रागादिरूप हो रही है। इसलिये इस आत्मा के शुद्ध कथनरूप जो यह समयसार ग्रन्थ है उसकी टीका करने का फल यह चाहता हूँ कि मेरी परिणति रागादिक से रहित होकर शुद्ध हो, मेरे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति हो, दूसरा कुछ भी

अथ सूत्रावतार :—

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुयकेवलीभणियं ॥ १ ॥

वन्दित्वा सर्वसिद्धान् ध्रुवामचलामनौपम्यां गतिम्।
वक्ष्यामि समयप्राभृतमिदं अहो श्रुतकेवलिभणितम् ॥ १ ॥

'वंदित्तु' इत्यादि। अथ प्रथमत एव स्वभावभावभूततया ध्रुवत्वमवलम्बमानामनादिभावान्तरपरपरिवृत्तिविश्रान्तिवशेनाचलत्वमुपगतामखिलोपमानविलक्षणाद्भुतमाहात्म्यत्वेनाविद्यमानौपम्यामपवर्गसंज्ञिकां गतिमापन्नान् भगवतः सर्वसिद्धान् सिद्धत्वेन साध्यस्यात्मनः प्रतिच्छन्दस्थानीयान् भावद्रव्यस्तवाभ्यां स्वात्मनि च[1]निधायानादिनिधनश्रुतप्रकाशितत्वेन निखिलार्थ सार्थसाक्षात्कारिकेवलिप्रणीतत्वेन श्रुतकेवलिभिः

कर्मनोकर्ममलरहितत्वेनशुद्धस्वभावसहितत्वेन च निर्मलाम् अथवा अचलम् इति पाठान्तरे द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारभ्रमणरहितत्वेन स्वस्वरूपनिश्चलत्वेन च चलनरहितामचलाम्। अणोवमं निखिलोपमानरहितत्वेन निरुपमामद्भुतस्वस्वभावसहितत्वेन अनुपमाम्। एवं पूर्वार्धेन नमस्कारं कृत्वापरार्धेन सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनसूचनार्थं प्रतिज्ञां करोति। वोच्छामि वक्ष्यामि। किं समयपाहुडं समयप्राभृतं सम्यग् अयः बोधो यस्य भवति स समय आत्मा, अथवा समं एकीभावेनायनं गमनं समयः प्राभृतं सारं सारः शुद्धावस्था समयस्यात्मनः प्राभृतं समयप्राभृतं, अथवा समय एव प्राभृतं समयप्राभृतं। इणं इदं प्रत्यक्षीभूतं ओ अहो भव्याः। कथंभूतं सुवकेवलीभणिदं प्राकृतलक्षणबलात्केवलीशब्ददीर्घत्वम्। श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितम्।

ख्याति लाभ, पूजादिक नहीं चाहता। इस प्रकार आचार्य ने टीका करने की प्रतिज्ञा द्वारा फल की प्रार्थना की है ॥ ३ ॥

आगे मूलगाथाकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य ग्रन्थ की आदि में मङ्गलपूर्वक प्रतिज्ञा करते हैं :—

आचार्य कहते हैं, मैं [**ध्रुवाम्**] ध्रुव [**अचलाम्**] अचल और [**अनौपम्याम्**] अनुपम [**गतिम्**] गतिको [**प्राप्तान्**] प्राप्त हुए ऐसे [**सर्वसिद्धान्**] सब सिद्धों को [**वंदित्वा**] नमस्कार कर [**अहो**] हे भव्यो [**श्रुतकेवलिभणितम्**] श्रुतकेवलियोंकर कहे हुए [**इदम्**] इस [**समयप्राभृतम्**] समयसार नामक प्राभृत को [**वक्ष्यामि**] कहूँगा।

टीका—यहाँ अथ शब्द मङ्गल के अर्थ को सूचित करता है। और प्रथमत एव ग्रन्थ की आदि में सब सिद्धों को भाव-द्रव्यस्तुतिकर–अपने आत्मा में और परके आत्मा में स्थापन कर इस समय नामक प्राभृतका (हम) भाववचन और द्रव्यवचन द्वारा परिभाषण आरम्भ करते हैं। इस प्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। वे सिद्धभगवान् सिद्धनाम से साध्य जो आत्मा उसके प्रतिच्छन्द

---

१. 'निखाय' यह पाठ है।

स्वयमनुभवद्भिरभिहितत्वेन च प्रमाणतामुपगतस्यास्य समयप्रकाशकस्य प्राभृताह्वयस्यार्हत्प्रवचनावयवस्य स्वपरयोरनादिमोहप्रहाणाय भाववाचा द्रव्यवाचा च परिभाषणमुपक्रम्यते ॥ १ ॥

अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेवकथितमिति । सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि कथ्यन्ते-व्याख्यानं वृत्तिग्रन्थः, व्याख्येयं तत्प्रतिपादकसूत्रमिति, तयोस्सम्बन्धो व्याख्यानव्याख्येयसम्बन्धः । सूत्रमभिधानं सूत्रार्थोऽभिधेयः तयोः सम्बन्धोऽभिधानाभिधेयसम्बन्धः। निर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानेन शुद्धात्मपरिज्ञानं प्राप्तिर्वा प्रयोजनमित्यभिप्रायः ॥१॥ अथ गाथापूर्वार्द्धेन स्वसमयमपरार्धेन परसमयं च कथयामीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति—

के स्थान—आदर्श हैं। जिसका स्वरूप संसारी भव्यजीव चिन्तवनकर उन समान अपने स्वरूप को ध्यायकर उन्हीं के समान हो जाते हैं। और चारों गतियों से विलक्षण जो पंचमगति मोक्ष, उसे पाते हैं। जो पंचमगति स्वभावसे उत्पन्न हुई है इसलिये ध्रुवपने का अवलम्बन करती है। इस विशेषण कर चारों गतियाँ परनिमित्त से होती हैं इसलिये ध्रुव नहीं हैं, विनश्वर हैं इसलिये चारों गतियों से पृथक्पना सिद्ध हुआ। वह गति अनादिकाल से अन्यभाव के निमित्त से हुए पर में भ्रमण की विश्रान्ति (अभाव) के वश अचल दशा को प्राप्त हुई है। इस विशेषण से चारों गतियों में परनिमित्त से भ्रमण होने का व्यवच्छेद हुआ। जगत में समस्त जो उपमायोग्य पदार्थ हैं, उनसे विलक्षण हैं-अद्भुत माहात्म्य के कारण जो किसी की उपमा नहीं पा सकती। इस विशेषण से चारों गतियों में परस्पर कथंचित् समानता भी पाई जाती है इसका निराकरण हुआ। वह अपवर्गरूप है। धर्म अर्थ और काम इस त्रिवर्ग में न होने से वह मोक्षगति अपवर्ग कही गई है। ऐसी पंचमगति को सिद्ध भगवान् प्राप्त हुए हैं। कैसा है समय प्राभृत ? अनादिनिधन परमागम शब्द-ब्रह्म द्वारा प्रकाशित होने से तथा सब पदार्थों के समूह के साक्षात् करने वाले केवली भगवान् सर्वज्ञकर प्रणीतपना होने से और केवलियों के निकटवर्ती साक्षात् सुनने वाले और स्वयं अनुभव करने वाले ऐसे श्रुतकेवली गणधर देवों के द्वारा कहे जाने से प्रमाणता को प्राप्त हुआ है, वह अन्यवादियों के आगम की तरह छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) का ही कल्पना किया हुआ नहीं है जिससे कि अप्रमाण हो। तथा समय अर्थात् सर्व पदार्थ अथवा जीव पदार्थ का प्रकाशक है। और अरहन्त भगवान् के परमागम का अवयव (अंश) है। ऐसे समयप्राभृत का, अनादिकाल से उत्पन्न हुए अपने और पर के मोह-अज्ञान मिथ्यात्व के नाश होने के लिये मैं परिभाषण (व्याख्यान) करूंगा॥

भावार्थ—यहाँ पर गाथासूत्र में आचार्य ने "वक्ष्यामि" क्रिया कही है, उसका अर्थ टीकाकार ने "वच् परिभाषणे" धातु से परिभाषण लेकर किया है। उसका आशय ऐसा सूचित होता है कि जो चौदहपूर्व में ज्ञानप्रवाद नामक छठे पूर्व के बारह 'वस्तु' अधिकार हैं, उनमें भी एक एक के वीस वीस प्राभृत अधिकार हैं, उसमें दशवें वस्तु में समयनामक जो प्राभृत है उसका परिभाषण आचार्य करते हैं। सूत्रों की दश जातियाँ कही गई हैं उनमें एक परिभाषा जाति भी है। जो अधिकार को यथास्थान सूचना करे वह परिभाषा कही जाती है। इस समयनामा प्राभृत के मूलसूत्रों का ज्ञान तो पहले बड़े आचार्यों को था और उसके अर्थ का ज्ञान आचार्यों की परिपाटी के अनुसार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य को था। इसलिये उन्होंने ये समयप्राभृत के परिभाषा सूत्र रचे हैं वे उस प्राभृत

तत्र तावत्समय एवाभिधीयते :—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं ॥ २ ॥

जीवः चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः तं हि स्वसमयं जानीहि।
पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितं च तं जानीहि परसमयम् ॥ २ ॥

योऽयं नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावेऽवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तिविचित्रभावस्वभावत्वादुत्सङ्गित गुणपर्याय स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगति-

'जीवो चरित्त इत्यादि जीवो' शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावनिश्चयप्राणेन तथैवाशुद्धनिश्चयेन क्षायोपशमिकाशुद्धभावप्राणैरसद्भूतव्यवहारेण यथासंभवद्रव्यप्राणैश्च जीवति जीविष्यति जीवितपूर्वो वा जीवः। चरित्तदंसणणाणठ्ठिदं तं हि ससमयं जाण। स च जीवश्चारित्रदर्शनज्ञानस्थितो यदा भवति तदा काले तमेव

के अर्थ को ही सूचित करते हैं ऐसा जानना। मङ्गल के लिये सिद्धों को जो नमस्कार किया और उनका 'सर्व' ऐसा विशेषण दिया, इससे वे सिद्ध अनन्त हैं ऐसा अभिप्राय दिखलाया और 'शुद्ध आत्मा एक ही है' ऐसा कहने वाले अन्यमतियों का व्यवच्छेद किया। संसारी के शुद्ध आत्मा साध्य है वह शुद्धात्मा साक्षात् सिद्ध हैं, उनको नमस्कार करना उचित ही है। किसी इष्टदेव का नाम नहीं कहा उसके बाबत जैसा टीकाकार के मङ्गलाचरण में कहा गया है वैसा यहाँ भी जानना। श्रुतकेवली शब्द के अर्थ में श्रुत तो अनादिनिधन प्रवाहरूप आगम है और केवली शब्द से सर्वज्ञ तथा परमागम के जानने वाले श्रुतकेवली हैं, उनसे समयप्राभृत की उत्पत्ति कही है। इससे ग्रन्थ की प्रामाणिकता दिखलाई और अपनी बुद्धि से कल्पित होने का निषेध किया गया है। अन्यवादी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) अपनी बुद्धि से पदार्थ का स्वरूप अन्यप्रकार से कहकर विवाद करते हैं उनका असत्यार्थपना बतलाया। इस ग्रन्थ के अभिधेय सम्बन्ध और प्रयोजन तो प्रगट ही हैं। अभिधेयक तो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है, उसके वाचक इस ग्रन्थ में शब्द हैं उनका वाच्यवाचकरूप सम्बन्ध है और शुद्धात्मा के स्वरूप की प्राप्ति होना प्रयोजन है। इस तरह प्रथम गाथासूत्र का तात्पर्यार्थ जानना ॥ १ ॥

प्रथमगाथा में समय के प्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की। वहाँ यह आकांक्षा हुई कि समय क्या है इसलिये प्रथम ही समय का स्वरूप कहते हैं—हे भव्य जो [जीवः] जीव [चरित्रदर्शनज्ञानस्थितः] दर्शन, ज्ञान और चरित्र में स्थिर हो रहा है [तम्] उसे [हि] निश्चय से [स्वसमयम्] स्वसमय [जानीहि] जानो। [च] और जो जीव [पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितम्] पुद्गलकर्म के प्रदेशों में तिष्ठा हुआ है [तम्] उसे [परसमयम्] परसमय [जानीहि] जानो।

स्थितिवर्त्तनानिमित्तत्वरूपित्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टङ्कोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः, समयत एकत्वेन युगपज्जानाति चेति निरुक्तेः। अयं खलु यदा सकलस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादकविवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्तिस्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्वात्स्वमेकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च स्वसमय इति। यदा त्वनाद्यविद्याकन्दलीमूलकन्दायमानमोहानुवृत्तितन्त्रतया दृशिज्ञप्तिस्वभाव नियतवृत्तिरूपादात्मतत्त्वात्प्रच्युत्य परद्रव्यप्रत्ययमोहरागद्वेषादिभावैकत्वगतत्वेन वर्त्तते तदा पुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वात्परमैकत्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्च परसमय इति प्रतीयते। एवं किल समयस्य द्वैविध्यमुद्धावति॥ २॥

जीवं हि स्फुटं स्वसमयं जानीहि। तथाहि—विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावे निजपरमात्मनि यद्रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं तत्रैव रागादिरहितस्वसंवेदनं ज्ञानं तथैव निश्चलानुभूतिरूपं वीतरागचारित्रमित्युक्तलक्षणेन निश्चयरत्नत्रयेण परिणतजीवपदार्थं हे शिष्य स्वसमयं जानीहि पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं पुद्गलकर्मोपदेशस्थितं च तमेव जानीहि परसमयम्। तद्यथा–पुद्गलकर्मोदयेन जनिता ये नारकाद्युपदेशा व्यपदेशाः संज्ञाःपूर्वोक्तनिश्चयरत्नत्रयाभावात्तत्र यदा स्थितो भवत्ययं जीवस्तदा तं जीवं परसमयं जानीहीति स्वसमयपरसमय-

---

टीका—जो यह जीव नामक पदार्थ है वह ही समय है। क्योंकि समयशब्द का ऐसा अर्थ है—'सम्' तो उपसर्ग है और 'अय् गतौ' धातु है। उसका गमन अर्थ भी है तथा ज्ञान अर्थ भी है, 'सम्' का अर्थ एकसाथ है। इसलिये एक काल में ही जानना और परिणमन करना—ये दो क्रियायें जिसमें हों वह समय है। यह जीव पदार्थ एक काल में ही परिणमन करता है और जानता भी है इसलिये यही समय है। इस तरह दो क्रियायें एक काल में होती हैं। वह समयनामक जीव नित्य ही परिणमनस्वभाव में रहने से उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकतारूप-अनुभूति लक्षण वाली सत्ता से सहित है। इस विशेषण से जीव की सत्ता नहीं मानने वाले नास्तिक वादियों का मत खंडित हुआ। तथा पुरुष को (जीव को) अपरिणामी मानने वाले सांख्यों का व्यवच्छेद उसे परिणमनस्वभावी कहने से हुआ। नैयायिक वैशेषिक सत्ता को नित्य मानते हैं तथा बौद्ध सत्ता को क्षणिक मानते हैं, उन दोनों का निराकरण उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप कहने से हुआ; वह चैतन्यस्वरूपी होने से नित्य उद्योतरूप निर्मल दर्शनज्ञान-ज्योतिस्वरूप है—चैतन्य का परिणमन दर्शनज्ञानस्वरूप है। इस विशेषण से चैतन्य को ज्ञानाकारस्वरूप नहीं मानने वाले सांख्यों का निराकरण हुआ; अनन्तधर्मोंमें रहने वाला जो एक धर्मी उससे उसका द्रव्यत्व प्रकट हुआ है, क्योंकि अनन्तधर्मों की एकता ही द्रव्यत्व है। इस विशेषण से वस्तु को धर्मो से रहित मानने वाले बौद्धों का निषेध हुआ; क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवृत्त हुए जो अनेकभाव उस स्वभावयुक्त होने से उसने गुणपर्यायों को अङ्गीकार किया है। पर्याय तो क्रमवर्ती होते हैं और गुण सहवर्ती होते हैं और सहवर्ती को अक्रमवर्ती भी कहते हैं। इस विशेषण से पुरुष को निर्गुण मानने वाले सांख्यादिकों का निरास हुआ। अपने और अन्य द्रव्यों के आकार के प्रकाशन करने में समर्थ होने से उसने समस्तरूप के झलकाने वाली

लक्षणं ज्ञातव्यम् ॥२॥ अथ स्वगुणैकत्वनिश्चयगतशुद्धात्मैवोपादेयः कर्मबन्धेन सहैकत्वगतो हेय इति, अथवा स्वसमय एव शुद्धात्मनः स्वरूपं न पुनः परसमय इत्यभिप्रायं मनसि धृत्वा, अथवास्य सूत्रस्यानन्तरं सूत्रमिदमुचितं भवतीति निश्चित्य विवक्षितसूत्रं प्रतिपादयति,—इति पातनिकालक्षणं सर्वत्र ज्ञातव्यम् ।

एकरूपता पा ली है अर्थात् जिसमें अनेक वस्तुओं का आकार झलकता है, ऐसे एक ज्ञान के आकार रूप है। इस विशेषण से ज्ञान अपने को ही जानता है, पर को नहीं जानता है, ऐसे एकाकार मानने वाले का तथा अपने को नहीं जानता, पर को जानता है, ऐसे अनेकाकार ही मानने वाले का व्यवच्छेद हुआ; पृथक्-पृथक् जो अवगाहन, गति, स्थिति और वर्तना की हेतुता तथा रूपित्वरूप जो द्रव्यों के गुण उनके अभाव से और असाधारण चैतन्यरूप स्वभाव के सद्भाव से-आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल इन पांच द्रव्यों से भिन्न है। इस विशेषण से एक ब्रह्मवस्तु को ही मानने वाले का व्यवच्छेद हुआ। वह अनन्त अन्य द्रव्यों से अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप होने पर भी अपने स्वरूप से न छूटने से टङ्कोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है, इस विशेषण से वस्तुस्वभाव का नियम बतलाया है। ऐसा जीवनामक पदार्थ **समय** है। जब यह सब पदार्थों के स्वभाव के प्रकाशने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञानज्योति के उदय होने से सब परद्रव्यों से पृथक् होकर दर्शन-ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से एकत्वरूप होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थिर होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता तथा परिणमन करता हुआ **स्वसमय** कहलाता है। और जब यह अनादि अविद्यारूप मूल वाले कन्द के समान मोह के उदयके अनुसार प्रवृत्ति की अधीनतासे दर्शनज्ञानस्वभाव में निश्चित वृत्तिरूप आत्मस्वरूप से छूट परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह रागद्वेषादि भावों में एकरूप हो प्रवृत्त होता है, तब पुद्गल के कार्मण प्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने से अभिन्न एक काल में जानता है तथा रागादिरूप परिणमन करता है, अतः **परसमय** ऐसी प्रतीति होती है। इस तरह इस जीवनामक पदार्थ के स्वसमय और परसमय ऐसे दो भेद प्रकट होते हैं।

भावार्थ—जीवनामक वस्तु को पदार्थ कहा है। वह इस प्रकार है कि पद तो 'जीव' ऐसे अक्षरसमूहरूप है और इस पद से जो द्रव्यपर्यायरूप अनेकान्तस्वरूप निश्चित किया जाय, वह पदार्थ है। ऐसा पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्ता स्वरूप है। दर्शनज्ञानमयचेतनास्वरूप है, अनन्तधर्म स्वरूप द्रव्य है (और जो द्रव्य है, वह वस्तु है, गुण-पर्ययवान् है) वह स्वपरप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है, आकाशादिक से भिन्न असाधारण चैतन्यगुणस्वरूप है और यद्यपि वह अन्य द्रव्यों से एक क्षेत्रावगाहरूप स्थित है तो भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। ऐसा जीव-नामक पदार्थ समय है। जब यह अपने स्वभाव में स्थित होता है तब तो स्वसमय है और जब पौद्गलिक कर्मप्रदेशों में स्थित होता हुआ, परस्वरूप रागद्वेषमोहस्वरूप परिणमन करता है, तब परसमय है। ऐसे इस जीव के द्विविधता आती है॥ २॥

आगे आचार्य कहते हैं कि समय की द्विविधता ठीक नहीं है क्योंकि वह बाधासहित है वास्तव में समय का एकत्व होना ही प्रयोजनीय है। समय के एकत्व से ही यह जीव शोभा पा सकता है [**एकत्वनिश्चयगतः**] एकत्व निश्चय में प्राप्त जो [**समयः**] समय है वह [**सर्वत्र लोके**] सब

अथैतद् बाध्यते—

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चयगतः समयः सर्वत्र सुन्दरो लोके।
बन्धकथैकत्वे तेन विसम्वादिनी भवति ॥ ३ ॥

समयशब्देनात्र सामान्येन सर्व एवार्थोऽभिधीयते। समयत एकीभावेन स्वगुणपर्यायान् गच्छतीति निरुक्तेः। ततः सर्वत्रापि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवद्रव्यात्मनि लोके ये यावन्तः केचनाप्यर्थास्ते सर्व एव स्वकीयद्रव्यान्तर्मग्नानन्तस्वधर्मचक्रचुम्बिनोऽपि परस्परमचुम्बिनोऽत्यन्तप्रत्यासत्तावपि नित्यमेव स्वरूपादपतन्तः पररूपेणापरिणमनादविनष्टानन्तव्यक्तित्वाट्टङ्कोत्कीर्णा इव तिष्ठन्तः समस्तविरुद्धाविरुद्धकार्यहेतुतया शश्वदेव विश्वमनुगृह्णन्तो नियतमेकत्वनिश्चयगतत्वेनैव सौन्दर्यमापद्यन्ते। प्रकारान्तरेण सर्वसङ्कारादिदोषापत्तिः। एवमेकत्वे सर्वार्थानां प्रतिष्ठिते सति जीवाह्वयस्य समयस्य बन्धकथाया एव विसंवादापत्तिः। कुतस्तन्मूलपुद्गलकर्मप्रदेशस्थितत्वमूलपरसमयोत्पादितमेतस्य द्वैविध्यम्। अतः समयस्यैकत्वमेवावतिष्ठते ॥३॥

एयत्तणिच्छयगदो—स्वकीयशुद्धगुणपर्यायपरिणतः, अभेदरत्नत्रयपरिणतो वा एकत्वनिश्चयगतः समओ समयशब्देनात्मा, कस्माद्धेतोः। सम्यगयते गच्छति परिणमति। कान्? स्वकीयगुणपर्यायानिति व्युत्पत्तेः सव्वत्थसुंदरो सर्वत्र समीचीनः। क्व? लोगे लोके अथवा सर्वत्रैकेन्द्रियाद्यवस्थासु शुद्धनिश्चयनयेन सुन्दर उपादेय इति। बंधकहा कर्मबन्धजनितगुणस्थानादिपर्यायाः। एयत्ते एकत्वे तन्मयत्वे या बन्धकथा प्रवर्तते तेण तेन पूर्वोक्तजीवपदार्थेन सह सा विसंवादिनी विसंवादी कोऽर्थः? विसंवादिनी कथा। प्राकृतलक्षणवलात्

लोक में [सुन्दरः] सुन्दर है [तेन] इसलिये [एकत्वे] एकत्व में [बन्धकथा] दूसरे के साथ वन्ध की कथा [विसंवादिनी] निन्दा कराने वाली [भवति] है।

टीका—यहां समयशब्द से सामान्यतया सभी पदार्थ कहे जाते हैं क्योंकि समयशब्द का अक्षरार्थ ऐसा है कि 'समयते' अर्थात् एकीभाव से अपने गुणपर्यायों को प्राप्त हुआ जो परिणमन करे, वह समय है। इसलिए सब ही धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीवद्रव्य स्वरूप लोक में जो कुछ पदार्थ हैं, वे सभी यद्यपि अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न हुए अपने अनन्त धर्मों का स्पर्श करते हैं तो भी परस्पर में एक दूसरे का स्पर्श नहीं करते। और अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप स्थित हैं तो भी सदाकाल निश्चय से अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, इसीलिए विरुद्धकार्य-स्वभाव से विपरीत कार्य और अविरुद्ध कार्य-स्वभाव रूप कार्य इन दोनों हेतुओं से सदा सब परस्पर का उपकार करते हैं। परन्तु निश्चय से एकत्व के निश्चय को प्राप्त होने से ही सुन्दरता पाते हैं। क्योंकि जो अन्य प्रकार हो जांय तो संकर व्यतिकर आदि सभी दोष उसमें

तथैतदसुलभत्वेन विभाव्यते—

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥ ४ ॥

श्रुतपरिचितानुभूता सर्वस्यापि कामभोगबन्धकथा ।
एकत्वस्योपलम्भः केवलं न सुलभो विभक्तस्य ॥ ४ ॥

इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रान्तमनन्तद्रव्यक्षेत्र-कालभवभावपरावर्त्तैः समुपक्रान्तभ्रान्तेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव वाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णान्तकत्वेन व्यक्ता[1]न्तर्माथस्योत्तम्योत्तम्य मृग-तृष्णायमानं विषयग्राममुपरुन्धानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनन्तशः श्रुतपूर्वानन्तशः

पुल्लिङ्गे स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । विसंवादिनी असत्या होदि भवति । शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीत्यर्थः । ततः स्थितं स्वसमय एवात्मनः स्वरूपमिति ॥ ३ ॥ अथैकत्वपरिणतं शुद्धात्मस्वरूपसुलभं न भवतीत्याख्याति— "सुदपरिचिदाणुभूदा" इत्यादि ।

सुदा श्रुता अनन्तशो भवति। **परिचिदा** परिचिता सा पूर्वमनन्तशो भवति । **अणुभूदा** अनुभूतानन्तशो भवति । कस्य । **सव्वस्सवि** सर्वस्यापि जीवलोकस्य । कासौ ? **कामभोगवन्धकहा** कामरूपभोगाः कामभोगाः अथवा कामशब्देन स्पर्शनरसनेन्द्रियद्वयं भोगशब्देन घ्राणचक्षुःश्रोत्रत्रयं तेषां कामभोगानां वन्धः सम्वन्धस्तस्य कथा । अथवा वन्धशब्देन प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशवन्धास्तत्फलं च नरनारकादिरूपं भण्यते । कामभोगवन्धानां

आजावें । इस तरह सब पदार्थों का भिन्न भिन्न एकत्व सिद्ध होने पर जीवनामक समय को बन्ध की कथा से विसंवाद की आपत्ति होती है । क्योंकि बन्धकथा का मूलकारण जो पुद्गल कर्म के प्रदेशों में स्थितरूप परसमयता से पैदा हुई, जीव में परसमय, और स्वसमयरूप द्विविधता वह हैं । अतः समय का एकत्व होना ही सिद्ध होता है ।

भावार्थ—निश्चय से सब पदार्थ अपने अपने स्वभाव में ठहरते हुए शोभा पाते हैं । परन्तु जीव नामक पदार्थ की अनादिकाल से पुद्गल कर्म के साथ बन्ध अवस्था है उससे इस जीव में विसंवाद खड़ा होता है, इसलिये शोभा नहीं पाता । अतः एकत्व होना ही अच्छा है, उसी से यह जीव शोभा पा सकता है ॥ ३ ॥

आगे कहते हैं कि इस एकत्व को प्राप्त कर लेना ही अच्छा है:—[**सर्वस्य अपि**] सब ही लोकों के [**कामभोगवन्धकथा**] काम-भोग-विषयक बन्धकी कथा तो [**श्रुतपरिचितानुभूता**] सुनने में आ गई है, परिचय में आ गई है और अनुभव में भी आयी हुई है इसलिए सुलभ है । [**नवरि**] किन्तु केवल [**विभक्तस्य**] भिन्न आत्मा का [**एकत्वस्य उपलम्भः**] एकत्व कभी न सुना, न परिचय में आया और न अनुभव में आया इसलिए [**न सुलभः**] एक यही सुलभ नहीं है ।

१. समस्त प्राचीन लिखित प्रतियों में 'व्यक्तान्तर्माथस्य' ऐसा पाठ है: किन्तु समस्तमुद्रित प्रतियों में 'व्यक्तान्तराधे : यह पाठ है । दोनों के अर्थ समान है ।

परिचितपूर्वानन्तशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्वविरुद्धत्वेनात्यन्तविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयान्तःप्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यन्ततिरोभूतं सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषामात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं, न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वम्। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम् ॥ ४ ॥

कथा कामभोगबन्धकथा, यतः पूर्वोक्तप्रकारेण श्रुतपरिचितानुभूता भवति ततो न दुर्लभा किन्तु सुलभैव। एयत्तस्य एकत्वस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रैक्यपरिणतिरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन स्वसंवेद्यशुद्धात्मस्वरूपस्य तस्यैकत्वस्य उवलंभो उपलम्भः प्राप्तिर्लाभः णवरि केवलं अथवा नवरि किन्तु ण सुलभो नैव सुलभः। कथंभूतस्यैकत्वस्य। विभत्तस्स विभक्तस्य रागादिरहितस्य। कथं न सुलभ इति चेत्, श्रुतपरिचितानुभूतत्वाभावादिति ॥ ४ ॥ अथ यस्मादेकत्वं सुलभं न भवति तस्मात्तदेव कथ्यते—

तं तत्पूर्वोक्तम् एयत्तविभत्तं एकत्वविभक्तं अभेदरत्नत्रयैकपरिणतं मिथ्यात्वरागादिरहितं परमात्म-

---

टीका—यद्यपि इस समस्त जीवलोक को कामभोगविषयक कथा एकत्व के विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद करानेवाली है—आत्माका अत्यन्त बुरा करनेवाली है, तो भी वह अनन्तवार पहले सुनने में आई है, अनन्तवार परिचय में आई है और अनन्तवार अनुभव में भी आचुकी है। यह जीव लोक संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थिर है, जो निरन्तर अनन्तवार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप परावर्तन करने से भ्रमण करता रहता है, समस्त लोक को एकच्छत्र राज्य से वश करने वाले बलवान् मोहरूपी पिशाच से बैल की भांति जोता जाता है, वेग से बढ़ी हुई तृष्णारूपी रोग के संताप से जिसके अन्तरङ्ग में क्षोभ और पीड़ा हुई है; मृग की तृष्णा के समान श्रान्त-सन्तप्त होकर इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ता है। इतना ही नहीं, आपस में आचार्यत्व भी करता है अर्थात् दूसरे को भी कह कर अङ्गीकार कराता है। इसलिए काम-भोग की कथा तो सबको सुख से प्राप्त है। तथा भिन्न आत्मा का जो एकत्व है, वह यद्यपि सदा प्रकटरूप से अतरङ्ग में प्रकाशमान है, तो भी वह कषायों के साथ एकरूप सरीखा हो रहा है, इसलिए उसका अत्यन्त तिरोभाव हो रहा है—आच्छादित है। इस कारण अपने में अनात्मज्ञता होने से कभी अपने को स्वयं भी नहीं जाना और दूसरे आत्मा के जानने वालों की संगति—सेवा भी नहीं की। इसलिए वह एकत्व की कथा न कभी सुनने में आई, न परिचय में आई और न कभी अनुभव में ही आई। यद्यपि वह एकत्व निर्मलभेदज्ञानरूप प्रकाश के द्वारा प्रकट देखने में आता है, तो भी पूर्वोक्त कारणों से इस भिन्न आत्मा का एकत्व दुर्लभ है।

भावार्थ—इस लोक में सभी जीव संसाररूप चक्र पर चढ़े पांच परावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहां पर मोहकर्म के उदयरूप पिशाच से जोते जाते हैं, इसी कारण से विषयों की तृष्णारूप दाह से पीड़ित होते हैं। उसमें भी उस दाह की शान्ति का उपाय इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जान कर उनकी ओर दौड़ते हैं। और परस्पर में भी विषयों का ही उपदेश करते हैं। इसलिये काम (विषयों की इच्छा) तथा भोग (उनका भोगना) इन दोनों की कथा तो अनन्तवार

अत एवैतदुपदर्श्यते—

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्किज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥ ५ ॥

तमेकत्वविभक्तं दर्शयेऽहमात्मनः स्वविभवेन।
यदि दर्शयेयं प्रमाणं स्खलेयं छलं न गृहीतव्यम् ॥ ५ ॥

इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्षक्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्त्यवलम्बनजन्मा निर्मलविज्ञानघनान्तर्निमग्नपरापरगुरुप्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यन्दिसुन्दरानन्दमुद्रितामन्दसंविदात्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कश्चनापि ममात्मनः स्वो विभवस्तेन समस्तेनाप्ययं तमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेऽहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि। किन्तु यदि दर्शयेयं तदा स्वयमेव स्वानुभवप्रत्यक्षेण परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यम्। यदि तु स्खलेयं तदा तु न छलग्रहणजागरूकैर्भवितव्यम् ॥ ५ ॥

स्वरूपमित्यर्थः। दाएहं दर्शयेऽहम्। केन अप्पणो सविहवेण आत्मनः स्वकीयमतिविभवेन आगमतर्कपरमगुरूपदेशस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणेति। जदि दाएज्ज यदि दर्शयेयं तदा पमाणं स्वसंवेदनज्ञानेन परीक्ष्य प्रमाणीकर्त्तव्यं भवद्भिः। चुक्किज्ज यदि च्युतो भवामि छलं ण घेत्तव्वं तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ॥ ५ ॥ अथ कोऽयं

सुनी, परिचय और अनुभव में आई, इस कारण सुलभ है। किन्तु सब परद्रव्यों से भिन्न चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का न तो स्वयमेव कभी ज्ञान हुआ और जिनके हुआ, उनकी न कभी सेवा की, इसलिये इसकी कथा न कभी सुनी और न वह कभी परिचय और अनुभव में ही आई। इस कारण आत्मा के एकत्व का पाना सुलभ नहीं है, दुर्लभ है ॥४॥

अब आचार्य कहते हैं कि इस भिन्न आत्मा का एकत्व हम दिखलाते हैं;—[तम्] उस [एकत्वविभक्तम्] एकत्वविभक्त आत्मा को [अहम्] मैं [आत्मनः] आत्मा के (स्वविभवेन) निज वैभव द्वारा [दर्शये] दिखलाता हूँ [यदि] जो मैं [दर्शयेयम्] दिखलाऊँ तो उसे [प्रमाणम्] प्रमाण (स्वीकार) करना (स्खलेयम्) और जो कहीं पर चूक जाऊँ तो [छलम्] छल (न) नहीं [गृहीतव्यम्] ग्रहण करना।

टीका—आचार्य कहते हैं कि जो कुछ मेरे आत्मा का निजवैभव है उस सबसे मैं इस एकत्व विभक्त आत्मा को दिखलाने के लिये उद्यत हुआ हूँ। मेरे आत्मा के निजवैभव का जन्म, इस लोक में प्रकट समस्त वस्तुओं को प्रकाश करने वाला और स्यात् पद से चिह्नित शब्दब्रह्म-अरहंत के परमागम की उपासना से हुआ है। यहाँ 'स्यात्' इस पद का तो कथंचित् अर्थ है अर्थात् किसी प्रकार से कहना और सामान्यधर्म से वचनगोचर सब धर्मों का नाम आता है तथा वचन के अगोचर जो कोई विशेष धर्म हैं उनका अनुमान कराता है। इस तरह वह सब वस्तुओं का

कोऽसौ शुद्ध आत्मेति चेत्—

णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणओ दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णओ जो सोउ सो चेव ॥ ६ ॥

नापि भवत्यप्रमत्तो न प्रमत्तो ज्ञायकस्तु यो भावः ।
एवं भणन्ति शुद्धं ज्ञातो यः स तु स चैव ॥ ६ ॥

यो हि नाम स्वतः सिद्धत्वेनानादिरनन्तो नित्योद्योतो विशदज्योतिर्ज्ञायक एको भावः स संसारावस्थायामनादिबन्धपर्यायनिरूपणया क्षीरोदकवत्कर्मपुद्गलैः सममेकत्वेऽपि द्रव्यस्वभावनिरूपणया दुरन्तकषायचक्रोदयवैचित्र्यवशेन प्रवर्त्तमानानां पुण्यपापनिर्वर्त्तकानामुपात्तवैश्वरूप्याणां शुभाशुभभावानां स्वभावेनापरिणमनात्प्रमत्तोऽप्रमत्तश्च

शुद्धात्मेति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—णवि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुभाशुभपरिणमनाभावान्न भवत्यप्रमत्तः प्रमत्तश्च । प्रमत्तशब्देन मिथ्यादृष्ट्यादिप्रमत्तान्तानि, षड्गुणस्थानानि, अप्रमत्तशब्देन पुनरप्रमत्ताद्ययोग्यंतान्यष्टगुणस्थानानि गृह्यन्ते । स कः कर्त्ता । जाणगो दु जो भावो ज्ञायको ज्ञानस्वरूपो योऽसौ भावः

प्रकाशक है । इस कारण सर्वव्यापी कहा जाता है और इसी से अरहन्त के परमागम को शब्दब्रह्म कहते हैं । उसकी उपासना के द्वारा मेरा ज्ञानवैभव उत्पन्न हुआ है; तथा जिसका जन्म समस्त विपक्ष–अन्यवादियों द्वारा ग्रहण किये गये सर्वथा एकान्तरूप नयपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिस्तुष (सुस्पष्ट) निर्बाधयुक्ति के अवलम्बन से है, निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्निमग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव, अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त के प्रसाद से प्राप्त हुए शुद्धात्मतत्त्व के अनुग्रहपूर्वक उपदेश से जिसका जन्म है निरन्तर झरते हुए आस्वाद में आये और सुन्दर आनन्द से मिले हुए प्रचुर ज्ञान स्वरूप आत्मा के स्वसंवेदन से जिसका जन्म है, ऐसा जो कुछ मेरे ज्ञान का वैभव है, उस समस्त वैभव से उस एकत्वविभक्त आत्मा का स्वरूप दिखलाता हूँ । यदि यह दिखलाऊं तो स्वयमेव अपने अनुभव-प्रत्यक्ष से परीक्षा कर प्रमाण मानना । यदि कहीं अक्षर, मात्रा, अलङ्कार, युक्ति आदि प्रकरणों में चूक जाऊं तो छल (दोष) ग्रहण करने में जागरूक न रहना । क्योंकि शास्त्रसमुद्र के प्रकरण बहुत हैं, इस कारण यहां स्वसंवेदन रूप अर्थ प्रधान है । इसलिए अर्थ की परीक्षा करना ।

भावार्थ—आचार्य आगम का सेवन, युक्ति का अवलम्बन, परापर गुरु का उपदेश और स्वसंवेदन इन चार निमित्तों से उत्पन्न हुए अपने ज्ञान के वैभव से एकत्वविभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं । उसे सुनने वाले हे श्रोताओ, अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो । कहीं-किसी प्रकरण में भूलूँ तो छल न मानना । यहाँ अनुभव प्रधान है, इसी से शुद्धस्वरूप का निश्चय करो ॥५॥

आगे ऐसा शुद्ध आत्मा कौन है कि जिसका स्वरूप जानना चाहिये ? ऐसे प्रश्न का उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं—[यः तु] जो [ज्ञायकः भावः] ज्ञायकभाव है वह [अप्रमत्तः अपि] अप्रमत्त

न भवत्येष एवाशेषद्रव्यान्तरभावेभ्यो भिन्नत्वेनोपास्यमानः शुद्ध इत्यभिलप्येत। न चास्य ज्ञेयनिष्ठत्वेन ज्ञायकत्वप्रसिद्धेः दाह्यनिष्कनिष्ठदहनस्येवाशुद्धत्वं यतो हि तस्यामवस्थायां ज्ञायकत्वेन यो ज्ञातः स स्वरूपप्रकाशनदशायां प्रदीपस्येव कर्तृकर्मणोरनन्यत्वात् ज्ञायक एव ॥६॥

पदार्थः शुद्धात्मा। एवं भणंति सुद्धाः शुद्धनयावलम्बिनः तर्हि किं भवति णादा जो सो दु सो चेव ज्ञाता शुद्धात्मा यः कथ्यते स तु स चैव ज्ञातैवेत्यर्थः ॥६॥ इति स्वतन्त्रगाथाषट्केन प्रथमस्थलं गतम्। अथानन्तरं

भी (न) नहीं है और (न प्रमत्तः) न प्रमत्त ही है (एवम्) इस तरह (शुद्धम्) उसे शु॰ (भणन्ति) कहते हैं (च यः) और जिसे (ज्ञातः) ज्ञायकभाव द्वारा जान लिया (सः) वह (एवं तु) वही है, अन्य कोई नहीं।

टीका—जो एक ज्ञायकभाव है, वह अपने आप ही सिद्ध है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ। उस भाव से तो अनादिसत्तारूप है और कभी उस ज्योति का विनाश नहीं होता इसलिए अनन्त है, नित्यउद्योत रूप है इस कारण क्षणिक नहीं है। ऐसी स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है। वह संसार की अवस्था में अनादिबन्धपर्याय की निरूपणा (अपेक्षा) से कर्मरूप पुद्गलद्रव्य सहित, दूध जल की तरह होने पर भी द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय, तब तो जिसका मिटना कठिन है ऐसे कषायों के उदय की विचित्रता से प्रवृत्त हुए पुण्य पाप के उत्पन्न करने वाले समस्त अनेकरूप शुभ अशुभ भाव के स्वभाव से परिणमन नहीं करती। ज्ञायकभाव से जड़ भावरूप नहीं होती। इसलिए प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। यही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप में सेवित हुआ 'शुद्ध' ऐसा कहा जाता है। और इसका ज्ञेयाकार होने से ज्ञायकत्व प्रसिद्ध है। जैसे दाहने योग्य जो दाह्य ईंधन यद्यपि उसके आकार अग्नि होती है इसलिए अग्नि को दहन कहते हैं तो भी अग्नि तो अग्नि ही है, ईंधन अग्नि नहीं है। उसी तरह ज्ञेयरूप आप नहीं है, आप तो ज्ञायक ही है। इस तरह उस ज्ञेय के द्वारा की हुई भी इस आत्मा के अशुद्धता नहीं है, क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में भी ज्ञायकभाव द्वारा जाना गया है अपना ज्ञायकत्व, वही स्वरूप प्रकाशन की—जानने की अवस्था में भी ज्ञायकरूप ही है ज्ञेयरूप नहीं हुआ। क्योंकि अभेदविवक्षा से कर्ता तो आप ज्ञायक और कर्म अपने को जाना—ये दोनों एक आप ही है, अन्य नहीं है। जैसे दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है, उनके प्रकाशने की अवस्था में भी दीपक ही है, वही अपनी ज्योतिरूप लौं के प्रकाशने की अवस्था में भी दीपक ही है, कुछ दूसरा नहीं है।

भावार्थ—अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। वहाँ मूलद्रव्य तो अन्यद्रव्यरूप होता ही नहीं, परद्रव्य के निमित्त से अवस्था कुछ मलिन हो जाती है। उस जगह द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्यायदृष्टि से देखा जाय तब वह मलिन ही दीखता है। उसी तरह आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। उसकी दृष्टि से देखा जाय तब मलिन ही दीखता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय, तब ज्ञायकत्व ही ज्ञायकत्व है, कुछ जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ पर द्रव्यदृष्टि को प्रधान कर कहा

दर्शनज्ञानचारित्रवत्त्वेनास्याशुद्धत्वमिति चेत्—

ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

व्यवहारेणोपदिश्यते ज्ञानिनश्चरित्रं दर्शनं ज्ञानम् ।
नापि ज्ञानं न चरित्रं न दर्शनं ज्ञायकः शुद्धः ॥७॥

आस्तां तावद् बन्धप्रत्ययात् ज्ञायकस्याशुद्धत्वं, दर्शनज्ञानचारित्राण्येव न

यथा प्रमत्तादिगुणस्थानविकल्पा जीवस्य व्यवहारनयेन विद्यन्ते शुद्धद्रव्यार्थिकनिश्चयनयेन न विद्यन्ते तथा

है। जो प्रमत्त अप्रमत्त का भेद है, वह तो परद्रव्य के संयोगजनित पर्याय है। यह अशुद्धता द्रव्य-दृष्टि में गौण है, द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, इसलिये आत्मा ज्ञायक है, इस कारण उसे प्रमत्त अप्रमत्त नहीं कहा जाता। 'ज्ञायक' ऐसा नाम भी ज्ञेय के जानने से कहा जाता है क्योंकि ज्ञेय का प्रतिबिम्ब जब झलकता है तब वैसा ही अनुभव में आता है। सो यह भी अशुद्धता इसके नहीं कही जा सकती क्योंकि जैसे ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ, वैसे ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। यह मैं जानने वाला हूं सो मैं ही हूँ दूसरा कोई नहीं है—ऐसा अपना अपने से अभेदरूप अनुभव हुआ तब उस जानने रूप क्रिया का कर्ता आप ही है और जिसको जाना सो कर्म भी आप ही है। ऐसे एक ज्ञायकत्वमात्र आप शुद्ध है—यह शुद्धनय का विषय है। अन्य पर संयोगजनित भेद हैं, वे सब भेदरूप अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। शुद्धद्रव्य की दृष्टि में यह भी पर्यायार्थिक ही है इसलिये व्यवहारनय ही है—ऐसा आशय जानना। यहाँ ऐसा भी जानना कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है इसलिये शुद्धता और अशुद्धता दोनों वस्तु के धर्म हैं। अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ ही न मानना। जो वस्तु धर्म है, वह वस्तु का सत्त्व है, परद्रव्य के संयोग से ही हुआ भेद है। यहाँ अशुद्धनय को हेय कहा है, उस अशुद्धनय का विषय संसार है। उसमें आत्मा क्लेश भोगता है। जब आत्मा परद्रव्य से विभिन्न हो जाय तब संसार मिटे और तभी क्लेश मिटे। इस तरह दुःख मेटने के लिये शुद्धनय का प्रधान उपदेश है। और अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से ऐसा तो नहीं समझना कि यह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं, आकाश के फूल की तरह असत् है। ऐसे सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व आता है। इसलिये स्याद्वाद का शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन करना चाहिये, स्वरूप की प्राप्ति होने के पश्चात् शुद्धनय का भी अवलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है—वह है यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है, ऐसा निश्चय करना योग्य है। यहाँ पर जो 'प्रमत्त अप्रमत्त नहीं है' ऐसा कहा है, वह गुणस्थान की परिपाटी में छठे गुणस्थान तक तो प्रमत्त कहा जाता है और सातवें से लेकर अप्रमत्त है, सो ये सभी गुणस्थान अशुद्धनय के कथन में हैं, शुद्धनय से आत्मा ज्ञायक ही है ॥ ६ ॥

प्रश्न—क्या आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चरित्र इन तीन भावों से अशुद्धता आ सकती है ?

उत्तर—(ज्ञानिनः) ज्ञानी के (चरित्रं दर्शनं ज्ञानम्) चरित्र, दर्शन, ज्ञान—ये तीन भाव (व्यवहारेण)

विद्यन्ते; यतो ह्यनन्तधर्मण्येकस्मिन् धर्मिण्यनिष्णातस्यान्तेवासिजनस्य तदवबोधविधायिभिः कैश्चिद्धर्मैस्तमनुशासतां सूरीणां धर्मधर्मिणां स्वभावतोऽभेदेऽपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानिनो दर्शनं ज्ञानं चारित्रमित्युपदेशः। परमार्थतस्त्वेकद्रव्यनिष्पीतानन्तपर्यायतयैकं किञ्चिन्मिलितास्वादमभेदमेकस्वभावमनुभवतो न दर्शनं न ज्ञानं न चारित्रं ज्ञायक एवैकः शुद्धः ॥७॥

दर्शनज्ञानचारित्रविकल्पोऽपीत्युपदिशति—ववहारेण सद्भूतव्यवहारनयेन उवदिस्सदि उपदिश्यते कथ्यते। कस्य। णाणिस्स ज्ञानिनो जीवस्य। किम् चरित्तं दंसणं णाणं चारित्रदर्शनज्ञानस्वरूपम् णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं शुद्धनिश्चयनयेन न पुनर्ज्ञानं न चारित्रं न दर्शनम्। तर्हि किमस्तीति चेत्। जाणगो ज्ञायकः शुद्ध चैतन्यस्वभावः। सुद्धो शुद्ध एव रागादिरहित इति। अयमत्रार्थः। यथा निश्चयनयेनाभेदरूपेणाग्निरेक एव पश्चाद्भेदरूपव्यवहारेण दहतीति दाहकः पचतीति पाचकः प्रकाशं करोतीति प्रकाशकः इति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते। तथा जीवोऽपि निश्चयरूपाभेदनयेन शुद्धचैतन्यरूपोऽपि भेदरूपव्यवहारनयेन जानातीति ज्ञानं, पश्यतीति दर्शनं, चरतीति चारित्रमिति व्युत्पत्त्या विषयभेदेन त्रिधा भिद्यते इति ॥७॥

व्यवहार द्वारा [उपदिश्यते] कहे जाते हैं। निश्चयनय से [ज्ञानम् अपि न] ज्ञान भी नहीं है। [चरित्रं न] चारित्र भी नहीं है और [दर्शनं न] दर्शन भी नहीं है। ज्ञानी तो एक [ज्ञायकः] ज्ञायक ही है इसलिये [शुद्धः] शुद्ध कहा गया है।

टीका—इस ज्ञायक आत्मा के बन्धपर्याय के निमित्त से अशुद्धता है, वह तो दूर ही रहो, इसके दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं है। क्योंकि निश्चयनय से अनन्तधर्मा जो एक धर्मी वस्तु, उसको जिसने नहीं जाना ऐसे निकटवर्ती शिष्य जन को उस अनन्तधर्मस्वरूप धर्मी के बतलाने वाले जो कोई धर्म उनके द्वारा शिष्य जनों को उपदेश करते हुए आचार्यो का ऐसा कथन है कि धर्म और धर्मी का यद्यपि स्वभाव से अभेद है तो भी नाम से भेद होने के कारण व्यवहार मात्र से ज्ञानी के दर्शन हैं, ज्ञान है, चारित्र है। परन्तु परमार्थ से देखा जाय तो एक द्रव्य के द्वारा पिये गये अनन्त पर्याय की रूपता से एक-एक मिले हुए अभेद स्वभाव वस्तु को अनुभव करने वाली पण्डित पुरुषों की दृष्टि में दर्शन भी नहीं, ज्ञान भी नहीं और चारित्र भी नहीं, एक ज्ञायक भाव है, वही शुद्ध है।

भावार्थ—इस शुद्ध आत्मा के कर्मबन्ध के निमित्त से अशुद्धता आती है, यह बात तो दूर ही रहे, इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र का भी भेद नहीं है। क्योंकि वस्तु अनन्त धर्मरूप एक धर्मी है। परन्तु व्यवहारी जन धर्मो को ही समझते हैं, धर्मी को नहीं जानते। इसलिये वस्तु के कुछ असाधारण धर्मो को उपदेश में लेकर अभेदरूप वस्तु में भी धर्मो के नामरूप भेद को उत्पन्न करके ऐसा उपदेश करते हैं कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है। अभेद में भेद करने से यह व्यवहार है। परमार्थ से विचारा जाय तो अनन्त पर्यायों को एकद्रव्य अभेदरूप पिये हुए बैठा है, इस कारण भेद नहीं हैं। यहाँ कोई कहे कि पर्याय भी द्रव्य का ही भेद है, अवस्तु तो नहीं है, उसे व्यवहार किस तरह कह सकते हैं? उसका समाधान—यह तो सच है परन्तु यहां द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान मान कर उपदेश है, इसलिये अभेददृष्टि में भेद को गौण करने से ही अभेद अच्छी

तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्य इति चेत् :—

जह णवि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विणा उ गाहेउं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवएसणमसक्कं ॥ ८ ॥

यथा नापि शक्योऽनार्योऽनार्यभाषां विना तु ग्राहयितुम् ।
तथा व्यवहारेण विना परमार्थोपदेशनमशक्यम् ॥८॥

यथा खलु म्लेच्छः स्वस्तीत्यभिहिते सति तथाविधवाच्यवाचकसम्बन्धावबोधबहिष्कृतत्वान्न किञ्चिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमेषोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव तदतद्भाषासम्बन्धैकार्थज्ञेनान्येन तेनैव वा म्लेच्छभाषां समुपादाय स्वस्तिपदस्याविनाशो भवतो भवत्वित्यभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमन्दानन्दमयाश्रुझलज्झलल्लोचनपात्रस्तत्प्रतिपद्यत एव । तथा किल लोकोऽप्यात्मेत्यभिहिते सति यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानबहिष्कृतत्वान्न किञ्चिदपि प्रतिपद्यमानो मेष इवानिमे-

---

अथ यदि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य दर्शनज्ञानचरित्राणि न सन्ति तर्हि परमार्थ एवैको वक्तव्यो न व्यवहार इति चेत्तन्न—जह णवि सक्कं यथा न शक्यः । कोऽसौ । अणज्जो अनार्यो म्लेच्छः । किम् कर्तुम् । गाहेदुं अर्थग्रहणरूपेण सम्बोधयितुम् । कथम् । अणज्जभासं विणा अनार्यभाषा म्लेच्छभाषा तां विना । दृष्टान्तो गतः । इदानीं दार्ष्टान्तिमाह—तह तथा ववहारेण विणा व्यवहारनयेन विना परमत्थुवदेसणमसक्कं

तरह ज्ञात हो सकता है, इस कारण भेद को गौण करके व्यवहार कहा है। यहां ऐसा अभिप्राय है कि भेददृष्टि में निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी के जब तक रागादिक दूर नहीं होते, तब तक विकल्प वना रहता है। इस कारण भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है वहां नयका अवलम्बन ही नहीं रहता ॥ ७ ॥

यदि ऐसा है तो एक परमार्थ का ही उपदेश करना चाहिए। उसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं—[यथा] जैसे [अनार्यः] म्लेच्छ जनों को [अनार्यभाषां विना तु] म्लेच्छ भाषा के विना [ग्राहयितुम्] वस्तु का स्वरूप ग्रहण कराने को [नापि शक्यः] कोई पुरुष समर्थ नहीं हो सकता [तथा] उसी तरह [व्यवहारेण विना] व्यवहार के बिना [परमार्थोपदेशनम्] परमार्थ का उपदेश [अशक्यम्] शक्य नहीं है।

टीका—जैसे किसी म्लेच्छ को देखकर किसी ब्राह्मण ने 'स्वस्ति हो' ऐसा शब्द कहा। वह म्लेच्छ उस शब्द के वाच्यवाचकसम्बन्ध के ज्ञान से शून्य होने से उसका अर्थ कुछ भी नहीं समझता हुआ ब्राह्मण के सामने मेंढ़े की तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहा कि इसने क्या कहा है। तब उस ब्राह्मण की भाषा तथा म्लेच्छ की भाषा—इन दोनों का अर्थ जानने वाले अन्य

षोन्मेषितचक्षुः प्रेक्षत एव । यदा तु स एव व्यवहारपरमार्थपथप्रस्थापितसम्यग्बोधमहारथरथिनान्येन तेनैव वा व्यवहारपथमास्थाय दर्शनज्ञानचारित्राण्यततीत्यात्मेत्यात्मपदस्याभिधेयं प्रतिपाद्यते तदा सद्य एवोद्यदमन्दानन्दान्तःसुन्दरबन्धुरबोधतरङ्गस्तत्प्रतिपद्यत एव । एवं म्लेच्छस्थानीयत्वाज्जगतो व्यवहारनयोऽपि म्लेच्छभाषास्थानीयत्वेन परमार्थप्रतिपादकत्वादुपन्यसनीयोऽथ च ब्राह्मणो न म्लेच्छितव्य इति वचनाद् व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः ॥८॥

परमार्थोपदेशनं कर्तुमशक्यम् इति । अयमत्राभिप्रायः । यथा कश्चित् ब्राह्मणो यतिर्वा म्लेच्छपल्ल्यां गतः तेन नमस्कारे कृते सति ब्राह्मणेन यतिना वा स्वस्तीति भणिते स्वस्त्यर्थमविनश्वरत्वमजानन्सन् निरीक्षते मेष इव । तथाममज्ञानिजनोऽप्यात्मेति भणिते सत्यात्मशब्दस्यार्थमजानन्सन् भ्रान्त्या निरीक्षत एव । यदा पुनर्निश्चयव्यवहारनयज्ञपुरुषेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि जीवशब्दस्यार्थ इति कथ्यते तदा सन्तुष्टो भूत्वा जानातीति । एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयं स्थलं गतम् ॥८॥

किसी पुरुष ने उसे म्लेच्छभाषा में समझाया कि 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ 'तेरा कल्याण हो' ऐसा है। उस समय उत्पन्न हुए अत्यन्त आनन्द के आंसुओं से उस म्लेच्छ के नेत्र भर आये, इस तरह वह म्लेच्छ उस 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ समझ ही लेता है। उसी तरह व्यवहारी जन भी 'आत्मा' ऐसा शब्द कहने से जैसा आत्म शब्द का अर्थ है उस अर्थ के ज्ञान से रहित है। इस कारण आत्मशब्द का अर्थ कुछ भी नहीं समझता हुआ मैंढ़े की तरह टकटकी लगाकर देखता ही रहता है। और जब कोई व्यवहार परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञान रूप महारथ को चलाने वाले सारथी के समान आचार्य या अन्य कोई विद्वान् व्यवहारमार्ग में रहकर 'दर्शन ज्ञान चारित्र रूप जो सदा परिणमन करे, वह आत्मा है' ऐसा आत्मा शब्द का अर्थ कहता है तब उसी समय उत्पन्न हुए अत्यन्त आनन्द वाले हृदय में सुन्दर और ज्ञानरूप तरङ्गों के उछलने से वह उस आत्मशब्द का अर्थ अच्छी तरह समझ जाता है। इस प्रकार यहां जगत् तो म्लेच्छवत् जानना और व्यवहारनय म्लेच्छभाषा के तुल्य जानना। इसलिये व्यवहार को परमार्थ का कहने वाला समझकर उपदेश करने योग्य है। अतः ब्राह्मण को म्लेच्छ योग्य आचरण नहीं करना चाहिये, इस वचन से व्यवहारनय सर्वथा उपादेय नहीं मानना।

भावार्थ—लोक शुद्धनय को तो जानते ही नहीं हैं क्योंकि शुद्धनय का विषय अभेद एकरूप वस्तु है। तथा अशुद्धनय को ही जानते हैं क्योंकि इसका विषय भेदरूप अनेक प्रकार है इसलिये व्यवहार के द्वारा ही शुद्धनयरूप परमार्थ को समझ सकते हैं। इसकारण व्यवहारनय को परमार्थ का कहने वाला जान उसका उपदेश किया जाता है। यहां पर ऐसा न समझना कि व्यवहार का आलम्बन कराते हैं किन्तु व्यवहार का आलम्बन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाते हैं ॥८॥

आगे प्रश्न उत्पन्न होता है कि व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक कैसे है? उसके उत्तर

कथं व्यवहारस्य प्रतिपादकत्वमिति चेत्—

जो हि सुदेणहिगच्छइ अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुयकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पईवयरा ॥ ९ ॥

जो सुयणाणं सव्वं जाणइ सुयकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जह्मा सुयकेवली तह्मा ॥१०॥ (जुम्मं)

यो हि श्रुतेनाभिगच्छति आत्मानमिमं तु केवलं शुद्धम् ।
तं श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकराः ॥९॥

यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति श्रुतकेवलिनं तमाहुर्जिनाः ।
ज्ञानमात्मा सर्वं यस्माच्छ्रुतकेवली तस्मात् ॥१०॥ (युग्मम्),

यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति तावत्परमार्थो यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति तु व्यवहारः । तदत्र सर्वमेव तावत् ज्ञानं निरूप्यमाणं किमात्मा किमनात्मा ? न तावदनात्मा समस्तस्याप्यनात्मनश्चेतनेतरपदार्थपञ्चतयस्य ज्ञानतादात्म्यानुपपत्तेः । ततो गत्यन्तराभावात् ज्ञानामात्मेत्यायात्यतः

अथ पूर्वगाथायां भणितं व्यवहारेण परमार्थो ज्ञायते ततस्तमेवार्थं कथयति—जो यः कर्ता हि स्फुटं सुदेण भावश्रुतेन स्वसंवेदनज्ञानेन निर्विकल्पसमाधिना करणभूतेन अभिगच्छदि अभि समन्ताज्जानात्यनुभवति । कम् । अप्पाणं आत्मानम् इणं इमं प्रत्यक्षीभूतं तु पुन. । किम्विशिष्टम् । केवलम् असहायं सुद्धं रागादिरहितं तं पुरुषं सुयकेवलिं निश्चयश्रुतकेवलिनम् इसिणो परमऋषयः भणंति कथयन्ति लोयप्पदीवयरा लोक-

---

में गाथा सूत्र कहते हैं;—[यः] जो जीव [हि] निश्चय कर [श्रुतेन] श्रुतज्ञान से [तु इमम्] इस अनुभव गोचर [केवलं शुद्धम्] केवल एक शुद्ध [आत्मानम्] आत्मा को [अभिगच्छति] सम्मुख हुआ जानता है [तम्] उसे [लोकप्रदीपकराः] लोक को प्रकाश करने वाले [ऋषयः] ऋषीश्वर [श्रुतकेवलिनम्] श्रुतकेवली [भणन्ति] कहते हैं। [यः] जो जीव [सर्वम्] सब [श्रुतज्ञानम्] श्रुतज्ञान को [जानाति] जानता है [तम्] उसे [जिनाः] जिनदेव [श्रुतकेवलिनम्] श्रुत केवली [आहुः] कहते हैं [यस्मात्] क्योंकि [सर्वम् ज्ञानम्] सब ज्ञान [आत्मा] आत्मा ही है। [तस्मात्] इस कारण आत्मा को ही जानने से [श्रुतकेवली] श्रुतकेवली कहा जा सकता है।

टीका—जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है, यह तो परमार्थ है, और जो सब श्रुतज्ञान को जानता है वह श्रुतकेवली है यह व्यवहार है। यहां पर दो पक्ष लेकर परीक्षा करते हैं—यहां निरूपण किया जाने वाला सब ही ज्ञान आत्मा है कि अनात्मा ? उसमें से अनात्मा का पक्ष तो ठीक नहीं है, क्योंकि जड़-रूप अनात्मा आकाशादि पांच द्रव्य हैं

श्रुतज्ञानमप्यात्मैव स्यात् । एवं सति य आत्मानं जानाति स श्रुतकेवलीत्यायाति स तु परमार्थ एव । एवं ज्ञानज्ञानिनौ भेदेन व्यपदिशता व्यवहारेणापि परमार्थमात्रमेव प्रतिपाद्यते न किञ्चिदप्यतिरिक्तम् । अथ च यः श्रुतेन केवलं शुद्धमात्मानं जानाति स श्रुतकेवलीति परमार्थस्य प्रतिपादयितुमशक्यत्वाद्यः श्रुतज्ञानं सर्वं जानाति स श्रुतकेवलीति व्यवहारः परमार्थप्रतिपादकत्वेनात्मानं प्रतिष्ठापयति ॥ ९ ॥ १० ॥

कुतो व्यवहारनयो नानुसर्त्तव्य इति चेत् ?—

ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥११॥

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनयः ।
भूतार्थमाश्रितः खलु सम्यग्दृष्टिर्भवति जीवः ॥११॥

प्रदीपकराः लोकप्रकाशका इति । अनया गाथया निश्चयश्रुतकेवलिलक्षणमुक्तम् । अथ 'सुदणाण' मित्यादि— जो यः कर्ता सुदणाणं द्वादशाङ्ग द्रव्यश्रुतं सव्वं सर्वं परिपूर्णं जाणदि जानाति सुदकेवलि व्यवहारश्रुतकेवलिनं तमाहु जिणा तं पुरुषम् आहुः ब्रुवन्ति । के ते । जिनाः सर्वज्ञाः । कस्मादिति चेत् । जह्मा यस्मात्कार-

उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य नहीं है। इसलिए अन्यपक्ष का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है ऐसा पक्ष सिद्ध हुआ। श्रुतज्ञान भी आत्मा ही है ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि जो आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है और वही परमार्थ है। इस तरह ज्ञान और ज्ञानी को भेद से कहने वाले व्यवहार से भी परमार्थमात्र ही कहा जाता है, उससे अधिक कुछ भी नहीं। अथवा जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानता है वह श्रुतकेवली है; इस परमार्थ का (निश्चयनय के द्वारा) कहना अशक्य है, इसलिए जो समस्त श्रुतज्ञान को जानता है, वह श्रुतकेवली है। ऐसा व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक होने के कारण अपने को प्रतिष्ठित कराता है।

भावार्थ—जो शास्त्रज्ञान से अभेदरूप ज्ञायकमात्र शुद्धआत्मा को जानता है, वह श्रुतकेवली है यह तो परमार्थ कथन है और वही सब शास्त्रज्ञान को जानता है। ज्ञान आत्मा है ऐसा जिसने ज्ञान को जाना उसने आत्मा को ही जाना यही परमार्थ है। इस प्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद कहने वाले व्यवहार ने भी परमार्थ ही कहा, अन्य कुछ नहीं कहा। यहां ऐसा है कि परमार्थ का विषय तो कथञ्चित् वचनगोचर नहीं भी है; इसलिए व्यवहारनय अपनी आवश्यकता को सिद्ध करता है ॥९-१०॥

आगे फिर प्रश्न उठता है कि—पूर्व में कहा था कि व्यवहार को अङ्गीकार नहीं करना। परन्तु जब यह परमार्थ का कहने वाला है तो ऐसे व्यवहार को क्यों नहीं अङ्गीकार करना चाहिये? इसके उत्तर में गाथासूत्र कहते हैं—[व्यवहारः] व्यवहारनय [अभूतार्थः] अभूतार्थ है [तु] और [शुद्धनयः] शुद्धनय [भूतार्थः] भूतार्थ है ऐसा [दर्शितः] ऋषीश्वरों ने दिखलाया है [जीवः] जो जीव [भूतार्थम्] भूतार्थ के [आश्रितः] आश्रित है वह जीव [खलु] निश्चयकर [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [भवति] है।

व्यवहारनयो हि सर्व एवाभूतार्थत्वादभूतमर्थं प्रद्योतयति। शुद्धनय एक एव भूतार्थत्वाद् भूतमर्थं प्रद्योतयति। तथाहि। यथा प्रबलपङ्कसंवलनतिरोहितसहजैकाच्छभावस्य पयसोऽनुभवितारः पुरुषाः पङ्कपयसोर्विवेकमकुर्वन्तो बहवोऽनच्छमेव तदनुभवन्ति। केचित्तु स्वकरविकीर्णकतकनिपातमात्रोपजनितपङ्कपयसोर्विवेकतया स्वपुरुषा[1]कारविर्भावितसहजैकाच्छभावत्वादच्छमेव तदनुभवन्ति। तथा प्रबलकर्मसंवलनतिरोहितसहजैकज्ञायकस्यात्मनोऽनुभवितारः पुरुषा आत्मकर्मणोर्विवेकमकुर्वन्तो व्यवहारविमोहितहृदयाः प्रद्योतमानभाववैश्वरूप्यं तमनुभवन्ति भूतार्थदर्शिनस्तु स्वमति-

---

णात् सुदणाणं द्रव्यश्रुताधारेणोत्पन्नं भावश्रुतज्ञानम् आदा आत्मा भवति। कथम्भूतं सव्वं सर्वमात्मसंवित्तिविषयं परपरिच्छित्तिविषय वा तह्मा तस्मात्कारणात् सुदकेवली द्रव्यश्रुतकेवली स भवतीति। अयमत्रार्थः यो भावश्रुतरूपेण स्वसम्वेदनज्ञानबलेन शुद्धात्मानं जानाति स निश्चयश्रुतकेवली भवति। यस्तु स्वशुद्धात्मानं न संवेदयति न भावयति वहिर्विषयं द्रव्यश्रुतार्थं जानाति स व्यवहारश्रुतकेवली भवतीति। ननु तर्हि स्वसंवेदनज्ञानबलेनास्मिन् कालेऽपि श्रुतकेवली भवति? तन्न यादृशं पूर्वपुरुषाणां शुक्लध्यानरूपं स्वसंवेदनज्ञानं तादृशमिदानीं नास्ति किन्तु धर्म्यध्यानं योग्यमस्तीत्यर्थः। एवं निश्चयव्यवहारश्रुतकेवलिव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन तृतीयस्थलं गतम् ॥९-१०॥ अथ गाथायाः पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामुत्तरार्द्धेनाभेदरत्नत्रयभावनां च प्रतिपादयति—

णाणह्मि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥

ज्ञाने भावना खलु कर्तव्या दर्शने चारित्रे च।
तानि पुनस्त्रीण्यपि आत्मा तस्मात् कुरु भावनामात्मनि ॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रये भावनां खलु स्फुटं कर्तव्या भवति। तानि पुनस्त्रीण्यपि निश्चयेनात्मैव यतः कारणात् तस्मात् कुरु भावनां शुद्धात्मनीति। अथ भेदाभेदरत्नत्रयभावनाफलं दर्शयति—

जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्व-दुक्ख-मोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

टीका—समस्त व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अविद्यमान-असत्य-अभूतार्थ को प्रकट करता है और केवल शुद्धनय ही भूतार्थ होने के कारण विद्यमान-सत्य-भूत अर्थ को प्रकट करता है। ऐसे प्रबल कीचड़ के मिलने से जिसका निर्मल स्वभाव आच्छादित हो गया है, ऐसे जल के अनुभव करने वाले बहुत से पुरुष तो ऐसे हैं कि जल और कीचड़ का भेद न करके उस मैले जल का ही अनुभव करते हैं और कोई जीव अपने हाथ से निर्मली औषधि डालकर कर्दम और जल को भिन्न-भिन्न करने से जिसमें अपना पुरुषाकार दिखलाई दे ऐसे स्वाभाविक निर्मल स्वभावरूप जल को पीने का ही अनुभव करते हैं। उसी प्रकार प्रबल कर्म के संयोग होने से जिसका स्वाभाविक एक ज्ञायक भाव आच्छादित हो गया है ऐसे आत्मा के अनुभव करने वाले जो पुरुष हैं वे आत्मा और

---

१. पुरुषकार इत्यपि पाठः

निपातितशुद्धनयानुबोधमात्रोपजनितात्मकर्मविवेकतया स्वपुरुषाकाराविर्भावितसहजैकज्ञायकस्वभावत्वात् प्रद्योतमानैकज्ञायकभावं तमनुभवन्ति । तदत्र ये भूतार्थमाश्रयन्ति त एव सम्यक् पश्यन्तः सम्यग्दृष्टयो भवन्ति न पुनरन्ये कतकस्थानीयत्वाच्छुद्धनयस्यातः प्रत्यगात्मदर्शिभिर्व्यवहारनयो नानुसर्तव्यः। अथ च केषाञ्चित्कदाचित्सोऽपि प्रयोजनवाध् । यतः—

यः आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः मुनिः समाचरति ।
सः सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ।।

यः कर्ता आत्मभावनामिमां नित्योद्यतः सन् मुनिस्तपोधनः समाचरति सम्यगाचरति भावयति स सर्वदुःखमोक्षं प्राप्नोत्यचिरेण स्तोककालेनेत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररत्नत्रयभावनाभावनाफलव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयेन चतुर्थस्थलं गतम् । अथ यथा कोऽपि ब्राह्मणादिविशिष्टो जनो म्लेच्छप्रतिबोधनकाले एव म्लेच्छभाषां ब्रूते न च शेषकाले तथैव ज्ञानी पुनरप्यज्ञानिप्रतिबोधनकाले व्यवहारमाश्रयति न च शेषकाले । कस्मादभूतार्थत्वादिति प्रकाशयति;—ववहारो व्यवहारनयः अभूदत्थो अभूतार्थः असत्यार्थो भवति भूदत्थो भूतार्थः सत्यार्थः देसिदो देशितः कथितः दु पुनः कोऽसौ सुद्धणओ शुद्धनयः निश्चयनयः । तर्हि केन नयेन सम्यग्दृष्टिर्भवतीति चेत् । भूदत्थं भूतार्थं सत्यार्थं निश्चयनयम् अस्सिदो आश्रितो गतः स्थितः खलु स्फुटं सम्माइट्ठी हवदि जीवो सम्यग्दृष्टिर्भवति जीव इति टीकाव्याख्यानम् द्वितीयव्याख्यानेन पुनः ववहारो अभूदत्थो व्यवहारोऽभूतार्थो भूदत्थो भूतार्थश्च देसिदो देशितः कथितः न केवलं व्यवहारो देशितः सुद्धणओ शुद्धनिश्चयनयोऽपि । दु शब्दादयं शुद्धनिश्चयनयोऽपीति व्याख्यानेन भूताभूतार्थभेदेन व्यवहारोऽपि द्विधा, शुद्धनिश्चयाशुद्धनिश्चयभेदेन निश्चयनयोऽपि द्विधा इति नयचतुष्टयम् इदमत्र तात्पर्यं यथा कोऽपि ग्राम्यजनः सकर्दमं नीरं पिबति, नागरिकः पुनः विवेकी

कर्म का भेद न करके व्यवहार में विमोहित चित्त हुए, जिसके भावों का अनेकरूपपना प्रकट है, ऐसे अशुद्ध आत्मा का ही अनुभव करते हैं और शुद्धनय के देखने वाले जीव अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के अनुसार ज्ञानमात्र से उत्पन्न हुए आत्मा और कर्म की विवेक-बुद्धि से अपने पुरुषाकार रूप स्वरूप से प्रकट हुए स्वाभाविक एक ज्ञायकभावपने से जिसमें एक ज्ञायकभाव प्रकाशमान है ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करते हैं। इसलिए जो पुरुष शुद्धनय का आश्रय करते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि हैं और दूसरे जो अशुद्धनय का सर्वथा आश्रय करते हैं वे सम्यग्दृष्टि नहीं हैं। यहां शुद्धनय निर्मली द्रव्य के समान जानना, इस कारण कर्म से भिन्न आत्मा को जो देखना चाहते हैं उन्हें व्यवहारनय अङ्गीकार नहीं करना चाहिये।

भावार्थ—यहां व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ-सत्यार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो—असत्यार्थ हो उसे अभूतार्थ कहते हैं। उसका अभिप्राय ऐसा है कि शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्यद्रव्य है इसकी दृष्टि में भेद नहीं दीखता। इसलिये इसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान-असत्यार्थ ही कहना चाहिये। ऐसा न समझना कि भेदरूप कुछ वस्तु ही नहीं है। यदि ऐसा माना जावे तो जैसे वेदान्त मतवाले भेदरूप अनित्य को देख अवस्तु-मायास्वरूप कहते हैं और सर्वव्यापक एक अभेद नित्य शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, वैसा हो जायगा। इससे

सुद्धो सुद्धादेसो णायव्वो परमभावदरिसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ॥१२॥

शुद्धः शुद्धादेशो ज्ञातव्यः परमभावदर्शिभिः ।
व्यवहारदेशिताः पुनर्ये त्वपरमे स्थिता भावे ॥१२॥

ये खलु पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयं परमं भावमनुभवन्ति, तेषां प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरानुभवस्थानीयापरमभावानुभवनशून्यत्वाच्छुद्धद्रव्यादेशितया समुद्योतितास्खलितैकस्वभावैकभावः शुद्धनय[1] एवोपरितनैक-

---

जनः कतकफलं निक्षिप्य निर्मलोदकं पिबति । तथा स्वसंवेदनरूपभेदभावनाशून्यजनो मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणामसहितमात्मानमनुभवति, सद्दृष्टिजनः पुनरभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिबलेन फलस्थानीयं निश्चयनयमाश्रित्य शुद्धात्मानमनुभवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥ अथ पूर्वगाथायां भणितं भूतार्थनयमाश्रितो जीवः सम्यग्दृष्टिर्भवति । अत्र तु न केवलं भूतार्थो निश्चयनयो निर्विकल्पसमाधिरतानां प्रयोजनवान् भवति । किन्तु निर्विकल्पसमाधिरहितानां पुनः षोडशवर्णिकासुवर्णलाभाभावे अधस्तनवर्णिकासुवर्णलाभवत्केषाञ्चित्प्राथमिकानां कदाचित् सविकल्पावस्थायां मिथ्यात्वविषयकषायदुर्ध्यानवञ्चनार्थं व्यवहारनयोऽपि प्रयोजनवान् भवतीति

सर्वथा एकान्त शुद्धनय की पक्षरूप मिथ्यादृष्टि का ही प्रसङ्ग आ जायगा। इस कारण यहाँ ऐसा समझना कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है, प्रयोजन के वश से नयको मुख्यगौण करके कहती है। भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो प्राणियों को अनादिकाल से ही है और उसका उपदेश भी बहुधा सभी परस्पर करते हैं, किन्तु जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश शुद्धनय का सहायक जानकर किया है। परन्तु उसका फल संसार ही है। और शुद्धनय का पक्ष इस जीव ने कभी नहीं ग्रहण किया तथा उसका उपदेश भी कहीं-कहीं है इसलिये उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर इसी का उपदेश मुख्यता से दिया है, कि शुद्धनय भूतार्थ है—सत्यार्थ है, इसी को आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि हो सकता है, इसके जाने विना व्यवहार में जब तक मग्न है तब तक आत्मा का ज्ञान श्रद्धान रूप निश्चय सम्यक्त्व नहीं हो सकता—ऐसा जानना ॥११॥

आगे कहते हैं कि यह व्यवहारनय भी किसी-किसी को, किसी काल में प्रयोजनवान् है, सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है, इसलिये इसका उपदेश है :—(**परमभावदर्शिभिः**) जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान् हुए तथा पूर्ण ज्ञान चारित्रवान् हो गये उनको तो (**शुद्धादेशः**) शुद्धनय का उपदेश करने वाला (**शुद्धः**) शुद्धनय (**ज्ञातव्यः**) जानने योग्य है। यहां शुद्ध आत्मा का प्रकरण है इसलिये शुद्ध, नित्य, एक, ज्ञायकमात्र आत्मा जाना। (**पुनः**) और (**ये तु**) जो जीव (**अपरमे भावे**) अपरमभाव अर्थात् श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र के पूर्ण भाव को नहीं पहुँच सके, तथा साधक अवस्था में ही (**स्थिताः**) ठहरे हुए हैं वे (**व्यवहारदेशिताः**) व्यवहारद्वारा उपदेश करने योग्य हैं।

---

१. प्राचीन प्रतियों में उपरितनैक पाठ मिला है, किन्तु पं० जयचन्द्र जी को उपरतानेक पाठ मिला था जिसका अर्थ दूर हुए अनेक वर्णो वाला है।

प्रतिवर्णिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानः प्रयोजनवान्। ये तु प्रथमद्वितीयाद्यनेकपाकपरम्परापच्यमानकार्त्तस्वरस्थानीयमपरमं भावमनु भवन्ति तेषां पर्यन्तपाकोत्तीर्णजात्य-

---

प्रतिपाययति सुद्धादेसो शुद्धद्रव्यस्यादेशः कथनं यत्र स भवति शुद्धादेशः। णादव्वो ज्ञातव्यो भावयितव्यः। कैः। परमभावदरसीहिं शुद्धात्मभावदर्शिभिः। कस्मादिति चेत्। यतः षोडशवर्णिकाकार्त्तस्वरलाभवदभेदरत्नत्र-

---

टीका—जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सोने के समान वस्तु के उत्कृष्ट असाधारण भावों का अनुभव करते हैं उनको प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध सुवर्ण के समान अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव नहीं होता। इस कारण शुद्धद्रव्य के ही कहने वाले होने से जिसने अचलित अखण्ड एकस्वभावरूप एकभाव प्रकट किया है ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्णावस्था के समान जाना हुआ प्रयोजनवान् है। और जो पुरुष प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान उस अशुद्ध सुवर्ण के समान वस्तु के अनुत्कृष्ट मध्यम भाव का अनुभव करते हैं उनको अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध सुवर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्ट भाव का अनुभव न होने से उस काल में जाना हुआ व्यवहारनय ही प्रयोजनवान् है। क्योंकि व्यवहारनय अशुद्ध द्रव्य के कहने से भिन्न-भिन्न एक भाव स्वरूप अनेक भाव दिखलाता है तथा जो विचित्र अनेक वर्णमाला के समान है। इस तरह अपने-अपने समय में दोनों ही नय कार्यकारी हैं क्योंकि तीर्थ और तीर्थ के फल की ऐसी ही व्यवस्थिति है। (जिससे तरा जावे वह तीर्थ है ऐसा तो व्यवहार धर्म है और जो पार होना है वह व्यवहार धर्म का फल है अथवा अपने स्वरूप का पाना वह तीर्थ-फल है)। ऐसा ही दूसरी जगह भी 'जो जिणमयं इत्यादि गाथा में कहा है। अर्थ—यदि तुम जैनधर्म का प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय इन दोनों नयों को मत छोड़ो क्योंकि एक—व्यवहार नय के विना तो तीर्थ—व्यवहार मार्ग का नाश हो जायगा और दूसरे-निश्चय के विना तत्त्व (वस्तु) का नाश हो जायगा।

भावार्थ—लोक में सोने के सोलह ताव प्रसिद्ध हैं उनमें पन्द्रह ताव तक चूरी आदि परसंयोग की कालिमा रहती है तब तक उसे अशुद्ध कहते है और फिर ताव देते-देते जब अन्तिम ताव से उतरे, तब सोलहवान शुद्ध सुवर्ण कहलाता है। जिन जीवों को सोलहवान के सोने का ज्ञान, श्रद्धान तथा उसकी प्राप्ति हो चुकी है उनको पन्द्रहवान तक का सोना कुछ प्रयोजनीय नहीं है। और जिनको सोलहवान् के शुद्ध सुवर्ण की प्राप्ति जब तक नहीं हुई तब तक पंद्रहवान तक का भी प्रयोजनीय है। उसी तरह यह जीव पदार्थ है वह पुद्गल के संयोग से अशुद्ध अनेकरूप हो रहा है, उसका सब परद्रव्यों से भिन्न एक ज्ञायकतामात्र का जिनको ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण रूप प्राप्ति हो गई है उनको तो पुद्गल संयोगजनित अनेकरूपता को कहने वाला अशुद्धनय कुछ प्रयोजनवान् नहीं है, और जबतक शुद्धभाव की प्राप्ति नहीं हुई है तब तक जितना अशुद्ध नय का कथन है उतना यथापदवी प्रयोजनवान् है। जबतक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्ति रूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति न हुई हो तब तक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है ऐसे जिनवचनों का सुनना, धारण करना तथा जिनवचन के कहने वाले श्रीजिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब का दर्शन इत्यादि

कार्त्तस्वरस्थानीयपरमभावानुभवनशून्यत्वादशुद्धद्रव्यादेशितयोपदर्शितप्रतिविशिष्टैक - भावानेकभावो व्यवहारनयो विचित्रवर्णमालिकास्थानीयत्वात्परिज्ञायमानस्तदात्वे प्रयोजनवान्, तीर्थतीर्थफलयोरित्थमेव व्यवस्थितत्वात् ॥ १२ ॥ उक्तंच—जइ जिण-मयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के, जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चैरनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥४॥

यस्वरूपसमाधिकाले सप्रयोजनो भवति । निःप्रयोजनो न भवतीत्यर्थः ववहारदेसिदो व्यवहारेण विकल्पेन भेदेन पर्यायेण देशितः कथित इति व्यवहारदेशितो व्यवहारनयः पुण पुनः अधस्तनवर्णिकसुवर्णलाभवत्प्रयोजनवान्

व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान् है । और जिसके श्रद्धान और ज्ञान तो हुआ पर साक्षात्प्राप्ति न हुई तब तक पूर्वकथित कार्य, पर द्रव्य का आलम्बन छोड़ने रूप अणुव्रत और महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठी के ध्यान रूप प्रवर्तन तथा उसी प्रकार प्रवर्तन करने वालों की सङ्गति करना और विशेष जानने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में आप प्रवर्तन करना तथा अन्य को प्रवृत्त करना इत्यादि व्यवहारनय का उपदेश अङ्गीकार करना प्रयोजनवान् है । व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है; यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जान कर छोड़ दे तो शुभोपयोग रूप व्यवहार छोड़ दे और चूँकि शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई इसलिये उल्टा अशुभोपयोग में ही आकर भ्रष्ट हुआ यथाकथञ्चित् स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तब नरकादिगति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा । इस कारण साक्षात् शुद्धनय का विषय जो शुद्ध आत्मा है, उसकी प्राप्ति जबतक न हो तब तक व्यवहार भी प्रयोजनवान् है । ऐसा स्याद्वादमत में श्रीगुरुओं का उपदेश है ।

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य टीकाकार कहते हैं—"उभय"—इत्यदि । अर्थ—निश्चय व्यवहार रूप जो दो नय उनमें विषय के भेद से परस्पर से विरोध है । उस विरोध को दूर करने वाले स्यात्पद से चिह्नित जिनेन्द्र भगवान् के वचन में जो पुरुष रमण करते हैं—प्रचुर प्रीतिसहित अभ्यास करते हैं, वे पुरुष विना कारण अपने आप मिथ्यात्व-कर्म के उदय का वमन कर इस अतिशयरूप परमज्योति प्रकाशमान शुद्धआत्मा का शीघ्र ही अवलोकन करते हैं । यह समयसार रूप शुद्ध आत्मा नवीन नहीं उत्पन्न हुआ—पूर्व से ही कर्म से आच्छादित था, वह प्रकट—व्यक्त हो गया है । तथा वह सर्वथा एकान्तरूप कुनय के पक्ष से खण्डित नहीं होता—निर्बाध है ।

भावार्थ—जिनवचन स्याद्वादरूप हैं, जहां दो नयों के विषय का विरोध है, जैसे जो सद्रूप है वह असद्रूप नहीं होता, एक है वह अनेक नहीं होता, नित्य है वह अनित्य नहीं होता, भेदरूप है वह अभेदरूप नहीं होता, शुद्ध है वह अशुद्ध नहीं होता इत्यादि नयों के विषयों में विरोध है, वहां जिनवचन कथञ्चित् विवक्षा से सत्-असद्रूप, एक-अनेकरूप, नित्य-अनित्यरूप, भेद-अभेदरूप

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किञ्चित् ।।५।।

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।।
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्मायमेकोऽस्तु नः ।।६।।

भवति । केषाम् ? जे ये पुरुषाः दु पुनः अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्य-

---

शुद्ध-अशुद्धरूप जिस प्रकार विद्यमान वस्तु है, उसी प्रकार कहकर विरोध मिटा देता है, झूठी कल्पना नहीं करता । इसलिये द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक दोनों नयों में प्रयोजन के वश शुद्ध द्रव्यार्थिक को मुख्यकर निश्चयनय कहता है और अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप पर्यायार्थिक को गौणकर व्यवहारनय कहता है । इस प्रकार जिनवचन में जो पुरुष रमण करते हैं, वे इस शुद्ध आत्मा को यथार्थ पाते हैं, अन्य सर्वथा एकान्ती सांख्यादिक नहीं पाते । क्योंकि वस्तु सर्वथा एकान्तपक्ष का विषय नहीं है तो भी वे एक धर्ममात्र को ही ग्रहण कर वस्तु की असत्य कल्पना करते हैं। वह असत्यार्थ ही है, बाधासहित मिथ्यादृष्टि है ऐसा जानना । इस प्रकार बारह गाथाओं में पीठबन्ध (भूमिका) है ।

आगे आचार्य शुद्धनय को प्रधानकर निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं क्योंकि अशुद्धनय (व्यवहारनय) की प्रधानता में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है । उसी स्थान पर उन जीवादिकों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है ऐसा कहते हैं । वहां टीकाकार उसकी सूचनिका रूप तीन श्लोक कहते हैं उनमें से प्रथम श्लोक में यह कथन है कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान् कहा है तो भी यह कुछ वस्तुभूत नहीं है । "व्यवहरण" इत्यादि । **अर्थ**—व्यवहारनय को यद्यपि इस प्रथम पदवी में (जबतक शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति न हुई हो तबतक) जिन्होंने अपना पैर रखा है ऐसे पुरुषों के लिये हस्तावलम्बन तुल्य कहा है तो भी जो पुरुष चैतन्य-चमत्कारमात्र, परद्रव्यभावों से रहित परमअर्थ (शुद्धनय का विषयभूत) को अन्तरङ्ग में अवलोकन करते हैं, उसका श्रद्धान करते हैं तथा उस स्वरूप में लीनतारूप चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं, उनके लिये यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान् नहीं है ।

भावार्थ—शुद्धस्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान तथा आचरण होने के पश्चात् अशुद्धनय कुछ भी प्रयोजनभूत नहीं है ।

अब आगे के श्लोक में निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं—"एकत्वे" इत्यादि । **अर्थ**—जो इस आत्मा को अन्य द्रव्यों से भिन्न देखना, श्रद्धान करना वही नियम से सम्यग्दर्शन है । क्योंकि आत्मा अपने गुणपर्यायों में व्यापक है; शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है । पूर्ण ज्ञानघन है और जितना यह सम्यग्दर्शन है उतना ही आत्मा है । इसलिये आचार्य प्रेरणा करते हैं कि इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़ कर यह आत्मा ही हमें प्राप्त होवे ।

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेऽपि यदेकत्वं न मुञ्चति ॥७॥

न्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिताः, कस्मिन् स्थिताः । भावे जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थः ॥१२॥ एवं निश्चयव्यवहारनयव्याख्यानप्रतिपादनरूपेण गाथाद्वयेन पञ्चमं

भावार्थ—अपनी सभी स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अवस्थारूप गुणपर्यायभेद में व्याप्त रहने वाला यह आत्मा शुद्धनय के द्वारा एकत्व मे निश्चित किया गया है—शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक आकार दिखलाया उसको सब अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से पृथक् देखना और श्रद्धान करना वह नियम से सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय जहां आत्मा को अनेकभेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेकभेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। किन्तु शुद्धनय की सीमा में पहुँचते ही व्यभिचार नहीं रहता इसलिए नियमरूप है। क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्णज्ञानघन है सब लोकालोक का जानने वाला ज्ञानस्वरूप है ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है वह कुछ आत्मा से भिन्न पदार्थ नहीं है, आत्मा का ही परिणाम है। इसलिए आत्मा ही है। इस कारण जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा है, अन्य नहीं है। यहाँ पर इतना और जानना कि नय श्रुतप्रमाण के अंश हैं इसलिए शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण है वह परोक्ष प्रमाण है क्योंकि वस्तु आगम से जानी जाती है। यह शुद्धनय भी सब द्रव्यों से भिन्न आत्मा की सब पर्यायों में व्याप्त पूर्णचैतन्य केवलज्ञानरूप सब लोकालोक के जानने वाले असाधारण चैतन्य धर्म को दिखलाता है, उसको यह व्यवहारी छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) जीव आगम को प्रमाण मानकर पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे, वही श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जब तक व्यवहार नय के विषयभूत जीवादिक भेदरूप तत्त्वों का केवल श्रद्धान रहता है, तब तक निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य कहते हैं कि इन तत्त्वों की सन्तति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक यह आत्मा ही हमको प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कुछ नयपक्ष नहीं है। सर्वथा नयों का पक्षपात ही मिथ्यात्व है। प्रश्न—अनुभव में चैतन्यमात्र आप इतना ही आत्मा को मानकर श्रद्धान करे तो सम्यग्दर्शन है कि नहीं ? समाधान—चैतन्य-मात्र तो नास्तिक के अतिरिक्त सभी मतवाले आत्मा को मानते हैं, यदि इतने ही श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा जाय तो सभी के सम्यक्त्व सिद्ध हो जायगा। इसलिए सर्वज्ञ की वाणी में जैसा पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा श्रद्धान होने से निश्चय सम्यक्त्व होता है। 'अतः' इत्यादि।

अर्थ—इसके बाद शुद्धनय के आधीन आत्मज्योति प्रगट होती है। नवतत्त्व में प्राप्त होने पर भी जो अपने एकत्व को नहीं छोड़ती।

भावार्थ—नवतत्त्व में प्राप्त हुआ आत्मा अनेकरूप दीखता है। वास्तव में यदि इसका भिन्न स्वरूप विचारा जाय तो यह अपनी चैतन्यचमत्कारमात्र ज्योति को नहीं छोड़ता ॥१२॥

शुद्धनय से जानना ही सम्यक्त्व है, ऐसा सूत्रकार गाथा में कहते हैं:—[भूतार्थेन अभिगताः] भूतार्थनय से जाने हुए [जीवाजीवौ] जीव, अजीव [च] और [पुण्यपापं] पुण्य, पाप [च] तथा

भूयत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥ १३ ॥

भूतार्थेनाभिगता जीवाजीवौ च पुण्यपापं च ।
आस्रवसंवरनिर्जरा बन्धो मोक्षश्च सम्यक्त्वम् ॥१३॥

अमूनि हि जीवादीनि नवतत्त्वानि भूतार्थेनाभिगतानि सम्यग्दर्शनं सम्पद्यन्त एवामीषु तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तमभूतार्थनयेन व्यपदिश्यमानेषु जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणेषु नवतत्त्वेष्वेकत्वद्योतिना भूतार्थनयेकत्वमुपानीय शुद्धनयत्वेन व्यवस्थापितस्यात्मनोऽनुभूतेरात्मख्यातिलक्षणायाः सम्पद्यमानत्वात् । तत्र विकार्यविकारकोभयं पुण्यं तथा पापम् आस्राव्यास्रावकोभयमास्रवः, संवार्यसंवारकोभयं संवरः, निर्जर्यनिर्जरकोभयं निर्जरा, बन्ध्यबन्ध्यकोभयं बन्धः, मोच्यमोचकोभयं मोक्षः । स्वयमेकस्य पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षानुपपत्तेः । तदुभयं च जीवाजीवाविति । बहिर्दृष्ट्या नवतत्त्वान्यमूनि जीवपुद्गलयोरनादिबन्धपर्यायमुपेत्यैकत्वेनानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ चैकजीवद्रव्यस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूता-

---

स्थलं गतं । इति चतुर्दशगाथाभिः स्थलपञ्चकेन पीठिका समाप्ता । अथ कश्चिदासन्नभव्यः पीठिकाव्याख्यानमात्रेणैव हेयोपादेयतत्त्वं परिज्ञाय विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं निजस्वरूपं भावयति । विस्तररुचिः पुनर्नवभिरधिकारैः समयसारं ज्ञात्वा पश्चाद्भावनां करोति । तद्यथा—विस्तररुचिशिष्यं प्रति जीवादिनवपदार्थाधिकारैः समयसारव्याख्यानं क्रियते । तत्रादौ नवपदार्थाधिकारगाथाया आर्त्तरौद्रपरित्यागलक्षणनिर्विकल्पसामायिकस्थितानां यच्छुद्धात्मरूपस्य दर्शनमनुभवनमवलोकनमुपलब्धिः संवित्तिः प्रतीतिः ख्यातिरनुभूतिस्तदेव निश्चयनयेन निश्चयचारित्राविनाभावि निश्चयसम्यक्त्वं वीतरागसम्यक्त्वं भण्यते । तदेव च गुणगुण्यभेदरूपनिश्चयनयेन शुद्धात्मस्वरूपं भवतीत्येका पातनिका अथवा नवपदार्था भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तस्त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वाद् व्यवहारसम्यक्त्वानि भवन्ति, निश्चयनयेन तु स्वकीयशुद्धपरिणाम एव सम्यक्त्वमिति द्वितीया चेति पातनिकाद्वयं मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्ररूपयति—

[आस्रवसंवरनिर्जराः] आस्रव, संवर, निर्जरा [बन्धः] बन्ध [च] और [मोक्षः] मोक्ष [सम्यक्त्वम्] ये नवतत्त्व सम्यक्त्व हैं ।

टीका—जो जीवादि नौ तत्त्व हैं वे भूतार्थ नय से जाने हुए सम्यग्दर्शन ही हैं यह नियम कहा, क्योंकि जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष लक्षण वाले व्यवहार धर्म की प्रवृत्ति के अर्थ ये जीवादि नवतत्त्व अभूतार्थ (व्यवहार) नय से कहे हुए हैं, उनमें एकत्व प्रगट करने वाले भूतार्थ नय से एकत्व प्राप्त कर शुद्धनय से स्थापन किए गए आत्मा की

र्थानि । ततोऽमीषु नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । तथान्तर्दृष्ट्या ज्ञायको भावो जीवो जीवस्य विकारहेतुरजीवः । केवल जीवविकाराश्च पुण्यपापास्रव-संवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणाः, केवलाजीवविकारहेतवः पुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्ध-मोक्षा इति । नवतत्त्वान्यमून्यपि जीवद्रव्यस्वभावमपोह्य स्वपरप्रत्ययैकद्रव्यपर्यायत्वे-नानुभूयमानतायां भूतार्थानि, अथ च सकलकालमेवास्खलन्तमेकं जीवद्रव्यस्वभावमु-पेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थानि । ततोऽमीष्वपि नवतत्त्वेषु भूतार्थनयेनैको जीव एव प्रद्योतते । एवमसावेकत्वेन द्योतमानः शुद्धनयत्वेनानुभूयत एव । या त्वनुभूतिः सात्मख्यातिरेवात्मख्यातिस्तु सम्यग्दर्शनमेवेति समस्तमेव निरवद्यम् ।

भूदत्थेण भूतार्थेन निश्चयनयेन अभिगदा शुद्धनयेन अभिगता निर्णीता निश्चिता ज्ञाताः सन्तः । के ते । जीवाजीवा य पुण्णपावं च आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य जीवाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्ष स्वरूपा नव पदार्थाः सम्मत्तं त एवाभेदोपचारेण सम्यक्त्वविषयत्वात्कारणत्वात्सम्यक्त्वं भवति । निश्चये

ख्याति लक्षण वाली अनुभूति की प्राप्ति है, क्योंकि शुद्धनय से नवतत्त्व को जानने से आत्मा की अनुभूति होती है। उनमें से विकारी होने योग्य और विकार करने वाला—ये दोनों पुण्य भी हैं और पाप भी हैं तथा आस्राव्य (आस्रवरूप होने योग्य) व आस्रावक (आस्रव करने वाले) ये दोनों आस्रव हैं, संवार्य (संवर रूप होने योग्य) व संवारक (संवर करने वाले) ये दोनों संवर हैं। निर्जरने योग्य, व निर्जरा करने वाले ये दोनों निर्जरा हैं। बंधने योग्य, व बन्धन करने वाले ये दोनों बन्ध हैं और मोक्ष होने योग्य, व मोक्ष करने वाले ये दोनों मोक्ष हैं। क्योंकि एक के ही अपने आप पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षकी उपपत्ति (सिद्धि) नहीं बनती। तथा वे जीव और अजीव दोनों मिलकर सब नौ तत्त्व हैं। इनको बाह्यदृष्टि से देखा जाय तब जीव पुद्गल की अनादि बन्ध पर्याय को प्राप्त करके उनका एकत्व से अनुभव करने पर तो ये नौ भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं तथा एक जीव द्रव्य के ही स्वभाव को लेकर अनुभव किए गए अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। जीव के एकाकार स्वरूप में ये नहीं हैं। इसलिए इन तत्त्वों में भूतार्थनय से जीव एकरूप ही प्रकाशमान है। उसी तरह अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तब ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का कारण अजीव है। पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष जिसका लक्षण है ऐसा केवल अकेले जीव का विकार नहीं है, पुण्य आदि ये सातों पदार्थ केवल एक अजीव के विकार से जीव के विकार के कारण हैं। ऐसे ये नव तत्त्व हैं वे जीव के स्वभाव को छोड़कर स्वपरनिमित्तक एक द्रव्यपर्यायरूप से अनुभव किए गए तो भूतार्थ हैं तथा सब काल में नहीं चिगते एक जीवद्रव्य के स्वभाव को अनुभव करने पर ये अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। इसलिए इन नौ तत्त्वों में भूतार्थनय से देखा जाय तब जीव तो एकरूप ही प्रकाशमान है। ऐसे यह जीवतत्त्व एकत्वरूप से प्रकट प्रकाशमान हुआ शुद्धनय से अनुभव किया जाता है। यह अनुभवन ही आत्मख्याति है—आत्मा का ही प्रकाश है, जो आत्मख्याति है वही सम्यग्दर्शन है। इस प्रकार यह सब कथन निर्दोष है—बाधा-रहित है।

भावार्थ—इन नव तत्त्वों में शुद्धनय से देखा जाय तब जीव ही एक चैतन्यचमत्कारमात्र

'चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥८॥

अथैवमेकत्वेन द्योतमानस्यात्मनोऽधिगमोपाया प्रमाणनयनिक्षेपाः ये ते खल्वभूतार्थास्तेष्वप्ययमेक एव भूतार्थः । प्रमाणं तावत्परोक्षं प्रत्यक्षं च । तत्रोपात्तानुपात्तपरद्वारेण प्रवर्त्तमानं परोक्षं, केवलात्मप्रतिनियतत्वेन प्रवर्त्तमानं प्रत्यक्षं च, तदुभयमपि प्रमातृप्रमाणप्रमेयभेदस्यानुभूयमानतायां भूतार्थमथ च व्युदस्तसमस्तभेदैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । नयस्तु द्रव्यार्थिकः पर्यायार्थिकश्च । तत्र द्रव्यपर्यायात्मके वस्तुनि द्रव्यं मुख्यतयानुभावयतीति द्रव्यार्थिकः, पर्यायं मुख्यतयानुभावयतीति पर्यायार्थिकः, तदुभयमपि द्रव्यपर्याययोः पर्यायेणानुभूयमानतायां भूतार्थम् । अथ च द्रव्यपर्यायानालीढशुद्धवस्तुमात्रजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । निक्षेपस्तु नाम, स्थापना, द्रव्यं, भावश्च । तत्रातद्गुणे वस्तुनि संज्ञाकरणं नाम । सोऽयमित्यन्यत्र

परिणाम एव सम्यक्त्वमिति । नवपदार्थाः भूतार्थेन ज्ञाताः सन्तः सम्यक्त्वं भवन्तीत्युक्तं भवद्भिस्तत्कीदृशं भूतार्थपरिज्ञानमिति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह् । यद्यपि नव पदार्थाः तीर्थवर्त्तनानिमित्तं प्राथमिकशिष्यापेक्षया भूतार्था

प्रकाशरूप प्रकट हो रहा है । इसके विना जुदे-जुदे नव तत्त्व देखे जायँ तो कुछ भी नहीं । जबतक इसतरह जीवतत्त्व का जानना नहीं है, तव तक व्यवहारदृष्टि में होकर पृथक्-पृथक् नवतत्त्वों को मानता है । जीव पुद्गल की वन्धपर्यायरूप दृष्टि से ये पदार्थ भिन्न-भिन्न दीखते हैं और जब शुद्धनय से जीव पुद्गल का निजस्वरूप जुदा-जुदा देखा जाय, तब ये पुण्य-पाप आदि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं दीखते, निमित्तनैमित्तिक भाव से हुए थे सो निमित्तनैमित्तिकभाव जव मिट गया तब जीव पुद्गल जुदे-जुदे होने से दूसरा कोई पदार्थ सिद्ध नहीं हो सकता । वस्तु तो द्रव्य है । द्रव्य के निजभाव द्रव्य के ही साथ रहते हैं और नैमित्तिकभाव का तो अभाव ही होता है, इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दृष्टि प्राप्त हो सकती है । जब तक आत्मा को नहीं जाना तब तक पर्यायवुद्धि है ।

यहाँ पर इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं "चिरम्" इत्यादि । अर्थ—इस प्रकार नौ तत्त्वों में वहुतकाल से छुपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय से प्रकट की है । जैसे वर्णो (रंग) के समूह में सुवर्ण के छुपे हुए एकाकार को निकालते हैं, उसी तरह यह आत्मज्योति समझना । इसको हमेशा अन्य द्रव्यों से तथा उनसे हुए नैमित्तिक भावों से भिन्न एकरूप देखो । यह हर एक पर्याय में एकरूप चिच्चमत्कारमात्र उद्योतमान है ।

कलश का भावार्थ—यह आत्मा सब अवस्थाओं में नानारूप दीखता था, उसे शुद्धनय ने एक चैतन्यचमत्कारमात्र दिखलाया है सो अब सदा एकाकार ही अनुभवन करो । पर्यायबुद्धि का एकान्त मत रखो, ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है ।

प्रतिनिधिव्यवस्थापनं स्थापना। वर्त्तमानतत्पर्यायादन्यद्द्रव्यं, वर्त्तमानतत्पर्यायो भावस्तच्चतुष्टयं स्वस्वलक्षणवैलक्षण्येनानुभूयमानतायां भूतार्थम्। अथ च निर्विलक्षणस्वलक्षणैकजीवस्वभावस्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। अथैवममीषु प्रमाणनयनिक्षेपेषु भूतार्थत्वेनैको जीव एव प्रद्योतते ॥१३॥

भण्यन्ते तथाप्यभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिकाले अभूतार्था असत्यार्थाः शुद्धात्मस्वरूपं न भवन्ति। तस्मिन् परमसमाधिकाले नवपदार्थमध्ये शुद्धनिश्चयनयेनैक एव शुद्धात्मा प्रद्योतते प्रकाशते प्रतीयते अनुभूयत इति। या चानुभूतिः प्रतीतिः शुद्धात्मोपलब्धिः सा चैव निश्चयसम्यक्त्वमिति सा चैवानुभूतिर्गुणगुणिनोर्निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां शुद्धात्मस्वरूपमिति तात्पर्यम्। किञ्च, ये च प्रमाणनयनिक्षेपाः परमात्मादितत्त्वविचारकाले सह-

---

टीका—जैसे नव तत्त्वों में एक जीव का ही जानना भूतार्थ कहा, उसी तरह एकत्व से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपाय जो प्रमाण, नय और निक्षेप हैं, वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी एक आत्मा ही भूतार्थ है, क्योंकि ज्ञेय और वचन के भेद से वे प्रमाणादि अनेक भेदरूप होते हैं। उनमें से प्रमाण दो प्रकार है—परोक्ष और प्रत्यक्ष। उनमें से उपात्त अर्थात् इन्द्रिय और मन, अनुपात्त अर्थात् प्रकाश उपदेशादि इन दोनों परद्वारों से प्रवर्तमान ज्ञान को परोक्ष कहते हैं। तथा जो आत्मा के प्रतिनियतपने से प्रवर्तमान हो वह प्रत्यक्ष है।

भावार्थ—प्रमाण ज्ञान है। वह पाँच प्रकार का है—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। उनमें से मति और श्रुत ये दो ज्ञान परोक्ष हैं, अवधि, मनःपर्यय ये दो विकल प्रत्यक्ष हैं और केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। ये दोनों तरह के ही प्रमाण हैं। ये दो भेद प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद का अनुभव करते हुए तो भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं। और जिसमें सब भेद गौण हो गये हैं ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करते हुए अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। नय दो प्रकार है—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। उनमें से जो द्रव्यपर्याय स्वरूप वस्तु को द्रव्यत्व की मुख्यता से अनुभव करावे वह द्रव्यार्थिक नय है और पर्याय की मुख्यता से अनुभव करावे वह पर्यायार्थिक नय है। ये दोनों ही नय द्रव्य पर्याय को भेदरूप पर्याय से अनुभव कराते हैं अतः भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं और द्रव्य पर्याय इन दोनों का आस्वाद न लेते हुए शुद्ध वस्तुमात्र जीव के स्वभाव चैतन्यमात्र का अनुभव कराने पर भेदरूप अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। निक्षेप भी नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के भेद से चार तरह का है। जिसमें वह गुण तो न हो किन्तु व्यवहार के लिए उसकी संज्ञा करना वह नाम निक्षेप है। अन्य वस्तु में अन्य की प्रतिमा रूप स्थापना करना कि 'यह वही है' यह स्थापना निक्षेप है। वर्तमान पर्याय से अन्य अतीत अनागत पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान पर्याय में कहना यह द्रव्य-निक्षेप है। और वर्तमान पर्याय रूप वस्तु को वर्तमान में कहना यह भाव निक्षेप है। ये चारों ही निक्षेप अपने अपने लक्षण भेद से भिन्न-भिन्न विलक्षण रूप अनुभव किये गये भूतार्थ हैं—सत्यार्थ हैं और भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्य-लक्षणरूप जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर चारों ही अभूतार्थ हैं—असत्यार्थ हैं। इसतरह इन प्रमाण, नय और निक्षेपों में भूतार्थपने से एक जीव ही प्रकाशमान है।

भावार्थ—इन प्रमाण, नय और निक्षेपों का विस्तार से व्याख्यान इनके प्रकरण ग्रन्थों में से

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वङ्कषेऽस्मिन्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९।।
आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकम् ।
विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ।।१०।।

कारिकारणभूतास्तेऽपि सविकल्पावस्थायामेव भूतार्थाः । परमसमाधिकाले पुनरभूतार्थास्तेषु मध्ये भूतार्थेन शुद्धजीव एक एव प्रतीयते ॥ १३ ॥

जानना । इन्हीं से द्रव्यपर्यायस्वरूप वस्तु की सिद्धि होती है । ये साधक अवस्था में सत्यार्थ ही हैं क्योंकि ये ज्ञान के ही विशेष हैं, इनके बिना वस्तु को यथाकथञ्चित् (एकान्तरूप से) साधा जाय तब विपर्यय हो जाता है । अवस्था के व्यवहार के अभाव की तीन रीतियाँ हैं । एक तो यथार्थ वस्तु को जान कर ज्ञान और श्रद्धान की सिद्धि करना । ज्ञान और श्रद्धान सिद्ध होने के बाद प्रमाणादिक से श्रद्धान करने का कुछ प्रयोजन नहीं है । दूसरी अवस्था विशेष ज्ञान और राग, द्वेष, मोह, कर्म का सर्वथा अभावरूप यथाख्यात चारित्र का होना है, इसी से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, इसके होने के बाद प्रमाणादिक का आलम्बन नहीं रहता । उसके बाद तीसरी साक्षात् सिद्ध अवस्था है । वहां पर भी कुछ आलम्बन नहीं है इसलिए सिद्ध अवस्था में भी प्रमाण-नय-निक्षेप का अभाव ही है ।

इसी अर्थ का कलशरूप "उदयति" इत्यादि श्लोक कहते हैं । **अर्थ**—इन सब भेदों का नाश करने वाले शुद्धनय के विषयभूत चैतन्यचमत्कारमात्र तेजःपुञ्ज आत्मा के अनुभव में आने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती । प्रमाण अस्त को प्राप्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह भी कहां चला जाता है यह हम नहीं जानते । इससे अधिक क्या कहें, कि द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता ।

भावार्थ—भेद को अत्यन्त गौण कर कहा है । शुद्ध अनुभव होने पर प्रमाणनयादिक भेद की तो बात क्या है, द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता। इस विषय में विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि परमार्थ में (असल में) तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ, यही हमारा मत है, तुमने विशेष क्या कहा ? इसका उत्तर यह है कि तुम्हारे मत में सर्वथा अद्वैत मानते हैं । यदि सर्वथा अद्वैत ही माना जाय तो बाह्य वस्तु का अभाव ही हो जाय किन्तु ऐसा अभाव प्रत्यक्षविरुद्ध है। हमारे मत में नय-विवक्षा है, वह बाह्य वस्तु का लोप नहीं करती । शुद्ध अनुभव से विकल्प नष्ट हो जाता है, व आत्मा परमानन्द को प्राप्त हो जाता है इसलिए अनुभव कराने को ऐसा कहा गया है । यदि बाह्य वस्तु का लोप किया जावे तो आत्मा का भी लोप हो जाने से शून्यवाद का प्रसङ्ग आ सकता है । इसलिए तुम्हारे कहने से वस्तुरूप की सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूप की यथार्थ श्रद्धा के विना जो शुद्ध अनुभव भी किया जाय वह भी मिथ्यारूप है । ऐसा होने से शून्यवाद का प्रसङ्ग आता है तब आकाश के फूल के समान अनुभव हो जायगा ।

आगे जो शुद्धनय का उदय होता है उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं । 'आत्मस्वभावम्' इत्यादि अर्थ—शुद्धनय आत्मा के स्वभाव को प्रकट करता हुआ उदयरूप होता है । वह आत्मा को

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥ १४ ॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम् ।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥१४॥

या खल्वबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः स शुद्धनयः सा त्वनुभूतिरात्मैवेत्यात्मैक एव प्रद्योतते । कथं यथोदितस्यात्मनोऽनुभूतिरिति चेद्बद्धस्पृष्टत्वादीनामभूतार्थत्वात्तथाहि—यथा खलु बिसिनीपत्रस्य सलिलनिमग्नस्य सलिलस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां सलिलस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्तः सलिलास्पृश्यं बिसिनीपत्रस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । तथात्मनोऽनादि-

---

इति नवपदार्थाधिकारगाथा गता । तत्र नवाधिकारेषु मध्ये प्रथमतस्तावदष्टाविंशतिगाथापर्यन्तं जीवाधिकारः कथ्यते। तथाहि-सहजानंदैकस्वभावशुद्धात्मभावनामुख्यतया जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि सूत्रपाठक्रमेण प्रथमस्थले

परद्रव्य, परद्रव्य के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से हुए अपने विभाव इस तरह के परभावों से भिन्न प्रकट करता है । फिर समस्त रूप से पूर्ण सब लोकालोक के जानने वाले स्वभाव को प्रकट करता है, क्योंकि ज्ञान में भेद कर्मसंयोग से है, शुद्धनय में कर्म गौण हैं । तथा आदि अन्त से रहित (कुछ आदि लेकर किसी से उत्पन्न नहीं हुआ और न कभी किसी से नाश होता है) ऐसे पारिणाभाव को प्रकट करता है । एक, सब भेद भावों से (द्वैत भावों से) रहित एकाकार तथा जिसमें समस्त सङ्कल्पविकल्पों के समूह का विलय (नाश) हो गया है, ऐसा शुद्धनय प्रकाशरूप होता है । द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्यों में अपनी कल्पना करने को सङ्कल्प और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेदों की प्रतीति को विकल्प कहते हैं ।। १३ ॥

इस तरह के शुद्धनय को गाथासूत्र से कहते हैं;—[यः] जो नय [आत्मानम्] आत्मा को [अबद्धस्पृष्टम्] बन्धरहित और पर के स्पर्श रहित [अनन्यम्] अन्यत्वरहित [नियतम्] चलाचलतारहित [अविशेषम्] विशेषरहित [असंयुक्तम्] अन्य के संयोग रहित—ऐसे पांच भावरूप [पश्यति] अवलोकन करता है [तम्] उसे [शुद्धनयम्] शुद्धनय [विजानीहि] जानो ।

टीका—निश्चय से अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष, असंयुक्त—ऐसे आत्मा का अनुभव करना ही शुद्धनय है । यह अनुभूति निश्चय से आत्मा ही है। ऐसा आत्मा ही एक प्रकाशमान है अर्थात् शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा इन सबका एक ही अभिप्राय है । यहां शिष्य पूछता है कि आपने जैसा कहा है, वैसे आत्मा की अनुभूति इन पांच भावों में कैसी है ? उसका समाधान—जो बद्धस्पृष्टत्व आदि पांच भाव हैं उनमें अभूतार्थता है—इसलिए शुद्धनय ही आत्मा की अनुभूति है। इसी बात को दृष्टान्त से प्रकट करते हैं—जैसे कमलिनी का पत्र जल में डूबा हुआ है उसका जल-स्पर्शन रूप अवस्था से अनुभव किये जाने पर जल-स्पर्शनरूप

बद्धस्पृष्टत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां बद्धस्पृष्टत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः पुद्गलास्पृश्यमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च मृत्तिकायाः करककरीरकर्करीकपालादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलन्तमेकं मृत्तिकास्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। तथात्मनो नारकादिपर्यायेणानुभूयमानतायामन्यत्वं भूतार्थमपि सर्वतोऽप्यस्खलन्तमेकमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम्। यथा च वारिधेर्वृद्धिहानिपर्यायेणानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितं वारिधिस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनो वृद्धिहानिपर्याये-

---

गाथात्रयम्। तदनन्तरं दृष्टान्तदार्ष्टान्तद्वारेण भेदाभेदरत्नत्रयभावनामुख्यतया दंसणणाणचरित्ताणि इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम्। ततः जीवस्याप्रतिबुद्धत्वकथनेन प्रथमगाथा, बन्धमोक्षयोग्यपरिणामकथनेन द्वितीया, जीवो निश्चयेन रागादिपरिणामानामेव कर्त्तेति तृतीया चेत्येवं कम्मेणो कम्मम्हि य इत्यादि तृतीयस्थले परस्पर-

---

दशा भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी एक अपेक्षा से वास्तव में जल के स्पर्शन योग्य नहीं ऐसा कमलिनी का पत्र स्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर जल-स्पर्श रूप दशा अभूतार्थ है। उसी तरह आत्मा के अनादि पुद्गल कर्म से बद्धस्पर्श रूप अवस्था से अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टत्व भूतार्थ है—सत्यार्थ है। वास्तव में जो पुद्गल के स्पर्श योग्य नहीं ऐसे आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव किये जाने पर बद्धस्पृष्टत्व असत्यार्थ है। और जैसे मिट्टी के कुण्डी, घट, कलशी, खप्पर आदि पर्यायभेदों का अनुभव करने से अन्यत्व सत्यार्थ है तो भी सब पर्यायों के भेदरूप नहीं होते हुए एक मिट्टी के स्वभाव को अनुभव करने से यह पर्याय भेद अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। उसी तरह आत्मा को नारक आदि पर्यायभेदों के रूप में अनुभवन करने से पर्यायों का अन्यत्व सत्यार्थ है, तो भी सब पर्याय भेदों में अचल एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव को लेकर अनुभव करने से अन्यत्व अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। जैसे समुद्र को वृद्धि-हानि अवस्थारूप अनुभव करने से अनियतता भूतार्थ है तो भी नित्य स्थिर समुद्रस्वभाव को अनुभवन करने से अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। उसी तरह आत्मा का वृद्धिहानि पर्यायभेदोंरूप अनुभव करने से अनियतता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। जैसे सुवर्ण का चिकना, भारी और पीला आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं ऐसे सुवर्णस्वभाव को लेकर अनुभव करने से विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। उसी तरह आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुण रूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी जिसमें सब विशेष विलय हो गये हैं, ऐसे चैतन्यमात्र आत्म-स्वभाव को लेकर अनुभव करने से विशेषता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। जैसे अग्नि के निमित्त से उत्पन्न उष्णता से मिले हुए जल की तप्तरूप अवस्था का अनुभव करने से जल में उष्णता की संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो भी वास्तव में शीतल स्वभाव को लेकर जल का अनुभव करने से उष्णता की संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है। उसी तरह कर्म निमित्तक मोह-संयुक्ततारूप अवस्था द्वारा आत्मा का अनुभव करने के कारण संयुक्तता भूतार्थ है—सत्यार्थ है तो

णानुभूयमानतायामनियतत्वं भूतार्थमपि नित्यव्यवस्थितमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा च काञ्चनस्य स्निग्धपीतगुरुत्वादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषं काञ्चनस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं कथात्मनो ज्ञानदर्शनादिपर्यायेणानुभूयमानतायां विशेषत्वं भूतार्थमपि प्रत्यस्तमितसमस्तविशेषमात्मस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् । यथा चापां सप्तार्चिःप्रत्ययौष्ण्यसमाहितत्वपर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः शीतमप्स्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थं तथात्मनः कर्मप्रत्ययमोहसमाहितत्व-

---

सम्बन्धनिरपेक्षस्वतन्त्रं गाथात्रयम् । तदनन्तरमिन्धनाग्निदृष्टान्तेनाप्रतिबुद्धलक्षणकथनार्थम् अहमेदमित्यादि चतुर्थस्थले सूत्रत्रयम् । अतः परं शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिलक्षणाभेदरत्नत्रयभावनाविषये योऽसावप्रतिबुद्धस्तत्प्रतिबोधनार्थम् अण्णाणमोहिदमदी इत्यादि पञ्चमस्थले सूत्रत्रयम् । अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धात्मतत्वमजानन् देह एवात्मेति योऽसौ पूर्वपक्षं करोति तस्य स्वरूपकथनार्थं जदि जीवोण इत्यादि पूर्वपक्षरूपेण

भी वास्तव में आत्मबोधका बीजरूप चैतन्यस्वभाव को लेकर अनुभव करने से मोह संयुक्तता अभूतार्थ है—असत्यार्थ है ।

भावार्थ—आत्मा पांच तरह से अनेकरूप है—प्रथम तो अनादिकाल से कर्मपुद्गल के सम्बन्ध से बँधा हुआ कर्मपुद्गल से स्पर्शरूप दीखता है तथा कर्म के निमित्त से हुए नरनारकादिपर्यायों में भिन्नभिन्नस्वरूप दीखता है । शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं, बढ़ते भी हैं, यह वस्तु का स्वभाव है । इसलिए नित्य नियत एकरूप नहीं दीखता । दर्शन ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेष रूप दीखता है । कर्म के निमित्त से उत्पन्न हुए मोह राग द्वेषादिक परिणामसहित सुखदुःखस्वरूप दीखता है । यह सब अशुद्ध द्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है । उस दृष्टि से देखा जाय तो सब ही सत्यार्थ है परन्तु आत्मा का एक स्वभाव नय से ग्रहण नहीं होता और एकस्वभाव के जाने विना यथार्थ आत्मा को कोई कैसे जान सके, इस कारण दूसरे नय को—इसके प्रतिपक्षी शुद्ध द्रव्यार्थिक को ग्रहण कर एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर सब परद्रव्यों से भिन्न, सब पर्यायों में एकाकार हानिवृद्धि से रहित, विशेषों से रहित, नैमित्तिक भावों से रहित शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाय तब सभी (पांच) भावों द्वारा अनेकरूपता है वह अभूतार्थ है—असत्यार्थ है । यहां ऐसा जानना कि वस्तु का स्वरूप जो अनन्तधर्मात्मक है, वह स्याद्वाद से यथार्थ सिद्ध होता है । आत्मा भी अनन्तधर्मा है, उसके कितने ही धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हैं । जो कर्म के संयोग से होते हैं, उनसे तो आत्मा के संसार की प्रवृत्ति होती है, उस सम्बन्धी सुखदुःखादिक होते हैं उनको भोगता है । यह इस आत्मा के अनादि अज्ञान से पर्यायबुद्धि है, अनादि अनन्त एक आत्मा का ज्ञान नहीं है । उसको बतलाने वाला सर्वज्ञ का आगम है । उसमें शुद्ध द्रव्यार्थिक नय से यह बतलाया गया है कि आत्मा का एक असाधारण चैतन्यभाव है—वह अखण्ड है, नित्य है, अनादिनिधन है । इसी के जानने से पर्यायबुद्धि का पक्षपात मिट जाता है । परद्रव्यों से तथा उनके भावों से अथवा उनके निमित्त से

पर्यायेणानुभूयमानतायां संयुक्तत्वं भूतार्थमप्येकान्ततः स्वयंबोधबीजस्वभावमुपेत्यानुभूयमानतायामभूतार्थम् ।

गाथैका । तदनन्तरं व्यवहारेण देहस्तवनं निश्चयेन शुद्धात्मस्तवनमिति नयद्वयविभागप्रतिपादनमुख्यत्वेन **ववहारणओ** भासदि इत्यादि परिहारसूत्रचतुष्टयम् । अथ परमोपेक्षालक्षणशुद्धात्मसंवित्तिरूपनिश्चयस्तुतिमुख्यत्वेन **जो इंदिए जिणित्ता** इत्यादि सूत्रत्रयम् । एवं गाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलम् । ततः परं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानमेव विषयकषायादिपरद्रव्याणां प्रत्याख्यानमिति कथनेन **णाणं सव्वे भावा** इत्यादि सप्तमस्थले गाथाचतुष्टयम् । तदनन्तरमनन्तज्ञानादिलक्षणशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकस्वसंवेदनमेव भावितात्मनः स्वरूपमित्युपसंहारमुख्यतया **अहमिक्को खलु सुद्धो** इत्यादि सूत्रमेकम् । एवं दण्डकान्विहायाष्टाविंशतिसूत्रैः सप्तभिरन्तरस्थलैर्जीवाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा अथ प्रथमगाथायामबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतमविशेषमसंयुक्तं संसारावस्थायामपि शुद्धनयेन बिसिनीपत्रमृत्तिकावार्द्धिसुवर्णोष्ण्यरहितजलवत्पञ्चविशेषणविशिष्टं शुद्धात्मानं कथयति---

जो पस्सदि यः कर्ता पश्यति जानाति । कं । **अप्पाणं** शुद्धात्मानम् । कथंभूतम् । **अबद्धपुट्ठं** द्रव्यकर्म

हुए अपने विभावों से अपने आत्मा को जानकर इसका अनुभव करे, तब परद्रव्य के भावस्वरूप परिणमन नहीं करता। उस समय कर्म नहीं बँधते, संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसलिए पर्यायार्थिकरूप व्यवहारनयको गौण करके अभूतार्थ (असत्यार्थ) कह कर शुद्धनिश्चयनय को सत्यार्थ कहकर आलम्बन दिया है। वस्तुस्वरूप की प्राप्ति होने के बाद उसका भी आलम्बन नहीं रहता। इस कथन से ऐसा नहीं समझ लेना कि शुद्धनय को जो सत्यार्थ कहा है, इस कारण अशुद्धनय सर्वथा असत्यार्थ ही है। ऐसा मानने से वेदान्त मतवाले जो संसार को सर्वथा अवस्तु मानते हैं उनका सर्वथा एकान्तपक्ष आ जायगा, तब मिथ्यात्व आ जायगा। उस समय इस शुद्धनय का भी आलम्बन उन वेदान्तियों की तरह मिथ्यादृष्टि हो जायगा। इसलिए सभी नयों की कथञ्चित् रीति से यथार्थता का श्रद्धान करने पर ही सम्यग्दृष्टि होता है। इस प्रकार स्याद्वाद को समझकर जिनमत का सेवन करना; मुख्य गौण कथन सुनकर सर्वथा एकान्त पक्ष न पकड़ लेना। इसी प्रकार इस गाथा सूत्र का व्याख्यान टीकाकार ने किया है कि आत्मा व्यवहारनय की दृष्टि में जो बद्धस्पृष्ट आदिरूप दीखता है, वह इस दृष्टि में तो सत्यार्थ ही है परन्तु शुद्धनय की दृष्टि में बद्धस्पृष्ट आदिरूप असत्यार्थ है। इस कथन में स्याद्वाद बतलाया गया है, ऐसा जानना। जो ये नय हैं वे श्रुतज्ञान प्रमाण के अंश हैं। वह श्रुतज्ञान वस्तु को परोक्ष बतलाता है और ये नय भी परोक्ष ही बतलाते हैं। बद्ध-स्पृष्ट आदि पाँच भावों से रहित आत्मा शुद्धद्रव्यार्थिकनय का विषय चैतन्यशक्तिमान है, वह शक्ति तो परोक्ष ही है और उसकी व्यक्तियाँ कर्मसंयोग से मति श्रुत आदि ज्ञानरूप हैं, वे कथंचित् अनुभव गोचर हैं उनको प्रत्यक्षरूप भी कहते हैं। तथा सम्पूर्ण ज्ञान केवलज्ञान छद्मस्थ के (अल्पज्ञानी के) प्रत्यक्ष नहीं है तो भी यह शुद्धनय आत्मा को केवलज्ञानरूप परोक्ष बतलाता है। जब तक इस नय को

---

१. जीव इत्यपि पाठः ।

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी स्फुटमुपरि तरन्तोऽपेत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्ताज् जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥११॥

भूतं भान्तमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं,
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकम्पमेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ॥१३॥

नोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले विसिनीपत्रवत् । अणण्णयं अनन्यकं नरनारकादिपर्यायेषु द्रव्यरूपेण तमेव स्थासकोशकुशूलघटादिपर्यायेषु मृत्तिकाद्रव्यवत् णियदं नियतमवस्थितं निस्तरङ्गोत्तरङ्गावस्थासु समुद्रवत् अविसेसं अविशेषमभिन्नं ज्ञानदर्शनादिभेदरहितं गुरुत्वस्निग्धत्वपीतत्वादिधर्मेषु सुवर्णवत् असंजुत्तं असंयुक्तमसम्बद्धं रागादिविकल्परूपभावकर्मरहितं निश्चयनयेनौष्ण्यरहित जलवदिति तं सुद्धणयं वियाणीहि तं पुरुषमेवाभेदनयेन शुद्धनयविषयत्वाच्छुद्धात्मसाधकत्वाच्छुद्धाभिप्रायपरिणतत्वाच्च शुद्धं विजानीहीति भावार्थः ॥१४॥ अथ द्वितीयगाथायां या पूर्वं भणिता शुद्धात्मानुभूतिः सा चैव निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानानुभूतिरिति प्रतिपादयति—जो पस्सदि यः कर्त्ता पश्यति जानात्यनुभवति । कं अप्पाणं शुद्धात्मानम् । किंविशिष्टम् । अबद्धपुट्ठं अवद्धस्पृष्टम् ।

नहीं जानते तब तक आत्मा के पूर्णरूप का ज्ञान श्रद्धान नहीं होता। इसलिए श्री गुरु ने इस शुद्धनय को प्रकट कर दिखलाया है कि बद्ध-स्पृष्ट आदि पांच भावों से रहित पूर्णज्ञानघनस्वभाव आत्मा को जानकर श्रद्धान करना, पर्यायबुद्धि का न रहना यह उपदेश है। प्रश्न—ऐसा आत्मा प्रत्यक्ष तो दीखता नहीं है और विना देखे श्रद्धान करना झूठा श्रद्धान है। उत्तर—देखे हुए का ही श्रद्धान करना यह तो नास्तिक मत है। जिनमत में प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही प्रमाण माने गये हैं, सो आगम प्रमाण परोक्ष है, उसका भेद शुद्धनय है। इस शुद्धनय की दृष्टि से शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना, केवल व्यवहार-प्रत्यक्ष का ही एकान्त न कर लेना।

यहां इस शुद्धनय को मुख्य करके कलशरूप काव्य "न हि विदधति" इत्यादि कहते हैं। उसका अर्थ—टीकाकार उपदेश करते हैं कि—तुम उस सम्यक् स्वभाव का अनुभव करो जिसमें ये बद्धस्पृष्ट आदि भाव प्रगटपने से इस स्वभाव के ऊपर तरते हैं तो भी प्रतिष्ठा नहीं पाते। क्योंकि द्रव्य स्वभाव नित्य है, एकरूप है और ये भाव अनित्य हैं, अनेकरूप हैं। पर्याय द्रव्यस्वभाव में प्रवेश नहीं करती है, वह ऊपर ही रहती है। यह शुद्ध स्वभाव सब अवस्थाओं में प्रकाशमान है। ऐसे स्वभाव का मोहरहित होकर अनुभव करो क्योंकि मोहकर्म के उदय से उत्पन्न मिथ्यात्वरूप अज्ञान जब तक रहता है तब तक यह अनुभव यथार्थ नहीं होता।

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
अपदेससुत्तमज्झं[1] पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥ १५ ॥

यः पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यमविशेषम् ।
अपदेशसूत्रमध्यं पश्यति जिनशासनं सर्वम् ॥१५॥

येयमबद्धस्पृष्टस्यानन्यस्य नियतस्याविशेषस्यासंयुक्तस्य चात्मनोऽनुभूतिः सा

अत्र बद्धशब्देन संश्लेपरूपबन्धो ग्राह्यः । स्पृष्टशब्देन तु संयोगमात्रमिति । द्रव्यकर्मनोकर्मभ्यामसंस्पृष्टं जले विसिनीपत्रवत् । अणण्णं अनन्यं मृत्तिकाद्रव्यवत् । अविसेसं अविशेषमभिन्नं सुवर्णवत् नियतमवस्थितं समुद्रवत्

भावार्थ—शुद्धनय के विशेषरूप आत्मा का अनुभव करो यह उपदेश है ।

आगे इसी अर्थ का कलशरूप काव्य "भूत" इत्यादि कहते हैं कि ऐसा अनुभव करने पर आत्मदेव प्रगट प्रतिभासमान होता है । **अर्थ**—यदि कोई सुवुद्धि सम्यग्दृष्टि भूत (पहले हुआ), भान्त (वर्तमान) और अभूत (आगामी होने वाला) ऐसे तीनों काल के कर्मों के बन्ध को अपने आत्मा से तत्काल पृथक् करके तथा उस कर्म के उदय के निमित्त से उत्पन्न हुए मिथ्यात्वरूप अज्ञान को अपने वल (पुरुषार्थ) से पृथक् कर अन्तरङ्ग में अभ्यास करे तो देखता है कि यह आत्मा, अपने अनुभव से ही जानने योग्य महिमामय, व्यक्त, अनुभवगोचर, निश्चल, शाश्वत (नित्य) और कर्म—कलङ्क—कर्दम से रहित स्वयं स्तुति करने योग्य देव विराजमान हो रहा है ।

भावार्थ—शुद्धनय की दृष्टि से देखा जाय तो सब कर्मों से रहित चैतन्यमात्र देव अविनाशी आत्मा अन्तरङ्ग में स्वयं विराजमान है । पर्यायवुद्धि बहिरात्मा इसको बाहर ढूंढ़ता है सो बड़ा अज्ञान है ।

शुद्धनय के विषयभूत आत्मा की जो अनुभूति है, वही ज्ञान की अनुभूति है, ऐसा आगे की गाथा की उत्थानिकारूप काव्य कहते हैं आत्मानु इत्यादि । **अर्थ**—इस प्रकार जो पूर्वकथित शुद्धनय स्वरूप आत्मा की अनुभूति है, ऐसा अच्छी तरह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके सदा सव तरफ ज्ञानघन एक आत्मा ही है, इस प्रकार देखना चाहिये ।

भावार्थ—पूर्व में सम्यग्दर्शन को प्रधान मान कर कहा था, अब ज्ञान को मुख्य करके कहते हैं कि जो यह शुद्धनय के विषयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है वही सम्यग्ज्ञान है ॥१४॥

अव इसी को गाथा से स्पष्ट करते हैं; **[यः]** जो **[आत्मानम्]** आत्मा को **[अबद्धस्पृष्टम्]** अवद्धस्पृष्ट **[अनन्यम्]** अनन्य **[अविशेषम्]** अविशेष (तथा पूर्वगाथा में कथित नियत और असंयुक्त) **[पश्यति]** देखता है वह **[अपदेशसूत्रमध्यम्]** द्रव्यश्रुत और भावश्रुत रूप **[सर्वं जिनशासनम्]** सब जिनशासन को **[पश्यति]** देखता है ।

---

१. 'अपदेससंतमज्झं' इत्यपि पाठः दिल्ली नयामन्दिरप्रतौ । न प्रदेशभिन्नं न सान्तं न मध्यम् अप्रदेशसान्तमध्यम् । जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि वह जिनशासन आदि, मध्य और अन्तरहित है ।

खल्वखिलस्य जिनशासनस्यानुभूतिः श्रुतज्ञानस्य स्वयमात्मत्वात्ततो ज्ञानानुभूतिरेवात्मानुभूतिः किन्तु तदानीं सामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्यामनुभूयमानमपि ज्ञानमबुद्धलुब्धानां न स्वदते। तथाहि—यथा विचित्रव्यञ्जनसंयोगोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं लवणं लोकानामबुद्धानां व्यञ्जनलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषाविर्भावतिरोभावाभ्याम्। अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं लवणं तदेव सामान्याविर्भावेनापि। तथा विचित्रज्ञेयाकारकरम्बितत्वोपजातसामान्यविशेषतिरोभावाविर्भावाभ्यामनुभूयमानं ज्ञानमबुद्धानां ज्ञेयलुब्धानां स्वदते न पुनरन्यसंयोगशून्यतोपजातसामान्यविशेषादिर्भावतिरोभावाभ्यां।

असंयुक्तं परद्रव्यसंयोगरहितं निश्चयनयेननौष्ण्यरहितजलवदिति। नियतासंयुक्तविशेषणद्वयं सूत्रे नास्ति। कथं लभ्यत इति चेत् सामर्थ्यात्। तदपि कथं, 'श्रुतप्रकृतसामार्थ्ययुक्तो हि भवति सूत्रार्थः' इति वचनात्। स पुरुषः पस्सदि पश्यति जानाति। किं तद् जिणसासणं जिनशासनम् अर्थसमयरूपं जिनमतं सव्वं सर्वं द्वादशाङ्गपरिपूर्णम् कथम्भूतम् अपदेससुत्तमज्झं अपदेशसूत्रमध्यम् अपदिश्यतेऽर्थो येन स भवत्यपदेशः शब्दो द्रव्यश्रुतमिति यावत्। सूत्रं परिच्छित्तिरूपं भावश्रुतं ज्ञानसमय इति यावत् तेन शब्दसमयेन वाच्यं ज्ञानसमयेन परिच्छेद्यमपदेशसूत्रमध्यं भण्यते इति। अयमत्र भावः। यथा लवणखिल्य एकरसोऽपि फलशाकपत्रशाकादिपरद्रव्यसंयोगेन

टीका—अवद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पांच भावरूप आत्मा की जो यह अनुभूति है, वही निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयम् आत्मा ही है इसलिये जो यह ज्ञान की अनुभूति है वही आत्मा की अनुभूति है। यहां पर यह विशेषता है कि सामान्यज्ञान का तो प्रकट होना और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का आच्छादित होना उससे ज्ञानमात्र ही जव अनुभव किया जाय तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है तो भी जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों (पदार्थों) में आसक्त हैं, उनको वह नहीं रुचता। जैसे अनेक तरह के शाक आदि भोजनों के सम्बन्ध से उत्पन्न सामान्य लवण का तिरोभाव (अप्रकटता) तथा विशेष लवण का आविर्भाव (प्रकटता) उससे अनुभव में आने वाला जो सामान्य लवण का तिरोभावरूप लवण तथा लवण का विशेषभावरूप व्यञ्जनों का ही स्वाद अज्ञानी और व्यञ्जनों के लोभी मनुष्यों को आता है। परन्तु अन्य के असंयोग से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव तथा विशेष के तिरोभाव से एकाकार अभेदरूप लवण का स्वाद नहीं आता। और जव परमार्थ से देखा जाय तव तो विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आया क्षार रसरूप लवण है, वही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आया हुआ क्षार रसरूप लवण है। उसी तरह अनेकाकार ज्ञेयों के आकारों की मिश्रता से जिसमें सामान्य का तिरोभाव और विशेष का आविर्भाव ऐसे भाव से अनुभव में आया जो ज्ञान वह अज्ञानियों और ज्ञेयों में आसक्तों को विशेषभावरूप—भेदरूप—अनेकाकाररूप स्वाद में आता है परन्तु अन्य ज्ञेयाकार के संयोग से रहित सामान्य का आविर्भाव और विशेष का तिरोभाव ऐसा एकाकार अभेदरूप ज्ञानभाव अनुभव से आता हुआ भी स्वाद में नहीं आता। और परमार्थ से विचारा जाय तव जो विशेष के आविर्भाव से ज्ञान अनुभव में आता है, वही सामान्य के आविर्भाव से ज्ञानियों के और ज्ञेय में अनासक्तों के अनुभव में आता है। जैसे लवण की कंकड़ी अन्य

अथ च यदेव विशेषाविर्भावेनानुभूयमानं ज्ञानं तदेव सामान्याविर्भावेनाप्यलुब्धबुद्धानाम्। यथा सैन्धवखिल्योऽन्यद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकलवणरसत्वाल्लवणत्वेन स्वदते तथात्मापि परद्रव्यसंयोगव्यवच्छेदेन केवल एवानुभूयमानः सर्वतोऽप्येकविज्ञानघनत्वात् ज्ञानत्वेन स्वदते ॥१५॥

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनन्तमन्तर्बहिर्महः परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालम्बते यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

भिन्नभिन्नास्वादः प्रतिभात्यज्ञानिनां। ज्ञानिनां पुनरेकरस एव तथात्माऽप्यखण्डज्ञानस्वभावोऽपि स्पर्शरसगन्धशब्दनीलपीतादिवर्णज्ञेयपदार्थविषयभेदेनाज्ञानिनां निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां खण्डखण्डज्ञानरूपः प्रतिभाति ज्ञानिनां पुनरखण्डकेवलज्ञानस्वरूप एव इति हेतोरखण्डज्ञानरूपे शुद्धात्मनि ज्ञाते सति सर्वं जिनशासनं ज्ञातं भवतीति मत्वा समस्तमिथ्यात्वरागादिपरिहारेण तत्रैव शुद्धात्मनि भावना कर्त्तव्येति। किञ्च मिथ्यात्वशब्देन दर्शनमोहो रागादिशब्देन चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम्। अथ तृतीयगाथायां सम्यग्ज्ञानादिकं सर्वं शुद्धात्मभावनामध्ये लभ्यत इति निरूपयति।

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे॥

आत्मा स्फुटं मम ज्ञाने आत्मा मे दर्शने चरित्रे च।
आत्मा प्रत्याख्याने आत्मा मे संवरे योगे॥

द्रव्यों के संयोग के अभाव से केवल लवणमात्र अनुभव किये जाने पर एक लवणरस सर्वतः क्षाररूप से स्वाद में आता है, उसी तरह आत्मा भी परद्रव्य के संयोग से भिन्न केवल एकभाव से अनुभव करने पर सब तरफ से एक विज्ञानघन स्वभाव के कारण ज्ञानरूप से स्वाद में आता है।

भावार्थ—यहाँ आत्मा की अनुभूति को ज्ञान की अनुभूति कहा गया है। अज्ञानी जन इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं अतः ज्ञेयों से अनेकाकार हुए ज्ञान का ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं। ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वाद नहीं लेते। और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं, वे एकाकार ज्ञेयों से भिन्न ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं। जैसे व्यञ्जनों (भोजनों) से जुदी लवण की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है, उसी भांति आस्वाद लेते हैं। क्योंकि ज्ञान है, वही आत्मा है और आत्मा है वही ज्ञान है। इस तरह गुण-गुणी का अभेददृष्टि में आया हुआ जो सब परद्रव्यों से भिन्न अपने पर्यायों में एकरूप निश्चल अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने-अपने स्वरूप का अनुभव है वही ज्ञान का अनुभव है। यही अनुभव भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभव है। शुद्धनय से इसमें कुछ भेद नहीं है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—'अखण्डितं' इत्यादि। अर्थ—वह उत्कृष्ट तेज प्रकाशरूप हमें प्राप्त होवे, जो सदा काल चैतन्य के परिणमन से भरा हुआ है। जैसे लवण की

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

दर्शनज्ञानचरित्राणि सेवितव्यानि साधुना नित्यम् ।
तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यप्यात्मानमेव निश्चयतः ॥१६॥

येनैव हि भावेनात्मा साध्यः साधनं च स्यात्तेनैवायं नित्यमुपास्य इति स्वयमाकूय परेषां व्यवहारेण साधुना दर्शनज्ञानचारित्राणि नित्यमुपास्यानीति प्रतिपाद्यते । तानि पुनस्त्रीण्यपि परमार्थेनात्मैक एव वस्त्वन्तराभावाद् यथा देवदत्तस्य कस्यचिद् ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं च देवदत्तस्य स्वभावानतिक्रमाद्देवदत्त एव न वस्त्वन्तरम् । तथात्मन्यप्यात्मनो ज्ञानं श्रद्धानमनुचरणं चात्मस्वभावानतिक्रमादात्मैव न वस्त्वन्तरं, तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते ॥१६॥

स किल—

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् । मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥१६

आदा शुद्धात्मा खु स्फुटं मज्झ मम भवति । क्व विषये । णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रप्रत्याख्यानसंवरयोगभावनाविषये । योगे कोऽर्थः ? निर्विकल्पसमाधौ परमसामायिके परमध्याने चेत्येको भावः भोगाकांक्षानिदानबन्धशल्यादिभावरहिते शुद्धात्मनि ध्याते सर्वं सम्यग्ज्ञानादिकं लभ्यत इत्यर्थः । एवं शुद्धनयव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥१५॥ इत ऊर्ध्वं भेदाभेदरत्नत्रयमुख्यत्वेन गाथात्रयं कथ्यते—तद्यथा प्रथमगाथायां पूर्वार्द्धेन भेदरत्नत्रयभावनामपरार्द्धेन चाभेदरत्नत्रयभावनां कथयति—दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं सम्यग्दर्शनज्ञान-

---

डली एक क्षार रस की लीला का आलम्बन करती है, उसी भांति एक ज्ञानरसस्वरूप को आलम्बन करता है । वह तेज अखंडित है—जो ज्ञेयों के आकार से खंडित नहीं होता; अनाकुल है—जिसमें कर्म के निमित्त से हुए रागादिकों से उत्पन्न आकुलता नहीं है; अविनाशी है । अंतरङ्ग तो चैतन्य-भाव से देदीप्यमान अनुभव में आता है और बाह्य वचनकाय की क्रिया से प्रकट देदीप्यमान है, सहजस्वभाव से हुआ है, इसे किसी ने रचा नहीं है और सदैव उसका विलास उदयरूप है; एकरूप प्रतिभासमान है ।

अब अगली गाथा की उत्थानिका में "एष ज्ञान" इत्यादि श्लोक कहते हैं । अर्थ—पूर्व कथित ज्ञानस्वरूप जो नित्य आत्मा है उसकी सिद्धि के इच्छुक पुरुषों के द्वारा साध्य-साधकभाव के भेद से दो तरह का होने पर भी एकरूप ही सेवनीय है, उसे सेवन करो ।

दर्शन ज्ञान चारित्र रूप साधकभाव है यही गाथा में कहते हैं;—[साधुना] साधु पुरुषों को [दर्शनज्ञानचरित्राणि] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [नित्यम्] निरन्तर [सेवितव्यानि] सेवन करने योग्य हैं [पुनः] और [तानि त्रीणि अपि] वे तीन हैं तो भी [निश्चयतः] निश्चयनय से [आत्मानम् एव] एक आत्मा ही [जानीहि] जानो ।

दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्वतः । एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ।।१७
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः । सर्वभावान्तरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ।।१८
आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः । दर्शनज्ञानचारित्रैः साध्यसिद्धिर्न चान्यथा ।।१९

चारित्राणि सेवितव्यानि साधुना व्यवहारनयेन नित्यं सर्वकालं **ताणि पुण जाण तिण्णिवि** तानि पुनर्जानीहि त्रीण्यपि **अप्पाणं चेव** शुद्धात्मानं चैव **णिच्छयदो** निश्चयतः शुद्धनिश्चयतः । अयमत्रार्थः—पञ्चेन्द्रियविषय-क्रोधकषायादिरहितनिर्विकल्पसमाधिमध्ये सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमस्तीति ।। १६ ।। अथ गाथाद्वयेन तामेव भेदाभेदरत्नत्रयभावनां दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—**जह** यथा **णाम** अहो स्फुटं वा **कोवि** कोऽपि कश्चित्

टीका—यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो उसी भाव से नित्य सेवने योग्य है, ऐसा स्वयं विचार करके, दूसरों के लिए व्यवहारनय से ऐसा प्रतिपादन करते हैं कि साधु पुरुषों को दर्शन ज्ञान चारित्र सदा सेवने योग्य हैं और परमार्थ से देखा जाय, तब ये तीनों एक आत्मा ही हैं; क्योंकि ये अन्य वस्तु नहीं हैं (आत्मा के ही पर्याय हैं) जैसे किसी देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण हैं, वे उसके स्वभाव को उल्लंघन नहीं करते, इसलिए वे देवदत्त पुरुष ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार आत्मा में भी आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव को नहीं उल्लंघन करते, इस कारण आत्मा ही हैं, अन्य वस्तु नहीं हैं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है। यह अपने आप ही प्रकाशमान होता है।

भावार्थ—दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीनों आत्मा के ही पर्याय हैं, कुछ जुदी वस्तु नहीं हैं इसलिये साधु पुरुषों को एक आत्मा का ही सेवन करना चाहिये, यह निश्चय है और व्यवहार से अन्य को भी यही उपदेश करना चाहिये।

आगे इसी अर्थ का कलशरूप पद्य कहते हैं—**"दर्शन"** इत्यादि। **अर्थ**—यह आत्मा प्रमाण दृष्टि से देखा जाय तब एककाल में मेचक—अनेक अवस्थारूप भी है और अमेचक—एक अवस्था-रूप भी है। क्योंकि इसके दर्शन, ज्ञान, चारित्र से तो तीनरूपता है और स्वयं एकरूप ही है।

आगे कहते हैं। **"दर्शन"** इत्यादि-**अर्थ**—व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तब आत्मा एक है तो भी तीन स्वभावरूप होने से अनेकाकार है; क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप परिणमता है।

भावार्थ—शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा एक है; इस नय को प्रधान करके कहा जाय, तब पर्यायार्थिकनय गौण हो जाता है। सो एक को तीनरूप परिणमता कहना यही व्यवहार हुआ, असत्यार्थ भी हुआ। ऐसे व्यवहारनय से दर्शन ज्ञान चारित्र परिणाम से आत्मा को मेचक कहा है।

अब परमार्थनय से कहते हैं **"परमार्थे"** इत्यादि। **अर्थ**—शुद्धनिश्चय से देखा जाय तब प्रकट ज्ञायकज्योतिमात्र आत्मा एकस्वरूप है क्योंकि इसका शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से सभी अन्यद्रव्य के स्वभाव तथा अन्य के निमित्त से हुए विभावों को दूर करने रूप स्वभाव है। अतः अमेचक है, शुद्ध एकाकार है।

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥ (युगलम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषो राजानं ज्ञात्वा श्रद्दधाति ।
ततस्तमनुचरति पुनरर्थार्थिकः प्रयत्नेन ॥ १७ ॥
एवं हि जीवराजो ज्ञातव्यस्तथैव श्रद्धातव्यः ।
अनुचरितव्यश्च पुनः स चैव तु मोक्षकामेन ॥ १८ ॥

यथा हि कश्चित्पुरुषोऽर्थार्थी प्रयत्नेन प्रथममेव राजानं जानीते ततस्तमेव श्रद्धत्ते

पुरिसो पुरुषः रायाणं राजानं जाणिऊण छत्रचामरादिराजचिह्नैर्ज्ञात्वा सद्दहदि श्रद्धत्ते अयमेव राजेति निश्चिनोति तो ततो ज्ञानश्रद्धानानन्तरं तं तं राजानं अणुचरदि अनुचरति आश्रयत्याराधयति । कथंभूतः सन् । अत्थत्थीओ अर्थार्थिको जीवितार्थी पयत्तेण प्रयत्नेन सर्वतात्पर्येणेति दृष्टान्तगाथा गता । एवम् अनेन प्रकारेण हि स्फुटं जीवराया शुद्धजीवराजो णादव्वो निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेन ज्ञातव्यः । तह य तथैव सद्दहेदव्वो

आगे प्रमाणनय से मेचक अमेचक कहा सो इस चिन्ता को मेट जैसे साध्य की सिद्धि हो वैसे करना यह "आत्मन" इत्यादि से कहते हैं। अर्थ—यह आत्मा मेचक है—भेदरूप अनेकाकार है तथा अमेचक है—अभेदरूप एकाकार है। ऐसी चिन्ता को छोड़ो। साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र—इन तीनों भावों से ही होती है दूसरी तरह नहीं, यह नियम है।

भावार्थ—आत्मा की सिद्धि शुद्धद्रव्यार्थिकनय से होती है। ऐसा शुद्धस्वभाव साध्य है, वह पर्यायार्थिकस्वरूप व्यवहारनय से ही साधा जाता है इसलिये ऐसा कहा है कि भेदाभेद की कथनी से क्या, जिस तरह साध्य की सिद्धि हो वैसे करना। व्यवहारी लोक भेद द्वारा ही समझते हैं। इस कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनों परिणामरूप ही आत्मा है। इस तरह भेद की प्रधानता से अभेद की सिद्धि करना कहा गया है। ॥१६॥

आगे इसी प्रयोजन को दो गाथाओं में दृष्टान्त द्वारा व्यक्त करते हैं:—[यथा नाम] जैसे [कोऽपि] कोई [अर्थार्थिकः पुरुषः] धन को चाहने वाला पुरुष [राजानम्] राजा को [ज्ञात्वा] जानकर [श्रद्दधाति] श्रद्धान करता है [ततः] उसके बाद [तं] उसकी [प्रयत्नेन अनुचरति] अच्छी तरह सेवा करता है [एवं हि] इसी तरह [मोक्षकामेन] मोक्ष को चाहने वाला [जीवराजः] जीवरूप राजा को [ज्ञातव्यः] जाने [पुनः च] और फिर [तथैव] उसी तरह [श्रद्धातव्यः] श्रद्धान करे [तु च स एव] उसके बाद [अनुचरितव्यः] उसका अनुचरण करे और तन्मय हो जाये।

ततस्तमेवानुचरति। तथात्मना मोक्षार्थिना प्रथममेवात्मा ज्ञातव्यः, ततः स एव श्रद्धातव्यः, ततः स एवानुचरितव्यश्च साध्यसिद्धेस्तथान्यथोपपत्त्यनुपपत्तिभ्याम्। तत्र यदात्मनोऽनुभूयमानानेकभावसंकरेऽपि परमविवेककौशलेनायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानेन सङ्गच्छमानमेव तथेतिप्रत्ययलक्षणं श्रद्धानमुत्प्लवते तदा समस्तभावान्तरविवेकेन निःशंकमेव स्थातुं शक्यत्वादात्मानुचरणमुत्प्लवमानमात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेस्तथोपपत्तिः। यदा त्वाबालगोपालमेव सकलकालमेव स्वयमेवानुभूयमानेऽपि भगवत्यनुभूत्यात्मन्यात्मन्यनादिबन्धवशात् परैः सममेकत्वाध्यवसायेन विमूढस्यायमहमनुभूतिरित्यात्मज्ञानं नोत्प्लवते तदभावादज्ञातखरशृङ्गश्रद्धानसमानत्वाच्छ्रद्धानमपि नोत्प्लवते तदा समस्तभावान्तराविवेकेन निःशंकमेव स्थातुमशक्यत्वादात्मानुचरणमनुत्प्लवमानं नात्मानं साधयतीति साध्यसिद्धेरन्यथानुपपत्तिः।

अयमेव नित्यानन्दैकस्वभावो रागादिरहितः शुद्धात्मेति निश्चेतव्यः अणुचरिदव्वो य अनुचरितव्यश्च निर्विकल्पसमाधिनानुभवनीयः। पुणो पुनः सो चेव स चैव शुद्धात्मा दु पुनः मोक्खकामेण मोक्षार्थिना पुरुषेणेति

टीका—निश्चय से जैसे कोई धन को चाहने वाला पुरुष प्रयत्न से, पहले तो राजा को जानता है, पीछे उसी का श्रद्धान करता है, उसके पश्चात् उसी का सेवन करता है उसी तरह मोक्ष का चाहने वाला पहले तो आत्मा को जाने, अनन्तर उसी का श्रद्धान करे उसके पश्चात् उसीका अनुचरण करे क्योंकि निष्कर्म अवस्थारूप अभेद शुद्धस्वरूप साध्य की इसी प्रकार उपपत्ति—सिद्धि है अन्यथा अनुपपत्ति है। जिस समय आत्मा के अनुभव में आये हुए जो अनेक पर्यायरूप भेदभावों से मिश्रितता होने पर भी सब प्रकार भेदज्ञान में प्रवीणता से यह अनुभूति है कि "वही मैं हूँ" ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त हुआ यह आत्मा जैसा जाना वैसा ही है ऐसी प्रतीतिस्वरूप श्रद्धान उदय होता है उसी समय समस्त अन्य भावों का भेद होने के कारण निःशङ्क ही ठहरने में समर्थ होने से आत्मा का आचरण उदय हुआ आत्मा को मानता है। इस तरह तो साध्य आत्मा की सिद्धि की; तथा उपपत्ति वह है कि जो उसी प्रकार हो। जिस समय ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा बालगोपाल तक सदाकाल आप ही अनुभव में आता हुआ भी अनादिबन्ध के वश से परद्रव्यों सहित एकत्व का निश्चय कर अज्ञानी के "वह मैं हूँ" ऐसा अनुभूतिरूप आत्मज्ञान नहीं उदय होता, उसके अभाव से ज्ञान के बिना श्रद्धान गधे के सींग के समान है। इस तरह श्रद्धान का भी उदय नहीं होता। उस समय समस्त अन्य भावों का भेद न होने के कारण निःशंक आत्मा में ही ठहरने की असामर्थ्य से आत्मा का आचरण न होने पर आत्मा को नहीं साध सकता। इस तरह साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति अर्थात् दूसरी तरह असिद्धि है।

भावार्थ—साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शनज्ञानचारित्र से ही है, अन्य प्रकार नहीं है। क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि जो यह जानने वाला अनुभव में आता है "वह मैं हूँ" उसके अनन्तर इसकी प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है। बिना जाने श्रद्धान किसका ? फिर समस्त अन्यभावों से भेद

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नं न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥२०॥

ननु ज्ञानतादात्म्यादात्मा ज्ञानं[1] नित्यमुपास्त एव कुतस्तदुपास्यत्वेनानुशास्यत[2] इति चेत्तन्न, यतो न खल्वात्मा ज्ञानतादात्म्येऽपि क्षणमपि ज्ञानमुपास्ते स्वयंबुद्ध-बोधितबुद्धत्वकारणपूर्वकत्वेन ज्ञानस्योत्पत्तेः । तर्हि तत्कारणात्पूर्वमज्ञान एवात्मा, नित्यमेवाप्रतिबुद्धत्वादेवमेतत् ॥१७॥१८॥

दार्ष्टान्तः । इदमत्र तात्पर्यं भेदाभेदरत्नत्रयभावनारूपया परमात्मचिन्तयैव पूर्यतेऽस्माकं किं विशेषेण शुभाशुभ-रूपविकल्पजालेनेति एवं भेदाभेदरत्नत्रयव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं द्वितीयस्थले गतम् ॥१७॥१८॥ अथ स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयं कथ्यते । तद्यथा—स्वपरभेदविज्ञानाभावे जीवस्तावदज्ञानी भवति परं किन्तु कियत्कालपर्यन्तम् इति न ज्ञायते एवं पृष्टे सति प्रथमगाथायां प्रत्युत्तरं ददाति—**कम्मे** कर्मणि ज्ञाना-वरणादिद्रव्यकर्मणि रागादिभावकर्मणि च **णोकम्महिय** शरीरादिनोकर्मणि च **अहमिदि** अहमिति प्रतीतिः **अहकं च कम्मणोकम्मं** अहकं च कर्म नोकर्मेति प्रतीतिः यथा घटे वर्णादयो गुणा घटाकारपरिणतपुद्गलस्कंधाश्च वर्णादिषु च घट इत्यभेदेन **जा** यावन्तं कालं **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता खलु स्फुटं **बुद्धी** तथा कर्मनोकर्मणा सह

करके अपने में स्थिर होवे ऐसी सिद्धि है। जब जानेगा ही नहीं तब श्रद्धान भी नहीं हो सकेगा। तब स्थिरता किसमें कर सकता है। इसलिये दूसरी तरह सिद्धि नहीं है ऐसा निश्चय है।

अब इसी को दृढ़ करने के लिये कलशरूप काव्य कहते हैं—"**कथमपि**" इत्यादि। **अर्थ**—आचार्य कहते हैं कि इस आत्मज्योति को हम निरन्तर अनुभव करते हैं। जो आत्मज्योति, अनन्त अविनश्वर चैतन्य चिह्नवाली है, क्योंकि इसके अनुभव बिना अन्य रीति से साध्य आत्मा की सिद्धि नहीं है। जिस आत्मज्योति ने किसी प्रकार तीन रूपता अङ्गीकार की है तो भी वह एक रूप से च्युत नहीं हुई तथा निर्मल उदय को प्राप्त हुई है।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसके किसी तरह पर्यायदृष्टि से तीनपना प्राप्त है तो भी शुद्धद्रव्यदृष्टि से एकरूपता नहीं छूटी है तथा अनन्त चैतन्यस्वरूप निर्मल उदय को प्राप्त आत्म-ज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं। ऐसा कहने से यह आशय भी जानना कि जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं वे ऐसे ही अनुभव करें कि जैसे हम अनुभव करते हैं। **प्रश्न**—आत्मा तो ज्ञान से तादा-त्म्यस्वरूप है जुदा नहीं है इसलिये ज्ञान का नित्य सेवन करता ही है फिर ज्ञान का ही उपासना करने की शिक्षा क्यों दी जाती है? **समाधान**—यह कहना ठीक नहीं, यद्यपि आत्मा ज्ञान से तादात्म्यरूप है तो भी एक क्षणमात्र भी ज्ञान की उपासना नहीं करता। इसके ज्ञान की उत्पत्ति आप ही जानने से अथवा दूसरे के बतलाने से होती है; क्योंकि या तो काललब्धि आये तब आप ही जान लेता है या कोई उपदेश देने वाला मिले तब जान सकता है। जैसे सोया हुआ पुरुष या तो आप ही जाग जाता है या कोई जगावे तब जाग सकेगा। **प्रश्न**—यदि इस तरह है तो जानने के कारण के पहले आत्मा अज्ञानी ही है, क्योंकि सदा ही इसके अप्रतिबुद्धपना है? **उत्तर**—यह बात ऐसे ही है कि वह अज्ञानी ही है ॥१७।१८॥

---

१ मुद्रित प्रतौ 'आत्मानं' इति पाठः। २ 'अनुशासनम्' इत्यपि पाठः प्रतौ।

तर्हि कियन्तं कालमयमप्रतिबुद्धो भवतीत्यभिधीयताम्—

कम्मे णोकम्मह्मि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

कर्मणि नोकर्मणि चाहमित्यहकं च कर्म नोकर्म ।
यावदेषा खलु बुद्धिरप्रतिबुद्धो भवति तावत् ॥१९॥

यथा स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावेषु पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धेषु घटोऽयमिति घटे च स्पर्शरसगन्धवर्णादिभावाः पृथुबुध्नोदराद्याकारपरिणतपुद्गलस्कन्धाश्चामी इति वस्त्वभेदेनानुभूतिस्तथा कर्मणि मोहादिष्वन्तरङ्गेषु, नोकर्मणि शरीरादिषु बहिरङ्गेषु चात्मतिरस्कारिषु पुद्गलपरिणामेष्वहमित्यात्मनि च कर्ममोहादयोऽन्तरङ्गा नोकर्मशरीरादयो बहिरङ्गाश्चात्मतिरस्कारिणः पुद्गलपरिणामा अमीः इति वस्त्वभेदेन यावन्तं कालमनुभूतिस्तावन्तं कालमात्मा भवत्यप्रतिबुद्धः । यदा कदाचिद्यथा रूपिणो दर्पणस्य स्वपराकावभासिनी स्वच्छतैव वह्नेरौष्ण्यं ज्वाला च तथा नीरूपस्यात्मनः स्वपराकारावभासिनी ज्ञातृतैव, पुद्गलानां कर्म नोकर्म चेति स्वतःपरतो वा भेदविज्ञानमूलानुभूतिरुत्पत्स्यते तदैव प्रतिबुद्धो भविष्यति ॥१९॥

शुद्धबुद्धैकस्वभावजिनपरमात्मवस्तुनःऐक्यबुद्धिः अप्पडिबुद्धो अप्रतिबुद्धः स्वसंवित्तिशून्यो बहिरात्मा हवदि भवति ताव तावत्कालमिति । अत्र भेदविज्ञानमूलां शुद्धात्मानुभूतिं स्वतः स्वयम्बुद्धापेक्षया परतो वा बोधितबुद्धापेक्षया ये लभन्ते ते पुरुषाः शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु विद्यमानेष्वपि मुकुरुन्दवदविकारा भवन्तीति भावार्थः ॥१९॥

आगे फिर पूछते हैं कि यह आत्मा कितने समय तक अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) रहता है ? उसके उत्तर का गाथासूत्र कहते हैं,—[यावत्] जब तक इस आत्मा के [कर्मणि] ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म भावकर्म [वा] और [नोकर्मणि] शरीर आदि नोकर्म में [अहं कर्म नोकर्म] मैं कर्म नोकर्म हूँ [अहकं इति च] और ये कर्म नोकर्म मेरे हैं [एषा खलु] ऐसी निश्चय [मतिः] बुद्धि है [तावत्] तब तक [अप्रतिबुद्धः] यह आत्मा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) [भवति] है।

टीका—जैसे स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण आदि भावों में चौड़ा नीचे अवगाहरूप उदर आदि के आकार परिणत हुए पुद्गल के स्कन्धों (समूह) में यह घट है और घट में स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण आदि भाव हैं तथा पृथु बुध्नोदर आदि के आकार परिणत पुद्गलस्कन्ध हैं, ऐसे वस्तु के अभेद से अनुभूति है, उसी तरह कर्म जो मोह आदि अन्तरङ्ग परिणाम और नोकर्म जो शरीर आदि वाह्य-वस्तु ये सब पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा के तिरस्कार करने वाले हैं। उनमें ये कर्म नोकर्म 'मैं हूँ' तथा मोहादिक अन्तरङ्ग और शरीरादि बहिरङ्ग कर्म आत्मा के तिरस्कार करने वाले पुद्गल परिणाम मेरे आत्मा के हैं, इस प्रकार वस्तु के अभेद से जब तक अनुभूति है तब तक आत्मा

कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूलामचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावैर्मुकुरवदविकाराः सन्ततं स्युस्त एव ॥२१॥

अथ शुद्धजीवे यदा रागादिरहितपरिणामस्तदा मोक्षो भवति । अजीवे देहादौ यदा रागादिपरिणामस्तदा बन्धो भवतीत्याख्याति ।

जीवेव अजीवे वा संपदि समयह्मि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बन्धमोक्खो हवदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥

जीवे वा अजीवे वा सम्प्रतिसमये यत्रोपयुक्तः । तत्रैव बन्धः मोक्षो भवति समासेन निर्दिष्टः । जीवेव स्वशुद्धजीवे वा अजीवे वा देहादौ वा संपदिसमयह्मि वर्त्तमानकाले जत्थ उवजुत्तो यत्रोपयुक्तः तन्मयत्वेनोपादेयबुद्ध्या परिणतः तत्थेव तत्रैव अजीवे जीवे वा बंधमोक्खो अजीवे देहादौ बन्धो, जीवो शुद्धात्मनि मोक्षः हवदि भवति समासेण णिद्दिट्ठो संक्षेपेण सर्वज्ञैर्निर्दिष्ट इति । अत्रैवं ज्ञात्वा सहजानन्दैकस्वभावे निजात्मनि रतिः कर्त्तव्या । तद्विलक्षणे परद्रव्ये विरतिरित्यभिप्रायः ॥ अथाशुद्धनिश्चयेनात्मा रागादिभावकर्मणां कर्त्ता अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्रव्यकर्मणामित्यावेदयति—

अप्रतिवुद्ध है, अज्ञानी है । और जब किसी समय जैसे रूपी दर्पणकी स्वपर के आकार को प्रतिभास करने वाली स्वच्छता ही है तथा उष्णता और ज्वाला अग्नि की है, उसी तरह अरूपी आत्मा की अपने परके जानने वाली ज्ञातृता (ज्ञातापना) ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल के ही हैं ऐसी अपने आप ही अथवा दूसरे के उपदेश से भेदविज्ञान कारणवाली अनुभूति उत्पन्न हो जायगी तब ही यह आत्मा प्रतिवुद्ध (ज्ञानी) होगा ।

भावार्थ—यह आत्मा जब तक ऐसा जानता है कि जैसे स्पर्श आदिक पुद्गल में हैं और पुद्गल स्पर्शादिमय है उसी तरह जीव में कर्म नोकर्म हैं और कर्म नोकर्ममय जीव है तब तक तो अज्ञानी है । और जब यह जान ले कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म नोकर्म पुद्गल के ही हैं तभी यह ज्ञानी होता है। जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दीखती हो, यहाँ ऐसा जाने कि ज्वाला तो अग्नि में ही है, दर्पण में नहीं बैठी । जो दर्पण में दीख रही है वह दर्पण की स्वच्छता ही है । इसी तरह कर्म नोकर्म अपने आत्मा में नहीं बैठे, आत्मा के ज्ञान की स्वच्छता ऐसी है जिसमें ज्ञेयका प्रतिबिंब दीखता है । इस प्रकार कर्म नोकर्म ज्ञेय हैं, वे प्रतिभासित होते हैं ऐसा अनुभव आत्मा का भेद-ज्ञानरूप या तो स्वयमेव हो अथवा उपदेश से हो तव ही ज्ञान होता है ।

अव इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं "कथमपि" इत्यादि । अर्थ—जो पुरुष आप से ही अथवा पर के उपदेश से किसी तरह भेदविज्ञानरूप मूलकारण वाली अविचल निश्चल अपने आत्मा की अनुभूति को प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पण की तरह अपने आत्मा में प्रतिबिंबित हुए अनन्त भावों के स्वभावों से निरन्तर विकाररहित होते हैं, ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १९ ॥

ननु कथमयमप्रतिबुद्धो लक्ष्येत–

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सेव होमि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
[1]आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहंपि आसि पुव्वंहि ।
होहिदि पुणोवि मज्झं एयस्स अहंपि होस्सामि ॥२१॥
एयं तु असंभूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥ (त्रिकलम्)

अहमेतदेतदहमहमेतस्यास्मि ममैतत् ।
अन्यद्यत्परद्रव्यं सचित्ताचित्तमिश्रं वा ॥२०॥
आसीन्मम पूर्वमेतद् एतस्याहमप्यासं पूर्वं हि ।
भविष्यति पुनरपि मम एतस्याहमपि भविष्यामि ॥२१॥
एतत्त्वसद्भूतमात्मविकल्पं करोति संमूढः ।
भूतार्थं जानन्न करोति तु तमसंमूढः ॥२२॥

यथाग्निरिन्धनमस्तीन्धनमग्निरस्त्यग्नेरिन्धनमस्तीन्धनस्याग्निरस्त्यग्नेरिन्धनं

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
निश्चयतः व्यवहारात् पुद्गलकर्मणां कर्त्ता ॥

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं करोति रागादिभावमात्मा स तस्य भावस्य परिणामस्य कर्त्ता भवति। णिच्छयदो अशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धभावानां, शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धभावानां कर्त्तेति। भावानां परिणमनमेव कर्तृत्वम्। ववहारा अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयात् पोग्गलकम्माण पुद्गलद्रव्य-कर्मादीनां कत्तारं कर्त्तेति। कर्तारम् इति कर्मपदं कर्त्तेति कथं भवतीति चेत् प्राकृते क्वापि कारकव्यभिचारो लिङ्गव्यभिचारश्च। अत्र रागादीनां जीवः कर्त्तेति भणितं ते च संसारकारणं ततः संसारभयभीतेन मोक्षा-

---

आगे शिष्य प्रश्न करता है कि यह अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) किस तरह पहचाना जा सकता है उसके चिह्न बतलाओ, उसके उत्तररूप गाथा कहते हैं:—[यः] जो पुरुष [अन्यत् यत् परद्रव्यम्] अपने से अन्य जो परद्रव्य [सचित्ताचित्तमिश्रं वा] सचित्त स्त्रीपुत्रादिक, अचित्त धनधान्यादिक,

---

१. तात्पर्यवृत्ति के अनुसार इस गाथा के द्वितीय और चतुर्थ पाद क्रमशः इस प्रकार हैं—
अहमेदं चावि पुव्वं कालम्हि, अहमेदं चावि होस्सामि ।

पूर्वमासीदिन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यतीन्धनस्याग्निः पुनर्भविष्यतीतीन्धन एवासद्भूताग्निविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धः कश्चिल्लक्ष्येत तथाहमेतदस्म्येदहमस्ति ममैतदस्त्येतस्याहमस्मि ममैतत्पूर्वमासीदेतस्याहं पूर्वमासं ममैतत्पुनर्भविष्यत्येतस्याहं पुनर्भविष्यामीति परद्रव्य एवासद्भूतात्मविकल्पत्वेनाप्रतिबुद्धो लक्ष्येतात्मा । नाग्निरिन्धनमस्ति नेन्धनमग्निरस्त्यग्निरग्निरस्तीन्धनमिन्धनमस्ति । नाग्नेरिन्धनमस्ति नेन्धनस्याग्निरस्त्यग्नेरग्निरस्तीन्धनस्येन्धनमस्ति । नाग्नेरिन्धनं पूर्वमासीन्नेन्धनस्याग्निः पूर्वमासीदग्नेरग्निः पूर्वमासीदिन्धनस्येन्धनं पूर्वमासीन्नाग्नेरिन्धनं पुनर्भविष्यति नेन्ध-

थिना समस्तरागादिविभावरहिते शुद्धद्रव्यगुणपर्याये स्वरूपे निजपरमात्मनि भावना कर्त्तव्येत्यभिप्रायः । एवं स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ यथा कोऽप्यप्रतिबुद्धः अग्निरिन्धनं भवति इन्धनमग्निर्भवति अग्निरिन्धनमासीत् इन्धनमग्निरासीत् अग्निरिन्धनं भविष्यति इन्धनमग्निर्भविष्यतीति वदति तथा यः कालत्रयेऽपि देहरागादिपरद्रव्यमात्मनि योजयति सोऽप्रतिबुद्धो बहिरात्मा मिथ्याज्ञानी भवतीति प्ररूपयति—अहमेदं एवमहं अहं इदं, परद्रव्यं इदम् अहं भवामि । अहमेदस्सेव हि होमि मम एदं अहमस्य सम्बन्धी भवामि मम सम्बन्धीदम् अण्णं जं परदव्वं देहादन्यद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि यत्परद्रव्यं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा सचित्ताचित्तमिश्रं वा । तच्च गृहस्थापेक्षया सचित्तं स्त्र्यादि, अचित्तं सुवर्णादि, मिश्रं साभरणस्त्र्यादि । अथवा तपोधनापेक्षया सचित्तं छात्रादि, अचित्तं पिच्छकमण्डलुपुस्तकादि, मिश्रमुपकरणसहितछात्रादि । अथवा सचित्तं रागादि, अचित्तं द्रव्यकर्म्मादि, मिश्रं द्रव्यभावकर्म्मद्वयम् । अथवा विषयकषायरहितनिर्विकल्पसमाधिस्थपुरुषापेक्षया सचित्तं सिद्धपरमेष्ठिस्वरूपम्, अचित्तं पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूपं, मिश्रं गुणस्थानजीवस्थानमार्गणादिपरिणतसंसारिजीवस्वरूपमिति वर्त्तमानकालापेक्षया गाथा गता । आसीत्यादि । आसि मम पुव्वमेदं आसीत् मम पूर्वमेतत् अहमेदं चावि पुव्वकालह्मि अहमिदं चैव पूर्वकाले होहिदि पुणोवि मज्झं भविष्यति पुनरपि मम अहमेदं चावि होस्सामि अहमिदं चैव पुनर्भविष्यामि इति भूतभाविकालापेक्षया गाथा गता । एदमित्यादि । एदं इमं तु पुनः असंभूदं असद्भूतं कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्यारूपं आदवियप्पं आत्मविकल्पम् अशुद्धनिश्चयनयेन जीवपरिणामं करेदि करोति सम्मूढो सम्यङ्मूढः अज्ञानी बहिरात्मा । भूदत्थं भूतार्थं निश्चयनयं जाणंतो जानन् सन् ण करेदि न करोति । दु पुनः कालत्रयपरद्रव्यसम्बन्धिमिथ्याविकल्पं असम्मूढो असंमूढः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा ज्ञानी भेदाभेदरत्नत्रयभावनारतः । किञ्च यथा कोऽप्यज्ञानी अग्निरिन्धनम् इन्धनमग्निः कालत्रये निश्चयेनैकान्तेनाभेदेन वदति तथा देहरागादिपरद्रव्यमिदानीमहं भवामि पूर्वमहमासं पुनरग्रे भविष्यामीति यो वदति सोऽज्ञानी बहिरात्मा तद्विपरीतो ज्ञानी सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मेति । एवमज्ञानिज्ञानिजीवलक्षणं ज्ञात्वा निर्विकार-

मिश्र ग्रामनगरादिक—इनको ऐसा समझे कि [अहम् एतत्] मैं यह हूँ [एतत् अहम्] ये द्रव्य मुझ स्वरूप हैं [एतस्य अहम्] मैं इनका हूँ [एतत् मम अस्ति] ये मेरे हैं [एतत् मम पूर्वम् आसीत्] ये मेरे पूर्व में थे [एतस्य अहमपि पूर्वम् आसम्] इनका मैं भी पहले था [पुनः] तथा [एतत् मम भविष्यति] ये मेरे आगामी होंगे [अहमपि एतस्य भविष्यामि] मैं भी इनका आगामी होऊँगा, [एतत्तु असद्भूतम्] ऐसा झूठा [आत्मविकल्पम्] आत्मविकल्प करता है वह [संमूढः] मूढ है [तु] और जो पुरुष [भूतार्थम्] परमार्थ वस्तुस्वरूप को [जानन्] जानता हुआ [तम्] ऐसा झूठा विकल्प [न करोति] नहीं करता है, वह [असंमूढः] मूढ नहीं है, ज्ञानी है ।

नस्याग्निः पुनर्भविष्यत्यग्नेरग्निः पुनर्भविष्यतीन्धनस्येन्धनं पुनर्भविष्यतीति कस्यचिदग्नावेव सद्भूताग्निविकल्पवन्नाहमेतदस्मि नैतदहमस्त्यहमहमस्म्येतदेतदस्ति न ममैतदस्ति नैतस्याहमस्मि ममाहमस्म्येतस्यैतदस्ति न ममैतत्पूर्वमासीन्नैतस्याहं पूर्वमासं ममाहं पूर्वमासमेतस्यैतत्पूर्वमासीन्न ममैतत्पुनर्भविष्यति नैतस्याहं पुनर्भविष्यामि ममाहं पुनर्भविष्याम्येतस्यैतत्पुनर्भविष्यतीति स्वद्रव्य एव सद्भूतात्मविकल्पस्य प्रतिबुद्धलक्षणस्य भावात् ॥२०।२१।२२॥

स्वसम्वेदनलक्षणे भेदज्ञाने स्थित्वा भावना कार्येति तामेव भावनां दृढयति। यथा कोऽपि राजसेवकपुरुषो राजशत्रुभिः सह संसर्गं कुर्वाणः सन् राजाराधको न भवति तथा परमात्माऽराधकपुरुषस्तत्प्रतिपक्षभूतमिथ्यात्वरागादिभिः परिणममानः परमात्माराधको न भवतीति भावार्थः। एवमप्रतिबुद्धलक्षणकथनेन चतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् ॥ २०-२१-२२ ॥

टीका—जैसे कोई पुरुष इंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करता है कि अग्नि है वह इंधन है तथा इंधन है वह अग्नि है, अग्नि का इंधन पहले था, इंधन की अग्नि पहले थी, अग्नि का इंधन आगामी होगा, इंधन की अग्नि आगामी होगी, इस तरह इंधन में ही अग्नि का विकल्प करता है वह झूठा है। इसी से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जा सकता है। उसी प्ररह दार्ष्टान्त है, जैसे जो कोई परद्रव्य में असत्यार्थ आत्मविकल्प करे कि मैं यह परद्रव्य हूँ और यह परद्रव्य है वह मैं हूँ, यह मेरा परद्रव्य है, इस परद्रव्य का मैं हूँ, मेरा यह पहले था, मैं इसका पहले था, मेरा यह आगामी होगा, मैं इसका आगामी होऊँगा। ऐसे झूठे विकल्प से अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) पहचाना जाता है। तथा अग्नि है वह इंधन नहीं है, इंधन है वह अग्नि नहीं है, अग्नि है वह अग्नि ही है, ईधन है वह इंधन ही है, अग्नि का इंधन नहीं है, इंधन की अग्नि नहीं है, अग्नि की ही अग्नि है, इंधन का इंधन है, अग्नि का इंधन पहले हुआ नहीं, इंधन की अग्नि पहले हुई नहीं, अग्नि की अग्नि पहले थी, इंधन का ईधन पहले था। तथा अग्नि का इंधन आगामी नहीं होगा, इंधन की अग्नि आगामी नहीं होगी, अग्नि की अग्नि ही आगामी होगी, इंधन का इंधन ही आगामी होगा। इस तरह किसी के अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प जिस प्रकार हो जाता है, उसी तरह मैं यह परद्रव्य नहीं हूँ पर द्रव्य का पर द्रव्य ही है तथा यह परद्रव्य मुझ स्वरूप नहीं है, मैं तो मैं ही हूँ परद्रव्य है वह परद्रव्य ही है तथा मेरा यह परद्रव्य नहीं है, इस परद्रव्य का मैं नहीं हूँ, अपना ही मैं हूँ, परद्रव्य का परद्रव्य है। तथा इस परद्रव्य का मैं पहले नहीं हुआ, यह परद्रव्य मेरा पहले नहीं था, अपना मैं ही पूर्व में था, परद्रव्य का परद्रव्य पहले था। तथा यह परद्रव्य मेरा आगामी न होगा, उसका मैं आगामी न होऊँगा, मैं अपना ही आगामी होऊँगा, इस (परद्रव्य) का यह (परद्रव्य) आगामी होगा। ऐसा जो स्वद्रव्य में ही सत्यार्थ आत्मविकल्प होता है यही प्रतिबुद्धि ज्ञानी का लक्षण है, इसी से ज्ञानी पहचाना जाता है।

भावार्थ—जो परद्रव्य में आत्मा का विकल्प करता है वह तो अज्ञानी है। और अपने आत्मा को ही अपना मानता है वह ज्ञानी है। ऐसा अग्नि इंधन के दृष्टान्त से दृढ़ किया है।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ॥२२॥

अथाप्रतिबुद्धबोधनाय व्यवसायः—

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पुग्गलदव्वी–भूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पुग्गलदव्वी—भूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तोसत्तो वुत्तुं जे मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ॥२५॥

अज्ञानमोहितमतिर्ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् ।
बद्धमबद्धं च तथा जीवो बहुभावसंयुक्तः ॥२३॥
सर्वज्ञज्ञानदृष्टो जीव उपयोगलक्षणो नित्यम् ।
कथं स पुद्गलद्रव्यीभूतो यद्भणसि ममेदम् ॥२४॥
यदि स पुद्गलद्रव्यीभूतो जीवत्वमागतमितरत् ।
तच्छक्तो वक्तुं यन्ममेदं पुद्गलं द्रव्यम् ॥२५॥

अथाप्रतिबुद्धसंबोधनार्थं व्यवसायः क्रियते;—अण्णाणेत्यादि व्याख्यानं क्रियते । अण्णाणमोहिदमदी अज्ञानमोहित–मतिः मज्झमिणं भणदि पुग्गलं दव्वं ममेदं भणति पुद्गलं द्रव्यम् । कथंभूतम् । बद्धमबद्धं च

आगे इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—त्यजतु इत्यादि । अर्थ—हे लोक के जीवो, अनादि संसार से लेकर अब तक अनुभव किए मोह को अब तो छोड़ो और रसिक जनों को रुचने वाला उदय हुआ जो ज्ञान उसे आस्वादन करो; क्योंकि इस लोक में आत्मा है वह परद्रव्य के साथ किसी समय में प्रगटरीति से एकत्व को किसी प्रकार प्राप्त नहीं होता । इसलिए आत्मा एक है, वह अन्य द्रव्य के साथ एकरूप नहीं होता ।

भावार्थ—आत्मा परद्रव्य से किसी प्रकार किसी काल में एकता के भाव को नहीं प्राप्त होता । इसलिए आचार्य ने ऐसी प्रेरणा की है कि अनादि से लगा हुआ जो परद्रव्य से मोह है उस एकपनेरूप मोह को अब छोड़ो और ज्ञान का आस्वादन करो । मोह वृथा है, झूठा है, दुःख का कारण है ऐसा भेदविज्ञान बतलाया है ।२०।२१।२२।

आगे अप्रतिबुद्ध के समझाने के लिये उद्यम करते हैं;—[अज्ञानमोहितमतिः] अज्ञान से जिसकी मति मोहित है ऐसा [जीवः] जीव इस तरह [भणति] कहता है कि [इदम्] यह [बद्धं च

युगपदनेकविधस्य बन्धनोपाधेः सन्निधानेन प्रधावितानामस्वभावभावानां संयोगवशाद्विचित्रोपाश्रयोपरक्तः स्फटिकोपल इवात्यन्ततिरोहितस्वभावभावतया अस्तमितसमस्तविवेकज्योतिर्महता स्वयमज्ञानेन विमोहितहृदयो भेदमकृत्वा तानेवास्वभावभावान् स्वीकुर्वाणः पुद्गलद्रव्यं ममेदमित्यनुभवति किलाप्रतिबुद्धो जीवः । अथायमेव प्रतिबोध्यते रे दुरात्मन्, [1]आत्मपंसन्, जहीहि जहीहि परमाविवेकघस्मरसतृणाभ्यवहारित्वम् । दूरनिरस्तसमस्तसन्देहविपर्यासानध्यवसायेन विश्वैकज्योतिषा सर्वज्ञज्ञानेन स्फुटीकृतं किल नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यम् । तत्कथं पुद्गलद्रव्यीभूतं येन पुद्गल-

---

बद्धं संबद्धं देहरूपम् । अबद्धं च असम्बद्धं देहाद्भिन्नं पुत्रकलत्रादि तहा तथा जीवे जीवद्रव्ये बहुभावसंजुत्तो मिथ्यात्वरागादिबहुभावसंयुक्तः । अज्ञानी जीवो देहपुत्रकलत्रादिकं परद्रव्यं ममेदं भणतीत्यर्थः । इति प्रथमगाथा गता । अथास्य बहिरात्मनः सम्बोधनं क्रियते—रे दुरात्मन् सव्वण्हु इत्यादि सव्वण्हुणाणदिट्ठो सर्वज्ञज्ञानदृष्टः जीवो जीवपदार्थः । कथम्भूतो दृष्टः । उवओगलक्खणो केवलज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणः णिच्चं नित्यं सर्वकालं कह कथं सो स जीवः पुग्गलदव्वीभूदो पुद्गलद्रव्यं जातः न कथमपि जं येन कारणेन भणसि भणसि त्वं मज्झमिणं ममेदं पुद्गलद्रव्यम् इति द्वितीया गाथा गता । जदि इत्यादि—जदि यदि चेत् सो स जीवः पुग्गलदव्वीभूदो पुद्गल-

---

अबद्धम्] शरीरादि बद्धद्रव्य, धनधान्यादि अबद्ध परद्रव्य [मम] मेरा है । वह जीव [बहुभावसंयुक्तः] मोह राग द्वेषादि ब त भावों से सहित है । आचार्य कहते हैं जो [जीवः] जीव [सर्वज्ञज्ञानदृष्टः] सर्वज्ञ के ज्ञान में देखा गया [नित्यं] नित्य [उपयोगलक्षणः] उपयोग लक्षण वाला है [सः] वह [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप [कथं] कैसे हो सकता है ? [यत्] जो [भणसि] तू कहता है कि [इदं मम] यह पुद्गल द्रव्य मेरा है ? [यदि] यदि [सः] जीवद्रव्यं [पुद्गलद्रव्यीभूतः] पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय तो [इतरत्] पुद्गलद्रव्य भी [जीवत्वम्] जीवपने को [आगतम्] प्राप्त हो जायगा । यदि ऐसा हो जाय [तत्] तो [वक्तुं शक्तः] तुम कह सकते हो [यत्] कि [इदं पुद्गलद्रव्यम्] यह पुद्गलद्रव्यम् [मम] मेरा है । (किन्तु ऐसा नहीं है) ।

टीका—अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को "यह मेरा है" ऐसा अनुभव करता है । वह अज्ञानी अत्यन्त आच्छादित हुए अपने स्वभाव से जिसकी समस्त भेदज्ञानरूप ज्योति अस्त हो गई है; महा अज्ञान से जिसका हृदय अपने आप ही विमोहित है, भेदज्ञान के विना अपना और पर का भेद नहीं करके जो अपने स्वभाव नहीं हैं ऐसे विभावों को अपने करता है । क्योंकि परभावों के सम्बन्ध से अपना स्वभाव अत्यन्त छिप गया है वे परभाव एक समय में अनेक प्रकार के बन्धन की उपाधि की अतिनिकटता से प्राप्त हुए हैं । जैसे स्फटिकपाषाण में अनेक तरह के वर्ण की निकटता से अनेकरूपता दीखती है स्फटिक का निज श्वेत निर्मलभाव नहीं दीखता । उसीतरह कर्म की उपाधि से आत्मा का शुद्ध स्वभाव आच्छादित हो रहा है, वह नहीं दीखता । इसी कारण वह पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है । ऐसे अज्ञानी को समझाते हैं कि रे दुरात्मन्, आत्मा का घातक, तू परम अविवेक

---

१. आत्म-विनाशक ।

द्रव्यम् ममेदमित्यनुभवसि। यतो यदि कथञ्चनापि जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभूतं स्यात्। पुद्गलद्रव्यञ्च जीवद्रव्यीभूतं स्यात् तदैव लवणस्योदकमिव ममेदं पुद्गलद्रव्यमित्यनुभूतिः किल घटेत तत्तु न कथञ्चनापि स्यात्। तथाहि—यथा क्षारत्वलक्षणं लवणमुदकीभवत् द्रवत्वलक्षणमुदकं च लवणीभवत् क्षारत्वद्रवत्वसहवृत्त्यविरोधादनुभूयते, न तथा नित्योपयोगलक्षणं जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यीभवन् नित्यानुपयोगलक्षणं पुद्गलद्रव्यं च जीवद्रव्यीभवद् उपयोगानुपयोगयोः प्रकाशतमसोरिव सहवृत्तिविरोधादनुभूयते। तत्सर्वथा प्रसीद विबुध्यस्व, स्वद्रव्यं ममेदमित्यनुभव ॥२३।२४।२५॥

द्रव्यं जातः जीवो जीवः। जीवत्तं जीवत्वं आगदं आगतं प्राप्तम् इदरं इतरत् शरीरपुद्गलद्रव्यं तो सक्का वुत्तुं ततः शक्यं वक्तुं जे अहो अथवा यस्मात्कारणात् मज्झमिणं पुग्गलं दव्वं ममेदं पुद्गलद्रव्यमिति। न चैवं यथा वर्षासु लवणमुदकीभवति ग्रीष्मकाले जलं लवणीभवति। तथा यदि चैतन्यं विहाय जीवद्रव्यं पुद्गलद्रव्यस्वरूपेण परिणमति पुद्गलद्रव्यं च मूर्त्तत्वमचेतनत्वं विहाय चिद्रूपं चामूर्तत्वं च भवति तदा भवदीयवचनं सत्यं भवति। रे दुरात्मन् न च तथा प्रत्यक्षविरोधात्। ततो जीवद्रव्यं देहाद्भिन्नममूर्त्तं शुद्धबुद्धैकस्वभावं सिद्धमिति। एवं देहात्मनोर्भेदज्ञानं ज्ञात्वा मोहोदयोत्पन्नसमस्त विकल्पजालं त्यक्त्वा निर्विकारचैतन्यचमत्कार-

---

से जैसे तृणसहित सुन्दर आहार को हस्ती आदि पशु खाता है उसी तरह के खाने का स्वभाव छोड़-छोड़। जो-सर्वज्ञ के ज्ञान से प्रकट किया नित्य उपयोग स्वभावरूप जीवद्रव्य वह कैसे पुद्गल रूप हो गया जिससे कि तू "यह पुद्गल मेरा है" ऐसा अनुभव करता है। कैसा है सर्वज्ञ का ज्ञान जिसने समस्त सन्देह विपर्यय अनध्यवसाय दूर कर दिये हैं समस्त वस्तु के प्रकाशने को एक अद्वितीय ज्योति है। ऐसे ज्ञान से दिखलाया गया है। और कदाचित् किसी प्रकार जैसे लवण तो जलरूप तथा जल लवणरूप हो जाता है उसी प्रकार जीवद्रव्य तो पुद्गल हो जाय तथा पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो जाय तो तेरी "पुद्गलद्रव्य मेरा है" ऐसी अनुभूति बन जाय ऐसा तो किसी तरह भी द्रव्यस्वभाव बदल नहीं सकता। यही दृष्टान्त से अच्छी तरह बतलाते हैं जैसे क्षार स्वभाव वाला लवण तो जलरूप हुआ दीखता है और द्रवत्वलक्षण वाला जल लवणरूप हुआ देखा जाता है क्योंकि लवण का क्षारपना तथा जल का द्रवपना इन दोनों के साथ रहने में अविरोध है इसमें कोई बाधा नहीं है। उसी तरह नित्य उपयोग लक्षण वाला जीवद्रव्य तो पुद्गलद्रव्य हुआ देखने में नहीं आता और नित्य अनुपयोग (जड़) लक्षण वाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्य रूप हुआ नहीं दीखता क्योंकि प्रकाश तथा अन्धकार इन दोनों की तरह उपयोग तथा अनुपयोग के एक साथ रहने का विरोध है, जड़ चेतन ये दोनों किसी समय भी एक नहीं हो सकते। इसलिए तू सब तरह से प्रसन्न हो अर्थात् अपना चित्त उज्ज्वल कर सावधान हो, अपने ही द्रव्य को अपने अनुभव रूप कर, ऐसा श्री गुरुओं का उपदेश है।

भावार्थ—यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है उसको उपदेश कर सावधान किया है कि सर्वज्ञ ने ऐसा देखा है कि जड़ और चेतनद्रव्य ये दोनों सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं कदाचित् किसी प्रकार से भी एकरूप नहीं होते। इसी कारण हे अज्ञानी, तू परद्रव्य को एकरूप से मानना छोड़ दे, ऐसा वृथा मानने से कुछ लाभ नहीं है।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन् अनुभव भव मूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥२३

मात्रे निजपरमात्मतत्त्वे भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम् इत्यप्रतिबुद्धसम्बोधनार्थं पञ्चमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥२३।२४।२५॥ अथ पूर्वपक्षपरिहाररूपेण गाथाष्टकं कथ्यते, तत्रैकगाथायां पूर्वपक्षः गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारः । गाथात्रये निश्चयस्तुतिरूपेण परिहार इति षष्ठस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा प्रथमतस्तावत् यदि जीवशरीरयोरेकत्वं न भवति तदा तीर्थकराचार्यस्तुतिर्वृथा भवतीत्यप्रतिबुद्धशिष्यः पूर्वपक्षं करोति—जदि जीवो ण सरीरं हे भगवन् यदि जीवः शरीरं न भवति तित्थयरायरियसंथुदी चेव तर्हि "द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलावित्यादि" तीर्थङ्करस्तुतिः "देसकुलजाइसुद्धा" इत्याचार्यस्तुतिश्च सव्वावि हवदि मिच्छा सर्वापि भवति मिथ्या तेण दु आदा हवदि देहो तेन त्वात्मा भवति देहः । इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः । एवं पूर्वपक्षगाथा गता ॥ २६ ॥ हे शिष्ट यदुक्तं त्वया तन्न घटते यतो निश्चयव्यवहारनयपरस्परसाध्यसाधकभावं न जानासि त्वमिति—ववहारणयो भासदि व्यवहारनयो भाषते ब्रूते । किं ब्रूते । जीवो देहो य हवदि खलु इक्को जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो न तु निश्चयस्याभिप्रायेण जीवो देहश्च कदाचित्काले एकार्थः एको भवति । यथा कनककलधौतयोः समावर्त्तितावस्थायां व्यवहारेणैकत्वेऽपि निश्चयेन भिन्नत्वं तथा जीवदेहयोरिति भावार्थः । ततःकारणात् व्यवहारनयेन देहस्तवनेनात्मस्तवनं युक्तं भवतीति नास्ति दोषः ॥ २७ ॥ तथाहि—इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी इदमन्यद्भिन्नं जीवात्सकाशाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः । मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं पश्चाद्व्यवहारेण मन्यते संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवानिति । यथा सुवर्णरजतयोरेकत्वे सति शुक्लं सुवर्णमिति व्यवहारो न निश्चयः तथा शुक्लरक्तोत्पलवर्णः केवलिपुरुष इत्यादिदेहस्तवनेन व्यवहारेणात्मस्तवनं भवति न निश्चयनयेनेति तात्पर्यार्थः ॥ २८ ॥ अथ निश्चयनयेन शरीरस्तवने केवलिस्तवनं न भवतीति दृढ़यति—तं णिच्छये ण जुज्जदि तत्पूर्वोक्तदेहस्तवने सति केवलिस्तवनं निश्चयेन न युज्यते । कथमिति चेत् । ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो यतः कारणाच्छरीरगुणाः शुक्लकृष्णादयः केवलिनः न

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—अयि इत्यादि । अर्थ—हे भाई, तू किसी तरह भी महान् कष्ट से अथवा मरणावस्था को प्राप्त हुआ भी तत्त्वों का कौतूहली हुआ इसी शरीरादि मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त (४८ मिनिट) अपने को पड़ौसी मानकर आत्मा का अनुभव कर, जिससे कि अपने आत्मा को विलासरूप सर्व परद्रव्यों से पृथक् देखकर इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ सके ।

भावार्थ—यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे, उसमें लीन होवे और परीषह (कष्ट) आने पर भी विचलित न हो तो घातिकर्म का नाश कर केवल ज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो जाय । आत्मानुभव का ऐसा माहात्म्य है, तब मिथ्यात्व का नाश कर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम है । इसलिए श्री गुरुओं ने यही प्रधानता से उपदेश दिया है ॥ २३।२४।२५ ॥

अथाहाप्रतिबुद्ध :—

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरियसंथुदी चेव ।
सव्वावि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

यदि जीवो न शरीरं तीर्थकराचार्यसंस्तुतिश्चैव ।
सर्वापि भवति मिथ्या तेन तु आत्मा भवति देहः ॥२६॥

यदि य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यं न भवेत्तदा—

कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये
धामोद्दामहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये ।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥२४॥

इत्यादिका तीर्थकराचार्य्यस्तुतिः समस्तापि मिथ्या स्यात् । ततो य एवात्मा तदेव शरीरं पुद्गलद्रव्यम् । इति ममैकान्तिकी प्रतिपत्तिः ॥२६॥

भवन्ति । तर्हि कथं केवलिनः स्तवनं भवति ? केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि केवलिगुणान् अनन्तज्ञानादीन् स्तौति यः स तत्त्वं वास्तवं स्फुटं वा केवलिनं स्तौति । यथा शुक्लवर्णरजतशब्देन सुवर्णं न

आगे अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीव का स्वरूप निर्दिष्ट करते हुए कहते हैं—अप्रतिबुद्ध कहता है कि [यदि] जो [जीवः] जीव है वह [शरीरं न] शरीर नहीं है तो [तीर्थंकराचार्यसंस्तुतिः] तीर्थङ्कर—आचार्यो की स्तुति करना है वह [सर्वापि] सब ही [मिथ्या भवति] मिथ्या हो जाय [तेन तु] इसलिए हम समझते हैं कि [आत्मा] आत्मा [देहः चैवः] यह देह ही [भवति] है।

टीका—जो आत्मा है वह पुद्गलद्रव्य स्वरूप यह शरीर ही है। ऐसा न हो तो तीथङ्कर आचार्यो की जो स्तुति की गई है वह सब मिथ्या हो जायगी। वह स्तुति इस तरह है। कान्त्यैव इत्यादि। अर्थ—'वे तीर्थङ्कर सूरि (मोक्षमार्गोपदेशक) वंदने योग्य हैं जो अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को स्नान कराते हैं—निर्मल करते हैं और तेज से उत्कृष्ट तेज वाले सूर्यादिक के तेज को भी छिपा देते हैं वे अपने रूप से लोकों का मन हर लेते हैं और दिव्यध्वनि (वाणी) से भव्यों के कानों में साक्षात् सुख अमृत वरसाते हैं तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं। इत्यादिक तीर्थङ्करों की स्तुति है वह सभी मिथ्या ठहरेगी। इसलिए हमारे तो यही एकान्त से निश्चय है कि आत्मा है वह शरीर ही है पुद्गल द्रव्य ही है। ऐसा अप्रतिवुद्ध ने कहा। उसको आचार्य उत्तर देते हैं कि इस तरह नहीं है, तूने नयविभाग नहीं समझा है ॥२६॥

नैवं नयविभागानभिज्ञोऽसि—

व्ववहारणयो भासदि जीवो देहोय हवदि खलु इक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदावि एकट्ठो ॥२७॥

व्यवहारनयो भाषते जीवो देहश्च भवति खल्वेकः ।
न तु निश्चयस्य जीवो देहश्च कदाऽप्येकार्थः ॥२७॥

इह खलु परस्परावगाढावस्थायामात्मशरीरयोः समावर्त्तितावस्थायां कनककलधौतयोरेकस्कन्धव्यवहारवद्व्यवहारमात्रेणैवैकत्वं न पुनर्निश्चयतः । निश्चयतो ह्यात्मशरीरयोरुपयोगानुपयोगस्वभावयोः कनककलधौतयोः पीतपाण्डुरत्वादिस्वभावयोरिवात्यन्तव्यतिरिक्तत्वेनैकार्थत्वानुपपत्तेः नानात्वमेवेत्येवं हि किल नयविभागः । ततो व्यवहारनयेनैव शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमुपपन्नम् ॥२७॥

भण्यते तथा शुक्लादिकेवलिशरीरस्तवनेन चिदानन्दैकस्वभावं केवलिपुरुषस्तवनं निश्चयनयेन न भवतीत्यभिप्रायः ॥२९॥ अथ शरोरप्रभुत्वेऽपि सत्यात्मनः शरीरस्तवनेनात्मस्तवनं न भवति निश्चयनयेन । तत्र दृष्टान्तमाह यथा प्राकारोपवनखातिकादिनगरवर्णने कृतेऽपि नैव राज्ञो वर्णना कृता-भवति तथा शुक्लादिदेहगुणे स्तूयमानेऽप्यनन्तज्ञानादिकेवलिगुणाः स्तुता न भवन्तीत्यर्थः । इति निश्चयव्यवहाररूपेण गाथाचतुष्टयं

वह नयविभाग ऐसा है उसको गाथा द्वारा बतलाते हैं;—[व्यवहारनयः] व्यवहारनय तो [भाषते] ऐसा कहता है कि [जीवः च देहः] जीव और देह [एकः खलु] एक ही [भवति] हैं [च] और [निश्चयनयस्य] निश्चयनय का कहना है कि [जीवः देहः तु] जीव और देह ये दोनों तो [कदापि] कभी [एकार्थः] एक पदार्थ [न] नहीं हो सकते ।

टीका—जैसे इस लोक में सुवर्ण और चांदी को गला कर एक करने से एकपिण्ड का व्यवहार होता है, उसी तरह आत्मा के और शरीर के परस्पर एक जगह रहने की अवस्था होने से एकत्व का व्यवहार होता है । इस तरह व्यवहारमात्र से ही आत्मा और शरीर का एकत्व है परन्तु निश्चय से एकत्व नहीं है; क्योंकि पीले और सफेद स्वभाव वाले सोना चांदी हैं, उनको जब निश्चय से विचारा जाय तब अत्यन्त भिन्नता होने से एक पदार्थ की असिद्धि है, इसलिये अनेकरूपता ही है । उसी तरह आत्मा और शरीर उपयोग तथा अनुपयोग स्वभाव वाले हैं । उन दोनों के अत्यन्त भिन्नता होने से एक पदार्थ की प्राप्ति नहीं है इसलिये अनेकता ही है । ऐसा यह प्रकट नयविभाग है । इस कारण व्यवहारनयसे शरीर की स्तुति करने से ही आत्मा की स्तुति हो सकती है ।

भावार्थ—व्यवहारनय तो आत्मा और शरीर को एक कहता है और निश्चयनय भिन्न कहता है, इसलिये व्यवहारनय से शरीर के स्तवन करने से आत्मा का स्तवन माना जाता है ॥२७॥

तथाहि—

इणमण्णं जीवादो देहं पुग्गलमयं थुणित्तु मुणी।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवली भयवं ॥२८॥

इममन्यं जीवाद्देहं पुद्गलमयं स्तुत्वा मुनिः।
मन्यते खलु संस्तुतो वन्दितो मया केवली भगवान् ॥२८॥

यथा कलधौतगुणस्य पाण्डुरत्वस्य व्यपदेशेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि कार्त्तस्वरस्य व्यवहारमात्रेणैव पाण्डुरं कार्त्तस्वरमित्यस्ति व्यपदेशः। तथा शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेः स्तवनेन परमार्थतोऽतत्स्वभावस्यापि तीर्थंकरकेवलिपुरुषस्य व्यवहारमात्रेणैव शुक्ललोहितस्तीर्थंकरकेवलिपुरुष इत्यस्ति स्तवनम्। निश्चयनयेन तु शरीरस्तवनेनात्मस्तवनमनुपपन्नमेव ॥२८॥

गतम् ॥३०॥ अथानन्तरं यदि देहगुणस्तवनेन निश्चयस्तुतिर्न भवति तर्हि कीदृशी भवतीति पृष्टे सति द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रिय पञ्चेन्द्रियविषयान् स्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानेन जित्वा योऽसौ शुद्धमात्मानं संचेतयते स जिन इति जितेन्द्रिय इति सा चैव निश्चयस्तुतिः परिहारं ददाति। जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधिअं मुणदि आदं यः कर्त्ता द्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियपञ्चेन्द्रियविषयान् जित्वा शुद्धज्ञानचेतनागुणेनाधिकं परिपूर्णं शुद्धात्मानं

यही बात आगे की गाथा में व्यक्त करते हैं;—[जीवात् अन्यम्] जीवसे भिन्न [इमं पुद्गलमयं देहम्] इस पुद्गलमय देह की [स्तुत्वा] स्तुति करके [मुनिः] साधु [मन्यते खलु] असल में ऐसा मानता है कि [मया] मैंने [केवली भगवान्] केवली भगवान् की [स्तुतः] स्तुति की और [वन्दितः] वंदना की।

टीका—जैसे चांदी के गुण श्वेतता के नाम से सुवर्ण को भी श्वेत कहते हैं सो व्यवहार मात्र से कहते हैं। परमार्थ से विचारा जाय तब सुवर्ण का स्वभाव सफेद नहीं है, पीला है; उसी तरह से शुक्ल रक्तपना आदिक शरीर के गुण हैं, उसके स्तवन से तीर्थङ्कर केवली पुरुषों को 'शुक्ल हैं, रक्त हैं' ऐसा स्तवन में कहते हैं सो यह स्तवन व्यवहारमात्र है। परमार्थ से विचारा जाय तब शुक्लरक्तपना तीर्थंकर केवली पुरुष का स्वभाव नहीं है। इस कारण निश्चयनय से शरीर का स्तवन करने से आत्मा का स्तवन नहीं बन सकता।

प्रश्न—व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है सो व्यवहार के आश्रय जड़ की स्तुति का क्या फल है। उत्तर—व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है निश्चय को प्रधान कर असत्यार्थ कहा है, छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) को अपना परका आत्मा साक्षात् दीखता नहीं है शरीर ही दीखता है, उसकी शान्तरूप मुद्रा को देख अपने भी शान्तभाव हो जाते हैं। ऐसा उपकार जान शरीर के आश्रय से भी स्तुति करता है, शान्तमुद्रा देख अन्तरङ्ग में वीतरागभाव का निश्चय होता है यह भी उपकार है ॥२८॥

तथाहि—

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

तन्निश्चये न युज्यते न शरीरगुणा हि भवन्ति केवलिनः ।
केवलिगुणान् स्तौति यः स तत्त्वं केवलिनं स्तौति ॥२९॥

यथा कार्त्तस्वरस्य कलधौतगुणस्य पाण्डुरत्वस्याभावान्न निश्चयतस्तद्व्यपदेशेन व्यपदेशः कार्तस्वरगुणस्य व्यपदेशेनैव कार्तस्वरस्य व्यपदेशात्, तथा तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य शरीरगुणस्य शुक्ललोहितत्वादेरभावान्न निश्चयतस्तत्स्तवनेन स्तवनं, तीर्थकरकेवलिपुरुषगुणस्य स्तवनेनैव तीर्थकरकेवलिपुरुषस्य स्तवनात् ॥२९॥

कथं शरीरस्तवनेन तदधिष्ठातृत्वादात्मनो निश्चयेन स्तवनं न युज्यत इति चेत्—

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥३०॥

नगरे वर्णिते यथा नापि राज्ञो वर्णना कृता भवति ।
देहगुणे स्तूयमाने न केवलिगुणाः स्तुता भवन्ति ॥३०॥

मनुते जानात्यनुभवति सञ्चेतयति तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू तं पुरुषं खलु स्फुटं जितेन्द्रियं भणन्ति ते साधवः । के ते । ये निश्चिताः निश्चयज्ञा इति । किञ्च ज्ञेयाः स्पर्शादिपञ्चेन्द्रियविषयाः ज्ञायकानि

ऊपर की बात को गाथा से कहते हैं—[तत्] वह स्तवन [निश्चये] निश्चय में [न युज्यते] ठीक नहीं है [हि] क्योंकि [शरीरगुणाः] शरीर के गुण [केवलिनः] केवली के [न भवन्ति] नहीं हैं। [यः] जो [केवलिगुणान्] केवली के गुणों की [स्तौति] स्तुति करता है [सः] वही [तत्त्वम्] परमार्थ से [केवलिनम्] केवली की [स्तौति] स्तुति करता है।

टीका—जैसे सुवर्ण में चांदी के सफेद गुण का अभाव है इसलिए निश्चय से सफेदपने के नाम से सोना का नाम नहीं बनता, सुवर्ण के गुण जो पीतपना आदि हैं उनके ही नाम से सुवर्ण का नाम होता है। उसी तरह तीर्थङ्कर केवली पुरुष में शरीर के शुक्ल रक्तता आदि गुणों का अभाव है, इसलिये निश्चय से शरीर के गुणों के स्तवन करने से तीर्थङ्कर केवली पुरुष का स्तवन नहीं होता। तीर्थङ्कर केवली पुरुष के गुणों के स्तवन करने से ही केवली का स्तवन होता है ॥२९॥

आगे शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा तो शरीर का अधिष्ठाता है इसलिये शरीर की स्तुति करने से आत्मा का स्तवन निश्चय से क्यों ठीक नहीं है? ऐसे प्रश्न का उत्तररूप गाथा दृष्टान्त

तथाहि—

प्राकारकवलिताम्बरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥२५॥

इति नगरे वर्णितेऽपिराज्ञः तदधिष्ठातृत्वेऽपि प्राकारोपवनपरिखादिमत्त्वाभावाद्वर्णनं न स्यात् ।

तथैव—

नित्यमविकारसुस्थितसर्वाङ्गमपूर्वसहजलावण्यं ।
अक्षोभमिव समुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥२६॥

इति शरीरे स्तूयमानेऽपि तीर्थङ्करकेवलिपुरुषस्य तदधिष्ठातृत्वेऽपि सुस्थितसर्वाङ्गत्वलावण्यादिगुणाभावात्स्तवनं न स्यात् ॥३०॥

स्पर्शनादिद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाणि तेषां योऽसौ जीवेन सह संकरः सम्बन्धः स एव दोषः तं दोषं परमसमाधिबलेन योऽसौ जयति सा चैव प्रथमा निश्चयस्तुतिरिति भावार्थः ॥३१॥

सहित कहते हैं—[यथा] जैसे [नगरे] नगर का [वर्णिते] वर्णन करने पर [राज्ञः वर्णना] राजा का वर्णन [नापि कृता] किया नहीं [भवति] होता उसी तरह [देहगुणे स्तूयमाने] देह के गुणों का स्तवन होने से [केवलिगुणाः] केवली के गुण [स्तुता न] स्तवनरूप किये नहीं [भवन्ति] होते हैं।

इसी अर्थ का टीका में काव्य कहा गया है। प्राकार इत्यादि। अर्थ—यह नगर ऐसा है कि जिसने कोट (परकोटा) से आकाश को ग्रस लिया है अर्थात् इसका कोट बहुत ऊँचा है। बगीचों की पंक्तियों से जिसने भूमितल को निगल लिया है अर्थात् चारों ओर बागों से पृथ्वी ढक गई है। कोट के चारों तरफ खाई के घेरे से मानों पाताल को पी रहा है अर्थात् खाई बहुत गहरी है। ऐसे नगर का वर्णन करते हैं यद्यपि इसका अधिष्ठाता राजा है तो भी कोट बाग खाई आदि वाला राजा नहीं है इसलिये इससे राजा का वर्णन नहीं हो सकता। उसी तरह तीर्थङ्कर का स्तवन शरीर की स्तुति करने से नहीं हो सकता है। उसका श्लोक भी कहते हैं।

नित्य इत्यादि। अर्थ—जिनेन्द्र का रूप (मूर्ति) सब से उत्कृष्ट जयवन्त हो, वह सदैव विकाररहित है, अच्छी तरह सुखरूप सर्वाङ्ग जिसमें स्थित है, अपूर्व है, स्वाभाविक अर्थात् जन्म से ही लेकर जिसमें लावण्य उत्पन्न है अर्थात् सबको प्रिय लगता है, समुद्र की तरह क्षोभरहित है, चलाचल नहीं है। इस प्रकार शरीर की स्तुति कही। यद्यपि तीर्थङ्कर केवली पुरुष के शरीर का अधिष्ठातापना है तो भी सुस्थित सर्वाङ्गपना लावण्यपना आत्मा का गुण नहीं है। इसलिये तीर्थङ्कर केवली पुरुष के इन गुणों का अभाव होने से उनकी स्तुति नहीं हो सकती ॥३०॥

अब जिसतरह तीर्थङ्कर केवली की निश्चय स्तुति हो सकती है उसी रीति से कहते हैं

अथ निश्चयस्तुतिमाह, तत्र ज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषपरिहारेण तावत्—

जो इंदिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणंति जे णिच्छिदा साहू ॥३१॥

यः इन्द्रियाणि जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।
तं खलु जितेन्द्रियं ते भणन्ति ये निश्चिताः साधवः ॥३१॥

यः खलु निरवधिबन्धपर्यायवशेन प्रत्यस्तमितसमस्तस्वपरविभागानि निर्मलभेदाभ्यासकौशलोपलब्धान्तःस्फुटातिसूक्ष्मचित्स्वभावावष्टम्भबलेन शरीरपरिणामापन्नानि द्रव्येन्द्रियाणि प्रतिविशिष्टस्वस्वविषयव्यवसायितया खण्डशः आकर्षन्ति प्रतीयमानाखण्डैकचिच्छक्तितया भावेन्द्रियाणि ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धप्रत्यासत्तिवशेन सह सम्विदा परस्परमेकीभूतानिव चिच्छक्तेः स्वयमेवानुभूयमानासङ्गतया भावेन्द्रियावगृह्यमाणान् स्पर्शादीनिन्द्रियार्थांश्च सर्वथा स्वतः पृथक्करणेन विजित्योपरतसमस्तज्ञेयज्ञायकसङ्करदोषत्वेनैकत्वे टङ्कोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवान्तःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन सर्वेभ्यो द्रव्यान्तरेभ्यः । परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं सञ्चेतयते स खलु जितेन्द्रियो जिन इत्येका निश्चयस्तुतिः ॥३१॥

अथ तामेव स्तुतिं द्वितीयप्रकारेण भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण कथयति । अथवा उपशमश्रेण्यपेक्षया जितमोहरूपेणाह—जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं आदं यःपुरुषः उदयागतं मोहं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यरूपनिर्विकल्पसमाधिबलेन जित्वा शुद्धज्ञानगुणेनाधिकं परिपूर्णमात्मानं मनुते जानाति भावयति तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति तं साधुं जितमोहं रहितमोहं परमार्थविज्ञायका ब्रुवन्ति कथय-

---

उसमें भी पहले ज्ञेय ज्ञायक के सङ्करदोष का परिहार करके स्तुति करते हैं—[यः] जो [इन्द्रियाणि] इन्द्रियों को [जित्वा] जीतकर [ज्ञानस्वभावाधिकम्] ज्ञानस्वभाव द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक [आत्मानम्] आत्मा को [जानाति] जानता है [तं खलु] उसको नियम से [ये निश्चिताः साधवः] जो निश्चयनय में स्थित साधुलोक है । [ते] वे [जितेन्द्रियम्] जितेन्द्रिय ऐसा [भणन्ति] कहते हैं ।

टीका—जो मुनि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय तथा इन्द्रियों के विषयों के पदार्थ इन तीनों को ही अपने से पृथक् कर सब अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करता है, वह निश्चय से जितेन्द्रिय है । कैसी हैं द्रव्येन्द्रियाँ ? अनादि अमर्यादरूप बन्धपर्याय के वश से जिनसे समस्त स्व-पर का विभाग नष्ट हो गया है और जो शरीर परिणाम को प्राप्त हुई हैं अर्थात् आत्मा से ऐसे एक हो रही हैं कि भेद नहीं दीखता, उनको तो निर्मल भेद के अभ्यास की चतुराई से प्राप्त अन्तरङ्ग में प्रकट अतिसूक्ष्म चैतन्य स्वभाव के अवलम्बन से अपने से पृथक् किया है, यही जीतना हुआ । कैसी हैं भावेन्द्रियाँ ? पृथक्-पृथक् विशेषों को लिये हुए जो अपने विषय उनमें व्यापार

अथ भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण—

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणइ आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥३२॥

यो मोहं तु जित्वा ज्ञानस्वभावाधिकं जानात्यात्मानं ।
तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥३२॥

यो हि नाम फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकत्वेन भवन्तमपि दूरत एव

न्तीति । इयं द्वितीया स्तुतिरिति । किंच भाव्यभावकसङ्करदोषपरिहारेण द्वितीया स्तुतिर्भवतीति पातनिकायां भणितं भवद्भिस्तत्कथं घटते इति भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह सङ्करः संयोगः संबंध स एव दोषः । तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योऽसौ परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः । एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्ममनोवचनकायसूत्राण्यैकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि । अनेनैव प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ॥३२॥

करने के कारण जो विषयों को खण्डखण्ड ग्रहण करती हैं अर्थात् ज्ञान को खण्डखण्डरूप जानती हैं, उनको प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति से अपने से भिन्न जानती हैं, इनका यही जीतना हुआ । इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ कैसे हैं ? ग्राह्य ग्राहक लक्षण सम्बन्ध की निकटता के वश से अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर मानो एक सरीखे हो गये हों ऐसे दीखते हैं, उनको अपनी चैतन्यशक्ति के अपने आप अनुभव में आता हुआ जो असङ्गपना-एकत्व उसके द्वारा भावेन्द्रिय से ग्रहण किये हुए स्पर्शादिक पदार्थों को अपने से पृथक् किया है । इनका यही जीतना हुआ । इस प्रकार इन्द्रियज्ञान के और विषयभूत पदार्थों के ज्ञेयज्ञायक का सङ्करनामा दोष आता था, उसके दूर होने से आत्मा एकपने में टङ्कोत्कीर्ण स्थित हुआ । जैसे टांकी से उकेरी पत्थर में मूर्ति एकाकार जैसी की तैसी ठहरती है, उसीतरह ठहरा यह ऐसा कैसे मालूम हुआ ? समस्त पदार्थों के ऊपर तरता जानता हुआ भी उनरूप नहीं होता, प्रत्यक्ष उद्योतपने से नित्य ही अन्तरङ्ग में प्रकाशमान, अविनश्वर आपही से सिद्ध हुआ और परमार्थरूप ऐसे भगवान् ज्ञानस्वभाव के द्वारा सब अन्यद्रव्यों से परमार्थरूप से जुदा जाना । क्योंकि ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है इसलिये सबसे अधिक भिन्न ही है । ऐसे आत्मा को जानने वाला जितेन्द्रिय जिन है, इस प्रकार एक निश्चय स्तुति तो यह हुई ।

भावार्थ—यहां ज्ञेय तो इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ और ज्ञायक आप आत्मा इन दोनों का विषयों की आसक्तता से अनुभव एकसा होता था, सो भेदज्ञान से भिन्नता जानी तब ज्ञेय ज्ञायक सङ्कर दोष दूर हुआ ऐसा जानना ॥३१॥

आगे भाव्य भावक सङ्करदोष दूरकर स्तुति कहते हैं;—[यः तु] जो मुनि [मोहम्] मोहको [जित्वा] जीतकर [आत्मानम्] अपने आत्माको [ज्ञानस्वभावाधिकम्] ज्ञानस्वभाव से अन्यद्रव्यभावों से अधिक [जानाति] जानता है [तं साधुम्] उस मुनिको [परमार्थविज्ञायकाः] परमार्थ के जानने वाले [जितमोहम्] जितमोह ऐसा [विदन्ति] जानते हैं—कहते हैं ।

तदनुवृत्तेरात्मनो भाव्यस्य व्यावर्त्तनेन हठान्मोहं न्यक्कृत्योपरतसमस्तभाव्यभावकसङ्करदोषत्वेनैकत्वे टङ्कोत्कीर्णं विश्वस्याप्यस्योपरि तरता प्रत्यक्षोद्योततया नित्यमेवान्तःप्रकाशमानेनानपायिना स्वतः सिद्धेन परमार्थसता भगवता ज्ञानस्वभावेन द्रव्यान्तरस्वभावभाविभ्यः सर्वेभ्यो भावान्तरेभ्यः परमार्थतोऽतिरिक्तमात्मानं सञ्चेतयते स खलु जितमोहो जिन इति द्वितीया निश्चयस्तुतिः। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायसूत्राण्येकादश पञ्चानां श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणामिन्द्रियसूत्रेण पृथग्व्याख्यातत्वाद्व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥६२॥

अथवा भाव्यभावकभावाभावरूपेण तृतीया निश्चयस्तुतिः कथ्यते। अथवा तामेव क्षपकश्रेण्यपेक्षया क्षीणमोहरूपेणाह—जियमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स पूर्वगाथाकथित-क्रमेण जितमोहस्य सतो जातस्य यदा निर्विकल्पसमाधिकाले क्षीणो मोहो भवेत्। कस्य? साधोः शुद्धात्मभावकस्य तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं तदा तु गुप्तिसमाधिकाले स साधुः क्षीणमोहो भण्यते। कैर्निश्चयविद्भिः परमार्थज्ञायकैर्गणधरदेवादिभिः। इयं तृतीया निश्चयस्तुतिरिति। भाव्यभावकभावाभावरूपेण कथं जाता

टीका—जो मुनि फल देने की सामर्थ्य से प्रकट उदयरूप होकर भावकरूप से प्रगट हुए मोहकर्म को तदनुकूल परिणत आत्मा-भाव्य को भेदज्ञान के बल से दूर ही से पृथक् कर मोह को पृथक् कर तिरस्कार करने से, जिसमें समस्त भाव्यभावक सङ्करदोष दूर हो गया है, उसके रूप से एकत्व होने पर टङ्कोत्कीर्ण निश्चल एक अपने आत्मा का अनुभव करता है, वह मोह को जीतने वाला होने से जिन कहलाता है। वह आत्मा समस्त लोक के ऊपर तैरता, प्रत्यक्ष उद्योत होने से नित्य ही अतरङ्ग में प्रकाशमान, अविनाशी और आपसे ही सिद्ध हुआ परमार्थरूप भगवान् ऐसा जो ज्ञानस्वभाव, उससे अन्यद्रव्य के स्वभाव से होने वाले सब ही अन्यभावों से परमार्थ दृष्टि से भिन्न है; क्योंकि ऐसा ज्ञानस्वभाव अन्य पदार्थों में नहीं है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा को अनुभव करता है।

भावार्थ—ऐसे अपना आत्मा भावक जो मोह उसके अनुसार प्रवृत्ति से भाव्यरूप होकर भेदज्ञान के बल से उसे पृथक् अनुभव करता है, वह जितमोह जिन है। इस तरह भाव्यभावक भाव के सङ्करदोष को दूसरी निश्चयस्तुति है। यहां पर ऐसा आशय है कि जो श्रेणी चढ़ने पर मोह का उदय अनुभव में न रहे, अपने बल से उपशमादि कर आत्मा को अनुभव करता है, उसको जितमोह कहा है। यहाँ पर मोह को जीता है, उसका नाश हुआ मत जानना। इस गाथासूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है इससे मोह के पद को बदलकर उसकी जगह राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय ये ग्यारह तो सूत्रद्वारा और श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये पाँच इन्द्रियसूत्रकर ऐसे सोलह पद पलटने से सोलह सूत्र पृथक्-पृथक् व्याख्यानरूप करने चाहिए और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेने चाहिए ॥३२॥

आगे भाव्यभावकभाव के अभाव द्वारा निश्चय स्तुति कहते हैं; [जितमोहस्य तु साधोः]

अथ भाव्यभावकभावाभावेन—

जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥३३॥

जितमोहस्य तु यदा क्षीणो मोहो भवेत्साधोः ।
तदा खलु क्षीणमोहो भण्यते स निश्चयविद्भिः ॥३३॥

इह खलु पूर्वप्रक्रान्तेन विधानेनात्मनो मोहं न्यक्कृत्य यथोदितज्ञानस्वभावातिरिक्तात्मसंचेतनेन जितमोहस्य सतो यदा स्वभावभावभावनासौष्ठवावष्टम्भात्तत्संतानात्यन्तविनाशेन पुनरप्रादुर्भावाय भावकः क्षीणो मोहः स्यात्तदा स एव भाव्यभावकभावाभावेनैकत्वे टङ्कोत्कीर्णपरमात्मानमवाप्तः क्षीणमोहो जिन इति तृतीया निश्चयस्तुतिः । एवमेव च मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ।

स्तुतिरिति चेत्—भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोर्भावः स्वरूपं तस्याभावः क्षयो विनाशः सा चैव तृतीया निश्चयस्तुतिरित्यभिप्रायः । एवं रागद्वेष इत्यादि दण्डको

जिसने मोह को जीत लिया है ऐसे साधु के [यदा] जिस समय [क्षीणो मोहः] मोह क्षीण सत्ता में से नाश [भवेद्] होता है [तदा] उस समय [निश्चयविद्भिः] निश्चय के जानने वाले [खलु] निश्चय कर [सः] उस साधु को [क्षीणमोहः] क्षीणमोह ऐसे नाम से [भण्यते] कहते हैं ।

टीका—इस निश्चय स्तुति में पूर्वोक्त विधान द्वारा आत्मा से मोह का तिरस्कार कर जैसा कहा, वैसे ज्ञान स्वरूप द्वारा अन्य द्रव्य से अधिक आत्मा का अनुभव करने से जितमोह हुआ, उसके जिस समय अपने स्वभावभाव की भावना का अच्छी तरह अवलम्बन करने से मोह की संतान का ऐसा अत्यन्त विनाश हो जाता है कि फिर उसका उदय नहीं होता । ऐसा भावकरूप मोह जिस समय क्षीण होता है, उस समय (भावकमोहका क्षय होने पर) आत्मा के विभावरूप भाव्यभाव का भी अभाव हो जाता है । इसतरह भाव्यभावकभाव के अभाव से एकत्व होने पर टङ्कोत्कीर्ण (निश्चल) परमात्मा को प्राप्त हुआ 'क्षीणमोह जिन' ऐसा कहा जाता है । यह तीसरी निश्चय स्तुति है ।

भावार्थ—जिस समय साधु पहले अपने बल से उपशमभाव द्वारा मोह को जीत पीछे जिस समय अपनी बड़ी सामर्थ्यसे मोह का सत्तामें से नाश कर ज्ञानस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होता है, तब क्षीणमोह जिन कहा जाता है । यहां भी जैसे पूर्व कहा था, उसी तरह मोहपद को पलटकर

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुःस्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्माङ्गयोः ॥२७॥

इति परिचिततत्त्वैरात्मकायैकतायां नयविभजनयुक्त्यात्यन्तमुच्छादितायाम्।
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः ॥३३॥

ज्ञातव्यः ॥३३॥ इति प्रथमगाथायां पूर्वपक्षेस्तदनन्तरं गाथाचतुष्टये निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण परिहारस्ततश्च गाथात्रये निश्चयस्तुतिकथनरूपेण च परिहार इति पूर्वपक्षपरिहारगाथाष्टकसमुदायेन षष्ठस्थलं गतम्। अथ

राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना स्पर्शन—ये पद रखकर सोलह सूत्र पढ़ना और व्याख्यान करना तथा इसी प्रकार उपदेश कर अन्य भी विचारना।

अब इस निश्चय-व्यवहार-रूप स्तुति के अर्थ के कलशरूप काव्य कहते हैं—एकत्वम् इत्यादि। अर्थ—शरीर और आत्मा का व्यवहारनय से एकत्व है किन्तु निश्चयनय से एकत्व नहीं है। इसीलिए शरीर के स्तवन से आत्मा-पुरुष का स्तवन व्यवहारनय से हुआ कहा जाता है और निश्चयनय से नहीं। निश्चय से तो चैतन्य के स्तवन से ही चैतन्य का स्तवन होता है। वह चैतन्य का स्तवन तो जितेन्द्रिय, जितमोह, क्षीणमोह—कहने से होता है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो अज्ञानी ने तीर्थङ्करके स्तवन का प्रश्न किया था, उसका यह नयविभाग द्वारा उत्तर दिया। उसके बल से आत्मा और शरीर का एकत्व निश्चय से नहीं है।

अब फिर इसी अर्थ के जानने से भेदज्ञान की सिद्धि होती है, ऐसा अर्थरूप काव्य कहते हैं—**इति परिचित** इत्यादि। अर्थ—इस तरह जिसने वस्तु के यथार्थ स्वरूप का परिचय किया है, ऐसे मुनि ने आत्मा और शरीर के एकत्व का नय के विभाग की युक्ति द्वारा अत्यन्त उच्छादन किया है। ऐसा होने पर वह ज्ञान यथार्थरूप में किस पुरुष के प्रकट नहीं होता अर्थात् अवश्य प्रगट होता ही है। वह अपने निजरस के वेग द्वारा खेंचा हुआ एकस्वरूप होकर प्रगट होता है।

भावार्थ—निश्चय व्यवहारनय के विभाग से आत्मा का और पर का अत्यन्त भेद दिखलाया है, इसको जानकर ऐसा कौन पुरुष है कि जिसके भेदज्ञान नहीं हो? होता ही है। क्योंकि ज्ञान अपने स्वरस से आप अपना स्वरूप जानता है तब अवश्य आप पृथक् ही अपने आत्मा को जानता है। यहां कोई दीर्घ संसारी ही होवे तो उसकी कुछ बात नहीं। इस प्रकार अप्रतिबुद्धने जो 'हमें तो यह निश्चय है कि जो देह है वही आत्मा है' ऐसा कहा था, उसका निराकरण (समाधान) किया ॥३३॥

आगे कहते हैं कि इस तरह यह अज्ञानी जीव अनादि के मोह की संतान से निरूपण किया जो आत्मा और शरीर का एकत्व उसके संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, सो अब तत्त्वज्ञान-

एवमयमनादिमोहसन्ताननिरूपितात्मशरीरैकत्वसंस्कारतयात्यन्तमप्रतिबुद्धोऽपि प्रसभोज्जृम्भिततत्त्वज्ञानज्योतिर्नेत्रविकारीव प्रकटोद्घाटितपटलष्टसिति प्रतिबुद्धः साक्षात् द्रष्टारं स्वं स्वयमेव हि विज्ञाय श्रद्धाय न तं चैवानुचरितुकामः स्वात्मारामस्यास्यान्यद्रव्याणां प्रत्याख्यानं किं स्यादिति पृच्छन्नित्थं वाच्यः—

सव्वे भावे जह्मा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं ।
तह्मा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥
सर्वान् भावान् यस्मात्प्रत्याख्याति परानिति ज्ञात्वा ।
तस्मात्प्रत्याख्यानं ज्ञानं नियमात् ज्ञातव्यम् ॥३४॥

यतो हि द्रव्यान्तरस्वभावभाविनोऽन्यानखिलानपि भावान् भगवज्ज्ञातृद्रव्यं स्वस्वभावभावाव्याप्यतया परत्वेन ज्ञात्वा प्रत्याचष्टे ततो य एव पूर्वं जानाति स एव पश्चात्प्रत्याचष्टे न पुनरन्य इत्यात्मनि निश्चित्य प्रत्याख्यानसमये प्रत्याख्येयोपाधिमात्रप्रवर्त्तितकर्तृत्वव्यपदेशत्वेऽपि परमार्थेनाव्यपदेश्यज्ञानस्वभावादप्रच्यवनात्प्रत्याख्यानं ज्ञानमेवेत्यनुभवनीयम् ॥३४॥

रागादिविकल्पोपाधिरहितं स्वसंवेदनज्ञानलक्षणप्रत्याख्यानविवरणरूपेण गाथाचतुष्टयं कथ्यते । तत्र स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानमिति कथनरूपेण प्रथमगाथा प्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तरूपे द्वितीया चेति गाथाद्वयम् । तदनन्तरं मोहपरित्यागरूपेण प्रथमगाथा ज्ञेयपदार्थपरित्यागरूपेण द्वितीया चेति गाथाद्वयम् । एवं सप्तमस्थले समुदायपातनिका । तथाहि—तीर्थङ्कराचार्यस्तुतिर्निरर्थिका भवतीति पूर्वपक्षबलेन जीवदेहयोरेकत्वं कर्तुं नायातीति ज्ञात्वा शिष्य इदानीं प्रतिबुद्धः सन् हे भगवन् रागादीनां किं प्रत्याख्यानमिति पृच्छति । इति पृच्छति कोऽर्थः इति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति । एवं प्रश्नोत्तररूपपातनिकाप्रस्तावे सर्वत्रेति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः । **णाणं सव्वे भावे पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं** जानातीति व्युत्पत्त्या स्वसंवेदनज्ञानमात्मेति भण्यते तं ज्ञानं कर्तृ मिथ्यात्वरागादिविभावं परस्वरूपमिति ज्ञात्वा प्रत्याख्याति—त्यजति—निराकरोति **तह्मा पच्चक्खाणं णाणं**

स्वरूप ज्योति के प्रकट होने से नेत्र के विकारी की तरह (जैसे किसी पुरुष के नेत्र में विकार था, तब वर्णादिक अन्यथा दीखते थे, जब विकार मिट गया तब जैसे का तैसा दीखने लगा) अच्छी तरह उघड़ गया है पटलरूप आवरण कर्म जिसका ऐसा प्रतिबुद्ध हुआ, तब साक्षात् देखने वाला अपने का अपने से ही जान श्रद्धान कर उसके आचरण करने का इच्छुक हुआ पूछता है कि इस आत्माराम के अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान (त्यागना) क्या है, उसका समाधान आचार्य करते हैं,—[यस्मात्] जिस कारण [सर्वान् भावान्] अपने सिवाय सभी पदार्थ [परान्] पर हैं [इति ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [प्रत्याख्याति] त्यागता है [तस्मात्] इस कारण [ज्ञानं] पर हैं यह जानना ही [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान है [नियमात्] यह नियम से जानना । अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था ही प्रत्याख्यान है दूसरा कुछ नहीं है ।

---

१. ष्टसिति = शीघ्रं, पटलापसरणकाल एवेत्यर्थः ।

अथ ज्ञातुः प्रत्याख्याने को दृष्टान्त इत्यत आह—

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी ॥३५॥

यथा नाम कोऽपि पुरुषः परद्रव्यमिति ज्ञात्वा त्यजति ।
तथा सर्वान् परभावान् ज्ञात्वा विमुञ्चति ज्ञानी ॥३५॥

यथाः हि कश्चित्पुरुषः सम्भ्रान्त्या रजकात्परकीयं चीवरमादायात्मीयप्रतिपत्त्या परिधाय शयानः स्वयमज्ञानी सन्नन्येन तदञ्चलमालम्ब्य बलान्नग्नीक्रियमाणो मङ्क्षु

णियमा मुणेयव्वं तस्मात्कारणात् निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं नियमान्निश्चयात् मन्तव्यं ज्ञातव्यमनुभवनीयमिति । इदमत्र तात्पर्यं—परमसमाधिकाले स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुद्धमात्मात्मानमनुभवति तदेवानुभवनं निश्चयप्रत्याख्यानमिति ॥३४॥ अथप्रत्याख्यानविषये दृष्टान्तमाह—जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि यथा नाम अहो स्फुटं वा कश्चित्पुरुषो वस्त्राभरणादिकं परद्रव्यमिदमिति ज्ञात्वा त्यजति तह सव्वे परभावे णाऊण विमुंचदे णाणी तथा तेन प्रकारेण सर्वान् मिथ्यात्वरागादिपरभावान्

टीका—जिस कारण यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा भगवान् है, वह अन्यद्रव्य के स्वभाव से हुए अन्य समस्त परभावों को अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने से पररूप जानकर त्यागता है, इस कारण जिसने पहले जाना है, वही पीछे त्याग करता है, दूसरा तो कोई त्यागने वाला नहीं है। ऐसे त्यागभाव आत्मा में ही निश्चयकर, त्याग के समय प्रत्याख्यान करने योग्य जो परभाव की उपाधिमात्र से प्रवृत्त त्याग के कर्तृत्व का नाम उसके होने पर भी परमार्थ से देखा जाय तब परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है। आप तो इस नाम से रहित है, ज्ञानस्वभाव से नहीं छूटा है, इसलिये प्रत्याख्यान ज्ञान ही है, ऐसा अनुभव करना चाहिये।

भावार्थ—आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है, वह नाममात्र है। आप तो ज्ञानस्वभाव है। परद्रव्य को पर जाना, फिर परभाव का ग्रहण नहीं किया। यही त्याग है। ऐसा जानना ही प्रत्याख्यान है। ज्ञान के सिवाय कुछ भी दूसरा भाव नहीं है ॥३४॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञाता के प्रत्याख्यान ज्ञान ही कहा गया है इसका दृष्टान्त क्या है? उसके उत्तररूप दृष्टान्त दार्ष्टान्त को गाथा द्वारा व्यक्त कर कहते हैं;—[**यथा नाम**] जैसे लोक में [**कोऽपि पुरुषः**] कोई पुरुष [**परद्रव्यम् इति ज्ञात्वा**] पर वस्तु को ऐसा जानता है कि यह परवस्तु है तब ऐसा जान [**त्यजति**] परवस्तु को त्यागता है [**तथा**] उसी तरह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**सर्वान्**] सब [**परभावान्**] पर द्रव्यों के भावों को [**ज्ञात्वा**] ये परभाव ऐसा हैं जानकर [**विमुञ्चति**] उनको छोड़ता है।

टीका—जैसे कोई पुरुष धोबी के घर दूसरे का वस्त्र लाकर उसे भ्रम से अपना समझ ओढ़कर सो गया उसने ऐसा नहीं जाना कि यह दूसरे का है। उसके पश्चात् दूसरे ने उस वस्त्र

प्रतिबुध्यस्वार्पय परिवर्तितमेतद्वस्त्रं मामकमित्यसकृद्वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेतत्परकीयमिति ज्ञात्वा ज्ञानी सन्मुञ्चति तच्चीवरमचिरात् तथा ज्ञातापि सम्भ्रान्त्या परकीयान्भावानादायात्मीयप्रतिपत्त्यात्मन्यध्यास्य शयानः स्वयमज्ञानी सन् गुरुणा परभावविवेकं कृत्वैकीक्रियमाणो मङ्क्षु प्रतिबुध्यस्वैकः खल्वयमात्मेत्यसकृच्छ्रौतं वाक्यं शृण्वन्नखिलैश्चिह्नैः सुष्ठु परीक्ष्य निश्चितमेते परभावा इति ज्ञात्वा ज्ञानी सन् मुञ्चति सर्वान्परभावानचिरात् ॥३५॥

अवतरति न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगादनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥२९॥

पर्यायान् स्वसंवेदनज्ञानबलेन ज्ञात्वा विशेषेण विशुद्धया विमुञ्चति त्यजति स्वसंवेदनज्ञानीति । अथ मत्र भावार्थः—यथा कश्चिद्देवदत्तः परकीयचीवरं भ्रान्त्या मदीयमिति मत्वा रजकगृहादानीय परिधाय च शयानः सन् पश्चाद-

---

का पल्ला पकड़ खेंच कर उघाड़ के नंगा किया और कहा कि "तू शीघ्र जाग सावधान हो, मेरा वस्त्र बदले में आ गया है, सो मेरा मुझे दे" ऐसा वारंवार वचन कहा। सो सुनता हुआ उस वस्त्र के सब चिह्न देख परीक्षा कर ऐसा जाना कि 'यह वस्त्र तो दूसरे का ही है' ऐसा जानकर ज्ञानी हुआ उस दूसरे के कपड़े को शीघ्र ही त्यागता है। उसी तरह ज्ञानी भी भ्रम से परद्रव्य के भावों को ग्रहण कर अपने जान आत्मा में एकरूप मानकर सोता है, बेखबर हुआ आप ही से अज्ञानी हो रहा है। जब श्रीगुरु इसको सावधान करें, परभाव का भेदज्ञान कराके एक आत्मभावरूप करें और कहें कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा है, वह एक ज्ञानमात्र है, अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं' तब वारम्वार यह आगम के वाक्य सुनता हुआ समस्त अपने परके चिह्नों से अच्छी तरह परीक्षा करके ऐसा निश्चय करता है कि मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, अन्य सब परभाव हैं। ऐसे ज्ञानी होकर सब परभावों को तत्काल छोड़ देता है।

भावार्थ—जब तक परवस्तु को भूलकर अपनी जानता है, तब तक ही ममत्व रहता है और जब यथार्थज्ञान हो जाने से पर को पराई जाने, तब दूसरे की वस्तु से ममत्व नहीं रहता यह बात प्रसिद्ध है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं। अवतरति इति। अर्थ—यह परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि जिस तरह पुरानी न पड़े, उस तरह अत्यन्त वेग से जब तक प्रवृत्ति को नहीं प्राप्त हो; उसके पहले ही तत्काल सकल अन्यभावों से रहित आप ही यह अनुभूति तो प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—यह परभाव के त्याग का दृष्टान्त कहा, उसपर दृष्टि पड़े, उससे पहले सब अन्य भावों से रहित अपने स्वरूप का अनुभव तो तत्काल हो ही जाता है क्योंकि यह प्रसिद्ध है कि जब वस्तु को पर की जान ली, तब उसके पश्चात् ममत्व नहीं रहता ॥३५॥

आगे इस अनुभूति से परभाव का भेदज्ञान किसतरह हुआ ऐसी आशङ्का कर प्रथम भावक

अथ कथमनुभूतेः परभावविवेको भूत इत्याशङ्क्य भावकभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३६॥

नास्ति मम कोऽपि मोहो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं मोहनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायकाः विदन्ति ॥३६॥

इह खलु फलदानसमर्थतया प्रादुर्भूय भावकेन मता पुद्गलद्रव्येणाभिनिर्वर्त्यमानष्टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावस्य परमार्थतः परभावेन भावयितुमशक्यत्वात्कतमोऽपि न नाम मम मोहोऽस्ति किञ्चैतत्स्वयमेव च विश्वप्रकाशचञ्चुरविकस्वरानवरतप्रतापसम्पदा चिच्छक्तिमात्रेण स्वभावभावेन भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः समस्तद्रव्याणां परस्परसाधारणवगाहस्य निवारयितुमशक्यत्वान्मज्जितावस्थायामपि दधिखण्डावस्थायामिव परिस्फुटस्वदमानस्वादभेदतया[1] मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि । सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन[2] समयस्यैवमेव स्थितत्वात् । इतीत्थं भावकभावविवेको भूतः ।

न्येन वस्त्रस्वामिना वस्त्रांचलमादायाच्छोद्य नग्नीक्रियमाणः सन् वस्त्रलाञ्छनं निरीक्ष्य परकीयमिति मत्वा

जो मोहकर्म के उदयरूप भाव, उनके भेदज्ञान का प्रकार कहते हैं :—[बुध्यते] जो ऐसा जाने कि [मोहः मम कोऽपि नास्ति] मोह मेरा कोई भी सम्बन्धी नहीं [एकः उपयोग एव अहम्] एक उपयोग ही है वही मैं हूँ [तम्] ऐसे जानने को [समयस्य] सिद्धान्त के अथवा आपपर स्वरूप के [विज्ञायकाः] जानने वाले [मोहनिर्ममत्वम्] मोह से निर्ममत्व [विन्दन्ति] समझते हैं—कहते हैं ।

टीका—मैं सत्यार्थरूप से ऐसा जानता हूँ कि यह मोह है, वह मेरा कुछ भी नहीं लगता है । यह मोह इस मेरे अनुभव में फल देने की सामर्थ्य द्वारा प्रकट होकर भावकरूप हुआ जो पुद्गलद्रव्य उसके द्वारा रचा हुआ है । सो यह मेरा नहीं है, क्योंकि मैं तो टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभाव हूँ, यह जड़ है । सो परमार्थ से पर के भाव को दूसरे के भाव से चितवन नहीं कर सकते । यहाँ यह समझना कि स्वयमेव सब वस्तुओं के प्रकाश करने में चतुर विकाशरूप हुई और जिसमें निरन्तर हमेशा प्रताप सम्पदा पायी जाती है ऐसी चैतन्यशक्ति, उस मात्र स्वभावभाव द्वारा भगवान् आत्मा को ही समझना जानना कि मैं परमार्थ से एक चित्शक्तिमात्र हूँ । सब द्रव्यों के परस्पर साधारण एक क्षेत्रावगाह होने से मेरा आत्मा जड़ के साथ श्रीखण्ड की तरह एकमेक हो रहा है अर्थात् जैसे दही और शक्कर मिलाने से श्रीखण्ड बनता है, उसमें दही खांड एक से मालूम पड़ते हैं तो भी प्रगटरूप खट्टे मीठे स्वाद के भेद से पृथक्-पृथक् जाने जाते हैं । उसी प्रकार द्रव्यों के लक्षणभेद से जड़चेतन का स्वरूप अनुभव करने में पृथक्-पृथक् प्रकट मालूम हो जाता है कि

---

१. स्वदमान स्वभावभेदतया इति पाठान्तरेण भाव्यम् । २. समयसौधमेवस्थितत्वात् इति टीकमगढ़ प्रति पाठः ।

सर्वतः[1] स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकं।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि[2] ॥३०॥

एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि। अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥३६॥

तद्वस्त्रं मुञ्चति। तथायं ज्ञानी जीवोऽप्यतिविज्ञेन निर्विण्णेन गुरुणा मिथ्यात्वरागादिविभावा एते भवदीयस्वरूपं न भवन्ति, एक एव त्वमिति प्रतिबोध्यमानः सन् परकीयानिति ज्ञात्वा मुञ्चति शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति। एवं गाथाद्वयं गतम् ॥ ३५॥ अथ कथं शुद्धात्मानुभूतिमनुभवतीति पृष्टे सति मोहादिपरित्यागप्रकारमाह—णत्थि मम कोऽवि मोहो नास्ति न विद्यते मम शुद्धनिश्चयेन टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावस्य सतो रागादिपरभावेन कर्तृभूतेन भावयितुं रञ्जयितुमशक्यत्वात्कश्चिद्द्रव्यभावरूपो मोहः। बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को बुध्यते जानाति। स कः कर्त्ता। ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मैव। किं बुध्यते? यतः कारणादहमेकः ततो मोहं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि निर्मोहो भवामि। अथवा बुध्यते जानाति किं जानाति। विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहमेकः। तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति तं निर्मोहशुद्धात्मभावनास्वरूपं

मोहकर्म के उदय का स्वाद रागादिक हैं, वे चैतन्य के निजस्वभाव के स्वाद से भिन्न ही हैं। इसीलिये मोह के प्रति मैं निर्मम ही हूँ, क्योंकि यह आत्मा सदा काल ही अपने एकरूपता को प्राप्त हुआ अपने स्वभावरूप समय महल में विराज रहा है। इस तरह भावकभावरूप मोह के उदय से भेदज्ञान हुआ जानना।

भावार्थ—यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है, इसका उदय कलुष (मलिन) भावरूप है सो इसका भाव भी पुद्गल का विकार है, यही भावक का भाव है। जब यह चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है, तब उपयोग भी विकारी हुआ रागादिरूप मलिन दीखता है। और जब इसका भेदज्ञान होवे कि चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोगमात्र है तथा यह कलुषता रागद्वेष मोहरूप है, वह कलुषता द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्य की है। ऐसा भेदज्ञान हो जाय, तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह के भाव उनसे भेदभाव अवश्य हो सकता है और आत्मा भी अपने चैतन्य के अनुभवरूप ठहरे ही, ऐसा जानना।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—सर्वतः इत्यादि। अर्थ—मैं इस लोक में अपने आपही से एक आत्मस्वरूप को अनुभव करता हूँ। जो मेरा स्वरूप सर्वाङ्ग अपने निजरसरूप चैतन्य के परिणमन से पूर्ण (भराहुआ) भाववाला है इसीकारण यह मोह मेरा कुछ भी नहीं लगता अर्थात् इसका और मेरा कुछ भी नाता नहीं है। मैं तो शुद्ध चैतन्य का समूहरूप तेज पुञ्जका निधि हूँ। इस तरह भावकभाव का अनुभव करे। इसी प्रकार गाथा में जो मोहपद है, उसे पलटकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना, स्पर्शन ये सोलह पृथक् पृथक् सोलह गाथा सूत्रों द्वारा व्याख्यान करना और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना ॥३६॥

---

१. असंख्येयेष्वपि प्रदेशेषु स्वरसेन ज्ञानेन निर्भरः सम्पूर्णो भावः स्वरूपं यस्य। २. महोदधि इति पाठान्तरम्।

अथ ज्ञेयभावविवेकप्रकारमाह—

णत्थि मम धम्म आदि बुज्झदि उवओग एव अहमिक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया विंति ॥३७॥

न सन्ति मम धर्मादयो बुध्यते उपयोग एवाहमेकः ।
तं धर्मनिर्ममत्वं समयस्य विज्ञायका विदन्ति ॥३७॥

अमूनि हि धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तराणि स्वरसविजृम्भितानिवारितप्रसरविश्वघस्मरप्रचण्डचिन्मात्रशक्तिकवलिततयात्यन्तमन्तर्मग्नानीवात्मनि प्रकाशमानानि टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावत्वेन तत्त्वतोऽन्तस्तत्त्वस्य तदतिरिक्तस्वभावतया तत्त्वतो बहिस्तत्त्वरूपतां परित्यक्तुमशक्यत्वान्न नाम मम सन्ति । किञ्चैतत्स्वयमेव च नित्यमेवोपयुक्तस्तत्त्वत एवैकमनाकुलमात्मानं कलयन् भगवानात्मैवावबुध्यते । यत्किलाहं खल्वेकः ततः सम्वेद्यसम्वेदकभावमात्रोपजातेतरेतरसम्वलनेऽपि परिस्फुटस्वदमानस्वभावभेदतया धर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तराणि प्रति निर्ममत्वोऽस्मि । सर्वदैवात्मैकत्वगतत्वेन समयस्यैवमेव स्थितत्वात् इतीत्थं ज्ञेयभावविवेको भूतः ॥३७॥

निर्ममत्वं ब्रुवंति वदन्ति जानन्ति वा। के ते। समयस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य विज्ञायकाः पुरुषा इति। किञ्च विशेषः यत्पूर्वं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं व्याख्यातं तस्यैवेदं निर्मोहत्वं विशेषव्याख्यानमिति। एवमेव च मोहपदपरिवर्त्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्ये-

---

आगे ज्ञेयभाव से भेदज्ञान करने की रीति बतलाते हैं;—[**बुध्यते**] ऐसा जाने कि [**धर्मादयः**] ये धम आदि द्रव्य [**मम न सन्ति**] मेरे कुछ भी नहीं लगते मैं ऐसा जानता हूँ कि [**एक उपयोग एव**] एक उपयोग ही है वही [**अहम्**] मैं हूँ [**तम्**] ऐसा जानने को [**समयस्य विज्ञायकाः**] सिद्धान्त वा स्व-पर-समयरूप समय के जानने वाले [**धर्मनिर्ममत्वम्**] धर्मद्रव्यसे निर्ममता [**विन्दन्ति**] कहते हैं।

टीका—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल, अन्य जीव ये सब ही परद्रव्य हैं, वे आत्मा में प्रकाशमान हैं। वे अपने निजरस से प्रकट और निवारण नहीं किया जाय ऐसा जिसका फैलाव है तथा समस्त पदार्थों के ग्रसने का जिसका स्वभाव है ऐसी जो प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति, उससे ग्रासीभूत होने से मानों अत्यन्त निर्मग्न हो रहे हैं, तो भी टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभाव रूप से परमार्थ से अन्तरङ्ग तत्त्व तो मैं हूँ और (अपने स्वरूप के अभाव द्वारा ज्ञान में आप नहीं बैठे इस कारण) वे परद्रव्य उस मेरे स्वभाव से भिन्न होने के कारण परमार्थ से बाह्य तत्त्वरूप छोड़ने को

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

यानि । अनेन प्रकारेणान्यान्यप्यसंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामरूपाणि ज्ञातव्यानि ॥ ३६ ॥ अथ धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था अपि मम स्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयन्ति :—**णत्थि मम धम्म आदी** न संति न विद्यंते धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्था ममेति **बुज्झदि** बुध्यते ज्ञानी । तर्हि किमहम् **उवओग एव अहमिक्को** विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोग एवाहम् अथवा ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादित्यभेदेनोपयोग एवात्मा स जानाति । केन रूपेण, यतोऽहं टंकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभाव एकः ततो दधिखण्डशिखिरिणीवत् व्यवहारेणैकत्वेऽपि शुद्धनिश्चयनयेन मम स्वरूपं न भवन्तीति परद्रव्यं प्रति निर्ममत्वोऽस्मि तं **धम्मणिम्ममत्तं समयस्य वियाणया विंति** तं शुद्धात्मभावनास्वरूपं परद्रव्यनिर्ममत्वं समयस्य शुद्धात्मनो विज्ञायकाः पुरुषा ब्रुवन्ति कथयन्तीति । किञ्च इदमपि परद्रव्यनिर्ममत्वं यत्पूर्वं भणितं स्वसंवेदनज्ञानमेव प्रत्याख्यानं तस्यैव विशेषव्याख्यानं ज्ञातव्यम् ॥३७॥ इति गाथाद्वयं गतम् । एवं गाथाचतुष्टयसमुदायेन सप्तमस्थलं समाप्तम् । अथ शुद्धात्मैवोपादेय इति श्रद्धानं सम्यक्त्वं तस्मिन्नेव शुद्धात्मनि स्वसंवेदनं सम्यग्ज्ञानं तत्रैव निजात्मनि वीतरागस्वसंवेदननिश्चलरूपं चारित्रमिति निश्चयरत्नत्रयपरिणतजीवस्य कीदृशं स्वरूपं भवतीत्यावेदयन्सन् जीवाधिकारमुपसंहरति—**अहम्** अनादिदेहात्मैक्यभ्रान्त्याऽज्ञानेन पूर्वमप्रतिबुद्धोऽपि करतलविन्यस्तसुप्तविस्मृतपश्चान्निद्राविनाशस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमगुरुप्रसादेन प्रतिबुद्धो भूत्वा शुद्धात्मनि रतो यः सोऽहं वीतरागश्चिन्मात्रं ज्योतिः । पुनरपि कथम्भूतः । **इक्को** यद्यपि व्यवहारेण नरनारकादिरूपेणानेकस्तथापि शुद्धनिश्चयेन टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः खलु स्फुटॉम । पुनरपि किंरूपः । **सुद्धो** व्यावहारिकनवपदार्थेभ्यः शुद्धनिश्चयनयेन भिन्नः, अथवा

असमर्थ हैं, वे धर्म आदि मेरे सम्बन्धी नहीं हैं । यहां ऐसा समझना कि यह आत्मा चैतन्य से आप ही उपयुक्त हुआ परमार्थ से निराकुल एक आत्मा का ही अभ्यास करता है सो आत्मा द्वारा भगवान् आत्मा ही जाना जाता है कि मैं प्रकट निश्चय से एक ही हूँ । इसलिए ज्ञेय ज्ञायक भावमात्र से उत्पन्न जो परद्रव्यों से परस्पर मिलना उसके होने पर भी प्रकट स्वाद में आता हुआ जो स्वभाव का भेद उसपने कर धर्म अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल अन्यजीव—उनके प्रति मैं निर्मम हूँ । क्योंकि सदाकाल ही अपने में एकत्व होने से पदार्थों की ऐसी ही व्यवस्था है कि अपने स्वभाव को कोई नहीं छोड़ता । ऐसे अनुभव करने से ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ कहा जाता है ।

यहाँ पर इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**इति सति** इत्यादि । **अर्थ**—इस तरह पूर्वकथितरीति से भावक-भाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने से सभी अन्य भावों से जब भिन्नता हुई, तब यह उपयोग आपही अपने एक आत्मा को ही धारता हुआ और जिनका परमार्थ प्रकट हुआ है ऐसे जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र उन रूप जिसने परिणमन किया है ऐसा होता हुआ अपने आत्मा रूपी बाग (क्रीड़ावन) में प्रवृत्ति करता है, अन्य जगह नहीं जाता ।

भावार्थ—सब परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना, तब उपयोग को रमने के लिए अपना आत्मा ही रहा, दूसरा स्थान नहीं रहा । इस तरह दर्शन, ज्ञान और चारित्र से एकरूप हुआ आत्मा ही रमण करता है । ऐसा जानना ॥३७॥

आगे इस तरह दर्शन ज्ञान चारित्र स्वरूप परिणत हुए आत्मा के स्वरूप का अनुभव कैसा होता है ? ऐसा कहते हुए आचार्य इस कथन का उपसंहार करते हैं—जो दर्शन ज्ञान चारित्र रूप

अथैवं दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतस्यास्यात्मनः कीदृक् स्वरूपसञ्चेतनं भवतीत्यावेदयन्नुपसंहरति—

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तंपि ॥३८॥

अहमेकः खलु शुद्धो दर्शनज्ञानमयः सदाऽरूपी।
नाप्यस्ति मम किञ्चिदप्यन्यत्परमाणुमात्रमपि ॥३८॥

यो हि नामानादिमोहोन्मत्ततयात्यन्तमप्रतिबुद्धः सन् निर्विण्णेन[1] गुरुणानवरतं प्रतिबोध्यमानः कथञ्चनापि प्रतिबुध्य निजकरतलविन्यस्तविस्मृतचामीकरावलोकनन्यायेन परमेश्वरमात्मानं ज्ञात्वा श्रद्धायानुचर्यं च सम्यगेकात्मारामो भूतः स खल्वहमात्मात्मप्रत्यक्षं चिन्मात्रं ज्योतिः। समस्तक्रमाक्रमप्रवर्त्तमानव्यावहारिकभावैश्चिन्मात्राकारेणाभिद्यमानत्वादेको नारकादिजीवविशेषाजीवपुण्यपापास्रवसंवरनिर्जराबन्धमोक्षलक्षणव्यावहारिकनवतत्त्वेभ्यष्टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावभावेनात्यन्तविविक्तत्वाच्छुद्धः। चिन्मात्रतया[2] सामान्यविशेषोपयोगात्मकतानतिक्रमणाद्दर्शन-

---

रागादिभावेभ्यो भिन्नोऽहमिति शुद्धः। पुनरपि किंविशिष्टः। दंसणणाणमइयो केवलदर्शनज्ञानमयः। पुनरपि किंरूपः। सदारूवी निश्चयनयेन रूपरसगन्धस्पर्शाभावात्सदाप्यमूर्त्तः। णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्णं परमाणु-

---

परिणत हुआ आत्मा वह ऐसा जानता है कि [अहम्] मैं [एकः] एक हूँ [शुद्धः] शुद्ध हूँ [सदा अरूपी खलु] निश्चय कर सदाकाल अरूपी हूँ [अन्यत्] अन्य परद्रव्य [परमाणुमात्रमपि] परमाणुमात्र भी [मम किञ्चित्] मेरा कुछ [नापि अस्ति] भी नहीं लगता है, यह निश्चय है।

टीका—सत्यार्थरूप से ऐसा है कि यह आत्मा अनादिकाल से लेकर मोहरूपी अज्ञान से उन्मत्त होकर अत्यन्त अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) था, सो इसे अनुरागी गुरु ने अनवरत समझाया, तब किसी प्रकार बड़े भाग्य से समझा, सावधान हुआ। उस समय 'जैसे किसी के हाथ की मुट्ठी में पहले सुवर्ण रक्खा हो उसे भूलकर फिर याद कर देखे' इस न्याय से अपने परमेश्वर (सर्व सामर्थ्य के धारण करने वाले) आत्मा को भूल रहा था, सो उसे जान, श्रद्धान कर और उसी का आचरण रूप उससे तन्मय होकर अच्छी तरह आत्माराम हुआ। तब ऐसा जाना कि मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ सो मैं अपने ही अनुभव से प्रत्यक्ष जानता हूँ—समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवृत्त व्यावहारिक भावों से चिन्मात्र आकार द्वारा तो भेदरूप नहीं हुआ इसलिए मैं एक हूँ। तथा नर नारक आदि जीव के विशेष, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष स्वरूप जो व्यावहारिक नव तत्त्व हैं, उनसे टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप भाव से अत्यन्त पृथक् होने से मैं शुद्ध हूँ। चिन्मात्रता से सामान्य विशेष उपयोग को उल्लंघन करने से मैं दर्शन, ज्ञानमय हूँ। जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण निमित्त हैं, संवेदनरूप भी स्पर्श आदिरूप सदा आप नहीं परि-

---

१. अनिर्विण्णेन इति पाठान्तरम्। २. 'चिन्मात्रतायाः' इत्यपि पाठः।

ज्ञानमयः स्पर्शरसगन्धवर्णनिमित्तसंवेदनपरिणतत्वेऽपि स्पर्शादिरूपेण स्वयमपरिणमनात्परमार्थतः सदैवारूपीति प्रत्यगहं[1] स्वरूपं संचेतयमानः प्रतपामि । एवं प्रतपतश्च मम बहिर्विचित्रस्वरूपसंपदा विश्वे[2] परिस्फुरत्यपि न किंचनाप्यन्यत्परमाणुमात्रमप्यात्मीयत्वेन प्रतिभाति । यद्भावकत्वेन ज्ञेयत्वेन चैकीभूय भूयो मोहमुद्भावयति स्वरसत एवापुनः प्रादुर्भावाय समूलं मोहमुन्मूल्य महतो ज्ञानोद्योतस्य प्रस्फुरितत्वात् ॥३८॥

मित्तं पि । इत्थंभूतस्य सतः नैवास्ति ममान्यत्परमाणुमात्रमपि परद्रव्यं किमपि । यदेकत्वेन रंजकत्वेन ज्ञेयत्वेन वा पुनरपि मम मोहमुत्पादयति[3] । कस्मात् ? परमविशुद्धज्ञानपरिणतत्वात् ॥३८॥

णमने से वास्तव में सदा ही अरूपी हूँ । ऐसे सबसे पृथक् स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापसहित हूँ । ऐसे प्रतापरूप हुए मुझ में बाह्य अनेक प्रकार स्वरूप की सम्पदा से समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं तो भी परमाणु–मात्र द्रव्य भी मुझे आत्मीय रूप नहीं प्रतिभासित होता जिससे कि मेरे भावकरूप से तथा ज्ञेयरूप से मुझ से एक होकर फिर मोह उत्पन्न करे । क्योंकि मेरे निजरस से ही ऐसा महान् ज्ञान प्रकट हुआ है, जिसने मोह को मूल से उखाड़ कर दूर किया है, जो फिर उसका अंकुर न उपजे ऐसा नाश किया है ।

भावार्थ—आत्मा अनादिकाल से लेकर मोह के उदय से अज्ञानी था, सो श्रीगुरुओं के उपदेश से और अपनी काललब्धि से (अच्छी होनहार से) ज्ञानी हुआ, अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन ज्ञानमय हूँ । ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हुआ, भावकभाव और ज्ञेयभाव उनसे भेद ज्ञान हुआ, और स्वरूपसंपदा अनुभव में आई, तब फिर मोह क्यों उत्पन्न होता ।

अब ऐसा आत्मा का अनुभव हुआ, उसकी महिमा आचार्य कह कर प्रेरणारूप श्लोक कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा में समस्त लोक मग्न होवे—मज्जन्तु इत्यादि । अर्थ—यह ज्ञानसमुद्र भगवान् आत्मा विभ्रमरूप चादर को शक्ति से डुबोकर (दूर कर) आप सर्वाङ्ग प्रकट हुआ है सो अब समस्त लोक इसके शान्तरस में एक ही समय अतिशय से मग्न होवें । जो शान्तरस समस्त लोकपर्यंत उछल रहा है ।

भावार्थ—जैसे समुद्र की आड़ में कुछ आ जाय, तब जल नहीं दीखता और जब आड़ दूर हो जाय तब प्रकट दीखता हुआ लोक को प्रेरणा योग्य हो जाता है कि इस जल में सब लोक स्नान करो । उसी तरह यह आत्मा विभ्रम द्वारा आच्छादित था, तब इसका रूप नहीं दीखता था, जब विभ्रम दूर हुआ तब यथार्थ स्वरूप प्रकट हुआ । अब इसके वीतरागविज्ञानरूप शान्तरस में एक काल में सब लोक मग्न हो जाओ, ऐसी आचार्य ने प्रेरणा की है । अथवा ऐसा भी अर्थ है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर हो जाता है, तब केवलज्ञान प्रकट होता है, और तब समस्त लोक में ठहरे हुए पदार्थ एक ही समय ज्ञान में आकर झलकते हैं, उसको सब लोक देखो । इस तरह इस समय प्राभृतग्रन्थ में पहले जीवाजीवाधिकार में टीकाकार ने **पूर्वरंगस्थल** कहा ।

---

१. 'प्रत्यगयं' इत्यपि पाठः । २. 'विश्वोपरि' इत्यपि पाठः । ३. 'तन्नपुनर्वन्धाय भवति' इत्यधिकः पाठः ।

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ।
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करिणीं भरेण प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥३२॥
इति श्रीसमयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ पूर्वरङ्गः समाप्तः ।

इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ स्थलसप्तकेन जो पस्सदि अप्पाणमित्यादि सप्तविंशतिगाथाः । तदनन्तरमुपसंहारसूत्रमेकमिति समुदायेनाष्टाविंशतिगाथाभिर्जीवाधिकारः समाप्तः । इति प्रथमरंगः ।

यहाँ टीकाकार का ऐसा आशय है कि इस ग्रन्थ को अलङ्कार द्वारा नाटकरूप में वर्णन किया है सो नाटक में पहले रङ्गभूमि रची जाती है, वहाँ देखने वाला नायक तथा सभा होती है और नृत्य करने वाले होते हैं, वे अनेक स्वांग रचते हैं तथा शृङ्गारादिक आठरस का रूप दिखलाते हैं। उस जगह शृङ्गार, हास्य, रौद्र, करुणा, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत—ये आठ लौकिक रस हैं। नाटक में इनका ही अधिकार है। नवमां शान्तरस है, वह लोकोत्तर है। सो नृत्य में उसका अधिकार नहीं है। इन रसों के स्थायीभाव, सात्त्विकभाव, अनुभावविभाव, व्यभिचारीभाव और इनकी दृष्टि आदि का वर्णन रसग्रन्थों में है वहाँ से जान लेना। तथा सामान्यपने से रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में जो ज्ञेय आया उससे ज्ञान तदाकार हो जाय, उससे पुरुष का भाव लीन हो जाय अन्य ज्ञेय की इच्छा न रहे वह रस है। सो नृत्य करने वाले नृत्य में आठ रस का रूप दिखलाते हैं और इनका वर्णन जब कवीश्वर करते हैं, तब अन्यरस को अन्यरस के समानरूप भी वर्णन करते हैं तब अन्यरस का अन्यरस अङ्गभूत होने से तथा रसों के अन्यभाव अङ्ग होने से रसवत् आदि अलङ्कारों द्वारा नृत्य के रूप से वर्णन किया जाता है। इस जगह पहले रङ्गभूमि स्थल कहा, वहाँ देखने वाला तो सम्यग्दृष्टि पुरुष है और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है उनको दिखलाते हैं। नृत्य करने वाले जीव अजीव पदार्थ हैं और दोनों की एकरूपता कर्तृकर्मत्व आदि उनके स्वांग हैं। उनमें परस्पर अनेकरूप होते हैं, वे आठ रसरूप होकर परिणत होते हैं, यही नृत्य है। वहाँ सम्यग्दृष्टि देखनेवाला जीव अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है, वह तो इन सब स्वांगों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव अजीव का भेद नहीं जानते, इसलिए इन स्वांगों को सच्चा जानकर इनमें लीन हो जाते हैं। उनको सम्यग्दृष्टि यथार्थ दिखलाकर उनका भ्रम मेंट कर और शान्तरस में उन्हें लीन कर सम्यग्दृष्टि बनाता है। उसकी सूचनारूप रङ्गभूमि के अन्त में आचार्य ने "मज्जन्तु" इत्यादि श्लोक लिखा है। अब आगे जीव अजीव के एकत्व का स्वांग वर्णन करेंगे उसकी सूचनारूप है ऐसा आशय मालूम होता है। सो यहाँ तक तो रङ्गभूमि का वर्णन किया ॥३८॥

दोहा—नृत्यकुतूहल तत्त्व का, मरिपचि देखो धाय ।
निजानन्दरस कों छको, आन सबै छिटकाय ।

इस प्रकार जीवाजीवाधिकार में पूर्वरङ्ग समाप्त हुआ ।

अथ जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः ।

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदा-नासंसारनिबद्धबन्धनविधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् । आत्मारामममनन्तधाममहसाध्यक्षेण नित्योदितं, धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनो ह्लादयत् ॥३३॥

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति ॥३९॥
अवरे अज्झवसाणे-सु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति ॥४०॥
कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥४१॥
जीवो कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥४२॥
एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवाई णिच्चयवाईहिं णिद्दिट्ठा ॥४३॥(पंचकम्)

आत्मानमजानन्तो मूढास्तु परात्मवादिनः केचित् ।
जीवमध्यवसानं कर्म च तथा प्ररूपयन्ति ॥३९॥

अथानन्तरं शृङ्गारसहितपात्रवज्जीवाजीवावेकीभूतौ प्रविशतः । तत्र स्थलत्रयेण त्रिंशद्गाथापर्यन्तमजीवाधिकारः कथ्यते । तेषु प्रथमस्थले शुद्धनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति निषेधमुख्यत्वेन अप्पाणमयाणंता इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथादशकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तत्र गाथादशकमध्ये

आगे जीवद्रव्य और अजीवद्रव्य ये दोनों एक होकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं, वहाँ आदि में मंगल का अभिप्राय लेकर आचार्य ज्ञान की प्रशंसा करते हैं, कि जो सब वस्तुओं का जानने वाला यह ज्ञान है, वह जीव अजीव के सब स्वांगों को अच्छी प्रकार पहचानता है, ऐसा सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है । इसी के अर्थरूप श्लोक कहते हैं—जीवाजीव इत्यादि ।

अर्थ—ज्ञान है वह मन को आनन्दरूप करता हुआ प्रगट होता है । वह जीव अजीव के स्वांग को देखने वाले महान पुरुषों को जीव अजीव का भेद देखने वाली बड़ी उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि से भिन्न द्रव्य की प्रतीति करता है; अनादि संसार से जिनका बंधन दृढ़ बँध रहा है, ऐसे ज्ञानावरणादि कर्मों के नाश से विशुद्ध हुआ है स्फुट हुआ है, जैसे फूल की कली फूलती है, उस तरह विकाशरूप है । जिसके रमने का क्रीड़ावन आत्मा ही है अर्थात् जिसमें अनन्त ज्ञेयों

अपरेऽध्यवसानेषु तीव्रमन्दानुभागगं जीवं ।
मन्यन्ते तथाऽपरे नोकर्म चापि जीवं इति ॥४०॥
कर्मण उदयं जीवमपरे कर्मानुभागमिच्छन्ति ।
तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां यः स भवति जीवः ॥४१॥
जीवकर्मोभयं द्वे अपि खलु केचिज्जीवमिच्छन्ति ।
अपरे संयोगेन तु कर्मणां जीवमिच्छन्ति ॥४२॥
एवम्विधा बहुविधाः परमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसः ।
ते न परमार्थवादिनः निश्चयवादिभिर्निर्दिष्टाः ॥४३॥

इह खलु तदसाधारणलक्षणाकलनात्क्लीबत्वेनात्यन्तविमूढाः सन्तस्तात्त्विकमात्मानमजानन्तो बहवो बहुधा परमप्यात्मानमिति प्ररूपन्ति । नैसर्गिकरागद्वेष-

---

परद्रव्यात्मवादे पूर्वपक्षमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं तदनन्तरं परिहारमुख्यत्वेन सूत्रमेकम् । अथाष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यं भवतीति कथनमुख्यत्वेन सूत्रमेकम्, ततश्च व्यवहारनयसमर्थनद्वारेण गाथात्रयं कथ्यत इति समुदायपातनिका । तद्यथा । अथ देहरागादिपरद्रव्यं निश्चयेन जीवो भवतीति पूर्वपक्षं करोति—**अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई** आत्मानमजानन्तः मूढास्तु परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः केचन परात्मवादिनः **जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूविंति**। यथाङ्गारात् कार्ष्ण्यंभिन्नं नास्ति तथा रागादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति

(पदार्थों) के आकार आकर झलकते हैं तो भी आप अपने स्वरूप में ही रमता है, जिसका प्रकाश अनन्त है, प्रत्यक्ष तेज द्वारा नित्य उदयरूप है धीर है, उदात्त है, इसी से अनाकुल है सब इच्छाओं से रहित निराकुल है। यहाँ धीर, उदात्त, अनाकुल ये तीन विशेषण शान्तरूप नृत्य के आभूषण जानना चाहिए। ऐसा ज्ञान विलास करता है।

भावार्थ—यह ज्ञान की महिमा कही। सो जीव अजीव एक होकर रङ्गभूमि में प्रवेश करते हैं, उनको यह ज्ञान ही भिन्न जानता है। जैसे कोई नृत्य में स्वांग आ जाय उसे यथार्थ जो जाने उसको स्वांग करने वाला नमस्कार कर अपना जैसा का तैसा रूप कर लेता है उसी तरह यहां भी जानना ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों के होता है, मिथ्यादृष्टि यह भेद नहीं जानता।

आगे जीव अजीव का एकरूप स्वांग का वर्णन करते हैं :—जो [**आत्मानं अजानन्तः**] आत्मा को नहीं जानते [**परात्मवादिनः**] किन्तु परको आत्मा कहने वाले [**केचित् मूढाः तु**] कोई मोही अज्ञानी तो [**अध्यवसानं**] अध्यवसान को [**तथा च**] और कोई [**कर्म**] कर्म को [**जीवं प्ररूपयन्ति**] जीव कहते हैं। [**अपरे**] अन्य कोई [**अध्यवसानेषु**] अध्यवसानों में [**तीव्रमन्दानुभागगम्**] तीव्रमन्द अनुभागगतको [**जीवं मन्यन्ते**] जीव मानते हैं। [**तथा**] और [**परे**] अन्य कोई [**नोकर्म अपि च**] नोकर्मको [**जीव इति**] जीव मानते हैं [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मण**

कल्माषितमध्यवसानमेव जीवस्तथा विधाध्यवसानात् अङ्गारस्येव कार्ष्ण्यादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। अनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणक्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यवसानसन्तान एव जीवस्ततोऽरिक्तस्यान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। नवपुराणावस्थादिभावेन प्रवर्त्तमानं नोकर्मैव जीवः शरीरादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित्। विश्वमपि पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाक एव जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमान-

---

रागाद्यध्यवसानं कर्म च जीवं वदन्तीति। अथ अवरे अज्झवस णेसु तिव्वमंदाणुभावगं जीवं मण्णंति अपरे केचनैकान्तवादिन रागाद्यध्यवसानेषु तीव्रमन्दतारतम्यानुभावस्वरूपं शक्तिमाहात्म्यं गच्छतीति तीव्रमन्दानु-

---

उदयम्] कर्म के उदय को [**जीवम्**] जीव को मानते हैं, कोई [**कर्मानुभागम्**] कर्म के अनुभाग को [**यः**] जो अनुभाग [**तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्याम्**] तीव्रमन्दरूप गुणों से भेद को प्राप्त होता है [**सः**] वह [**जीवः भवति**] जीव है [**इच्छन्ति**] ऐसा इष्ट करते हैं [**केचित्**] कोई [**जीवकर्मोभयम्**] जीव और कर्म [**द्वेअपि**] दोनों मिले हुए को [**खलु**] ही [**जीवम् इच्छन्ति**] जीव मानते हैं [**तु**] और [**अपरे**] अन्य कोई [**कर्मणां संयोगेन**] कर्मों के संयोग से ही [**जीवम् इच्छन्ति**] जीव मानते हैं। [**एवंविधाः**] इस प्रकार तथा [**बहुविधाः**] अन्य भी बहुत प्रकार [**दुर्मेधसः**] दुर्बुद्धि मिथ्यादृष्टि [**परम्**] परको [**आत्मानं**] आत्मा [**वदन्ति**] कहते हैं [**ते न परमार्थवादिनः**] वे परमार्थ (सत्यार्थ) कहने वाले नहीं हैं ऐसा [**निश्चयवादिभिः**] निश्चय (सत्यार्थ) वादियों ने [**निर्दिष्टाः**] कहा है।

टीका—इस जगत् में आत्मा के असाधारण लक्षण न जानने के कारण असमर्थ होने से अत्यन्त विमूढ हुए अज्ञानीजन परमार्थभूत आत्मा को न जानने वाले बहुत हैं। वे बहुत प्रकार से परको ही आत्मा इस प्रकार कहते हैं। कोई तो स्वाभाविक स्वयमेव हुए रागद्वेष से मलिन जो अध्यवसान अर्थात् आशयरूप विभावपरिणाम वही जीव है, ऐसा कहते हैं। उसका हेतु कहते हैं कि जैसे अङ्गार की कालिमा है वैसे अध्यवसान से अन्य कोई जीव दीखता नहीं। कोई कोई कहते हैं कि पूर्व पश्चात् अनादि से लेकर और आगामी अनन्तकाल तक अवयवरूप एक भ्रमण क्रियारूप से क्रीडा करता हुआ जो कर्म वही जीव है क्योंकि इस कर्म से भिन्न कुछ अन्य जीव देखने में नहीं आता है। कोई कहते हैं कि तीव्र मन्द अनुभव से भेदरूप हुआ और जिसका अन्त दूर है ऐसे रागरूप रस से भरी जो अध्यवसान की संतान (परिपाटी) वही जीव है, क्योंकि इससे अन्य कोई जुदा जीव देखने में नहीं आता। कोई कहते हैं कि नवीन और पुरानी अवस्था इत्यादि भाव से प्रवर्तमान जो नोकर्म वही जीव है, क्योंकि इस शरीर से अन्य भिन्न कुछ जीव देखने में

त्वादिति केचित् । सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभव एव जीवः सुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् । मज्जितातदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयमेव जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति । केचित् अर्थक्रियासमर्थःकर्मसंयोग एव जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाया इवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्यानुपलभ्यमानत्वादिति केचित् एवमेवम्प्रकारा इतरेऽपि बहुप्रकारा परमात्मेति व्यपदिशन्ति दुर्मेधसः किन्तु न ते परमार्थवादिभिः परमार्थवादिनः इति निर्दिश्यन्ते ॥३९॥४०॥४१॥४२॥४३॥

भावगस्तं जीवं मन्यन्ते । तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवोत्ति तथैवापरे चार्वाकादयः कर्मनोकर्मरहितपरमात्मभेदविज्ञानशून्याः चापि जीवं मन्यन्ते । अथ—कम्मस्युदयं जीवं अवरे अपरे कर्मण उदयं जीवमिच्छन्ति कम्माणुभागमिच्छंति अपरे च कर्मानुभागं लतादार्वस्थिपाषाणरूपं जीवमिच्छन्ति कथम्भूतः स चानुभागः तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो तीव्रत्वमन्दत्वगुणाभ्यां वर्त्तते यः स जीवो भवतीति । अथ—जीवो

नहीं आता । कोई ऐसा कहते हैं कि समस्त लोक को पुण्यपापरूप से व्याप्त कर्म का विपाक ही जीव है, क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता । कोई कहते हैं कि साता असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मन्दत्व गुणों से भेद रूप हुआ जो कर्म का अनुभव वही जीव है क्योंकि सुख-दुःख से अन्य भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता । कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की तरह दो रूप मिला जो आत्मा और कर्म ये दोनों मिले ही जीव हैं क्योंकि समस्तरूप से कर्म से भिन्न कोई जीव देखने में नहीं आता है । कोई कहते हैं कि कर्म के संयोग रूप अर्थक्रिया में समर्थ होता है वही जीव है । क्योंकि कर्म के संयोग से अन्य कोई जीव देखने में नहीं आता जैसे आठ काठ के टुकड़े मिल कर खाट हुई, तब अर्थक्रिया में समर्थ हुई, इसी तरह यहां भी जानना ऐसा मानते हैं । इस प्रकार आठ प्रकार तो ये कहे और अन्य भी अनेक प्रकार पर को आत्मा कहते हैं वे दुर्बुद्धि हैं, उनको परमार्थ के जानने वाले सत्यार्थवादी नहीं कहते ।

भावार्थ—जीव अजीव दोनों ही अनादिकाल से एक क्षेत्रावगाह संयोगरूप मिल रहे हैं । और अनादि से ही पुद्गल के संयोग से जीव की विकारसहित अनेक अवस्थाएँ हो रही हैं । यदि परमार्थदृष्टि से देखा जाय तब जीव तो अपने चैतन्य आदि भाव को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता । लेकिन जो परमार्थ को नहीं जानते हैं, वे संयोगजन्य भावों को ही जीव कहते हैं । परमार्थ से जीव का स्वरूप पुद्गल से भिन्न सर्वज्ञको दीखता है तथा सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जाता है जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं माना गया है, वही अपनी बुद्धि से अनेक कल्पना कर कहते हैं । उनमें से वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक मतों के आशय लेकर आठ तो प्रकट हैं और अन्य भी अपनी अपनी बुद्धि से अनेक कल्पना कर कहते हैं, उनको कहाँ तक कहा जावे ॥३९।४०।४१।४२।४३॥

एए सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥४४॥

एते सर्वे भावाः पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः ।
केवलिजिनैर्भणिताः कथं ते जीव इत्युच्यन्ते ॥४४॥

यत एतेऽध्यवसानादयः समस्ता एव भावा भगवद्भिर्विश्वसाक्षिभिरर्हद्भिः पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वेन प्रज्ञप्ताः सन्तश्चैतन्यशून्यात्पुद्गलद्रव्यादतिरिक्तत्वेन प्रज्ञाप्यमानं चैतन्यस्वभावं जीवद्रव्यं भवितुं नोत्सहन्ते ततो न खल्वागमयुक्तिस्वानुभवैर्बाधितपक्षत्वात् तदात्मवादिनःपरमार्थवादिनः एतदेव सर्वज्ञवचनं तावदागमः । इयं तु स्वानुभवगर्भिता युक्तिः न खलु नैसर्गिकरागद्वेषकल्माषितमध्यवसानं जीवस्तथाविधाध्यवसानात्कार्तस्वरस्येव श्यामिकायाः अतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य

कम्मं उहयं दोण्णिवि खलु केवि जीवमिच्छन्ति जीवकर्मोभयं द्वे वपि जीवकर्मणी शिखिरिणीवत् खलु स्फुटं जीवमिच्छन्ति । अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति अपरे केचन अष्टकाष्ठखट्वावदकर्मणां संयोगेनापि जीवमिच्छन्ति । कस्मात् । अष्टकर्मसंयोगादन्यस्य शुद्धजीवस्यानुपपत्तेः । अथ एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा एवंविधा बहुविधा बहुप्रकारा देहरागादिपरद्रव्यमात्मानं वदन्ति दुर्मेधसो दुर्बद्धयः तेण दु परप्पवादी

ऐसा कहने वाले सत्यार्थवादी नहीं हैं, सो क्यों नहीं? उसका उत्तर कहते हैं,—[एते] ये पूर्व कहे हुए अध्यवसान आदिक [सर्वे भावाः] भाव हैं वे सभी [पुद्गलद्रव्यपरिणामनिष्पन्नाः] पुद्गलद्रव्य के परिणमन से उत्पन्न हुए हैं ऐसा [केवलिजिनैः] केवली सर्वज्ञजिनदेवने [भणिताः] कहा है [ते जीवाः] उनको जीव [इति कथम् उच्यन्ते] ऐसा कैसे कह सकते हैं ? अर्थात् नहीं कह सकते ।

टीका—ये अध्यवसानादिक भाव हैं, उन सब को सब पदार्थों के साक्षात् देखने वाले भगवान् वीतराग सर्वज्ञ अरिहन्तदेवने पुद्गलद्रव्य के परिणामजन्य कहा है, इस कारण वे चैतन्यभाव से शून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्नरूप कहे गये चैतन्यस्वभावमय जीव द्रव्य होने को समर्थ नहीं हैं इसलिए इस पक्ष के निश्चय से आगम, युक्ति और स्वानुभव इन तीनों द्वारा बाधित होने से जो इन अध्यवसानादिकों को जीव कहते हैं वे परमार्थवादी-सत्यार्थवादी नहीं है। उन तीन में ये जीव नहीं है, ऐसा सर्वज्ञ का वचन है वह तो आगम है । और जो स्वानुभवगर्भित युक्ति है उसे कहते हैं— जो स्वयमेव उत्पन्न हुआ ऐसा रागद्वेष से मलिन अध्यवसान है वह जीव नहीं है क्योंकि जैसे सुवर्ण कालिमा से पृथक् है उसी प्रकार चित्स्वभावरूप ऐसे अध्यवसान से भिन्न जीव भेदज्ञानियों को प्रतिभासित होता है, वे प्रत्यक्ष चैतन्य भाव को पृथक् अनुभव करते हैं ॥१॥ अनाद्यनन्त पूर्वापरीभूत एक संसरणक्रियारूप क्रीडा करता हुआ कर्म है वह भी जीव नहीं है क्योंकि कर्म से पृथक् अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों को प्राप्त है वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।२। तीव्र मन्द

विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वनाद्यनन्तपूर्वापरीभूतावयवैकसंसरणलक्षण-क्रियारूपेण क्रीडत्कर्मैव जीवः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु तीव्रमन्दानुभवभिद्यमानदुरन्तरागरसनिर्भराध्यव-सानसन्तानो जीवस्ततोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्य-मानत्वात् । न खलु नवपुराणावस्थादिभेदेन प्रवर्तमानं नोकर्म जीवः शरीरादति-रिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु विश्वमपि

णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा तेन कारणेन तु पुनः देहरागादिकं परद्रव्यमात्मानं वदन्तीत्येवंशीलाः परात्मवादिनो निश्चयवादिभिः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टा इति पञ्चगाथाभिः पूर्वपक्षः कृतः ॥३९॥४०॥४१॥४२॥४३॥ अथ परिहारं ददाति—एदे सव्वे भावा पुग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा एते सर्वे देहरागादयः कर्मजनितपर्यायाः पुद्गलद्रव्य-कर्मोदयपरिणामेन निष्पन्नाः केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवोत्ति उच्चंति केवलिजिनैः सर्वज्ञैः कर्मजनिता इति भणिताः कथं ते निश्चयनयेन जीवा इत्युच्यन्ते न कथमपि । किञ्च विशेषः । अङ्गारात् कार्ष्ण्यवद्रा-गादिभ्यो भिन्नो जीवो नास्तीति यद्भणितं तदयुक्तम् कथमिति चेत् । रागादिभ्यो भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षः परमसमाधिस्थपुरुषैः शरीररागादिभ्यो भिन्नस्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धजीवस्योपलब्धेरिति हेतुः । किट्टकालिकास्वरूपात् सुवर्णवदिति दृष्टान्तः । किं च अङ्गारदृष्टान्तोऽपि न घटते । कथमिति चेत् । यथा सुवर्णस्य पीतत्वं, अग्नेरुष्णत्वं स्वभावस्तथाङ्गारस्य कृष्णत्वस्वभावस्य तु पृथक्त्वं कर्तुं नायाति । रागादयस्तु

अनुभव से भेदरूप हुआ दुरन्त राग-रस से भरी अध्यवसान की सन्तान भी जीव नहीं है; क्योंकि उस सन्तान से अन्य पृथक् चैतन्यस्वरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है, वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।३। नई पुरानी अवस्थादि के भेद से प्रवृत्त हुआ जो नोकर्म वह भी जीव नहीं है; क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है, वे आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।४। समस्त जगत् को पुण्य-पापरूप से व्याप्त कर्म का विपाक भी जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयमेव प्राप्त है, वे आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।५। साता असाता रूप से व्याप्त समस्त तीव्रमंदता रूप गुण से भेद-रूप हुआ कर्मका अनुभव भी जीव नहीं है; क्योंकि सुख-दुःख से पृथक् अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव की भेदज्ञानियों को स्वयं प्राप्ति होती है, वे आप प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।६। श्रीखण्ड की तरह दो स्वरूप मिले आत्मा और कर्म दोनों ही जीव नहीं हैं, क्योंकि पूर्णरूप से कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वरूप जीव भेदज्ञानियों को स्वयं प्राप्त है, वे प्रत्यक्ष आप अनुभव करते हैं ।७। अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि 'जैसे आठ काठ के टुकड़ों रूप खाट का सोने वाला पुरुष अन्य है', उसी प्रकार कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव की भेदज्ञानियों को स्वयं प्राप्ति है, आप वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।८। इसी प्रकार अन्य कोई दूसरे प्रकार कहें वहाँ भी यही युक्ति जानना ।

भावार्थ—चैतन्य स्वभावरूप जाव सब परभावों से भिन्न भेदज्ञानियों के अनुभव गोचर है, इस कारण अज्ञानी जिसप्रकार मानते हैं. उसप्रकार नहीं है ।

पुण्यपापरूपेणाक्रामन् कर्मविपाको जीवः शुभाशुभभावादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु सातासातरूपेणाभिव्याप्तसमस्ततीव्रमन्दत्वगुणाभ्यां भिद्यमानः कर्मानुभावो जीवःसुखदुःखातिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खलु मज्जितावदुभयात्मकत्वादात्मकर्मोभयं जीवः कार्त्स्न्यतः कर्मणोऽतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वात् । न खल्वर्थक्रियासमर्थः कर्मसंयोगो जीवः कर्मसंयोगात्खट्वाशायिनः पुरुषस्येवाष्टकाष्ठसंयोगादतिरिक्तत्वेनान्यस्य चित्स्वभावस्य विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वादिति । इह खलु पुद्गलभिन्नात्मोपलब्धिं प्रति विप्रतिपन्नः साम्नैवैवमनुशास्यः ।।४४।।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किञ्चोपलब्धिः ।।३४।।

विभावाः स्फटिकोपाधिवत् ततस्तेषां निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिबलेन पृथक्त्वं कर्तुं शक्यते इति । यदप्युक्तमष्टकाष्ठसंयोगखट्वावदष्टकर्मसंयोग एव जीवस्तदप्यनुचितम् अष्टकर्मसंयोगात् भिन्नः शुद्धजीवोऽस्तीति पक्षवचनं अष्टकाष्ठसंयोगखट्वाशायिनः पुरुषस्येव परसमाधिस्थपुरुषैरष्टकर्मसंयोगात् पृथग्भूतस्य शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवस्योपलब्धेरिति दृष्टान्तसहितहेतुः । किञ्च देहात्मनोरत्यन्तं भेदः इति पक्षः भिन्नलक्षणलक्षितत्वादिति हेतुः, जलानलवदिति दृष्टान्तः ।।४४।। इति परिहारगाथा गता ।

अथ चिद्रूपप्रतिभासेऽपि रागाद्यध्यवसानादयः कथं पुद्गलस्वभावा भवन्तीति चेत्—

अब यहां पर पुद्गल से भिन्न जो आत्मा की उपलब्धि उसको अन्यथा ग्रहण करने वाला (पुद्गल को ही आत्मा जानने वाला जो पुरुष) उसको समभाव से ही उपदेश करना चाहिए, ऐसा श्लोक कहते हैं **विरम** इत्यादि । **अर्थ**—हे भव्य, तुझे निष्प्रयोजन कोलाहल करने से क्या लाभ है, उससे तू विरक्त हो और एक चैतन्यमात्र वस्तु को एकान्त में स्वयं छः महीना अभ्यास कर निश्चय लीन होकर देख । ऐसा करने से अपने हृदय सरोवर में जिसका तेज प्रताप-प्रकाश पुद्गल से भिन्न है ऐसे आत्मा की क्या प्राप्ति नहीं हो सकेगी अर्थात् अवश्य होगी ।

भावार्थ—जो अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होवे, परवस्तु की प्राप्ति तो नहीं हो सकती । अपना स्वरूप तो विद्यमान ही है परन्तु भूल रहा है चेत कर देखे तो पास ही है । यहां छह महीने का अभ्यास कहा सो ऐसा नहीं समझना कि इतने से ही हो जाय, इसका होना तो अन्तर्मुहूर्तमात्र में ही है परन्तु शिष्य को बहुत कठिन मालूम पड़े तब उसका निषेध है । यदि बहुत काल भी समझने में लगेगा तो छह महीने से अधिक नहीं लगेगा । इसलिए अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल को छोड़ इसमें लगने से शीघ्र स्वरूप की प्राप्ति होगी ऐसा उपदेश है ।।४४।।

आगे शिष्य पूछता है कि ये अध्यवसानादिक भाव तो जीव नहीं बतलाये, अन्य चैतन्य स्वभाव को जीव कहा सो ये भाव भी तो चैतन्य से ही सम्बन्ध रखने वाले मालूम होते हैं, चैतन्य

कथञ्चिदन्वयत्वप्रतिभासेऽप्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावा इति चेत्—

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमयं जिणा विंति ।
जस्स फलं तं वुच्चइ दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

अष्टविधमपि च कर्म सर्वं पुद्गलमयं जिना विदन्ति ।
यस्य फलं तदुच्यते दुःखमिति विपच्यमानस्य ॥४५॥

अध्यवसानादिभावानिर्वर्त्तकमष्टविधमपि च कर्म समस्तमेव पुद्गलमयमिति किल सकलज्ञज्ञप्तिः । तस्य तु यद्विपाककाष्ठामधिरूढस्य फलत्वेनाभिलप्यते तदना-कुलत्वलक्षणसौख्याख्यात्मस्वभावविलक्षणत्वात्किल दुःखं, तदन्तःपातिन एव किला-कुलत्वलक्षणा अध्यवसानादिभावाः । ततो न ते चिदन्वयत्वविभ्रमेऽप्यात्मस्वभावाः किन्तु पुद्गलस्वभावाः ॥४५॥

अठ्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पुग्गलमय जिणा विंति सर्वमष्टविधमपि कर्म पुद्गलमयं भवतीति जिना वीतरागसर्वज्ञा ब्रुवन्ति कथयन्ति । कथम्भूतं यत्कर्म जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खंति विपच्चमाणस्स यस्य कर्मणः फलं तत्प्रसिद्धमुच्यते किं व्याकुलत्वस्वभावत्वाद् दुःखमिति । कथम्भूतस्य कर्मणः । विशेषेण पच्यमानस्योदया-गतस्य । इदमत्र तात्पर्यम् । अष्टविधकर्मपुद्गलस्य कार्यमनाकुलत्वलक्षणपरमार्थसुखविलक्षणमाकुलत्वोत्पादकं दुःखं रागादयोऽप्याकुलत्वोत्पादकदुःखलक्षणास्ततः कारणात्पुद्गलकार्यत्वात् शुद्धनिश्चयनयेन पौद्गलिका इति ॥४५॥ अष्टविधं कर्म पुद्गलद्रव्यमेवेति कथनरूपेण गाथा गता ।

के बिना जड़ के तो होते नहीं, इनको पुद्गल के कैसे कहा ? ऐसा पूछने पर उत्तररूप गाथासूत्र कहते हैं :—

[अष्टविधमपि च] आठ तरह के [कर्म] कर्म हैं वे [सर्वम्] सभी [पुद्गलमयम्] पुद्गल स्वरूप हैं ऐसा [जिनाः] जिन भगवान् सर्वज्ञ देव [विन्दन्ति] कहते हैं । [यस्य विपच्यमानस्य] जिस पच कर उदय में आने वाले कर्म का [फलम्] फल [तत्] प्रसिद्ध [दुःखम्] दुःख है [इति उच्यते] ऐसा कहा है ।

टीका—जिस कारण ये अध्यवसान आदि समस्त भावों के उत्पन्न करने वाले आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म हैं, वे सभी पुद्गलमय हैं ऐसा सर्वज्ञ का वचन है । उस कर्म का उदय परा-काष्ठा को पहुँचे, ऐसा उसका फल अनाकुलता स्वरूप सुख नामक आत्मा के स्वभाव से विलक्षण आकुलतामय है इसलिए दुःख है । उस दुःख में आ पड़े जो आकुलतास्वरूप अध्यवसान आदिक भाव हैं वे भी दुःख ही हैं इसीलिए वे चैतन्य से सम्बन्ध होने का भ्रम उत्पन्न करते हैं, तो भी वे आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, पुद्गल स्वभाव ही हैं ।

भावार्थ—यह आत्मा कर्म के उदय आने पर दुःखरूप परिणमन करता है और जो दुःखरूप भाव है, वह अध्यवसान है इसलिए दुःखरूपभाव में चेतन के सम्बन्ध का भ्रम उपजता है । परमार्थ से दुःखस्वरूप भाव चेतन नहीं है, कर्मजन्य है, इस कारण जड़ ही है ॥४५॥

यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तदा कथं जीवत्वेन सूचिता इति चेत्—

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

व्यवहारस्य दर्शनमुपदेशो वर्णितो जिनवरैः ।
जीवा एते सर्वेऽध्यवसानादयो भावाः ॥४६॥

सर्वे एवैतेऽध्यवसानादयो भावाः जीवा इति यद्भगवद्भिः सकलज्ञैः प्रज्ञप्तं तदभूतार्थस्यापि व्यवहारस्यापि दर्शनम् । व्यवहारो हि व्यवहारिणां म्लेच्छभाषेव म्लेच्छानां परमार्थप्रतिपादकत्वादपरमार्थोऽपि तीर्थप्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयितुं न्याय्य एव । तमन्तरेण तु शरीराज्जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनात् त्रसस्थावराणां भस्मन इव निःशङ्कमुपमर्दनेन हिंसाऽभावाद्भवत्येव बन्धस्याभावः । तथा रक्तो द्विष्टो विमूढो जीवो बध्यमानो मोचनीय इति [कथितम्] रागद्वेषमोहेभ्यो जीवस्य परमार्थतो भेददर्शनेन मोक्षोपायपरिग्रहणाभावात् भवत्येव मोक्षस्याभावः ॥४६॥

अथ यद्यध्यवसानादयः पुद्गलस्वभावास्तर्हि रागी द्वेषी मोही जीव इति कथं जीव इति कथं जीवत्वेन ग्रन्थान्तरे प्रतिपादिता इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—

ववहारस्स दरीसणं व्यवहारनयस्य स्वरूपं दर्शितं यत्किं कृतम् । उवएसो वण्णिओ जिणवरेहिं उपदेशो वर्णितः कथितो जिनवरैः । कथम्भूतः । जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा जीवा एते सर्वे अध्यवसानादयो भावाः परिणामा भण्यन्त इति । किं च विशेषः । यद्यप्ययं व्यवहारनयो बहिर्द्रव्यावलम्बनत्वेनाभूतार्थस्यापि रागादिबहिर्द्रव्यावलम्बनरहितविशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावावलम्बनसहितस्य परमार्थस्य प्रतिपादकत्वाद्दर्शयितुमुचितो भवति । यदा पुनर्व्यवहारनयो न भवति तदा शुद्धनिश्चयनयेन त्रसस्थावरजीवा न भवन्तीति मत्वा निःशङ्कोपमर्दनं कुर्वन्ति जनाः । ततश्च पुण्यरूपधर्माभाव इत्येकं दूषणं, तथैव शुद्धनयेन रागद्वेषमोहरहितः पूर्वमेव मुक्तो जीवस्तिष्ठतीति मत्वा मोक्षार्थमनुष्ठानं कोऽपि न करोति ततश्च मोक्षाभाव इति द्वितीयं च दूषणम् तस्माद् व्यवहारनयव्याख्यानमुचितं भवतीत्यभिप्रायः ॥४६॥

आगे पूछता है कि ये अध्यवसानादि भाव पुद्गलस्वभाव हैं तो सर्वज्ञ के आगम में इनको जीव के भाव कैसे कहा ? उसके उत्तर का गाथासूत्र कहते हैं;—[एते सर्वे] ये सब [अध्यवसानादयः भावाः] अध्यवसानादिक भाव हैं [जीवाः] वे जीव हैं ऐसा [जिनवरैः] जिनवरदेव ने [उपदेशः वर्णितः] जो उपदेश दिया है वह [व्यवहारस्य दर्शनम्] व्यवहारनय का मत है ।

टीका—ये सब अध्यवसानादिक भाव 'जीव हैं' ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है, वह अभूतार्थ असत्यार्थरूप जो व्यवहारनय उस का मत है । क्योंकि व्यवहार व्यवहारी जीवों को परमार्थ का कहने वाला है । जैसे म्लेच्छ भाषा म्लेच्छों को वस्तु स्वरूप को बतलाती है, उसी तरह यह नय है । इसलिये अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करने के लिये व्यवहारनय का वर्णन होना ठीक है । यदि उस व्यवहार को न कहें और परमार्थनय जीव को शरीर से

---

१. दरिसणंउव इत्यपि पाठः ।

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इति चेत्—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेको णिच्छिदो जीवो ॥४८॥(युगलम्)

राजा खलु निर्गत इत्येष बलसमुदयस्यादेशः।
व्यवहारेण तूच्यते तत्रैको निर्गतो राजा ॥४७॥
एवमेव च व्यवहारोऽध्यवसानाद्यन्यभावानाम्।
जीव इति कृतः सूत्रे तत्रैको निश्चितो जीवः ॥४८॥

अथ केन दृष्टान्तेन प्रवृत्तो व्यवहार इत्याख्यति—

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो राजा हु स्फुटं निर्गत एवं बलसमुदयस्यादेशः

भिन्न कहता है उसका ही एकान्त कथन करें तो त्रस स्थावर जीवों का घात निःशङ्करूप से करना ठहरेगा। जैसे भस्म के मर्दन करने में हिंसा का अभाव है, उसी प्रकार उनके मारने में भी हिंसा नहीं सिद्ध होगी किन्तु हिंसा का अभाव ठहरेगा तब उनके घात होने से बन्ध का भी अभाव ठहरेगा। उसी प्रकार रागी द्वेषी मोही जीव कर्म से बँधता है वह छुड़ाने योग्य है ऐसा कहा गया है। परमार्थ से रागद्वेष मोह से जीव को भिन्न दिखलाने पर मोक्ष के उपाय का उपदेश व्यर्थ हो जायगा, तब मोक्ष का भी अभाव ठहरेगा। इसलिये व्यवहारनय कहा गया है।

भावार्थ—परमार्थनय तो जीव को शरीर और राग द्वेष मोह से भिन्न कहती है। यदि इसी का एकान्त किया जाय, तब शरीर तथा राग, द्वेष मोह पुद्गल ठहरें; तब पुद्गल के घात से हिंसा नहीं हो सकती और राग द्वेष मोह से बन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार परमार्थ से संसार मोक्ष दोनों का अभाव हो जायगा। ऐसा एकान्त स्वरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान ज्ञान और आचरण मिथ्या अवस्तुरूप ही है, इसलिये व्यवहार का उपदेश न्यायप्राप्त है। इस प्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मेंट कर श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।

आगे शिष्य पूछता है कि यह व्यवहारनय किस दृष्टान्त से प्रवृत्त हुआ? उसका उत्तर कहते हैं; जैसे **[बलसमुदायस्य]** सेना के समूह को **[राजा निर्गतः]** जैसे राजा निकला **[इत्येष खलु आदेशः]** ऐसा जो आदेश है वह **[व्यवहारेण तु उच्यते]** व्यवहारनय से कहा जाता है **[तत्र]** उस सेना में तो वास्तव में **[एकः]** एक **[राजा निर्गतः]** ही राजा निकला है **[एवमेव च]** इसी तरह **[अध्यवसानाद्यन्यभावानाम्]** इन अध्यवसान आदि अन्य भावों को **[सूत्रे]** परमागम में **[जीव इति]**

यथैष राजा पञ्च योजनान्यभिव्याप्य निष्क्रामतीत्येकस्य पञ्चयोजनान्यभिव्याप्तुमशक्यत्वाद्व्यवहारिणां बलसमुदाये राजेति व्यवहारः। परमार्थतस्त्वेक एव राजा। तथैव जीवः समग्रं रागग्राममभिव्याप्य प्रवर्तत इत्येकस्य समग्रं रागग्राममभिव्याप्तुमशक्यत्वाद् व्यवहारिणामध्यवसानादिष्वन्यभावेषु जीव इति व्यवहारः परमार्थतस्त्वेक एव जीवः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

यद्येवं तर्हि किंलक्षणोऽसावेकष्टङ्कोत्कीर्णः परमार्थजीव इति पृष्टः प्राह—

अरसमरूवमगन्धं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्तं चेतनागुणमशब्दम्।
जानीहि अलिङ्गग्रहणं जीवमनिर्दिष्टसंस्थानम् ॥४९॥

कथतं ववहारेण दु उच्चदि तत्थेको णिग्गदो राया बलसमूहं दृष्ट्वा पञ्चयोजनानि व्याप्य राजा निर्गत इति व्यवहारेणोच्यते। निश्चयनयेन तु तत्रैको राजा निर्गत इति दृष्टान्तो गतः। इदानीं दार्ष्टान्तिमाह—एमेव य ववहारो अज्झवसाणादिअण्णभावाणं एवमेव राजदृष्टान्तप्रकारेणैव व्यवहारः। केषाम्। अध्यवसानादीनां जीवाद्भिन्नभावादीनां रागादिपर्यायाणां जीवो त्ति कदो सुत्ते कथम्भूतो व्यवहारः। रागादयो भावाः व्यव-

---

ये जीव हैं ऐसा [व्यवहारः कृतः] व्यवहारनय से कहा है [तत्र निश्चितः] निश्चय से विचारा जाय तो उन भावों में [जीव एकः] जीव तो एक ही है।

टीका—जैसे ऐसा कहते हैं कि यह राजा पांच योजन के फैलाव से निकल रहा है, वहां निश्चय से विचारा जाय तो एक राजा को पांच योजन में व्यापना असंभव है, तो भी व्यवहारी (अज्ञानी) जनों का सेना के समुदाय में राजा कहने का व्यवहार है। परमार्थ से तो राजा एक ही है, सेना राजा नहीं। उसी तरह यह जीव राग के स्थानों को व्याप्त कर प्रवृत्त हो रहा है परन्तु निश्चय से विचारा जाय तो एक जीव का समस्त राग के ठिकानों में फैलाव से रहना असम्भव है तो भी व्यवहारी लोकों का अध्यवसानादिक अन्य भावों में 'ये जीव हैं' ऐसा व्यवहार प्रवर्तता है परमार्थ से तो जीव एक ही है, अध्यवसान आदि भाव जीव नहीं हैं ॥४७। ४८॥

आगे शिष्य पूछता है कि अध्यवसानादिक भाव हैं, वे जीव नहीं हैं तो एक टङ्कोत्कीर्ण परमार्थ स्वरूप जीव कैसा है उसका क्या लक्षण है? इसका उत्तर कहते हैं;—हे भव्य तू [जीवम्] जीव को [जानीहि] ऐसा जान कि वह [अरसं] रसरहित है [अरूपं] रूपरहित है [अगन्धं] गन्धरहित है [अव्यक्तं] इंद्रियों के गोचर [व्यक्त] नहीं है [चेतनागुणं] जिसके चेतना गुण है [अशब्दं] शब्द रहित है [अलिङ्गग्रहणं] किसी चिह्न कर जिसका ग्रहण नहीं होता। [अनिर्दिष्टसंस्थानं] जिसका आकार कुछ कहने में नहीं आता।

यः खलु पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरसगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरसगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेनारसनात् स्वाभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेनारसनात्, सकलसाधारणैकसम्वेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरसवेदनापरिणामापन्नत्वेनारसनात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रसपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं रसरूपेणापरिणमनाच्चारसः। तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानरूपगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमरूपगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेनारूपणात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेनारूपणात्सकलसाधार-

---

हारेण जीव इति कृतं भणितं सूत्रे परमागमे तत्थेको णिच्छिदो जीवो तत्र तेषु रागादिपरिणामेषु मध्ये निश्चितो ज्ञातव्य । कोऽसौ । जीवः । कथम्भूतः । शुद्धनिश्चयनयेनैको भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितः शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवपदार्थः । इति व्यवहारनयसमर्थनरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥ ४७ ॥४८॥ एवमजीवाधिकारमध्ये शुद्धनिश्चयनयेन देहरागादिपरद्रव्यं जीवस्वरूपं न भवतीति कथनमुख्यतया गाथादशकेन प्रथमोन्तराधिकारो व्याख्यातः । अथानन्तरं वर्णरसादिपुद्गलस्वरूपरहितोऽनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपश्च शुद्धजीव एव उपादेय इति भावनामुख्यतया द्वादशगाथापर्यंतं व्याख्यानं करोति । तत्र द्वादशगाथासु मध्ये परसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नपरमानन्दसुखसमरसीभावपरिणतशुद्धजीव एवोपादेय इति मुख्यत्वेन

टीका—जो जीव है, वह निश्चय से पुद्गल द्रव्य से भिन्न है, उसमें रस गुण विद्यमान नहीं हैं इस कारण अरस है । १ । पुद्गल द्रव्य के गुणों से भी भिन्न है । इसलिए आप रसगुण नहीं होने से भी अरस कहा जाता है । २ । परमार्थ से पुद्गल द्रव्य का स्वामित्व भी इसके नहीं है इसलिये द्रव्येन्द्रिय के आलम्बन से आप रसरूप परिणमन नहीं करता इस कारण भी अरस है । ३ । अपने स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो क्षायोपशमिकभाव का भी इसके अभाव है, इसलिये भावेन्द्रिय के अवलम्बन से भी इसके रसरूप परिणाम का अभाव है, इस कारण भी अरस है । ४ । इसका संवेदन परिणाम तो एक ही है, वह सकल विषयों के विशेषों में साधारण है, उस स्वभाव से केवल एक रसवेदना परिणाम की प्राप्तिरूप नहीं है, इस कारण भी अरस है । ५ । इसके समस्त ही ज्ञेयों का ज्ञान होता है; परन्तु ज्ञेयज्ञायक के एकरूप होने का निषेध ही है इसलिये रस के ज्ञानरूप परिणमने पर भी आप रसरूप नहीं होता, इस कारण भी अरस है । ६ । इस प्रकार से रस के निषेध से अरस है । इसी तरह अरूप अगन्ध अशब्द इन चारों विशेषणों का छह छह हेतुओं द्वारा निषेध किया है सो इसी कथित रीति से जान लेना । अब अनिर्दिष्ट संस्थान को कहते हैं, पुद्गल द्रव्य से रचे हुए संस्थानों (आकारों) द्वारा कहा नहीं जाता कि ऐसा आकार है । १ । अपने नियत स्वभावसे अनियत संस्थानरूप अनन्त शरीरों में वर्तता है, इसीलिये भी आकार कहा नहीं जाता । २ । संस्थान नामकर्म का विपाक (फल) है; वह भी पुद्गल द्रव्य में ही है उसके निमित्त से भी आकार नहीं कह सकते । ३ । भिन्न-भिन्न आकार रूप परिणत जो समस्त वस्तु, उनके स्वरूप से तदाकार हुआ जो अपना स्वभाव रूप संवेदन की सामर्थ्य

णैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलरूपवेदनापरिणामापन्नत्वेनारूपणात्, सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्रूपपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं रूपरूपेणापरिणमनाच्चारूपः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानगन्धगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमगन्धगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेनागन्धनात्, स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेंद्रियावलम्बेनागन्धनात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात्केवलगन्धवेदनापरिणामापन्नत्वेनागन्धनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाद्गन्धपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं गन्धरूपेणापरिणमनाच्चागन्धः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानस्पर्शगुणत्वात् पुद्गलद्रव्यगुणेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमस्पर्शगुणत्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावाद् द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेनास्पर्शनात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावात् भावेन्द्रियावलम्बेनास्पर्शनात्सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलस्पर्शवेदनापरिणामापन्नत्वेनास्पर्शनात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधात् स्पर्शपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं

अरसमरूव इत्यादिसूत्रगाथैका । अथाभ्यन्तरे रागादयो वहिरंगे वर्णादयश्च शुद्धजीवस्वरूपं न भवतीति तस्यैव गाथासूत्रस्य विशेषविवरणार्थं जीवस्स णत्थि वण्णो इत्यदिसूत्रषट्कम् । ततः परं त एव रागादयो वर्णादयश्च व्यवहारेण सन्ति शुद्धनिश्चयनयेन न सन्तीति परस्परसापेक्षनयद्वयविवरणार्थं ववहारेण दु इत्यादि सूत्रमेकम् । तदनन्तरमेतेषां रागादीनां व्यवहारनयेनैव जीवेन सह क्षीरनीरवत्सम्बन्धो न च निश्चयनयेनेति समर्थनरूपेण एदेहिं य संबंधो इत्यादि सूत्रमेकम् । ततश्च तस्यैव व्यवहारनयस्य पुनरपि व्यक्त्यर्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्तसमर्थनरूपेण पंथे मुस्संतं इत्यादि गाथात्रयम् । इति द्वितीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ यदि निश्चयेन रागादिरूपो जीवो न भवति तर्हि कथम्भूतः शुद्धजीव उपादेयस्वरूप इत्यत्राह—अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं निश्चयनयेन रसरूपगन्धस्पर्शशब्दरहितं मनोगतकामक्रोधादिविकल्पविषयरहितत्वेनाव्यक्तं सूक्ष्मम् । पुनरपि किंविशिष्टम् । शुद्धचेतनागुणम् पुनश्च किंरूपम् । जाणमलिंगग्गहणं

होने पर भी आप समस्त लोक के मिलने से शून्य हुई जो अपनी निर्मल ज्ञानमात्र अनुभूति उस अनुभूति से किसी भी आकाररूप नहीं है इस कारण भी अनिर्दिष्ट संस्थान है । ४ । ऐसे चार हेतुओं से संस्थान का निषेध कहा । अव अव्यक्त विशेषण को सिद्ध करते हैं—छह द्रव्यस्वरूप लोक है, वह ज्ञेय है, व्यक्त है, ऐसे व्यक्तरूप से जीव अन्य है इसलिये अव्यक्त है । १ । कषाय का समूह जो भावकभाव वह व्यक्त है उससे जीव अन्य है इस कारण भी अव्यक्त है । २ । चित्सामान्य में चैतन्य की सव व्यक्तियां अन्तर्भूत हैं इसलिये भी अव्यक्त है । ३ । क्षणिक व्यक्तिमात्र न होने से भी अव्यक्त रहना चाहिए । ४ । व्यक्त, अव्यक्त और दोनों मिले हुए मिश्रभाव इसके प्रतिभास में आते हैं तो भी केवल व्यक्तभाव ही नहीं स्पर्शता इस कारण भी अव्यक्त है । ५ । और आप ही वाह्य अभ्यन्तर प्रकट अनुभूयमान है तो भी व्यक्तभाव से उदासीन (दूरवर्ती) प्रद्योतमान है इस कारण भी अव्यक्त कहा जाता है । ६ । इस तरह छह हेतुओं द्वारा अव्यक्त सिद्ध किया । इसी प्रकार रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द संस्थान व्यक्तपना का अभाव स्वरूप होने

स्पर्शरूपेणापरिणमनाच्चास्पर्शः । तथा पुद्गलद्रव्यादन्यत्वेनाविद्यमानशब्दपर्यायित्वात् पुद्गलद्रव्यपर्यायेभ्यो भिन्नत्वेन स्वयमशब्दपर्यायित्वात् परमार्थतः पुद्गलद्रव्यस्वामित्वाभावात् द्रव्येन्द्रियावष्टम्भेन शब्दाश्रवणात् स्वभावतः क्षायोपशमिकभावाभावाद्भावेन्द्रियावलम्बेन शब्दाश्रवणात् सकलसाधारणैकसंवेदनपरिणामस्वभावत्वात् केवलशब्दवेदनापरिणामापन्नत्वेन शब्दाश्रवणात् सकलज्ञेयज्ञायकतादात्म्यस्य निषेधाच्छब्दपरिच्छेदपरिणतत्वेऽपि स्वयं शब्दरूपेणापरिणमनाच्चाशब्दः । द्रव्यान्तरारब्धशरीरसंस्थानेनैव[1] संस्थान इति निर्देष्टुमशक्यत्वात् नियतस्वभावेनानियतसंस्थानानन्तशरीरवर्तित्वात्संस्थाननामकर्मविपाकस्य पुद्गलेषु निर्दिश्यमानत्वात् प्रतिविशिष्टसंस्थानपरिणतसमस्तवस्तुतत्त्वसंवलितसहजसंवेदनशक्तित्वेऽपि स्वयमखिललोकसंवलनशून्योपजायमाननिर्मलानुभूतितयात्यन्तमसंस्थानत्वाच्चानिर्दिष्टसंस्थानः । षट्द्रव्यात्मकलोकाद् ज्ञेयाद्व्यक्तादन्यत्वात्कषायचक्राद्भावकाद्व्यक्तादन्यत्वाच्चित्सामान्यनिमग्नसमस्तव्यक्तित्वात् क्षणिकव्यक्तिमात्राभावात् व्यक्ताव्यक्तविमिश्रप्रतिभासेऽपि व्यक्तास्पर्शत्वात् स्वयमेव हि बहिरन्तःस्फुटमनुभूयमानत्वेऽपि व्यक्तोपेक्षणेन प्रद्योतमानत्वाच्चाव्यक्तः । रसरूपगन्धस्पर्शशब्दसंस्थानव्यक्तत्वाभावेऽपि स्वसंवेदनबलेन नित्यमात्मप्रत्यक्षत्वे सत्यनुमेयमात्रत्वाभावादलिङ्गग्रहणः । समस्तविप्रत्तिपत्तिप्रमाथिना विवेचकजनसमर्पितसर्वस्वेन सकलमपि लोकालोकं कवलीकृत्यात्यन्तसौहित्यमन्थरेणेव सकलकालमेव मनागप्यविचलितानन्यसाधारणतया स्वभावभूतेन स्वयमनुभूयमानेन चेतनागुणेन नित्यमेवान्तःप्रकाशमानत्वात् चेतनागुणश्च स खलु भगवानमलालोक इहैकष्टङ्कोत्कीर्णः प्रत्यग्ज्योतिर्जीवः ॥४९॥

जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानविषयत्वादलिङ्गग्रहणं समचतुरस्रादिषट्संस्थानरहितं च यं पदार्थं तमेवंगुणविशिष्टं शुद्धजीवमुपादेयमिति हे शिष्य जानीहि । इदमत्र तात्पर्यम् । शुद्धनिश्चयनयेन सर्वपुद्गलद्रव्यसम्बन्धिवर्णादिगुणशब्दादिपर्यायरहितः सर्वद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियमनोगतरागादिविकल्पाविषयो धर्माधर्मा

पर भी स्वसंवेदन के बल से आप प्रत्यक्ष गोचर होने से अनुमेय मात्र अभावसे अलिङ्ग ग्रहण कहा जाता है। अपने अनुभव में आवे, ऐसे चेतनागुण कर सदा अन्तरङ्ग में प्रकाशमान है, इस कारण चेतनागुण वाला है। जो चेतनागुण समस्त विप्रतिपत्तियों का (जीव को अन्य प्रकार मानने का) निषेध करने वाला है, जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानी जीवों को सौंप दिया है, जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत कर अत्यन्त सुखी हो उस तरह सदा किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और अन्य द्रव्य से साधारण नहीं है इसलिये असाधारण स्वभावभूत है। ऐसे चैतन्यरूप परमार्थस्वरूप जीव है। जिसका प्रकाश निर्मल है, ऐसा यह भगवान् इस लोक में टङ्कोत्कीर्ण भिन्न ज्योतिस्वरूप विराजमान है।

---

१. नवम् इति पाठान्तरम् ।

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात् कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनन्तम् ॥३५॥

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गंधो णवि रसो णवि य फासो ।
णवि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥

काशकालद्रव्यशेषजीवान्तरभिन्नोऽनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यश्च यः स एव शुद्धात्मा समस्तपदार्थसर्वदेशसर्वकाल-ब्राह्मणक्षत्रियादिनानावर्णभेदभिन्नजनसमस्तमनोवचनकायव्यापारेषु दुर्लभः स एवापूर्वः स चैवोपादेय इति मत्वा निर्विकल्पनिर्मोहनिरञ्जननिजशुद्धात्मसमाधिसंजातसुखामृतरसानुभूतिलक्षणे गिरिगुहागह्वरे स्थित्वा सर्वतात्पर्येण ध्यातव्य इति । एवं सूत्रगाथा गता ॥४९॥ अथ बहिरङ्गे वर्णाद्यभ्यन्तरे रागादिभावाः पौद्गलिकाः शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति प्रतिपादयति—वर्णगन्धरसस्पर्शास्तु रूपशब्दवाच्याः स्पर्शरसगन्धवर्ण-

---

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहकर इसके अनुभव की प्रेरणा करते हैं। सकल इत्यादि अर्थ—हे भव्य आत्माओं, अपने एक केवल आत्मा को आत्मा में ही अभ्यास करो—अनुभव करो। ऐसा अनुभव करो कि चिच्छक्ति से रहित अन्य सकल भावों को मूल से शीघ्र छोड़ कर और अच्छी प्रकार अपने चिच्छक्तिमात्र भाव को अवगाहन कर यह आत्मा समस्त पदार्थ-समूहरूप लोक के ऊपर प्रवर्त रहा है, उसका साक्षात् अनुभव करो। जो आत्मा अनन्त तथा अविनाशी है।

भावार्थ—यह आत्मा परमार्थ से समस्त अन्य भावों से रहित चैतन्य शक्तिमात्र है, उसके अनुभव का अभ्यास करो ऐसा उपदेश है।

आगे चिच्छक्ति से अन्य जो भाव हैं वे सब पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी हैं ऐसी आगे की गाथा की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं—चिच्छक्ति इत्यादि अर्थ—चैतन्यशक्ति से व्याप्त जिसका सर्वस्वसार है ऐसा यह जीव इतने मात्र है, इस चिच्छक्ति से शून्य जो भाव हैं वे सभी पुद्गल-जन्य हैं, वे पुद्गल के ही हैं।

ऐसे उन भावों का व्याख्यान छह गाथाओं में करते हैं;—[जीवस्य] जीव के [वर्णः] रूप [नास्ति] नहीं है [नापि गन्धः] गन्ध भी नहीं है [रसः अपि न] रस भी नहीं है [च] और [स्पर्शः अपि न] स्पर्श भी नहीं है [रूपम् अपि न] रूप भी नहीं है [न शरीरम्] शरीर भी नहीं है [संस्थानम् अपि न] संस्थान भी नहीं हैं [संहननं न] संहनन भी नहीं हैं। [जीवस्य] तथा जीव के [रागः नास्ति] राग भी नहीं है [द्वेषः नापि] द्वेष भी नहीं है [मोहः एव] मोह भी [न विद्यते] नहीं

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणाणि ॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ठिदिबन्धट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥ (षट्कम्)

जीवस्य नास्ति वर्णो नापि गन्धो नापि रसो नापि च स्पर्शः ।
नापि रूपं न शरीरं नापि संस्थानं न संहननं ॥५०॥
जीवस्य नास्ति रागो नापि द्वेषो नैव विद्यते मोहः ।
नो प्रत्यया न कर्म नोकर्म चापि तस्य नास्ति ॥५१॥

वती मूर्तिश्च औदारिकादिपञ्चशरीराणि, समचतुरस्रादिषट्संस्थानानि, वज्रर्षभनाराचादिषट्संहननानि चेति। एते वर्णादयो धर्मिणः शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्तीति साध्यो धर्मश्चेति धर्मधर्मिसमुदायलक्षणः पक्षः, आस्था, साध्यं, प्रतिज्ञेति यावत् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वादिति हेतुः। एवमत्र व्याख्याने पक्षहेतुरूपेणाङ्गद्वयमनुमानं ज्ञातव्यम्। अथ रागद्वेषमोहमिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगरूप-पञ्चप्रत्ययमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मौदारिकवैक्रियिकाहारकशरीरत्रयाहारादिषट्पर्याप्तिरू-

---

विद्यमान है [प्रत्ययाः नो] आस्रव भी नहीं हैं [कर्म न] कर्म भी नहीं हैं [च नोकर्म अपि] और नोकर्म भी [तस्य नास्ति] उसके नहीं हैं [जीवस्य] जीव के [वर्गो नास्ति] वर्ग नहीं हैं [वर्गणा न] वर्गणा नहीं हैं [कानिचित् स्पर्धकानि] कोई स्पर्धक भी [नैव] नहीं हैं [अध्यात्मस्थानानि नो] अध्यात्मस्थान भी नहीं हैं [च] और [अनुभागस्थानानि] अनुभागस्थान भी [नैव] नहीं हैं [जीवस्य] जीव के [कानिचित् योगस्थानानि] कोई योगस्थान भी [न सन्ति] नहीं हैं [वा] अथवा [बन्धस्थानानि] बंधस्थान भी [न] नहीं हैं [च] और [उदयस्थानानि] उदयस्थान भी [नैव] नहीं हैं [कानिचित् मार्गणास्थानानि] कोई मार्गणा स्थान भी [न] नहीं हैं [जीवस्य] जीव के [स्थितिबन्धस्थानानि नो] स्थितिबन्धस्थान भी नहीं हैं [वा] अथवा [संक्लेशस्थानानि] संक्लेशस्थान भी [न] नहीं हैं [विशुद्धिस्थानानि] विशुद्धिस्थान भी [नैव] नहीं हैं [वा] अथवा [संयमलब्धिस्थानानि] संयमलब्धिस्थान भी [नो] नहीं हैं [च] और [जीवस्य] जीव के [जीवस्थानानि] जीवस्थान भी [नैव] नहीं हैं [वा] अथवा [गुणस्थानानि] गुणस्थान भी [न सन्ति] नहीं हैं [येन तु] क्योंकि [एते सर्वे] ये सभी [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गल द्रव्य के [परिणामाः] परिणाम हैं।

जीवस्य नास्ति वर्गो न वर्गणा नैव स्पर्द्धकानि कानिचित् ।
नो अध्यात्मस्थानानि नैव चानुभागस्थानानि ॥५२॥
जीवस्य न सन्ति कानिचिद्योगस्थानानि न बन्धस्थानानि वा ।
नैव चोदयस्थानानि न मार्गणास्थानानि कानिचित् ॥५३॥
नो स्थितिबन्धस्थानानि जीवस्य न संक्लेशस्थानानि वा ।
नैव विशुद्धिस्थानानि नो संयमलब्धिस्थानानि वा ॥५४॥
नैव च जीवस्थानानि न गुणस्थानानि वा सन्ति जीवस्य ।
येन त्वेते सर्वे पुद्गलद्रव्यस्य परिणामाः ॥५५॥

यः कृष्णो हरितः पीतो रक्तः श्वेतो वर्णः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः सुरभिरसुरभिर्वा गन्धः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः कटुकः कषायः

पनोकर्माणि इति ते तस्य जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन सर्वाण्येतानि न सन्ति कस्मात्पुद्गलपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ परमाणोरविभागपरिच्छेदरूपशक्तिसमूहो वर्ग इत्युच्यते । वर्गाणां समूहो वर्गणा भण्यते । वर्गणासमूहलक्षणानि स्पर्द्धकानि च कानिचिन्न सन्ति । अथवा कर्मशक्तेः क्रमेण विशेषवृद्धिः स्पर्द्धकलक्षणम् । तथा चोक्तं वर्गवर्गणास्पर्द्धकानां त्रयाणां लक्षणम् ।

"वर्गः शक्तिसमूहोऽणोर्बहूनां वर्गणोदिता ।
वर्गणानां समूहस्तु स्पर्द्धकं स्पर्द्धकापहैः"

शुभाशुभरागादिविकल्परूपाध्यवसानानि भण्यन्ते तानि च न सन्ति । लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिरूपाणि घातिकर्मचतुष्टयानुभागस्थानानि भण्यन्ते । गुडखण्डशर्करामृतसमानानि शुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि भण्यन्ते । निंबकांजीरविषहालाहलसदृशान्यशुभाघातिकर्मानुभागस्थानानि च तान्येतानि सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् 'पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ वीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितमनोवचनकायवर्गणावलम्बनकर्मादानहेतुभूतात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणानि योगस्थानानि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशरूपचतुर्विधबन्धस्थानानि सुखदुःखफलानुभवरूपाण्युदयस्थानानि गत्यादिमार्गणास्थानानि च सर्वाण्यपि

टीका—जो काला, हरा, पीला, लाल और सफेद वर्ण (रंग) हैं वे सभी जीव के नहीं हैं क्योंकि पुद्गल द्रव्य के परिणमनमय होने के कारण ये वर्ण अपनी अनुभूति से भिन्न हैं । १ । सुगन्ध, दुर्गन्ध भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि ये पुद्गल परिणाममय हैं इसलिये अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।२। कटुक, कसैला, तिक्त (चर्परा), खट्टा और मीठा ये सब रस भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... ।३। चिकना, रूखा, ठंडा, गर्म, भारी, हल्का, कोमल और कठोर—ये सब स्पर्श भी जीव के नहीं हैं क्योंकि....।४। स्पर्शादि सामान्य परिणाममात्ररूप भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०.... ।५। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण शरीर ये जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....।६। समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमण्डल, स्वातिक, कुब्जक, वामन और हुंडक—ये सब संस्थान भी जीव के

तिक्तोऽम्लो मधुरो वा रसः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः स्निग्धो रूक्षः शीतः उष्णो गुरुर्लघुर्मृदुः कठिनो वा स्पर्शः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्स्पर्शादिसामान्यपरिणाममात्रं रूपं तन्नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यदौदारिकं वैक्रियिकमाहारकं तैजसं कार्मणं वा शरीरं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्समचतुरस्रं न्यग्रोधपरिमण्डलं स्वाति कुब्जं वामनं हुडं वा संस्थानं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्युनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद्वज्रर्षभनाराचं वज्रनाराचं नाराचमर्द्धनाराचं कीलिका असंप्राप्तासृपाटिका वा संहननं तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः प्रीतिरूपो रागः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् योऽप्रीतिरूपो द्वेषः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यस्तत्त्वाप्रतिपत्तिरूपो मोहः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । ये मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणाः प्रत्ययास्ते सर्वेऽपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यद् ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायरूपं कर्मतत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरि-

---

शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य न सन्ति । कस्मात् पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ— जीवेन सह कालान्तरावस्थानरूपाणि स्थितिबन्धस्थानानि । कषायोद्रेकरूपाणि संक्लेशस्थानानि कषायमन्दोदयरूपाणि विशुद्धिस्थानानि कषायक्रमहानिरूपाणि संयमलब्धिस्थानानि च सर्वाण्यपि शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्य

नहीं हैं, क्योंकि....।७। वज्रर्षभनाराच, वज्रनाराज, अर्धनाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन ये भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....।८। प्रीतिरूप राग भी जीव का नहीं है, क्योंकि० ।९। अप्रीतिरूप द्वेष भी जीव का नहीं है, क्योंकि....।१०। यथार्थ तत्त्व की अप्राप्तिरूप मोह भी जीव का नहीं है, क्योंकि०....।११। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, और योगस्वरूप प्रत्यय (आस्रव) भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि....।१२। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तरायस्वरूप कर्म भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि····।१३। छह पर्याप्तियोंसहित शरीर योग्य वस्तु रूप पुद्गलस्कन्ध नोकर्म भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि....।१४। कर्म के रस की शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेदों का समूह रूप वर्ग भी जीव का नहीं है, क्योंकि....।१५। वर्गों का समूहरूप वर्गणा भी जीव की नहीं है, क्योंकि....।१६। मन्द तीव्र रस रूप कर्म के समूह के विशिष्ट वर्गों की वर्गणा के स्थापनरूप स्पर्धक जीव के नहीं हैं, क्योंकि....।१७। स्वपर के एकत्व का अभ्यास (मिथ्या आरोप) होने पर विशुद्ध चैतन्य परिणाम से भिन्न लक्षण वाले अध्यात्मस्थान भी जीव के नहीं हैं क्योंकि....।१८। पृथक्-पृथक् विशेषरूप प्रकृतियों के रसरूप जिनका लक्षण है ऐसे अनुभागस्थान

णाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यत्षट्पर्याप्तित्रिशरीरयोग्यवस्तुरूपं नोकर्म तत्सर्वमपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यः शक्तिसमूहलक्षणो वर्गः स सर्वोऽपि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । या वर्गसमूहलक्षणा वर्गणा सा सर्वापि नास्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मन्दतीव्ररसकर्मदलविशिष्टन्यासलक्षणानि स्पर्द्धकानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वपरैकत्वाध्यासे सति विशुद्धचित्परिणामातिरिक्तत्वलक्षणान्यध्यात्मस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिरसपरिणामलक्षणान्यनुभागस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यानुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कायवाङ्मनोवर्गणापरिस्पन्दलक्षणानि योगस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिपरिणामलक्षणानि बन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि स्वफलसम्पादनसमर्थकर्मावस्थालक्षणान्युदयस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि गतीन्द्रियकाययोगवेदकषायज्ञानसंयमदर्शनलेश्याभव्यसम्यक्त्वसंज्ञाहारलक्षणानि मार्गणास्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्य-

---

न सन्ति । कस्मात् ? पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । अथ—जीवस्य शुद्धनिश्चयनयेन 'बादरसुहमेइंदी बितिचउरिंदी असण्णिसण्णीणं । पज्जत्तापज्जत्ता एवं ते चउदसा होंति' इति गाथाकथितक्रमेण बादरैकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवस्थानानि मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानि च सर्वाण्यपि न सन्ति

भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि ।१९। काय, वचन, मनोरूप वर्गणा का चलना जिनका लक्षण है ऐसे योगस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....। २० । भिन्न-भिन्न विशेषों को लिये प्रकृतियों के परिणाम जिनका लक्षण है ऐसे बन्धस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....। २१ । अपने फल के उत्पन्न करने में समर्थ कर्म की अवस्था जिनका स्वरूप है ऐसे उदय स्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....। २२ । गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनका स्वरूप है ऐसे मार्गणास्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि....। २३ । भिन्न-भिन्न विशेषों को लिये प्रकृतियों का कालान्तर में साथ रहना जिनका लक्षण है ऐसे स्थितिबन्ध के स्थान भी जीव के नहीं है, क्योंकि....। २४ । कषाय के विपाक की उत्कृष्टता जिनका लक्षण है ऐसे संक्लेशस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि....। २५ । कषाय के विपाक की मन्दता जिनका लक्षण है ऐसे विशुद्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....। २६ । चारित्रमोह के उदय की क्रम से निवृत्ति जिनका लक्षण है, ऐसे समयलब्धिस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि....। २७ । पर्याप्त, अपर्याप्त, बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और संज्ञी,

परिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि प्रतिविशिष्टप्रकृतिकालान्तरसहत्वलक्षणानि स्थितिबन्धस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकोद्रेकलक्षणानि संक्लेशस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि कषायविपाकानुद्रेकलक्षणानि विशुद्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि चारित्रमोहविपाकक्रमनिवृत्ति लक्षणानि संयमलब्धिस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियचतुरिन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिपञ्चेन्द्रियलक्षणानि जीवस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् । यानि मिथ्यादृष्टिसासादनसम्यग्दृष्टिसम्यग्मिथ्यादृष्ट्यसंयतसम्यग्दृष्टिसंयतासंयतप्रमत्तसंयताप्रमत्तसंयतापूर्वकरणोपशमकक्षपकानिवृत्तिबादरसाम्परायोपशमकक्षपकसूक्ष्मसाम्परायोपशमकक्षपकोपशान्तकषायक्षीणकषायसयोगकेवल्ययोगकेवलिलक्षणानि गुणस्थानानि तानि सर्वाण्यपि न सन्ति जीवस्य पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सत्यनुभूतेर्भिन्नत्वात् ॥५०॥५१॥५२॥५३॥५४॥ ॥५५॥

पुद्गलद्रव्यपरिणाममयत्वे सति शुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नत्वात् । कुतः इति चेत्, यतः कारणादेते वर्णादिगुणस्थानान्ताः परिणामाः शुद्धनिश्चयनयेन पुद्गलद्रव्यस्य पर्याया इति । अयमत्र भावार्थः—सिद्धान्तादिशास्त्रेषु अशुद्धपर्यायार्थिकनयेनाभ्यन्तरे रागादयो बहिरङ्गे शरीरवर्णापेक्षया वर्णादयोऽपि जीवाः इत्युक्ताः । अत्र पुनरध्यात्मशास्त्रे शुद्धनिश्चयनयेन निषिद्धा इत्युभयत्रापि नयविभागविवक्षया नास्ति विरोध इति वर्णाद्यभावस्य विशेषव्याख्यानरूपेण सूत्रषट्कं गतम् ॥५०॥५१॥५२॥५३॥५४॥५५॥

असंज्ञी, पंचेन्द्रिय जिनका लक्षण है ऐसे जीवस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....। २८ । मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगकेवली और अयोगकेवली, जिनका लक्षण है ऐसे सब गुणस्थान भी जीव के नहीं हैं, क्योंकि०....।२९। इस प्रकार ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय भाव हैं वे सब जीव के नहीं हैं । जीव तो परमार्थ से चैतन्यशक्तिमात्र है ।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-वर्णाद्या इत्यादि । अर्थ-वर्णादिक अथवा राग-मोहादिक कहे हुए सभी भाव इस पुरुष (आत्मा) से भिन्न हैं, इसी कारण अन्तर्दृष्टि से देखने वाले को ये सब नहीं दीखते केवल एक चैतन्यभावस्वरूप अभेदरूप आत्मा ही दीखता है ।

भावार्थ—परमार्थनय अभेद ही है इसलिये उस दृष्टि से देखने पर भेद नहीं दीखता, उस नयकी दृष्टि से चैतन्यमात्र पुरुष (आत्मा) ही दीखता है इस कारण वे वर्णादिक तथा रागादिक पुरुष से भिन्न ही हैं । वर्ण को आदि लेकर गुणस्थानपर्यन्त भावों का स्वरूप विशेषता से जानना हो तो गोम्मटसार आदि ग्रन्थों से जान लेना ॥५०।५१।५२।५३।५४।५५॥

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

ननु वर्णादयो यद्यमी न सन्ति जीवस्य तदा तन्त्रान्तरे कथं सन्तीति प्रज्ञाप्यन्ते इति चेत्—

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥

व्यवहारेण त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्याः ।
गुणस्थानान्ता भावा न तु केचिन्निश्चयनयस्य ॥५६॥

इह हि व्यवहारनयः किल पर्यायाश्रितत्वाज्जीवस्य पुद्गलसंयोगवशादनादिप्रसिद्धबन्धपर्यायस्य कुसुम्भरक्तस्य कार्पासिकवासस इवौपाधिकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य विदधाति । निश्चयनयस्तु द्रव्याश्रितत्वात्केवलस्य जीवस्य स्वाभाविकं भावमवलम्ब्योत्प्लवमानः परभावं परस्य सर्वमेव प्रतिषेधयति । ततो व्यवहारेण वर्णादयो गुणस्थानान्ता भावा जीवस्य सन्ति निश्चयेन तु न सन्तीति युक्ता प्रज्ञप्तिः ॥५६॥

अथ यदुक्तं पूर्वं सिद्धान्तादौ जीवस्य वर्णादयो व्यवहारेण कथिताः अत्र तु प्राभृतग्रन्थे निश्चयनयेन निषिद्धाः तमेवार्थं दृढयति—व्यवहारनयेन त्वेते जीवस्य भवन्ति वर्णाद्या गुणस्थानान्ता भावाः पर्याया न तु केऽपि निश्चयनयेनेति ॥५६॥ एवं निश्चयव्यवहारसमर्थनरूपेण गाथा गता । अथ कस्माज्जीवस्य निश्चयेन वर्णादयो न सन्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति—एदेहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो एतैः वर्णादिगुणस्थानान्तैः पूर्वोक्तपर्यायैः सह सम्बन्धो यथैव क्षीरनीरसंश्लेषस्तथा मन्तव्यः । न चाग्न्युष्णत्वयोरिव तादात्म्यसम्बन्धः । कुत इति चेत्, ण य हुंति तस्स ताणि दु न च भवन्ति तस्य जीवस्य ते तु वर्णादिगुणस्थानान्ता

आगे शिष्य पूछता है कि वर्णादिक भाव जो कहे गये हैं वे यदि जीव के नहीं हैं तो अन्य सिद्धान्त ग्रंथों में 'ये जीव के हैं' ऐसा क्यों कहा गया ? उसका उत्तर गाथा में कहते हैं;–(एते) ये (वर्णाद्याः गुणस्थानान्ताः भावाः) वर्ण आदि गुणस्थानपर्यन्त भाव कहे गये हैं वे (व्यवहारेण तु) व्यवहारनय से तो (जीवस्य भवन्ति) जीव के ही होते हैं, इसलिये सूत्र में कहे हैं (तु) परन्तु (निश्चयनयस्य) निश्चयनय के मत से (केचित् न) इनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं ।

टीका—यहां पर व्यवहारनय, पर्यायाश्रित होने से पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से प्रसिद्ध जिसकी बंधपर्याय है ऐसे जीव के 'कुसुम्भ के लाल रंग से रंगे हुए रुई के वस्त्र की भांति' औपाधिक वर्णादिभावों को आलम्बन कर प्रवृत्त होता है इसलिये वह व्यवहारनय दूसरे के भावों को दूसरे का कहता है । और निश्चयनय द्रव्य के आश्रय होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक-भाव को अवलम्बन कर प्रवृत्त होता है, वह सब परभावों को परके कहता है, निषेध करता है, इसलिये वर्ण आदि गुणस्थानपर्यन्त भाव व्यवहारनय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं हैं इस प्रकार भगवान् का कथन स्याद्वादसहित युक्तिपूर्ण है ॥५६॥

कुतो जीवस्य वर्णादयो निश्चयेन न सन्तीति चेत् :-

एएहिं य संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

एतैश्च संबन्धो यथैव क्षीरोदकं ज्ञातव्यः।
न च भवन्ति तस्य तानि तूपयोगगुणाधिको यस्मात् ॥५७॥

यथा खलु सलिलमिश्रितस्य क्षीरस्य सलिलेन सह परस्परावगाहलक्षणे संबन्धे सत्यपि स्वलक्षणभूतक्षीरत्वगुणव्याप्यतया सलिलादधिकत्वेन प्रतीयमानत्वादग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभावान्न निश्चयेन सलिलमस्ति। तथा वर्णादिपुद्गलद्रव्यपरिणाममिश्रितस्यास्यात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह परस्परावगाहलक्षणे संबन्धे सत्यपि स्वलक्षणभूतोपयोगगुणव्याप्यतया सर्वद्रव्येभ्योऽधिकत्वेन प्रतीयमानत्वात् अग्नेरुष्णगुणेनेव सह तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभावान्न निश्चयेन वर्णादिपुद्गलपरिणामाः जीवस्य सन्ति ॥५७॥

भावाः पर्यायाः। कस्मात्, उवओगगुणाधिगो जम्हा यस्मादुष्णगुणेनाग्निरिव केवलज्ञानदर्शनगुणेनाधिकः परिपूर्ण इति। ननु वर्णादयो बहिरङ्गास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत्संश्लेषसंबन्धो भवतु नचाभ्यन्तराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति। नैव, द्रव्यकर्मबन्धापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धिनिश्चयो भण्यते। वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः ॥५७॥

ये वर्णादिक निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं? इसका कारण कहो, इस प्रश्न का उत्तर कहते हैं—[**एतैश्च संबन्धः**] इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का संबन्ध [**क्षीरोदकं यथैव**] जल और दूध के एक क्षेत्रावगाहरूप संबन्धसदृश [**ज्ञातव्यः**] जानना [**च**] और [**तानि**] वे [**तस्य तु न भवन्ति**] उस जीव के नहीं हैं [**यस्मात्**] क्योंकि जीव [**उपयोगगुणाधिकः**] इनसे उपयोग गुण के कारण अधिक है।

टीका—जैसे जल से मिला हुआ दूध जल के साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबन्ध होने पर भी अपने स्वलक्षणभूत क्षीरत्वगुण में व्याप्त होने के कारण पृथक् प्रतीत होता है क्योंकि उसके और दूध के तादात्म्यस्वरूप संबन्ध का अभाव है। जैसे अग्नि का और उष्णता का तादात्म्यसंबन्ध है, उस प्रकार दूध और जल का नहीं है, इस कारण निश्चय से दूध का जल नहीं है। उसी प्रकार वर्णादिक पुद्गलद्रव्य के परिणामों से मिला हुआ आत्मा पुद्गलद्रव्य के साथ परस्पर अवगाह स्वरूप संबन्ध होने पर भी अपने लक्षण स्वरूप उपयोग गुण से व्याप्त होने के कारण सब द्रव्यों से भिन्न प्रतीत होता है। जैसे अग्नि का और उष्णता का तादात्म्यस्वरूप संबन्ध है, उस प्रकार आत्मा और वर्णादिकों का तादात्म्यसंबन्ध नहीं है। इसलिये निश्चयनय से वर्णादिक पुद्गल के परिणाम हैं, वे जीव के नहीं हैं ॥५७॥ यहाँ पुनः प्रश्न होता है कि इस प्रकार से तो

कथं तर्हि व्यवहारोऽविरोधक इति चेत् :—

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥
गंध[1] रसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥(त्रिकलम्)

पथि मुष्यमाणं दृष्ट्वा लोका भणन्ति व्यवहारिणः ।
मुष्यते एष पन्था न च पन्था मुष्यते कश्चित् ॥५८॥
तथा जीवे कर्मणां नोकर्मणां च दृष्ट्वा वर्णम् ।
जीवस्यैष वर्णो जिनैर्व्यवहारत उक्तः ॥५९॥
गन्धरसस्पर्शरूपाणि देहः संस्थानादयो ये च ।
सर्वे व्यवहारस्य च निश्चयद्रष्टारो व्यपदिशन्ति ॥६०॥

यथा पथि प्रस्थितं कंचित्सार्थं मुष्यमाणमवलोक्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण

अथ तर्हि कृष्णवर्णोऽयं धवलवर्णोऽयं पुरुष इति व्यवहारो विरोधं प्राप्नोतीत्येवं पूर्वपक्षे कृते सति व्यवहाराविरोधं दर्शयतीत्येका पातनिका । द्वितीया तु तस्यैव पूर्वोक्तव्यवहारस्य विरोधं लोकप्रसिद्धदृष्टान्त-द्वारेण परिहरति ?—पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी पथि मार्गे मुष्यमाणं सार्थं दृष्ट्वा व्यव-

---

व्यवहारनय और निश्चयनय का विरोध आता है अतः इनमें अविरोध किस तरह से कहा जा सकता है ? उसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा तीन गाथाओं से कहते हैं—[पथि मुष्यमाणं] जैसे मार्ग में चलते हुए को लूटा हुआ [दृष्ट्वा] देखकर [व्यवहारिणः] व्यवहारी [लोकाः] जन [भणन्ति] कहते हैं कि [एष पन्थाः] यह मार्ग [मुष्यते] लुटता है, वहां परमार्थ से विचारा जाय तो [कश्चित् पन्थाः] कोई मार्ग [न च मुष्यते] नहीं लुटता, जाते हुए लोक ही लुटते हैं [तथा] उसी तरह [जीवे] जीव में [कर्मणां नोकर्मणां च] कर्मों का और नोकर्मों का [वर्णं] वर्ण [दृष्ट्वा] देखकर [जीवस्य] जीव का [एषः वर्णः] यह वर्ण है ऐसा [जिनैः] जिनदेव ने [व्यवहारतः] व्यवहार से [उक्तः] कहा है [एवं] इस प्रकार [गंधरसस्पर्शरूपाणि] गन्ध, रस, स्पर्श और रूप [देहः संस्थानादयः] देह संस्थान आदिक [ये च सर्वे] सभी [व्यवहारस्य] व्यवहार से हैं [निश्चयद्रष्टारः] ऐसा निश्चयनय के देखने वाले [व्यपदिशन्ति] कहते हैं।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ तु 'एवं रसगंध' इत्यादि टीकास्थितपाठः ।

मुष्यत एष पन्था इति व्यवहारिणां व्यपदेशेऽपि न निश्चयतो विशिष्टाकाशदेशलक्षणः कश्चिदपि पन्था मुष्येत। तथा जीवे बन्धपर्यायेणावस्थितं कर्मणो नोकर्मणो वा वर्णमुत्प्रेक्ष्य तात्स्थ्यात्तदुपचारेण जीवस्यैष वर्ण इति व्यवहारतोऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि न निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणाधिकस्य जीवस्य कश्चिदपि वर्णोऽस्ति। एवं गन्धरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्ध-काध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबन्धस्था-नसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानजीवस्थानगुणस्थानान्यपि व्यवहारतो-ऽर्हद्देवानां प्रज्ञापनेऽपि निश्चयतो नित्यमेवामूर्तस्वभावस्योपयोगगुणेनाधिकस्य जीवस्य सर्वाण्यपि न सन्ति तादात्म्यलक्षणसंबन्धाभावात् ॥५८॥५९॥६०॥

हारिलोका भणन्ति। किं भणन्ति, **मुस्सदि एसो पंथो** मुष्यत एषः प्रत्यक्षीभूतः पन्थाश्चौरैः कर्तृभूतैः **ण य पंथो मुस्सदे कोई** न च विशिष्टशुद्धाकाशलक्षणः पन्था मुष्यते कश्चिदपि किन्तु पन्थानमाधारीकृत्य तदाधेयभूता जना मुष्यन्त इति दृष्टान्तगाथा गता। **तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं** तथा तेन पथि सार्थदृष्टान्तेन जीवेऽधिकरणभूते कर्मनोकर्मणां शुक्लादिवर्णं दृष्ट्वा **जीवस्स एस वण्णो जिणेहि ववहा-रदो उत्तो** जीवस्य एष वर्णो जिनैर्व्यवहारतो भणित इति दार्ष्टान्तगाथा गता। **एवं रसगन्धफासा संठाणादीय जे समुद्दिट्ठा** एवमनेनैव दृष्टान्तदार्ष्टान्तन्यायेन रसगन्धस्पर्शरूपसंस्थानसंहननरागद्वेषमोहादयो ये पूर्वगाथाष-ट्केन समुद्दिष्टाः **सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति** ते सर्वे व्यवहारनयस्याभिप्रायेण निश्चयज्ञा जीवस्य व्यपदिशन्ति कथयन्तीति नास्ति व्यवहारविरोधः। इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिभ्यां व्यवहारनयसमर्थन-रूपेण गाथात्रयं गतम् ॥५८॥५९॥६०॥

टीका—जैसे मार्ग में जाते हुए धनिक को लुटता हुआ देख कोई कहता है कि यह मार्ग लुटता है, यहां उस मार्ग में लूटने से मार्ग का लुटना उपचार से कहा जाता है, ऐसा व्यवहारी लोकों का कहना है। निश्चय से देखा जाय, मार्ग तो आकाश के विशेष प्रदेशों को कहते हैं सो वह तो लुटता नहीं है। वैसे जीव में बन्धपर्याय से अवस्थित जो कर्म का और नोकर्म का वर्ण है उसे देखकर जीव में स्थित होने से उसका उपचार से जीव का यह वर्ण है, ऐसे व्यवहार से भगवान् अरिहंत देव प्रज्ञापन करते हैं-प्रकट करते हैं, तो भी निश्चय से जीव नित्य ही अमूर्तस्व-भाव है और उपयोग गुण के कारण अन्य द्रव्य से भिन्न है, इसलिये उसके कोई वर्ण नहीं है। इसी प्रकार गन्ध, रस, स्पर्श और रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग-द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान-ये सभी व्यवहार से जीव के अरिहंत देवने कहे हैं तो भी निश्चय से जीव नित्य ही अमूर्त स्वभाव है-और उपयोगगुण के कारण अन्य से भिन्न है, इसलिये उसके ये सब नहीं हैं क्यों-कि इन वर्णादिभावों के और जीव के तादात्म्यलक्षण संबन्ध का अभाव है।

कुतो जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबन्धो नास्तीति चेत् :—

तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥

तत्र भवे जीवानां संसारस्थानां भवन्ति वर्णादयः।
संसारप्रमुक्तानां न सन्ति खलु वर्णादयः केचित् ॥६१॥

यत्किल सर्वास्वप्यवस्थासु यदात्मकत्वेन व्याप्तं भवति तदात्मकत्वव्याप्तिशून्यं न

एवं शुद्धजीव एवोपादेय इति प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वादशगाथाभिः द्वितीयान्तराधिकारो व्याख्यातः। अतः परं जीवस्य निश्चयनयेन वर्णादितादात्म्यसंबन्धो नास्तीति पुनरपि दृढीकरणार्थगाथाष्टकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रादि संसारिजीवस्य व्यवहारेण वर्णादितादात्म्यं भवति, मुक्तावस्थायां नास्तीति ज्ञापनार्थं तत्थ-भवे इत्यादि सूत्रमेकम्। ततः परं जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीति दुरभिनिवेशे सति जीवाभावो दूषणं प्राप्नोतीति कथनमुख्यत्वेन जीवो चेव हि इत्यादिगाथात्रयं। तदनन्तरमेकेन्द्रियादिचतुर्दशजीवसमासानां जीवेन

भावार्थ—ये जो वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भाव कहे हैं, वे सिद्धान्त में जीव के कहे हैं, सो व्यवहारनय से कहे गये हैं, निश्चयनय से ये जीव के नहीं हैं। क्योंकि जीव तो परमार्थतः उपयोग स्वरूप है। यहां ऐसा जानना कि पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, वहां ऐसा नहीं समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है कथंचित् असत्यार्थ जानना। क्योंकि जब एक द्रव्य को उसकी भिन्न-भिन्न पर्यायों से अभेदरूप असाधारण गुणमात्र को प्रधानरूप से कहा जाय, तब परस्पर द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिक भाव, तथा निमित्त से हुए पर्याय ये सब गौण हो जाते हैं, उस एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में उनका प्रतिभास नहीं होता। इसलिये ये सब उस द्रव्य में नहीं हैं, इस प्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि ये उस द्रव्य में हैं तो व्यवहारनय से कह सकते हैं, ऐसा नयविभाग है। सो यहां शुद्धद्रव्य की दृष्टि से कथन है इसलिये उन सभी को व्यवहारनय से जीवका कहा है ऐसा सिद्ध किया है। और निमित्तनैमित्तिकभाव की दृष्टि से देखा जाय तो कथंचित् सत्यार्थ भी कहते हैं। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहें तो सब व्यवहार का लोप हो जायगा, तब परमार्थ का भी लोप हो जायगा। इसलिये जिनदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यग्ज्ञान है, सर्वथा एकान्त करना मिथ्यात्व है ॥५८।५९।६०॥

यहां प्रश्न होता है कि वर्णादि के साथ जीव का तादात्म्य संबन्ध क्यों नहीं है? इसका उत्तर कहते हैं;–[वर्णादयः] वर्ण आदिक हैं वे [संसारस्थानां जीवानां] संसार में स्थित जीवों के [तत्र भवे] उस संसार में [भवन्ति] होते हैं [संसारप्रमुक्तानां] संसार से छूटे हुए (मुक्त हुए) जीवों के [खलु] निश्चय कर [वर्णादयः केचित्] वर्णादिक कोई भी [न सन्ति] नहीं हैं। इसलिये तादात्म्य-संबन्ध भी नहीं है।

टीका—जो निश्चय से सब अवस्थाओं में तत्स्वरूप से व्याप्त हो और उस स्वरूप की व्याप्ति से रहित न हो, उस वस्तु के साथ उन भावों का तादात्म्यसंबन्ध है। इसलिए सब ही

भवति तस्य तैः सह तादात्म्यलक्षणः संबन्धः स्यात् । ततः सर्वास्वप्यवस्थासु वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्च पुद्गलस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः संबन्धः स्यात् । संसारावस्थायां कथंचिद्वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्याभवतश्चापि मोक्षावस्थायां सर्वथा वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तिशून्यस्य भवतो वर्णाद्यात्मकत्वव्याप्तस्याभवतश्च जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धो न कथंचनापि स्यात् ॥६१॥

सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यं नास्तीति कथनार्थं तथैव वर्णादितादात्म्यनिषेधार्थं च एक्कं च दोण्णि इत्यादिगाथात्रयम् । ततश्च मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानानामपि जीवेन सह शुद्धनिश्चयनयेन तादात्म्यनिराकरणार्थं तथैवाभ्यन्तरे रागादितादात्म्यनिषेधार्थं च मोहणकम्म इत्यादिसूत्रमेकम् । एवमष्टगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका । तद्यथा—अथ कथं जीवस्य वर्णादिभिः सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धो नास्तीति पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति;—तत्थभवे जीवाणं संसारत्थाणं होंति वण्णादि तत्र विवक्षिताविवक्षितभवे संसारस्थानां जीवानामशुद्धनयेन वर्णादयो भवन्ति संसारपमुक्काणं संसारप्रमुक्तानां णत्थि दु वण्णादओ केई पुद्गलस्यवर्णादितादात्म्यसम्बन्धाभावात् । केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायैः सह यथा तादात्म्यसम्बन्धोऽस्ति तथा वा तादात्म्यसम्बन्धाभावादशुद्धनयेनापि न सन्ति पुनर्वर्णादयः केऽपि ॥६१॥ इति वर्णादितादात्म्यनिषेधरूपेण गाथा गता । अथ जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुराग्रहे सति दोषं दर्शयति;—जीवो चेव हि एदे सव्वे भावत्ति मण्णसे जदि हि यथानन्तज्ञानाव्याबाधसुखादिगुणा एव जीवो भवति वर्णादिगुणा एव पुद्गलस्तथा जीव एव हि स्फुटमेते वर्णादयः सर्वे भावा मनसि मन्यसे यदि चेत् जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो हि दे कोई तदा किं दूषणं, विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावजीवस्य जडत्वादिलक्षणाजीवस्य च तस्यैव मते कोऽपि विशेषो भेदो नास्ति । ततश्च जीवाभावदूषणं प्राप्नोतीति सूत्रार्थः ॥६२॥ अथ संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यसंबन्धोऽस्तीति दुरभिनिवेशेऽपि जीवाभाव एव दोष इत्युपदिशति;—जदि संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादि यदि चेत्संसारस्थजीवानां पुद्गलस्येव वर्णादयो गुणास्तव मतेन तवाभिप्रायेणैकान्तेन भवन्तीति

अवस्थाओं के वर्णादिरूप से व्याप्त हुए और वर्णादिक की व्याप्ति से शून्य न हुए पुद्गल द्रव्य का वर्णादिक भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। और संसार अवस्था में कथंचित् वर्णादि स्वरूप से हुए तथा वर्णादिस्वरूप की व्याप्ति से शून्य न हुए जीव का मोक्ष अवस्था में सर्वथा वर्णादिस्वरूप की व्यप्ति से शून्य होने के कारण तथा वर्णादिस्वरूप से व्याप्त न होने के कारण वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध किसी प्रकार भी नहीं है।

भावार्थ—जो वस्तु जिन भावों से सब अवस्थाओं में व्याप्त हो उस वस्तु का उन भावों के साथ तादात्म्य सम्बन्ध कहा जाता है। सो वर्णादिक तो पुद्गल की सब अवस्थाओं में व्यापक है और जीव की संसार अवस्था में तो वर्णादिक किसी तरह कह सकते हैं परन्तु मोक्ष अवस्था में सर्वथा ही नहीं। इसलिए जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है, ऐसा न्याय है ॥६१॥

आगे जीव का वर्णादिक के साथ तादात्म्य है, ऐसा मिथ्या अभिप्राय करे, उसमें जो दोष

मोतीलाल जी सन्मति ... परिग्रहण संख्या

जीवस्य वर्णादितादात्म्यदुरभिनिवेशे दोषश्चायम् :—

जीवो चेव हि एदे सव्वे भावात्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥

जीवश्चैव ह्येते सर्वे भावा इति मन्यसे यदि हि ।
जीवस्याजीवस्य च नास्ति विशेषस्तु ते कश्चित् ॥६२॥

यथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिः पुद्गलद्रव्यमनुगच्छन्तः पुद्गलस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्ति । तथा वर्णादयो भावाः क्रमेण भाविताविर्भावतिरोभावाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यक्तिभिर्जीवमनुगच्छन्तो जीवस्य वर्णादितादात्म्यं प्रथयन्तीति यस्याभिनिवेशः तस्य शेषद्रव्यासाधारणस्य वर्णाद्यात्मकत्वस्य पुद्गललक्षणस्य जीवेन स्वीकरणाज्जीवपुद्गलयोरविशेषप्रसक्तौ सत्यां पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावाद्भवत्येव जीवाभावः ॥६२॥

तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ततः किं दूषणं, संसारस्थजीवा अमूर्तानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्वभावलक्षणं त्यक्त्वा शुक्लकृष्णादिलक्षणं रूपित्वमापन्ना भवन्ति । अथ—एवं पुग्गलदव्वं जीवो तह लक्खणेण मूढमई एवं पूर्वोक्तप्रकारेण जीवस्य रूपित्वे सति पुद्गलद्रव्यमेव जीवः नान्यः कोऽपि विशुद्धचैतन्यचमत्कारमात्रस्तव लक्षणेन तवाभिप्रायेण हे मूढमते न केवलं संसारावस्थायां पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो निर्वाणमुपगतोऽपि पुद्गल एव जीवत्वं प्राप्तः नान्यः कोऽपि चिद्रूपः । कस्मादिति चेत्,

---

है उसे अगली गाथा में कहते हैं;—[यदि हि] जो तू [इति मन्यसे] ऐसा मानेगा कि [एते भावाः] ये वर्णादिक भाव [सर्वे हि जीवा एव] सभी जीव हैं [तु ते] तो तेरे मत में [जीवस्य च अजीवस्य] जीव और अजीव का [कश्चित्] कोई [विशेषः] भेद [नास्ति] नहीं रहेगा ।

टीका—जैसे वर्णादिक भाव हैं, वे अनुक्रम से प्रकट होने (उपजने) वाली और छिपने (नाश होने) वाली उन उन व्यक्तियों-पर्यायों से पुद्गल द्रव्य को अन्वयरूप प्राप्त हुए पुद्गल द्रव्य के ही तादात्म्यस्वरूप को विस्तृत करते हैं, उसी प्रकार वर्णादिकभाव क्रम से भावित आविर्भावतिरोभाव वाली पर्यायों से जीव को अन्वयरूप प्राप्त हुए जीव के वर्णादिक के साथ तादात्म्यस्वरूप को विस्तारते हैं ऐसा जिसका अभिप्राय है, उसके अन्य शेष द्रव्यों से असाधारण वर्णादिस्वरूप जो पुद्गल द्रव्य का लक्षण उसको जीव का अङ्गीकार करने से जीव और पुद्गल में अविशेष का प्रसङ्ग होगा। ऐसा होने से पुद्गल से भिन्न जीव द्रव्य का अभाव हो जायगा। तब जीवद्रव्य का ही अभाव हो जायगा।

भावार्थ—जैसे वर्णादि पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं, उसी प्रकार जीव के साथ भी तादात्म्य स्वरूप हो जांय तो जीव पुद्गल में कुछ भी भेद न रहे, तब जीव का भी अभाव हो जायगा। यह बड़ा दोष आ जायगा ॥६२॥

संसारावस्थायामेव जीवस्य वर्णादितादात्म्यमित्यभिनिवेशेऽप्ययमेव दोष :—

अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादि ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥

एवं पुग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पुग्गलो पत्तो ॥६४॥ (युगलं)

अथ संसारस्थानां जीवानां तव भवन्ति वर्णादयः ।
तस्मात्संसारस्था जीवा रूपित्वमापन्नाः ॥६३॥
एवं पुद्गलद्रव्यं जीवस्तथालक्षणेन मूढमते ।
निर्वाणमुपगतोऽपि च जीवत्वं पुद्गलः प्राप्तः ॥६४॥

यस्य तु संसारावस्थायां जीवस्य वर्णादितादात्म्यमस्तीत्यभिनिवेशस्तस्य तदानीं स जीवो रूपित्वमवश्यमवाप्नोति । रूपित्वं च शेषद्रव्यासाधारणं कस्यचित् द्रव्यस्य

वर्णादितादात्म्यस्य पुद्गलद्रव्यस्येव निषेधयितुमशक्यत्वादिति भवत्येव जीवाभावः । किंच संसारावस्थायामे-कान्तेन वर्णादितादात्म्ये सति मोक्ष एव न घटते, कस्मादिति चेत् ? केवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्य-समयसारस्यैव मोक्षसंज्ञा सा च जीवस्य पुद्गलत्वे सति न संभवतीति भावार्थः ॥६३।६४॥ एवं जीवस्य

आगे संसार अवस्था में ही जीव को वर्णादिक से तादात्म्य है, ऐसा अभिप्राय होने पर भी यही दोष आता है, ऐसा कहते हैं;—(अथ) अथवा (संसारस्थानां जीवानां) संसार में स्थित जीवों के (तव) तेरे मत में (वर्णादयः) वर्णादिक तादात्म्यस्वरूप (भवन्ति) हैं (तस्मात्) तो इसी कारण (संसारस्थाः जीवाः) संसार में स्थित जीव (रूपित्वम् आपन्नाः) रूपीपने को प्राप्त हो गए। (एवम्) ऐसा होने पर (पुद्गलद्रव्यं) पुद्गल द्रव्य ही (जीवः) जीव सिद्ध हुआ (तथालक्षणेन) पुद्गल के लक्षण के समान जीव का लक्षण होने से (मूढमते) हे मूढबुद्धि (निर्वाणम्) निर्वाण को (उपगतोऽपि च) प्राप्त हुआ (पुद्गलः) पुद्गल ही (जीवत्वं) जीवपने को (प्राप्तः) प्राप्त हुआ।

टीका—जिसके मत में संसार अवस्था में जीव का वर्णादिभावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है, ऐसा अभिप्राय है, उसके संसार अवस्था के समय वह जीव रूपित्व दशा को अवश्य प्राप्त होता है। और रूपित्व किसी द्रव्य का असाधारण (अन्य द्रव्यों से पृथक् कराने वाला) लक्षण है। इसलिये रूपित्व लक्षणमात्र से जो कुछ लक्ष्यमाण है वही जीव है इस तरह रूपित्व से लक्ष्यमाण पुद्गल द्रव्य ही है। इस प्रकार पुद्गलद्रव्य ही आप जीव है अन्य कोई नहीं है। ऐसा होने पर मोक्ष अवस्था में भी पुद्गल द्रव्य ही आप जीव होता है। क्योंकि जो द्रव्य है, वह नित्य अपने लक्षण से लक्षित है, वह सभी अवस्थाओं में अविनाशस्वभाव है इसलिये अनादिनिधन है, इस कारण पुद्गल ही जीव है, इससे भिन्न कोई जीव नहीं है। ऐसा होने पर पुद्गलों से भिन्न जीव-

लक्षणमस्ति। ततो रूपित्वेन लक्ष्यमाणं यत्किंचिद्भवति स जीवो भवति। रूपित्वेन लक्ष्यमाणं पुद्गलद्रव्यमेव भवति। एवं पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति मोक्षावस्थायामपि नित्यस्वलक्षणलक्षितस्य द्रव्यस्य सर्वास्वप्यवस्थास्वनपायित्वादनादिनिधनत्वेन पुद्गलद्रव्यमेव स्वयं जीवो भवति न पुनरितरः कतरोऽपि। तथा च सति तस्यापि पुद्गलेभ्यो भिन्नस्य जीवद्रव्यस्याभावात् भवत्येव जीवाभावः। एवमेतत् स्थितं यद्वर्णादयो भावा न जीव इति ॥६३।६४॥

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इंदिया जीवा।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं।
पयडीहिं पुग्गलमईहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥६६॥ (युग्मम्)

एकं वा द्वे त्रीणि च चत्वारि च पञ्चेन्द्रियाणि जीवाः।
बादरपर्याप्तेतराः प्रकृतयो नामकर्मणः ॥६५॥
एताभिश्च निर्वृत्तानि जीवस्थानानि करणभूताभिः।
प्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिस्ताभिः कथं भण्यते जीवः ॥६६॥

निश्चयतः कर्मकरणयोरभिन्नत्वात् यद्येन क्रियते तत्तदेवेति कृत्वा यथा कनकपत्रं

वर्णादितादात्म्ये सति जीवाभावदूषणद्वारेण गाथात्रयं गतम्। अथैवं स्थितं बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियादिसंज्ञिपञ्चेन्द्रियपर्यन्तं चतुर्दशजीवस्थानानि शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा देहगता वर्णादयोऽपीत्यावेदयति;—एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंज्ञ्यसंज्ञिबादरपर्याप्तेतराभिधानाः प्रकृतयो भवंति। कस्य संबन्धिन्यो नामकर्मण इति। अथ—एताभिरमूर्तातीन्द्रियनिरञ्जनपरमात्मतत्त्वविलक्षणाभिर्नामकर्मप्रकृतिभिः पुद्गलमयीभिः पूर्वोक्ताभि-

---

द्रव्य का अभाव होने से जीव का अभाव ही सिद्ध हुआ। इसलिये यह निश्चित हुआ कि जो वर्णादिकभाव हैं, वे जीव नहीं हैं।

भावार्थ—जो कोई वर्णादिभावों से जीव को संसार अवस्था में भी तादात्म्य सम्बन्ध मानता है, उसके भी जीव का अभाव ही आता है क्योंकि वर्णादिक मूर्तिमान द्रव्य के लक्षण हैं ऐसा मूर्तिमान पुद्गलद्रव्य है यदि वर्णादिकरूप जीव माना जाय, तब जीव भी पुद्गल ही ठहरेगा। जब जीव मुक्त होगा, तब वहां भी पुद्गल ही ठहरेगा, तब पुद्गल से भिन्न तो जीव सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार जीव का अभाव सिद्ध होगा। इसीलिये वर्णादिक जीव के नहीं हैं ऐसा निश्चय है ॥६३।६४॥

आगे इसी अर्थ को विशेषरूप से स्पष्ट करते हैं;—(एकं वा) एकेन्द्रिय (द्वे) द्वीन्द्रिय (त्रीणि च) त्रीन्द्रिय (चत्वारि च) चतुरिन्द्रिय (पञ्चेन्द्रियाणि) पञ्चेन्द्रिय (जीवाः) जीव तथा (बादरपर्याप्तेतराः) बादर, सूक्ष्म पर्याप्त, अपर्याप्त ये जीव हैं वे (नामकर्मणः) नामकर्म की (प्रकृतयः)

कनकेन क्रियमाणं कनकमेव न त्वन्यत्। तथा जीवस्थानानि बादरसूक्ष्मैकेन्द्रिय-द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ताभिधानाभिः पुद्गलमयीभिः नामकर्मप्रकृतिभिः क्रियमाणानि पुद्गल एव न तु जीवः। नामकर्मप्रकृतीनां पुद्गलमयत्वं चागमप्रसिद्धं दृश्यमानशरीराकारादिमूर्त्तकार्यानुमेयं च। एवं गन्धरसस्पर्शरूपशरीरसंस्थानसंहननान्यपि पुद्गलमयनामकर्मप्रकृतिनिर्वृत्तत्वे सति तदव्यतिरेकाज्जीवस्थानैरेवोक्तानि। ततो न वर्णादयो जीव इति निश्चयसिद्धान्तः ॥६५।६६॥

निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्तदेव तत्स्यान्न कथञ्चनान्यत्।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यन्ति रुक्मं न कथञ्चनासिं ॥३८॥

निर्वत्तितानि चतुर्दशजीवस्थानानि निश्चयनयेन कथं जीवा भवन्ति? न कथमपि। तथाहि—यथा रुक्मेण करणभूतेन निर्वृत्तमसिकोश तु रुक्मैव भवति तथा पुद्गलमयप्रकृतिभिर्निष्पन्नानि जीवस्थानानि पुद्गलद्रव्य-स्वरूपाण्येव भवन्ति न च जीवस्वरूपाणि। तथा तेनैव जीवस्थानदृष्टान्तेन तदाश्रिता वर्णादयोऽपि पुद्गल-स्वरूपा भवन्ति, न च जीवस्वरूपा इत्यभिप्रायः ॥६५।६६॥ अथ—ग्रन्थान्तरे पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मजीवाः कथ्यन्ते तत्कथं घटत इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति;—**पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव पर्याप्ता-**

प्रकृतियां हैं [एताभिः च] इन प्रकृतियों से ही [करणभूताभिः] करण स्वरूप होकर [जीवस्थानानि] जीवसमास [निर्वृत्तानि] रचे गये हैं [ताभिः] उन [पुद्गलमयीभिः] पुद्गलमय [प्रकृतिभिः] प्रकृतियों से रचे हुए को [जीवः] जीव [कथं] कैसे [भण्यते] कह सकते हैं।

टीका—निश्चयनय से कर्म और करण में अभेदभाव है, इस न्याय से जो जिससे किया जाय वह वही है। ऐसा होने पर जैसे सुवर्ण का पत्र सुवर्ण से किया हुआ सुवर्ण ही है, अन्य तो कुछ नहीं उसी प्रकार ये जीवस्थान हैं वे बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय वे सब पर्याप्त अपर्याप्त हैं, वे सभी पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियां हैं, वे करण-रूप हैं उनसे किये गये हैं, इसलिये पुद्गल ही हैं, वे जीव नहीं हैं। तथा नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता आगम में प्रसिद्ध है। और जो प्रत्यक्ष देखने में आने वाले शरीर आदि मूर्तिकभाव हैं वे पुद्गल कर्म प्रकृतियों के कार्य होने के कारण अनुमान प्रमाण से ही सिद्ध हैं। इसीप्रकार गन्ध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन—ये भी नामकर्म की प्रकृतियों द्वारा किये हुए हैं, इसलिए उस पुद्गल से अभेदरूप हैं इसी कारण जीवस्थान पुद्गलमय कहने चाहिए। इस कारण ये वर्णादिक जीव नहीं हैं ऐसा निश्चयनय का सिद्धान्त है।

यहां इसी अर्थ का कलशरूप काव्य है—निर्वर्त्यते इत्यादि। अर्थ—जिस वस्तु से जो पर्याय निष्पन्न होती है वह पर्याय उस वस्तुरूप ही है कुछ अन्यवस्तु नहीं है। जैसे सोने से खड्ग का (तलवार का) म्यान बना, उसे लोक सोना ही देखते हैं, खड्ग को तो किसी तरह भी नहीं देखते।

भावार्थ—वर्णादिक पुद्गल से बने हैं वे पुद्गल ही हैं, जीव नहीं हैं।

वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।।३९।।

शेषमन्यद्व्यवहारमात्रम् :—

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ।।६७।।

पर्याप्तापर्याप्ता ये सूक्ष्मा बादराश्च ये चैव ।
देहस्य जीवसंज्ञाः सूत्रे व्यवहारतः उक्ताः ।।६७।।

यत्किल बादरसूक्ष्मैकेन्द्रियद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियपर्याप्तापर्याप्ता इति शरीरस्य संज्ञाः सूत्रे जीवसंज्ञात्वेनोक्ताः अप्रयोजनार्थः परप्रसिद्ध्या घृतघटवद्व्यवहारः । यथा हि कस्यचिदाजन्मप्रसिद्धैकघृतकुम्भस्य तदितरकुम्भानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं घृतकुम्भः स मृण्मयो न घृतमय इति तत्प्रसिद्ध्या कुम्भे घृतकुम्भव्यवहारः तथास्याज्ञानिनो लोकस्यासंसारप्रसिद्धाशुद्धजीवस्य शुद्धजीवानभिज्ञस्य प्रबोधनाय योऽयं वर्णादिमान् जीवः स ज्ञानमयो न वर्णादिमयः इति तत्प्रसिद्ध्या जीवे वर्णादिमद्व्यवहारः ।।६७।।

पर्याप्ता ये जीवाः कथिताः सूक्ष्मबादराश्चैव ये कथिताः देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता पर्याप्तापर्याप्तदेहं दृष्ट्वा पर्याप्तापर्याप्तबादरसूक्ष्मविलक्षणपरमचिज्ज्योतिर्लक्षणशुद्धात्मस्वरूपात्पृथग्भूतस्य देहस्य सा जीवसंज्ञा कथिता । क्व, सूत्रे परमागमे । कस्मात्, व्यवहारादिति नास्ति दोषः । एवं जीवस्थानानि जीवस्था-

---

अब दूसरा काव्य कहते हैं—**वर्णादि** इत्यादि । **अर्थ**—ये वर्णादिक गुणस्थानपर्यन्त सभी भाव केवल एक पुद्गल की रचना हैं ऐसा तुम जानो इसलिये ये पुद्गल ही हैं आत्मा नहीं। क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है ज्ञान का पिण्ड है इस कारण पुद्गल से अन्य है ।।६५।६६।।

आगे कहते हैं कि इस ज्ञानघन आत्मा के अतिरिक्त अन्य भावों को जीव कहना सो सब ही व्यवहारमात्र है;—[**ये**] जो [**पर्याप्तापर्याप्ताः**] पर्याप्त अपर्याप्त, [**ये चैव**] और जो [**सूक्ष्माः बादराश्च**] सूक्ष्म बादर आदि जितनी [**देहस्य**] देह की [**जीवसंज्ञाः**] जीव संज्ञाएं कही हैं वह सभी [**सूत्रे**] सूत्र में [**व्यवहारतः**] व्यवहार नय से [**उक्ताः**] कही हैं ।

टीका—निश्चय से यह जानना कि बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त ऐसे शरीर को सूत्र में जीव संज्ञा द्वारा कहा है। वहां पर की प्रसिद्धि से घृत के घड़े की तरह व्यवहार है । यह व्यवहार अप्रयोजनभूत है । उसको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट कहते हैं—जैसे कोई पुरुष ऐसा था कि जिसने जन्म से लेकर घी का ही घड़ा देखा था, घृत से ख़ाली भिन्न घट नहीं देखा, उसको समझाने के लिए ऐसा कहते हैं कि यह जो घृत का घट है, वह

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेपि न तन्मयः ॥४०॥

एतदपि स्थितमेव यद्रागादयो भावा न जीवा इति :—

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥६८॥

मोहनकर्मण उदयात्तु वर्णितानि यानीमानि गुणस्थानानि ।
तानि कथं भवन्ति जीवा यानि नित्यमचेतनान्युक्तानि ॥६८॥

नाश्रिता वर्णादयश्च निश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥६७॥ अथ न केवलं वहिरङ्गवर्णादयो शुद्धनिश्चयेन जीवस्वरूपं न भवन्ति अभ्यन्तरमिथ्यात्वादिगुणस्थानरूपरागादयोऽपि न भवन्तीति स्थितं;—**मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा** निर्मोहपरमचैतन्यप्रकाशलक्षणपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतानाद्यविद्याकन्दलीकन्दायमानसन्तानागतमोहकर्मोदयात्सकाशात् यानीमानि वर्णितानि कथितानि

मिट्टीमय है, घृतमय नहीं है, ऐसे उस पुरुष के घृत के घट को प्रसिद्धि से समझाने वाला भी घृत का घट कहता है ऐसा व्यवहार है। उसी प्रकार इस अज्ञानी प्राणी के अनादि संसार से लेकर अशुद्ध जीव ही प्रसिद्ध है, शुद्ध जीव को नहीं जानता, उसको शुद्ध जीव का ज्ञान कराने के लिए ऐसा सूत्र में कहा है कि जो यह वर्णादिमान् जीव कहा जाता है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं है। इस प्रकार उस अज्ञानी प्राणी के वर्णादिमान् प्रसिद्ध है। उस प्रसिद्धि से जीव में वर्णादिमान् होने का व्यवहार सूत्र में किया है।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**घृतकुम्भा**। इत्यादि। **अर्थ**—यह घृत का कुम्भ है, ऐसा कहने पर भी कुम्भ है, वह घृतमय नहीं है मृत्तिकामय ही है, उसी प्रकार जीव वर्णादिमान् है ऐसा कहने पर भी जीव वर्णादिमान् नहीं है, ज्ञानघन ही है।

भावार्थ—जिसने पहले घट को मृत्तिका का नहीं जाना और घृत के भरे घट को लोक घृत का घट कहते हैं ऐसा सुना, वहां यही जाना कि घट घृत का ही कहा जाता है। उसको समझाने के लिए मृत्तिका का घट जानने वाला मृत्तिका का घट कह कर समझाता है। उसी प्रकार ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जिसने जाना नहीं और वर्णादिक के सम्बन्ध रूप ही जीव को जाना, उसके समझाने को सूत्र में भी कहा है कि यह वर्णादिमान् तो पुद्गल है। जीव ज्ञानघन है ऐसा जानना।

अब कहते हैं कि जैसे वर्णादिकभाव जीव नहीं हैं, उसी प्रकार यह भी सिद्ध हुआ कि रागादिक भाव भी जीव नहीं हैं;—[**यानि इमानि**] जो ये [**गुणस्थानानि**] गुणस्थान हैं वे [**मोहनकर्मणः उदयात् तु**] मोहनकर्म के उदय से होते हैं ऐसे [**वर्णितानि**] सर्वज्ञ के आगम में वर्णन किये गये हैं [**तानि**] वे [**जीवाः**] जीव [**कथं**] कैसे [**भवन्ति**] हो सकते हैं क्योंकि [**यानि**] ये [**नित्यं**] हमेशा [**अचेतनानि**] अचेतन [**उक्तानि**] कहे हैं।

मिथ्यादृष्टयादीनि गुणस्थानानि हि पौद्गलिकमोहकर्मप्रकृतिविपाकपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात् कारणानुविधायीनि कार्याणीति कृत्वा यवपूर्वका यवा यवा एवेति न्यायेन पुद्गल एव न तु जीवः। गुणस्थानानां नित्यमचेतनत्वं चागमाच्चैतन्यस्वभावव्याप्तस्यात्मनोतिरिक्तत्वेन विवेचकैः स्वयमुपलभ्यमानत्वाच्च प्रसाध्यम्। एवं रागद्वेषमोहप्रत्ययकर्मनोकर्मवर्गवर्गणास्पर्द्धकाध्यात्मस्थानानुभागस्थानयोगस्थानबन्धस्थानोदयस्थानमार्गणास्थानस्थितिबन्धस्थानसंक्लेशस्थानविशुद्धिस्थानसंयमलब्धिस्थानान्यपि पुद्गलकर्मपूर्वकत्वे सति नित्यमचेतनत्वात्पुद्गल एव न तु जीव इति स्वयमायातम् ततो रागादयो भावा न जीव इति सिद्धम् तर्हि को जीव इति चेत्।

गुणस्थानानि। तथा चोक्तं "गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा" ते कह हवति जीवा तानि कथं भवन्ति जीवा न कथमपि। कथंभूतानि ते णिच्चमचेदणा उत्ता यद्यप्यशुद्धनिश्चयेन चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयेन नित्यं सर्वकालमचेतनानि। अशुद्धनिश्चयस्तु वस्तुतो यद्यपि द्रव्यकर्मापेक्षयाभ्यन्तररागादयश्चेतना इति मत्वा निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। इति व्याख्यानं निश्चयव्यवहारनयविचारकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम्। एवमभ्यन्तरे तथा मिथ्यादृष्ट्यादिगुणस्थानानि जीवस्वरूपं न भवन्ति तथा रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति कथनरूपेणाष्टमगाथा गता ॥६८॥ एवमष्टगाथाभिस्तृतीयान्तराधिकारो व्याख्यातः। ननु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति जीवाधिकारे व्याख्यातं अस्मिन्नजीवाधिकारेऽपि तदेवेति पुनरुक्तमिदं। तन्न, विस्तररुचिशिष्यं प्रति नवाधिकारैः समयसार एवं व्याख्यायते न पुनरन्यदिति प्रतिज्ञा-

---

टीका—जो ये मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान हैं वे पुद्गल मोहकर्म की प्रकृति के उदय होने से होते हैं, इसलिए नित्य ही अचेतन हैं, क्योंकि जैसा कारण होता है, उसी के अनुसार कार्य होता है। जैसे जौ से जौ होते हैं, वे जौ ही हैं, इस न्याय से वे पुद्गल ही हैं जीव नहीं हैं। यहां गुणस्थानों की नित्य अचेतनता आगम से सिद्ध है और चैतन्यस्वभाव से व्याप्त आत्मा से भिन्न रूप से भेदज्ञानी पुरुषों के द्वारा स्वयं प्राप्य है, इस हेतु से सिद्ध करना। चैतन्यमात्र आत्मा के अनुभव से ये बाह्य हैं इसलिए अचेतन ही हैं। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान ये सभी पुद्गल कर्मपूर्वक होने से नित्य अचेतन होने के कारण पुद्गल ही हैं जीव नहीं हैं, ऐसा स्वयं (अपने आप) सिद्ध हुआ, इसीलिये रागादिकभाव जीव नहीं हैं, ऐसा भी सिद्ध हुआ।

भावार्थ—पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से हुए चैतन्य के विकार भी पुद्गल ही हैं क्योंकि शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेदरूप हैं और इसके परिणाम भी स्वाभाविक शुद्ध ज्ञान दर्शन हैं। इस कारण परनिमित्त से जो विकार होते हैं, वे चैतन्यसरीखे दीखते हैं तो भी चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं। इसलिये चैतन्य शून्य (जड़) हैं इस तरह जो जड़ है वह पुद्गल है, ऐसा निश्चय हुआ।

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥४१॥

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो
नामूर्त्तत्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ।
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा
व्यक्तं व्यञ्जितजीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालम्ब्यताम् ॥४२॥

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं ज्ञानी जनोऽनुभवति स्वयमुल्लसन्तम् ।
अज्ञानिनो निरवधिप्रविजृम्भितोऽयं मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

वचनं । तत्रापि समयसारव्याख्यानमात्रापि समयसारव्याख्यानमेव । यदि पुनः समयसारं त्यक्त्वान्यद्व्याख्यायते तदा प्रतिज्ञाभंग इति नास्ति पुनरुक्तम् । अथवा भावनाग्रन्थे समाधिशतकपरमात्मप्रकाशादिग्रन्थवद्रागिणां शृङ्गारकथावद्वा पुनरुक्तदोषो नास्ति । अथवा तत्र जीवस्य मुख्यता, अत्राजीवस्य मुख्यता । विवक्षितो मुख्य

यहां पूछते हैं कि वर्णादिक और रागादिक जीव नहीं हैं तो जीव क्या है? उसका उत्तररूप श्लोक कहते हैं अनाद्य इत्यादि । अर्थ—जीव है वह चैतन्य है, यह अपने आप अतिशय से चमत्कार रूप प्रकाशमान है। अनादि है, किसी समय में नया नहीं उत्पन्न हुआ, अनन्त है जिसका किसी काल में विनाश नहीं है, अचल है, चैतन्यपने से अन्य रूप (चलाचल) कभी नहीं होता, स्वसंवेद्य है, आप ही कर जाना जाता है और प्रकट है, छिपा हुआ नहीं है।

आगे दूसरे लक्षण के अव्याप्ति अतिव्याप्ति दूषणों को दूर करने के लिये काव्य कहते हैं—वर्णाद्यैः इत्यादि । अर्थ—यदि जीव का लक्षण अमूर्तिक कहा जाय तो अजीव पदार्थ भी दो प्रकार हैं—धर्म, अधर्म, आकाश और काल-ये तो वर्णादिभाव से रहित हैं और पुद्गल वर्णादि सहित है इसलिये अमूर्तिकपने को ग्रहण करके लोक जीव के यथार्थस्वरूप को नहीं देखते। इस में अतिव्याप्ति दोष आता है। वर्णादिक से रागादि जीव का भी ग्रहण है सो रागादिक जीव का लक्षण कहा जाय तो उनकी व्याप्ति पुद्गल से ही है, जीव की सब अवस्थाओं में व्याप्ति नहीं इसलिये अव्याप्ति दोष आता है। इस प्रकार भेदज्ञानी पुरुषों ने परीक्षा कर अतिव्याप्ति, अव्याप्ति दोष से रहित चेतनपना ही लक्षण कहा है वही ठीक है। उसी ने जीव का यथार्थ-स्वरूप प्रकट किया है। जीव तो कभी चलाचल नहीं है, सदा मौजूद है। इसलिये जगत् इसी लक्षण को अवलंबन करे, इसी से यथार्थ जीव का ग्रहण होता है।

यदि ऐसे लक्षण से जीव प्रकट है तो भी अज्ञानी लोकों को इसका अज्ञान किस तरह रहता है? उसको आचार्य आश्चर्य तथा खेदसहित कहते हैं—जीवाद इत्यादि अर्थ—इस प्रकार पूर्वकथित लक्षण से जीव से अजीव भिन्न है। ज्ञानीजन उसे अपने आप उदय हुआ अनुभव करते हैं तो भी अज्ञानी जनों के यह अमर्यादित मोह (अज्ञान) प्रकट फैलता हुआ कैसे अत्यन्त नृत्य करता है? यह हम को बड़ा अचंभा है, तथा खेद है।

नानट्यतां तथापि—

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्यः ।
रागादिपुद्गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं[1] नाटयित्वा जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चै-श्चकाशे ॥४५॥

इति जीवाजीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ ॥६८॥

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ॥१॥

इति वचनात् । अथवा तत्र सामान्यव्याख्यानमत्र तु विस्तरेण अथवा तत्र रागादिभ्यो भिन्नो जीवो भवतीति विधिमुख्यतया व्याख्यानं, अत्र तु रागादयो जीवस्वरूपं न भवन्तीति निषेधमुख्यतया व्याख्यानं । किंवत्, एकत्वान्यत्वानुप्रेक्षाप्रस्तावे विधिनिषेधव्याख्यानवदिति परिहारपञ्चकं ज्ञातव्यम् । एवं जीवाजीवाधिकार-रङ्गभूमौ शृङ्गारसहितपात्रवद्व्यवहारेणैकीभूतौ प्रविष्टौ निश्चयेन तु शृङ्गाररहितपात्रवत्पृथग्भूत्वा निष्क्रान्ताविति ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्य-वृत्तौ स्थलत्रयसमुदायेन त्रिंशद्गाथाभिरजीवाधिकारः समाप्तः ॥१॥

फिर भी इसका निषेध करते हैं कि मोह नृत्य करता है तो करे तो भी यह जीव ऐसा है—अस्मिन् इत्यादि । अर्थ—यह अनादि काल का बड़ा अविवेक रूप नृत्य है, उसमें वर्णादिमान् पुद्गल ही नृत्य करता है, अन्य कोई नहीं है । अभेदज्ञान में पुद्गल ही अनेक प्रकार दीखता है, जीव तो अनेक प्रकार नहीं है । यह जीव, रागादि पुद्गल विचारों से विलक्षण शुद्धचैतन्य-धातुमय-मूर्ति है ।

भावार्थ—रागादि चैतन्य विकार को देख ऐसा भ्रम न करना कि ये भी चैतन्य ही हैं क्योंकि चैतन्य की सब अवस्थाओं में व्याप्त होकर रहें, तब चैतन्य के कहे जायें सो ऐसा नहीं है, मोक्षअवस्था में इनका अभाव है । तथा इनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है । चैतन्य का अनुभव निराकुल है, वही जीव का स्वभाव है ऐसा जानना ।

आगे भेदज्ञान की प्रवृत्तिपूर्वक यह ज्ञाता द्रव्य आप प्रकट होता है ऐसी महिमा कहकर प्रथम अधिकार को पूर्ण करते हैं । उसका कलशरूप काव्य कहते हैं इत्थं इत्यादि । अर्थ—इस प्रकार ज्ञानरूप आरे को चलाने का वारबार अभ्यास करना, उसको चलाकर जीव और अजीव दोनों स्पष्टरूप से जब तक पृथक् न हुए तब तक यह ज्ञाता द्रव्य आत्मा, समस्त पदार्थों में व्याप्त होकर तथा प्रकट विकास रूप हुई चैतन्यमात्रशक्ति से अपने आप वेग के अतिशय से प्रकट होकर प्रकाशमान होता है ।

१. कलनात् इति पाठान्तरम् ।

भावार्थ—जीव अजीव दोनों अनादिकाल से संयोगरूप हैं सो अज्ञान से एक सरीखे दीखते हैं। वहां भेदज्ञान के अभ्यास से जब तक प्रकट पृथक् नहीं हुए अर्थात् जीव कर्मों से छूट मोक्ष को प्राप्त न हुआ, तब तक यह ज्ञाताद्रव्य जीव अपनी ज्ञानशक्ति से समस्त वस्तुओं को जानकर अतिवेग से आप प्रकट हुआ। यहां ऐसा तात्पर्य है कि सम्यग्दृष्टि होने के बाद जब तक केवलज्ञान उत्पन्न नहीं होता, तब तक तो सर्वज्ञ के आगम से उत्पन्न हुए श्रुतज्ञान से समस्त वस्तुओं का संक्षेप तथा विस्तार से परोक्ष ज्ञान होता है, उस ज्ञान स्वरूप आत्मा का जो अनुभव होता है, वही इसका प्रकट होना है। और जब घातिया कर्मों के नाश से केवलज्ञान प्रकट हो जाता है, तब सब वस्तुओं को साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का साक्षात् अनुभव करता है। वही इसका प्रकट होना है। इस प्रकार मोक्ष होने के पूर्व ही आत्मा प्रकाशमान होता है। यह जीव अजीव के पृथक् होने की रीति है। इस प्रकार जीव अजीव का पहला अधिकार पूर्ण हुआ। उसमें टीकाकार ने पहले रंगभूमि का स्थल जुदा कह उसके बाद यह कहा था कि नृत्य के अखाड़े में जीव अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं। दोनों ने एकत्व का स्वांग बनाया है। उस अवसर में भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने अपने सम्यग्ज्ञान से दोनों को लक्षण-भेद से परीक्षा कर पृथक् जान लिये, तब स्वांग हो चुका, दोनों पृथक्-पृथक् होके अखाड़े में से बाहर आ गये। ऐसा अलङ्कार द्वारा वर्णन किया है।

जीव अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ़ न आतम पावैं
सम्यक् भेद-विज्ञान भये पुन भिन्न गहै निजभाव सुदावैं।
श्रीगुरु के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं
ते जगमांहि महन्त कहाय बसैं शिव जाय सुखी नित थावैं ॥१॥

इति श्रीपण्डितजयचन्द्रकृत समयसारग्रन्थ की आत्मख्याति टीका की भाषाटीका में पहला जीवाजीवाधिकार पूर्ण हुआ ॥१॥

■

अथ कर्त्तृकर्माधिकारः ॥२॥

अथ जीवाजीवावेव कर्त्तृकर्मवेषेण प्रविशतः ।

एकः कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी, इत्यज्ञानां शमयदभितः कर्त्तृकर्मप्रवृत्तिम् । ज्ञानज्योतिः स्फुरति परमोदात्तमत्यन्तधीरं साक्षात्कुर्वन्निरुपधि पृथग्द्रव्यनिर्भासि विश्वम् ॥४६॥

जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोह्णंपि ।
अण्णाणी तावदु सो कोधादिसु वट्टदे जीवो ॥६९॥
कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स कम्मस्स संचओ होदि ।
जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं ॥७०॥ (युग्मं)

यावन्न वेत्ति विशेषान्तरं त्वात्मास्रवयोर्द्वयोरपि ।
अज्ञानी तावत्स क्रोधादिषु वर्त्तते जीवः ॥६९॥
क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य कर्मणः सञ्चयो भवति ।
जीवस्यैवं बन्धो भणितः खलु सर्वदर्शिभिः ॥७०॥

यथायमात्मा तादात्म्यसिद्धसम्बन्धयोरात्मज्ञानयोरविशेषाद्भेदमपश्यन्नविशङ्क-

---

अथ पूर्वोक्तजीवाधिकाररङ्गभूमौ जीवाजीवावेव यद्यपि शुद्धनिश्चयेन कर्तृकर्मभावरहितौ तथापि व्यवहारनयेन कर्तृकर्मवेषेण शृङ्गारसहितपात्रवत्प्रविशत इति दण्डकान्विहायाष्टाधिकसप्ततिगाथापर्यंतं नवभिः स्थलैर्व्याख्यानं करोतीति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकारूपेण तृतीयाधिकारे समुदायपातनिका । अथवा जो

दोहा—कर्ताकर्मविभावकूं, मेंटि ज्ञानमय होय ।
कर्म नाशि शिव में बसे, तिन्हें नमूं मद खोय ॥१॥

अब टीकाकार कहते हैं कि, जीव अजीव दोनों एक कर्ता कर्म का वेष धारण करके प्रवेश करते हैं। (जैसे दो पुरुष आपस में कोई स्वांग रच कर नृत्य के अखाड़े में प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार यहां अलङ्कार जानना। उसमें पहले उस स्वांग को ज्ञान यथार्थ जान लेता है, उसकी महिमा में काव्य कहते हैं)—एकः इत्यादि। अर्थ—ज्ञानज्योति प्रकट स्फुरायमान होती है। अज्ञानी, जीवों की ऐसी कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है कि इस लोक में मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा तो एक कर्ता हूँ और ये क्रोधादिक भाव मेरे कर्म हैं, इस प्रकार कर्ता कर्म की प्रवृत्ति को यह ज्ञानज्योति शमन करती है। जो ज्ञानज्योति उत्कृष्ट उदात्त है, किसी के आधीन नहीं है, अत्यन्त धीर है अर्थात् किसी प्रकार की आकुलता नहीं है और दूसरे की सहायता के विना भिन्न भिन्न द्रव्यों के प्रकाशित करने का जिसका स्वभाव है इसी कारण समस्त लोकालोक को साक्षात् करती है।

मात्मतयाज्ञाने वर्तते तत्र वर्त्तमानश्च ज्ञानक्रियायाः स्वभावभूतत्वेनाप्रतिषिद्धत्वाज्जानाति तथा संयोगसिद्धसम्बन्धयोरप्यात्मक्रोधाद्यास्रवयोः स्वयमज्ञानेन विशेषमजानन् यावद्भेदं न पश्यति तावदशङ्कमात्मतया क्रोधादौ वर्त्तते। तत्र वर्त्तमानश्च क्रोधादिक्रियाणां परभावभूतत्वात्प्रतिषिद्धत्वेऽपि स्वभावभूतत्वाध्यासात्क्रुध्यति रज्यते मुह्यति चेति। तदत्र योऽयमात्मा स्वयमज्ञानभवने ज्ञानभवनमात्रसहजोदासीनावस्थात्यागेन व्याप्रियमाणः प्रतिभाति स कर्त्ता। यत्तु ज्ञानभवनव्याप्रियमाणत्वेभ्यो भिन्नं क्रियमाणत्वेनान्तरुत्प्लवमानं प्रतिभाति क्रोधादि तत्कर्म। एवमियमनादिरज्ञानजा कर्त्तृकर्मप्रवृत्तिः। एवमस्यात्मनः[1] स्वयमज्ञानात्कर्तृकर्मभावेन क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य

खलु संसारत्थो जीवो इत्यादिगाथात्रयेण पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता न च शुद्धनिश्चयेन शुद्धजीवस्वरूपमिति पञ्चास्तिकायप्राभृते यत्पूर्वं संक्षेपेण व्याख्यातं तस्यैवेदानीं व्यक्त्यर्थं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकासमुदायकथनं तात्पर्यं कथ्यत इति द्वितीयपातनिका। प्रथमतस्तावत् जाव ण वेदि विसेसंतरं इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथाषट्कपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र गाथाद्वयमज्ञानिजीवमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं, संज्ञानिजीवमुख्यत्वेन कथ्यत इति प्रथमस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ क्रोधाद्यास्रवशुद्धात्मनोर्यावत्कालं भेदविज्ञानं न जानाति तावदज्ञानी भवतीत्यावेदयति;—जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि यावत्कालं न वेत्ति न जानाति विशेषान्तरं भेदज्ञानं शुद्धात्मक्रोधाद्यास्रवस्वरूपयोर्द्वयोः अण्णाणी ताव दु सो तावत्कालपर्यन्तमज्ञानी बहिरात्मा भवति। स जीवः। अज्ञानी सन्कि करोति। कोधादिसु वट्टदे जीवो यथा ज्ञानमहम् इत्यभेदेन वर्त्तते तथा क्रोधाद्यास्रवरहितनिर्मलात्मानुभूतिलक्षणनिजशुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतेषु क्रोधादिष्वपि क्रोधोऽहमित्यभेदेन वर्तते परिणमतीति। अथ—कोधादिसु वट्टंतस्स तस्स उत्तमक्षमादिस्वरूपपरमात्मविलक्षणेषु क्रोधादिषु वर्त्तमानस्य तस्य जीवस्य। किं फलं भवति, कम्मस्स संचओ होदि परमात्मप्रच्छादककर्मणः सञ्चयः आस्रव आगमनं भवति। जीवस्सेवं बंधो भणिदो खलु सव्वदरसीहिं तैल—

भावार्थ—ऐसा ज्ञानस्वरूप आत्मा परद्रव्य तथा परभावों के कर्ताकर्मपने के अज्ञान को दूर कर आप प्रकट प्रकाशमान होता है।

आगे कहते हैं कि यह जीव जब तक आस्रव के और आत्मा के भेद को नहीं जानता तब तक अज्ञानी हुआ आस्रवों में आप लीन होकर कर्मों का बन्ध करता है;—[जीवः] यह जीव [यावत्] जब तक [आत्मास्रवयोः द्वयोः अपि तु] आत्मा और आस्रव इन दोनों के [विशेषान्तरम्] भिन्न भिन्न लक्षण [न वेत्ति] नहीं जानता (तावत्) तब तक [स अज्ञानी] वह अज्ञानी हुआ [क्रोधादिषु] क्रोधादिक आस्रवों में [वर्तते] प्रवर्तता है। [क्रोधादिषु] क्रोधादिकों में [वर्तमानस्य तस्य] वर्तते हुए उसके [कर्मणः] कर्मों का [सञ्चय भवति] संचय होता है [एवम्] इस प्रकार [जीवस्य] जीव के [बन्धः] कर्मों का बन्ध [सर्वदर्शिभिः] सर्वज्ञदेवों ने [भणितः खलु] निश्चय से कहा है।

टीका—यह आत्मा अपने और ज्ञान के तादात्म्य सिद्ध सम्बन्ध होने के कारण अपने और ज्ञान में भेद नहीं देखता; अतः ज्ञान में निःशङ्क होकर आत्मरूप से प्रवृत्त होता है।

---

१. 'एवमप्यात्मनः' इत्यपिपाठः।

तमेव क्रोधादिवृत्तिरूपं परिणामं निमित्तमात्रीकृत्य स्वयमेव परिणममानं पौद्गलिकं कर्म सञ्चयमुपयाति। एवं जीवपुद्गलयोः परस्परावगाहलक्षणसम्बन्धात्मा बन्धः सिद्ध्येत्। स चानेकात्मकैकसन्तानत्वेन निरस्तेतरेतराश्रयदोषः कर्तृकर्मप्रवृत्तिनिमित्तस्याज्ञानस्य निमित्तम् ॥६९॥७०॥

म्रक्षिते धूलिसमागमवदास्रवे सति ततो मलादितैलसम्बन्धेन मलवन्धवत्प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशलक्षणः स्वशुद्धात्मा-वाप्तिस्वरूपमोक्षविलक्षणो बन्धो भवति। जीवस्यैवं खलु स्फुटं भणितं सर्वदर्शिभिः सर्वज्ञैः किं च यावत्क्रोधाद्यास्रवेभ्यो भिन्नं शुद्धात्मस्वरूपं स्वसंवेदनज्ञानबलेन न जानाति तावत्कालमज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् अज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं न मुञ्चति तस्माद्बन्धो भवति। बन्धात्संसारं परिभ्रमतीत्यभिप्रायः। एवमज्ञानिजीवस्वरूपकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥६९॥७०॥

वहां प्रवर्तन करने वाले के ज्ञानक्रियारूप प्रवृत्ति स्वभावभूत है, अतः परके निमित्त से न होने के कारण उसका निषेध नहीं है। इसलिये उस ज्ञानक्रिया से जानता है। यह विभावपरिणति नहीं है। जिसप्रकार ज्ञानक्रियारूप परिणमन करता है, उसीप्रकार संयोगसिद्ध सम्बन्धरूप जो आत्मा और क्रोधादिक आस्रव उनमें भी अपने अज्ञान से विशेष भेद न जानता हुआ जब तक भेद नहीं देखता तब तक निःशङ्क होकर क्रोधादि में आत्मरूप से प्रवृत्ति करता है। वहां प्रवृत्ति करते हुए उसके जो क्रोधादि किया है वह परभाव से हुई है, इसलिये वे क्रोधादि प्रतिषेधरूप हैं तो भी उनमें स्वभाव का अध्यास है। इस कारण आप क्रोध, राग और मोहरूप परिणमन करता है। अतः आत्मा अपने अज्ञानभाव से परिणमनमात्र स्वभावजन्य उदासीन-ज्ञाता-दृष्टा मात्र अवस्था का त्याग कर क्रोधादि व्यापाररूप परिणमन करता हुआ प्रतिभासित होता है, इसलिये कर्मों का कर्ता है। तथा जो ज्ञान परिणमन रूप प्रवंतने से पृथक् किये गये अन्तरङ्ग में उत्पन्न क्रोधादिक प्रतिभासित होते हैं, वे उस कर्ता के कर्म हैं। इस प्रकार यह अनादिकाल से हुई इस आत्मा की कर्ताकर्म की प्रवृत्ति है। ऐसे अपने अज्ञानभाव से कर्ता कर्म भाव कर क्रोधादिकों में वर्तमान जो यह आत्मा उसके क्रोधादिक की प्रवृत्तिरूप परिणाम को निमित्तमात्र कर अपने आप ही परिणमता हुआ पुद्गलमयकर्म का संचय करता है। इस भांति जीव के और पुद्गल के परस्पर अवगाह लक्षण सम्बन्धस्वरूप बन्ध सिद्ध होता है। वही बन्ध अनेक वस्तु का एकरूप हो परम्परा से इतरेतराश्रय दोषरहित है। वही बन्ध कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का निमित्त जो अज्ञान उसका निमित्त कारण है।

भावार्थ—यह आत्मा जैसे अपने ज्ञानस्वभावरूप परिणमन करता है उसी प्रकार क्रोधादि रूप भी परिणमन करता है, ज्ञान में और क्रोधादिक में जब तक भेद नहीं जानता तब तक इसके कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है। क्रोधादिरूप परिणमन करता हुआ आप तो कर्ता है और वे क्रोधादिक इसके कर्म हैं। अनादि अज्ञान से कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है और कर्ता कर्म की प्रवृत्ति से बन्ध है तथा उसकी सन्तान (परम्परा) अज्ञान है। अतः अनादि सन्तान है। इस प्रकार इसमें इतरेतराश्रय दोष भी नहीं है। ऐसे जब तक आत्मा क्रोधादिक कर्म का कर्ता होकर परिणमन करता है, तब तक कर्ता कर्म की प्रवृत्ति है और तभी तक कर्म का बन्ध होता है ॥६९॥७०॥

कदाऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरिति चेत् –

जइया इमेण जीवेण अप्पणो आसवाण य तहेव ।
णादं होदि विसेसंतरं तु तइया ण बंधो से ॥७१॥

यदानेन जीवेनात्मनः आस्रवाणां च तथैव ।
ज्ञातं भवति विशेषान्तरं तु तदा न बन्धस्तस्य ॥७१॥

इह किल स्वभावमात्रं वस्तु, स्वस्य भवनं तु स्वभावः, तेन ज्ञानस्य भवनं खल्वात्मा । क्रोधादेर्भवनं क्रोधादिः । अथ ज्ञानस्य यद्भवनं तन्न क्रोधादेरपि भवनं यतो यथा ज्ञानभवने ज्ञानं भवद्विभाव्यते न तथा क्रोधादिरपि । यत्तु क्रोधादेर्भवनं तन्न ज्ञानस्यापि भवनं यतो यथा क्रोधादिभवने क्रोधादयो भवन्तो विभाव्यन्ते न तथा ज्ञानमपि इत्यात्मनः क्रोधादीनां च न खल्वेकवस्तुत्वं इत्येवमात्मात्मास्रवयो-

---

अथ कदा कालेऽस्याः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तिरित्येवं पृष्टे प्रत्युत्तरं ददाति :–जइया यदा श्रीधर्मलब्धिकाले इमेण जीवेण अनेन प्रत्यक्षीभूतेन जीवेन अप्पणो आसवाण य तहेव णादं होदि विसेसंतरं तु यथा शुद्धात्मनस्तथैव कामक्रोधाद्यास्र-वाणां च ज्ञातं भवति विशेषान्तरं भेदज्ञानं तइया तदा काले सम्यग्ज्ञानी भवति । सम्यग्ज्ञानी

यहां प्रश्न होता है कि इस कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति का अभाव किस काल में होता है, उसका उत्तर कहते हैं :—[यदा] जिस समय [अनेन जीवेन] इस जीव को [आत्मनः) अपना [तथैव च] और [आस्रवाणां] आस्रवों का [विशेषान्तरं] भिन्नलक्षण [ज्ञातं भवति] मालूम हो जाता है [तदा तु] उसी समय [तस्य] उसके [बन्धः न] बन्ध नहीं होता ।

टीका—इस लोक में वस्तु अपने स्वभावमात्र है और अपने भाव का होना ही स्वभाव है इसलिये यह सिद्ध हूआ कि ज्ञान का जो होना—परिणमना, वह आत्मा है तथा क्रोधादिक का होना—परिणमना क्रोधादिक हैं। ऐसा होने से जो ज्ञान का परिणमन है, वह क्रोधादि का परिणमन नहीं है क्योंकि जैसे ज्ञान होने पर ज्ञान ही हुआ मालूम होता है वैसे क्रोधादिक नहीं मालूम होते। जो क्रोधादिक का परिणमन है, वह ज्ञान का परिणमन नहीं है क्योंकि क्रोधादिक होने पर क्रोधादिक हुए ही प्रतीत होते हैं, ज्ञान हुआ मालूम नहीं होता । इस प्रकार क्रोधादिक और ज्ञान इन दोनों के निश्चय से एक वस्तुत्व नहीं है। अतः आत्मा और आस्रवों का भेद देखने से जिस समय भेद जानता है, उस समय इसके (आत्मा) अनादिकाल से उत्पन्न हुई पर में कर्ता कर्म की प्रवृत्ति निवृत्त हो जाती है। और उसकी निवृत्ति होने पर अज्ञान के निमित्त से हुआ जो पुद्गल-द्रव्य कर्म का बन्ध है वह भी निवृत्त हो जाता है। ऐसा होने पर ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध सिद्ध होता है।

विशेषदर्शनेन यदा भेदं जानाति तदास्यानादिरप्यज्ञानजा कर्त्तृकर्मप्रवृत्तिर्निवर्त्तते तन्निवृत्तावज्ञाननिमित्तं पुद्गलद्रव्यकर्मबन्धोऽपि निवर्त्तते। तथा सति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधः सिद्ध्येत् ॥७१॥

कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति चेत्–

णादूण आसवाणं असुचित्तं च विवरीयभावं च।
दुक्खस्स कारणं ति य तदो णियत्तिं कुणदि जीवो ॥७२॥

ज्ञात्वा आस्रवाणामशुचित्वं च विपरीतभावं च।
दुःखस्य कारणानीति च ततो निवृत्तिं करोति जीवः ॥७२॥

जले जम्बालवत्कलुषत्वेनोपलभ्यमानत्वादशुचयः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु

सन् किं करोति, अहं कर्त्ता भावक्रोधादिरूपमन्तरङ्गं मम कर्मेत्यज्ञानजां कर्तृकर्मप्रवृत्तिं मुञ्चति। ततः कर्तृकर्मप्रवृत्तेर्निवृत्तौ सत्यां निर्विकल्पसमाधौ सति ण बंधो न बंधो भवति से तस्य जीवस्येति ॥७१॥ अथ कथं ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोध इति पूर्वपक्षे कृते परिहारं ददाति—क्रोधाद्यास्रवाणां सम्बन्धि कालुष्यरूपमशुचित्वं जडस्वरूपं, विपरीतभावं, व्याकुलत्वलक्षणं दुःखकारणत्वं च ज्ञात्वा तथैव निजात्मनः सम्बन्धि निर्मलात्मानु-

---

भावार्थ—क्रोधादिक और ज्ञान पृथक्-पृथक् वस्तु हैं। ज्ञान में क्रोधादिक नहीं हैं, क्रोधादिक में ज्ञान नहीं है। इस प्रकार इनका भेदज्ञान हो जाता है, तब एकत्व का अज्ञान मिट जाता है, तभी कर्म का बंध भी नहीं होता। इस प्रकार ज्ञान से ही बंध का निरोध होता है ॥७१॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञानमात्र से ही बन्ध का निरोध किस प्रकार है? उसका उत्तर कहते हैं;—[आस्रवाणां च] आस्रवों का [अशुचित्वम्] अशुचिपना [च विपरीतभावम्] और विपरीतपना [च दुःखस्य कारणानि इति] तथा ये दुःख के कारण हैं ऐसा [ज्ञात्वा] जानकर [जीवः] यह जीव [ततो निवृत्तिम्] उनसे निवृत्ति [करोति] करता है।

टीका—जैसे जल में सेवाल मलिन होने से जल को मैला दिखलाती है, उसी प्रकार ये आस्रव भी कलुषता से प्राप्यमान हैं; आप मलिन हैं, इसलिये आत्मा को भी मलिन अनुभव कराते हैं। आत्मा ज्ञानवान् है। वह सदा अतिनिर्मल चैतन्यभाव से उसका ज्ञापक है इस कारण अत्यंत पवित्र है, उज्जवल है। और आस्रव हैं वे आत्मा से भिन्न स्वभाव हैं, ज्ञेय हैं, अर्थात् जड़स्वभाव होने से पर से जानने योग्य हैं। जो जड़ होता है वह अपने को तथा पर को नहीं जानता, उसको दूसरा ही जानता है और आत्मा सदा ही विज्ञानघनस्वभाव है इसलिये आप ज्ञाता है, ज्ञान से अनन्य स्वभाव है (आस्रवों से अन्य स्वभाव है), अपने को पर को जानता है। आस्रव दुःख के कारण हैं इसलिये आत्मा को आकुलता के उपजाने वाले हैं और भगवान् आत्मा सदा ही निराकुल स्वभाव है; इस कारण किसी का न तो कार्य है और न किसी कारण है इसलिये दुःख का भी कारण नहीं

नित्यमेवातिनिर्मलचिन्मात्रत्वेनोपलम्भकत्वादत्यन्तं शुचिरेव जडस्वभावत्वे सति परचेत्यत्वादन्यस्वभावाः खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेव विज्ञानघनस्वभावत्वे सति स्वयं चेतकत्वादनन्यस्वभाव[1] एव। आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखस्य कारणानि खल्वास्रवाः भगवानात्मा तु नित्यमेवानाकुलत्वस्वभावेनाकार्यकारणत्वाद् दुःखस्याकारणमेव। इत्येवं विशेषदर्शनेन यदैवायमात्मास्रवयोर्भेदं जानाति तदैव क्रोधादिभ्य आस्रवेभ्यो निवर्त्तते। तेभ्योऽनिवर्त्तमानस्य पारमार्थिकतद्भेदज्ञानासिद्धेः। ततः क्रोधाद्यास्रवनिवृत्त्यविनाभाविनो ज्ञानमात्रादेवाज्ञानजस्य पौद्गलिकस्य कर्मणो बन्धनिरोधः सिद्ध्येत्। किंच यदिदमात्मास्रवयोर्भेदज्ञानं तत्किमज्ञानं किं वा ज्ञानं? यद्यज्ञानं तदा तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः। ज्ञानं चेत् किमास्रवेषु प्रवृत्तं

भूतिरूपं शुचित्वं सहजशुद्धाखण्डकेवलज्ञानरूपं ज्ञातृत्वमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुखत्वं च ज्ञात्वा ततश्च स्वसंवेदनज्ञानानन्तरं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिरूपे परमसामयिके स्थित्वा क्रोधाद्यास्रवाणां निवृत्तिं करोति जीवः। इति ज्ञानमात्रादेव बन्धनिरोधो भवति नास्ति सांख्यादिमतप्रवेशः। किं च यच्चात्मास्रवयोः सम्बन्धि भेदज्ञानं तद्रागाद्यास्रवेभ्यो निवृत्तं न वेति, निवृत्तं चेत्तर्हि तस्य भेदज्ञानस्य मध्ये पानकवदभेदनयेन वीतरागचारित्रं वीतरागसम्यक्त्वं च लभ्यत इति सम्यग्ज्ञानादेव बन्धनिरोधसिद्धिः। यदि रागादिभ्यो निवृत्तं न भवति तदा तत्सम्यग्भेदज्ञानमेव न भवतीति भावार्थः ॥७२॥ अथ केन भावनाप्रकारेणायमात्मा क्रोधाद्यास्रवेभ्यो निवर्त्तते इति चेत्—अहं निश्चयनयेन स्वसंवेदनज्ञानप्रत्यक्षं शुद्धचिन्मात्रज्योतिरहं इक्को अनाद्यनन्तटङ्कोत्कीर्ण-

---

है। इस प्रकार आत्मा और आस्रवों के तीन विशेषणों द्वारा भेद देखने से जिस समय भेद जान लिया, उसी समय वह क्रोधादिक आस्रवों से निवृत्त हो जाता है। और उनसे जब तक निवृत्त नहीं होता, तब तक उस आत्मा के पारमार्थिक सच्ची भेदज्ञान की सिद्धि नहीं होती। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि क्रोधादिक आस्रवों की निवृत्ति से अविनाभावी जो ज्ञान, उसी से अज्ञानजन्य पौद्गलिक कर्मबन्ध का निरोध होता है। यहां यह विशेष जानना कि यह आत्मा और आस्रव का भेद है वह अज्ञान है कि ज्ञान? यदि अज्ञान है तो आस्रव से अभेद हुआ, विशेष नहीं हुआ, तथा यदि ज्ञान है तो आस्रवों में प्रवृत्तिरूप है या उनसे निवृत्तिरूप है? यदि आस्रवों में प्रवर्तता है तो ज्ञान आस्रवों से अभेद अज्ञान ही है, इससे भी विशेषता नहीं हुई और जो आस्रवों से निवृत्तरूप है तो ज्ञान से ही बन्ध का निरोध क्यों नहीं कह सकते? सिद्ध हुआ ही कह सकते हैं। ऐसा सिद्ध होने पर अज्ञान के अंश क्रियानय का खण्डन हुआ। तथा जो आत्मा और आस्रवों का भेदज्ञान है। वह आस्रवों से निवृत्त न हुआ तो वह ज्ञान ही नहीं, ऐसा कहने से ज्ञान के अंश ज्ञाननय का निराकरण हुआ।

भावार्थ—आस्रव अशुचि हैं, जड़ हैं, दुःख के कारण हैं, और आत्मा पवित्र है, ज्ञाता है, सुखस्वरूप है। ऐसे दोनों को लक्षण भेद से भिन्न जानकर आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है, उसके कर्म का बन्ध नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा जानने से भी निवृत्त न हो तो वह ज्ञान ही

---

१. अन्यस्वभाव एव इति पाठान्तरम्।

किस्वास्रवेभ्यो निवृत्तम् ? आस्रवेषु प्रवृत्तं चेत्तदपि तदभेदज्ञानान्न तस्य विशेषः । आस्रवेभ्यो निवृत्तं चेत्तर्हि कथं न ज्ञानादेव बन्धनिरोधः इति निरस्तोऽज्ञानांशः क्रियानयः । यत्त्वात्मास्रवयोर्भेदज्ञानमपि नास्रवेभ्यो निवृत्तं भवति तज्ज्ञानमेव न भवतीति ज्ञानांशो ज्ञाननयोऽपि निरस्तः[1] ॥७२॥

परपरणतिमुज्झत् खण्डयद्भेदवादानिदमुदितमखण्डं ज्ञानमुच्चण्डमुच्चैः ।
ननु कथमवकाशः कर्तृकर्मप्रवृत्तेरिह भवति कथं वा पौद्गलः कर्मबन्धः ॥४७॥

ज्ञायकैकस्वभावत्वादेकः खलु स्फुटं शुद्धो यः कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानाधिकरणषट्कारकीयविकल्पचक्ररहितत्वाच्छुद्धश्च णिम्ममो निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणमोहोदयजनितक्रोधादिकषायचक्रस्वामित्वाभावान् ममत्वरहितः । णाणदंसणसमग्गो प्रत्यक्षप्रतिभासमयविशुद्धज्ञानदर्शनाभ्यां समग्रः परिपूर्णः । एवं गुणविशिष्टपदार्थ-

---

नहीं है, अज्ञान ही हैं । यहाँ कोई प्रश्न करे कि अविरतसम्यग्दृष्टि के मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी प्रकृतियों का तो आस्रव नहीं होता परन्तु अन्य प्रकृतियों का तो आस्रवपूर्वक बन्ध होता है, वह ज्ञानी है या अज्ञानी ? उसका समाधान—जो इसके प्रकृतियों का बन्ध होता है, वह अभिप्रायपूर्वक नहीं है, सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव है। इस कारण जब तक इसके चारित्रमोह का उदय है तब तक उसके उदय के अनुसार आस्रव-बन्ध होते हैं, उसका स्वामित्व नहीं है। वह अभिप्राय में निवृत्त होना ही चाहता है इसलिए ज्ञानी ही कहा जाता है। यहाँ मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध ही अनन्त संसार का कारण है, वही प्रधानता से विवक्षित है। जो अविरतादिक से बन्ध होता है, वह अल्पस्थिति अनुभागरूप है, दीर्घ-संसार का कारण नहीं है इसलिए प्रधान नहीं गिना जाता। ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है। जब तक ज्ञान में मिथ्यात्व का उदय था तब तक अज्ञान कहलाता था, मिथ्यात्व चले जाने के बाद अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है। इसमें जो कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी विकार है, उसका स्वामी ज्ञानी नहीं बनता; इसी कारण ज्ञानी के बन्ध नहीं है। विकार बन्धरूप है, वह बन्ध की पद्धति में है, ज्ञान की पद्धति में नहीं है।

इसी अर्थ का समर्थन आगे की गाथा में होगा। यहाँ पर कलशरूप काव्य कहा है। **परपरणति** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञान प्रत्यक्ष उदय को प्राप्त हुआ है, जिसमें ज्ञेय के निमित्त से तथा क्षयोपशम के विशेष से अनेक खण्डरूप आकार प्रतिभासित होते थे, उनका खण्डन करके ज्ञानमात्र आकार अनुभव में आया इसी से 'अखण्ड' ऐसा विशेषण कहा है। जो मतिज्ञान आदि अनेक भेद कहे जाते थे, उनको दूर करके उदय हुआ है इसी से "अखण्ड" विशेषण है; पर के निमित्त से रागादिरूप परिणमन करता था, उस परिणति को छोड़ कर उदय हुआ है, तथा अतिशय प्रचण्ड है, पर के निमित्त से रागादिरूप नहीं परिणमन करता, बलवान् है। आचार्य कहते हैं कि अहो ऐसे ज्ञान में परद्रव्य के कर्ता कर्म की प्रवृत्ति का अवकाश कैसे हो सकता है तथा पौद्गलिक कर्मबन्ध भी कैसे हो सकता है ? नहीं होता।

---

१. एकान्तेन ज्ञानमपि न बन्धनिरोधकं, एकान्तेन क्रियापि न बन्धनिरोधिका इति सिद्धं। उभाभ्यामेव मोक्षः। इति नया मंदिर धर्मपुरा प्राचीन प्रतौ टिप्पणम्।

केन विधिनायमास्रवेभ्यो निवर्तत इति चेत्—

अहमिक्को खलु सुद्धो णिम्ममओ णाणदंसणसमग्गो ।
तह्मि ठिओ तच्चित्तो सव्वे एए खयं णेमि ॥७३॥

अहमेकः खलु शुद्धः निर्ममतः ज्ञानदर्शनसमग्रः ।
तस्मिन् स्थितस्तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥७३॥

अहमयमात्मा प्रत्यक्षमक्षुण्णमनन्तं चिन्मात्रं ज्योतिरनाद्यनन्तनित्योदितविज्ञानघनस्वभावभावत्वादेकः सकलकारकचक्रप्रक्रियोत्तीर्णनिर्मलानुभूतिमात्रत्वाच्छुद्धः । पुद्गलस्वामि-कस्य क्रोधादिभाववैश्वरूपस्य स्वस्य स्वामित्वेन नित्यमेवापरिणमनान्निर्ममतः । चिन्मात्रस्य महसो वस्तुस्वभावत एव सामान्यविशेषाभ्यां सकलत्वाद्

विशेषोऽस्मि भवामि । तह्मि ठिदो तस्मिन्नुक्तलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थितः । तच्चित्तो तच्चित्तः सहजानन्दैकलक्षणसुखसमरसीभावेन तन्मयो भूत्वा सव्वे एदे खयं णेमि सर्वानेतान्निरास्रवपरमात्मपदार्थपृथग्भूतांस्तान्

भावार्थ—कर्मबन्ध तो अज्ञान से हुए कर्ता कर्म की प्रवृत्ति से था । भेदभाव को और परपरिणति को दूर कर एकाकारज्ञान प्रकट हुआ तब भेदरूप कारक की प्रवृत्ति मिट गई तब कैसे बन्ध हो सकता है ? नहीं हो सकता ॥७२॥

आगे शिष्य पूछता है कि आस्रवों से किस तरह निवृत्ति होती है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं;—ज्ञानी विचारता है कि [अहम्] मैं [खलु एकः] निश्चय से एक हूँ [शुद्धः] शुद्ध हूँ [निर्ममतः] ममता रहित हूँ [ज्ञानदर्शनसमग्रः] ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ [तस्मिन् स्थितः] ऐसे स्वभाव में स्थित [तच्चित्तः] उसी चैतन्य अनुभव में लीन हुआ [एतान्] इन [सर्वान्] क्रोधादिक सब आस्रवों को [क्षयम्] क्षय [नयामि] कर देता हूँ ।

टीका—यह मैं आत्मा हूँ सो प्रत्यक्ष अखण्ड, अनन्त, चैतन्यमात्र ज्योति हूँ । अनादि, अनंत, नित्य उदयरूप, विज्ञानघन स्वभावरूप से तो एक हूँ और समस्त कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण स्वरूप जो कारकों का समूह उसकी प्रक्रिया से पार उतरा दूरवर्ती निर्मल चैतन्य अनुभूति मात्ररूप से शुद्ध हूँ । जिनका पुद्गल द्रव्य स्वामी है ऐसे जो क्रोधादि भाव, उनकी विश्वरूपता (समस्तरूपता) उसके स्वामित्व से सदा ही अपने नहीं परिणमने के कारण उनसे ममता रहित हूँ । तथा वस्तु का स्वभाव सामान्य विशेष स्वरूप है इसलिए चैतन्यमात्र तेजपुञ्ज भी वस्तु है इस कारण सामान्यविशेष स्वरूप जो ज्ञानदर्शन उनसे पूर्ण हूँ । ऐसा आकाशादि द्रव्य की तरह परमार्थ स्वरूप वस्तु विशेष हूँ । इसलिये मैं इसी आत्मस्वभाव में समस्त परद्रव्य से प्रवृत्ति की निवृत्ति करके निश्चल स्थित हुआ समस्त परद्रव्य के निमित्त से जो विशेषरूप चैतन्य में चंचल कल्लोलें होतीं थीं, उनके निरोध से इस चैतन्यस्वरूप को ही अनुभव करता

ज्ञानदर्शनसमग्रः । गगनादिवत्पारमार्थिको वस्तुविशेषोऽस्मि तदहमधुनास्मिन्नेवात्मनि निखिलपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्त्या निश्चलमवतिष्ठमानः सकलपरद्रव्यनिमित्तकविशेषचेतनचञ्चलकल्लोलनिरोधेनेममेव चेतयमानः स्वाज्ञानेनात्मन्युत्प्लवमानानेतान् भावानखिलानेव क्षपयामीत्यात्मनि निश्चित्य चिरसंगृहीतमुक्तपोतपात्रः समुद्रावर्त्त इव झगित्येवोद्वान्तसमस्तविकल्पोऽकल्पितमचलितममलमात्मानमालम्बमानो विज्ञानघनभूतः खल्वयमात्मास्रवेभ्यो निवर्त्तते ॥७३॥

कथं ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वमिति चेत्–

जीवणिबद्धा एए अधुव अणिच्चा तहा असरणा य ।
दुक्खा दुक्खफलात्ति य णादूण णिवत्तए तेहिं ॥७४॥

जीवनिबद्धा एते अध्रुवा अनित्यास्तथा अशरणाश्च ।
दुःखानि दुःखफला इति च ज्ञात्वा निवर्त्तते तेभ्यः ॥७४॥

जतुपादपवद्वध्यघातकस्वभावत्वाज्जीवनिबद्धाः खल्वास्रवाः, न पुनरविरुद्धस्वभावत्वाभावाज्जीव एव । अपस्माररयवद्वर्द्धमानहीयमानत्वादध्रुवाः खल्वास्रवाः

कामक्रोधाद्यास्रवान् क्षयं विनाशं नयामि प्रापयामीत्यर्थः ॥७३॥ अथ यस्मिन्नेव काले स्वसंवेदनज्ञानं तस्मिन्नेव काले रागाद्यास्रवनिवृत्तिरिति समानकालत्वं दर्शयति;—एदे जीवणिवद्धा एते क्रोधाद्यास्रवा जीवेन सह निबद्धा सम्बद्धा औपाधिकाः । न पुनः निरुपाधिस्फटिकवच्छुद्धजीवस्वभावाः । अधुव विद्युच्चमत्कारवदध्रुवा अतीवक्षणिकाः । ध्रुवः शुद्धजीव एव । अणिच्चा शीतोष्णज्वरावेशवदध्रुवापेक्षया क्रमेण स्थिरत्वं न गच्छन्तीत्य-

हुआ अपने ही अज्ञान से आत्मा में उत्पन्न क्रोधादिक भावों को क्षय करता हूँ ऐसा आत्मा में निश्चय कर तथा जैसे बहुत काल का ग्रहण किया जो जहाज था, वह जिसने छोड़ दिया है, ऐसे समुद्र के भंवर की तरह शीघ्र ही दूर किये हैं समस्त विकल्प जिसने, ऐसा निर्विकल्प, अचलित, निर्मल आत्मा को अवलम्बन करता विज्ञानघन हुआ यह आत्मा आस्रवों से निवृत्त होता है ।

भावार्थ—शुद्धनय से ज्ञानी ने आत्मा का ऐसा निश्चय किया कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, परद्रव्य से निर्ममत्व हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण वस्तु हूँ, सो जब ऐसे अपने स्वरूप में स्थित होने से उसी का अनुभव रूप हो, तब क्रोधादिक आस्रवों का क्षय हो सकता है। जैसे समुद्र के आवर्त ने बहुत काल से जहाज को पकड़ रक्खा था, पीछे किसी काल में आवर्त पलटता है तब वह जहाज को छोड़ देता है; उसी प्रकार आत्मा आस्रवों को छोड़ देता है ॥७३॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञान होने का और आस्रवों की निवृत्ति का समकाल किस तरह है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं;–[एते] ये आस्रव [जीवनिबद्धाः] जीव के साथ निबद्ध हैं [अध्रुवाः] अध्रुव हैं [तथा] और [अनित्याः] अनित्य हैं [च] तथा [अशरणाः] अशरण हैं [दुःखानि] दुःखरूप

ध्रुवश्चिन्मात्रो जीव एव। शीतदाहज्वरावेशवत् क्रमेणोज्जृंभमाणत्वादनित्याः खल्वास्रवाः, नित्यो विज्ञानघनस्वभावो जीव एव। बीजनिर्मोक्षक्षणक्षीयमाणदारुणस्मरसंस्कारवत् त्रातुमशक्यत्वादशरणाः खल्वास्रवाः, सशरणः स्वयं गुप्तः सहजचिच्छक्तिर्जीव एव। नित्यमेवाकुलस्वभावत्वाद् दुःखानि खल्वास्रवाः, अदुःखं नित्यमेवानाकुलस्वभावो जीव एव। आयत्यामाकुलत्वोत्पादकस्य पुद्गलपरिणामस्य हेतुत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः, अदुःखफलः सकलस्यापि पुद्गलपरिणामस्याहेतु-

---

नित्या विनश्वराः नित्यश्चिच्चमत्कारमात्रशुद्धजीव एव। तह्वा असरणा य तथा तेनैव प्रकारेण तीव्रकामोद्रेकवत् त्रातुं धर्तुं रक्षितुं न शक्यन्त इत्यशरणाः सशरणो निर्विकारबोधस्वरूपः शुद्धजीव एव। दुक्खा आकुलत्वोत्पादकत्वाद् दुःखानि भवन्ति कामक्रोधाद्यास्रवाः अनाकुलत्वलक्षणत्वात्पारमार्थिकसुखस्वरूपः शुद्धजीव एव। दुक्खफलाणि य आगामिनारकादिदुःखफलकारणत्वाद् दुःखफलाः खल्वास्रवाः। वास्तवसुखफलस्वरूपशुद्धजीव

हैं [च] और [दुःखफलाः] जिनका फल दुःख ही है [इति ज्ञात्वा] ऐसा जान कर ज्ञानी पुरुष [तेभ्यः] उनसे [निवर्तते] निवृत्ति करता है।

टीका—ये आस्रव लाख और वृक्ष इन दोनों की तरह बध्यघातकस्वभाव हैं। जैसे पीपल आदि के वृक्ष में लाख उत्पन्न होती है, उससे वृक्ष बँध जाता है, बाद में उसके निमित्त से वृक्ष का नाश हो जाता है। इसी प्रकार जो बध्य-घातकस्वभावरूप से जीव के साथ बँधे हैं और विरुद्धस्वभाववाले हैं, इस कारण जीव ही नहीं हैं, ऐसे आस्रव हैं वे मृगी के वेग की तरह बढ़ते जाते हैं, फिर घटते हैं, इस प्रकार अध्रुव हैं, जीव तो चैतन्यभावमात्र है सो ध्रुव है। वे आस्रव शीतदाहज्वर के स्वभाव की तरह क्रम से उत्पन्न होते हैं इसलिये अनित्य हैं और जीव विज्ञानघन स्वभावे है इस कारण नित्य है। वे आस्रव अशरण हैं। जैसे कामसेवन में वीर्य[1] छूटता है, उस समय अत्यन्त काम का संस्कार क्षीण हो जाता है, किसी से नहीं रोका जाता, उसीप्रकार उदयकाल आने के बाद आस्रव झड़ जाते हैं, रोके नहीं जा सकते, इसलिये अशरण हैं, और जीव अपनी स्वाभाविक चिच्छक्तिरूप से आप ही रक्षारूप है इसलिये शरणसहित है। ये आस्रव सदा ही आकुलितस्वभाव को लिये हुए हैं इसलिये दुःखरूप हैं, और जीव सदा ही निराकुल स्वभावरूप है इस कारण सुखरूप है। आस्रव आगामी काल में आकुलता के उत्पन्न कराने वाले पुद्गल परिणाम के कारण हैं, इसलिये वे दुःखफलस्वरूप हैं और जीव समस्त पुद्गलपरिणाम का कारण नहीं हैं इसलिये दुःख फलस्वरूप नहीं हैं। ऐसा आस्रवों का और जीव का भेदज्ञान होने से जिसके कर्म का उदय शिथिल हो गया है और जैसे दिशा बादलों की रचना के अभाव होने से निर्मल हो जाती है उस भांति अमर्याद विस्तृत तथा स्वभाव से ही उदयमान हुई चिच्छक्तिरूप से जैसा जैसा विज्ञानघन स्वभाव होता है वैसा वैसा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है तथा जैसा जैसा आस्रवों से निवृत्त होता जाता है वैसा वैसा विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। उतना विज्ञानघनस्वभाव होता है जितना आस्रवों से सम्यक् निवृत्त होता है। तथा उतना आस्रवों से सम्यक् निवृत्त होता है, जितना सम्यक् विज्ञानघनस्वभाव होता है। इसप्रकार ज्ञान और आस्रवकी निवृत्ति के समकालता है।

---

१. वीर्यमित्यर्थः।

त्वाज्जीव एव। इति विकल्पानन्तरमेव शिथिलितकर्मविपाको विघटितघनौघघटनो दिगाभोग इव निरर्गलप्रसरः सहजविजृम्भमाणचिच्छक्तितया यथा यथा विज्ञानघनस्वभावो भवति तथा तथास्रवेभ्यो निवर्त्तते। यथा यथास्रवेभ्यश्च निवर्त्तते तथा तथा विज्ञानघनस्वभावो भवतीति। तावद्विज्ञानघनस्वभावो भवति यावत्सम्यगास्रवेभ्यो। निवर्त्तते। तावदास्रवेभ्यश्च निवर्त्तते यावत्सम्यग्विज्ञानघनस्वभावो भवतीति ज्ञानास्रवनिवृत्त्योः समकालत्वम् ॥७४॥

एव। णादूण णिवत्तदे देसु इति भेदविज्ञानान्नन्तरमेव इत्थम्भूतान्मिथ्यात्वरागाद्यास्रवान ज्ञात्वास्रवेभ्यो यस्मिन्नेव क्षणे मेघपटलरहितादित्यवन्निवर्त्तते तस्मिन्नेव क्षणे ज्ञानी भवतीति भेदज्ञानेन सहास्रवनिवृत्तेः समानकालत्वं सिद्धमिति। ननु पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं क्रियत इति पूर्वं प्रतिज्ञा कृता भवद्भिः व्याख्यानं पुनः अज्ञानिसंज्ञानिजीवस्वरूपमुख्यत्वेन कृतं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकाव्याख्यानं कथं घटत इति। तन्न। जीवाजीवौ यदि नित्यमेकान्तेनापरिणामिनौ भवतस्तदा द्वावेव पदार्थौ जीवाजीवाविति। यदि च एकान्तेन परिणामिनौ तन्मयौ भवतस्तदैक एव पदार्थः। किंतु कथञ्चित्परिणामिनौ भवतः। कथञ्चित्कोऽर्थः ? यद्यपि जीवः शुद्धनिश्चयेन स्वरूपं न त्यजति तथापि व्यवहारेण कर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति। यद्यपि रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति तथापि स्वरूपं न त्यजति स्फटिकवत्। तत्रैवं कथञ्चित्परिणामित्वे सति अज्ञानी वहिरात्मा मिथ्यादृष्टिर्जीवो विषयकषायरूपाशुभोपयोगपरिणामं करोति। कदाचित्पुनश्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं त्यक्त्वा भोगाकांक्षानिदानस्वरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। तदा काले द्रव्यभावरूपाणां पुण्यपापास्रवबन्धपदार्थानां कर्तृत्वं घटते। तत्र ये भावरूपाः पुण्यपापादयस्ते जीवपरिणामा ये द्रव्यरूपास्ते चाजीवपरिणामा इति। यः पुनः सम्यग्दृष्टिरन्तरात्मा स ज्ञानी जीवः स मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगवलेन निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा निर्विकल्पसमाधिरूपपरिणामपरिणतिं करोति तदा तेन परिणामेन संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां द्रव्यभावरूपाणां कर्ता भवति। कदाचित्पुनः निर्विकल्पसमाधिपरिणामाभावे सति विषयकषायवञ्चनार्थं शुद्धात्मभावनासाधनार्थम्वा [1]वहिर्बुद्धया ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षानिदानवन्धरहितः सन् शुद्धात्मलक्षणार्हत्सिद्धशुद्धात्माराधकप्रतिपादक-

---

भावार्थ—आस्रव और आत्मा का पूर्वकथितरीति से भेद जानने के बाद जितना अंश जिस जिसप्रकार आस्रवों से निवृत्त होता है उस उस प्रकार उतना अंश विज्ञानघनस्वभाव होता जाता है। जब समस्त आस्रवों से निवृत्त हो जाता है, तब सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव आत्मा होता है। ऐसे आस्रव की निवृत्ति का और ज्ञान के होने का एककाल जानना चाहिये। इस आस्रव का अभाव और संवर का होना गुणस्थानों की परिपाटीरूप तत्त्वार्थसूत्र की टीका आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में है वहां से जान लेना। यहाँ सामान्य प्रकरण है इसलिये सामान्यरूप से कहा है। और यहाँ विज्ञानघनस्वभाव होना कहा सो जहाँ तक मिथ्यात्व है वहाँ तक तो ज्ञान को अज्ञान कहा जाता है और मिथ्यात्व जाने के वाद अज्ञानसंज्ञा नहीं है, विज्ञानसंज्ञा है। वह ज्ञान कर्म के क्षय तथा क्षमोपशमकी अपेक्षा से हीन अधिक होता है सो जैसी जैसी आस्रवों की निवृत्ति होती है, वैसा वैसा ज्ञान वढ़ता जाता है; उसी का विज्ञान नाम कहा जाता है। थोड़ा ज्ञान मिथ्यात्व के बिना अज्ञान नहीं कहा जा सकता ॥

---

१. हेय वुद्ध्या इति पाठान्तरम्।

इत्येवं विरचय्य सम्प्रति परद्रव्यान्निवृत्तिं परां,
स्वं विज्ञानघनस्वभावमभयादास्तिघ्नुवानः परम्।
अज्ञानोत्थितकर्तृकर्मकलनात् क्लेशान्निवृत्तः स्वयं,
ज्ञानीभूत इतश्चकास्ति जगतः साक्षी पुराणः पुमान् ॥४८॥

साधकाचार्योपाध्यायसाधूनां गुणस्मरणादिरूपं शुभोपयोगपरिणामं च करोति। अस्मिन्नर्थे दृष्टान्तमाहुः। यथा कश्चिद्देवदत्तः स्वकीयदेशान्तरस्थितस्त्रीनिमित्तं तत्समीपागतपुरुषाणां सन्मानं करोति, वार्त्तां पृच्छति, तत्स्त्रीनिमित्तं तेषां स्वीकारं स्नेहदानादिकं च करोति। तथा सम्यग्दृष्टिरपि शुद्धात्मस्वरूपोपलब्धिनिमित्तं शुद्धात्माराधकप्रतिपादकाचार्योपाध्यायसाधूनां दानादिकं च स्वयं शुद्धात्माराधनारहितः सन् करोति। एवमज्ञानसज्ञानजीवस्वरूपव्याख्याने कृते सति पुण्यपापादिसप्तपदार्था जीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिर्वृत्ता इति पीठिकाव्याख्यानं घटते। नास्ति विरोधः। एवं सज्ञानजीवव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम्। इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थपीठिकाधिकारे गाथाषट्केन प्रथमान्तराधिकारो व्याख्यातः॥७४॥ अतः परं यथाक्रमेणैकादशगाथापर्यन्तं पुनरपि सज्ञान जीवस्य विशेषव्याख्यानं करोति। तत्रैकादशगाथासु मध्ये जीवः कर्त्ता मृत्तिकाकलशमिवोपादानरूपेण निश्चयेन कर्म नोकर्म च न करोतीति जानन् सन् शुद्धात्मानं स्वसम्वेदनज्ञानेन जानाति। यः ज्ञानी भवतीति कथनरूपेण 'कम्मस्स य परिणामं,' इत्यादिप्रथमगाथा। ततः परं पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोति निश्चयेन न करोतीति मुख्यत्वेन सूत्रमेकम्। अथ कर्मत्वं स्वपरिणामत्वं सुखदुःखादिकर्मफलं चात्मा जानन्नप्युदयागतपरद्रव्यं न करोतीति प्रतिपादनरूपेण 'णवि परिणमदि' इत्यादिगाथात्रयम्। तदनन्तरं पुद्गलोऽपि वर्णादिस्वपरिणामस्यैव कर्त्ता न च ज्ञानादिजीवपरिणामस्येति कथनरूपेण णवि परिणमदि' इत्यादिसूत्रमेकम्। अतः परं जीवपुद्गलयोरन्योन्यनिमित्तकर्तृत्वेऽपि सति परस्परोपादानकर्तृत्वं नास्तीति कथनमुख्यतया 'जीवपरिणाम' इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तरं निश्चयेन जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्चेति प्रतिपादनरूपेण 'णिच्छयणयस्स' इत्यादिसूत्रमेकम्। ततश्च व्यवहारेण जीवः पुद्गलकर्मणां कर्त्ता भोक्ता चेति कथनरूपेण 'ववहारस्सदु' इत्यादिसूत्रमेकम्। एवं ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिर्द्वितीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथ कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति—**कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ण करेदि एवमादा जो जाणदि** यथा मृत्तिका कलशमुपादानरूपेण करोति तथा कर्मणः नोकर्मणश्च परिणामं पुद्गलेनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं न करोत्यात्मेति यो जानाति **'सो हवदि णाणी'** स निश्चयशुद्धात्मानं परमसमाधिबलेन भावयन्सन् ज्ञानी भवति ॥७५॥ इति ज्ञानीभूतजीवलक्षणकथनरूपेण गाथा गता। अथ पुण्यपापादिपरिणामान् व्यवहारेण करोतीति प्ररूपयति—

कत्ता आदा भणिदो ण य कत्ता केण सो उवाएण।
धम्मादी परिणामे जो जाणदि सो हवदि णाणी॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप तथा आगे के कथन की सूचनारूप काव्य कहते हैं। इत्येवम् इत्यादि। अर्थ—इसके बाद पुराणपुरुष आत्मा जगत का साक्षीभूत, ज्ञाता, द्रष्टा आप ही ज्ञानी हुआ प्रकाशमान होता है। वह इस प्रकार है, पहले कही हुई रीति से परद्रव्य से उत्कृष्ट सब प्रकार निवृत्तिकर और विज्ञानघन स्वभावरूप केवल अपने आत्मा को निःशङ्क, आस्तिक्यभावरूप

कथमात्मा ज्ञानीभूतो लक्ष्यत इति चेत्—

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्स य तहेव परिणामं ।
ण करेइ एयमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ।।७५।।
कर्मणश्च परिणामं नोकर्मणश्च तथैव परिणामं ।
न करोत्येनमात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ।।७५।।

यः खलु मोहरागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणान्तरुत्प्लवमानं कर्मणः परिणामं स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दबन्धसंस्थानस्थौल्यसौक्ष्म्यादिरूपेण बहिरुत्प्लवमानं नोकर्मणः परिणामं च समस्तमपि परमार्थतः पुद्‌गलपरिणामपुद्‌गलयोरेव घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावात्पुद्‌गलद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन स्वयं व्याप्यमानत्वात्कर्मत्वेन क्रियमाणं पुद्‌गलपरिणामात्मनोर्घटकुम्भकारयोरिव व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धौ न नाम करोत्यात्मा । किन्तु परमार्थतः पुद्‌गलपरिणामज्ञानपुद्‌गलयोर्घटकुम्भकारवद्व्याप्यव्यापकभावाभावात् कर्तृकर्मत्वासिद्धावात्मपरिणामात्मनोर्घटमृत्तिकयोरिव व्याप्यव्यापकभावसद्भावादात्मद्रव्येण कर्त्रा स्वतन्त्रव्यापकेन स्वयं

कर्ता आत्मा भणितः न च कर्ता केन स उपायेन । धर्मादीन् परिणामान् यः जानाति स भवति ज्ञानी । कत्ता आदा भणिदो कर्त्तात्मा भणितः ण य कत्ता सो न च कर्त्ता भवति स आत्मा केण उवायेण केनाप्युपायेन नयविभागेन । केन नयविभागेनेति चेत्, निश्चयेन अकर्त्ता व्यवहारेण कर्त्तेति । कान् । धम्मादी परिणामे पुण्यपापादिकर्मजनितोपाधिपरिणामान् जो जाणदि सो हवदि णाणी ख्यातिपूजालाभादिसमस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधौ स्थित्वा यो जानाति स ज्ञानी भवति । इति निश्चयनयवहाराभ्यामकर्तृत्वकर्तृत्व-

---

स्थिरीभूत करता हुआ अज्ञान से हुई कर्ता-कर्म की प्रवृत्ति के अभ्यास से हुए क्लेशों से निवृत्त हुआ प्रकाशमान होता है।

यहां पूछते हैं कि ऐसा आत्मा ज्ञानी हुआ यह कैसे पहचाना जा सकता है उसके चिह्न कहने चाहिये ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं :—[यः] जो [आत्मा] जीव [एनम्] इस [कर्मणः परिणामं च] कर्म के परिणाम को [तथैव च] उसी भांति [नोकर्मणः परिणामम्] नोकर्म के परिणाम को [न करोति] नहीं करता है परंतु [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है ।

टीका—निश्चय से मोह, राग, द्वेष, सुख दुःख आदि स्वरूप से अन्तरङ्ग में उत्पन्न होने वाला कर्म का परिणाम और स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द, वन्ध, संस्थान, स्थौल्य, सूक्ष्म आदि रूप से बाहर उत्पन्न होने वाला नोकर्म का परिणाम है। इस प्रकार ये सभी परमार्थ से पुद्गल परिणाम के और पुद्गल के ही हैं। जैसे घड़े के और मिट्टी के व्याप्य-व्यापक भाव के सद्भाव से कर्ता-कर्मपना है, उसी प्रकार वे पुद्गल द्रव्य से स्वतन्त्र व्यापक कर्ता होकर किये गये हैं और वे आप अन्तरङ्ग व्यापकरूप होकर व्याप्त हैं इस कारण पुद्गल के कर्म हैं। परन्तु पुद्गल परिणाम और आत्मा का घट और कुम्हार की तरह व्याप्यव्यापक रूप नहीं है इसलिये कर्ता कर्मत्व की असिद्धि है। इसीकारण कर्म नोकर्म परिणाम को आत्मा नहीं करता। किन्तु यह विशेषता है कि परमार्थ

व्याप्यमानत्वात्पुद्गलपरिणामज्ञानं कर्मत्वेन कुर्वन्तमात्मानं जानाति सोऽत्यन्तविविक्तज्ञानीभूतो ज्ञानी स्यात् । न चैवं ज्ञातुः पुद्गलपरिणामो व्याप्यः पुद्गलात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकसम्बन्धव्यवहारमात्रे सत्यपि पुद्गलपरिणामनिमित्तकस्य ज्ञानस्यैव ज्ञातुर्व्याप्यत्वात् ॥७५॥

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि,
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दंस्तमो,
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ॥४९॥

कथनरूपेण गाथा गता । अथ पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति निरूपयति—पुग्गलकम्मं अणेयविहं कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं जाणंतो वि हु विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं सः । कः कर्ता, णाणी सहजानन्दै-

---

से पुद्गलपरिणाम का ज्ञान के और पुद्गल के घट और कुम्हार की तरह व्याप्यव्यापकभाव के अभाव से कर्तृ-कर्मत्व की सिद्धि न होने पर आत्मपरिणाम के और आत्मा के घट मृतिका की तरह व्याप्यव्यापकभाव के सद्भाव से आत्मद्रव्य कर्ता ने आप स्वतंत्र व्यापक होकर ज्ञाननामककर्म किया है इसलिये वह ज्ञान आप ही आत्मा से व्याप्यरूप होकर कर्मरूप हुआ है; इसीकारण पुद्गल परिणाम के ज्ञान को कर्मरूप से कर्ता आत्मा उसे आप जानता है । ऐसा आत्मा पुद्गल परिणामरूप कर्म नोकर्म से अत्यन्त भिन्न ज्ञानी हुआ ज्ञानी ही है । कर्ता नहीं है । ऐसा होने पर ज्ञाता पुरुष के पुद्गलपरिणाम व्याप्यस्वरूप नहीं हैं क्योंकि पुद्गल और आत्मा का ज्ञेयज्ञायकसम्बन्ध व्यवहारमात्र से होता हुआ भी जिसको पुद्गल परिणाम निमित्त है ऐसा पुद्गलपरिणाम का ज्ञान वही ज्ञाता के व्याप्य है । इसलिये वह ज्ञान ही ज्ञाता का कर्म है ।

अब इसी अर्थ के समर्थन का कलशरूप काव्य कहते हैं । व्याप्य इत्यादि । अर्थ—व्याप्यव्यापकता तत्स्वरूप के ही होती है अतत्स्वरूप में नहीं होती और व्याप्य-व्यापक भाव के संभव विनाकर्ता कर्म की स्थिति कुछ भी नहीं है ऐसे उदार विवेकरूप और समस्त को ग्रासीभूत करने का स्वभाव जिसका है ऐसे ज्ञान स्वरूप प्रकाश के भार से अज्ञानरूप अन्धकार को भेदता हुआ यह आत्मा ज्ञानी होकर उस समय कर्तृत्व से रहित हुआ भासता है ।

भावार्थ—जो सब अवस्थाओं में व्याप्त हो वह तो व्यापक है और अवस्था के विशेष हैं वे व्याप्य हैं । ऐसा होने पर द्रव्य तो व्यापक है सो द्रव्यपर्याय अभेदरूप ही हैं । जो द्रव्य का आत्मा है वही पर्याय का आत्मा है ऐसा व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं होता । ऐसा सिद्ध होता है कि व्याप्यव्यापकभाव के विन कर्ता कर्म भाव नहीं होता, इस प्रकार जो जानता है । वह पुद्गल के और आत्मा के कर्तृकर्मभाव को नहीं करता, तभी ज्ञानी होता है । कर्तृकर्मभाव से रहित होकर ज्ञाता द्रष्टा जगत् का साक्षीभूत होता है ।

पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमइ ण गिह्णइ उप्पज्जइ ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥७६॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥७६॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं पुद्गलपरिणामं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते । च ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य पुद्गलकर्म जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७६।

कस्वभावनिजशुद्धात्मरागाद्यास्रवयोर्भेदज्ञानी णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये तत्पूर्वोक्तं परद्रव्यपर्यायरूपं कर्म निश्चयेन मृत्तिकाकलशरूपेणेव न परिणमति न तादात्म्यरूपतया गृह्णाति न च तदाकारेणोत्पद्यते । कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धाभावात् । तत एतदायाति पुद्गलकर्म जानतो जीवस्य पुद्गलेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥७६॥ अथ स्वपरिणामं सङ्कल्पविकल्परूपं जानतो जीवस्य तत्परिणामनिमित्तेनोदयागतकर्मणा सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्तीति दर्शयति—सगपरिणामं अणेयविहं क्षायोपशमिकं संकल्प-विकल्परूपं स्वेनात्मनोपादानकारणभूतेन क्रियमाणं

आगे पूछते हैं कि जो जीव पुद्गलकर्म को जानता है, उसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं है ? उसका उत्तर कहते हैं,—[ज्ञानी] ज्ञानी [अनेकविधम्] अनेकप्रकार [पुद्गलकर्म] पुद्गलद्रव्य के पर्यायरूप कर्मों को [जानन् अपि] जानता है तो भी [खलु] निश्चय से [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य के पर्यायों में [न परिणमति] उन स्वरूप परिणमन नहीं करता [न गृह्णाति] ग्रहण भी नहीं करता और [न उत्पद्यते] उनमें उत्पन्न भी नहीं होता ।

टीका—यह ज्ञानी पुद्गल के परिणामस्वरूप कर्म को जानता है । कर्म का स्वरूप सामान्य रूप से तीन प्रकार है—प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य । सिद्ध हुए को ग्रहण करना प्राप्य है, वस्तु की अवस्था पलटना विकाररूप होना विकार्य है, और जो अवस्था पहले तो नहीं थी फिर उत्पन्न हो उसे निर्वर्त्य कहते हैं । ऐसा कर्म का स्वरूप है । वह पुद्गल का परिणाम तीनों ही स्वरूप से पुद्गलद्रव्य के द्वारा व्याप्त होने योग्य है सो पुद्गल द्रव्य आप अन्तर्व्यापक होता हुआ आदि, मध्य और अन्त तीनों भावों में व्याप्त होकर उसको ग्रहण करता है, उस रूप परिणमन करता है, उस स्वरूप से उपजता है, इस प्रकार वह परिणाम पुद्गल द्रव्य के द्वारा ही किया गया है, ऐसे को

स्वपरिणामं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवति इति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
णाणी जाणंतो वि हु सगपरिणामं अणेयविहं ॥७७॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
ज्ञानी जानन्नपि खलु स्वकपरिणाममनेकविधम् ॥७७॥

यतो यं प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणमात्मपरिणामं कर्म आत्मना स्वयमेन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तं गृह्णता तथा परिणमता तथोत्पद्य-

---

स्वपरिणाममनेकविधं णाणी जाणंतो वि हु निर्विकारस्वसम्वेदनज्ञानी जीवः स्वपरमात्मनो विशिष्टभेदज्ञानेन जानन्नपि हु स्फुटं णवि परिणमदि ण गिण्हदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये तस्य पूर्वोक्तस्वकीयपरिणामस्य निमित्तभूतमुदयागतं पुद्गलकर्मपर्यायरूपं मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनिश्चयनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन

ज्ञानी जानता है तो भी आप उसमें अन्तर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को आदि मध्य और अन्त में व्याप्त कर उस रूप नहीं परिणमन करता, उसको आप ग्रहण नहीं करता और उसमें उपजता भी नहीं है। जैसे मिट्टी घटरूप होती है, उसको ग्रहण करती है और उसको उपजाती है, यह उसप्रकार नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो प्राप्य, विकार्य, निर्वर्त्य स्वरूप व्याप्यलक्षण परद्रव्य का परिणामस्वरूप कर्म है उसे नहीं करता किन्तु उसे जानता हुआ जो ज्ञानी उसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है।

भावार्थ—पुद्गलकर्म को जीव जानता है तो भी उसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है। क्योंकि कर्म तीन प्रकार से कहा जाता है। जिस परिणामरूप आप परिणमे, वह परिणाम-प्राप्य, आप किसी को ग्रहण करे, वह वस्तु-विकार्य। किसी को आप उत्पन्न करे वह कार्य—निर्वर्त्य। ऐसे तीनों ही तरह से जीव अपने से भिन्न पुद्गलद्रव्यरूप परमार्थ से नहीं परिणमन करता, क्योंकि आप चेतन है, पुद्गल जड़ है, चेतन जड़रूप नहीं परिणमन करता पुद्गल को ग्रहण भी परमार्थ से नहीं करता क्योंकि पुद्गल मूर्तिक है आप अमूर्तिक है, अमूर्तिक का ग्रहण योग्य नहीं है। तथा पुद्गल को आप परमार्थ से उत्पन्न भी नहीं करता। क्योंकि चेतन जड़ को किस प्रकार उपजा सकता है? इस प्रकार पुद्गल जीव का कर्म नहीं है और जीव उसका कर्ता नहीं है। जीव का स्वभाव ज्ञाता है, वह आप ज्ञानरूप परिणमन करता हुआ उसको जानता है। ऐसे जानने वाले का पर के साथ कर्तृकर्मभाव कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता ॥७६॥

आगे पूछते हैं कि अपने परिणामों को जानता हुआ जो जीव उसका पुद्गल के साथ कर्तृ-कर्मभाव है, या नहीं? उसका उत्तर कहते हैं;—[ज्ञानी] ज्ञानी [स्वकपरिणामं] अपने परिणामों को [अनेकविधम्] अनेक प्रकार [जानन् अपि] जानता हुआ भी [खलु] निश्चयसे [परद्रव्यपर्याये] परद्रव्य के पर्याय में [नापि परिणमति] न तो परिणत होता है [न गृह्णाति] न उसको ग्रहण करता है [न उत्पद्यते] और न उपजता है (इसलिये उसके साथ कर्तृकर्मभाव नहीं हैं)।

मानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च। ततः प्राप्यं, विकार्यं, निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य स्वपरिणामं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्गलेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७७

पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य सह पुद्गलेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए।
णाणी जाणंतो वि हु पुग्गलकम्मफलमणंतं ॥७८॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये।
ज्ञानी जानन्नपि खलु पुद्गलकर्मफलमनन्तम् ॥७८॥

यतो यं प्राप्यं, विकार्यं, निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं सुखदुःखादिरूपं पुद्गलकर्मफलं कर्म पुद्गलद्रव्येण स्वयमन्तर्व्यापकेन भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तद्गृह्णता

गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मात् मृत्तिकाकलशयोरिव तेन पुद्गलकर्मणा सह परस्परोपादानकरणाभावादिति। एतावता किमुक्तं भवति स्वकीयक्षायोपशमिकपरिणामनिमित्तमुदयागतं कर्म जानतोऽपि जीवस्य तेन सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति ॥७७॥ अथ पुद्गलकर्मफलं जानतो जीवस्य पुद्गलकर्मफलनिमित्तेन द्रव्यकर्मणा सह निश्चयेन कर्तृकर्मभावो नास्तीति कथयति,—पुग्गलकम्मफलमणंतं उदयागतद्रव्यकर्मणो-

---

टीका—जिस कारण यह ज्ञानी, प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य इस प्रकार जिनका लक्षण व्याप्य है ऐसे तीन प्रकार कर्म आत्मा के अपने परिणाम ही हैं उसे अपने आप स्वयं अन्तर्व्यापक होकर आदि मध्य और अन्त में व्याप्य कर उन्हीं को ग्रहण करता है, उन्हीं रूप परिणमन करता है, उन्हीं रूप उत्पन्न होता है। इस प्रकार उसी अपने परिणामरूप कर्म को करता है। उसको आप जानता हुआ भी बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को 'जैसे मिट्टी कलशको व्याप्त होकर करती है' उसी प्रकार. आप उस परद्रव्य के परिणाम में आदि मध्य, अन्त में व्याप्त होकर न तो उसे ग्रहण करता है, न उस रूप परिणमन करता है और न उस प्रकार उपजता है। इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य तीन प्रकार के व्याप्यलक्षण परद्रव्य के परिणामरूपकर्म को करने वाला ज्ञानी अपने परिणाम को जानता हुआ प्रवृत्त होता है। उसका पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है।

आगे पूछते हैं कि पुद्गलकर्म के फल को जानते हुए जीव का पुद्गल के साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं ? उसका उत्तर कहते हैं;—(ज्ञानी) ज्ञानी (अनन्तम्) अनन्त (पुद्गलकर्मफलम्) पुद्गल कर्म के फलों को (जानन् अपि) जानता हुआ प्रवृत्त होता है तो भी (खलु) निश्चय से (परद्रव्यपर्याये) परद्रव्य के पर्याय में (नापि) नहीं (परिणमति) परिणमन करता है (न गृह्णाति) उसमें कुछ ग्रहण नहीं करता तथा (न उत्पद्यते) उसमें उपजता भी नहीं है। इस प्रकार उसमें इसके कर्तृकर्मभाव नहीं है।

तथा परिणमता तथोत्पद्यमानेन च क्रियमाणं जानन्नपि हि ज्ञानी स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वा बहिःस्थस्य परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च[1]। ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य सुखदुःखादिरूपं पुद्‌गलकर्मफलं जानतोऽपि ज्ञानिनः पुद्‌गलेन[2] सह न कर्तृकर्मभावः ॥७८॥

पादानकारणभूतेन क्रियमाणं सुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्षयानन्तकर्मफलं णाणी जाणंतो वि हु वीतरागशुद्धात्मसम्वित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसतृप्तो भेदज्ञानी निर्मलविवेकभेदज्ञानेन जानन्नपि हि स्फुटं ण परिणमदि ण गिह्णदि ण उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाये वर्त्तमानसुखदुःखरूपं शक्त्यपेक्षानिमित्तमुदयागतं परपर्यायरूपं पुद्‌गलकर्म मृत्तिकाकलशरूपेणेव शुद्धनयेन न परिणमति न तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायेणोत्पद्यते च। कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव तेन द्रव्यकर्मणा सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावादिति। किं च विशेषः। यदि पुद्‌गलद्रव्यकर्मरूपेण न परिणमति न गृह्णाति न तदाकारेणोत्पद्यते तर्हि किं करोति ज्ञानी जीवः, मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धशल्यादिविभावपरिणामकर्तृत्वभोक्तृत्वविकल्पशून्यं पूर्णकलशवच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधौ ध्यायतीति भावार्थः ॥७८॥ एवमात्मा निश्चयेन द्रव्यकर्मादिकं परद्रव्यं न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्। अथ जीवपरिणामं, स्वपरिणामं, स्वपरिणामफलं च जडस्वभावत्वादजानतः पुद्‌गलस्य निश्चयेन जीवेन सह कर्तृकर्मभावो नास्तीति प्रतिपादयति—णवि परिणमदि ण गिह्णदि ण उपज्जदि ण परदव्वपज्जाए यथा जीवो निश्चयेनानन्तसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा पुद्‌गलद्रव्यरूपेण न परिणमति न च तन्मयत्वेन गृह्णाति न तत्पर्यायरूपेणोत्पद्यते। पुग्गलदव्वं पि तहा तथा पुद्‌गलद्रव्यमपि स्वयमन्तर्व्यापकं भूत्वा मृत्तिकाद्रव्यकलशरूपेणेव चिदानन्दैकलक्षणजीवस्वरूपेण न परिणमति न च जीवस्वरूपं तन्मयत्वेन गृह्णाति न च जीवपर्यायेणोत्पद्यते। तर्हि किं करोति

टीका—जिसकारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे जिनका लक्षण व्याप्त है ऐसा तीन प्रकार का सुखदुःखादिरूप पुद्‌गलकर्म का फल उसे पुद्‌गलद्रव्य ने अन्तर्व्यापक होकर, आदि मध्य, अन्त में व्याप्त होकर ग्रहण करता हुआ, उसी प्रकार परिणमन करता हुआ तथा उसीप्रकार उत्पन्न होता हुआ उसे जानता यह ज्ञानी, आप अन्तर्व्यापक होकर बाह्य स्थित परद्रव्य के परिणाम को मिट्टी और घड़े की भांति आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता, उस प्रकार परिणमन भी नहीं करता तथा उसप्रकार उत्पन्न भी नहीं होता ? प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य रूप व्याप्य लक्षण अपने स्वभावरूप कर्म को आप अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त उसी को ग्रहण करता है, उसी प्रकार परिणमता है और उसीप्रकार उत्पन्न होता है। इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य रूप व्याप्य लक्षण परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को नहीं करता सुखदुःखरूपकर्म के फल को जानता है तो भी ज्ञानी के पुद्‌गल के साथ कर्तृकर्मभाव नहीं है ॥७८॥

---

१. किन्तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणस्वभावं कर्म स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वाऽऽदिमध्यान्तेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति, तथैव परिणमति, तथैवोत्पद्यते च इति अधिकः पाठः, दिल्ली, नया-मन्दिर प्रतौ।

२. पुद्‌गलफलेन इति पाठान्तरम्।

जीवपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य सह जीवेन कर्तृकर्मभावः किं भवति, किं न भवतीति चेत्—

णवि परिणमदि ण गिह्णदि उप्पज्जदि ण परदव्वपज्जाए ।
पुग्गलदव्वं पि तहा परिणमइ सएहिं भावेहिं ॥७९॥

नापि परिणमति न गृह्णात्युत्पद्यते न परद्रव्यपर्याये ।
पुद्गलद्रव्यमपि तथा परिणमति स्वकैर्भावैः ॥७९॥

यतो जीवपरिणामं स्वपरिणामफलं चाप्यजानत् पुद्गलद्रव्यं स्वयमन्तर्व्यापकं भूत्वा परद्रव्यस्य परिणामं मृत्तिकाकलशमिवादिमध्यान्तेषु व्याप्य न तं गृह्णाति न तथा परिणमति न तथोत्पद्यते च । किन्तु प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं स्वभावं कर्म स्वयमन्तर्व्यापकं भूत्वादिमध्यान्तेषु व्याप्य तमेव गृह्णाति तथैव परिणमति तथैवोत्पद्यते च । ततः प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च व्याप्यलक्षणं परद्रव्यपरिणामं कर्माकुर्वाणस्य जीवपरिणामं स्वपरिणामं स्वपरिणामफलं चाजानतः पुद्गलद्रव्यस्य जीवेन सह न कर्तृकर्मभावः ॥७९॥

परिणमइ सएहिं भावेहिं परिणमति स्वीकीयैर्वर्णादिस्वभावैः परिणामैर्गुणैर्धर्मैरिति । कस्मादिति चेत्, मृत्तिकाकलशयोरिव जीवेन सह तादात्म्यलक्षणसम्बन्धाभावादिति ॥७९॥ एवं पुद्गलद्रव्यमपि जीवेन सह

यहां पूछते हैं कि जीव के परिणाम को तथा अपने परिणाम को और अपने परिणाम के फल को नहीं जानता, ऐसे पुद्गलद्रव्य का जीव के साथ कर्तृकर्मभाव है या नहीं उसका उत्तर कहते हैं;—[पुद्गलद्रव्यम् अपि] पुद्गल द्रव्य भी [परद्रव्ये पर्याये] परद्रव्य के पर्याय में [तथा] उस प्रकार [नापि] नहीं [परिणमति] परिणमन करता है, [न गृह्णाति] उसको ग्रहण भी नहीं करता और [न उत्पद्यते] न उत्पन्न होता है क्योंकि [स्वकैः भावैः] अपने भावों से ही [परिणमति] परिणमन करता है ।

टीका—जिसकारण पुद्गलद्रव्य जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को न जानता हुआ वर्तता है । परद्रव्य के परिणामरूप कर्म को मृत्तिकाकलश की तरह आप अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में व्याप्त कर नहीं ग्रहण करता उसी प्रकार परिणमन भी नहीं करता है तथा उत्पन्न भी नहीं होता है परन्तु प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य रूप व्याप्त लक्षण अपने स्वभावरूप कर्म को अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में व्याप्य उसी को ग्रहण करता है, उसी प्रकार परिणत होता है तथा उसीप्रकार उपजता है । इस कारण प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य रूप व्याप्य लक्षण परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को न करता हुआ पुद्गलद्रव्य जीव के परिणाम को, अपने परिणाम को तथा अपने परिणाम के फल को नहीं जानता, उसका जीव के साथ कर्तृकर्म-भाव नहीं है ।

ज्ञानी जानन्नपीमां स्वपरपरिणतिं पुद्‌गलश्चाप्यजानन्,
व्याप्तृव्याप्यत्वमन्तः कलयितुमसहौ नित्यमत्यन्तभेदात् ।
अज्ञानात्कर्तृकर्मभ्रममतिरनयोर्भाति तावन्न यावत्,
विज्ञानार्चिश्चकास्ति क्रकचवददयं भेदमुत्पाद्य सद्यः ॥५०॥

न परिणमतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथा गता । अथ यद्यपि जीवपुद्‌गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि निश्चयनयेन तयोर्न कर्तृकर्मभावं इत्यावेदयति—जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति तथा कुम्भकारनिमित्तेन मृत्तिका घटरूपेण परिणमति तथा जीवसम्बन्धिमिथ्यात्वरागादिपरिणामहेतुं लब्ध्वा कर्मवर्गणायोग्यं पुद्‌गलद्रव्यं कर्मत्वेन परिणमति पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि यथैव च घटनिमित्तेन एवं करोमीति कुम्भकारः परिणमति तथैवोदयागतपुद्‌गलकर्महेतुं लब्ध्वा जीवोऽपि निर्विकारचिच्चमत्कारपरिणतिमलभमानः सन् मिथ्यात्वरागादिविभावेन परिणमतीति । अथ—णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो यद्यपि परस्परनिमित्तेन परिणमति तथापि निश्चयनयेन जीवो वर्णादिपुद्‌गलकर्मगुणान्न करोति । कम्मं तहेव जीवगुणे कर्म च तथैवानन्तज्ञानादिजीवगुणान्न करोति अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि यद्यप्युपादानरूपेण न करोति तथाप्यन्योन्यनिमित्तेन घटकुम्भकारयोरिव परिणामं जानीहि द्वयोरपि जीवपुद्‌गलयोरिति । अथ एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण एतेन कारणेन पूर्वसूत्रद्वयव्याख्यानरूपेण तु निर्मलात्मानुभूतिलक्षणपरिणामेन शुद्धोपादानकारणभूतेनाव्याबाधानन्तसुखादिशुद्धभावानां कर्ता। तद्विलक्षणेनाशुद्धोपादानकारणभूतेन रागाद्यशुद्धभावानां कर्ता भवत्यात्मा । कथं ? यथा मृत्तिकाकलशस्येति पुग्गलकम्मक-

---

भावार्थ—यदि कोई माने कि पुद्‌गल जड़ है वह किसी को जानता नहीं, अतः उसका जीव के साथ कर्तृकर्मभाव हो जायगा किन्तु यह बात नहीं है । परमार्थ से परद्रव्य के साथ किसी के कर्तृकर्मभाव नहीं है ।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं । ज्ञानी इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी तो अपनी और पर की दोनों की परिणति को जानता हुआ प्रवृत्त होता है तथा पुद्‌गल द्रव्य अपनी और पर की दोनों ही परिणतियों को नहीं जानता हुआ प्रवृत्त है इसलिये वे दोनों परस्पर अन्तरङ्ग व्याप्य व्यापक भाव को प्राप्त होने में असमर्थ हैं क्योंकि दोनों भिन्न द्रव्य हैं सदाकाल उनमें अत्यन्त भेद है । ऐसा होने पर इनके कर्तृकर्मभाव मानना भ्रमबुद्धि है । यह जब तक इन दोनों में करोंत की तरह निर्दय होकर उसीसमय भेद को उपजाकर भेदज्ञानप्रकाश वाला ज्ञान प्रकाशित नहीं होता, यह तभी तक है ।

भावार्थ—भेदज्ञान होने के बाद पुद्‌गल और जीव के कर्तृकर्मभाव की बुद्धि नहीं रहती क्योंकि जब तक भेदज्ञान नहीं होता, तभी तक अज्ञान से कर्तृकर्मभाव की बुद्धि है ।

अब कहते हैं कि जीव के परिणाम में और पुद्‌गल के परिणाम में परस्पर निमित्तमात्रता है तो भी उन दोनों में कर्तृकर्म तो है ही नहीं;—[पुद्‌गलाः] पुद्‌गल [जीवपरिणामहेतुं] जिसको जीव के परिणाम निमित्त हैं ऐसे [कर्मत्वम्] कर्मत्वरूप [परिणमन्ति] परिणमन करते हैं [तथैव]

जीवपुद्गलपरिणामयोरन्योन्यनिमित्तमात्रत्वमस्ति तथापि न तयोः कर्तृकर्मभाव इत्याह—

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥
णवि कुव्वइ कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे ।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोह्णंपि ॥८१॥
एएण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण ।
पुग्गलकम्मकयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८२॥ (त्रिकलम्)

जीवपरिणामहेतुं कर्मत्वं पुद्गलाः परिणमन्ति ।
पुद्गलकर्मनिमित्तं तथैव जीवोऽपि परिणमति ॥८०॥
नापि करोति कर्मगुणान् जीवः कर्म तथैव जीवगुणान् ।
अन्योन्यनिमित्तेन तु परिणामं जानीहि द्वयोरपि ॥८१॥
एतेन कारणेन तु कर्ता आत्मा स्वकेन भावेन ।
पुद्गलकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानाम् ॥८२॥

यतो जीवपरिणामं निमित्तीकृत्य पुद्गलाः कर्मत्वेन परिणमन्ति पुद्गलकर्मनिमित्तीकृत्य जीवोऽपि परिणमतीति जीवपुद्गलपरिणामयोरितरेतरहेतुत्वोपन्यासेऽपि

दाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं पुद्गलद्रव्यकर्मकृतानां न तु कर्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मपर्यायाणामिति । एवं जीवपुद्गलपरस्परनिमित्तकारणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥८०॥८१॥८२॥ अथ तत एतदायाति–जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह निश्चयनयेन कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च भवति;—णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि यथा यद्यपि समीरो निमित्तं भवति तथापि निश्चयनयेन पारावार

उसीप्रकार [जीवः अपि] जीव भी [पुद्गलकर्मनिमित्तं] जिसको पुद्गलकर्मनिमित्त है ऐसे कर्मत्वरूप [परिणमति] परिणमन करता है। [जीवः] जीव [कर्मगुणान्] कर्म के गुणों को [नापि] नहीं [करोति] करता [तथैव] उसी भांति [कर्म] कर्म [जीवगुणान्] जीव के गुणों को नहीं करता। [तु] किंतु [द्वयोरपि] इन दोनों के [अन्योन्यनिमित्तेन] परस्पर निमित्तमात्र से [परिणामम्] परिणाम [जानीहि] जानो [एतेन कारणेन तु] इसीकारण से [स्वकेन भावेन] अपने भावों से [आत्मा] आत्मा [कर्ता] कर्ता कहा जाता है [तु] परन्तु [पुद्गलकर्मकृतानाम्] पुद्गल कर्म से किये गये [सर्वभावानाम्] सब भावों का [कर्ता न] कर्ता नहीं है।

जीवपुद्गलयोः परस्परं व्याप्यव्यापकभावाभावाज्जीवस्य[1] पुद्गलपरिणामानां पुद्गलकर्मणोऽपि जीवपरिणमानां कर्तृकर्मत्वासिद्धौ निमित्तनैमित्तिकभावमात्रस्याप्रतिषिद्धत्वादितरेतरनिमित्तमात्रीभवनेनैव द्वयोरपि परिणामः। ततः कारणान्मृत्तिकया कलशस्येव स्वेन भावेन स्वस्य भावस्य करणाज्जीवः स्वभावस्य कर्त्ता कदाचित्स्यात्। मृत्तिकया वसनस्येव स्वेन परभावस्य कर्तुमशक्यत्वात्पुद्गलभावानां तु कर्त्ता न कदाचिदपि स्यादिति निश्चयः। ततःस्थितमेतज्जीवस्य स्वपरिणामैरेव सह कर्तृकर्मभावो भोक्तृभोग्यभावश्च ॥८०॥८१॥८२॥

एवं कल्लोलान् करोति परिणमति च। एवं यद्यपि द्रव्यकर्मोदयासद्भावसद्भावात् शुद्धाशुद्धभावयोर्निमित्तं भवति तथापि निश्चयेन निर्विकारपरमस्वसंवेदनज्ञानपरिणतः केवलज्ञानादिशुद्धभावान् तथैवाशुद्धपरिणतस्तु सांसारिकदुःखाद्यशुद्धभावांश्चोपादानरूपेणात्मैव करोति। अत्र परिणामानां परिणमनमेव कर्तृत्वं ज्ञातव्यमिति। न केवलं करोति वेदयति पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं वेदयत्यनुभवति भुंक्ते परिणमति पुनश्च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखरूपेण शुद्धोपादानेन तदेव शुद्धात्मानमशुद्धोपादानेनाशुद्धात्मानं च। स कः कर्त्ता? आत्मेति जानीहि। एवं निश्चयकर्तृत्वभोक्तृत्वव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥८३॥ अथ लोकव्यवहारं दर्शयति—ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं यथा लोके यद्यपि मृत्पिण्ड उपादानकारणं तथापि, कुम्भकारो घटं करोति तत्फलं च जलधारणमूल्यादिकं भुङ्क्तइति लोकानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः। तथा यद्यपि कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यमुपादानकारणभूतं तथापि व्यवहारनयस्याभिप्रायेणात्मा पुद्गलकर्मानेकविधं मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं करोति तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं तथैव च तदेवोदयागतं पुद्गलकर्मानि-

---

टीका—जिसकारण जीव परिणाम को निमित्तमात्र करके पुद्गल कर्म भाव से परिणमन करते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्तमात्र कर जीव भी परिणमन करता है। ऐसे जीव के परिणाम का तथा पुद्गल के परिणाम का परस्पर हेतुत्व का स्थापन होने पर भी जीव और पुद्गल के परस्पर व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव से जीव के तो पुद्गल परिणामों का और पुद्गलकर्म के जीव के परिणामों के कर्ताकर्मपने की असिद्धि होने पर निमित्तनैमित्तिकभावमात्र का निषेध नहीं है क्योंकि परस्पर निमित्तमात्र होने से ही दोनों का परिणाम है। इस कारण मृत्तिका के कलश की तरह अपने भाव द्वारा अपने भाव के करने से जीव अपने भाव का कर्ता सदाकाल होता है। तथा मृत्तिका जैसे कपड़े की कर्त्ता नहीं है, वैसे अपने भाव द्वारा परके भावों के करने की-असमर्थता से पुद्गल के भावों का तो कर्त्ता कभी नहीं है ऐसा निश्चय है।

भावार्थ—जीव और पुद्गल परिणामों की परस्परनिमित्तमात्रता है तो भी परस्पर कर्तृ-कर्मभाव नहीं है। पर के निमित्त से जो अपने भाव हुए थे, उनका कर्ता तो उसे अज्ञानदशा में कदाचित् कह भी सकते हैं, लेकिन परभाव का कर्त्ता कभी नहीं हो सकता ॥८०॥८१॥८२॥

---

१. जीव परिणामस्य इत्यर्थः।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८३॥
निश्चयनयस्यैवमात्मात्मानमेव हि करोति।
वेदयते पुनस्तं चैव जानीहि आत्मा त्वात्मानम् ॥८३॥

यथोत्तरङ्गनिस्तरङ्गवस्थयोः समीरसञ्चरणासञ्चरणनिमित्तयोरपि समीरपारावारयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ पारावार एव स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषूत्तरङ्गनिस्तरङ्गावस्थे व्याप्योत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्। यथा स एव च भाव्यभावकभावाभावात्परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वादुत्तरङ्गनिस्तरङ्गत्वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभाति न पुनरन्यत्। तथा ससंसारनिःसंसारावस्थयोः पुद्गलकर्मविपाक-

---

कविधं इष्टानिष्टपञ्चेन्द्रियविषयरूपेण वेदयति अनुभवति इत्यज्ञानिनां निर्विषयस्वशुद्धात्मोपलम्भसञ्जातसुखामृतरसास्वादरहितानामनादिरूढोऽस्ति व्यवहारः ॥८४॥ एवं व्यवहारेण सुखदुःखकर्तृत्वभोक्तृत्वकथनमुख्यतया गाथा गता। इति ज्ञानिजीवस्य विशेषव्याख्यानरूपेणैकादशगाथाभिर्द्वितीयान्तराधिकारो व्याख्यातः।

यहाँ कहते हैं कि इस हेतु से यह सिद्ध हुआ कि जीव का अपने परिणामों के ही साथ कर्तृकर्मभाव और भोक्तृयोग्यभाव है—(निश्चयनयस्य) निश्चय का (एवम्) यह मत है कि (आत्मा) आत्मा (आत्मानम् एव हि) अपने को ही (करोति) करता है (तु पुनः) फिर (आत्मा) वह आत्मा (तं चैव आत्मानम्) अपने को ही (वेदयते) भोगता है ऐसा तूं (जानीहि) तूं जान।

टीका—जैसे पवन का चलना और न चलना जिनको निमित्त है, ऐसी समुद्र की तरङ्गों का उठना और विलय होना रूप दो अवस्था उनके पवन और समुद्र के व्याप्यव्यापकभाव के अभाव से कर्त्ता कर्मपने की असिद्धि होने पर समुद्र ही आप उन अवस्थाओं में अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में उन अवस्थाओं में व्याप्त होकर उत्तरङ्गनिस्तरङ्गरूप अपने को एक ही करता हुआ प्रतिभासित होता है, किसी दूसरे को नहीं करता है। उसी प्रकार वही समुद्र उस पवन और समुद्र के भाव्यभावकभाव के अभाव से परभाव को पर कर अनुभव करने के असामर्थ्य से उत्तरङ्गनिस्तरङ्ग स्वरूप अपने को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित होता है, अन्य किसी का अनुभव नहीं करता। उसी प्रकार पुद्गलकर्म के उदय का सम्भव असम्भव जिसको निमित्त है ऐसी जो संसार और निःसंसार दो अवस्था उनके पुद्गलकर्म और जीव के व्याप्य-व्यापकरूप के अभाव से कर्तृकर्मरूप की असिद्धि है। क्योंकि जीव आप अन्तर्व्यापक होकर आदि, मध्य और अन्त में ससंसार निःसंसार अवस्था में व्याप्त होकर ससंसार निःसंसार रूप आत्मा को करता हुआ अपने को कर्ता प्रतिभासित करे तो अन्य को प्रतिभासित न करे। उसीप्रकार यही जीव भाव्यभावकभाव के अभाव से परभाव को पर द्वारा अनुभव करने की असामर्थ्य है इसलिए ससंसार निःसंसार रूप आत्मा एक अपने को ही अनुभव करता हुआ प्रतिभासित हो अन्य को अनुभव करता हुआ प्रतिभासित न हो।

सम्भवासम्भवनिमित्तयोरपि पुद्गलकर्मजीवयोर्व्याप्यव्यापकभावाभावात्कर्तृकर्मत्वासिद्धौ जीव एव स्वयमन्तर्व्यापको भूत्वादिमध्यान्तेषु ससंसारनिःसंसारावस्थे व्याप्य ससंसारं निःसंसारं वात्मानं कुर्वन्नात्मानमेकमेव कुर्वन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् । तथायमेव च भाव्यभावकभावाभावात् परभावस्य परेणानुभवितुमशक्यत्वात्ससंसारं निःसंसारं वात्मानमनुभवन्नात्मानमेकमेवानुभवन् प्रतिभातु मा पुनरन्यत् ॥८३॥

अथ व्यवहारं दर्शयति—

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि णेयविहं ।
तं चेव पुणो वेयइ पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥८४॥

व्यवहारस्य त्वात्मा पुद्गलकर्म करोति नैकविधम् ।
तच्चैव पुन र्वेदयते पुद्गलकर्मानेकविधम् ॥८४॥

यथान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकया कलशे क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन मृत्तिकयैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेन कलशसम्भवानुकूलं व्यापारं कुर्वाणः कलशकृततोयोपयोगजां तृप्तिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च कुलालः कलशं करोत्यनु-

---

अतः परं पञ्चविंशतिगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणरूपेण व्याख्यानं करोति । तत्र चेतनाचेतनयोरेकोपादानकर्तृत्वं द्विक्रियावादित्वमुच्यते तस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण जदिपुग्गलकम्ममिणं इत्यादि गाथाद्वयं भवति । तद्विवरणद्वादशगाथासु मध्ये पुग्गलकम्मणिमित्तं इत्यादिगाथाक्रमेण प्रथमगाथाषट्कं स्वतन्त्रम् । तदनन्तरमज्ञानिज्ञानिजीवकर्तृत्वाकर्तृत्वमुख्यतया परमप्पमपाणं कुव्वदि इत्यादिद्वितीयषट्कं। अतः परं तस्यमेव द्विक्रियावादिनः पुनरपि विशेषव्याख्यानार्थमुपसंहाररूपेणैकादशगाथा भवन्ति । तत्रैकादशगाथासु मध्ये व्यवहारनय-

---

भावार्थ—आत्मा की ससंसार निःसंसार अवस्था परद्रव्य पुद्गलकर्म के निमित्त से है वहां, उन अवस्थारूप आप ही परिणमन करता है इसलिये अपना ही कर्ता भोक्ता है, निमित्तमात्र पुद्गलकर्म है, उसका कर्त्ता भोक्ता नहीं है ॥८४॥

अब व्यवहार को दिखलाते हैं;—[व्यवहारस्य तु] व्यवहारनय का यह मत है कि [आत्मा] आत्मा [नैकविधम्] अनेकप्रकार [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मों को [करोति] करता है [पुनः] और [तदेव] उसी [अनेकविधम्] अनेकप्रकार [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्मको [वेदयते] भोगता है ।

टीका—जैसे मिट्टी घड़े को करती और भोगती है, वह अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से करती है तथा भाव्यभावकभाव से भोगती है तो भी बाह्य व्याप्यव्यापकभाव से कलश होने में सम्भव उसके अनुकूल व्यापार को अपने हस्तादिक से करने वाला तथा कलश में भरे जल के उपयोग से हुए तृप्तिभाव को भाव्यभावक भाव से अनुभव करने वाला कुम्हार इस कलश को बनाता तथा भोगता है ऐसा लोकों का अनादि से प्रसिद्ध व्यवहार रहा है । उसीप्रकार यद्यपि पुद्गलकर्म को

भवति चेति लोकानामनादिरूढोऽस्ति तावद्व्यवहारः, तथान्तर्व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलद्रव्येण कर्मणि क्रियमाणे भाव्यभावकभावेन पुद्गलद्रव्येणैवानुभूयमाने च बहिर्व्याप्यव्यापकभावेनाज्ञानात्पुद्गलकर्मसम्भवानुकूलं परिणामं[1] कुर्वाणःपुद्गलकर्मविपाकसम्पादितविषयसन्निधिप्रधावितां सुखदुःखपरिणतिं भाव्यभावकभावेनानुभवंश्च जीवः पुद्गलकर्म करोत्यनुभवति चेत्यज्ञानिनामासंसारप्रसिद्धोऽस्ति तावद् व्यवहारः ॥८४॥

अथैनं दूषयति—

जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा ।
दोकिरियावदिरित्तो पसज्जए सो जिणावमदं ॥८५॥

यदि पुद्गलकर्मेदं करोति तच्चैव वेदयते आत्मा ।
द्विक्रियाव्यतिरिक्तः प्रसजति स जिनवमतम् ॥८५॥

इह खलु क्रिया हि तावदखिलापि परिणामलक्षणतया न नाम परिणामतोऽस्ति भिन्ना, परिणामोऽपि परिणामपरिणामिनोरभिन्नवस्तुत्वात्परिणामिनो न भिन्नस्ततो

मुख्यत्वेन ववहारस्स दु इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं निश्चयनयमुख्यतया जो पुग्गलदव्वाणं इत्यादिसूत्रचतुष्टयम् । ततश्च द्रव्यकर्मणामुपचारकर्तृत्वमुख्यत्वेन जीवंहि हेदुभूदे इत्यादिसूत्रचतुष्टयमिति समुदायेन

अन्तर्व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गल द्रव्य करता है और भाव्यभावक भाव से पुद्गल द्रव्य ही अनुभव करता (भोगता) है तो भी बाह्य व्याप्यव्यापकभाव से अज्ञान से पुद्गलकर्म के होने के अनुकूल अपने रागादि परिणाम को करता और पुद्गलकर्म के उदय होने से उत्पन्न विषयों की समीपता से होने वाली अपनी सुखःदुखरूप परिणति को भाव्यभावकभाव से अनुभव करने वाला जीव पुद्गलकर्म को करता है और भोगता है। ऐसे अज्ञानी लोकों का अनादि संसार से व्यवहार प्रसिद्ध है।

भावार्थ—पुद्गलकर्म को परमार्थ से पुद्गलद्रव्य ही करता है और पुद्गलकर्म के होने के अनुकूल अपने रागादि परिणामों को जीव करता है, उसके निमित्तनैमित्तिकभाव को देखकर अज्ञानी को यह भ्रम है कि जीव ही पुद्गलकर्मको करता है। वह अनादि अज्ञान से प्रसिद्ध व्यवहार है। जब तक जीव पुद्गल का भेदज्ञान नहीं है, तब तक दोनों की प्रवृत्ति एक सरीखी दीखती है इस कारण जब तक भेदज्ञान न हो, तब तक ही दीखती है। श्रीगुरु भेदज्ञान करा के परमार्थ जीव का स्वरूप दिखला कर अज्ञानी के प्रतिभास को व्यवहार कहते हैं ॥८४॥

आगे इस व्यवहार को दूषण देते हैं;—(यदि) जो (आत्मा) आत्मा (इदम्) इस (पुद्गलकर्म) पुद्गलकर्म को (करोति) करे (च) और (तद् एव) उसी को (वेदयते) भोगे तो (सः) वह (द्विक्रियाव्यतिरिक्तः) आत्मा दो क्रिया से अभिन्न (प्रसजति) ठहरे, ऐसा प्रसङ्ग आता है सो यह (जिनावमतम्) जिनदेव का मत नहीं है।

१. रागादिपरिणाममित्यर्थः ।

या काचन क्रिया सकलापि सा क्रियावतो न भिन्नेति क्रियाकर्त्रोरव्यतिरिक्ततायां वस्तुस्थित्या प्रतपन्त्यां यथा व्याप्यव्यापकभावेन स्वपरिणामं करोति, भाव्यभावकभावेन तमेवानुभवति च जीवस्तथा व्याप्यव्यापकभावेन पुद्गलकर्मापि यदि कुर्यात् भाव्यभावकभावेन तदेवानुभवेच्च ततो यं स्वपरसमवेतक्रियाद्वयाव्यतिरिक्ततायां प्रसजन्त्यां स्वपरयोः परस्परविभागप्रत्यस्तमनादनेकात्मकमेकमात्मानमनुभवन्मिथ्यादृष्टितया सर्वज्ञावमतः स्यात् ॥८५॥

पञ्चविंशतिगाथाभिस्तृतीयस्थले समुदायपातनिका। तद्यथा—अथेदं पूर्वोक्तं कर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वनयविभागव्याख्यानं कर्मतापन्नमनेकान्तेन सम्मतमप्येकान्तनयेन मन्यते। किं मन्यते भावकर्मवन्निश्चयेन द्रव्यकर्मापि करोतीति चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणं द्विक्रियावादित्वं स्यात्। तान् द्विक्रियावादिनो दूषयति-**जदि पुग्गलकम्ममिणं कुव्वदि तं चेव वेदयदि आदा** यदि चेत्पुद्गलकर्मोदयमुपादानरूपेण करोति तदेव च पुनरुपादानरूपेण वेदयत्यनुभवत्यात्मा **दोकिरियावादित्तं पसजदि** तदा चेतनाचेतनक्रियाद्वयस्योपादानकर्तृत्वरूपेण द्विक्रियावादित्वं प्रसजति प्राप्नोति। अथवा **दो किरियावदिरित्तो पसजदि तदा सो** तत्र पाठान्तरे द्वाभ्यां चेतनाचेतनक्रियाभ्यामव्यतिरिक्तोऽभिन्नः प्रसजति प्राप्नोति सः पुरुषः। **सम्मं जिणावमदं** तच्च व्याख्यानं जिनानां सम्यगसम्मतम्। यश्चेदं व्याख्यानं मन्यते स निजशुद्धात्मोपादेयरुचिरूपं निर्विकारचिच्चमत्कारमात्रलक्षणं शुद्धोपादानकारणोत्पन्नं निश्चयसम्यक्त्वमलभमानो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ॥८५॥ अथ कुतो द्विक्रियावादी मिथ्यादृष्टिर्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरं प्रयच्छंस्तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति;—**जह्मा दु अत्तभावं पुद्गलभावं च दोवि कुव्वंति** यस्मादात्मभावं चिद्रूपं पुद्गलभावं चाचेतनं जडस्वरूपं द्वयमप्युपादानरूपेण कुर्वंति **तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति**। ततस्तेन कारणेन चेतनाचेतनक्रियाद्वयवादिनः पुरुषाः मिथ्यादृष्टयो भव-

---

टीका—इस लोक में जो क्रिया है वह पहले तो सभी परिणाम स्वरूप है इस कारण परिणाम ही है कुछ भिन्न वस्तु नहीं है और परिणाम तथा परिणामी द्रव्य दोनों अभिन्न वस्तु हैं भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं, इसलिये परिणाम परिणामी से पृथक् नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो कुछ क्रिया है वह क्रियावान् द्रव्य से पृथक् नहीं है। इस प्रकार क्रिया का और क्रियावान् की अभिन्नता है। ऐसी वस्तु की मर्यादा होने पर जैसा जीव व्याप्यव्यापक भाव से अपने परिणाम को करता है और भाव्य भावक भाव से उसी अपने परिणाम को अनुभव करता है, भोगता है, उसी तरह व्याप्यव्यापकभाव से पुद्गलकर्म को भी करे तथा भाव्यभावक भाव से उसी का अनुभव करे, भोगे तो अपनी और पर की मिली दो क्रियाओं का अभेद सिद्ध हुआ। ऐसा होने पर अपने और परके भेद का अभाव हुआ। इस प्रकार अनेक द्रव्य स्वरूप एक आत्मा को अनुभव करने वाला मिथ्यादृष्टि होता है। परन्तु ऐसा वस्तुस्वरूप जिनदेव ने नहीं कहा है इसलिये जिनदेव के मत के बाहर है।

भावार्थ—दो द्रव्यों की क्रिया भिन्न ही है। जड़ की क्रिया चेतन नहीं करता, चेतन की क्रिया जड़ नहीं करता। जो पुरुष एक द्रव्य को दो द्रव्यों की क्रियाओं का कर्ता मानता है, वह मिथ्यादृष्टि है क्योंकि दो द्रव्यों की क्रिया एक द्रव्य से मानना यह जिनदेव का मत नहीं है ॥८५॥

कुतो द्विक्रियानुभावी मिथ्यादृष्टिरिति चेत्—

जम्हा दु अत्तभावं पुग्गलभावं च दोवि कुव्वंति ।
तेण दु मिच्छादिट्ठी दोकिरियावादिणो हुंति ॥८६॥

यस्मात्त्वात्मभावं पुद्गलभावं च द्वावपि कुर्वन्ति ।
तेन तु मिथ्यादृष्टयो द्विक्रियावादिनो भवन्ति ॥८६॥

यतः किलात्मपरिणामं पुद्गलपरिणामं च कुर्वन्तमात्मानं मन्यन्ते द्विक्रियावादिनस्त तस्ते मिथ्यादृष्टय एवेति सिद्धान्तः । मा चैकद्रव्येण द्रव्यद्वयपरिणामः क्रियमाणः प्रतिभातु । यथा किल कुलालः कलशसम्भवानुकूलमात्मव्यापारपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति, न पुनः कलशकरणाहंकार-निर्भरोऽपि स्वव्यापारानुरूपं मृत्तिकायाः कलशपरिणामं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तं मृत्तिकायाः अव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभाति । तथात्मापि पुद्गलकर्मपरिणामानुकूलमज्ञानादात्मपरिणाममात्मनोऽव्यतिरिक्तमात्मनोऽव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु मा पुनः पुद्गलपरिणामकरणाहंकारनिर्भरोऽपि स्वपरिणामानुरूपं

न्तीति । तथाहि—यथा कुम्भकारः स्वकीयपरिणाममुपादानरूपेण करोति तथा घटमपि यद्युपादानरूपेण करोति तदा कुम्भकारस्याचेतनत्वं घटरूपत्वं प्राप्नोति । घटस्य वा चेतनत्वं कुम्भकाररूपत्वं च प्राप्नोतीति । तथा जीवोऽपि यद्युपादानरूपेण पुद्गलद्रव्यकर्म करोति तदा जीवस्याचेतनपुद्गलद्रव्यत्वं प्राप्नोति । पुद्गलकर्मणो

यहां प्रश्न उठता है कि दो क्रियाओं का अनुभव करने वाला पुरुष मिथ्यादृष्टि कैसे हो सकता है । उसका समाधान करते हैं; [यस्मात् तु] जिस प्रकार [आत्मभावम्] आत्मा के भाव को [च] और [पुद्गलभावम्] पुद्गल के भाव को [द्वौ अपि] दोनों ही को आत्मा [कुर्वंति] करता है ऐसा कहते हैं [तेन तु] इसी कारण [द्विक्रियावादिनः] दो क्रियाओं को एक के ही कहने वाले [मिथ्यादृष्टयः] मिथ्यादृष्टि ही [भवन्ति] हैं ।

टीका—निश्चय से जो आत्मा को आत्मा और पुद्गल के परिणामों का कर्ता मानते हैं, दोनों क्रियायें एक के ही कहने वाले हैं, वे मिथ्यादृष्टि ही हैं, ऐसा सिद्धान्त है । सो एक द्रव्य से जो परिणाम प्रतिभासित नहीं होते; जैसे कुम्हार के घड़े के होने के अनुकूल अपना व्यापार रूप हस्तादिक क्रिया, तथा इच्छारूप परिणाम अपने से अभिन्न है तथा अपने से अभिन्नपरिणतिमात्रक्रिया से किये हुए को करता हुआ प्रतिभासित होता है और घट बनाने के अहंकार सहित है, तो भी मृत्तिका का मृत्तिका के व्यापार के अनुकूल घट परिणाम मिट्टी के अभेदरूप तथा मिट्टी से अभिन्न मृत्तिका परिणतिमात्र क्रिया द्वारा किये हुए का करता नहीं मालूम होता । उसीप्रकार आत्मा भी अज्ञान से पुद्गलकर्म के अनुकूल अपने से अभिन्न, अपने परिणाम अपने से अभिन्न अपनी परिणतिमात्रक्रिया से किये हुए को करता हुआ प्रतिभासित हो (जानो) परन्तु पुद्गल परि-

पुद्गलस्य परिणामं पुद्गलादव्यतिरिक्तं पुद्गलादव्यतिरिक्तया परिणतिमात्रया क्रियया क्रियमाणं कुर्वाणः प्रतिभातु ।।८६।।

यः परिणमति स कर्ता यः परिणामो भवेत्तु तत्कर्म ।
या परिणतिः क्रिया सा त्रयमपि भिन्नं न वस्तुतया ।।५१।।

एकः परिणमति सदा परिणामो जायते सदैकस्य ।
एकस्य परिणतिः स्यादनेकमप्येकमेव यतः ।।५२।।

वा चिद्रूपं जीवत्वं प्राप्नोति। किं च। शुभाशुभं कर्म कुर्वोऽहमिति महाहंकाररूपं तमो मिथ्याज्ञानिनां न नश्यति। तर्हि केषां नश्यतीति चेत्, विषयसुखानुभवानन्दवर्जिते वीतरागस्वसंवेदनवेद्ये भूतार्थनयेनैकत्वव्यवस्थापिते चिदानन्दैकस्वभावे शुद्धपरमात्मद्रव्ये स्थितानामेव समस्तशुभाशुभपरभावशून्येन निर्विकल्पसमाधिलक्षणेन। शुद्धो-

---

णाम के करने के अहङ्कार युक्त होने पर भी पुद्गल के परिणाम के अनुकूल पुद्गल से अभिन्न जो पुद्गल परिणाम तथा पुद्गल से अभिन्न जो पुद्गल की परिणतिमात्र क्रिया उससे किये हुए को करता हुआ मत प्रतिभासो (जानो)।

भावार्थ—आत्मा अपने ही परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित हो, पुद्गल के परिणाम को करता हुआ प्रतिभासित नहीं हो, इसीकारण आत्मा और पुद्गल इन दोनों की क्रियायें एक आत्मा की ही मानने वाले को मिथ्यादृष्टि कहा है। यदि जड़ और चेतन की एक क्रिया हो जाय, तो सर्वद्रव्य पलटने से सब का लोप हो जाय, यह बड़ा भारी दोष हो।

अब इसी अर्थ के समर्थन का कलशरूप काव्य कहते हैं—**यः परिणमति** इत्यादि। **अर्थ**-जो परिणमन करता है, वह कर्ता है और जिसने परिणमन किया, उसका परिणाम कर्म है तथा परिणति क्रिया है। ये तीनों ही वस्तुत्व से भिन्न नहीं हैं।

भावार्थ—द्रव्यदृष्टि से परिणाम और परिणामी में अभेद है तथा पर्यायदृष्टि से भेद है। वहां भेददृष्टि से तो कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीन कहे गये हैं और अभेददृष्टि से वास्तव में यह कहा गया है कि कर्ता, कर्म और क्रिया ये तीनों ही एक द्रव्य की अवस्थायें हैं, प्रदेश भेदरूप भिन्न वस्तु नहीं हैं।।

फिर भी कहते हैं—**एकः** इत्यादि। **अर्थ**-वस्तु अकेली ही सदा परिणमन करती है, एक के ही सदा परिणाम होते हैं अर्थात् एक अवस्था से अन्य अवस्था होती है। तथा एक की ही परिणति क्रिया होती है। अनेकरूप हुई तो भी एक ही वस्तु है, भेद नहीं है।

भावार्थ—एक वस्तु की अनेक पर्याय होती हैं, उनको परिणाम भी कहते हैं, अवस्था भी कहते हैं। वे संज्ञा, संख्या, लक्षण, प्रयोजनादिक से भिन्न-भिन्न प्रतिभासरूप हैं, तो भी एक वस्तु ही हैं, भिन्न नहीं हैं, ऐसा भेदाभेद स्वरूप ही वस्तु का स्वभाव है।

नोभौ परिणमतः खलु परिणामो नोभयोः प्रजायेत ।
उभयोर्न परिणतिः स्याद्यदनेकमनेकमेव सदा ॥५३॥

नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ स्तो द्वे कर्मणी न चैकस्य ।
नैकस्य च क्रिये द्वे एकमनेकं यतो न स्यात् ॥५४॥

आसंसारत एव धावति परं कुर्वेऽहमित्युच्चकैः,
दुर्वारं ननु मोहिनामिह महाहङ्काररूपं तमः ।
तद्भूतार्थपरिग्रहेण विलयं यद्येकवारं व्रजेत्
तत्किं ज्ञानघनस्य बन्धनमहो भूयो भवेदात्मनः ॥५५॥

पयोगभावनादलेन सज्ञानिनामेव विलयं विनाशं गच्छति । तस्मिन्महाहङ्कारविकल्पजाले नष्टे सति गच्छति । तस्मिन्महाहङ्कारविकल्पजाले नष्टे सति पुनरपि बन्धो न भवतीति ज्ञात्वा बहिर्द्रव्यविषये इदं करोमीदं न करोमीति दुराग्रहं त्यक्त्वा रागादिविकल्पजालशून्ये पूर्णकलशवच्चिदानन्दैकस्वभावेन भरितावस्थे स्वकीयपरमात्मनि निरन्तरं भावना कर्त्तव्येति भावार्थः ॥८६॥

फिर कहते हैं—नोभौ इत्यादि। अर्थ—दो द्रव्य एक होकर परिणमन नहीं करते और दो द्रव्य का एक परिणाम भी नहीं होता तथा दो द्रव्य की एक परिणति क्रिया भी नहीं होती। क्योंकि जो अनेक द्रव्य हैं, वे अनेक ही हैं, एक नहीं होते ॥

भावार्थ—दो वस्तुयें सर्वथा भिन्न ही हैं, प्रदेश भेदरूप ही हैं, दोनों एकरूप होकर नहीं परिणमन करतीं, एक परिणाम को भी नहीं उपजातीं और एकक्रिया भी उनको नहीं होती, ऐसा नियम है। जो दो द्रव्य एकरूप होकर परिणमन करे तो सब द्रव्यों का लोप हो जाय ।।

इसी अर्थ को दृढ़ करते हैं—नैकस्य इत्यादि। अर्थ—एक द्रव्य के दो कर्ता नहीं होते, एक द्रव्य के दो कर्म नहीं होते और एक द्रव्य की दो क्रियायें भी नहीं होतीं क्योंकि एक द्रव्य अनेक द्रव्य रूप नहीं होता।

अब कहते हैं कि आत्मा के अनादि से परद्रव्य के कर्त्ताकर्मत्व का अज्ञान है वह यदि परमार्थनय के ग्रहण से एकवार भी विलय हो जाय तो फिर कभी नहीं आ सकता—आसंसारत इत्यादि। अर्थ—इस जगत् में मोही अज्ञानी जीवों का यह "मैं परद्रव्य को करता हूँ" ऐसा परद्रव्य के कर्तृत्व का अहङ्कार-रूप अज्ञानान्धकार अनादि संसार से लेकर चला आया है। जो कि अत्यन्त दुर्निवार है, यदि परमार्थ-सत्यार्थ-शुद्ध-द्रव्यार्थिक अभेदनय के ग्रहण से वह एक बार भी नष्ट हो जाय तो यह जीव ज्ञानघन है। अतः यथार्थज्ञान होने के बाद ज्ञान कहां जा सकता है जब ज्ञान नहीं जा सकता, तब फिर कैसे अज्ञान से बन्ध हो सकता है ॥

भावार्थ—यहां ऐसा तात्पर्य है कि अज्ञान तो अनादि का ही है परन्तु यदि दर्शनमोह का नाश कर एक बार यथार्थज्ञान होकर क्षायिकसम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय तो फिर मिथ्यात्व नहीं आ सकता तब उस मिथ्यात्व का बन्ध भी नहीं हो सकता और मिथ्यात्व गये बाद संसार-बन्धन कैसे रह सकता है ?

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥५६॥

मिच्छत्तं पुण दुविहं जीवमजीवं तहेव अण्णाणं ।
अविरदि जोगो मोहो कोहादीया इमे भावा ॥८७॥

मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवोऽजीवस्तथैवाज्ञानं ।
अविरतियोगो मोहः क्रोधाद्या इमे भावाः ॥८७॥

मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो हि भावाः ते तु प्रत्येकं मयूरमुकुरन्दवज्जीवाजीवाभ्यां भाव्यमानत्वाज्जीवाजीवौ । तथाहि—यथा नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेन मयूरेण भाव्यमानाः मयूर एव । यथा च नीलकृष्णहरितपीतादयो भावाः स्वच्छताविकारमात्रेण मुकुरन्देन भाव्यमाना मुकुरन्द एव । तथा मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाः स्वद्रव्यस्वभावत्वेनाजीवेन भाव्यमाना अजीव एव । तथैव च मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादयो भावाश्चैतन्यविकारमात्रेण जीवेन भाव्यमाना जीव एव ॥८७॥

इति द्विक्रियावादिसंक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतम् । अथ तस्यैव विशेषव्याख्यानं करोति—

पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावं ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं ॥

फिर भी विशेषता से कहते हैं—आत्म इत्यादि । अर्थ—आत्मा तो अपने भावों को ही करता है और परद्रव्य पर के भावों को करता है । क्योंकि अपने भाव तो अपने ही हैं तथा परभाव परके ही हैं, यह नियम है ॥८६॥

शङ्का—परद्रव्य का कर्तृकर्मत्व मानने वाला मिथ्यादृष्टि है यह कहा है । वहाँ पर शङ्का होती है कि यह मिथ्यात्वादि भाव क्या वस्तु हैं ? यदि जीव के परिणाम कहे जाँय तो पहले रागादि भावों को पुद्गल के परिणाम कहा था, उस कथन से यहां विरोध आता है । यदि पुद्गल का परिणाम कहे जांय तो जीव का कुछ प्रयोजन नहीं इसलिये फिर उसका फल जीव क्यों पावे ? इस शंका के दूर करने के लिये यह कहते हैं [पुनः] जो [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व कहा गया था वह [द्विविधम्] दो प्रकार है [जीवम्, अजीवम्] एक जीव मिथ्यात्व, एक अजीव मिथ्यात्व [तथैव] और उसी प्रकार [अज्ञानम्] अज्ञान [अविरतिः] अविरति [योगः] योग [मोहः] मोह और [क्रोधाद्याः] क्रोधादि कषाय [इमे भावाः] ये सभी भाव जीव-अजीव के भेद से दो-दो प्रकार हैं ।

टीका—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक जो भाव हैं वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् मयूर और दर्पण की भांति जीव अजीव से भावित हैं । इसलिये जीव भी हैं और अजीव भी हैं । जैसे

काविह जीवाजीवाविति चेत्—

पुग्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं ।
उवओगो अण्णाणं अविरइ मिच्छं च जीवो दु ॥८८॥

पुद्गलकर्म मिथ्यात्वं योगोऽविरतिज्ञानमजीवः ।
उपयोगोऽज्ञानमविरतिर्मिथ्यात्वं च जीवस्तु ॥८८॥

यः खलु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादिरजीवस्तदमूर्त्ताच्चैतन्यपरिणामादन्यत् मूर्त्तं पुद्गलकर्म, यस्तु मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरित्यादि जीवः स मूर्त्तात्पुद्गलकर्मणोऽन्यश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः ॥८८॥

पुद्गलकर्मनिमित्तं यथात्मा करोति आत्मनः भावम् । पुद्गलकर्मनिमित्तं तथा वेदयति आत्मनो भावं पुग्गलकम्मणिमित्तं जह आदा कुणदि अप्पणो भावम् उदयागतं द्रव्यकर्मनिमित्तं कृत्वा यथात्मा निर्विकारस्वसंवित्तिपरिणामशून्यः सन्करोत्यात्मनः संबन्धिनं सुखदुःखादिभावं परिणामं पुग्गलकम्मणिमित्तं तह वेददि अप्पणो भावं तथैवोदयागतद्रव्यकर्मनिमित्तं लब्ध्वा स्वशुद्धात्मभावनोत्थवास्तवसुखास्वादमवेदयन्सन् तमेव

मयूर के नीले, काले, हरे, पीले आदिवर्ण रूपभाव मयूर के निज स्वभाव से भाये हुए मयूर ही हैं। तथा जैसे दर्पण में उन वर्णों के प्रतिविम्ब दीखते हैं, वे दर्पण की स्वच्छता निर्मलता के विकारमात्र से भाये हुए दर्पण ही हैं। मयूर की और दर्पण की अत्यन्त भिन्नता है। उसीप्रकार मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादिक भाव अपने अजीव के द्रव्यस्वभाव से अजीवरूप से भाये हुए अजीव ही हैं तथा वे मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति आदि भाव चैतन्य के विकारमात्र से जीव से भाये हुए जीव ही हैं।

भावार्थ—कर्म के निमित्त से जीव विभावरूप परिणमन करते हैं वे जो चेतन के विकार हैं, वे जीव ही हैं और जो पुद्गल मिथ्यात्वादिक कर्मरूप परिणमन करते हैं, वे पुद्गल के परमाणु हैं तथा उनका विपाक उदयरूप होकर वे स्वादरूप होते हैं, वे मिथ्यात्वादि अजीव हैं। ऐसे मिथ्यात्वादिभाव जीव अजीव के भेद से दो प्रकार हैं। यहाँपर ऐसा जानना कि जो मिथ्यात्वादि कर्म की प्रकृतियाँ हैं, वे पुद्गल द्रव्य के परमाणु हैं, उनका उदय हो तब उपयोग स्वरूप जीव के उपयोग की स्वच्छता के कारण जिसके उदय का स्वाद आये, तब उसी के आकार उपयोग हो जाता है। तब अज्ञान से उसका भेदज्ञान नहीं होता, उस स्वाद को ही अपना भाव जानता है। जब इसका भेदज्ञान ऐसा हो जाय कि जीवभाव को जीव जाने और अजीवभाव को अजीव जाने, तभी मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होता है ॥८७॥

यहाँ पूछते हैं कि मिथ्यात्वादिक जीव अजीव कहे हैं वे कौन हैं, इसका उत्तर कहते हैं—[मिथ्यात्वम्] जो मिथ्यात्व [योगः] योग [अविरतिः] अविरति [अज्ञानम्] अज्ञान [अजीवः] ये अजीव हैं तो वे [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म हैं [च] और जो [अज्ञानम्] अज्ञान [अविरतिः] अविरति [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व [तु जीवः] ये जीव हैं वे [उपयोग] उपयोग हैं।

मिथ्यादर्शनादिश्चैतन्यपरिणामस्य विकारः कुत इति चेत्—

उपओगस्स अणाई परिणामा तिण्ण मोहजुत्तस्स ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरदिभावो य णायव्वो ॥८९॥

उपयोगस्यानादयः परिणामास्त्रयो मोहयुक्तस्य ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्च ज्ञातव्यः ॥८९॥

उपयोगस्य हि स्वरसत एव समस्तवस्तुस्वभावभूतस्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सत्यनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारः। स तु तस्य स्फटिकस्वच्छताया इव परतोऽपि प्रभवन् दृष्टः। यथा हि स्फटिकस्वच्छतायाः स्वरूपपरिणामसमर्थत्वे सति कदाचिन्नीलहरितपीततमालकदलीकाञ्चनपात्रोपाश्रययुक्तत्वान्नीलो हरितः पीत इति त्रिविधः परिणामविकारो दृष्टस्तथोपयोगस्यानादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिस्वभाववस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वान्मिथ्यादर्शनमज्ञानमविरतिरिति त्रिविधः परिणामविकारोदृष्टव्यः ॥८९॥

कर्मोदयजनितस्वकीयरागादिभावं वेदयत्यनुभवति । न च द्रव्यकर्मरूपपरभावमित्यभिप्रायः । अथ चिद्रूपानात्मभावानात्मा करोति तथैवाचिद्रूपान् द्रव्यकर्मादिपरभावान् परः पुद्गलः करोतीत्याख्याति—मिच्छत्त पुण दुविहं जीवमजीवं मिथ्यात्वं पुनर्द्विविधं जीवस्वभावमजीवस्वभावं च तहेव अण्णाण अविरदि जोगो मोहो कोहादीया

टीका—जो निश्चय से मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि अजीव हैं, अमूर्तिक चैतन्य के परिणाम से अन्य हैं मूर्तिक हैं वे तो पुद्गल कर्म हैं और जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इत्यादि जीव हैं वे मूर्तिक पुद्गलकर्म से अन्य हैं, चैतन्यपरिणाम के विकार हैं ॥८८॥

प्रश्न—जीव मिथ्यात्वादि चैतन्यपरिणाम का विकार किस कारण है ? उत्तर-(**मोहयुक्तस्य**) अनादि से मोहयुक्त होने से (**उपयोगस्य**) उपयोग के (**अनादयः**) अनादि से लेकर (**त्रयः परिणामाः**) तीन परिणाम हैं वे (**मिथ्यात्वम्**) मिथ्यात्व (**अज्ञानम्**) अज्ञान (**च अविरतिभावः**) और अविरतिभाव ये तीन (**ज्ञातव्यः**) जानना चाहिये ।

टीका—निश्चय से समस्त वस्तुओं का अपने स्वरसपरिणमन से स्वभावभूत स्वरूप परिणाम में समर्थता होने पर भी आत्मा के उपयोग के अनादि से ही अन्य वस्तुभूत मोहयुक्त होने से मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकार परिणाम के विकार हैं। ये, जैसे स्फटिकमणि की स्वच्छता में पर के डंक से परिणाम विकार हुआ देखा जाता है। उसी प्रकार हैं। जैसे स्फटिक की स्वच्छता में अपना स्वरूप उज्ज्वलतारूप परिणाम की सामर्थ्य होने पर भी किसी समय काला, हरा, पीला जोतमाल, केला, कंचन के पात्र समीपवर्ती आश्रय की युक्तता से नीला, हरा, पीला

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वं दर्शयति—

एएसु य उवओगो तिविहो सुद्धो णिरंजणो भावो ।
जं सो करेदि भावं उवओगो तस्स सो कत्ता ॥९०॥

एतेषु चोपयोगस्त्रिविधः शुद्धो निरञ्जनो भावः ।
यं स करोति भावमुपयोगस्तस्य स कर्ता ॥९०॥

अथैवमयमनादिवस्त्वन्तरभूतमोहयुक्तत्वादात्मन्युत्प्लवमानेषु मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिभावेषुपरिणामविकारेषु त्रिष्वेतेषु निमित्तभूतेषु परमार्थतः शुद्धनिरञ्जनानादिनिधनवस्तु सर्वस्वभूतचिन्मात्रभावत्वेनैकविधोऽप्यशुद्धसाञ्जनानेक भावत्वमापद्यमा-

---

इमे भावा तथैव चाज्ञानमविरतिर्योगो मोहः क्रोधादयोऽमी भावाः पर्यायाः जीवरूपा अजीवरूपाश्च भवन्ति मयूरमुकुरन्दवत् । तद्यथा-यथा मयूरेण भाव्यमाना अनुभूयमाना नीलपीताद्याकार विशेषा मयूरशरीराकारपरिणता मयूर एव चेतना एव तथा निर्मलात्मानुभूतिच्युतजीवेन भाव्यमाना अनुभूयमानाः सुखदुःखादिविकल्पा जीव एवाशुद्धनिश्चयेन चेतना एव । यथा च मुकुरन्देन स्वच्छतारूपेण भाव्यमानाः प्रकाशमानमुखप्रतिविम्बादिविकारा मुकुरन्द एव अचेतना एव तथा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्येणोपादानभूतेन क्रियमाणा ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाः पुद्गल एव अचेतना एवेति ॥८७॥ अथ कतिविधौ जीवाजीवाविति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह— पुद्गलकम्मं मिच्छं जोगो अविरदि अणाणमज्जीवं पुद्गलकर्मरूपं मिथ्यात्वं योगोऽविरतिज्ञानमित्यजीवः । उवओगो अण्णाणं अविरदि मिच्छत्त जीवो दु उपयोगरूपो भावरूपः शुद्धात्मादितत्त्वभावविषये विपरीतपरिच्छित्तिविकारपरिणामो जीवस्याज्ञानं निर्विकारस्वसंवित्तिविपरीताव्रतपरिणामविकारोऽविरतिः । विपरीताभिनिवेशोपयोगविकाररूपं शुद्धजीवादिपदार्थविषये विपरीतश्रद्धानं मिथ्यात्वमिति जीवः । जीव इति कोऽर्थः— जीवरूपाभावप्रत्यया इति ॥८८॥ अथ शुद्धचैतन्यस्वभावजीवस्य कथं मिथ्यादर्शनादिविकारो जात इति चेत्- उवओगस्स अणाई परिणामा तिण्णि उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तस्य सम्बन्धित्वेनादिसन्तानापेक्षया त्रयः परिणामा ज्ञातव्याः । कथंभूतस्य तस्य । मोहजुत्तस्स मोहयुक्तस्य । के ते परिणामाः । मिच्छत्तं अण्णाणं

ऐसा तीन प्रकार परिणाम का विकार दीखता है, उसीप्रकार आत्मा के उपयोग के अनादि मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति स्वभावरूप अन्यवस्तुभूत मोह की युक्तता मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति ऐसे तीन प्रकार परिणाम विकार जानना ॥

भावार्थ—आत्मा के उपयोग में ये तीन प्रकार के परिणाम विकार अनादिकर्म के निमित्त से हैं, ऐसा नहीं कि पहले आत्मा शुद्ध ही था, अब यह नवीन अशुद्ध हुआ है। ऐसा हो तो सिद्धों को भी नवीन अशुद्ध होना चाहिये, किन्तु ऐसा नहीं है ॥८९॥

अब आत्मा के इन तीन प्रकार के परिणाम विकारों का कर्तृत्व दिखलाते हैं;—[एतेषु च] मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति इन तीनों का अनादि से निमित्त होने पर [उपयोगः] आत्मा का उपयोग [शुद्धः] शुद्धनय से एक शुद्ध [निरञ्जनं] निरञ्जन है तो भी [त्रिविधः भावः] मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति इस तरह तीन प्रकार परिणाम वाला है। [सः] वह आत्मा [यम्] इन तीनों में

नस्त्रिविधो भूत्वा स्वयमज्ञानीभूतः कर्तृत्वमुपढौकमानो विकारेण परिणम्य यं यं भावमात्मनः करोति तस्य तस्य किलोपयोगः कर्त्ता स्यात् ॥९०॥

अथात्मनस्त्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति पुद्गलद्रव्यं स्वत एव कर्मत्वेन परिणमतीत्याह—

जं कुणइ भावमादा कत्ता सो हदि तस्स भावस्स ।
कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलं दव्वं ॥९१॥

यं करोति भावमात्मा कर्त्ता स भवति तस्य भावस्य ।
कर्मत्वं परिणमते तस्मिन् स्वयं पुद्गलद्रव्यं ॥९१॥

अविरदिभावो य णादव्वो मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिभावश्चेति ज्ञातव्य इति । तथाहि-यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवस्तथाप्यनादिमोहनीयादिकर्मबन्धवशान्मिथ्यात्वाज्ञानाविरतिरूपास्त्रयः परिणामविकाराः सम्भवन्ति । तत्र शुद्धजीवस्वरूपमुपादेयं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामा हेया इति भावार्थः ॥८९॥ अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारस्य कर्तृत्वमुपदिशति—एदेसु य एतेषु च मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रेषुदयागतेषु निमित्तभूतेषु सत्सु उवओगो ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा तिविहो कृष्णनीलपीतत्रिविधोपाधिपरिणतस्फटिकवत्त्रिविधो भवति । परमार्थेन तु सुद्धो शुद्धो रागादिभावकर्मरहितः णिरंजणो निरञ्जनो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माञ्जनरहितः । पुनश्च कथम्भूतः । भावो भावः पदार्थः अखण्डैकप्रतिभाससमयज्ञानस्वभावैनैक-

---

से जिस [भावम्] भाव को [करोति] स्वयं करता है [तस्य] उसी का [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है ।

टीका—पहली गाथा में कहे गये जो तीन प्रकार के उपयोग के परिणाम हैं वे अब पूर्वोक्त प्रकार अनादि अन्यवस्तुभूतमोहसहित होने से आत्मा में उत्पन्न हुए जो मिथ्यादर्शन, अज्ञान, अविरति भावरूप तीन परिणाम विकार उनके निमित्तकारण होने से, आत्मा का स्वभाव परमार्थ से देखा जाय तो शुद्ध, निरञ्जन, एक, अनादिनिधन वस्तु का सर्वस्वभूत, चैतन्यभावरूप से एक प्रकार है, तो भी अशुद्ध, साञ्जन अनेक भावपने को प्राप्त हुआ तीन प्रकार होकर आप अज्ञानी हुआ कर्तृत्व को प्राप्त होता हुआ विकार रूप परिणाम से जिस जिस भाव को आप करता है, उस उस भाव का उपयोग निश्चय से कर्ता होता है ।

भावार्थ—पहले कहा था कि जो परिणमन करे, वह कर्ता है सो यहां अज्ञानरूप होकर उपयोग से परिणमन करता है, वह जिसरूप परिणमन करता है, उसीका कर्ता कहा जाता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से आत्मा कर्ता नहीं है । यहां उपयोग को कर्ता जानना, उपयोग और आत्मा एक ही वस्तु है, इसलिये आत्मा को ही कर्ता कहा जाता है ॥९०॥

आगे आत्मा के तीन प्रकार परिणाम विकार का कर्तापना होने पर पुद्गलद्रव्य आप ही कर्मत्वरूप होकर परिणमन करता है, ऐसा कहते हैं :—[आत्मा] आत्मा [यं भावम्] जिस भाव को [करोति] करता है [तस्य भावस्य] उस भाव का [कर्ता] कर्ता [सः] आप [भवति] होता है [तस्मिन्] उसके कर्ता होने पर [पुद्गलद्रव्यम्] पुद्गलद्रव्य [स्वयम्] अपने आप [कर्मत्वम्] कर्मरूप [परिणमते] परिणमन करता है ।

आत्मा ह्यात्मना तथापरिणमनेन यं भावं किल करोति तस्यायं कर्त्ता स्यात्साधकवत् तस्मिन्निमित्ते सति पुद्गलद्रव्यं कर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते। तथाहि-यथा साधकः किल तथाविधध्यानभावेनात्मना परिणममानो ध्यानस्य कर्त्ता स्यात्। तस्मिंस्तु ध्यानभावे सकलसाध्यभावानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सति साधकं कर्त्तारमन्तरेणापि स्वयमेव बाध्यन्ते विषव्याप्तयो, विडम्ब्यन्ते योषितो, ध्वंस्यन्ते बन्धास्तथायमज्ञानादात्मा मिथ्यादर्शनादिभावेनात्मना परिणममानो मिथ्यादर्शनादिभावस्य कर्त्ता स्यात्। तस्मिंस्तु मिथ्यादर्शनादौ भावे स्वानुकूलतया निमित्तमात्रीभूते सत्यात्मानं कर्तारमन्तरेणापि पुद्गलद्रव्यं मोहनीयादिकर्मत्वेन स्वयमेव परिणमते ॥९१॥

विधोऽपि पूर्वोक्तमिथ्यादर्शनज्ञानचारित्रपरिणामविकारेण त्रिविधो भूत्वा जं सो करेदि भावं यं परिणामं करोति स आत्मा उवओगो चैतन्यानुविधायिपरिणाम उपयोगो भण्यते तल्लक्षणत्वादुपयोगरूपः। तस्स सो कत्ता निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानपरिणामच्युतः सन् तस्यैव मिथ्यात्वादित्रिविधविकारपरिणामस्य कर्त्ता भवति। न च द्रव्यकर्मण इति भावः ॥९०॥

अथात्मनो मिथ्यात्वादित्रिविधपरिणामविकारकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वत एवोपादानरूपेण कर्मत्वेन परिणमतीति कथयति—जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स यं भावं मिथ्यात्वादिविकारपरिणामं शुद्धस्वभावच्युतः सन् आत्मा करोति तस्य भावस्य स कर्त्ता भवति कम्मत्तं परिणमदे तम्हि सयं पुग्गलदव्वं तस्मिन्नेव त्रिविधविकारपरिणामकर्तृत्वे सति कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं स्वयमेवोपादानरूपेण द्रव्यकर्मत्वेन परिणमति। किंवत् गारुडादिमन्त्रपरिणतपुरुषपरिणामे सति देशान्तरे स्वयमेव तत्पुरुषव्यापार-

---

टीका—आत्मा निश्चय से आप ही उस प्रकार परिणमन कर प्रगटरूप से जिस भाव को करता है उसी का वह कर्ता होता है मन्त्र साधने वाले की तरह। तथा उस आत्मा का वैसा निमित्त होने पर पुद्गलद्रव्य कर्मभावरूप आप ही परिणमन करता है। जैसे मन्त्र साधने वाला पुरुष जिस प्रकार के ध्यानरूपभाव से स्वयं परिणमन करता है, उसी ध्यान का कर्ता होता है। और जो समस्त उस साधक के साधने योग्य वस्तु उसकी अनुकूलता से उस ध्यानभाव के निमित्तमात्र होने पर उस साधक के विना ही अन्य सर्पादिक की विष की व्याप्ति स्वयमेव मिट जाती है, स्त्रीजन विडम्बनारूप हो जाती हैं और बन्धन खुल जाते हैं। इत्यादि कार्य मंत्र के ध्यान की सामर्थ्य से हो जाते हैं। उसी प्रकार यह आत्मा अज्ञान से मिथ्यादर्शनादिभाव से परिणमन करता हुआ मिथ्यादर्शनादिभाव का कर्ता होता है, तब उस मिथ्यादर्शनादिभाव को अपने करने की अनुकूलता से निमित्तमात्र होने पर आत्मा कर्त्ता के विना पुद्गलद्रव्य आप ही मोहनीयादि कर्मरूप से परिणमन करता है।

भावार्थ—आत्मा जब अज्ञानरूप परिणमन करता है, तब किसी से ममत्व करता है, किसी से राग करता है, किसी से द्वेष करता है, उन भावों का आप कर्त्ता होता है। उसके निमित्तमात्र होने पर पुद्गलद्रव्य आप अपने भाव से कर्मरूप होकर परिणमन करता है। परस्पर निमित्तनैमित्तिक भाव है। कर्त्ता दोनों अपने-अपने भाव के हैं, यह निश्चय है ॥९१॥

अज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह—

परमप्पाणं कुव्वं अप्पाणं पि य परं करिंतो सो।
अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि ॥९२॥

परमात्मानं कुर्वन्नात्मानमपि च परं कुर्वन् सः।
अज्ञानमयो जीवः कर्मणां कारको भवति ॥९२॥

अयं किलाज्ञानेनात्मा परमात्मनोः परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सति परमात्मानं कुर्वन्नात्मानं च परं कुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूतः कर्मणां कर्ता प्रतिभाति। तथाहि—तथाविधानुभवसम्पादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यन्तभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य

मन्तरेणापि विपापहारवन्धविध्वंसस्त्रीविडम्बनादिपरिणामवत्। तथैव च मिथ्यात्वरागादिविभावविनाशकाले निश्चयरत्नत्रयरूपशुद्धोपयोगपरिणामे सति गारुडमन्त्रस्य सामर्थ्येन निर्बीजविपवत् स्वयमेव नीरसीभूय पूर्वबद्धं द्रव्यकर्म जीवात्पृथग्भूत्वा निर्जरां गच्छतीति भावार्थः। एवं स्वतन्त्रव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम् ॥९१॥ अथ निश्चयेन वीतरागस्वसंवेदनज्ञानस्याभाव एवाज्ञानं भण्यते। तस्मादज्ञानादेव कर्म प्रभवतीति तात्पर्यमाह—परं परद्रव्यं, भावकर्मद्रव्यकर्मरूपं **अप्पाणं कुव्वदि** परद्रव्यात्मनोर्भेदज्ञानाभावादात्मानं करोति **अप्पाणं पि य परं करतो** शुद्धात्मानं च परं करोति यः **सो अण्णाणमओ जीवो कम्माणं कारगो होदि** स चाज्ञानमयो जीवः कर्मणां कर्ता भवति। तद्यथा—तथा कोऽपि पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतो-

---

अज्ञान से ही कर्म होता है यह स्पष्ट करते हुए कहते हैं; —[जीवः] जीव [अज्ञानमयः] स्वयं अज्ञानी हुआ [परम्] पर को [आत्मनं कुर्वन्] अपना करता है [च] और [आत्मानम् अपि] अपने को [परम्] पर का [कुर्वन्] करता है इस तरह [सः] वह [कर्मणां] कर्मों का [कारकः] कर्ता [भवति] होता है।

टीका—यह आत्मा अज्ञान से पर के और अपने विशेष का भेदज्ञान न होने से पर को तो अपना करता है, और अपने को 'परका' करता है, इस प्रकार स्वयं अज्ञानी हुआ कर्मों का कर्ता होता है। जैसे शीत उष्ण का अनुभव कराने में समर्थ जो पुद्गल परिणाम की शीत उष्ण अवस्था है वह पुद्गल से अभिन्न होने से आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है; वैसे उस प्रकार का अनुभव कराने में समर्थ जो रागद्वेष सुखदुःखादिरूप पुद्गल परिणाम की अवस्था वह पुद्गल की अभिन्नता के कारण आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है। उस निमित्त से हुए उस प्रकार के रागद्वेपादिक के अनुभव का आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से नित्य ही अत्यन्त भिन्नता है, तो भी उस रागद्वेषादिक का और उसके अनुभव का अज्ञान से परस्पर भेदज्ञान होने से एकत्व के निश्चय से जिस प्रकार शीत उष्णरूप से आत्मा परिणमन करता है, उसी प्रकार रागद्वेष सुख-दुःखादिरूप भी अपने आप परिणमन करने में असमर्थ है तो भी रागद्वेषादिक पुद्गल परिणाम

चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यन्तभिन्नस्याज्ञानात्परस्परविशेषानिर्ज्ञाने सत्येकत्वाध्यासात् शीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना परिणममानो ज्ञानस्याज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन्स्वयमज्ञानमयीभूत एषोऽहं रज्ये इत्यादिविधिना रागादेः कर्मणो (ज्ञानविरुद्धस्य) कर्ता प्रतिभाति ॥९२॥

परमप्पाणमकुव्वं अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो ।
सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि ॥९३॥

परमात्मानमकुर्वन्नात्मानमपि च परमकुर्वन् ।
स ज्ञानमयो जीवः कर्मणामकारको भवति ॥९३॥

अयं किल ज्ञानादात्मा परात्मनोः परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति परमात्मानमकुर्वन्नात्मानं च परमकुर्वन्स्वयं ज्ञानमयीभूतः कर्मणामकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—तथा-

ण्णानुभवस्य चैकत्वाभ्यासाद्भेदमजानन् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति प्रकारेण शीतोष्णपरिणतेः कर्ता भवति । तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नाया उदयागतपुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखदुःखानुभवस्य चैकत्वाध्यवसायारोपात् परद्रव्यात्मनोः समस्तरागादिविकल्परहितस्वसंवेदनज्ञानाभावाद्भेदमजानन्नहं सुखी दुःखीति प्रकारेण परिणमत्कर्मणां कर्ता भवतीति भावार्थः ॥९२॥ अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानात्सकाशात्कर्म न प्रभवतीत्याह;—परं परं परद्रव्यं बहिर्विषये देहादिकमभ्यन्तरे रागादिकं भावकर्मरूपं द्रव्यकर्मरूपं वा अप्पाणमकुव्वो भेदविज्ञानबलेनात्मानमकुर्वन्नात्मसम्बन्धमकुर्वन् अप्पाणं पि य परं अकुव्वंतो शुद्धद्रव्यगुणपर्यायस्वभावं

की अवस्था को उसके अनुभव का निमित्तमात्र होने से अज्ञान स्वरूप रागद्वेषादिरूप परिणमन करता हुआ अपने ज्ञान की अज्ञानता को प्रकट करता आप अज्ञानी हुआ 'यह मैं रागी हूँ' इत्यादि विधान कर रागादिककर्म का कर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—रागद्वेष सुख-दुःखादि अवस्था पुद्गलकर्म के उदय का स्वाद है, अतः यह पुद्गल कर्म से अभिन्न है, आत्मा से अत्यन्त भिन्न है। आत्मा को अज्ञान से इसका भेदज्ञान नहीं है, इसलिए ऐसा जानता है कि यह स्वाद मेरा ही है; क्योंकि ज्ञान की स्वच्छता ऐसी ही है कि रागद्वेषादि का स्वाद शीत उष्ण की तरह ज्ञान में प्रतिबिम्बित होता है तब ऐसा मालूम होता है, कि मानो ये ज्ञान ही हैं। इस कारण ऐसे अज्ञान से इस अज्ञानी जीव के इनका कर्तृत्व भी आया। क्योंकि इसके ऐसी मान्यता हुई। मैं रागी हूँ, दोषी हूँ, क्रोधी हूँ, मानी हूँ इत्यादि। इस प्रकार वह परका कर्ता होता है ॥९२॥

अब ऐसा कहते हैं कि ज्ञान से कर्म नहीं उत्पन्न होता;—[जीवः] जो जीव [आत्मानम्] अपने को [परम्] पर [अकुर्वन्] नहीं करता [च] और [परम्] परको [आत्मानं अपि] अपने रूप भी [अकुर्वन्] नहीं करता [स जीवः] वह जीव [ज्ञानमयः] ज्ञानमय है [कर्मणा] कर्मों का (अकारकः] करने वाला नहीं [भवति] है।

विधानुभवसम्पादनसमर्थायाः रागद्वेषसुखदुःखादिरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायाः शीतोष्णानुभवसम्पादनसमर्थायाः शीतोष्णायाः पुद्गलपरिणामावस्थाया इव पुद्गलादभिन्नत्वेनात्मनो नित्यमेवात्यन्तभिन्नायास्तन्निमित्ततथाविधानुभवस्य चात्मनोऽभिन्नत्वेन पुद्गलान्नित्यमेवात्यन्तभिन्नस्य ज्ञानात्परस्परविशेषनिर्ज्ञाने सति नानात्वविवेकाच्छीतोष्णरूपेणेवात्मना परिणमितुमशक्येन रागद्वेषसुखदुःखादिरूपेणाज्ञानात्मना मनागप्यपरिणममानो ज्ञानस्य ज्ञानत्वं प्रकटीकुर्वन् स्वयं ज्ञानमयीभूतः एषोऽहं जानाम्येव, रज्यते तु पुद्गल इत्यादिविधिना समग्रस्यापि रागादेः कर्मणो ज्ञानविरुद्धस्याकर्ता प्रतिभाति ।।९३।।

निजात्मानं च परमकुर्वन् सो णाणमओ जीवो कम्माणमकारओ होदि स निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी जीवः कर्मणामकर्ता भवतीति । तथाहि—यथा कश्चित् पुरुषः शीतोष्णरूपायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तथाविधशीतोष्णानुभवस्य चात्मनः सकाशाद् भेदज्ञानात् शीतोऽहमुष्णोऽहमिति परिणतेः कर्ता न भवति । तथा जीवोऽपि निजशुद्धात्मानुभूतेर्भिन्नायाः पुद्गलपरिणामावस्थायास्तन्निमित्तसुखःदुखानुभवस्य च स्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखानुभवभिन्नस्य भेदज्ञानाभ्यासात्परात्मनोर्भेदज्ञाने सति रागद्वेषमोहपरिणाममकुर्वाणः कर्मणां कर्ता न भवति । ततः स्थितं ज्ञानात्कर्म न प्रभवतीत्यभिप्रायः ।।९३।। अथ कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति पृष्टे गाथाद्वयेन प्रत्युत्तरमाह—तिविहो एसुवओगो त्रिविधस्त्रिप्रकार एष प्रत्यक्षीभूत उपयोगलक्षणत्वादुपयोग आत्मा अप्पवियप्पं करेदि स्वस्थभावस्याभावादसद्विकल्पं मिथ्याविकल्पं करोति । केन रूपेण कोहोहं क्रोधोऽहमित्यादि कर्ता

टीका—यह जीव ज्ञान से परका और अपना परस्पर भेदभाव होने से परको तो आप नहीं करता है और अपने को पर नहीं करता है, तब आप ज्ञानी हुआ कर्मों का अकर्ता प्रतिभासित होता है। उसी को स्पष्ट करते हैं—जैसे शीत उष्ण स्वरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था है, वह शीत उष्ण अनुभवन कराने को समर्थ है। वह पुद्गल से अभिन्नता के कारण आत्मा से नित्य ही अत्यन्त भिन्न है उसी प्रकार राग-द्वेष सुख-दुःखादिरूप जो पुद्गल परिणाम की अवस्था है, वह राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप अनुभव कराने में समर्थ है, ऐसी अवस्था जिसको निमित्त है और उस प्रकार का अनुभव आत्मा से अभिन्नता के कारण पुद्गल से अत्यन्त सदा ही भिन्नता के ज्ञान से परस्पर विशेष का भेदज्ञान होने पर नानात्व के विवेक से, जैसे शीत उष्ण रूप आत्मा स्वयं परिणमन में असमर्थ है, उसी प्रकार राग-द्वेष-सुख-दुःखादिरूप भी स्वयं परिणमन करने में असमर्थ है। इसतरह अज्ञानस्वरूप जो राग-द्वेष-सुख-दुःखादिक उन रूप से न परिणमन करता, ज्ञान के ज्ञानत्व को प्रकट करता, ज्ञानमय हुआ, ऐसा जानता है कि "यह मैं रागद्वेषादिक को जानता ही हूं और ये रागरूप पुद्गल हैं।" इत्यादि विधान कर सर्व ही जो ज्ञान से विरुद्ध रागादिक कर्म उनका कर्ता प्रतिभासित नहीं होता ॥

भावार्थ—जब राग-द्वेष सुख-दुःख अवस्था को ज्ञान से भिन्न जाने कि "जैसे पुद्गल की शीत उष्ण अवस्था है, उसी प्रकार रागद्वेषादिक भी है" ऐसा भेदज्ञान हो तब अपने को ज्ञाता जाने, रागादिरूप पुद्गल को जाने। ऐसा होने पर इनका कर्ता आत्मा नहीं होता ज्ञाता ही रहता है ॥९३॥

कथमज्ञानात्कर्म प्रभवतीति चेत्—

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेइ कोहोहं।
कत्ता तस्सुवओगस्स होइ सो अत्तभावस्स ॥९४॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति क्रोधोऽहं।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य भवति स आत्मभावस्य ॥९४॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परात्मनोरविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य भाव्यभावकभावापन्नयोश्चेतनाचेतनयोः सामानाधिकरण्येनानुभवनात्क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति। ततोऽयमात्मा क्रोधोऽहमिति भ्रान्त्या सविकारेण चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सविकारचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात्। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचन-

---

तस्सुवओगस्स होदि सो स जीवः तस्य क्रोधाद्युपयोगस्य विकल्पस्य कर्ता भवति। कथम्भूतस्य, अत्तभावस्स आत्मभावस्याशुद्धनिश्चयेन जीवपरिणामस्येति। तथाहि—सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधो भूत्वा एष उपयोग आत्मा क्रोधाद्यात्मनोर्भाव्यभावकभावापन्नयोः। भाव्यभावकभावापन्नयोः कोऽर्थः? भाव्यः क्रोधादिपरिणत आत्मा, भावको रञ्जकश्चान्तरात्मभावनाविलक्षणो भावक्रोधः। इत्थम्भूतयोर्द्वयोर्भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन्निर्विकल्पस्वरूपाद् भ्रष्टः सन् क्रोधोऽहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति, तस्यैव क्रोधाद्युपयोगपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्ता भवतीति भावार्थः। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभमोहरागद्वेषकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्ये-

---

आगे पूछते हैं कि अज्ञान से कर्म कैसे उत्पन्न होता है? उसका उत्तर कहते हैं;—[एषः] यह [त्रिविधः] तीन प्रकार का [उपयोगः] उपयोग [आत्मविकल्पम्] अपने में विकल्प करता है, कि [अहं क्रोधः] मैं क्रोध स्वरूप हूँ [तस्य] उस [आत्मभावस्य] अपने [उपयोगस्य] उपयोग भाव का [सः] वह [कर्ता] कर्ता [भवति] होता है।

टीका—निश्चय से यह विकारसहित चैतन्यपरिणाम सामान्यतः अज्ञानरूप है, वही मिथ्या अज्ञान और अविरति रूप तीन प्रकार हैं। सो यह परिणाम परकी और आत्मा की अभेद श्रद्धा से, अभेदज्ञान से और अभेदरूप रति से सब भेद को छिपाकर और भाव्यभावकभाव को प्राप्त हुए जो चेतन अचेतन दोनों को समान अनुभव करने से 'मैं क्रोध हूँ' ऐसा आत्मा का विकल्प उत्पन्न करता है और वह क्रोध को ही अपना जानता है। इसलिये यह आत्मा 'मैं क्रोध हूँ' ऐसी भ्रान्ति से विकारसहित चैतन्य परिणाम से परिणमन करता हुआ, उस विकारसहित चैतन्यपरिणामरूप अपने भाव का कर्ता होता है। इस प्रकार जैसे क्रोध कहा है, उसीभांति क्रोध की जगह मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन, इन सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना चाहिये। और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना चाहिये।

कायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयान्यनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥९४॥

तिविहो एसुवओगो अप्पवियप्पं करेदि धम्माई ।
कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स ॥९५॥

त्रिविध एष उपयोग आत्मविकल्पं करोति धर्मादिकम् ।
कर्त्ता तस्योपयोगस्य स आत्मभावस्य ॥९५॥

एष खलु सामान्येनाज्ञानरूपो मिथ्यादर्शनाज्ञानाविरतिरूपस्त्रिविधः सविकारश्चैतन्यपरिणामः परस्परमविशेषदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषविरत्या च समस्तं भेदमपह्नुत्य ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोः परात्मनोः सामानाधिकरण्येनानुभवनाद्धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवान्तरमहमित्यात्मनो विकल्पमुत्पादयति । ततोऽयमात्मा धर्मोऽहमधर्मोऽहमाकाशमहं कालोऽहं पुद्गलोऽहं जीवान्तरमहमिति

यानि । अनेन प्रकारेणाविक्षिप्तचित्तस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविलक्षणा असंख्येयलोकमात्रप्रमिता विभावपरिणामा ज्ञातव्या इति ॥९४॥ अथ;—तिविहो एसुवओगो सामान्येनाज्ञानरूपेणैकविधोऽपि विशेषेण मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्ररूपेण त्रिविधः सन्नेष उपयोग आत्मा अप्पवियप्पं करेदि धम्मादी परद्रव्यात्मनोर्ज्ञेयज्ञायकभावापन्नयोरविशेपदर्शनेनाविशेषज्ञानेनाविशेषपरिणत्या च भेदज्ञानाभावाद्भेदमजानन् धर्मास्तिकायोऽहमित्याद्यात्मनोऽसद्विकल्पमुत्पादयति । कत्ता तस्सुवओगस्स होदि सो अत्तभावस्स निर्मलात्मानुभूतिरहितस्यैव मिथ्याविकल्परूपजीवपरिणामस्याशुद्धनिश्चयेन कर्त्ता भवति । ननु धर्मास्तिकायोऽहमित्यादि कोऽपि न ब्रूते तत्कथं घटत

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान और अविरति ऐसे तीन प्रकार विकारसहित चैतन्यपरिणाम हैं। वह अपना और परका भेद न जानकर ऐसा मानता है कि मैं क्रोधी हूँ, मैं मानी हूँ इत्यादि। ऐसा मानने से अपने विकारसहित चैतन्य परिणाम का यह अज्ञानी जीव कर्त्ता होता है और जब कर्त्ता हुआ तब वे अज्ञानभाव अपने कर्म हुए। इस प्रकार अज्ञान से ही कर्म होता है ॥९४॥ यहाँ कहते हैं कि ऐसे ही यह धर्मद्रव्य आदि अन्य द्रव्यों में भी आत्मविकल्प करता है;—[एषः] यह [उपयोगः] उपयोग [त्रिविधः] तीन प्रकार का होने से [धर्मादिकम्] धर्मआदिक द्रव्यरूप [आत्मविकल्पम्] आत्मविकल्प [करोति] करता है—उनको अपने जानता है [सः] वह [तस्य] उस [उपयोगस्य] उपयोगरूप [आत्मभावस्य] अपने भाव का [कर्त्ता] कर्ता [भवति] होता है।

टीका—सामान्य से अज्ञानरूप सविकार चैतन्यपरिणाम ही मिथ्यादर्शन, अज्ञान अविरतिरूप तीन प्रकार का है। जब यह पर के और अपने परस्पर अविशेष दर्शन से, अविशेष ज्ञान से और अविशेष चारित्र से समस्त भेदों को लोप कर के ज्ञेयज्ञायक भाव को प्राप्त धर्मादि द्रव्यों के अपने और उनके एक समान आधार के अनुभव करने से ऐसा मानता है कि मैं धर्मद्रव्य हूँ, मैं

भ्रान्त्या सोपाधिना चैतन्यपरिणामेन परिणमन् तस्य सोपाधिचैतन्यपरिणामरूपस्यात्मभावस्य कर्ता स्यात् । ततः स्थितं कर्तृत्वमूलमज्ञानं ॥९५॥

एवं पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि मंदबुद्धीओ ।
अप्पाणं अवि य परं करेइ अण्णाणभावेण ॥९६॥

एव पराणि द्रव्याणि आत्मानं करोति मन्दबुद्धिस्तु ।
आत्मानमपि च परं करोति अज्ञानभावेन ॥९६॥

यत्किल क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मोऽहमित्यादिवच्च परद्रव्याण्यात्मीकरोत्यात्मान-

---

इति ? अत्र परिहारः । धर्मास्तिकायोऽयमिति योऽसौ परिच्छित्तिरूपविकल्पो मनसि वर्तते सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायो भण्यते । यथा घटाकारविकल्पपरिणतिज्ञानं घट इति । तथा तद्धर्मास्तिकायोऽयमित्यादिविकल्पः तदा ज्ञेयतत्त्वविचारकाले करोति जीवः तदा शुद्धात्मस्वरूपं विस्मरति तस्मिन्विकल्पे कृते सति धर्मोऽहमिति विकल्प उपचारेण घटत इति भावार्थः । ततः स्थितं शुद्धात्मसंवित्तेरभावरूपमज्ञानं कर्मकर्तृत्वस्य कारणं भवति ॥९५॥ एवं एवं पूर्वोक्तगाथाद्वयकथितप्रकारेण पराणि दव्वाणि अप्पयं कुणदि क्रोधोऽहमित्यादिवद्धर्मास्तिकायोऽहमित्यादिवच्च क्रोधादिस्वकीयपरिणामरूपाणि तथैव धर्मास्तिकायादिज्ञेयरूपाणि च

अधर्मद्रव्य हूँ, मैं आकाश द्रव्य हूँ, मैं काल द्रव्य हूँ, मैं पुद्गल द्रव्य हूँ, मैं अन्य जीव भी हूँ, ऐसे भ्रम से उपाधि सहित अपने चैतन्यपरिणाम से परिणमन करता हुआ उस उपाधिसहित चैतन्यपरिणमन रूप अपने भाव का कर्ता होता है।

भावार्थ—यह आत्मा अज्ञान से धर्मादि द्रव्य में भी आपा मानता है। अतः उस अपने अज्ञानरूप चैतन्यपरिणाम का स्वयं ही कर्ता होता है। यहाँ कोई प्रश्न करता है कि पुद्गल और अन्य जीव तो प्रवृत्ति में दीखते हैं, उसमें तो अज्ञान से आपा मानना ठीक है, परन्तु धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य, कालद्रव्य तो देखने में भी नहीं आते, उनमें आपा मानना कैसे कहा ? उसका समाधान करते हुए कहते हैं—कि धर्मादिक का भी लक्षण अनुभव में आता है। धर्म अधर्म का लक्षण गतिहेतुत्व और स्थितिहेतुत्व है, उनका गमन करना, ठहरना जिससे होता है उसमें ममत्वबुद्धि होती है और आकाश के अवगाहरूप क्षेत्र में ममत्व होता है। तथा काल के समय मुहूर्त आदि में मरना जीना आदि कार्य होता है उसमें ममत्वबुद्धि होती है ऐसा जानना ॥९५॥

यहाँ इस हेतु कर्तृत्व का मूल कारण अज्ञान ठहरा ऐसा कहते हैं;—[**एवं तु**] ऐसे पूर्वकथितरीति से [**मन्दबुद्धिः**] अज्ञानी [**अज्ञानभावेन**] अज्ञानभाव से [**पराणि द्रव्याणि**] परद्रव्यों को [**आत्मानं**] अपनी [**करोति**] करता है [**अपि च**] और [**आत्मानम्**] अपने को [**परं करोति**] पर करता है।

टीका—जो प्रकटरूप से यह आत्मा मैं क्रोध हूँ, मैं धर्मद्रव्य हूँ इत्यादि पूर्वोक्त प्रकार से पर-

मपि परद्रव्यीकरोत्येवमात्मा, [1]तदयमशेषवस्तुसम्बन्धविधुरनिरवधिशुद्धचैतन्यधातुमयोऽप्यज्ञानादेव सविकारसोपाधीकृतचैतन्यपरिणामतया तथाविधस्यात्मभावस्य कर्ता प्रतिभातीत्यात्मनो भूताविष्टध्यानाविष्टस्येव प्रतिष्ठितं कर्तृत्वमूलमज्ञानम्। तथाहि—यथा खलु भूताविष्टोऽज्ञानाद् भूतात्मानावेकीकुर्वन्नमानुषोचितविशिष्टचेष्टावष्टम्भनिर्भरभयङ्करारम्भगम्भीरामानुषव्यवहारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। तथायमात्माप्यज्ञानादेव भाव्यभावकौ परात्मानावेकीकुर्वन्नविकारानुभूतिमात्रभावकानुचितविचित्रभाव्यक्रोधादिविकारकरम्बितचैतन्यपरिणामविकारतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति। यथा चापरीक्षकाचार्यादेशेन मुग्धः कश्चिन्महिषध्यानाविष्टोऽज्ञानान्महिषात्मानावेकीकुर्वन्नात्मन्यभ्रङ्कषविषाणमहामहिषत्वाध्यासात्

परद्रव्याणि आत्मानं करोति। सः कः कर्ता, मंदबुद्धीओ मन्दबुद्धिर्निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदविज्ञानरहितः अप्पाणं अवि य परं करेदि शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानमपि च परं स्वस्वरूपाद्भिन्नं करोति रागादिषु योजयतीत्यर्थः। केन, अण्णाणभावेण अज्ञानभावेनेति। ततः स्थितं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टान्तेन धर्मादिज्ञेयविषये ध्यानाविष्टदृष्टान्तेनेव शुद्धात्मसंवित्त्यभावरूपमज्ञानं कर्तृकर्मत्वस्य कारणं भवति। तद्यथा—यथा कोऽपि पुरुषो भूतादिग्रहाविष्टो भूतात्मनोर्भेदमजानन् सन्नमानुषोचितशिलास्तम्भचालनादिकमद्भुतव्यापारं कुर्वन्सन् तस्य व्यापारस्य कर्ता भवति। तथा जीवोऽपि वीतरागपरमसामायिकपरिणतशुद्धोपयोगलक्षणभेदज्ञानाभावात्कामक्रोधादिशुद्धात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन् क्रोधोऽहं कामोऽहमित्यादिविकल्पं कुर्वन्सन् कर्मणः कर्ता भवति। एवं क्रोधादिविषये भूताविष्टदृष्टान्तो गतः। तथैव च यथा कश्चिन् महामहिषादिध्यानाविष्टो महिषाद्यात्मनोर्द्वयोर्भेदमजानन्महामहिषोऽहं गरुडोऽहं कामदेवोऽहमग्निरहं दुग्धधारासमानामृतराशिरहमित्याद्यात्मविकल्पं

द्रव्यों को अपनी करता है और अपने को परद्रव्यरूप करता है, ऐसा यह आत्मा यद्यपि समस्तवस्तु के सम्बन्ध से रहित अमर्यादरूप शुद्धचैतन्य धातुमय है तो भी अज्ञान से सविकार सोपाधिरूप किये अपने चैतन्य परिणामरूपसे उसप्रकार का अपने परिणाम का कर्ता प्रतिभासित होता है। इसप्रकार आत्मा के भूताविष्ट पुरुष की भांति तथा ध्यानाविष्ट पुरुष की भांति कर्तापने का मूल अज्ञान प्रतिष्ठित हुआ। यही प्रकट दृष्टान्त से दिखलाते हैं—जैसे कोई पुरुष भूताविष्ट हुआ (अपने शरीरमें भूतप्रवेश किया हुआ) अज्ञान से भूत को और अपने को एकरूप करता हुआ, जैसी मनुष्य के योग्य चेष्टा न हो, वैसी करने लगा। उसी चेष्टा का आलम्बन रूप अत्यन्त भयकारी आरम्भ से भरा अमानुष व्यवहार से उस प्रकार चेष्टारूप भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है, उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ही पर और आत्मा को भाव्य-भावकरूप एक करता हुआ निर्विकार अनुभूतिमात्र भावक के अयोग्य अनेकप्रकार भाव्यरूप क्रोधादिविकार से मिले चैतन्य के विकारसहित परिणाम से उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है। जैसे कोई भोला पुरुष अपरीक्षक आचार्य के उपदेश से भैंसे का ध्यान करने लगा, वह अज्ञान से भैंसे को और अपने को एकरूप करता हुआ अपने में बादल को स्पर्श करते हुए सींग वाले महान् भैंसापने के अध्यास

१. तदयमशेषवस्तु इत्यपि पाठः।

प्रच्युतमानुषोचितापवरकद्वारविनिस्सरणतया तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति । तथायमात्माप्यज्ञानाद् ज्ञेयज्ञायको परात्मानावेकीकुर्वन्नात्मनि परद्रव्याध्यासान्नो-इन्द्रियविषयीकृतधर्माधर्माकाशकालपुद्गलजीवान्तरनिरुद्धशुद्धचैतन्यधातुतया तथेन्द्रिय-विषयीकृतरूपिपदार्थतिरोहितकेवलबोधतया मृतककलेवरमूर्छितपरमामृतविज्ञानघन-तया च तथाविधस्य भावस्य कर्ता प्रतिभाति ॥९६॥

कुर्वाणः सन् तस्य विकल्पस्य कर्ता भवति । तथा च जीवोऽपि सुखदुःखादिसमताभावनापरिणतशुद्धोपयोग-लक्षणभेदज्ञानाभावाद्धर्मादिज्ञेयपदार्थानां शुद्धात्मनश्च भेदमजानन् धर्मास्तिकायोऽहमित्याद्यात्मविकल्पं करोति, तस्यैव विकल्पस्य कर्ता भवति । तस्मिन् विकल्पकर्तृत्वे सति द्रव्यकर्मबन्धो भवतीति । एवं धर्मास्तिकायादि-ज्ञेयपदार्थविषये ध्यानदृष्टान्तो गतः । हे भगवन् धर्मास्तिकायोऽयं जीवोऽयमित्यादिज्ञेयतत्त्वविचारविकल्पे क्रियमाणे यदि कर्मबन्धो भवतीति तर्हि ज्ञेयतत्त्वविचारो वृथेति न कर्तव्यः । नैवं वक्तव्यम् । त्रिगुप्तिपरिगत-निर्विकल्पसमाधिकाले यद्यपि न कर्तव्यस्तथापि तस्य त्रिगुप्तिध्यानस्याभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा आगम-भाषया तु मोक्षमुपादेयं कृत्वा सरागसम्यक्त्वकाले विषयकषायवञ्चनार्थं कर्तव्यः । तेन तत्त्वविचारेण मुख्य-वृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परम्परया निर्वाणं च भवतीति नास्ति दोषः । किंतु तत्र तत्त्वविचारकाले वीतराग-स्वसंवेदनज्ञानपरिणतः शुद्धात्मा साक्षादुपादेय कर्तव्यः इति ज्ञातव्यम् ननु वीतरागस्वसंवेदनज्ञानविचारकाले वीतरागविशेषणं किमिति क्रियते प्रचुरेण भवद्भिः, किं सरागमपि स्वसंवेदनज्ञानमस्तीति ? अत्रोत्तरं विषय-सुखानुभवानन्दरूपं स्वसंवेदनज्ञानं सर्वजनप्रसिद्धं सरागमप्यस्ति । शुद्धात्मसुखानुभूतिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं वीत-रागमिति । इदं व्याख्यानं स्वसंवेदनज्ञानव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यमिति भावार्थः ॥९६॥ ततः स्थित-मेतत् शुद्धात्मानुभूतिलक्षणसम्यग्ज्ञानाभावादेव कर्मकर्तृत्वम्—एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहि परिकहिदो एतेन पूर्वोक्तगाथात्रयव्याख्यानरूपेणाज्ञानभावेन स आत्मा कर्ता भणितः । कैर्निश्चयविद्भिर्निश्चयज्ञैः सर्वज्ञैः । तथाहि—वीतरागपरमसामायिकसंयमपरिणताभेदरत्नत्रयस्य प्रतिपक्षभूतेन पूर्वगाथात्रयव्याख्यानप्रकारेणाज्ञान-भावेन यदात्मा परिणमति, तदा तस्यैव मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता भवति, ततश्च द्रव्यकर्म-बन्धो भवति । यदा तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानुभूतिपरिणामेन परिणमति तदा सम्यग्ज्ञानी भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्मरूपस्याज्ञानभावस्य कर्ता न भवति । तत्कर्तृत्वाभावे हि द्रव्यकर्मबन्धोऽपि न भवति ।

से मनुष्य के योग्य छोटी कुटी के द्वार से निकलने से च्युत हुआ, उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है । उसीप्रकार यह आत्मा भी अज्ञान से ज्ञेयज्ञायक जो पर और आत्मा उनको एकरूप करता हुआ आत्मा में परद्रव्य के अध्यास के निश्चय से मन के विषयरूप किये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवद्रव्य उनसे रुकी जो शुद्ध चैतन्य धातु, उससे तथा इंद्रियों के विषयरूप किये जो रूपी पदार्थ उनसे ढका गया जो अपना केवल (एक) ज्ञान उससे तथा मृतक शरीर में मूर्छित हुआ परम अमृतरूप विज्ञानघन आत्मा उससे उसप्रकार के भाव का कर्ता प्रतिभासित होता है ।

भावार्थ—यह आत्मा अज्ञान से क्रोधादिक को तो भाव्यभावकसम्बन्ध से अपने से एकरूप मानता है और धर्मादिद्रव्य ज्ञेयरूप हैं, उनको भी अपने से एकरूप मानता है । अतः जैसा अपना भाव होता है, उसी भाव का कर्ता होता है । वहां क्रोधादिक से एक मानने का तो भूताविष्ट पुरुष का दृष्टान्त है और धर्मादि अन्यद्रव्य से एकता मानने का ध्यानाविष्ट पुरुष का दृष्टान्त है ॥९६॥

ततः स्थितमेतद् ज्ञानान्नश्यति कर्तृत्वम्—

एदेण दु सो कत्ता आदा णिच्छयविदूहिं परिकहिदो ।
एवं खलु जो जाणदि सो मुंचदि सव्वकत्तित्तं ॥९७॥

एतेन तु स कर्तात्मा निश्चयविद्भिः परिकथितः ।
एवं खलु यो जानाति स मुञ्चति सर्वकर्तृत्वम् ॥९७॥

येनायमज्ञानात्परात्मनोरेकत्वविकल्पमात्मनः करोति तेनात्मा निश्चयतः कर्ता प्रतिभाति । यस्त्वेवं जानाति स समस्तं कर्तृत्वमुत्सृजति, ततः स खल्वकर्ता प्रतिभाति । तथाहि—इहायमात्मा किलाज्ञानी सन्नज्ञानादासंसारप्रसिद्धेन मिलितस्वादस्वादनेन मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिरनादित एव स्यात् ततः परात्मानावेकत्वेन जानाति ततः क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनः करोति ततो निर्विकल्पादकृतकादेकस्माद्विज्ञानघनात्प्रभ्रष्टो वारम्वारमनेकविकल्पैः परिणमन् कर्ता प्रतिभाति । ज्ञानी तु सन् ज्ञानात्तदादिप्रसिद्ध्यता प्रत्येकस्वादस्वादनेनोन्मुद्रितभेदसंवेदनशक्तिः स्यात् । ततोऽनादिनिधनानवरतस्वदमाननिखिलरसान्तरविविक्तात्यन्तमधुरचैतन्यैकरसोऽयमात्मा

एवं खलु जो जाणदि मुंचदि सव्वकत्तित्तं एवं गाथापूर्वार्द्धव्याख्यानप्रकारेण मनसि योऽसौ वस्तुस्वरूपं जानाति स सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति । निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति । एवमज्ञानात्कर्म प्रभवति संज्ञानान्नश्यतीति स्थितम् । इत्यज्ञानिसंज्ञानिजीव-

---

आगे कहते हैं कि इसीकारण से यह स्थित हुआ कि ज्ञान से कर्तृत्व का नाश होता है;—
[एतेन तु] इस पूर्वकथित कारण से [निश्चयविद्भिः] निश्चय से जानने वाले ज्ञानियों ने [स आत्मा] वह आत्मा [कर्ता परिकथितः] कर्ता कहा है [एवं खलु] इस प्रकार [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह ज्ञानी हुआ [सर्वकर्तृत्वम्] सब कर्तृत्व को [मुञ्चति] छोड़ देता है ।

टीका—जिसकारण से यह आत्मा अज्ञान से पर के और आत्मा के एकत्व का विकल्प करता है, उसकारण से निश्चय से कर्ता प्रतिभासित होता है ऐसा जो जानता है, वह समस्त कर्तृत्व को छोड़ देता है, इस कारण वह अकर्ता प्रतिभासित होता है। यही प्रकट कहते हैं—इस जगत में यह आत्मा अज्ञानी हुआ अज्ञान से अनादि संसार से लगाकर पुद्गल कर्मका और अपने भाव के मिले हुए आस्वाद का स्वाद लेने से जिसकी अपने भिन्न अनुभव की शक्ति मुद्रित हो गई है, ऐसा अनादिकाल से ही है। इसकारण पर को और अपने को एकरूप जानता है। मैं क्रोधी हूँ इत्यादिक विकल्प अपने में करता है, इसलिए निर्विकल्परूप अकृत्रिम अपने विज्ञानघनस्वभाव से भ्रष्ट हुआ वारम्वार अनेक विकल्पों से परिणमन करता हुआ कर्ता प्रतिभासित होता है। और जब ज्ञानी हो जाय, तब सम्यग्ज्ञान से उस सम्यग्ज्ञान को आदि लेकर प्रसिद्ध हुआ जो पुद्गलकर्म के स्वाद से अपना भिन्न स्वाद, उसके आस्वादन से जिसकी भेद के अनुभव की शक्ति उघड़ गई है, ऐसा होता है, तब ऐसा जानता है कि अनादि निधन निरन्तर स्वाद में आता हुआ

भिन्नरसाः कषायास्तैः सह यदेकत्वविकल्पकरणं तदज्ञानादित्येवं नानात्वेन परात्मानौ जानाति। ततोऽकृतकमेकं ज्ञानमेवाहं न पुनः कृतकोऽनेकः क्रोधादिरपीति, क्रोधोऽहमित्यादिविकल्पमात्मनो मनागपि न करोति, ततः समस्तमपि कर्तृत्वमपास्यति। ततो नित्यमेवोदासीनावस्थो जानन् एवास्ते। ततो निर्विकल्पोऽकृतक एको विज्ञानघनो भूतोऽत्यन्तमकर्ता प्रतिभाति ॥९७॥

अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यवहारकारी ज्ञानं स्वयं किल भवन्नपि रज्यते यः।
पीत्वा दधीक्षुमधुराम्लरसातिगृद्ध्या गां दोग्धि दुग्धमिव नूनमसौ रसालम् ॥५७॥

प्रतिपादनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाषट्कं गतम् एवं द्विक्रियावादिनिराकरणविशेषव्याख्यानरूपेण द्वादशगाथा गताः। अत्र पुनरप्युपसंहाररूपेणैकादशगाथापर्यंतं द्विक्रियावादिनिराकरणविषये विशेषव्याख्यानं करोति ॥९७॥ तद्यथा—परभावानात्मा करोतीति यदव्यवहारिणो वदन्ति स व्यामोह इत्युपदिशति—ववहारेण दु एवं[1] करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि यतो यथा अन्योऽन्यव्यवहारेणैवं तु पुनः घटपटरथादि बहिर्द्रव्याणीहापूर्वेण करोत्यात्मा करणाणि य कम्मामि य णोकम्माणीह विविहाणि तथाभ्यन्तरेऽपि करणाणीन्द्रियाणि कर्माणि च

समस्त अन्यरस के स्वादों से विलक्षण, अत्यन्त मधुर एक चैतन्यरस-स्वरूप तो यह आत्मा है, और कषाय इससे भिन्न रस हैं, कसैले हैं, ये स्वाद हैं, उनसे युक्त एकत्व का विकल्प करना है; वह अज्ञान से है। इस प्रकार पर को और आत्मा को पृथक्-पृथक् नानारूप से जानता है। इसलिए अकृत्रिम, नित्य, एक अज्ञान ही मैं हूँ और कृत्रिम, अनित्य, अनेक जो ये क्रोधादिक हैं, वे मैं नहीं हूँ ऐसा जाने तब 'क्रोधादिक' मैं हूँ इत्यादि विकल्प अपने में किंचिन्मात्र भी नहीं करता। इस कारण समस्त ही कर्तृत्व को छोड़ता हुआ सदा ही उदासीन वीतराग अवस्था स्वरूप होकर ज्ञायक ही रहता है इसलिए निर्विकल्प स्वरूप अकृत्रिम नित्य एक विज्ञानघन हुआ अत्यन्त अकर्ता प्रतिभासित होता है।

भावार्थ—जो परद्रव्य के और परद्रव्य के भावों के अपने कर्तृत्व को अज्ञान जाने तब आप कर्ता क्यों बनें? अज्ञानी रहना हो तो परद्रव्य का कर्ता बने। इसलिए ज्ञान होने के बाद परद्रव्य का कर्तृत्व नहीं रहता ॥९७॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—अज्ञान इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष आप निश्चय से ज्ञानरूप हुआ भी अज्ञान से तृणसहित मिले हुए अन्नादिक सुन्दर आहार को खाने वाले हस्ती आदि तिर्यञ्च के समान होता है, वह शिखरिन (श्रीखण्ड) को पीकर उसके दही और मीठे के मिले हुए खट्टे मीठे रस की अत्यन्त इच्छा से उसके रसभेद को न जानकर दूध के लिये गाय को दोहता है।

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष शिखरिन को पीकर उसके स्वाद की अतिइच्छा से रस के ज्ञान बिना ऐसा जानता है कि यह गाय के दूध में स्वाद है, अतः अतिलुब्ध हुआ गाय को दोहता है; उसीप्रकार अज्ञानी पुरुष अपना और पर का भेद न जान कर और विषयों में स्वाद ज्ञानकर पुद्गलकर्म को अतिलुब्ध होकर ग्रहण करता है, अपने ज्ञान का और पुद्गलकर्म का स्वाद पृथक् नहीं अनुभव करता। वह पशु की भाँति घासमें मिले हुए अन्न का एक स्वाद लेता है ॥४७॥

---

१. अत्र आदा इत्यपि पाठः।

अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया धावन्ति पातुं मृगा,
अज्ञानात्तमसि द्रवन्ति भुजगाध्यासेन रज्जौ जनः ।
अज्ञानाच्च विकल्पचक्रकरणाद्वातोत्तरङ्गाब्धिवत्,
शुद्धज्ञानमया अपि स्वयममी कर्त्रीभवन्त्याकुलाः ॥५८॥

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो, जानाति हंस इव वाःपयसोर्विशेषम् ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो जानाति एव हि करोति न किंचनापि ॥५९॥

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था,
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः ।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः,
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥६०॥

नोकर्माणि इह जगति विविधानि क्रोधादिद्रव्यकर्माणीहापूर्वेण विशेषेण करोतीति मन्यन्ते, ततोऽस्ति व्यामोहो

पुनः कहते हैं कि ऐसे अज्ञान से पुद्गलकर्म का कर्ता होता है—अज्ञानान्मृग इत्यादि। अर्थ—ये लोक के जन निश्चय से शुद्ध एक ज्ञानमय हैं, तो भी वे अज्ञान से व्याकुल होकर परद्रव्य के कर्तारूप होते हैं। जैसे पवन से कल्लोलों सहित समुद्र होता है, उसी भांति ये विकल्पों के समूह करते हैं, इसलिये कर्ता बन रहे हैं। देखो अज्ञान से ही मृग बालू को जल जानकर पीने को दौड़ते हैं और अज्ञान से ही लोक अन्धकार में रस्सी में सर्प का निश्चय कर भय से भागते हैं।

भावार्थ—अज्ञान से क्या नहीं होता ? मृग तो वालू को जल जानकर पीने को दौड़ता है और खेद-खिन्न होता है, लोक अँधेरे में रस्से को सर्प मान डर कर भागते हैं, उसी प्रकार यह आत्मा, जैसे वायु से समुद्र क्षोभरूप हो जाता है, वैसे अज्ञान से अनेक विकल्पों से क्षोभरूप होता है। यद्यपि वह परमार्थ से शुद्ध ज्ञानघन है तो भी अज्ञान से कर्ता होता है। ॥५८॥

फिर कहते हैं कि ज्ञान से कर्ता नहीं होता—ज्ञानाद् इत्यादि। अर्थ—जो पुरुष ज्ञान से और भेदज्ञान से पर का तथा आत्मा का विशेष भेद जानता है, वह पुरुष हंस के समान (जैसे हंस दूध और जल मिले हुए को भेदकर ग्रहण करता है) सदा अचल चैतन्यधातु को आश्रय करता हुआ जानता ही है, और कुछ भी नहीं करता।

भावार्थ—जो अपना पराया भेद जानता है, वह ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। ॥५९॥

जो कुछ जाना जाता है, वह ज्ञान से ही जाना जाता है—ज्ञानादेव इत्यादि। अर्थ—जैसे अग्नि और जल की उष्णता और शीतलता की व्यवस्था है, वह ज्ञान से ही जानी जाती है, लवण तथा व्यञ्जन के स्वाद का भेद ज्ञान से ही जाना जाता है। उसी प्रकार अपने रस से विकासरूप हुआ नित्य चैतन्यधातु उसका तथा क्रोधादिकभावों का भेद भी ज्ञान से ही जाना जाता है। यह भेद कर्तृत्व के भाव को भेदरूप करता हुआ प्रकट होता है ॥६०॥

अज्ञानं ज्ञानमप्येवं कुर्वन्नात्मानमञ्जसा ।
स्यात्कर्तात्मात्मभावस्य परभावस्य न क्वचित् ॥६१॥
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम् ।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥६२॥

तथा हि:—

ववहारेण दु आदा करेदि घडपडरथाणि दव्वाणि ।
करणाणि य कम्माणि य णोकम्माणीह विविहाणि ॥९८॥

व्यवहारेण त्वात्मा करोति घटपटरथान् द्रव्याणि ।
करणानि च कर्माणि च नोकर्माणीह विविधानि ॥९८॥

व्यवहारिणां हि यतो यथायमात्मात्मविकल्पव्यापाराभ्यां घटादिपरद्रव्यात्मकं बहिःकर्म कुर्वन् प्रतिभाति ततस्तथा क्रोधादिपरद्रव्यात्मकं च समस्तमन्तःकर्मापि करोत्यविशेषादित्यस्ति व्यामोहः ॥९८॥

मूढत्वं व्यवहारिणम् ॥९८॥ अथ स व्यामोहः सत्यो न भवतीति कथयति—जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज

यद्यपि आत्मा कर्ता होता है तो भी वह अपने भाव का ही है—अज्ञानम् इत्यादि। अर्थ—इस प्रकार अज्ञानरूप तथा ज्ञानरूप भी आत्मा को ही करता हुआ आत्मा प्रकटरूप से अपने ही भाव का कर्ता है, वह परभाव का कर्ता तो कभी नहीं है। अव आगे की गाथा की सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं ॥६१॥ आत्मा इत्यादि। अर्थ—आत्मा ज्ञान स्वरूप है, वह स्वयं ज्ञान ही है, ज्ञान से अन्य किस को करे? किसी को नहीं करता। और परभाव का कर्ता आत्मा है ऐसा मानना तथा कहना व्यवहारी जीवों का मोह (अज्ञान) है ॥६२॥

आगे यही कहते हैं कि व्यवहारी ऐसा कहते हैं:—[आत्मा] आत्मा [व्यवहारेण तु] व्यवहार से [घटपटरथान् द्रव्याणि] घट पट रथ इन वस्तुओं को [करोति] करता है [च] और [करणानि] इन्द्रियादिक करणपदार्थों को करता है [च] और [कर्माणि] ज्ञानावरणादिक तथा क्रोधादिक द्रव्यकर्म, भावकर्मों को करता है [च इह] तथा इस लोक में [विविधानि] अनेक प्रकार के [नोकर्माणि] शरीरादि नोकर्मों को करता है।

टीका—जिस कारण व्यवहारी जीवों को यह आत्मा अपने विकल्प और व्यापार इन दोनों के घट आदि परद्रव्य स्वरूप वाह्यकर्म का करता प्रतिभासित होता है, इसकारण उसीप्रकार क्रोधादिक परद्रव्यस्वरूप समस्त अन्तरङ्गकर्म को भी करता है। क्योंकि दोनों परद्रव्यस्वरूप हैं इनके करने में भेद नहीं, यह व्यवहारी जीवों का अज्ञान है।

स न सन्—

जदि सो परदव्वाणि य करिज्ज णियमेण तम्मओ होज्ज ।
जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता ॥९९॥

यदि स परद्रव्याणि च कुर्यान्नियमेन तन्मयो भवेत् ।
यस्मान्न तन्मयस्तेन स न तेषां भवति कर्ता ॥९९॥

यदि खल्वयमात्मा परद्रव्यात्मकं कर्म कुर्यात् तदा परिणामपरिणामिभावान्यथानुपपत्तेर्नियमेन तन्मयः स्यात् न च द्रव्यान्तरमयत्वे द्रव्योच्छेदापत्तेस्तन्मयोऽस्ति । ततो व्याप्यव्यापकभावेन न तस्य कर्तास्ति ॥९९॥

णियमेण तम्मयो होज्ज यदि स आत्मा परद्रव्याणि नियमेनैकान्तरूपेण करोति तदा तन्मय स्यात् जम्हा ण तम्मओ तेण सो ण तेसिं हवदि कत्ता । यस्मात्सहजशुद्धस्वाभाविकानन्तसुखादिस्वरूपं त्यक्त्वा परद्रव्येण सह तन्मयो न भवति । ततः स आत्मा तेषां परद्रव्याणामुपादानरूपेण कर्ता न भवतीत्यभिप्रायः ॥९९॥ अथ न केवलमुपादानरूपेण कर्ता न भवति किंतु निमित्तरूपेणापीत्युपदिशति—जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे न केवलमुपादानरूपेण निमित्तरूपेणावि जीवो न करोति घटं न पटं नैव शेषद्रव्याणि । कुत इति चेत् ? नित्यं सर्वकालं कर्मकर्तृत्वानुषङ्गात् कस्तर्हि करोति ? जोगुवओगा उप्पादगा य आत्मनो विकल्पव्यापाररूपौ विनश्वरौ योगोपयोगावेव तत्रोत्पादकौ भवतः । सो तेसिं हवदि कत्ता सुखदुःखजीवितमरणादिसमताभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदविज्ञानाभावाद्यदा काले शुद्धबुद्धैकस्वभावात्परमात्मस्वरूपाद्भ्रष्टो भवति

भावार्थ—परद्रव्यों का कर्ता अपने को मानना यह व्यवहार है, वह परमार्थ दृष्टि में अज्ञान है ॥९८॥

यह व्यवहार का मानना परमार्थ दृष्टि में अच्छा नहीं है, सत्यार्थ नहीं है;—[यदि] जो [सः] वह आत्मा [परद्रव्याणि] पर द्रव्यों को [कुर्यात्] करे [च] तो [नियमेन] वह आत्मा उन परद्रव्यों से नियम से [तन्मयः] तन्मय [भवेत्] हो जाय [यस्मात्] परन्तु [तन्मयः न] तन्मय नहीं होता [तेन] इसी कारण [सः] वह [तेषाम्] उनका [कर्ता] कर्ता [न भवति] नहीं है।

टीका—यदि निश्चय से यह आत्मा परद्रव्यस्वरूप कर्म को करे, तो परिणाम-परिणामिभाव की अन्यथा अप्राप्ति होने से नियम से तन्मय हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं है। यदि ऐसे हो तो अन्य द्रव्य से अन्यद्रव्य तन्मय होने से अन्यद्रव्य का नाश हो जाय। इसलिये व्याप्यव्यापकभाव से तो उस द्रव्य का कर्त्ता आत्मा नहीं है।

भावार्थ—यदि आत्मा अन्यद्रव्य का कर्ता होवे, तो पृथक्-पृथक् द्रव्य क्यों रहें, अन्यद्रव्य का नाश हो जाय यह बड़ा दोष आवे। इसलिये अन्यद्रव्य का कर्ता अन्यद्रव्य को कहना अच्छा नहीं है ॥९९॥

निमित्तनैमित्तकभावेनापि न कर्तास्ति—

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे ।
जोगुवओगा उप्पादगा य तेसिं हवदि कत्ता ॥१००॥

जीवो न करोति घटं नैव पटं नैव शेषकाणि द्रव्याणि ।
योगोपयोगावुत्पादकौ च तयोर्भवति कर्ता ॥ १०० ॥

यत्किल घटादि क्रोधादि वा परद्रव्यात्मकं कर्म तदयमात्मा तन्मयात्मानुषङ्गाद् व्याप्यव्यापकभावेन तावन्न करोति नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्निमित्तनैमित्तकभावेनापि न तत्कुर्यात् । अनित्यौ योगोपयोगावेव तत्र निमित्तत्वेन कर्त्तारौ योगोपयोगयोस्त्वात्मविकल्पव्यापारयोः कदाचिदज्ञानेन करणादात्मापि कर्तास्तु तथापि न परद्रव्यात्मककर्मकर्ता स्यात् ॥१००॥

तदा स जीवस्तयोर्योगोपयोगयोः कदाचित्कर्ता भवति । न सर्वदा । अत्र योगशब्देन वहिरङ्गहस्तादिव्यापारः उपयोगशब्देन चान्तरङ्गविकल्पो गृह्यते । इति परम्परया निमित्तरूपेण घटादिविषये जीवस्य कर्तृत्वं स्यात् । यदि पुनः मुख्यवृत्त्या निमित्तकर्तृत्वं भवति तर्हि जीवस्य नित्यत्वात् । सर्वदैव कर्मकर्तृत्वप्रसङ्गात् मोक्षाभावः । इति व्यवहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१००॥

यदि कोई माने, कि व्याप्य-व्यापक भाव से तो वह कर्ता नहीं है, तो भी निमित्तनैमित्तिकभाव से तो कर्ता होगा, उसका निषेध करते हैं कि निमित्तनैमित्तिक भाव से भी कर्त्ता नहीं है;—[जीवः] जीव [घटं] घड़े को [न करोति] नहीं करता [एवम्] और [पटं] पट को भी [न] नहीं करता [शेषकाणि] शेष [द्रव्याणि] द्रव्यों को भी [नैव] नहीं करता [योगोपयोगौ च] जीव के योग और उपयोग दोनों [उत्पादकौ] घटादिक के उत्पन्न करने के निमित्त हैं [तयोः] उन दोनों योग और उपयोगों का यह जीव [कर्त्ता] कर्ता [भवति] है ।

टीका—जो कुछ घटादिक तथा क्रोधादिक परद्रव्य स्वरूप प्रगटकर्म देखे जाते हैं उनको यह आत्मा व्याप्यव्यापक भाव से नहीं करता । यदि ऐसे करे तो उनसे तन्मयता का प्रसंग आ जाय । तथा निमित्तनैमित्तिकभाव से भी नहीं करता क्योंकि ऐसे करे तो सदा सब अवस्थाओं में कर्तृत्व का प्रसंग आ जाय । इन कर्मों को कौन करता है, वह कहते हैं । इस आत्मा के योग और उपयोग दोनों अनित्य हैं. सब अवस्थाओं में व्यापक नहीं हैं । वे उन घटादिक के तथा क्रोधादि परद्रव्यस्वरूप कर्मों के निमित्तमात्र से कर्ता कहे जाते हैं । योग तो आत्मा के प्रदेशों का चलनरूप व्यापार है और उपयोग आत्मा के चैतन्य का रागादि विकाररूप परिणाम है । कदाचित् अज्ञान से इन दोनों को करने से इनका आत्मा को भी कर्ता कहा जाता है । परन्तु वह परद्रव्यस्वरूप कर्म का कर्ता कभी भी नहीं है ।

ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात्—

जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाण आवरणा।
ण करेदि ताणि आदा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥१०१॥

ये पुद्गलद्रव्याणां परिणामा भवन्ति ज्ञानावरणानि।
न करोति तान्यात्मा यो जानाति स भवति ज्ञानी ॥१०१॥

ये खलु पुद्गलद्रव्याणां परिणामा गोरसव्याप्तदधिदुग्धमधुराम्लपरिणामवत्पुद्गलद्रव्यव्याप्तत्वेन भवन्तो ज्ञानावरणानि भवन्ति तानि तटस्थगोरसाध्यक्ष इव न नाम करोति ज्ञानी किन्तु यथा स गोरसाध्यक्षस्तद्दर्शनमात्मव्याप्तत्वेन प्रभवद्व्याप्य पश्यत्येव तथा पुद्गलद्रव्यपरिणामनिमित्तं ज्ञानमात्मव्याप्यत्वेन प्रभवद्व्याप्य जाना-

---

अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता न च परभावस्येति कथयति—जे पुग्गलदव्वाणं परिणामा होंति णाणआवरणा ये कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपरिणामाः पर्याया ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपा भवन्ति ण करेदि ताणि आदा तान् पर्यायान् व्याप्यव्यापकभावेन मृत्तिकाकलशमिवात्मा न करोति गोरसाध्यक्षवत् जो जाणदि सो हवदि णाणी इति यो जानाति मिथ्यात्वविषयकषायपरित्यागं कृत्वा निर्विकल्पसमाधौ स्थितः सन् स ज्ञानी भवति। न च परिज्ञानमात्रेण। इदमत्र तात्पर्यम्। वीतरागस्वसंवेदनज्ञानी जीवः शुद्धनयेन

भावार्थ—आत्मा के योग उपयोग, घटादि तथा क्रोधादिक के निमित्त हैं, उनको तो उनका निमित्तकर्ता कहा जा सकता है परन्तु आत्मा को उनका कर्ता नहीं कहा जा सकता। तथा आत्मा को योग उपयोग का कर्ता संसार अवस्था में अज्ञान से कहते हैं। यहां तात्पर्य ऐसा है कि, द्रव्य दृष्टि से तो कोई द्रव्य अन्य किसी द्रव्य का कर्ता नहीं है परन्तु पर्यायदृष्टि से किसी द्रव्य का पर्याय किसी समय किसी अन्य द्रव्य के पर्याय को निमित्त होता है। इस अपेक्षा से अन्य के परिणाम अन्य के परिणाम के निमित्त कर्त्ता कहे जाते हैं परन्तु परमार्थ से द्रव्य अपने परिणाम का कर्ता है, अन्य के परिणाम का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं है ॥१००॥

आगे ऐसा कहते हैं कि ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता है;—[ये] जो [ज्ञानावरणानि] ज्ञानावरणादिक [पुद्गलद्रव्याणाम्] पुद्गल द्रव्यों से [परिणामाः] परिणाम [भवन्ति] हैं [तानि] उनको [आत्मा] आत्मा [न करोति] नहीं करता [यः] जो [जानाति] जानता है [सः] वह [ज्ञानी] ज्ञानी [भवति] है।

टीका—जो निश्चयनय से ज्ञानावरणरूप परिणाम हैं जैसे गोरस में व्याप्त दही दूध मीठा खट्टा परिणाम है वैसे पुद्गल द्रव्य से व्याप्त होने से पुद्गलद्रव्य के ही परिणाम हैं जैसे गोरस के निकट बैठा पुरुष उसके परिणाम को देखता है, जानता है, उसीप्रकार ज्ञानी आत्मा उन पुद्गल के

त्येव ज्ञानी ज्ञानस्यैव कर्ता स्यात् । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन कर्मसूत्रस्य विभागेनोपन्यासाद्दर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसूत्रैः सप्तभिः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशान्यान्यप्यूह्यानि ॥१०१॥

शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानस्यैव कर्ता । किम्वदिति चेत् । पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत् उष्णादिगुणानामग्निवत् अनन्तज्ञानादिगुणानां सिद्धपरमेष्ठिवदिति । न च मिथ्यात्वरागादिरूपस्याज्ञानभावस्य कर्तेति शुद्धोपादानरूपेण शुद्धज्ञानादिभावानामशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिभावानां च तद्रूपेण परिणमन्नेव, कर्तृत्वं ज्ञातव्यं भोक्तृत्वं च । न च हस्तव्यापारवदीहापूर्वकं घटकुम्भकारवदिति । एवमेव च ज्ञानावरणपदपरिवर्तनेन दर्शनावरण-वेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायसंज्ञैः सप्तभिः कर्मभेदैः सह मोहरागद्वेषक्रोधमानमायालोभनोकर्ममनोवचन-श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनेन प्रकारेण शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणा असंख्येयलोक-मात्रप्रमिता अन्येऽपि विभावपरिणामा ज्ञातव्याः ॥१०१॥ अथाज्ञानी चापि रागादिस्वरूपस्याज्ञानभावस्यैव कर्ता न च ज्ञानावरणादिपरद्रव्यस्येति निरूपयति;—जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता सातासातोदयावस्थाभ्यां तीव्रमन्दस्वादाभ्यां सुखदुःखरूपाभ्यां वा चिदानन्दैकस्वभावेनैकस्याप्यात्मनो द्विधा भेदं कुर्वाणः सन् यं भावं शुभमशुभं वा करोत्यात्मनः स्वतन्त्ररूपेण व्यापकत्वात्स तस्य भावस्य खलु स्फुटं कर्ता भवति तं तस्स होदि कम्मं तदेव तस्य शुभाशुभरूपं भावकर्म भवति । तेनात्मना क्रियमाणत्वात् सो तस्स दु वेदगो अप्पा स आत्मा तस्य तु शुभाशुभरूपस्य भावकर्मणो वेदको भोक्ता भवति स्वतन्त्ररूपेण भोक्तृत्वात्, न च द्रव्यकर्मणः । किं च विशेषः । अज्ञानी जीवोऽशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्व-रागादिभावानामेव कर्ता न च द्रव्यकर्मणः । स चाशुद्धनिश्चयोऽद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वरूपासद्भूतव्यवहारापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव । हे भगवन्, रागादीनामशुद्धोपादानरूपेण कर्तृत्वं भणितं तदुपादानं शुद्धाशुद्धभेदेन कथं द्विधा भवतीति । तत्कथ्यते । औपाधिकमुपादानमशुद्धं, तप्तायःपिण्डवत्; निरुपाधिरूपमुपादानं शुद्धं, पीतत्वादिगुणानां सुवर्णवत्; अनन्तज्ञानादिगुणानां सिद्धजीववत्, उष्णत्वादिगुणा-नामग्निवत् । इदं व्याख्यानमुपादानकारणव्याख्यानकाले शुद्धाशुद्धोपादानरूपेण सर्वत्र स्मरणीयमिति भावार्थः ॥१०२॥ अथ न च परभावः केनाप्युपादानरूपेण कर्तुं शक्यते;—जो जम्हि गुणो दव्वे सो अण्ण दु ण संकमदि दव्वे यो गुणश्चेतनस्तथैवाचेतनो वा यस्मिंश्चेतनाचेतने द्रव्ये अनादिसम्बन्धेन स्वभावत एव स्वत एव प्रवृत्तः सोऽन्यद्रव्ये तु न संक्रामत्येव सोऽपि सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं स चेतनोऽचेतनो वा गुणः

परिणामों का ज्ञाता द्रष्टा है, कर्ता नहीं है। तो क्या है ? जैसे गोरस के निकट बैठा हुआ पुरुष उसको देखता है, उस देखने रूप अपने परिणाम से व्याप्त हुआ उसको व्याप्त कर देखता ही है, उसी प्रकार जिसको पुद्गल परिणाम निमित्त है ऐसे अपने ज्ञान को अपने व्याप्यत्व से हुआ उसको व्याप्त कर जानता ही है। इसप्रकार ज्ञानी ज्ञान का ही कर्ता होता है। इसीप्रकार ज्ञाना-वरणपद के स्थान में कर्मसूत्र के विभाग की स्थापना से दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इनके सात सूत्रों से और उनके साथ मोह, राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन से सोलह सूत्र व्याख्यान रूप करना। तथा इसी रीति से अन्य भी विचार लेना ॥१०१॥

अज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात्—

जं भावं सुहमसुहं करेदि आदा स तस्स खलु कत्ता ।
तं तस्स होदि कम्मं सो तस्स दु वेदगो अप्पा ॥१०२॥

यं भावं शुभमशुभं करोत्यात्मा स तस्य खलु कर्ता ।
तत्तस्य भवति कर्म स तस्य तु वेदक आत्मा ॥१०२॥

इह खल्वनादेरज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेन पुद्गलकर्मविपाकदशाभ्यां मन्दतीव्रस्वादाभ्यामचलितविज्ञानघनैकस्वादस्याप्यात्मनः स्वादं भिन्दानः शुभमशुभं वा योऽयं भावमज्ञानरूपमात्मा करोति स आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य व्यापकत्वाद् भवति कर्ता स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो व्याप्यत्वाद् भवति कर्म्म । स एव च आत्मा तदा तन्मयत्वेन तस्य भावस्य भावकत्वाद्भवत्यनुभविता, स भावोऽपि च तदा तन्मयत्वेन तस्यात्मनो भाव्यत्वात् भवत्यनुभाव्यः । एवमज्ञानी चापि परभावस्य न कर्ता स्यात् ॥१०२॥

कर्ता यन्यद्भिन्नं द्रव्यान्तरमसङ्क्रा गुणः कर्ता अन्यद्भिन्नं द्रव्यान्तरमसङ्क्रान्तः सन् कथं द्रव्यान्तरं परिणामयेत्तत्कथं कुर्यादुपादानरूपेण न कथमपि ॥१०३॥ ततः स्थितं आत्मा पुद्गलकर्मणामकर्तेति वन्वगुणस्स य

आगे कहते हैं कि जो अज्ञानी है, यह भी परद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है—[आत्मा] आत्मा [यं] जिस [शुभम् अशुभम्] शुभ अशुभ [भावम्] अपने भाव को [करोति] करता है [सः] वह [तस्य] उस भाव का [कर्ता] कर्ता [खलु] निश्चय से होता है [तत्] वह भाव [तस्य] उसका [कर्म] कर्म [भवति] होता है [स आत्मा तु] वही आत्मा [तस्य] उस भावरूप कर्म का [वेदकः] भोक्ता होता है।

टीका—इस लोक में आत्मा अनादिकाल से अज्ञान से परका और आत्मा के एकत्व का निश्चय कर तीव्र मन्द स्वादरूप जो पुद्गलकर्म की दो दशायें, उनसे यद्यपि स्वयं अचलित विज्ञानघनरूप एक स्वादरूप है तो भी स्वाद को भेदरूप करता हुआ शुभ तथा अशुभ अज्ञानरूपभाव को करता है। वह आत्मा उस काल भाव से युक्त होने से उस भाव के व्यापकता के कारण उस भाव का कर्ता होता है। तथा वह भाव भी उस समय उस आत्मा की तन्मयता से उस आत्मा का व्याप्य होता है इसलिये उसका कर्म होता है। वही आत्मा उस समय उस भाव की तन्मयता से उस भाव का भावक होता है इसलिये उसका अनुभव करने वाला भोक्ता होता है। वह भाव भी उस समय उस आत्मा को तन्मयता से आत्मा के भावने योग्य होता है इस कारण अनुभवन योग्य (भोगने योग्य) होता है। इस प्रकार अज्ञानी भी परभाव का कर्ता नहीं है।

भावार्थ—अज्ञानी भी अपने अज्ञानभावरूप शुभाशुभभावों का ही अज्ञान अवस्था में कर्ता है, परद्रव्य के भाव का कर्ता तो कभी नहीं है ॥१०२॥

न च परभावः केनापि कर्तुं पार्येत—

जो जम्हि गुणे दव्वे सो अण्णम्हि दु ण संकमदि दव्वे ।
सो अण्णमसंकंतो कह तं परिणामए दव्वं ॥१०३॥

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यस्मिंस्तु न सङ्क्रामति द्रव्ये ।
सोऽन्यदसङ्क्रान्तः कथं तत्परिणामयति द्रव्यम् ॥१०३॥

इह किल यो यावान् कश्चिद्वस्तुविशेषो यस्मिन् यावति कस्मिंश्चिच्चिदात्मन्यचिदात्मनि वा द्रव्ये गुणे च स्वरसत एवानादित एव वृत्तः स खल्वचलितस्य वस्तुस्थितिसीम्नो भेत्तुमशक्यत्वात्तस्मिन्नेव वर्तते न पुनः द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वा सङ्क्रामेत् । द्रव्यान्तरं गुणान्तरं वाऽसङ्क्रामंश्च कथं त्वन्यं वस्तुविशेषं परिणामयेत् । अतः परभावः केनापि न कर्तुं पार्येत ॥१०३॥

आवा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि यथा कुम्भकारः कर्ता मृण्मयकलशकर्मविषये मृत्तिकाद्रव्यस्य सम्बन्धि जडस्वरूपं वर्णादिमृत्तिका गुणस्य वा सम्बन्धिस्वरूपं मृत्तिका कलशमिव तन्मयत्वेन न करोति तथात्मापि पुद्गलमयद्रव्यकर्मविषये पुद्गलद्रव्यकर्मसम्बंन्धि जडस्वरूपं वर्णादिपुद्गलद्रव्यगुणसम्बन्धिस्वरूपं वा तन्मयत्वेन न करोति तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता तदुभयमपि पुद्गलद्रव्यकर्मस्वरूपं वर्णादि तद्गुणं वा तन्मयत्वेनाकुर्वाणः सन् तत्र पुद्गलकर्मविषये स जीवः कथं कर्ता भवति न कथमपि । चेतनाचेतनेन परस्वरूपेण न परिणमतीत्यर्थः । अनेन किमुक्तं भवति । यथा स्फटिको निर्मलोऽपि जपापुष्पादिपरोपाधिना परिणमति तथा कोऽपि सदाशिवनामा सदा मुक्तोऽप्यमूर्त्तोऽपि परोपाधिना परिणम्य जगत् करोति । तन्निरस्तम् । कस्मादिति चेत् ? मूर्त्तस्फटिकस्य मूर्त्तेन सहोपाधिसम्बन्धो घटते तस्य पुनः सदा मुक्तस्यामूर्त्तस्य कथं

आगे कहते हैं कि परभावको कोई भी नहीं कर सकता ऐसा न्याय है—(यः) जो द्रव्य (यस्मिन्) जिस अपने (द्रव्ये) द्रव्यस्वभाव में तथा (गुणे) अपने जिस गुण में वर्तता है (सः) वह (अन्यस्मिन् तु) अन्य (द्रव्ये) द्रव्य में तथा गुण में (न सङ्क्रामति) संक्रमण रूप में नहीं होता—पलटकर अन्य में नहीं मिल जाता (सः) वह (अन्यदसङ्क्रान्तः) अन्य में नहीं मिलता हुआ (तत् द्रव्यम्) उस अन्य द्रव्य को (कथम्) कैसे (परिणामयति) परिणमा सकता है, कभी नहीं परिणमा सकता।

टीका—इस लोक में जितने वस्तु विशेष हैं वे अपने चेतन स्वरूप तथा अचेतन स्वरूप द्रव्य में तथा अपने गुण में अपने निजरस से ही अनादि से वर्तते हैं। सो निश्चय कर अचलित जो अपनी वस्तु स्थिति की मर्यादा उसके भेदने को असमर्थ हैं इसलिये अपने स्वभाव में ही रहते हैं। द्रव्यान्तर तथा गुणान्तर से सङ्क्रमणरूप नहीं होते अर्थात् नहीं पलटते। इसप्रकार आत्मा भी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, तो अन्य वस्तु विशेष को कैसे परिणमन करावे, कभी नहीं परिणमन करा सकता। इसलिये परभाव को कोई भी नहीं परिणमा सकता।

भावार्थ—जो द्रव्यस्वभाव है उसे कोई भी नहीं पलट सकता, यह वस्तु की मर्यादा है ॥१०३॥

अतः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्ता—

दव्वगुणस्स य आदा ण कुणदि पुग्गलमयम्हि कम्मम्हि ।
तं उभयमकुव्वंतो तम्हि कहं तस्स सो कत्ता ॥१०४॥

द्रव्यगुणस्य चात्मा न करोति पुद्गलमये कर्मणि ।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन्कथं तस्य स कर्ता ॥१०४॥

यथा खलु मृण्मये कलशे कर्मणि मृद्द्रव्यमृद्गुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणान्तरसंक्रमस्य वस्तुस्थित्यैव निषिद्धत्वादात्मानमात्मगुणं वा नाधत्ते स कलशकारः द्रव्यान्तरसंक्रममन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात् तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानो न तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभाति । तथा पुद्गलमये ज्ञानावरणादौ कर्मणि पुद्गलद्रव्यपुद्गलगुणयोः स्वरसत एव वर्तमाने द्रव्यगुणान्तर-संक्रमस्य विधातुमशक्यत्वादात्मद्रव्यमात्मगुणं वात्मा न खल्वाधत्ते । द्रव्यान्तरसंक्रम-मन्तरेणान्यस्य वस्तुनः परिणामयितुमशक्यत्वात्तदुभयं तु तस्मिन्ननादधानः कथं

मूर्तोपाधिः ? न कथमपि सिद्धजीववत् अनादिबद्धजीवस्य पुनः शक्तिरूपेण शुद्धनिश्चयेनामूर्तस्यापि व्यक्ति-रूपेण व्यवहारेण मूर्तस्य मूर्तोपाधिदृष्टान्तो घटत इति भावार्थः । एवं निश्चयनयमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं

इस कारण आत्मा निश्चयतः पुद्गल कर्मो का अकर्ता है यह सिद्ध हुआ—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलमये कर्मणि] पुद्गलमय कर्म में [द्रव्यगुणस्य च] द्रव्य को तथा गुण को [न करोति] नहीं करता [तस्मिन्] उसमें [तदुभयं] उन दोनों को [अकुर्वन्] नहीं करता हुआ [तस्य] उसका [स कर्ता] वह कर्ता [कथं] कैसे हो सकता है ?

टीका—जैसे मृत्तिकामय कलश नाम कर्म, मृत्तिका नाम द्रव्य और मृत्तिका गुण इन दोनों में अपने निजरस के द्वारा ही वर्तमान है, उसमें कुम्हार अपने द्रव्यस्वरूप को तथा अपने गुण को नहीं मिलाता । क्योंकि अन्य द्रव्य का और अन्य गुण का अन्य द्रव्य गुणरूप परिवर्तन का निषेध वस्तु की मर्यादा से रहित है । अन्यद्रव्य रूप हुए बिना अन्य वस्तु को अन्य की परिणमन कराने की असमर्थता से उन द्रव्यों को तथा गुणों को अन्य में नहीं धारता हुआ परमार्थ से उस मृत्तिका-मय कलश नामक कर्म का निश्चय से कुम्भकार कर्ता नहीं प्रतिभासित होता । उसीप्रकार पुद्गल-मय ज्ञानावरणादि कर्म पुद्गलद्रव्य और पुद्गल के गुणों में अपने रस से ही वर्तमान हैं, उनमें आत्मा अपने द्रव्यस्वभाव को और अपने गुण को निश्चय से नहीं धारण कर सकता । क्योंकि अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में तथा अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य के गुणों में संक्रमण होने की असमर्थता है । इसीप्रकार अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य में संक्रमण के बिना अन्य वस्तु को परिणमाने की असमर्थता होने से उन द्रव्य और गुण दोनों को उस अन्य में नहीं रखता हुआ आत्मा उस अन्य पुद्गल

नु तत्त्वतस्तस्य कर्ता प्रतिभायात्। ततः स्थितः खल्वात्मा पुद्गलकर्मणामकर्त्ता ॥१०४॥

अतोऽन्यस्तूपचारः—

जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं।
जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण ॥१०५॥

जीवे हेतुभूते बन्धस्य तु दृष्ट्वा परिणामं।
जीवेन कृतं कर्म भण्यते उपचारमात्रेण ॥१०५॥

इह खलु पौद्गलिककर्मणः स्वभावादनिमित्तभूतेऽप्यात्मन्यनादेरज्ञानात्तन्निमित्तभूतेनाज्ञानभावेन परिणमनान्निमित्तीभूते सति सम्पद्यमानत्वात् पौद्गलिकं कर्मात्मना कृतमिति निर्विकल्पविज्ञानघनभ्रष्टानां विकल्पपराणां परेषामस्ति विकल्पः। स तूपचार एव न तु (पुनः) परमार्थः ॥१०५॥

गतम् ॥१०४॥ अतः कारणादात्मा द्रव्यकर्म करोतीति यदभिधीयते स उपचारः—जीवम्हि हेदुभूदे बंधस्स दु पस्सिदूण परिणामं परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणस्य भेदज्ञानस्याभावे मिथ्यात्वरागादिपरिणतिनिमित्तहेतुभूते जीवे सति मेघाडम्बरचन्द्रार्कपरिवेषादियोग्यकाले निमित्तभूते सति मेघेन्द्रचापादिपरिणतपुद्गलानामिव कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां ज्ञानावरणादिरूपेण द्रव्यकर्मबन्धस्य परिणामं पर्यायं दृष्ट्वा जीवेण कदं कम्मं भण्णदि उवयारमत्तेण जीवेन कृतं कर्मेति भण्यते उपचारमात्रेणेति ॥१०५॥ अथ तदेवोपचारकर्मकर्तृत्वं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां दृढयति;—जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो तथा योधैः युद्धे कृते सति राजा युद्धं कृतमिति जल्पति लोकः। तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण तथा व्यवहारनयेन कृतं भण्यते ज्ञानावरणादिकर्म जीवेनेति। ततः स्थितमेतत्। यद्यपि शुद्धनिश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वान्नोत्पादयति न करोति न बध्नाति न परिणमयति न गृह्णाति च तथापि ॥१०६॥ अनादिबन्धपर्यायवशेन

द्रव्य का कैसे कर्ता हो सकता है, कभी नहीं हो सकता। इसलिये यह निश्चय हुआ कि आत्मा पुद्गल कर्मों का अकर्ता है ॥१०४॥

आगे कहते हैं कि इसके सिवाय किसी अन्य निमित्त नैमित्तिकादि भाव हैं उनको देख कुछ अन्य प्रकार से कहना वह उपचार है:—[जीवे] जीव को [हेतुभूते] निमित्तरूप होने से [बंधस्य तु] कर्मबन्ध का [परिणामं] परिणाम होता है उसे [दृष्ट्वा] देखकर [जीवेन] जीव ने [कर्म कृतम्] कर्म किये हैं यह [उपचारेण] उपचारमात्र से [भण्यते] कहा जाता है।

टीका—इस लोक में आत्मा निश्चयतः स्वभाव से पुद्गलकर्म का निमित्तभूत नहीं है, तो भी अनादि अज्ञान से उसका निमित्त रूप हुआ जो अज्ञानभाव, उसके परिणमन करने से पुद्गलकर्म का निमित्तरूप होने पर उत्पन्न जो पुद्गलकर्म, उसको आत्मा ने किया, ऐसा विकल्प होता है। यह आत्मा ने किया, ऐसा कहना उपचार है, परमार्थ नहीं है ॥१०५॥

कथमिति चेत्—

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंति जंपदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥

योधैः कृते युद्धे राज्ञा कृतमिति जल्पते लोकः ।
तथा व्यवहारेण कृतं ज्ञानावरणादि जीवेन ॥१०६॥

यथा युद्धपरिणामेन स्वयं परिणममानैः योधैः कृते युद्धे युद्धपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्य राज्ञो राज्ञा किल कृतं युद्धमित्युपचारो न तु परमार्थः। तथा ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयं परिणममानेन पुद्गलद्रव्येण कृते ज्ञानावरणादिकर्मणि ज्ञानावरणादिकर्मपरिणामेन स्वयमपरिणममानस्यात्मनः किलात्मना कृतं ज्ञानावरणादिकर्मेत्युपचारो न परमार्थः ॥१०६॥

अत एतत्स्थितम्—

उप्पादेदि करेदि य बंधदि परिणामएदि गिण्हदि य ।
आदा पुग्गलदव्वं ववहारणयस्स वत्तव्वं ॥१०७॥

उत्पादयति करोति च बध्नाति परिणामयति गृह्णाति च ।
आत्मा पुद्गलद्रव्यं व्यवहारनयस्य वक्तव्यम् ॥१०७॥

वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानाभावात् रागादिपरिणामस्निग्धः सन्नात्मा कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कुम्भकारो

यह उपचार कैसे है सो दृष्टान्त द्वारा कहते हैं;—[योधैः] जैसे योधाओं ने [युद्धे कृते] युद्ध किया उस जगह [लोकः] लोक [इति जल्पते] ऐसा कहते हैं कि [राज्ञा कृतम्] राजा ने युद्ध किया सो यह [व्यवहारेण] व्यवहार से कहना है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानावरणादि] ज्ञानावरणादि कर्म [जीवेनकृतम्] जीव ने किये हैं, ऐसा कहना व्यवहार से है।

टीका—जैसे युद्ध परिणामों से स्वयं नहीं परिणमन करने वाले योद्धाओं द्वारा किए गए युद्ध को, युद्ध परिणामों से स्वयं नहीं परिणत हुए राजा को लोक कहते हैं कि युद्ध राजा ने किया। ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है। उसी प्रकार ज्ञानावरणादि कर्मपरिणामों से स्वयं परिणमन करता जो पुद्गल द्रव्य उसके द्वारा किए गए ज्ञानावरणादि कर्म के होने पर ज्ञानावरणादि कर्म परिणामों से आप नहीं परिणमन करने वाले आत्मा के सम्बन्ध में कहते हैं कि ये ज्ञानावरणादि कर्म आत्मा ने किये हैं, ऐसा उपचार है, परमार्थ नहीं है।

भावार्थ—जैसे योद्धा युद्ध करे; वहां पर राजा ने युद्ध किया, यह उपचार से कहते हैं, वैसे ही पुद्गल कर्म जीव ने किये, ऐसा उपचार कहा जाता है ॥१०६॥

इस हेतु से ऐसा निश्चय हुआ;—[आत्मा] आत्मा [पुद्गलद्रव्यम्] पुद्गल द्रव्य को [उत्पा-

अयं खल्वात्मा न गृह्णाति परिणामयति नोत्पादयति न करोति न बध्नाति व्याप्यव्यापकभावाभावात् प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म । यत्तु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि प्राप्यं विकार्यं निर्वर्त्यं च पुद्गलद्रव्यात्मकं कर्म गृह्णाति परिणामयत्युत्पादयति करोति बध्नाति चात्मेति विकल्पः स किलोपचारः ॥१०७॥

कथमिति चेत्—

जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो ।
तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो ॥१०८॥

यथा राजा व्यवहाराद्दोषगुणोत्पादक इत्यालपितः ।
तथा जीवो व्यवहाराद् द्रव्यगुणोत्पादको भणितः ॥१०८॥

यथा लोकस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्य-

---

घटमिव द्रव्यकर्मरूपेणोत्पादयति प्रकृतिबन्धं करोति बध्नाति परिणमयति गृह्णातीति व्यवहारनयस्याभिप्रायेण वक्तव्यं व्याख्येयमिति । अथवा उत्पादयति प्रकृतिबन्धं करोति स्थितिबन्धं बध्नात्यनुभागबन्धं परिणमयति प्रदेशबन्धं तप्तायःपिण्डो जलवत्सर्वात्मप्रदेशैर्गृह्णाति चेत्यभिप्रायः ॥१०७॥ अथैतदेव व्याख्यानं

दयति] उत्पन्न करता है [च] और [करोति] करता है [बध्नाति] बाँधता है [परिणामयति] परिणमाता है [च] तथा [गृह्णाति] ग्रहण करता है ऐसा [व्यवहारनयस्य] व्यवहारनय का [वक्तव्यम्] वचन है ।

टीका—यह आत्मा निश्चय से पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म को व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव से प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य इन तीन प्रकार के कर्मों को न ग्रहण करता है, न परिणमाता है न उपजाता है, न करता है और न बाँधता है : व्याप्य-व्यापक भाव के अभाव होने पर भी प्राप्य, विकार्य और निर्वर्त्य ऐसे तीन प्रकार के पुद्गलद्रव्यस्वरूप कर्म को यह आत्मा ग्रहण करता है, उपजाता है, करता है और बांधता है । ऐसा विकल्प होता है, यह प्रकट उपचार है ।

भावार्थ—व्याप्य-व्यापक भाव के बिना कर्म का कर्ता कहना वह उपचार है ॥१०७॥

यहां प्रश्न होता है कि यह उपचार किस तरह से है, उसका उत्तर दृष्टान्त के द्वारा देते हैं;—[यथा] जैसे [राजा] प्रजा में राजा [दोषगुणोत्पादकः] दोष और गुणों का उत्पन्न करने वाला है [इति] ऐसा [व्यवहारात्] व्यवहार से [आलपितः] कहा है [तथा] उसी प्रकार [जीवः] जीव को भी [व्यवहारात्] व्यवहार से [द्रव्यगुणोत्पादकः] पुद्गल द्रव्य में द्रव्य का उत्पादक [भणितः] कहा गया है ।

टीका—जैसे प्रजा के व्याप्यव्यापकभाव से स्वभाव से ही उत्पन्न जो गुण और दोष उन में राजा के व्याप्यव्यापकभाव का अभाव है तो भी लोक कहते हैं कि गुण दोष का उपजाने वाला

व्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको राजेत्युपचारः । तथा पुद्गलद्रव्यस्य व्याप्यव्यापकभावेन स्वभावत एवोत्पद्यमानेषु गुणदोषेषु व्याप्यव्यापकभावाभावेऽपि तदुत्पादको जीव इत्युपचारः ॥१०८॥

जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म नैव, कस्तर्हि तत्कुरुत इत्यभिशङ्कयैव ।
एतर्हि तीव्ररयमोहनिवर्हणाय, सङ्कीर्त्यते शृणुत पुद्गलकर्म कर्तृ ॥६३॥

सामण्णपच्चया खलु चउरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य बोद्धव्वा ॥१०९॥
तेसिं पुणोवि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो ।
मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं ॥११०॥
एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा ।
ते जदि करंति कम्मं णवि तेसिं वेदगो आदा ॥१११॥
गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ।
तम्हा जीवोऽकत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि ॥११२॥
(चतुष्कम्)

दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयति—जह राया ववहारा दोसगुणुप्पादगोत्ति आलविदो तथा राजा लोके व्यवहारेण सदोषनिर्दोषजनानां दोषगुणोत्पादको भणितः तह जीवो ववहारा दव्वगुणुप्पादगो भणिदो तथा जीवोऽपि व्यवहारेण पुद्गलद्रव्यस्य पुण्यपापगुणयोरुत्पादको भणितः । इति व्यवहारमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतम् । एवं द्विक्रियावादिनिराकरणोपसंहारव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथा गताः ॥१०८॥ ननु निश्चयेन द्रव्यकर्म न

राजा है, ऐसा उपचार (व्यवहार) है, उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य के व्याप्य-व्यापकभाव से स्वभाव से ही उत्पन्न गुण, दोषों में जीव के व्याप्यव्यापक भाव का अभाव है तो भी उन गुण दोषों का उपजाने वाला जीव ऐसा उपचार है ।

भावार्थ—जैसे लोक में कहते हैं कि जैसा राजा हो, वैसी ही प्रजा होती है, ऐसा कह कर गुण दोष का कर्त्ता राजा को कहा जाता है, उसी प्रकार पुद्गलद्रव्य के गुण दोष का कर्त्ता जीव को कहते हैं । जब परमार्थ दृष्टि से विचारो तो यह उपचार है ॥१०८॥

आगे पूछते हैं कि पुद्गल कर्म का कर्त्ता यदि जीव नहीं है तो कौन है, ऐसे प्रश्न का काव्य कहते हैं—जीवः—इत्यादि । अर्थ—यदि पुद्गल कर्म को जीव नहीं करता तो उस पुद्गल कर्म को कौन करता है ? ऐसी आशङ्का करके इस कर्त्ता-कर्म को तीव्र वेग रूप मोह (अज्ञान) के दूर करने को पुद्गल कर्म का कर्त्ता कहते हैं । सो हे ज्ञान के इच्छुक पुरुषो; तुम सुनो ॥६३॥

सामान्यप्रत्ययाः खलु चत्वारो भण्यन्ते बन्धकर्त्तारः ।
मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च बोद्धव्याः ॥१०९॥

तेषां पुनरपि चायं भणितो भेदस्तु त्रयोदशविकल्पः ।
मिथ्यादृष्ट्यादिर्यावत्सयोगिनश्चरमान्तम् ॥११०॥

एते अचेतनाः खलु पुद्‌गलकर्मोदयसम्भवा यस्मात् ।
ते यदि कुर्वन्ति कर्म नापि तेषां वेदक आत्मा ॥१११॥

गुणसंज्ञितास्तु एते कर्म कुर्वन्ति प्रत्यया यस्मात् ।
तस्माज्जीवोऽकर्त्ता गुणाश्च कुर्वन्ति कर्माणि ॥११२॥

पुद्‌गलकर्मणः किल पुद्‌गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ, तद्विशेषाः मिथ्यात्वाविरतिकषाय-

---

करोत्यात्मा बहुधा व्याख्यातं तेनैव द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धं पुनरपि किमर्थं पिष्टपेषणमिति । नैवं, हेतुहेतुमद्भावव्याख्यानज्ञापनार्थमिति नास्ति दोषः । तथाहि—यत एव हेतोर्निश्चयेन द्रव्यकर्म न करोति तत एव हेतोर्द्विक्रियावादिनिराकरणं सिद्धयतीति हेतुमद्भावव्याख्यानं ज्ञातव्यम् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थ-पीठिकारूपे महाधिकारमध्ये पूर्वोक्तप्रकारेण जदि सो पुग्गलदव्वं करेज्ज इत्यादिगाथाद्वयेन संक्षेपव्याख्यानम्। ततः परं द्वादशगाथाभिस्तस्यैव विशेषव्याख्यानं ततोऽप्येकादशगाथाभिस्तस्यैवोपसंहाररूपेण पुनरपि विशेषविवरण-मिति समुदायेन पञ्चविंशतिगाथाभिः द्विक्रियावादिनिषेधकनामा तृतीयोत्तराधिकारः समाप्तः । अथानन्तरं सामण्णपच्चया इत्यादिगाथामादि कृत्वा पाठक्रमेण सप्तगाथापर्यन्तं मूलप्रत्ययचतुष्टयस्य कर्मकर्तृत्वमुख्यत्वेन व्याख्यानं करोति । तत्र सप्तकमध्ये जैनमते शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवः कर्म न करोति प्रत्यया एव कुर्वन्तीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टयम् । अथवा शुद्धनिश्चयविवक्षां ये नेच्छन्त्येकान्तेन जीवो न करोतीति वदन्ति सांख्यमतानुसारिणः तान्प्रति दूषणं ददाति । कथमिति चेत् । यदि ते प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्ति तर्हि

अब इसके उत्तर की गाथा कहते हैं;—(सामान्यप्रत्ययाः) प्रत्यय अर्थात् कर्म-बन्ध के कारण जो आस्रव वे सामान्य से (चत्वारः) चार (बन्धकर्तारः) बन्ध के कर्ता (भणिताः) कहे हैं वे (मिथ्यात्वम्) मिथ्यात्व (अविरमणम्) अविरमण (च) और (कषाययोगौ) कषाय योग (बोद्धव्याः) जानना चाहिये (तेषां च) और उनका (पुनरपि) फिर (अयं भेदः) यह भेद (त्रयोदशविकल्पः) तेरह भेदरूप कहा गया है वह (मिथ्यादृष्ट्यादि) मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर (सयोगिचरमान्तं यावत्) सयोगकेवली तक है, वह तेरह गुणस्थान जानने । (एते) ये (खलु) निश्चयदृष्टि से (अचेतनाः) अचेतन हैं (यस्मात्) क्योंकि (पुद्‌गलकर्मोदयसम्भवाः) पुद्‌गलकर्म के उदय से हुए हैं (यदि ते) यदि वे (कर्म) कर्म को (कुर्वन्ति) करते हैं तो भी (तेषां वेदकः) उनका भोक्ता (आत्मा नापि) आत्मा नहीं होता (एते तु) ये (प्रत्ययाः) प्रत्यय (गुणसंज्ञिताः) गुण नाम वाले हैं (यस्मात्) क्योंकि (कर्म कुर्वन्ति) ये कर्म को करते हैं (तस्मात्) इस कारण (जीवः) जीव तो (अकर्ता) कर्म का कर्ता नहीं है (च) और (गुणाः) ये गुण ही (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वन्ति) करते हैं ।

योगा बन्धस्य सामान्यहेतुतया चत्वारः कर्त्तारः, त एव विकल्प्यमाना मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवल्यन्तास्त्रयोदश कर्त्तारः। अथैते पुद्गलकर्मविपाकविकल्पत्वादत्यन्तमचेतनाः सन्तस्त्रयोदश कर्तारः केवला एव यदि व्याप्यव्यापकभावेन किञ्चनापि पुद्गलकर्म कुर्युस्तदा कुर्युरेव किं जीवस्यात्रापतितम्। अथायं तर्कः। पुद्गलमयमिथ्यात्वादीन् वेदयमानो जीवः स्वयमेव मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा पुद्गलकर्म करोति स किलाविवेको यतो न खल्वात्मा भाव्यभावकभावाभावात् पुद्गलद्रव्यमयमिथ्यात्वादि-

---

जीवो न हि वेदकस्तेषां कर्मणामित्येकं दूषणम्। अथवा तेषां मते जीव एकान्तेन कर्म न करोतीति द्वितीयं दूषणम्। तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेण न च जीवप्रत्यययोरेकत्वं जैनमताभिप्रायेणेति गाथात्रयम्। अथवा पूर्वोक्तप्रकारेण ये नयविभागं नेच्छन्ति तान्प्रति पुनरपि दूषणम्। कथमिति चेत्। जीवप्रत्यययोरेकान्तेनैकत्वे सति जीवाभाव इत्येकं दूषणम्। एकान्तेन भिन्नत्वे सति संसाराभाव इति द्वितीयं दूषणमिति चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—निश्चयेन मिथ्यात्वादिपौद्गलिकप्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति प्रतिपादयति—सामण्णपच्चया खलु चउरो भणंति बंधकत्तारो निश्चयनयेनाभेदविवक्षायां पुद्गल एक एव कर्ता भेदविवक्षायां तु सामान्यप्रत्यया मूलप्रत्यया खलु स्फुटं चत्वारो बन्धस्य कर्तारो भण्यन्ते सर्वज्ञैः उत्तरप्रत्ययाश्च पुनर्बहवो भवन्ति। सामान्यं कोऽर्थः। विवक्षाया अभावः सामान्यमिति सामान्यशब्दस्यार्थः सर्वत्र सामान्यव्याख्यानकाले ज्ञातव्य इति। मिच्छत्तं अविरमणं कषायजोगा य बोद्धव्वा ते च मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा बोद्धव्याः। अथ तेसिं पुणो वि य इमो भणिदो भेदो दु तेरसवियप्पो तेषां प्रत्ययानां गुणस्थानभेदेन पुनरयं भणितो भेदस्त्रयोदशविकल्पः केन प्रकारेण मिच्छादिट्ठीआदी जाव सजोगिस्स चरमंतं मिथ्यादृष्टिगुणस्थानादिसयोगिभट्टारकस्य चरमसमयं यावदिति। अथ एदे अचेदणा खलु पुग्गलकम्मुदयसंभवा जम्हा एते मिथ्यात्वादिभावप्रत्ययाः शुद्धनिश्चयेनाचेतनाः खलु स्फुटम्। कस्मात् पुद्गलकर्मोदयसम्भवा यस्मादिति। यथा स्त्रीपुरुषाभ्यां समुत्पन्नः पुत्रो विवक्षावशेन देवदत्तायाः पुत्रोऽयं केचन वदन्ति, देवदत्तस्य पुत्रोऽयमिति केचन वदन्ति दोषो नास्ति। तथा जीवपुद्गलसंयोगेनोत्पन्नाः मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्यया अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेण चेतना जीवसम्बद्धाः शुद्धनिश्चयेन शुद्धोपादानरूपेणाचेतनाः पौद्गलिकाः। परमार्थतः पुनरेकान्तेन न जीवरूपाः न च पुद्गलरूपाः सुधाहरिद्रयोः संयोगपरिणामवत्। वस्तुतस्तु सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन न सन्त्येवाज्ञानोद्भवाः कल्पिता इति। एतावता किमुक्तं भवति। ये केचन वदन्त्येकान्तेन रागादयो जीवसम्बन्धिनः पुद्गलसम्बन्धिनो वा तदुभयमपि वचनं मिथ्या। कस्मादिति चेत्, पूर्वोक्तस्त्रीपुरुषदृष्टान्तेन संयोगोद्भवत्वात्। अथ मतं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयनयेन कस्येति पृच्छामो वयं सूक्ष्मशुद्धनिश्चयेन तेपामस्तित्वमेव नास्तित्वमेव भणितं तिष्ठति कथमुत्तरं प्रयच्छामः इति। ते जदि करंति कम्मं ते प्रत्यया यदि चेत् कुर्वन्ति कर्म तदा कुर्युरेव जीवस्य किमायातं शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव 'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया' इति वचनात्। अथ मतम्। जीवो

टीका—निश्चय से पुद्गलकर्म का एक पुद्गलद्रव्य ही कर्ता है उस पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ये चार भेद सामान्यतः बन्ध के कर्ता हैं। वे ही मिथ्यादृष्टि को आदि लेकर सयोगकेवली तक भेदरूप हुए तेरह कर्ता हैं। ये पुद्गल कर्म विपाक के भेद हैं इसलिये अत्यन्त अचेतन हैं, जड़ हैं वे अचेतन ही केवल पुद्गलकर्म के कर्ता होकर व्याप्यव्यापकभाव से कुछ पुद्गल कर्म को करें तो करें, जीव का इसमें क्या आया ? कुछ भी नहीं। अथवा यहां यह

वेदकोऽपि कथं पुनः पुद्गलकर्मणः कर्ता नाम। अथैतदायातं यतः पुद्गलद्रव्यमयानां चतुर्णां सामान्यप्रत्ययानां विकल्पास्त्रयोदश विशेषप्रत्यया गुणशब्दवाच्याः केवला एव कुर्वन्ति कर्माणि। ततः पुद्गलकर्मणामकर्ता जीवो गुणा एव तत्कर्तारस्ते तु पुद्गलद्रव्यमेव। ततः स्थितं पुद्गलकर्मणः पुद्गलद्रव्यमेवैकं कर्तृ॥१०९।११०।१११।११२॥

मिथ्यात्वोदयेन मिथ्यादृष्टिर्भूत्वा मिथ्यात्वरागादिभावकर्म भुङ्क्ते यतस्ततः कर्तापि भवतीति। नैवं। णवि तेसिं वेदगो आदा यतः शुद्धनिश्चयेन वेदकोऽपि न हि तेषां कर्मणाम्। यदा वेदको न भवति तदा कर्त्तापि कथं भविष्यति न कथमपि इति शुद्धनिश्चयेन सम्मतमेव। अथवा ये पुनरेकान्तेनाकर्त्तेति वदन्ति तान्प्रति दूषणम्। कथमिति चेत्। यदैकान्तेनाकर्ता भवति तदा यथा शुद्धनिश्चयेनाकर्ता तथा व्यवहारेणाप्यकर्ता प्राप्नोति। तदश्च सर्वथैवाकर्तृत्वे सति संसाराभाव इत्येकं दूषणम्। तेषां मते वेदकोऽपि न भवतीति द्वितीयं च दूषणम्। अथ च वेदकमात्मानं मन्यन्ते सांख्यास्तेषां स्वमतव्याघातदूषणम् प्राप्नोतीति। अथ गुणसण्णिदा दु एदे कम्मं कुव्वंति पच्चया जम्हा ततः स्थितं गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्ययाः एते कर्म कुर्वन्तीति यस्मादेवं पूर्वसूत्रेण भणितम्। तम्हा जीवो कत्ता गुणा य कुव्वंति कम्माणि तस्मात् शुद्धनिश्चयेन तेषां कर्मणां जीवः कर्ता न भवति। गुणस्थानसंज्ञिताः प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति सम्मतमेव। एवं शुद्धनिश्चयेन प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति व्याख्यानरूपेण गाथाचतुष्टयं गतम्॥१०९।११०।१११।११२। अथ न च जीवप्रत्यययोरेकत्वमेकान्तेनेति कथयति—जह जीवस्स अणण्णुवओगो यथा जीवस्यानन्यस्तन्मयो ज्ञानदर्शनोपयोगः। कस्मात्, अनन्यवेद्यत्वात् अशक्यविवेचनत्वाच्चाग्नेरुष्णत्ववत् कोहो वि तह यदि अणण्णो तथा क्रोधोऽपि यद्यनन्यो भवत्येकान्तेन। तदा किं दूषणं, जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं एवमभेदे सति सहजशुद्धाखण्डैकज्ञानदर्शनोपयोगमयजीवस्याजीवस्य चैकत्वमापन्नमिति। अथ—एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो एवं पूर्वोक्तसूत्रव्याख्यानक्रमेण य एव जीवः स एव तथैवाजीवः भवति नियमान्निश्चयात्। तथा सति

तर्क है कि पुद्गलमय मिथ्यात्वादि का वेदन करता हुआ जीव स्वयं ही मिथ्यादृष्टि होकर पुद्गल कर्म को करता है? उसका समाधान ऐसा है कि यह अज्ञान है क्योंकि आत्मा भाव्यभावक भाव के अभाव से मिथ्यात्वादि पुद्गल कर्मों का भोक्ता भी निश्चय से नहीं है तो पुद्गल कर्म का कर्ता कैसे हो सकता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि पुद्गल द्रव्यमय सामान्य चार प्रत्यय, उनके विशेष भेदरूप तेरह प्रत्यय वे गुणशब्द से कहे हैं अर्थात् उनका नाम गुणस्थान है वे ही केवल कर्मों को करते हैं। इस कारण जीव पुद्गल कर्मों का अकर्ता है और वे गुणस्थान ही उनके कर्ता हैं क्योंकि गुण पुद्गलद्रव्यमय ही हैं। इससे पुद्गलकर्म का पुद्गलद्रव्य ही एक कर्ता है यह सिद्ध हुआ।

भावार्थ—'अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य कर्ता नहीं होता' इस न्याय से आत्मद्रव्य पुद्गल द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है, बंध के कर्ता तो योगकषायादिक से उत्पन्न हुए गुणस्थान हैं। वे वास्तव में अचेतन पुद्गलमय हैं। इसलिए वे पुद्गलकर्म के कर्ता हैं, जीव को कर्ता मानना अज्ञान है॥१०९। ११०।१११।११२॥

न च जीवप्रत्यययोरेकत्वम्—

जह जीवस्स अणण्णुवओगो कोहो वि तह जदि अणण्णो ।
जीवस्साजीवस्स य एवमणण्णत्तमावण्णं ॥११३॥
एवमिह जो दु जीवो सो चेव दु णियमदो तहाजीवो ।
अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं ॥११४॥
अह दे अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा ।
जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं ॥११५॥

(त्रिकलम्)

यथा जीवस्यानन्य उपयोगः क्रोधोऽपि तथा यद्यनन्यः ।
जीवस्याजीवस्य चैवमनन्यत्वमापन्नम् ॥११३॥
एवमिह यस्तु जीवः स चैव तु नियमतस्तथाजीवः ।
अयमेकत्वे दोषः प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम् ॥११४॥
अथ ते अन्यः क्रोधोऽन्यः उपयोगात्मको भवति चेतयिता ।
यथा क्रोधस्तथा प्रत्ययाः कर्म नोकर्माप्यन्यत् ॥११५॥

यदि यथा जीवस्य तन्मयत्वाज्जीवादनन्य उपयोगस्तथा जडः क्रोधोऽप्यनन्य एवेति प्रतिपत्तिस्तदा चिद्रूपजडयोरनन्यत्वाज्जीवस्योपयोगमयत्ववज्जडक्रोधमयत्वा-

---

जीवाभावाद्, दूषणं प्राप्नोति । अयमेयत्ते दोसो पच्चयणोकम्मकम्माणं अयमेव च दोषो जीवाभावरूपः । कस्मिन् सति । एकान्तेन निरञ्जननिजानन्दैकलक्षणजीवेन सहैकत्वे सति । केषाम् मिथ्यात्वादिप्रत्ययनो-

---

आगे कहते हैं कि जीव और उन प्रत्ययों का एकत्व भी नहीं है;—[यथा] जैसे [जीवस्य] जीव के [अनन्य उपयोगः] एक रूप उपयोग है [तथा] उसी प्रकार [यदि] जो [क्रोधोऽपि] क्रोध भी [अनन्यः] एकरूप हो जाय तो [एवम्] इस तरह [जीवस्य] जीव [च] और [अजीवस्य] अजीव के [अनन्यत्वम्] एकत्व [आपन्नम्] प्राप्त हुआ [एवं च इह] ऐसा होने से इस लोक में [यः तु] जो [जीवः] जीव है [स एव] वही [नियमतः] नियम से [तथा] वैसा ही [अजीवः] अजीव हुआ [एकत्वे] ऐसे दोनों के एकत्व होने में [अयं दोषः] यह दोष प्राप्त हुआ । [प्रत्ययनोकर्मकर्मणाम्] इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म-कर्म इनमें भी यही दोष जानना । [अथ] अथवा इस दोष के भय से [ते] तेरे मत में [क्रोधः] क्रोध [अन्यः] अन्य है और [उपयोगात्मकः] उपयोग स्वरूप [चेतयिता] आत्मा [अन्यः] अन्य [भवति] है और [यथा क्रोधः] जैसे क्रोध है [तथा] उसी प्रकार [प्रत्ययाः] प्रत्यय [कर्म] कर्म [नोकर्म अपि] और नोकर्म ये भी [अन्यत्] आत्मा से अन्य ही हैं ॥

टीका—जैसे जीव के साथ तन्मयता से जीव से उपयोग अनन्य (एक रूप) है, उसी प्रकार जड़ क्रोध भी अनन्य ही है, ऐसी प्रतीति हो जाय । तो चिद्रूप की और जड़ की अनन्यता से जीव

पत्तिः। तथा सति तु य एव जीवः स एवाजीव इति द्रव्यान्तरलुप्तिः। एवं प्रत्ययनोकर्मकर्मणामपि जीवादनन्यत्वप्रतिपत्तावयमेव दोषः। अथैतद्दोषभयादन्य एवोपयोगात्मा जीवोऽन्य एव जडस्वभावः क्रोधः इत्यभ्युपगमः तर्हि यथोपयोगात्मनो जीवादन्यो जडस्वभावः क्रोधः तथा प्रत्ययनोकर्मकर्माण्यप्यन्यान्येव जडस्वभावत्वाविशेषान्नास्ति जीवप्रत्ययोरेकत्वम् ॥११३।११४।११५॥

कर्मकर्मणामिति। अथ प्राकृतलक्षणबलेन प्रत्ययशब्दस्य ह्रस्वत्वमिति। अह पुण अण्णो कोहो अण्णुवओगप्पगो हवदि चेदा अथ पुनरभिप्रायो भवतां पूर्वोक्तजीवाभावदूषणभयात् अन्यो भिन्नः क्रोधो जीवादन्यश्च विशुद्धज्ञानदर्शनमय आत्मा क्रोधात्सकाशात्। जह कोहो तह पच्चय कम्मं णोकम्ममवि अण्णं यथा जडः क्रोधो निर्मलचैतन्यस्वभावजीवाद्भिन्नस्तथा प्रत्ययकर्मनोकर्माण्यपि भिन्नानि शुद्धनिश्चयेन सम्मत एव। किं च, शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्याकर्तृत्वभोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्च भिन्नत्वं च भवतीति व्याख्याने कृते सति द्वितीयपक्षे व्यवहारेण कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च क्रोधादिभ्यश्चाभिन्नत्वं च लभ्यते एव। कस्मात्। निश्चयव्यवहारयोः परस्परसापेक्षत्वात्। कथमिति चेत्। यथा दक्षिणेन चक्षुषा पश्यत्ययं देवदत्तः इत्युक्ते वामेन न पश्यतीत्यनुक्तसिद्धमिति। ये पुनरेवं परस्परसापेक्षनयविभागं न मन्यन्ते सांख्यसदाशिवमतानुसारिणस्तेषां मते यथा शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवति क्रोधादिभ्यश्च भिन्नो भवति तथा व्यवहारेणापि। ततश्च क्रोधादिपरिणमनाभावे सति सिद्धानामिव कर्मबन्धाभावे संसाराभाव, संसाराभावे सर्वदा मुक्तत्वं प्राप्नोति। स च प्रत्यक्षविरोधः, संसारस्य प्रत्यक्षेण दृश्यमानत्वादिति। एवं प्रत्ययजीवयोरेकान्तेनैकत्वनिराकरणरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्राह शिष्यः। शुद्धनिश्चयेनाकर्ता व्यवहारेण कर्तेति बहुधा व्याख्यातं तत्रैवं सति यथा द्रव्यकर्मणां व्यवहारेण कर्तृत्वं तथा रागादिभावकर्मणां च द्वयोर्द्रव्यभावकर्मणोरेकत्वं प्राप्नोतीति। नैवं। रागादिभावकर्मणां योऽसौ व्यवहारस्तस्याशुद्धनिश्चयसंज्ञा भवति द्रव्यकर्मणां भावकर्मभिः सह तारतम्यज्ञापनार्थं। कथं तारतम्यमिति चेत्। द्रव्यकर्माण्यचेतनानि भावकर्माणि च चेतनानि तथापि शुद्धनिश्चयापेक्षया अचेतनान्येव। यतः कारणादशुद्धनिश्चयोऽपि शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव। अयमत्र भावार्थः। द्रव्यकर्मणां कर्तृत्वं भोक्तृत्वं चानुपचरितासद्भूतव्यवहारेण रागादिभावकर्मणां चाशुद्धनिश्चयेन। स च शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एवेति। एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे सप्तगाथाभिः चतुर्थोऽन्तराधिकारः समाप्तः। अतः परं जीवे ण सयं बद्धं इत्यादि गाथामादिं कृत्वा गाथाष्टकपर्यंतं सांख्यमतानुसारिशिष्यसम्बोध-

---

के उपयोग होने की तरह जड़ क्रोधमय होने की भी प्राप्ति हुई। ऐसा होने पर जो जीव है, वही अजीव है, इस प्रकार भिन्न द्रव्य का लोप हो गया। इसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्मों की भी जीव के साथ एकत्व की प्रतीति में यही दोष आता है। इस दोष के भय से ऐसा मानो कि उपयोग स्वरूप जीव तो अन्य है और जड़ स्वरूप क्रोध अन्य है। जैसे उपयोग स्वरूप जीव से जड़ स्वभाव क्रोध अन्य है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म और कर्म भी अन्य ही है, क्योंकि जैसा जड़ स्वभाव क्रोध है, उसी प्रकार प्रत्यय नोकर्म, कर्म ये भी जड़ हैं, इनमें विशेषता नहीं है। इस प्रकार जीव और प्रत्यय में एकत्व नहीं है।

भावार्थ—मिथ्यात्वादि आस्रव तो जड़ स्वभाव हैं और जीव चेतन स्वभाव है। यदि जड़ और चेतन एक हो जायं तो बड़ा भारी दोष आवे, भिन्न द्रव्य का ही लोप हो जाय। इसलिये आस्रव और आत्मा में एकत्व नहीं है, यह निश्चयनय का सिद्धान्त है ॥११३।११४।११५॥

अथ पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वं साधयति सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति—

जीवे ण सयं बद्धं ण सयं परिणमदि कम्मभावेण ।
जइ पुग्गलदव्वमिणं अप्परिणामी तदा होदि ॥११६॥
कम्मइयवग्गणासु य अपरिणमंतीसु कम्मभावेण ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥११७॥
जीवो परिणामयदे पुग्गलदव्वाणि कम्मभावेण ।
ते सयमपरिणमंते कहं णु परिणामयदि चेदा ॥११८॥
अह सयमेव हि परिणमदि कम्मभावेण पुग्गलं दव्वं ।
जीवो परिणामयदे कम्मं कम्मत्तमिदि मिच्छा ॥११९॥
णियमा कम्मपरिणदं कम्मं चि य होदि पुग्गलं दव्वं ।
तह तं णाणावरणाइपरिणदं मुणसु तच्चेव ॥१२०॥

(पञ्चकम्)

जीवे न स्वयं बद्धं न स्वयं परिणमते कर्मभावेन ।
यदि पुद्गलद्रव्यमिदमपरिणामि तदा भवति ॥११६॥
कार्मणवर्गणासु चापरिणममानासु कर्मभावेन ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥११७॥
जीवः परिणामयति पुद्गलद्रव्याणि कर्मभावेन ।
तानि स्वयमपरिणममानानि कथं नु परिणामयति चेतयिता ॥११८॥

नार्थं जीवपुद्गलयोरेकान्तेनापरिणामित्वं निषेधयन् सन् कथञ्चित् परिणामित्वं स्थापयति । तत्र गाथाष्टकमध्ये पुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयम् । तदनन्तरं जीवपरिणामित्वमुख्यत्वेन गाथापञ्चकमिति पंञ्चमस्थले समुदायपातनिका ॥११३।११४।११५॥ अथ सांख्यमतानुयायिशिष्यं प्रति पुद्गलस्य कथञ्चित्परिणामस्वभावत्वं साधयति—जीवे ण सयं बद्धं जीवे अधिकरणभूते स्वयं स्वभावेन पुद्गलद्रव्यकर्मबद्धं नास्ति । कस्मात्, सर्वदा जीवस्य शुद्धत्वात् । ण सयं परिणमदि कम्मभावेण न च स्वयं स्वयमेव कर्मभावेन

आगे सांख्यमत को मानने वाले शिष्य के प्रति पुद्गल द्रव्य में परिणाम स्वभाव होना सिद्ध करते हैं अर्थात् सांख्यमती प्रकृति पुरुष को अपरिणामी मानता उसे समझाते हैं;—[पुद्गलद्रव्यम्] पुद्गल द्रव्य [जीवे] जीव में [स्वयम्] आप [न बद्धम्] न तो बँधा है [न कर्मभावेन] और न

१. णाणी इत्यपि पाठः ।

अथ स्वयमेव हि परिणमते कर्मभावेन पुद्गलद्रव्यम् ।
जीवः परिणामयति कर्म कर्मत्वमिति मिथ्या ॥११९॥
नियमात्कर्मपरिणतं कर्म चैव भवति पुद्गलद्रव्यम् ।
तथा तद्ज्ञानावरणादिपरिणतं जानीत तच्चैव ॥१२०॥

यदि पुद्गलद्रव्यं जीवे स्वयमबद्धं सत्कर्मभावेन स्वयमेव न परिणमेत तदा तद-परिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः । अथ जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयति ततो न संसाराभावः इति तर्कः ? किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं

द्रव्यकर्मपर्यायेण परिणमति । कस्मात्, सर्वथा नित्यत्वात् । जदि पुग्गलदव्वमिणं एवमित्थम्भूतमिदं पुद्गल-द्रव्यं यदि चेद्भवतां सांख्यमतानुसारिणां अप्परिणामी तदा होदि ततः कारणात्तत्पुद्गलद्रव्यपरिणाम्येव भवति। ततश्चापरिणामित्वे सति किं दूषणं भवति । अथ—कार्मणवर्गणाभिरपरिणमन्तीभिःकर्मभावेन द्रव्यकर्मपर्यायेण तदा संसारस्याभावः प्रसजति प्राप्नोति हे शिष्य, सांख्यसमयवदिति । अथ मतं । जीवो परिणामयदे पुग्गल-दव्वाणि कम्मभावेण जीवः कर्ता कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्याणि । ज्ञानावरणादिकर्मभावेण द्रव्यकर्मपर्यायेण हठात्परिणामयति ततः कारणात्संसाराभावदूषणं न भवतीति चेत् ते सयमपरिणमंतं कहं तु परिणामयदि णाणी ज्ञानी जीवः स्वयमपरिणममानः सन् तत्पुद्गलद्रव्यं किं स्वयमपरिणमनानं परिणममानं वा

कर्मभाव से [स्वयं] स्वयं [परिणमते] परिणमन करता है [यदि इदं तदा] जो ऐसा मानो तो यह पुद्गलद्रव्य [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] हो जायगा [वा] अथवा [कार्मणवर्गणासु] कार्मण-वर्गणा आप [कर्मभावेन] कर्मभाव से [अपरिणममानासु] नहीं परिणमतीं ऐसा मानिये तो [संसारस्य] संसार का [अभावः] अभाव [प्रसजति] ठहरेगा [वा] अथवा [सांख्यसमयः] सांख्य मत का प्रसंग आयेगा । [जीवः] जीव ही [पुद्गलद्रव्याणि] पुद्गल द्रव्यों को [कर्मभावेन] कर्मभावों से [परिणामयति] परिणमन कराता है ऐसा माना जाय तो [तानि] वे पुद्गलद्रव्य [स्वयं अपरिणम-मानानि] आप ही परिणमन न करते उनको [चेतयिता] यह चेतन जीव [कथं नु] कैसे [परिणम-यति] परिणमा सकता है, यह प्रश्न हो सकता है [अथ] अथवा [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [स्वयमेव हि] आप ही [कर्मभावेन] कर्म भाव से [परिणमते] परिणमता है, ऐसा माना जाय तो [जीवः] जीव [कर्मत्वं] कर्मभाव से [कर्म] कर्मरूप पुद्गल को [परिणमयति] परिणमाता है [इति] ऐसा कहना [मिथ्या] झूठ हो जाय । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि [पुद्गलं द्रव्यं] पुद्गल द्रव्य [कर्मपरि-णतं] कर्मरूप परिणत हुआ [नियमात् चैव] नियम से ही [कर्म] कर्मरूप [भवति] होता है [तथा] ऐसा होने पर [तच्चैव] वह पुद्गल द्रव्य ही [ज्ञानावरणादि परिणतं] ज्ञानावरणादिरूप परिणत [तत्] कर्म [जानीत] जानो ।

टीका—यदि पुद्गलद्रव्य जीव में आप नहीं बँधा हुआ स्वयमेव कर्मभाव से नहीं परिणमन करता है तो पुद्गलद्रव्य अपरिणामी ही सिद्ध हो जायगा। ऐसा होने पर संसार का अभाव जायगा क्योंकि कर्मरूप हुए विना जीव कर्मरहित ठहरता है तो संसार किसका ? और जो ऐसा तर्क करे कि

वा जीवः पुद्गलद्रव्यं कर्मभावेन परिणामयेत् ? न तावत्तत्स्वयमपरिणममानं परेण परिणामयितुं पार्येत । नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानं तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततः पुद्गलद्रव्यं परिणामस्वभावं स्वयमेवास्तु । तथा सति कलशपरिणता मृत्तिका स्वयं कलश इव जडस्वभावं ज्ञानावरणादिककर्मपरिणतं तदेव स्वयं ज्ञानावरणादिकर्म स्यात् । इति सिद्धं पुद्गलद्रव्यस्य परिणामस्वभावत्वम् ॥११६।११७।११८।११९।१२०॥

स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः ।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यमात्मनस्तस्य स एव कर्ता ॥६४॥

परिणामयेत् ? न तावदपरिणममान परिणामयति न च स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । यथा जपापुष्पादिकं कर्तृस्फटिके जनयत्युपाधि तथा काष्ठस्तम्भादौ किं न जनयतीति। अथैकान्तेन परिणममानं परिणामयति । तदपि न घटते । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते तर्हि जीवो निमित्तकर्तारमन्तरेणापि स्वयमेव कर्मरूपेण परिणमतु । तथा च सति किं दूषणं ? घटपटस्तम्भादिपुद्गलानां ज्ञानावरणादिकर्मपरिणतिः स्यात् । स च प्रत्यक्षविरोधः । ततः स्थिता पुद्गलानां स्वभावभूता कथञ्चित्परिणामित्वशक्तिः, तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स पुद्गलः कर्ता । यं स्वस्य सम्बन्धिनं ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपरिणामं पर्यायं करोति तस्य च एवोपादानकारणं कलशस्य मृत्पिण्डमिव । न च जीवः, स तु निमित्तकारणमेव हेयतत्त्वमिदम् । तस्मात्पुद्गलाद्व्यतिरिक्तशुद्धपरमात्मभावनापरिणताऽभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन गम्यश्चिदानन्दैकस्वभावो निजशुद्धात्मैव शुद्धनिश्चयेनोपादेयं भेदरत्नत्रयस्वरूपं तु उपादेयमभेदरत्नत्रयसाधकत्वाद्व्यवहारेणोपादेयमिति । एवं गाथात्रयशब्दार्थव्याख्यानेन शब्दार्थो ज्ञातव्यः । व्यवहारनिश्चयरूपेण नयार्थो ज्ञातव्यः । सांख्यं प्रति मतार्थो

जीव पुद्गल द्रव्य को कर्मभाव परिणमाता है, इसलिये संसार का अभाव नहीं हो सकता, उसका समाधान यह है कि पहले दो पक्ष लेकर पूछते हैं—यदि जीव पुद्गल को परिणमन कराता है तो वह स्वयं अपरिणमित को परिणमित कराता है या स्वयं परिणमित को परिणमित कराता है ? यदि इनमें से पहला पक्ष लिया जाय तो स्वयं अपरिणमित को नहीं परिणमा सकता क्योंकि स्वयं अपरिणमित में परके परिणमाने की सामर्थ्य नहीं होती । स्वतः शक्ति जिसमें नहीं होती, वह परके द्वारा भी नहीं आ सकती । यदि स्वयं परिणमित पुद्गलद्रव्य को जीव कर्मभाव से परिणमाता है, ऐसा दूसरा पक्ष लिया जाय तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अपने आप परिणमित हुए को अन्य परिणमाने वाले की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वस्तु की शक्ति परकी अपेक्षा नहीं करती । इस लिये पुद्गल द्रव्य परिणामस्वभाव स्वयमेव होवे । ऐसा होने पर जैसे कलशरूप परिणत हुई मिट्टी अपने आप कलश ही है, उसी भांति जड़स्वभाव ज्ञानावरण आदि कर्मरूप परिणत हुआ पुद्गल द्रव्य ही आप ज्ञानावरण आदि कर्म ही है । इस प्रकार पुद्गलद्रव्य का परिणाम स्वभाव सिद्ध हुआ ॥११६।११७।११८।११९।१२०॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं । स्थिते इत्यादि । अर्थ— इसप्रकार उक्तप्रकार से पुद्गलद्रव्य की परिणमन शक्ति स्वभावभूत निर्विघ्न सिद्ध हुई । उसके सिद्ध होने पर पुद्गल द्रव्य जिस भाव को अपने में करता है, उसका वह पुद्गल द्रव्य ही कर्ता है ।

जीवस्य परिणामित्वं साधयति—

ण सयं बद्धो कम्मे ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं ।
जइ एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदी ॥१२१॥
अपरिणमंतम्हि सयं जीवे कोहादिएहिं भावेहिं ।
संसारस्स अभावो पसज्जदे संखसमओ वा ॥१२२॥
पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं ।
तं सयमपरिणमंतं कहं णु परिणामयदि कोहो ॥१२३॥
अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी ।
कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा ॥१२४॥
कोहुवजुत्तो कोहो माणुवजुत्तो य माणमेवादा ।
माउवजुत्तो माया लोहुवजुत्तो हवदि लोहो ॥१२५॥

(पञ्चकम्)

न स्वयं बद्धः कर्मणि न स्वयं परिणमते क्रोधादिभिः ।
यद्येषः तव जीवोऽपरिणामी तदा भवति ॥१२१॥
अपरिणममाने स्वयं जीवे क्रोधादिभिः भावैः ।
संसारस्याभावः प्रसजति सांख्यसमयो वा ॥१२२॥
पुद्गलकर्म क्रोधो जीवं परिणामयति क्रोधत्वं ।
तं स्वयमपरिणममानं कथं नु परिणामयति क्रोधः ॥१२३॥

ज्ञातव्यः । आगमार्थस्तु प्रसिद्धः । हेयोपादानव्याख्यानरूपेण भावार्थोऽपि ज्ञातव्यः इति शब्दनयमतागमभावार्थः व्याख्यानकाले यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्याः । एवं पुद्गलपरिणामस्थापनार्थं मुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥११६।११७। ११८।११९।१२० । सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति जीवस्य कथञ्चित्परिणामस्वभावत्वं साधयति;—ण सयं बद्धो कम्मे स्वयं स्वभावेन कर्मण्यधिकरणभूते एकान्तेन बद्धो नास्ति सदा मुक्तत्वात् । ण सयं परिणमदि कोहमादीहिं न च स्वयं स्वयमेव द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधादिभिः परिणमति । कस्मादेकान्तेनापरिणामित्वात् ।

भावार्थ—सब द्रव्यों का परिणाम स्वभावतः सिद्ध है, इसलिये अपने भाव का आप ही कर्ता है । अतः पुद्गल भी जिस भाव को अपने में करता है, उसका वही कर्ता है ॥६४॥

अब जीव द्रव्य की परिणामस्वभावता सिद्ध करते हैं:—सांख्यमत वाले शिष्य से आचार्य कहते हैं कि हे भाई [तव] तेरी बुद्धि में [यदि] यदि [एष जीवः] यह जीव [कर्मणि] कर्मों में

अथ स्वयमात्मा परिणमते क्रोधभावेन एषा ते बुद्धिः ।
क्रोधः परिणामयति जीवं क्रोधत्वमिति मिथ्या ॥१२४॥
क्रोधोपयुक्तः क्रोधो मानोपयुक्तश्च मान एवात्मा ।
मायोपयुक्तो माया लोभोपयुक्तो भवति लोभः ॥१२५॥

यदि कर्मणि स्वयमबद्धः सन् जीवः क्रोधादिभावेन स्वयमेव न परिणमेत सदा स किलापरिणाम्येव स्यात् । तथा सति संसाराभावः अथ पुद्गलकर्मक्रोधादि

जदि एस तुज्झ जीवो अप्परिणामी तदा होदि यदि चेदेष जीवः प्रत्यक्षीभूतः तव मताभिप्रायेणेत्थम्भूतः स्यात्ततः कारणादपरिणाम्येव भवति अपरिणामित्वे सति किं दूषणं ? अथ—अपरिणममाने सति तस्मिन् जीवे स्वयं स्वयमेव भावक्रोधादिपरिणामैः तदा संसारस्याभावः प्राप्नोति । हे शिष्य सांख्यसमयवत् । अथ मतं पुग्गलकम्मं कोहो जीवं परिणामएदि कोहत्तं पुद्गलकर्मरूपो द्रव्यक्रोध उदयागतः कर्ता जीवं कर्मतापन्नं हठात्परिणामयति भावक्रोधत्वेनेति चेत् तं सयमपरिणमन्तं कह परिणामएदि कोहत्तं अथ किं स्वयमपरिणममान परिणममानं वा परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानं परिणामयेत् । कस्मात् । न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । न हि जपापुष्पादय कर्तारो यथा स्फटिकादिषु जनयत्युपाधिं तथा काष्ठस्तम्भादिष्वपि । अथैकान्तेन परिणममानं वा तर्हि उदयागतद्रव्यक्रोधनिमित्तमन्तरेणापि भावक्रोधादिभि. परिणमन्तु। कस्मादिति चेत्। न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते। तथा च सति मुक्तात्मनामपि द्रव्यक्रोधादि कर्मोदयनिमित्ताभावेऽपि भाव-

---

[स्वयम्] आप तो [बद्धः न] बँधा नहीं है और [क्रोधादिभिः] क्रोधादि भावों से [स्वयम्] आप [परिणमति न] परिणमन नहीं करता है [तदा] तो [अपरिणामी] अपरिणामी [भवति] होगा ऐसा होने पर [क्रोधादिभिः भावैः] क्रोधादि भावों से [जीवे] जीव को [स्वयं अपरिणममाने] आप नहीं परिणत होने पर [संसारस्य अभावः] संसार का अभाव [प्रसजति] हो जायगा [वा] और [सांख्यसमयः] सांख्यमत का प्रसंग आवेगा । यदि कहेगा कि [पुद्गलकर्म] पुद्गलकर्म [क्रोधः] क्रोध है वह [जीवम्] जीव को [क्रोधत्वम्] क्रोधभावरूप [परिणमयति] परिणमाता है तो [स्वयम् अपरिणममानम्] आप स्वयं न परिणत हुए [तम्]जीव को [क्रोधः] क्रोध [कथं नु] कैसे [परिणामयति] परिणमा सकता है, ऐसा प्रश्न है । [अथ] अथवा [ते एषा बुद्धिः] तेरी ऐसी समझ है कि [आत्मा] आत्मा [स्वयम्] अपने आप [क्रोधभावेन] क्रोधभाव से [परिणमते] परिणमन करता है तो [क्रोधः] क्रोध [जीवम्] जीव को [क्रोधत्वम्] क्रोधभावरूप [परिणमयति] परिणमाता है [इति मिथ्या] ऐसा कहना मिथ्या ठहरता है । इसलिये यह सिद्धान्त है कि [आत्मा] आत्मा [क्रोधोपयुक्तः] क्रोध से उपयोग सहित होता है अर्थात् उपयोग क्रोधाकाररूप परिणमता है तब तो [क्रोधः] क्रोध ही है [मानोपयुक्तः] मान से उपयुक्त होता है तब [मान एव] मान ही है । [मायोपयुक्तः] माया से उपयुक्त होता है तब [माया] माया ही है [च] और [लोभोपयुक्तः] लोभ से उपयुक्त होता है तब [लोभः] लोभ ही [भवति] है

टीका—जीव कर्म में स्वयं नहीं बँधा हुआ क्रोधादिभाव से आप नहीं परिणमता तो वह जीव अपरिणामी ही होता है ऐसा होने पर संसार का अभाव आता है । अथवा कोई ऐसा कहे कि

जीवं क्रोधादिभावेन परिणमयति ततो न संसाराभाव इति तर्कः । किं स्वयमपरिणममानं परिणममानं वा पुद्गलकर्म क्रोधादि जीवं क्रोधादिभावेन परिणामयेत् ? न तावत्स्वयमपरिणममानः परेण परिणामयितुं पार्येत, न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते । स्वयं परिणममानस्तु न परं परिणमयितारमपेक्षेत । न हि वस्तुशक्तयः परमपेक्षन्ते । ततो जीवः परिणामस्वभावः स्वयमेवास्तु तथा सति गरुड-

---

क्रोधादयः प्राप्नुवन्ति । न च तदिष्टमागमविरोधात् । अथ मतम् । अह सयमप्पा परिणमदि कोहभावेण एस दे बुद्धी अथ पूर्वदूषणभयात्स्वयमेवात्मा द्रव्यकर्मोदयनिरपेक्षो भावक्रोधरूपेण परिणमत्येषा तव बुद्धिः हे शिष्य ! कोहो परिणामयदे जीवं कोहत्तमिदि मिच्छा तर्हि द्रव्यक्रोधः कर्ता जीवस्य भावक्रोधत्वं परिणामयति करोति यदुक्तं पूर्वगाथायां तद्वचनं मिथ्या प्राप्नोति । ततः स्थितं—घटाकारपरिणता मृत्पिण्डपुद्गलाः घट इव अग्निपरिणतोऽयःपिंडोऽग्निवत् तथात्मापि क्रोधोपयोगपरिणतः क्रोधो भवति मानोपयोगपरिणतो मानो भवति मायोपयोगपरिणतो माया भवति लोभोपयोगपरिणतो लोभो भवतीति स्थिता सिद्धा जीवस्य स्वभावभूता परिणामशक्तिः । तस्यां परिणामशक्तौ स्थितायां स जीवः कर्ता यं परिणाममात्मनः करोति तस्य स एवोपादनकर्ता द्रव्यकर्मोदयस्तु निमित्तमात्रमेव। तथैव च स एव जीवो निर्विकारचिच्चमत्कारशुद्धभावेन परिणतः सन् सिद्धात्मापि भवति । किं च विशेषः—'जाव ण वेदि विसेसंतरं' इत्याद्यज्ञानिज्ञानिजीवयोः संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथाषट्कं यदुक्तं पूर्वं पुण्यपापादिसप्तपदार्थजीवपुद्गलसंयोगपरिणामनिवृत्तास्ते च जीवपुद्गलयोः कथञ्चित्परिणामित्वे सति घटन्ते। तस्यैव कथञ्चित्परिणामित्वस्य विशेषव्याख्यानमिदम् अथवा 'सामण्णपच्चया खलु चउरो' इत्यादि गाथासप्तके यदुक्तं पूर्वं सामान्यप्रत्यया एव शुद्धनिश्चयेन कर्म कुर्वन्तीति न जीव इति जैनमतम् एकान्तेनाकर्तृत्वे सति सांख्यानां संसाराभावदूषणं तस्यैवसंसाराभावदूषणस्य विशेषदूषणमिदम् । कथमिति चेत् । तत्रैकान्तेन कर्तृत्वाभावे सति संसाराभावदूषणं अत्र पुनरेकान्तेन परिणामित्वाभावे सति संसाराभावदूषणम् । यतः कारणाद्भावकर्मपरिणामित्वमेव कर्तृत्व भोक्तृत्वं च भण्यते ॥१२१।१२२।१२३।१२४।१२५॥ इति जीवपरिणामित्वे व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं गतम् । एवं पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टगाथाभिः पञ्चमान्तराधिकारः समाप्तः । अथ–जाव ण वेदि विसेसंतरं तु आदासवाण दोण्हंपि । अण्णाणी तावदु इत्यादि गाथाद्वये तावदज्ञानी जीवस्वरूपं पूर्वं भणितं स चाज्ञानी जीवो यदा विसयकसायुवगाढ इत्याद्यशुभोपयोगेन परिणमति तदा पापास्रवबन्धपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवति । यदा तु मिथ्यात्वकषायाणां मन्दोदये सति भोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिरूपेण दानपूजादिना परिणमति तदा पुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीति पूर्वं संक्षेपेण सूचितं जइया इमेण जीवेण आदा सवाण

पुद्गल कर्म क्रोधादिक ही जीव को क्रोधादिक भाव से परिणमाते हैं इसलिये संसार का अभाव नहीं हो सकता। ऐसा कहने में दो पक्ष होते हैं कि पुद्गल कर्म क्रोधादिक जीव को अपने आप अपरिणमते को परिणमाते हैं या परिणमते को परिणमाते हैं ? प्रथम तो जो आप नहीं परिणमता हो, उसमें परको परिणमन कराने की असमर्थता है क्योंकि आप में शक्ति नहीं, तो परमें भी नहीं की जा सकती। तथा जो स्वयं परिणमता हो, वह अन्य परिणमाने वाले की अपेक्षा नहीं करता क्योंकि वस्तु की शक्ति परकी अपेक्षा नहीं करती। अन्य में अन्य कोई नवीन शक्ति उत्पन्न नहीं कर सकता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जीव स्वयमेव परिणमन स्वभाव है। ऐसा होने पर जैसे कोई मन्त्रसाधक गरुड़ का ध्यान करता हुआ उस गरुड़ भावरूप परिणत हुआ गरुड़ ही है; उसी

ध्यानपरिणतः साधकः स्वयं गरुड इवाज्ञानस्वभावक्रोधादिपरिणतोपयोगः स एव स्वयं क्रोधादिः स्यादिति सिद्धं जीवस्य परिणामस्वभावत्वम् ॥१२१॥१२२॥ १२३॥१२४॥१२५॥

स्थितेति जीवस्य निरन्तराया स्वभावभूता परिणामशक्तिः।
तस्यां स्थितायां स करोति भावं यं स्वस्य तस्यैव भवेत्स कर्ता ॥६५॥

दोण्हंपि। णादं होदि विसेसंतरं तु इत्यादिगाथाचतुष्टयेनज्ञानी जीवस्वरूपं च संक्षेपेण सूचितम्। स च ज्ञानी जीवः शुद्धोपयोगभावपरिणतोऽभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन यदा परिणमति तदा निश्चयचारित्राविनाभाविवीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा संवरनिर्जरामोक्षपदार्थानां त्रयाणां कर्ता भवतीत्यपि संक्षेपेण निरूपितं पूर्वम्। निश्चयसम्यक्त्वस्याभावे यदा तु सरागसम्यक्त्वेन परिणमति तदा शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा परम्परया निर्वाणकारणस्य तीर्थङ्करप्रकृत्यादिपुण्यपदार्थस्यापि कर्ता भवतीत्यपि पूर्वं निरूपितं। तत्सर्वं जीवपुद्गलयोः कथञ्चित्परिणामित्वे सति भवतीति तत्कथञ्चित्परिणामित्वमपि पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थं पूर्वमेव संक्षेपेण निरूपितम्। पुनश्च जीवपुद्गलपरिणामित्वव्याख्यानकाले विशेषेण कथितम्। तत्रैवं कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति अज्ञानिज्ञानिजीवयोः गुणिनोः पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपेणसूचनार्थं संक्षेपव्याख्यानं कृतम्। इदानीं पुनरज्ञानमयगुणज्ञानमयगुणयोः मुख्यत्वेन व्याख्यानं क्रियते। न च जीवाजीवगुणिमुख्यत्वेनेति। किमर्थमिति चेत्? तेषामेव पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां संक्षेपसूचनार्थमिति। तत्र **जो संगं तु मुइत्ता** इत्यादिगाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण गाथानवकपर्यन्तं व्याख्यानं करोति। तत्रादौ गाथात्रयं ज्ञानभावमुख्यत्वेन तदनन्तरं गाथाषट्कं ज्ञानिजीवस्य ज्ञानमयो भावो भवत्यज्ञानिजीवस्याज्ञानमयो भावो भवतीति मुख्यत्वेन कथ्यत इति षष्ठान्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा—कथञ्चित्परिणामित्वे सिद्धे सति ज्ञानी जीवो ज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीत्यभिप्रायं मनसि सम्प्रधार्येदं सूत्रत्रयं प्रतिपादयति :—

जो संगं तु मइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं।
तं णिस्संगं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

यः सङ्गं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमयकं शुद्धम्। तं निस्सङ्गं साधुं परमार्थविज्ञायका विदन्ति **जो संगं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पग सुद्धं** यः परमसाधुर्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहं मुक्त्वा वीतरागचारित्राविनाभूतभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति। कं कर्मतापन्नं आत्मानम्। कथम्भूतम्। विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वादुपयोगस्तमुपयोगं ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणम्। पुनरपि कथम्भूतम्। शुद्धं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितम्। **तं णिस्संगं**

भांति यह जीवात्मा अज्ञानस्वभाव क्रोधादिरूपपरिणत उपयोगरूप हुआ स्वयमेव क्रोधादिक ही होता है। इसप्रकार जीवका परिणमनस्वभाव होना सिद्ध हुआ।

भावार्थ—जीव परिणामस्वभाव है। जब अपना उपयोग क्रोधादिरूप परिणमता है, तब आप क्रोधादि रूप ही होता है ॥१२१।१२२।१२३।१२४।१२५॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं। **स्थितेति**—इत्यादि। **अर्थ**—जीव के अपने स्वभाव से ही हुई परिणमनशक्ति पूर्वकथितरीति से निर्विघ्न सिद्ध हुई। उसके सिद्ध होने से यह जीव जिस भाव को अपने करता है उसीका वह कर्ता होता है ॥६५॥

तथाहि—

जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स कम्मस्स ।
णाणिस्स स णाणमओ अण्णाणमओ अणाणिस्स ॥१२६॥

यं करोति भावमात्मा कर्ता स भवति तस्य कर्मणः ।
ज्ञानिनः स ज्ञानमयोऽज्ञानमयोऽज्ञानिनः ॥१२६॥

एवमयमात्मा स्वयमेव परिणामस्वभावोऽपि यमेव भावमात्मनः करोति तस्यैव कर्मतामापद्यमानस्य कर्तृत्वमापद्येत । स तु ज्ञानिनः सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यन्तोदितविविक्तात्मख्यातित्वात् ज्ञानमय एव स्यात् । अज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वादज्ञानमय एव स्यात् ॥१२६॥

साहुं परमट्ठवियाणया विंति तं साधुं निस्सङ्गं सङ्गरहितं विदन्ति जानन्ति ब्रुवन्ति कथयन्ति वा । के ते, परमार्थविज्ञायका गणधरदेवादय इति ।

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति ॥

यः मोहं तु मुक्त्वा ज्ञानस्वभावाधिकं मनुते आत्मानं । तं जितमोहं साधुं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥

जो मोहं तु मुइत्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं यः परमसाधुः कर्ता समस्तचेतनाचेतनशुभाशुभपरद्रव्येषु मोहं मुक्त्वात्मशुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपयोगत्रयपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेन मनुते जानाति । कं कर्मतापन्नं, आत्मानम् । किं विशिष्टं ? निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानेनाधिकं परिणतं परिपूर्णम् । तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया विंति तं साधुं कर्मतापन्नं जितमोहं निर्मोहं विदन्ति जानन्ति । के ते ? परमार्थविज्ञायकास्तीर्थंकरपरमदेवादय इति । एवं मोहपदपरिवर्तनेन रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायबुद्ध्युदयशुभाशुभपरिणामश्रोत्रचक्षुर्घ्राणजिह्वास्पर्शनसंज्ञानि विंशतिसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेण निर्मलपरमचिज्ज्योतिःपरिणतेर्विलक्षणा असंख्येयलोकमात्रविभावपरिणामा ज्ञातव्याः । अथ—

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं ।
तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति ॥

यः धर्मं तु मुक्त्वा जानाति उपयोगमयकं शुद्धम् । तं धर्मसंगमुक्तं परमार्थविज्ञायका विदन्ति ॥

जो धम्मं तु मुइत्ता जाणदि उवओगमप्पगं सुद्धं यः परमयोगीन्द्रः स्वसंवेदनज्ञाने स्थित्वा शुभोपयोग-

---

आगे इसी अर्थ को लेकर भावों का विशेषकर कर्ता कहते हैं;—(आत्मा) जो आत्मा (यं भावं) जिस भाव को (करोति) करता है (सः) वह (तस्य कर्मणः) उस भावरूप कर्म का (कर्ता) कर्ता (भवति) होता है । उस जगह (ज्ञानिनः) ज्ञानी के तो (सः) वह भाव (ज्ञानमयः) ज्ञानमय है और (अज्ञानिनः) अज्ञानी के (अज्ञानमयः) अज्ञानमय है ।

टीका—इस प्रकार पूर्वोक्तरीति से यह आत्मा स्वयमेव परिणमन स्वभाव है, तो भी

किं ज्ञानमयभावात्किमज्ञानमयाद्भवतीत्याह—

अण्णाणमओ भावो अण्णाणिणो कुणदि तेण कम्माणि ।
णाणमओ णाणिस्स दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि ॥१२७॥

अज्ञानमयो भावोऽज्ञानिनः करोति तेन कर्माणि ।
ज्ञानमयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥१२७॥

अज्ञानिनो हि सम्यक्स्वपरविवेकाभावेनात्यन्तप्रत्यस्तमितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्मादज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोरेकत्वाध्यासेन ज्ञानमात्रात्स्वस्मात्प्रभ्रष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां सममेकीभूय प्रवर्तिताहङ्कारः स्वयं किलैषोऽहं रज्ये रुष्यामीति रज्यते रुष्यति च तस्मादज्ञानमयभावादज्ञानी परौ राग-

---

परिणामरूपं धर्मं पुण्यसङ्गं त्यक्त्वा निजशुद्धात्मपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेनाभेदज्ञानेन जानात्यनुभवति । कं कर्मतापन्नम् आत्मानम्-कथम्भूतं, विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगपरिणतम् । पुनरपि कथम्भूतम् शुद्धं शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितम् तं धम्मसंगमुक्कं परमट्ठवियाणया विंति । तं परमतपोधनं निर्विकारस्वकीयशुद्धात्मोपलम्भरूपनिश्चयधर्मविलक्षणभोगाकांक्षास्वरूपनिदानबन्धादिपुण्यपरिग्रहरूपव्यवहारधर्मरहितं विदन्ति जानन्ति। के ते ? परमार्थविज्ञायकाः प्रत्यक्षज्ञानिन इति । किं च, कथञ्चित्परिणामित्वे सति जीवः शुद्धोपयोगेन परिणमति पश्चान्मोक्षं साधयति परिणामित्वाभावे बद्धोबद्ध एव शुद्धोपयोगरूपं परिणामान्तरस्वरूपं न घटते ततश्च मोक्षाभाव इत्यभिप्रायः । एवं शुद्धोपयोगरूपज्ञानमयपरिणामगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥ तदनन्तरं

जिस भाव को अपने करता है, वही भाव कर्म को प्राप्त होता है, वह उसके आप कर्तृत्व होता है। वह भाव ज्ञानी का ज्ञानमय ही है क्योंकि उसको अच्छी प्रकार से स्वपर का भेद-ज्ञान हो गया है, उससे अत्यन्त उदय को प्राप्त हुई सब पर-द्रव्य भावों से भिन्न आत्मा की ख्याति हो गई है। तथा वह भाव अज्ञानी के अज्ञानमय ही है, क्योंकि उसके भलीभांति स्वपर के भेदज्ञान का अभाव होने से भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है।

भावार्थ—ज्ञानी के तो अपना पर का भेदज्ञान हो गया है इसलिए अपने ज्ञानमयभाव का ही कर्तृत्व है और अज्ञानी के अपना परका भेदज्ञान नहीं है इस कारण अज्ञानमयभाव का ही कर्तृत्व है ॥१२६॥

आगे कहते हैं कि ज्ञानमय भाव से क्या होता है और अज्ञानमय भाव से क्या होता है;—[अज्ञानिनः] अज्ञानी का [अज्ञानमयः] अज्ञानमय [भावः] भाव है [तेन] इस कारण [कर्माणि] अज्ञानी कर्मों को [करोति] करता है [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [ज्ञानमयं] ज्ञानमय भाव होता है [तस्मात्तु] इसलिये वह ज्ञानी [कर्माणि] कर्मों को [न] नहीं [करोति] करता।

टीका—अज्ञानी के निश्चय से अच्छी प्रकार स्वपर का भेद ज्ञान नहीं है, इससे जिसके भिन्न आत्मा की ख्याति अत्यन्त अस्त हो गई है उसके कारण अज्ञानमय ही भाव होता है। उस

द्वेषावात्मानं कुर्वन् करोति कर्माणि । ज्ञानिनस्तु सम्यक्स्वपरविवेकेनात्यन्तोदितविविक्तात्मख्यातित्वाद्यस्माद् ज्ञानमय एव भावः स्यात् तस्मिंस्तु सति स्वपरयोर्नानात्वविज्ञानेन ज्ञानमात्रे स्वस्मिन्सुनिविष्टः पराभ्यां रागद्वेषाभ्यां पृथग्भूततया स्वरसत एव निवृत्ताहङ्कारः स्वयं किल केवलं जानात्येव न रज्यते न च रुष्यति तस्माद् ज्ञानमयभावाद् ज्ञानी परौ रागद्वेषावात्मानमकुर्वन्न करोति कर्माणि ॥१२७॥

यथा ज्ञानमयाऽज्ञानमयभावद्वयस्य कर्ता भवति तथा कथयति—**जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्य** यं भावं परिणामं करोत्यात्मा स तस्यैव भावस्यैव कर्ता भवति **णाणिस्स स णाणमओ** स च भावोऽनन्तज्ञानादिचतुष्टयलक्षणकार्यसमयसारस्योत्पादकत्वेन निर्विकल्पसमाधिपरिणामपरिणतकारणसमयसारलक्षण भेदज्ञानेन सर्वारम्भपरिणतत्वाज्ज्ञानिनो जीवस्य शुद्धात्मख्यातिप्रतीतिवित्त्युपलब्ध्यनुभूतिरूपेण ज्ञानमय एव भवति **अण्णाणमओ अणाणिस्स** अज्ञानिनस्तु पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् शुद्धात्मानुभूतिस्वरूपाभावे सत्यज्ञानमय एव भवतीत्यर्थः ॥१२६॥ अथ किं ज्ञानमयभावात्फलं भवति किमज्ञानमयाद्भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—**अण्णाणमओ भावो अणाणिणो कुणदि तेण कम्माणि** स्वोपलब्धिभावनाविलक्षणत्वेनाज्ञानमयभावो भण्यते। कस्मात् । यस्मात्तेन भावेन परिणामेन कर्माणि करोत्यज्ञानी जीवः । **णाणमओ णाणिस्य दु ण कुणदि तम्हा दु कम्माणि** ज्ञानिनस्तु निर्विकारचिच्चमत्कारभावनावशेन ज्ञानमयो भवति तस्माद् ज्ञानमयभावात् ज्ञानी जीवः कर्माणि न करोतीति। किं च, यथा स्तोकोऽप्यग्निः तृणकाष्ठराशिं महान्तमपि क्षणमात्रेण दहति तथा त्रिगुप्तिसमाधिलक्षणो भेदज्ञानाग्निरन्तर्मुहूर्तेनापि बहुभवसञ्चितं कर्मराशिं दहतीति ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण तत्रैव परमसमाधौ भावना कर्तव्येति भावार्थः ॥१२७॥ अथ ज्ञानमय एव भावो भवति ज्ञानिनो जीवस्य न पुनरज्ञानमयस्तथैवाज्ञानमय एव

अज्ञानमय भाव के होने पर आत्मा के और परके एकत्व का अध्यास होने से ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूप से भ्रष्ट हुआ परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेष के साथ एक होकर अहङ्कार में प्रवृत्त हुआ अज्ञानी ऐसे मानता है कि 'मैं रागी हूँ, द्वेषी हूँ' इस प्रकार रागी द्वेषी होता है। उस रागादिस्वरूप अज्ञानमयभाव से अज्ञानी हुआ पर द्रव्यस्वरूप जो राग-द्वेष उनरूप अपने को करता हुआ कर्मों को करता है। और ज्ञानी के अच्छी तरह अपना पर का भेदज्ञान हो गया है इसलिये जिसके भिन्न आत्मा की प्रकटता—'ख्याति' अत्यन्त उदय हो गई है, उस भाव के कारण ज्ञानमय ही भाव होता है। उस भाव के होने से अपना-परका भेदज्ञान होने पर ज्ञानमात्र अपने आत्मस्वरूप में ठहरा हुआ वह ज्ञानी परद्रव्यस्वरूप राग-द्वेष की पृथक्ता जिसके अपने रस से ही पर में अहङ्कार निवृत्त हो गया है, ऐसा हुआ निश्चय से केवल जानता ही है, राग-द्वेष रूप नहीं होता। इसलिये ज्ञानमय भाव से ज्ञानी हुआ परद्रव्यस्वरूप जो राग-द्वेष उन रूप आत्मा को नहीं करता, कर्मों को नहीं करता है।

भावार्थ—इस आत्मा के जो क्रोधादिक मोह की प्रकृति का उदय आता है, उसका अपने उपयोग में रागद्वेष रूप मलिन स्वाद आता है, उसके भेदज्ञान के बिना अज्ञानी हुआ ऐसा मानता है कि यह राग-द्वेष मय मलिन उपयोग ही मेरा स्वरूप है, यही मैं हूँ, ऐसे अज्ञानरूप अहङ्कार से हुआ वह कर्मों को बांधता है। इसप्रकार अज्ञानमयभाव से कर्मबन्ध होता है। और जब ऐसा

ज्ञानमय एव भावः कुतो भवेद् ज्ञानिनो न पुनरन्यः ।
अज्ञानमयः सर्वः कुतोऽयमज्ञानिनो नान्यः ॥६६॥

णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो ।
जम्हा तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा हु णाणमया ॥१२८॥
अण्णाणमया भावा अण्णाणो चेव जायए भावो ।
जम्हा तम्हा भावा अण्णाणमया अणाणिस्स ॥१२९॥ (युग्मम्)

ज्ञानमयाद्भावाद् ज्ञानमयश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माज्ज्ञानिनः सर्वे भावाः खलु ज्ञानमयाः ॥१२८॥
अज्ञानमयाद्भावादज्ञानश्चैव जायते भावः ।
यस्मात्तस्माद्भावादज्ञानमया अज्ञानिनः ॥१२९॥

यतो ह्यज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽप्यज्ञानमयत्वमन-

---

भवत्यज्ञानिजीवस्य न पुनर्ज्ञानमयः । किमर्थमिति चेत्:—णाणमया भावाओ णाणमओ चेव जायदे भावो जम्हा ज्ञानमयाद् भावाद् निश्चयरत्नत्रयात्मकजीवपदार्थाद् ज्ञानमय एव जायते भावः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणो

जानता है कि ज्ञानमात्र शुद्ध उपयोग तो मेरा स्वरूप है, 'वह मैं हूँ' ऐसा, तथा रागद्वेष है वे कर्म के रस हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं । ऐसा भेदज्ञान होवे, तभी ज्ञानी होता हैं, तब अपने को रागद्वेष भावरूप नहीं करता, केवल ज्ञाता ही रहता है, तब कर्म को नहीं करता ॥१२७॥

आगे अगली गाथा के अर्थ की सूचना का काव्य कहते हैं—ज्ञानमय इत्यादि । अर्थ—यहाँ प्रश्नरूप वचन है कि ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव होते हैं अन्य नहीं होता यह क्यों ? और अज्ञानी के अज्ञानमय ही सब भाव होते हैं अन्य नहीं यह कैसे ? ॥६६॥

इसी प्रश्न की उत्तररूप गाथा कहते हैं:—[यस्मात्] जिस कारण [ज्ञानमयात् भावात् च] ज्ञानमयभाव से [ज्ञानमय एव] ज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] उत्पन्न होता है । [तस्मात्] इस कारण [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [खलु] निश्चय से [सर्वे भावाः] सब भाव [ज्ञानमयाः] ज्ञानमय हैं । और [यस्मात्] जिस कारण [अज्ञानमयात् भावात् च] अज्ञानमय भाव से [अज्ञान एव] अज्ञानमय ही [भावः] भाव [जायते] होता है [तस्मात्] इस कारण [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [अज्ञानमयाः] अज्ञानमय ही [भावाः] भाव उत्पन्न होते हैं ।

टीका—जिस कारण निश्चय से अज्ञानमय भाव से जो कुछ भाव होता है, वह सभी अज्ञान रूप को उल्लङ्घन नहीं करता अज्ञानमय ही होता है; इसलिए अज्ञानी के सभी भाव अज्ञानमय हैं । और जिस कारण ज्ञानमयभाव से जो कुछ भाव होता है; वह सभी ज्ञानमयरूप को नहीं

तिवर्तमानोऽज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्व एवाज्ञानमया अज्ञानिनो भावाः। यतश्च ज्ञानमयाद्भावाद्यः कश्चनापि भावो भवति स सर्वोऽपि ज्ञानमयत्वमनतिवर्तमानो ज्ञानमय एव स्यात् ततः सर्वे एव ज्ञानमया ज्ञानिनो भावाः ॥१२८॥१२९॥

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥६७॥

अथैतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते—

कणयमया भावादो जायंते कुंडलादयो भावा।
अयमयया भावादो जह जायंते तु कडयादी ॥१३०॥

अण्णाणमया भावा अणाणिणो बहुविहा वि जायंते।
णाणिस्स दु णाणमया सव्वे भावा तहा होंति ॥१३१॥युग्मम्

कनकमयाद्भावाज्जायन्ते कुण्डलादयो भावाः।
अयोमयकाद्भावाद्यथा जायन्ते तु कटकादयः ॥१३०॥

अज्ञानमयाद्भावादज्ञानिनो बहुविधा अपि जायन्ते।
ज्ञानिनस्तु ज्ञानमया सर्वे भावास्तथा भवन्ति ॥१३१॥

मोक्षपर्यायो यस्मात्कारणात् तम्हा णाणिस्स सव्वे भावा दु णाणमया तस्मात्कारणात्स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानिनो जीवस्य सर्वे भावाः परिणामा ज्ञानमया ज्ञानेन निर्वृत्ता भवन्ति। तदपि कस्मात्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति वचनात्। न हि यवनालबीजे वपिते राजान्नशालिफलं भवतीति। तथैव च–अण्णाणमया भावा

उल्लंघन करता हुआ ज्ञानमय ही होता है इसलिये ज्ञानी के सभी भाव ज्ञानमय हैं ॥१२८।१२९॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—ज्ञानिनो इत्यादि। अर्थ—ज्ञानी के सभी भाव ज्ञान से उत्पन्न होते हैं और अज्ञानी के सभी भाव अज्ञान से उत्पन्न होते हैं ॥६७॥

इस अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं—[यथा] जैसे [कनकमयात् भावात्] सुवर्णमय भाव से [कुण्डलादयः भावाः] सुवर्णमय कुण्डलादिक भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [अयोमयात् भावात्] लोहमय भाव से [कटकादयः] लोहमयी कड़े इत्यादिक भाव होते हैं [तथा] उसी प्रकार [अज्ञानिनः] अज्ञानी के [अज्ञानमयात् भावात्] अज्ञानमय भाव से [बहुविधा अपि] अनेक तरह के अज्ञानमय भाव [जायन्ते] होते हैं [तु] और [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [सर्वे] सभी [ज्ञानमयाः भावाः] ज्ञानमय भाव होने से ज्ञानमयभाव [भवन्ति] होते हैं।

यथा खलु पुद्गलस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वात्कार्याणां जाम्बूनदमयाद्भावाज्जाम्बूनदजातिमनतिवर्तमानाज्जाम्बूनदकुण्डलादय एव भावा भवेयुर्न पुनः कालायसवलयादयः। कालायसमयाद्भावाच्च कालायसजातिमनतिवर्तमानाः कालायसवलयादय एव भवेयुर्न पुनर्जाम्बूनदकुण्डलादयः। तथा जीवस्य स्वयं परिणामस्वभावत्वे सत्यपि कारणानुविधायित्वादेव कार्याणां अज्ञानिनः स्वयमज्ञानमयाद्भावादज्ञानजातिमनतिवर्तमाना विविधा अप्यज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनर्ज्ञानमयाः, ज्ञानिनश्च स्वयं ज्ञानमयाद्भावाज्ज्ञानजातिमनतिवर्तमानाः सर्वे ज्ञानमया एव भावा भवेयुर्न पुनरज्ञानमयाः ॥१३०।१३१॥

अण्णाणो चेव जायए भावो अज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थात् अज्ञानमय एव जायते भावः पर्यायो यस्मात्कारणात् तम्हा सव्वे भावा अण्णाणमया अणाणिस्स यतः एवं तस्मात्कारणात्सर्वे भावाः परिणामा अज्ञानमया मिथ्यात्वरागादिरूपा भवन्ति। कस्य, अज्ञानिनः शुद्धात्मोपलब्धिरहितस्य मिथ्यादृष्टेर्जीवस्येति ॥१२८।१२९॥ अथ तदेव व्याख्यानं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिाभ्यां समर्थयति:—कनकमयाद्भावात्पदार्थात् उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति कृत्वा कुण्डलादयो भावाः पर्यायाः कनकमया एव भवन्ति। अयोमयाल्लोहमयाद्भावात्पदार्थाद्

टीका—जैसे निश्चय से पुद्गल द्रव्य स्वयं परिणामस्वभावी होने पर भी जैसा कारण हो, उस स्वरूप कार्य होता है। अतः स्वर्णमय भाव के कारण सुवर्ण जाति का उल्लंघन न करने वाले सुवर्णमय ही कुण्डल आदिक भाव होते हैं, सुवर्ण से लोहमयी कड़ा आदिक भाव नहीं होते। और लोहमय भाव से लोह की जाति को उल्लंघन न करने वाले लोहमय कड़े आदिक भाव होते हैं, लोह से सुवर्ण मय कुण्डल आदिक भाव नहीं होते, उसी प्रकार जीव के स्वयं परिणामभावरूप होने पर भी 'जैसा कारण होता है वैसा ही कार्य होता है' इस न्याय से अज्ञानी के स्वयमेव अज्ञानमय भाव से अज्ञान की जाति को नहीं उल्लंघन करने वाले अनेक प्रकार के अज्ञानमय ही भाव होते हैं, ज्ञानमय भाव नहीं होते, और ज्ञानी के ज्ञान की जाति को नहीं उल्लंघन करने वाले सब ज्ञानमय भाव ही होते हैं, अज्ञानमय नहीं होते।

भावार्थ—जैसा कारण हो, वैसा ही कार्य होता है। इस न्याय से जैसे सुवर्ण से सुवर्णमय आभूषण होते हैं, लोह से लोहमय होते हैं, उसी प्रकार अज्ञानी के अज्ञान से अज्ञानमय भाव होते हैं और ज्ञानी के ज्ञान से ज्ञानमय ही भाव होते हैं। यहाँ पर ऐसा आशय समझना कि अज्ञानभाव तो क्रोधादिक हैं, और ज्ञानभाव क्षमा आदिक हैं। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि के चारित्रमोह के उदय से क्रोधादिक भी प्रवर्तते हैं तो भी उनमें आत्मबुद्धि नहीं है, वह इन्हें परके निमित्त से हुई उपाधि मानता है, वह उदय देकर खिर जाते हैं, आगामी ऐसा बन्ध नहीं करता कि जिससे संसार का भ्रमण बढ़े। और आप उद्यमी हो के उन रूप परिणमन भी नहीं करता है; उदय की जबरदस्ती से परिणमता है इसलिए वहां भी ज्ञान में ही अपना स्वामित्व मानने से उन क्रोधादिभावों का भी अन्य ज्ञेय के समान ज्ञाता ही है, कर्ता नहीं है। इस प्रकार वहां भी ज्ञानमय भाव से ज्ञानभाव ही हुआ जानना ॥१३०।१३१॥

अज्ञानमयभावानामज्ञानी व्याप्य भूमिकाम् ।
द्रव्यकर्मनिमित्तानां भावानामेति हेतुताम् ॥६८॥

अण्णाणस्स स उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी ।
मिच्छत्तस्स दु उदओ जीवस्स असद्दहाणत्तं ॥१३२॥
उदओ असंजमस्स दु जं जीवाणं हवेइ अविरमणं ।
जो दु कलुसोवओगो जीवाणं सो कसाउदओ ॥१३३॥
तं जाण जोगउदयं जो जीवाणां तु चिट्ठउच्छाहो ।
सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा ॥१३४॥
एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु ।
परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं ॥१३५॥
तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया ।
तइया दु होदि हेदू जीवो परिणामभावावाणं ॥१३६॥पञ्चकम्

अयोमया एव भावाः पर्यायाः कटकादयो भवन्ति यथा येन प्रकारणेति दार्ष्टान्तिगाथा गता । अथ दृष्टान्तिमाह अण्णाणेति तथा पूर्वोक्तलोहदृष्टान्तेनाज्ञानमयाद्भावाज्जीवपदार्थादज्ञानिनो भावाः पर्याया बहुविधा मिथ्यात्वरागादिरूपा अज्ञानमया जायन्ते । तथैव च पूर्वोक्तजाम्बूनददृष्टान्तेन ज्ञानिनो जीवस्य ज्ञानमयाः सर्वे भावाः पर्याया भवन्ति । किं च विस्तरः। वीतरागस्वसंवेदनभेदज्ञानी जीवः यं शुद्धात्मभावनारूपं परिणामं करोति स परिणामः सर्वोऽपि ज्ञानमयो भवति । ततश्च येन ज्ञानमयपरिणामेन संसारस्थितिं हित्वा देवेन्द्रलोकान्तिकादिमहर्द्धिदेवो भूत्वा घटिकाद्वयेन मतिश्रुतावधिरूपं ज्ञानभावं पर्यायं लभते । ततश्च विमानपरिवारादिविभूतिं जीर्णतृणमिव गणयन्पञ्चमहाविदेहे गत्वा पश्यति । किं पश्यतीति चेत्, तदिदं समवसरणं त एते वीतरागसर्वज्ञास्त एते भेदाभेदरत्नत्रयाराधनापरिणता गणधरदेवादयो ये पूर्वं श्रूयन्ते परमागमे ते दृष्टाः प्रत्यक्षेणेति मत्वा, विशेषेण दृढधर्ममतिर्भूत्वा तु चतुर्थगुणस्थानयोग्यां शुद्धात्मभावनामपरित्यजन्निरन्तरं धर्मध्यानेन देवलोण कालं गमयित्वा पश्चान्मनुष्यभवे राजाधिराजमहाराजार्द्धमण्डलीकमहामण्डलीकबलदेवकामदेवचक्रवर्त्तितीर्थङ्करपरमदेवाधिदेवपदे लब्धेऽपि पूर्वभववासनावासितशुद्धात्मरूपभेदभावनाबलेन मोहं न गच्छति रामपाण्डवादिवत् । ततश्च जिनदीक्षां गृहीत्वा सर्द्धिचतुर्ज्ञानमयभावं पर्यायं लभते । तदनन्तरं समस्तपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन द्वितीयशुक्लध्यानरूपेण विशिष्टभेदभावनाबलेन स्वात्मभावनोत्थसुखामृतरसेन तृप्तो भूत्वा सर्वातिशयपरिपूर्णलोकत्रयाधिपाराध्यं परमाचिन्त्यविभूतिविशेषं

आगे अगली गाथा की सूचना के अर्थ श्लोक कहते हैं—अज्ञान इत्यादि । अज्ञानी अज्ञानमय अपने भावों की भूमिका को व्याप्त कर आगामी द्रव्यकर्म के कारण अज्ञानादिभाव की हेतुता को प्राप्त होता है ॥६८॥

अज्ञानस्य स उदयो या जीवानामतत्त्वोपलब्धिः ।
मिथ्यात्वस्य तूदयो जीवस्याश्रद्दधानत्वम् ॥१३२॥
उदयोऽसंयमस्य तु यज्जीवानां भवेदविरमणम् ।
यस्तु कलुषोपयोगो जीवानां स कषायोदयः ॥१३३॥
तं जानीहि योगोदयं यो जीवानां तु चेष्टोत्साहः ।
शोभनोऽशोभनो वा कर्तव्यो विरतिभावो वा ॥१३४॥
एतेषु हेतुभूतेषु कार्मणवर्गणागतं यत्तु ।
परिणमतेऽष्टविधं ज्ञानावरणादिभावैः ॥१३५॥
तत्खलु जीवनिबद्धं कार्मणवर्गणागतं यदा ।
तदा तु भवति हेतुर्जीवः परिणामभावानाम् ॥१३६॥

अतत्त्वोपलब्धिरूपेण ज्ञाने स्वदमानो अज्ञानोदयः । मिथ्यात्वासंयमकषाय-

---

केवलज्ञानरूपं भावं पर्यायं लभत इत्यभिप्रायः। अज्ञानिजीवस्तु मिथ्यात्वरागादिमयमज्ञानभावं कृत्वा नरनारका-दिरूपं भावं पर्यायं लभत इति भावार्थः ॥१३०।१३१॥ एवं ज्ञानमयाज्ञानमयभावकथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कं

यही अर्थ पांच गाथाओं द्वारा कहते हैं;—[या] जो [जीवानाम्] जीवों के [अतत्त्वोपलब्धि:] अन्यथा स्वरूप का जानना है [सः] वह [अज्ञानस्य] अज्ञान का [उदयः] उदय है [तु] और जो [जीवस्य] जीव के [अश्रद्दधानत्वम्] अतत्त्व का श्रद्धान है वह [मिथ्यात्वस्य] मिथ्यात्व का [उदयः] उदय है [यत्तु] और जो [जीवानाम्] जीवों के [अविरमणम्] अत्याग भाव [भवेत्] है [असंयमस्य] वह असंयम का [उदयः] उदय है [तु] और [यः] जो [जीवानाम्] जीवों के [कलुषोपयोगः] मलिन (जानपने की स्वच्छता से रहित) उपयोग है [सः] वह [कषायोदयः] कषायका उदय है (तु यः) और जो (जीवानाम्) जीवों के (शोभनः) शुभरूप (वा) अथवा (अशोभनः) अशुभ रूप (चेष्टोत्साहः) मनवचन काय की चेष्टा के उत्साह का (कर्तव्यः) करने योग्य (वा) अथवा (विरतिभावः) न करने योग्य व्यापार है (तम्) उसे (योगोदयम्) योग का उदय (जानीहि) जानो। (एतेषु) इनको (हेतुभूतेषु) हेतुभूत होनेपर (यत्तु) जो (कर्मवर्गणागतम्) कार्मणवर्गणा रूप आकर प्राप्त हुआ (ज्ञानावरणादिभावैः अष्टविधम्) ज्ञानावरण आदि भावों से आठ प्रकार (परिणमते) परिणमन करता है (तत् खलु) वह निश्चय से (यदा) जब (कार्मणवर्गणा गतम्) कार्मणवर्गणारूप आया हुआ (जीवनिबद्धम्) जीव में बंधता है (तदा तु) उस समय (परिणामभावानाम्) उन अज्ञानादिक परिणाम भावों का (हेतुः) कारण (जीवः) जीव (भवति) होता है ।

टीका—अयथार्थ वस्तुस्वरूप की उपलब्धि से ज्ञान में जो स्वादरूप हो वह अज्ञान का

योगोदयाः कर्महेतवस्तन्मयाश्चत्वारो भावाः। तत्त्वाश्रद्धानरूपेण ज्ञाने स्वदमानो मिथ्यात्वोदय; अविरमणरूपेण ज्ञाने स्वदमानोऽसंयमोदयः, कलुषोपयोगरूपेण ज्ञाने स्वदमानः कषायोदयः, शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिव्यापाररूपेण ज्ञाने स्वदमानो योगोदयः।

गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपेण महाधिकारे कथञ्चित्परिणामित्वे सति ज्ञानिजीवो ज्ञानमयभावस्य कर्ता तथैव चाज्ञानिजीवोऽज्ञानमयस्य भावस्य कर्ता भवतीति, व्याख्यानमुख्यतया गाथानवकेन षष्ठोऽन्तराधिकारः समाप्तः। अथ पूर्वोक्त एवाज्ञानमयभावो द्रव्यभावगतपञ्चप्रत्ययरूपेण पञ्चविधो भवति स चाज्ञानिजीवस्य शुद्धात्मैवोपादेय इत्यरोचमानस्य तमेव शुद्धात्मानं स्वसंवेदनज्ञानेनाजानतस्तमेव परमसमाधिरूपेणाभावयतश्च बन्धकारणं भवतीति सप्तमान्तराधिकारे समुदायपातनिका—मिच्छत्तस्स दु उदयं जं जीवाणं अतच्चसद्दहणं मिथ्यात्वस्योदयो भवति जीवानामनन्तज्ञानादिचतुष्टयरूपं शुद्धात्मतत्त्वमुपादेयं विहायान्यत्र यच्छ्रद्धानं रुचिरुपादेयबुद्धिः असंजमस्स दु उदओ जं जीवाणं अविरदत्तं असंयमस्य च स उदयो भवति जीवानामात्मसुखसंवित्त्यभावे सति विषयकषायेभ्यो यदनिवर्त्तनमिति। अथ—अण्णाणस्स दु उदओ जं जीवाणं अतच्चउवलद्धी अज्ञानस्योदयो भवति यत्किं भेदज्ञानं विहाय जीवानां विपरीतरूपेण परद्रव्यैकत्वेनोपलब्धिः प्रतीतिः जो दु कसाउवओगो सो जीवाणं कसाउदओ स जीवानां कषायोदयो भवति यः शान्तात्मोपलब्धिलक्षणं शुद्धोपयोगं विहाय क्रोधादिकषायरूप उपयोगः परिणाम इति। अथ—तं जाण जोगउदयं जं जीवाणं तु चिट्ठउच्छाहो तं योगोदयं जानीहि त्वं हे शिष्य जीवानां मनोवचनकायवर्गणाधारेण वीर्यांतरायक्षयोपशमजनितः कर्मादानहेतुरात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणः प्रयत्नरूपेण यस्तु चेष्टोत्साहो व्यापारोत्साहः सोहणमसोहणं वा कायव्वो विरदिभावो वा स च शुभाशुभरूपेण द्विधा भवति। तत्र व्रतादिकर्तव्यरूपः शोभनः पश्चादव्रतादिरूपो वर्जनीयः स चाशोभनः इति। अथ—एदेसु हेदुभूदेसु कम्मइयवग्गणागयं जं तु एतेषु पूर्वोक्तेषु उदयागतेषु हेतुभूतेषु यत् मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययेषु कार्मणवर्गणागतं परिणतं यदभिनवं नवतरं पुद्गलद्रव्यं परिणमदे अट्ठविहं णाणावरणादिभावेहिं जीवस्यसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकपरिणतिरूपपरमसामयिकाभावे सति ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मरूपेणाष्टविधं परिणमतीति। अथ—तं खलु जीवणिबद्धं कम्मइयवग्गणागयं जइया तत्पूर्वोक्तसूत्रोदितं कर्मवर्गणायोग्यमभिनवं पुद्गलद्रव्यं जीवनिबद्धं जीवसंबद्धं योगवशेनागतं यदा भवति खलु स्फुटं तइया दु होदि हेदु जीवो परिणामभावाणं तदा काले पूर्वोक्तेषूदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु निमित्तभूतेषु खलु स्वकीयगुणस्थानानुसारेण जीवो हेतुः कारणं भवति केषां परिणामरूपाणां भावानां प्रत्ययानामिति। किञ्च, उदयागतद्रव्यप्रत्ययनिमित्तेन मिथ्यात्वरागादिभावप्रत्ययरूपेण परिणम्य जीवो नवतरकर्मबन्धस्य कारणं भवतीति तात्पर्यम्। अयमत्र भावार्थः उदयागतेषु द्रव्यप्रत्ययेषु यदि जीवः स्वस्वभावं मुक्त्वा

उदय है। उसके मिथ्यात्व, असंयम, कषाय, योगादिक अज्ञानमय चार भाव हैं। जो कि ज्ञानावरणादि कर्म के कारण हैं। उनमें से जो तत्त्व के अश्रद्धानरूप से ज्ञान में आस्वाद का आना वह तो मिथ्यात्व का उदय है; जो अत्यागभाव से ज्ञान में आस्वादरूप आये वह असंयम का उदय है; जो मलिन उपयोग से ज्ञान में आस्वादरूप आये, वह कषाय का उदय है, और जो शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिरूप व्यापार से ज्ञान में स्वादरूप होता है, यह योगका उदय है। ये मिथ्यात्वादि के उदयस्वरूप चारों भाव पुद्गल के हैं, वे आगामी कर्मबन्ध के कारण होते हैं। उनके कारणरूप

अथैतेषु पौद्गलिकेषु मिथ्यात्वाद्युदयेषु हेतुभूतेषु यत्पुद्गलद्रव्यं कर्मवर्गणागतं ज्ञानावरणादिभावैरष्टधा स्वयमेव परिणमते तत्खलु कर्मवर्गणागतं जीवनिबद्धं यदा स्यात्तदा जीवः स्वयमेवाज्ञानात्परात्मनोरेकत्वाध्यासेनाज्ञानमयानां तत्त्वाश्रद्धानादीनां स्वस्य परिणामभावानां हेतुर्भवति ॥१३२।१३३।१३४।१३५।१३६ ॥

पुद्गलद्रव्यात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणामः—

जीवस्स दु कम्मेण य सह परिणामा हु होंति रागादी ।
एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा ॥१३७॥
एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं ।
ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो ॥१३८॥

[युग्मम्]

जीवस्य तु कर्मणा च सह परिणामाः खलु भवन्ति रागादयः ।
एवं जीवः कर्म च द्वे अपि रागादित्वमापन्ने ॥१३७॥
एकस्य तु परिणामो जायते जीवस्य रागादिभिः ।
तत्कर्मोदयहेतुभिर्विना जीवस्य परिणामः ॥१३८॥

रागादिरूपेण भावप्रत्ययेन परिणमतीति तदा बन्धो भवतीति नैवोदयमात्रेण घोरोपसर्गेऽपि पाण्डवादिवत्, यदि पुनरुदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदैव संसारएव । कस्मादिति चेत्, संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात् । इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारेऽज्ञानिभावः पञ्चप्रत्ययरूपेण शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां बन्धकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चगाथाभिः सप्तमोऽन्तराधिकारः समाप्तः ॥ १३२।१३३।१३४।१३५।१३६ ॥ अतः परं जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयमित्यष्टमान्तराधिकारे समुदायपातनिका । अथ निश्चयेन कर्मपुद्गलात्पृथग्भूत एव जीवस्य परिणाम इति

होने पर पुद्गलद्रव्य कर्मवर्गणारूप आया हुआ ज्ञानावरण आदि भावों से अष्टप्रकार स्वयमेव परिणमता है। यह ज्ञानावरणादिक रूप कर्मवर्गणा रूप प्राप्त हुआ जब जीव में निबद्ध होता है, तब जीव स्वयमेव अपने अज्ञानभाव से पर और आत्मा के एकत्व का निश्चय कर अज्ञानमय अतत्त्व श्रद्धानादिक अपने परिणामस्वरूप भावों का कारण होता है।

भावार्थ—अज्ञानभाव के भेदरूप जो मिथ्यात्व, अविरत, कषाय, योग रूप परिणाम हैं, वे पुद्गल के परिणाम हैं। वे ज्ञानावरणादि आगामी कर्मबन्ध के कारण हैं। और जीव उन मिथ्यात्वादिभावों के उदय होने से अपने अज्ञानभाव से अतत्त्वश्रद्धानादिक भावों के रूप में परिणमन करता है, और उन अपने अज्ञानरूप भावों का कारण होता है ॥१३२।१३३।१३४।१३५।१३६॥

इसीप्रकार जीव का परिणाम भी पुद्गलद्रव्य से पृथक् ही है—यदि ऐसा माना जाय कि [जीवस्य] जीव के [परिणामाः] परिणाम [रागादयः] रागादिक हैं वे [खलु] निश्चय से (कर्मणा

यदि जीवस्य तन्निमित्तभूतविपच्यमानपुद्गलकर्मणा सहैव रागाद्यज्ञानपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा जीवपुद्गलकर्मणोः सहभूतसुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरपि रागाद्यज्ञानपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव जीवस्य भवति रागाद्यज्ञानपरिणामः ततः पुद्गलकर्मविपाकाद्धेतोः पृथग्भूतो जीवस्य परिणामः ॥१३७।१३८॥

प्रतिपादयति—**जीवस्स दु कम्मेण स सह परिणामा दु होंति रागादी** यदि जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयेनोपादानभूतेन सह रागादिपरिणामा भवन्ति। **एवं जीवो कम्मं च दोवि रागादिमावण्णा** एवं द्वयोर्जीवपुद्गलयोः रागादिपरिणामानामुपादानकारणत्वे सति सुधाहरिद्रयोरिव द्वयोरागित्वं प्राप्नोति। तथा सति पुद्गलस्य चेतनत्वं प्राप्नोति स च प्रत्यक्षविरोध इति। अथ—**एकस्स दु परिणामो जायदि जीवस्स रागमादीहिं** अथाभिप्रायो भवतां पूर्वदूषणभयादेकस्य जीवस्यैकान्तेनोपादानकारणस्य रागादिपरिणामो जायते **ता कम्मोदयहेदूहिं विणा जीवस्स परिणामो** तस्मादिदं दूषणं कर्मोदयहेतुभिर्विनापि शुद्धजीवस्य रागादिपरिणामो जायते स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च। अथवा द्वितीयव्याख्यानं एकस्य जीवस्योपादानकारणभूतस्य कर्मोदयोपादानहेतुभिर्विनारागादिपरिणामो यदि भवति तदा सम्मतमेव। किं द्रव्यकर्मणामनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण कर्ता जीवः रागादिभावकर्मणामशुद्धनिश्चयेन। स चाशुद्धनिश्चयः यद्यपि द्रव्यकर्मकर्तृत्वविषयभूतस्यानुपचरितासद्भूतव्यवहारस्यापेक्षया निश्चयसंज्ञां लभते, तथापि शुद्धात्मद्रव्यविषयभूतस्य शुद्धनिश्चयस्यापेक्षया वस्तुवृत्त्यया व्यवहार एवेति भावार्थः ॥१३७।१३८॥ अथ निश्चयेन जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणाम इति निरूपयति—**एकस्स परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्माभावे** एकस्योपादनभूतस्य

च सह) कर्म के साथ होते हैं (**एवं तु**) इस प्रकार तो (**जीवः च कर्म**) जीव और कर्म (**द्वे अपि**) ये दोनों ही (**रागादित्वम् आपन्ने** रागादि परिणाम को प्राप्त हो जांय। अतः यह सिद्ध हुआ कि (**रागादिभिः**) इन रागादिकों से (**एकस्य जीवस्य तु**) एक जीव का ही (**परिणामः**) परिणाम (**जायते**) उत्पन्न होता है (**तत्**) वह (**कर्मोदयहेतुं विना**) कर्मके उदय रूप निमित्त कारण से पृथक् (**जीवस्य परिणामः**) एक जीव का ही परिणाम है।

टीका—यदि जीव का रागादि अज्ञान परिणाम अपने निमित्तभूत उदय में आये पुद्गल कर्म के साथ ही होता है, यह तर्क किया जाय तो जीव और पुद्गल कर्म दोनों के ही हल्दी और फिटकिरी की भांति [जैसे रंग में हल्दी और फिटकिरी साथ डालने से उन दोनों का एक रंग स्वरूप परिणाम होता है वैसे] रागादि अज्ञान परिणाम का प्रसंग आ जायगा [किन्तु ऐसा इष्ट नहीं है]। यदि यही माना जाय कि रागादि अज्ञान परिणाम की प्राप्ति एक जीव के ही होती है तो इस हेतु से ऐसा आया कि पुद्गल कर्म का उदय जीव के रागादि अज्ञान परिणामों का कारण है, अतः उससे पृथग्भूत ही जीव का परिणाम है।

भावार्थ—पुद्गलकर्म के उदय के साथ ही जीव का परिणाम माना जाय तो जीव और कर्म इन दोनों के रागादिक की प्राप्ति आ जाय। किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये पुद्गलकर्म का उदय जीव के अज्ञानरूप रागादिपरिणामों को निमित्त है। उस निमित्त से भिन्न ही जीव का परिणाम है ॥१३७।१३८॥

जीवात्पृथग्भूत एव पुद्गलद्रव्यस्य परिणामः

जइ जीवेण सहच्चिय पुग्गलदव्वस्स कम्मपरिणामो ।
एवं पुग्गलजीवा हु दोवि कम्मत्तमावण्णा ॥१३९॥
एकस्स दु परिणामो पुग्गलदव्वस्स कम्मभावेण ।
ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो ॥१४०॥
(युग्मम्)

यदि जीवेन सह चैव पुद्गलद्रव्यस्य कर्मपरिणामः ।
एवं पुद्गलजीवौ खलु द्वावपि कर्मत्वमापन्नौ ॥१३९॥
एकस्य तु परिणामः पुद्गलद्रव्यस्य कर्मभावेन ।
तज्जीवभावहेतुभिर्विना कर्मणः परिणामः ॥१४०॥

यदि पुद्गलद्रव्यस्य तन्निमित्तभूतरागाद्यज्ञानपरिणामपरिणतजीवेन सहैव कर्मपरिणामो भवतीति वितर्कः तदा पुद्गलद्रव्यजीवयोः सहभूतहरिद्रासुधयोरिव द्वयोरपि

कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यकर्मरूपेण परिणामः यत एवं ता जीवभावहेदूहिं विणा कम्मस्स परिणामो तस्मात्कारणाज्जीवगतमिथ्यात्वरागादिपरिणामोपादानहेतुभिर्विनापि द्रव्यकर्मणः परिणामः स्यात् ॥१३९॥

आगे कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य का परिणाम जीव से पृथक् ही है :—[यदि] यदि [जीवेन सह चैव] जीव के साथ ही [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्य का [कर्मपरिणामः] कर्मरूप परिणाम होता है, ऐसा माना जाय तो [एवम्] इस प्रकार [पुद्गलजीवौ द्वौ अपि] पुद्गल और जीव दोनों ही [खलु] निश्चय से [कर्मत्वम् आपन्नौ] कर्मत्व को प्राप्त हो जायें [तु] तथा [एकस्य] एक [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्य का [कर्मभावेन] कर्मरूप से [परिणामः] परिणाम होता है [तत्] इस लिये [जीवभावहेतुभिः विना] जीवभाव निमित्तकारण से पृथक् [कर्मणः] कर्म का [परिणामः] परिणाम है।

टीका—पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम उसके निमित्तभूत रागादि अज्ञानपरिणामरूप परिणत जीव के साथ ही होता है, यदि यह तर्क किया जाय तो जैसे हल्दी और फिटकरी दोनों का साथ ही रंग का परिणाम होता है, उसीप्रकार पुद्गलद्रव्य और जीव दोनों के ही कर्म परिणाम की प्राप्ति का प्रसङ्ग आ जाय। किन्तु यह बात नहीं है। अतः यह सिद्ध होता है कि कर्मपरिणाम पुद्गलद्रव्य का ही है। इस कारण जीव से रागादिस्वरूप अज्ञान परिणाम कर्म के निमित्त कारण हैं। उनसे पृथक् ही पुद्गलकर्म का परिणाम है।

भावार्थ—यदि पुद्गलद्रव्य का कर्मपरिणाम होना जीव के साथ ही माना जाय तो दोनों के ही कर्मपरिणाम का प्रसङ्ग आ जाय। अतः जीवका अज्ञानरूप रागादिपरिणाम कर्म का निमित्त है। इसकारण पुद्गलकर्म परिणाम जीव से पृथक् ही है ॥१३९।१४०॥

कर्मपरिणामापत्तिः। अथ चैकस्यैव पुद्गलद्रव्यस्य भवति कर्मत्वपरिणामः ततो रागादिजीवाज्ञानपरिणामाद्धेतोः पृथग्भूत एव पुद्गलकर्मणः परिणामः ॥१३९॥१४०॥

ततः किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति नयविभागेनाह—

जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं।
सुद्धणयस्य दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं ॥१४१॥

जीवे कर्म बद्धं स्पृष्टं चेति व्यवहारनयभणितम्।
शुद्धनयस्य तु जीवे अबद्धस्पृष्टं भवति कर्म ॥१४१॥

जीवपुद्गलकर्मणोरेकबन्धपर्यायत्वेन तदात्वे व्यतिरेकाभावाज्जीवे बद्धस्पृष्टं कर्मेति व्यवहारनयपक्षः। जीवपुद्गलकर्मणोरनेकद्रव्यत्वेनात्यन्तव्यतिरेकाज्जीवेऽबद्धस्पृष्टं कर्मेति निश्चयनयपक्षः ॥१४१॥

१४०॥ इति पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां पीठिकारूपे महाधिकारे जीवकर्मपुद्गलपरस्परोपादानकारणनिषेधमुख्यतया गाथात्रयेणाष्टमाऽन्तराधिकारः समाप्तः। अथानन्तरं व्यवहारेण बद्धो निश्चयेनाबद्धो जीव इत्यादिविकल्परूपेण नयपक्षपातेन स्वीकारेण रहितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन पुण्यपापादिपदार्थेभ्यो भिन्नं शुद्धसमयसारं गाथाचतुष्टयेन कथयतीति नवमाऽन्तराधिकारे समुदायपातनिका। तद्यथा। अथ किमात्मनि बद्धस्पृष्टं किमबद्धस्पृष्टं कर्मेति प्रश्ने सति नयविभागेन परिहारमाह;—जीवे कम्मं बद्धं पुट्ठं चेदि ववहारणयभणिदं जीवेऽधिकरणभूते बद्धसंश्लेषरूपेण क्षीरनीरवत्सम्बद्धं स्पृष्टं योगमात्रेण लग्नं च कर्मेति व्यवहारनयपक्षो व्यवहारनयाभिप्रायः—सुद्धणयस्स दु जीवे अबद्धपुट्ठं हवइ कम्मं शुद्धनयस्याभिप्रायेण पुनर्जीवेऽधिकरणभूते अबद्धं स्पृष्टं कर्म इति निश्चयव्यवहारनयद्वयविकल्परूपं शुद्धात्मस्वरूपं न भवतीति भावार्थः ॥१४१॥ अथ यस्माद् बद्धाबद्धादिविकल्परूपं नयस्वरूपमुक्तं तस्माच्छुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन बद्धाबद्धादिनयविकल्परूपो जीवो न भवतीति प्रतिपादयति—कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं

आगे पूछते हैं कि आत्मा में कर्म बद्धस्पृष्ट है कि अबद्धस्पृष्ट? उसका उत्तर नयविभाग से कहते हैं;—[जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [बद्धं] बद्ध है अर्थात् जीव के प्रदेशों से बँधा हुआ है [च] तथा [स्पृष्टः] स्पर्शता है [इति] ऐसा [व्यवहारनयभणितं] व्यवहारनय का वचन है [तु] और [जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [अबद्धस्पृष्टं] अबद्धस्पृष्ट [भवति] है अर्थात् न बँधता है न स्पर्शता है ऐसा [शुद्धनयस्य] शुद्धनयका वचन है।

टीका—जीव और पुद्गल कर्म को एक बन्धपर्यायरूप से देखा जाय तो उस समय भिन्नता का अभाव है, वहाँ जीव में कर्म बँधते भी हैं, स्पर्शते भी हैं ऐसा कहना तो व्यवहारनय का पक्ष है और जीव तथा पुद्गल कर्म के अनेक द्रव्यत्वरूप से देखा जाय तो अत्यन्त भिन्नता है, इसलिये जीव में कर्म बद्धस्पृष्ट नहीं है ऐसा कहना निश्चयनय का पक्ष है ॥१४१॥

ततः किं—

कम्मं बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जाण णयपक्खं।
पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो ॥१४२॥

कर्म बद्धमबद्धं जीवे एवं तु जानीहि नयपक्षम्।
पक्षातिक्रान्तः पुनर्भण्यते यः स समयसारः ॥१४२॥

यः किल जीवे बद्धं कर्मेति यश्च जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पः स द्वितयोऽपि हि नयपक्षः। य एवैनमतिक्रामति स एव सकलविकल्पातिक्रान्तः स्वयं निर्विकल्पैकविज्ञानघनस्वभावो भूत्वा साक्षात्समयसारः सम्भवति। तत्र यस्तावज्जीवे बद्धं कर्मेति विकल्पयति स जीवेऽबद्धं कर्मेति एकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यस्तु जीवेऽबद्धं कर्मेति विकल्पयति सोऽपि जीवे बद्धं कर्मेत्येकं पक्षमतिक्रामन्नपि न विकल्पमतिक्रामति। यः पुनर्जीवे बद्धमबद्धं च कर्मेति विकल्पयति स तु तं द्वितयमपि पक्षमनतिक्रामन्न विकल्पमतिक्रामति। ततो य एव समस्तनयपक्षमति-

---

तु जाण णयपक्खं जीवेऽधिकरणभूते कर्म बद्धमबद्धं चेति योऽसौ विकल्पः स उभयोऽपि नयपक्षपातः स्वीकार इत्यर्थः पक्खातिक्कंतो पुण भण्णदि जो सो समयसारो नयपक्षातिक्रान्तो भण्यते यः स समयसारः शुद्धात्मा। तद्यथा—व्यवहारेण बद्धो जीव इति नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयेनाबद्धो जीव इति च

आगे कहते हैं कि ये दोनों नयपक्ष हैं उनसे क्या होता है?—[जीवे] जीव में [कर्म] कर्म [बद्धम्] बँधे हुए हैं अथवा [अबद्धम्] नहीं बँधे हुए हैं [एवं तु] इस प्रकार तो [नयपक्षम्] नयपक्ष [जानीहि] जानो [पुनः यः] और जो [पक्षातिक्रान्तः] पक्ष से दूरवर्ती [भण्यते] कहा जाता है [सः समयसारः] वह समयसार है, निर्विकल्प शुद्ध आत्मतत्त्व है।

टीका—जो निश्चयकर जीव में कर्म बँधे हुए हैं ऐसा कहना तथा जीव में कर्म नहीं बँधे हुए हैं ऐसा कहना ये दोनों ही विकल्प नयपक्ष हैं। जो इस नयपक्ष के विकल्प को लांघ कर वर्तता है अर्थात् छोड़ता है, वही समस्त विकल्पों से दूर रहता है। वही आप निर्विकल्प एक विज्ञानघनस्वभावरूप होकर साक्षात् समयसार हो जाता है। प्रथम तो जो जीव में कर्म बँधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म नहीं बँधा है' ऐसा एक पक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता। और जो जीव में कर्म नहीं बँधा है ऐसा विकल्प करता है वह 'जीव में कर्म बँधा है' ऐसे विकल्परूप एकपक्ष को छोड़ता हुआ भी विकल्प को नहीं छोड़ता, और जो जीव में कर्म बँधा भी है तथा नहीं भी बँधा है ऐसा विकल्प करता है वह उन दोनों ही नयपक्षों को नहीं छोड़ता हुआ विकल्प को नहीं छोड़ता। इसलिये जो सभी नयपक्षों को छोड़ता है, वही समस्त विकल्पों को छोड़ता है तथा वही समयसार का अनुभव करता है।

भावार्थ—जीव कर्मों से बँधा हुआ भी है तथा नहीं बँधा भी है, ये दोनों नयपक्ष हैं। उनमें से किसी ने तो बंध पक्ष को पकड़ा, उसने भी विकल्प ही ग्रहण किया; किसी ने अबंधपक्ष स्वीकार

क्रामति स एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति। य एव समस्तं विकल्पमतिक्रामति स एव समयसारं विन्दति। यद्येवं तर्हि को हि नाम नयपक्षसंन्यासभावनां न नाटयति ॥१४२॥

य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं।
विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षादमृतं पिबन्ति ॥६९॥
एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

नयविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति निश्चयव्यवहाराभ्यां बद्धाबद्धजीव इति वचनविकल्पः शुद्धजीवस्वरूपं न भवति। कस्मादिति चेत्? श्रुतविकल्पा नया इति वचनात्। श्रुतज्ञानं च क्षायोपशमिकं क्षायोपशमस्तु ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितत्वात्। यद्यपि व्यवहारनयेन छद्मस्थापेक्षया जीवस्वरूपं भण्यते तथापि केवलज्ञाना-

---

किया, उसने भी विकल्प ही लिया और किसी ने दोनों पक्ष लिए, उसने भी पक्ष का ही विकल्प ग्रहण किया। परन्तु ऐसे विकल्पों को छोड़ जो किसी भी पक्ष को नहीं पकड़ता, वही शुद्ध पदार्थ का स्वरूप जान, उस रूप समयसार शुद्ध आत्मा को पाता है। नयों का पक्ष पकड़ना राग है, सो सब नय पक्षों को छोड़ वीतराग समयसार हो जाता है ॥१४२॥

प्रश्न—यदि ऐसा है तो नयपक्ष के त्याग की भावना को कौन नृत्य कराता है? उसका उत्तररूप काव्य कहते हैं— य एव इत्यादि। अर्थ—जो पुरुष नय के पक्षपात को छोड़कर अपने स्वरूप में गुप्त होकर निरन्तर स्थिर होते हैं, वे ही पुरुष विकल्प के जाल से रहित शान्तचित्त हुए साक्षात् अमृत को पीते हैं।

भावार्थ—जबतक कुछ पक्षपात रहता है, तब तक चित्त का क्षोभ नहीं मिटता। जब सब नयों का पक्षपात मिट जाय, तब वीतराग दशा होकर स्वरूप की श्रद्धा निर्विकल्प होती है और स्वरूप में प्रवृत्ति होती है ॥६९॥

अब नयपक्ष को प्रकट कर कहते हैं कि जो उसको छोड़ता है, वह तत्वज्ञानी होकर स्वरूप को पाता है, ऐसे अर्थ के कलशरूप बीस काव्य कहते हैं—एकस्य इत्यादि। अर्थ—एक नय का तो ऐसा पक्ष है कि यह चिन्मात्र जीव कर्म से बँधा हुआ है और दूसरे नयका पक्ष ऐसा है कि कर्म से नहीं बँधा। इस तरह दो नयों के दो पक्ष हैं। इस तरह दोनों नयों का जिसके पक्षपात है, वह तत्त्ववेदी नहीं है, और जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपात से रहित है, उस पुरुष का चिन्मात्र आत्मा चिन्मात्र ही है, उसमें पक्षपात से कल्पना नहीं करता है।

भावार्थ—यहां शुद्धनय को प्रधान कर कथन है। वहां जीवनाम पदार्थ को शुद्ध, नित्य, अभेद, चैतन्यमात्र स्थापना कर कहते हैं कि जो इस शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा, वह भी उस स्वरूप के स्वाद को नहीं पायेगा। अशुद्धपक्ष की तो क्या बात है, शुद्धनयका भी पक्षपात करेगा

एकस्य मूढो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७१॥
एकस्य रक्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७२॥
एकस्य दुष्टो (द्विष्टो) न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७३॥
एकस्य कर्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७४॥
एकस्य भोक्ता न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७५॥
एकस्य जीवो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७६॥

पेक्षयाशुद्धजीवस्वरूपं न भवति । तर्हि कथम्भूतं जीवस्वरूपमिति चेत् ? योऽसौ नयपक्षपातरहितस्वसम्वेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानन्दैकस्वभावं जीवस्वरूपं भवतीति । तथा चोक्तम्—

य एवमुक्त्वा नयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं । विकल्पजालच्युतशान्तचित्तास्त एव साक्षाद-

---

तो पक्ष का राग नहीं मिटेगा, तब वीतरागता नहीं होगी। इसलिये पक्षपात को छोड़ चिन्मात्रस्वरूप में लीन होने पर ही समयसार को पा सकता है। चैतन्य के परिणाम परनिमित्त से अनेक होते हैं, उन सबको गौण कर कहा गया है। इसलिये सब पक्षको छोड़ शुद्धस्वरूप का श्रद्धान कर स्वरूप में प्रवृत्तिरूप चरित्र होने से वीतरागदशा करनी योग्य है ॥७०॥

जैसे बद्ध अबद्ध पक्ष छुड़ाई थी उसी तरह अन्यपक्ष को प्रकट कहकर छुड़ाते हैं। एकस्य इत्यादि अर्थ—एक नयका यह पक्ष है कि जीव मोही है और दूसरे नयका यह पक्ष है कि मोही नहीं है। इस तरह ये दोनों ही चैतन्य में पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपात रहित है, उसके चित् चित् ही है, मोही अमोही नहीं है ॥७१॥

एकस्य—इत्यादि। अर्थ—एक नयका तो ऐसा पक्ष है कि यह जीव रागी है और दूसरे नयका ऐसा पक्षपात है कि रागी नहीं है। ये दोनों ही चैतन्य में नय के पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी है, वह पक्षपातरहित है, जो चित् है, वह चित् ही है ॥७२॥

एकस्य दुष्टो—इत्यादि १७ काव्यों का अर्थ—एक नय के तो 'द्वेषी है' ऐसा पक्ष है और दूसरे नय के 'द्वेषी नहीं है'। ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके कर्ता है, दूसरे नय के कर्ता नहीं है, ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके भोक्ता है, दूसरे नय के भोक्ता नहीं है। ये चैतन्य में दो नयों के दो पक्षपात हैं। एक नय के जीव है, दूसरे नय के जीव नहीं है। ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके 'सूक्ष्म है'

एकस्य सूक्ष्मो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७७॥
एकस्य हेतुर्न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७८॥
एकस्य कार्यं न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७९॥
एकस्य भावो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८०॥
एकस्य चैको न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८१॥
एकस्य[1] सान्तो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८२॥
एकस्य नित्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८३॥
एकस्य वाच्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८४॥
एकस्य नाना न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८५॥
एकस्य चेत्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८६॥

मृतं पिबन्ति ॥६९॥ एकस्य बद्धो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ । यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥७०॥

दूसरे नयके 'सूक्ष्म नहीं है,' ऐसे ये चैतन्य में दोनों नयों के दो पक्षपात हैं। एक नयके 'हेतु है' दूसरे नयके 'हेतु नहीं है', ये चैतन्य में० ॥ एक नयके कार्य है, दूसरे नयके कार्य नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके भावरूप है दूसरे नयके अभाव रूप है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके एक है, दूसरे नयके अनेक है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके सान्त है, दूसरे नयके अन्त सहित नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके नित्य है दूसरे नयके अनित्य है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके वाच्य है, दूसरे नयके वचनगोचर नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके नानारूप है, दूसरे नयके नानारूप नहीं है ये चैतन्य में० ॥ एक नयके चेत्य अर्थात् जानने योग्य है, दूसरे नयके चेतने योग्य नहीं है ये

१. "शांतो" इत्यपि पाठः ।

एकस्य दृश्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८७॥
एकस्य वेद्यो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८८॥
एकस्य भातो न तथा परस्य चिति द्वयोर्द्वाविति पक्षपातौ ।
यस्तत्त्ववेदी च्युतपक्षपातस्तस्यास्ति नित्यं खलु चिच्चिदेव ॥८९॥
स्वेच्छासमुच्छलदनल्पविकल्पजालामेवं व्यतीत्य महतीं नयपक्षकक्षाम् ।
अन्तर्बहिः समरसैकरसस्वभावं स्वं भावमेकमुपयात्यनुभूतिमात्रम् ॥९०॥
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्पुष्कलोच्चलविकल्पवीचिभिः ।
यस्य विस्फुरणमेव तत्क्षणं कृत्स्नमस्यति तदस्मि चिन्महः ॥९१॥

समयाख्यानकाले या बुद्धिर्नयद्वयात्मिका वर्तते बुद्धतत्त्वस्य सा स्वस्थस्य निवर्तते । हेयोपादेयतत्त्वे तु विनिश्चित्य नयद्वयात् । त्यक्त्वा हेयमुपादेयेऽवस्थानं साधुसम्मतम् ॥१४२॥ अथ नयपक्षातिक्रान्तस्य शुद्धजीवस्य

चैतन्यमें० ॥ एकनयके दृश्य है दूसरे के देखने में नहीं आता ये चैतन्य में० ॥ एक नयके वेद्य (वेदने योग्य) हैं दूसरे के वेदने में नहीं आता, ये चैतन्य में० ॥ एक नयके वर्तमान प्रत्यक्ष है, दूसरे के नहीं, ये दोनों नयों के चैतन्य में दो पक्षपात हैं। इस प्रकार चैतन्य सामान्य में ये सब पक्षपात हैं। जो तत्त्ववेदी है, वह स्वरूप को यथार्थ अनुभव करने वाला है, उसका चिन्मात्रभाव है, वह चिन्मात्र ही है, पक्षपात से रहित है।

भावार्थ—जीव के परनिमित्त से अनेक परिणाम होते हैं और इसमें साधारण अनेक धर्म हैं तो भी असाधारण धर्म चित्स्वभाव है। वही सामान्यभावसे शुद्धनयका विषय है, उसी को प्रधान कर कथन है। सो इसके साक्षात् अनुभव के लिये ऐसा कहा है कि इसमें नयों के अनेक पक्षपात उत्पन्न होते हैं। बद्ध-अबद्ध, मूढ़-अमूढ़, रागी-विरागी, द्वेषी-अद्वेषी, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, जीव-अजीव, सूक्ष्म-स्थूल, कारण-अकारण, कार्य-अकार्य, भाव-अभाव, एक-अनेक, शांत-अशांत, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवाच्य, नाना-अनाना, चेत्य-अचेत्य, दृश्य-अदृश्य, वेद्य-अवेद्य, भात-अभात इत्यादि नयों के पक्षपात हैं। सो तत्त्व का अनुभव करने वाला पक्षपात नहीं करता, नयों को यथायोग्य विवक्षा से साधता है और चैतन्य को चेतनमात्र ही अनुभव करता है ॥७३ से ८९॥

इसी अर्थ को संक्षेप कर काव्य कहते हैं—स्वेच्छा इत्यादि। अर्थ—जो तत्त्व का जानने वाला पुरुष है, वह पूर्व कही हुई रीति से जिसमें बहुत विकल्पों के जाल अपने आप उठते हैं ऐसा जो बड़ा नयपक्षरूप वन, उसको लांघ कर जिसमें वीतरागभाव ही एक रस है, ऐसे स्वभाव वाले अनुभूतिमात्र आत्मा के भावरूप अपने स्वरूप को प्राप्त होता है ॥९०॥

फिर कहते हैं—इन्द्रजालम्। इत्यादि अर्थ—तत्त्ववेदी ऐसा अनुभव करता है कि मैं चिन्मात्र महातेज का पुञ्ज हूँ, जिसका स्फुरायमान होना ही, बहुत बड़ी पुष्ट उठती चंचल विकल्परूप

पक्षातिक्रान्तस्य किंस्वरूपमिति चेत्—

दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ णवरिं तु समयपडिबद्धो ।
ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि णयपक्खपरिहीणो ॥१४३॥

द्वयोरपि नययोर्भणितं जानाति केवलं तु समयप्रतिबद्धः ।
न तु नयपक्षं गृह्णाति किंचिदपि नयपक्षपरिहीनः ॥१४३॥

यथा खलु भगवान्केवली श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः विश्वसाक्षितया केवलं स्वरूपमेव जानाति न तु सततमुल्लसितसहजविमलसकलकेवलज्ञानतया नित्यं स्वमेव विज्ञानघनभूतत्वाच्छ्रुतज्ञानभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कञ्चनापि नयपक्षं परिगृह्णाति । तथा किल यः श्रुतज्ञानावयवभूतयोर्व्यवहारनिश्चयनयपक्षयोः क्षयोपशमविजृम्भितश्रुतज्ञानात्मकविकल्पप्रत्युद्गमनेऽपि[1] परपरिग्रहप्रतिनिवृत्तौत्सुक्यतया स्वरूपमेव केवलं जानाति न तु खरतरदृष्टिगृहीतसुनिस्तुषनित्योदितचिन्मयसमयप्रतिबद्धतया तदात्वे स्वयमेव विज्ञानघनभूतत्वात्

किंस्वरूपमिति पृष्टे सति पुनर्विशेषेण कथयति—योऽसौ नयपक्षपातरहितः स्वसंवेदनज्ञानी तस्याभिप्रायेण बद्धाबद्धमूढामूढादिनयविकल्परहितं चिदानंदैकस्वभावं दोण्हवि णयाण भणियं जाणइ यथा भगवान् केवली

जो लहरें उनसे उछलता हुआ इन नयों के प्रवर्तनरूप इन्द्रजाल, उस सब को तत्काल ही दूर करता है ।

भावार्थ—चैतन्य का अनुभव ऐसा है कि इसके होने से समस्त नयों का विकल्परूप इन्द्रजाल उसीसमय विलय हो जाता है ॥९१॥

आगे पूछते हैं कि जो पक्ष से दूरवर्ती है उसका क्या स्वरूप है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—जो पुरुष [समयप्रतिबद्धः] अपने शुद्धात्मा से प्रतिबद्ध है आत्मा को जानता है वह [द्वयोरपि] दोनों ही [नययोः] नयों के [भणितम्] कथन को [केवलम्] केवल [जानाति तु] जानता ही है [तु] परन्तु [नयपक्षम्] नयपक्ष को [किञ्चिदपि] कुछ भी [न गृह्णाति] नहीं ग्रहण करता, क्योंकि वह [नयपक्षपरिहीनः] नयके पक्ष से रहित है ।

टीका—जैसे केवली भगवान् सर्वज्ञ वीतराग समस्त वस्तुओं के साक्षीभूत हैं, ज्ञाता द्रष्टा हैं । सो श्रुतज्ञान के अवयवभूत जो व्यवहार निश्चय नयके पक्षरूप दो नय उनके केवल स्वरूप को जानते ही हैं परन्तु किसी भी नयके पक्ष को नहीं ग्रहण करते । क्योंकि केवली भगवान् निरन्तर उदयरूप स्वाभाविक निर्मल केवलज्ञानस्वभाव हैं इसलिये नित्य ही स्वयमेव विज्ञानघनस्वरूप हैं । इसीलिये श्रुतज्ञान की भूमिका से अतिक्रान्त होने के कारण समस्त नयपक्षों के परिग्रह से दूरवर्ती हैं । उसीप्रकार जो मति श्रुत ज्ञानी है, वह भी श्रुतज्ञान के अवयवभूत व्यवहारनिश्चयरूप दोनों नयों के पक्ष के स्वरूप को केवल जानता है क्योंकि इसके क्षायोपशमिक ज्ञान है, उससे

---

१. पर परिग्रहं प्रति, पर परिग्रह परि, इत्यपि पाठौ ।

श्रुतज्ञानात्मकसमस्तान्तर्बहिर्जल्परूपविकल्पभूमिकातिक्रान्ततया समस्तनयपक्षपरिग्रहदूरीभूतत्वात्कञ्चनापि नयपक्षं परिगृह्णाति स खलु निखिलविकल्पेभ्यः परतरः परमात्मा ज्ञानात्मा प्रत्यग्ज्योतिरात्मख्यातिरूपोऽनुभूतिमात्रः समयसारः ॥१४३॥

चित्स्वभावभर[1]भावितभावाऽभावभावपरमार्थतयैकम् ।
बन्धपद्धतिमपास्य समस्तां चेतये समयसारमपारम् ॥९२॥

निश्चयव्यवहाराभ्यां द्वाभ्यां भणितमर्थं द्रव्यपर्यायरूपं जानाति । णवरं तु समयपरिबद्धो तथापि नवरि केवलं सहजपरमानंदैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः सन् णयपक्खपरिहीणो सततसमुल्लसन् केवलज्ञानरूपतया श्रुताज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपाताद्दूरीभूतत्वात् ण दु णयपक्खं गिण्हदि किंचिवि न तु नयपक्षं विकल्पं किमप्यात्मरूपतया गृह्णाति तथापि गणधरदेवादिछद्मस्थजनोऽपि नयद्वयोक्तं

उत्पन्न श्रुतज्ञान स्वरूप विकल्पों की पुनः उत्पत्ति होने पर भी ज्ञेयों के ग्रहण करने में उत्सुकता की निवृत्ति है । इसकारण नयों के स्वरूप का ज्ञाता ही है, वह किसी भी नयपक्ष को नहीं ग्रहण करता क्योंकि तीक्ष्णज्ञानदृष्टि से ग्रहण किया जिसका निर्मल नित्य उदय ऐसा चैतन्यस्वरूप अपना शुद्धात्मा उससे इसके प्रतिबद्धता है, उससे उस स्वरूप का अनुभव करने के समय स्वयमेव केवली की तरह विज्ञानघनरूप हुआ है । इसी से श्रुतज्ञान स्वरूप जो समस्त अन्तरङ्ग और बाह्य अक्षर स्वरूप विकल्प, उसकी भूमिका से अतिक्रान्त होने से केवली की तरह समस्त नयपक्ष के ग्रहण से दूरीभूत है । ऐसा मतिश्रुतज्ञानी भी निश्चय से समस्त विकल्पों से दूरवर्ती, परमात्मा, ज्ञानात्मा, प्रत्यग्ज्योति, आत्मख्यातिरूप, अनुभूतिमात्र समयसार है ।

भावार्थ—जैसे केवली भगवान् सदा नयपक्षों के ज्ञाता और द्रष्टा हैं, वैसे श्रुतज्ञानी भी जिस समय समस्त नयपक्षों से रहित होकर शुद्ध चैतन्यमात्रभाव का अनुभव करता है, तब नयपक्ष का ज्ञाता ही है । एक नय का सर्वथा पक्षग्रहण करे तो मिथ्यात्व से मिला हुआ पक्ष का राग हो । तथा प्रयोजन के वश से एकनय को प्रधान कर ग्रहण करे तो मिथ्यात्व के विना चारित्रमोह के पक्ष से राग रहे और जब नयपक्ष को छोड़ वस्तुस्वरूप को केवल जानता ही हो, तब उस काल श्रुतज्ञानी भी केवली की तरह वीतराग के समान ही होता है ॥१४३॥

इस अर्थ को मन में धारण कर तत्त्ववेदी ऐसा अनुभव करता है, ऐसे अर्थरूप कहते हैं—**चित्स्वभाव इत्यादि** । **अर्थ**—मैं तत्त्व का जानने वाला परमात्मा का अनुभव करता हूँ । जो समयसाररूप परमात्मा, चैतन्यस्वभाव के पुञ्ज से भावितभाव अभावस्वरूप एकभावरूप परमार्थरूप से एक है, परमार्थ से विधिप्रतिषेध का विलल्प जिसमें नहीं है । पहले क्या करके अनुभव करता हूँ ? समस्त बन्ध की परिपाटी को दूर करके ।

भावार्थ—परद्रव्य के कर्तृकर्मभाव से बन्ध की परिपाटी चल रही थी, उसको पहले दूर कर समयसार का अनुभव करता हूँ, जो कि अपार है अर्थात् जिसके केवलज्ञानादि गुण का पार नहीं है ॥९२॥

---

१. "भर" स्थाने "पर" इत्यपि पाठः ।

पक्षातिक्रान्त एव समयसार इत्यवतिष्ठते—

सम्मद्दंसणणाणं एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं।
सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो ॥१४४॥
सम्यग्दर्शनज्ञानमेतल्लभत इति केवलं व्यपदेशम्।
सर्वनयपक्षरहितो भणितो यः स समयसारः ॥१४४॥

अयमेक एव केवलं सम्यग्दर्शनज्ञानव्यपदेशं किल लभते[1]। यः खल्वखिलनयपक्षाक्षुण्णतया विश्रान्तसमस्तविकल्पव्यापारः स समयसारः। यतः प्रथमतः श्रुतज्ञानावष्टम्भेन ज्ञानस्वभावमात्मानं निश्चित्य ततः खल्वात्मख्यातये परख्यातिहेतूनखिलाएवेन्द्रियानिन्द्रियबुद्धीरवधीर्य आत्माभिमुखीकृतमतिज्ञानतत्त्वः; तथा नानाविध-

---

वस्तुस्वरूपं जानाति तथापि नवरि केवलं चिदानन्दैकस्वभावस्य समयस्य प्रतिबद्ध आधीनः सन् श्रुतज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितविकल्पजालरूपान्नयद्वयपक्षपातात् शुद्धनिश्चयेन दूरीभूतत्वान्नयपक्षपातरूपं स्वीकारं विकल्पं निर्विकल्पसमाधिकाले शुद्धात्मस्वरूपतया न गृह्णाति ॥ १४३ ॥ अथ शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नयविकल्पस्वरूपसमस्तपक्षपातेनातिक्रान्त एव समयसार इत्येव तिष्ठति सव्वणयपक्खरहिदो भणिदो जो सो समयसारो इन्द्रियानिन्द्रियजनितवहिर्विषयसमस्तमतिज्ञानविकल्परहितः सन् वद्धावद्धादिविकल्परूपनयपक्षपातरहितः[2] समयसारमनुभवन्नेव निर्विकल्पसमाधिस्थैः पुरुषैर्दृश्यते ज्ञायते च यत आत्मा ततः कारणात् सम्मद्दंसणणाण एदं लहदित्ति णवरि ववदेसं नवरि केवलं सकलविमलकेवलदर्शनज्ञानरूपव्यपदेशं संज्ञां लभते। न च वद्धावद्धादिव्यपदेशाविति। एवं निश्चयव्यवहारनयद्वयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन नवमोऽन्तराधिकारः समाप्तः। इत्यनेन प्रकारेण जाव ण वेदि विसेसं इत्यादि-

---

यहाँ अब ऐसा नियम से सिद्ध करते हैं कि पक्ष से दूरवर्ती ही समयसार है,—[यः] जो [सर्वनयपक्षरहितः] सब नयपक्षों से रहित है [सः] वही [समयसारः] समयसार ऐसा [भणितः] कहा है। [एषः] यह समयसार ही [केवलं] केवल [सम्यग्दर्शनज्ञानम्] सम्यग्दर्शन ज्ञान [इति] ऐसे [व्यपदेशम्] नाम को [लभते] पाता है। (उसी के नाम हैं, वस्तु दो नहीं हैं)।

टीका—जो निश्चय से समस्त नयपक्ष से भेदरूप न किया जाय, ऐसे चिन्मात्रभाव से जिसमें समस्त विकल्पों के व्यापार विलय हो गए हैं ऐसा समयसार शुद्धस्वरूप है सो यही एक केवल सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ऐसे नाम को पाता है। ये परमार्थ से एक ही हैं, क्योंकि आत्मा, प्रथम तो श्रुतज्ञान के अवलम्बन से ज्ञानस्वभाव आत्मा का निश्चय कर, पीछे निश्चय से आत्मा की प्रकट प्रसिद्धि होने के लिए आत्मा से परपदार्थ के प्रकट होने का कारण जो इन्द्रिय और मन के द्वारा प्रवृत्तिरूप बुद्धि उसको गौण कर जिसने मतिज्ञान का स्वरूप आत्मा के सन्मुख किया है ऐसा होता है। और उसी प्रकार नाना प्रकार के नयों के पक्षों को अवलम्बन कर अनेक विकल्पों से आकुलता उत्पन्न कराने वाली श्रुतज्ञान की बुद्धि को भी गौण कर तथा श्रुतज्ञान को भी

---

१. लभेत—इत्यपि पाठः। २. रहितम्—इत्यपि पाठः।

नयपक्षालम्बनेनानेकविकल्पैरोकुलयन्तीः श्रुतज्ञानबुद्धीरप्यवधीर्य श्रुतज्ञानतत्त्व-मप्यात्माभिमुखीकुर्वन्नत्यन्तमविकल्पो भूत्वा झगित्येव स्वरसत एव व्यक्तीभवन्तमादि-मध्यान्तविमुक्तमनाकुलमेकं केवलमखिलस्यापि विश्वस्योपरि तरन्तमिवाखण्ड-प्रतिभासमयमनन्तं विज्ञानघनं परमात्मानं समयसारं विदन्नेवात्मा सम्यग्दृश्यते ज्ञायते च ततः सम्यग्दर्शनं ज्ञानं च समयसार एव ॥१४४॥

आक्रामन्नविकल्पभावमचलं पक्षैर्नयानां विना,
सारो यः समयस्य भाति निभृतैरास्वाद्यमानः स्वयम्।
विज्ञानैकरसः स एष भगवान्पुण्यः पुराणः पुमान्,
ज्ञानं दर्शनमप्ययं किमथवा यत्किञ्चनैकोऽप्ययम् ॥ ९३ ॥
दूरं भूरिविकल्पजालगहने भ्राम्यन्निजौघाच्च्युतो,
दूरादेव विवेकनिम्नगमनान्नीतो निजौघं बलात्।

गाथामादि कृत्वा पाठक्रमेणाज्ञानसज्ञानजीवयोः संक्षेपसूचनार्थं गाथाषट्कम् तदनन्तरमज्ञानिसज्ञानजीवयोर्विशेष-व्याख्यानरूपेणैकादश गाथाः। ततश्चेतनाचेतनकार्ययोरेकोपादानकर्तृत्वलक्षणद्विक्रियावादिनिराकरणमुख्यत्वेन

आत्मतत्त्व के स्वरूप में सन्मुख करता हुआ अत्यन्त निर्विकल्परूप होकर तत्काल अपने निजरस से ही प्रकट हुआ आदि, मध्य और अन्त के भेद से रहित अनाकुल एक [केवल] समस्त पदार्थ समूहरूप लोक के ऊपर तैरता जैसा हो, उस तरह अखण्ड प्रतिभासमय, अविनाशी, अनन्तविज्ञान घनस्वरूप, परमात्मारूप समयसार का ही अनुभव करता सम्यक् प्रकार देखा जाता है, श्रद्धान किया जाता है, सम्यक् प्रकार जाना जाता है। इसलिये यही सम्यग्दर्शन है, यही सम्यग्ज्ञान है, ऐसा यही समयसार है।

भावार्थ—आत्मा को पहले आगमज्ञान से ज्ञानस्वरूप निश्चय कर पीछे इन्द्रियबुद्धिरूप मतिज्ञान को भी ज्ञानमात्र में ही मिलाके श्रुतज्ञानरूप नयों के विकल्प मेंट श्रुतज्ञान को भी निर्वि-कल्प कर एक ज्ञानमात्र अखण्ड प्रतिभास का अनुभव करना यही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान नाम पाता है, कुछ पृथक् नहीं है ॥१४४॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**आक्रामन्** इत्यादि। **अर्थ**—जो नयों के पक्ष विना निर्विकल्पभाव को प्राप्त हुआ निश्चय जैसा हो उस प्रकार समय (आगम, आत्मा) का सार सुशोभित होता है, जो निश्चिन्त पुरुषों द्वारा स्वयं आस्वाद्यमान है अर्थात् उन्होंने अनुभव से जान लिया है वही यह भगवान्, जिसका विज्ञान ही एक रस है ऐसा पवित्र पुराणपुरुष है। इसको ज्ञान कहो अथवा दर्शन कहो अथवा कुछ अन्य नाम से कहो, जो कुछ है सो यह एक ही है, अनेक नामों से कहा जाता है ॥९३॥

अब कहते हैं कि यह आत्मा ज्ञान से च्युत हुआ था सो ज्ञान से ही आ मिलता है-**दूरम्** इत्यादि। **अर्थ**—यह आत्मा अपने विज्ञानघन स्वभाव से च्युत हुआ बहुत विकल्पों के जाल के गहन

विज्ञानैकरसस्तदेकरसिनामात्मानमात्मा हरन्,
आत्मन्येव सदा गतानुगततामायात्ययं तोयवत् ॥९४॥

विकल्पकः परं कर्ता विकल्पः कर्म केवलम् ।
न जातु कर्तृकर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति ॥९५॥

यः करोति सः करोति केवलं यस्तु वेत्ति स तु वेत्ति केवलम् ।
यः करोति न हि वेत्ति स क्वचित् यस्तु वेत्ति न करोति स क्वचित् ॥९६॥

ज्ञप्तिः करोतौ न हि भासतेऽन्तः ज्ञप्तौ करोतिश्च न भासतेऽन्तः ।
ज्ञप्तिः करोतिश्च ततो विभिन्ने ज्ञाता न कर्तेति ततः स्थितं च ॥९७॥

गाथापञ्चविंशतिः । तदनन्तरं प्रत्यया एव कर्म कुर्वन्तीति समर्थनद्वारेण सूत्रसप्तकम् । ततश्च जीवपुद्गलकथञ्चित्परिणामित्वस्थापनमुख्यत्वेन सूत्राष्टकम् । ततः परं ज्ञानमयाज्ञानमयपरिणामकथनमुख्यतया गाथानवकम् ।

वन में अत्यन्त भ्रमण करता था, उस भ्रमते हुए को विवेक रूप नीचे मार्ग में गमनकर जल की भाँति अपने आप अपने विज्ञानघन स्वभाव में दूर से आ मिला। कैसा है वह ? जो विज्ञान के रस के ही रसीले हैं उनको एक विज्ञान रसस्वरूप ही है। ऐसा आत्मा अपने आत्मस्वभाव को अपने में ही समेटता जैसे वाह्य गया था उसी तरह अपने स्वभाव में आकर प्राप्त होता है।

भावार्थ—जैसे जल, जल के निवास में से किसी मार्ग से बाहर निकले तो वह वन में अनेक जगह भ्रमता है, फिर कोई नीचे मार्ग से जैसा का तैसा अपने जल के निवास में आ मिलता है। उसी प्रकार आत्मा भी अनेक विकल्पों के मार्ग द्वारा स्वभाव से च्युत हुआ भ्रमण करता कोई भेदज्ञानरूप (विवेक) नीचे मार्ग से अपने आप अपने को खींचता हुआ अपने स्वभावरूप विज्ञानघन में आ मिलता है ॥९४॥

अब कर्तृकर्म अधिकार को पूर्ण करते हैं सो कर्त्ता कर्म के संक्षेप अर्थ के कलशरूप श्लोक कहते हैं—**विकल्पकः** इत्यादि। **अर्थ**—विकल्प करने वाला ही केवल कर्ता है और विकल्प केवल कर्म है, अन्य कुछ कर्ता कर्म नहीं है। इस कारण जो विकल्पसहित है, उसका कर्तृकर्मत्व कभी नष्ट नहीं होता।

भावार्थ—जहाँ तक विकल्पभाव है, वहाँ तक कर्तृकर्मभाव है। जिस समय विकल्प का अभाव होता है उस समय कर्तृकर्मभाव का भी अभाव हो जाता है ॥ ९५ ॥

अब कहते हैं कि जो करता है वह करता ही है, जो जानता है वह जानता ही है-**यः करोति**—इत्यादि। **अर्थ**—जो करता है वह केवल करता ही है और जो जानता है वह केवल जानता ही है। जो करता है, वह कुछ जानता ही नहीं है और जो जानता है, वह कुछ भी नहीं करता है ॥९६॥

इसीप्रकार करने रूप क्रिया और जानने रूप क्रिया ये दोनों भिन्न हैं-**ज्ञप्तिः** इत्यादि। **अर्थ**—जानने रूप क्रिया करने रूप क्रिया के अन्दर नहीं प्रतिभासित होती और करने रूप क्रिया जानने रूप

कर्ता कर्मणि नास्ति नास्ति नियतं कर्मापि तत्कर्तरि,
द्वन्द्वं विप्रतिषिध्यते यदि तदा का कर्तृकर्मस्थितिः ।
ज्ञाता ज्ञातरि कर्म कर्मणि सदा व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्नेपथ्ये बत नानटीति रभसा मोहस्तथाऽप्येष किम् ॥९८॥

तदनन्तरमज्ञानमयभावस्य मिथ्यात्वादिपञ्चप्रत्ययभेदप्रतिपादनरूपेण गाथापञ्चकम् । ततश्च जीवपुद्गलयोः परस्परोपादानकर्तृत्वनिषेधमुख्यत्वेन गाथात्रयम् । ततः परं नयपक्षपातरहितशुद्धसमयसारकथनरूपेण गाथा-चतुष्टयं चेति समुदायेनाष्टाधिकसप्ततिगाथाभिर्नवभिरन्तराधिकारैः ॥ १४४ ॥

क्रिया के अन्तरङ्ग में नहीं प्रतिभासित होती इसलिये ज्ञप्ति क्रिया और करोति क्रिया दोनों भिन्न हैं । इस कारण यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञाता है, वह कर्ता नहीं है ।

भावार्थ—जिससमय ऐसा परिणमन करता है कि मैं परद्रव्य को करता हूँ, उससमय तो उस परिणमन क्रिया का कर्ता ही है तथा जिस समय ऐसा परिणमन करता है कि मैं परद्रव्य को जानता हूँ उससमय उस जानने क्रियारूप ज्ञाता ही है । यहां कोई पूछे कि अविरतसम्यग्दृष्टि आदि के जब तक चारित्रमोह का उदय है तब तक कषायरूप परिणमन होता है । वहां कर्ता कहें या नहीं ? उसका समाधान—जो अविरतसम्यग्दृष्टि आदि के श्रद्धान ज्ञानमय परद्रव्य के स्वामित्वरूप कर्तृत्वका अभिप्राय नहीं है परन्तु उदय की जबरदस्ती से कषायरूप परिणमन है, उसका यह ज्ञाता है इसलिये अज्ञान सम्बन्धी कर्तृत्व इसके नहीं हैं परन्तु निमित्त की जबरदस्ती के परिणमन का फल कुछ होता है वह संसार का कारण नहीं है । जैसे वृक्ष जड़ कटने के बाद किंचित् समय तक रहता है या नहीं भी रहता उसी प्रकार यहां भी जानना ।

अब इसी को पुष्ट करते हैं—**कर्ता** इत्यादि । **अर्थ**—कर्ता तो कर्म में निश्चय से नहीं है और कर्म भी कर्ता में निश्चय से नहीं है । इस प्रकार दोनों का ही परस्पर विशेष से निषेध किया जाय तब कर्ता कर्म की क्या स्थिति हो सकती है ? नहीं हो सकती । तब वस्तु की मर्यादा व्यक्त-रूप यह सिद्ध हुई कि ज्ञाता तो सदा ज्ञान में ही है और कर्म है वह सदा कर्म में ही है । तो भी यह मोह (अज्ञान) नेपथ्य में क्यों नाचता है ? यह बड़ा खेद है । नेपथ्य अर्थात् शान्त, ललित, उदात्त, धीर इन चार आचरणों सहित जो यह तत्त्वों का नृत्य उसमें यह मोह कैसे नाचता है । कर्ता कर्म भाव तो नेपथ्यस्वरूप नृत्य का आभूषण नहीं है इस प्रकार खेदसहित वचन आचार्य ने कहा है ।

भावार्थ—कर्म तो पुद्गल है उसका कर्ता जीव को कहा जाय तो उन दोनों में तो बड़ा भेद है जीव तो पुद्गल में नहीं है और पुद्गल जीव में नहीं है, तब इन दोनों के कर्ता-कर्म भाव कैसे बन सकता है ? इससे जीव तो ज्ञाता है, सो ज्ञाता ही है, पुद्गल का कर्ता नहीं है । और पुद्गल-कर्म है, वह कर्म ही है । वहाँ आचार्य ने खेद के साथ कहा है कि ऐसे प्रकट भिन्न द्रव्य हैं तो भी अज्ञानी का यह मोह कैसे नाचता है ? कि 'मैं तो कर्ता हूँ और यह पुद्गल मेरा कर्म है' यह बड़ा अज्ञान है ॥९८॥

अथवा नानट्यतां तथापि ।

कर्ता कर्ता भवति न यथा कर्म कर्मापि नैव
ज्ञानं ज्ञानं भवति च यथा पुद्गलः पुद्गलोऽपि ।
ज्ञानज्योतिर्ज्वलितमचलं व्यक्तमन्तस्तथोच्चै-
श्चिच्छक्तीनां निकरभरतोऽत्यन्तगम्भीरमेतत् ॥९९॥

इति जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्तौ ॥

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
कर्तृकर्मप्ररूपक द्वितीयोऽङ्कः ॥ २ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ
पुण्यपापादिसप्तपदार्थानां सम्बन्धी पीठिकारूपस्तृतीयो महाधिकारः समाप्तः ॥२॥

फिर भी कहते हैं कि इस तरह मोह नाचे तो नाचो परन्तु वस्तु का स्वरूप तो जैसा है वैसा ही रहता है—कर्ता कर्ता इत्यादि। अर्थ—यह ज्ञानज्योति अन्तरंग में अतिशय से अपनी चैतन्यशक्ति के समूह के भार से अत्यन्त गम्भीर, जिसका थाह नहीं, इसप्रकार निश्चल व्यक्तरूप [प्रकट] हुआ तब पहले जैसे अज्ञान में आत्मा कर्ता था उस प्रकार अब कर्ता नहीं होता और इसके अज्ञान से जो पुद्गल कर्मरूप होता था, वह भी अब कर्मरूप नहीं होता किन्तु ज्ञान तो ज्ञानरूप ही हुआ और पुद्गलरूप रहा, ऐसे प्रकट हुआ।

भावार्थ—जब आत्मा ज्ञानी होता है तब ज्ञान तो ज्ञानरूप ही परिणमन करता है, पुद्गल-कर्म का कर्ता नहीं बनता और पुद्गल पुद्गलरूप ही रहता है, कर्मरूप नहीं परिणमन करता। इस प्रकार आत्मा के यथार्थज्ञान होने से दोनों द्रव्यों के परिणामों में निमित्तनैमित्तक भाव नहीं होता, ऐसा सम्यग्दृष्टि के ज्ञान होता है ॥९९॥

इसप्रकार जीव और अजीव दोनों ने कर्ता कर्म के वेष में एक होकर नृत्य के अखाड़े में प्रवेश किया था सो यथार्थ देखने वाले सम्यग्दृष्टि के ज्ञान ने दोनों पृथक्-पृथक् लक्षण से दो जान लिये तब वे वेश दूरकर रंगभूमि से बाहर निकल गये। क्योंकि बहुरूपिया के वेश की यही प्रवृत्ति है कि देखने वाला जब तक नहीं पहचानता तब तक चेष्टा करता रहता है और जब यथार्थ पहचान ले तब वह निजरूप प्रकट कर चेष्टा नहीं करता, वैसा ही रहता है उसीभांति यहां भी जानना।

सवैया—जीव अनादि अज्ञान वसाय विकार उपाय वणै करता सो, ताकरि बंधन आन तणूं फल ले सुख दुःख भवाश्रमवासो। ज्ञान भये करता न बने तब बंधन होय खुलै पर पासो, आतममांहि सदा सुविलास करै सिव पाय रहे निति थासो ॥१॥" इस अधिकार को ७६ गाथा और कलसा ५५ तथा पहले अधिकार की गाथा ६८ और कलसा ४५ सब मिलकर गाथा १४४ और कलसा ९९ हुए।

इस प्रकार पं० जयचंद्रजीकृत इस समयसार ग्रंथ की आत्मख्याति नामा टीका की भाषा-टीका में कर्ता कर्म नामा दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ ॥२॥

अथ पुण्यपापाधिकार ॥ ३ ॥

अथैकमेव कर्म द्विपात्रीभूय पुण्यपापरूपेण प्रविशति—

तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो, द्वितयतां गतमैक्यमुपानयन् ।
ग्लपितनिर्भरमोहरजा अयं, स्वयमुदेत्यवबोधसुधाप्लवः ॥१००॥

एको दूरात्त्यजति मदिरां ब्राह्मणत्वाभिमाना-
दन्यः शूद्रः स्वयमहमिति स्नाति नित्यं तयैव ।
द्वावप्येतौ युगपदुदरान्निर्गतौ शूद्रिकायाः
शूद्रौ साक्षादथ[1] च चरतो जातिभेदभ्रमेण ॥१०१॥

तत्रैवं सति जीवाजीवाधिकाररङ्गभूमौ नृत्यान्तरं शृङ्गारपात्रयोः परस्परपृथग्भावव‍त् शुद्धनिश्चयेन

दोहा—पुण्यपाप दोऊ करम, बंधरूप दुर मानि ।
शुद्ध आत्मा जिन लह्यो, नमूं चरन हित जानि ॥

अब टीकाकार के वचन कहते हैं—कर्म एक प्रकार ही है वह पुण्य पाप दो रूपों से प्रवेश करता है। जैसे नृत्य के अखाड़े में एक ही पुरुष अपने दो रूप दिखला कर नाच करे, उसको यथार्थज्ञानी पहचाने तब एक ही जानता है उसीप्रकार सम्यग्दृष्टि का ज्ञान यथार्थ है। यद्यपि कर्म एक ही है वह पुण्यपाप भेद से दो भेदरूप नाचता है, उसको ज्ञान एकरूप पहचान लेता है उसी ज्ञान को महिमारूप इस अधिकार के आदि में काव्य कहते हैं—**तदथ** इत्यादि। **अर्थ**—कर्ता कर्म अधिकार के बाद यह प्रत्यक्ष अनुभव गोचर सम्यग्ज्ञानरूप चन्द्रमा स्वयं उदय को प्राप्त होता है। वह ज्ञान, शुभ अशुभ के भेद से द्विरूपता को प्राप्त हुए कर्म के एकत्व को प्राप्त हुआ करता उदय होता है।

भावार्थ—अज्ञान से कर्म एक भी दो प्रकार से दीखता था, उसे ज्ञान ने एक प्रकार दिखला दिया। जिस ज्ञान ने अतिशय मोहमयी रज दूर कर दी है अर्थात् ज्ञान में मोहरूपी रज लगी हुई थी, वह दूर कर दी तब यथार्थ ज्ञान हुआ। जैसे चन्द्रमा के सामने बादल अथवा पाले का समूह आ जाय तब यथार्थ प्रकाश नहीं होता, आवरण दूर होनेपर यथार्थ प्रकाश होता है, उसी भाँति यहाँ भी जानना ॥१००॥

आगे पुण्यपाप के रूप का दृष्टान्तरूप काव्य कहते हैं—**एको दूरात्** इत्यादि। **अर्थ**—किसी शूद्री स्त्री के उदर से एक ही समय दो पुत्र पैदा हुए। उनमे से एक तो ब्राह्मण के घर पला, उसके ब्राह्मणत्व का अभिमान हुआ कि मैं ब्राह्मण हूँ, उस अभिमान से मद्य को दूर से ही छोड़ देता है, छूता भी नहीं है। तथा दूसरा पुत्र उस शूद्र के घर ही रहा इसलिये 'मैं शूद्र हूँ' ऐसा मानकर उस मदिरा से नित्य स्नान करता है, उसे शुद्ध मानता है। जब इसका परमार्थ विचारा जाय तब दोनों ही शूद्री के पुत्र हैं क्योंकि दोनों ही शूद्री के उदर से जन्मे हैं, इस कारण साक्षात् शूद्र हैं। वे जातिभेद के भ्रम से आचरण करते हैं। इसी प्रकार पुण्य पाप कर्म जानना। विभाव परिणति से उत्पन्न हुए हैं इसलिए दोनों ही बन्धरूप हैं, प्रवृत्ति के भेद से दो दीखते हैं परमार्थदृष्टि कर्म को एक ही जानती है ॥१०१॥

---

१. 'साक्षादपि' इत्यपि पाठः।

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं ।
कह तं होदि सुशीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

कर्माशुभं कुशीलं शुभकर्म चापि जानीत सुशीलम् ।
कथं तद् भवति सुशीलं यत्संसारं प्रवेशयति ॥१४५॥

शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तत्वे सति कारणभेदात् शुभाशुभपुद्गलपरिणाममयत्वे सति स्वभावभेदात् शुभाशुभफलपाकत्वे सत्यनुभवभेदात् शुभाशुभमोक्षबन्धमार्गाश्रितत्वे सत्याश्रयभेदात् चैकमपि कर्म किञ्चिच्छुभं किञ्चिदशुभमिति केषाञ्चित्किल पक्षः, स तु सप्रतिपक्षः । तथाहि—

जीवाजीवौ कर्तृकर्मवेषविमुक्तौ निष्क्रान्ताविति । अथानन्तरं निश्चयेनैकमपि पुद्गलकर्म व्यवहारेण द्विपदीभूतपुण्यपापरूपेण प्रविशति । कम्मसुहं कुसीलं इत्यादि गाथामादिं कृत्वा क्रमेणैकोनविंशतिसूत्रपर्यन्तं पुण्यपापव्याख्यानं करोति । तत्र यद्यपि पुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेदोऽस्ति तथापि निश्चयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्कं तदनन्तरमध्यात्मभाषया शुद्धात्मभावनां विना आगमभाषया तु वीतरागसम्यक्त्वं विना व्रतदानादिकं पुण्यबन्धकारणमेव न च मुक्तिकारणम् सम्यक्त्वसहितं पुनः परम्परया मुक्तिकारणं च भवति इति मुख्यतया परमट्ठो खलु, इत्यादिसूत्रचतुष्टयम् । ततः परं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन जीवादीसद्दहणं, इत्यादिगाथानवकं कथयतीति पुण्यपापपदार्थाधिकारसमुदायपातनिका । तद्यथा—ब्राह्मण्याः पुत्रद्वयं जातम् । तत्रैक उपनयनवशाद् ब्राह्मणो जातः । द्वितीयः पुनरुपनयनाभावाच्छूद्र इति । तथैकमपि निश्चयनयेन पुद्गलकर्म शुभाशुभजीवपरिणामनिमित्तेन व्यवहारेण द्विधा भवतीति कथयति—कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं कर्माशुभं कुत्सितं कुशीलं हेयमिति । शुभकर्म सुशीलं शोभनमुपादेयमिति केषाञ्चिद् व्यवहारिणां पक्षः सन् निश्चयरूपेण पक्षान्तरेण बाध्यते । किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि निश्चयवादी ब्रूते कथं तत्पुण्यकर्म सुशीलं शोभनं भवति ? यज्जीवं संसारे प्रवेशयति । हेतुस्वभावानुभवबन्धरूपाश्रयाणां निश्चयेनाभेदात् कर्मभेदो नास्तीति । तथाहि हेतुस्तावत्कथ्यते, शुभाशुभपरिणामो हेतुः । स च शुद्धनिश्चयेनाशुभत्वं प्रति

आगे शुभाशुभ कर्म के स्वभाव का वर्णन करते हैं:—[अशुभं कर्म] अशुभ कर्म तो [कुशीलम्] पापस्वभाव है [अपि च] और [शुभकर्म] शुभकर्म [सुशीलम्] पुण्यस्वभाव है ऐसा जगत् [जानाति] जानता है । परन्तु परमार्थदृष्टि से कहते हैं कि [यत्] जो [संसारम्] प्राणी को संसार में ही [प्रवेशयति] प्रवेश कराता है [तत्] वह कर्म [सुशीलम्] शुभ अच्छा [कथम्] कैसे [भवति] हो सकता है ?

टीका—कितने एक लोगों का ऐसा पक्ष है कि कर्म एक तो है परन्तु शुभ-अशुभ के भेद से दो भेदरूप है क्योंकि शुभ और अशुभ जो जीव के परिणमन हैं, वे उसको निमित्त हैं, उस रूप से कारण के भेद से भेद है, शुभ और अशुभ पुद्गल परिणाममय होने से स्वभाव के भेद से भेद है, अथवा कर्म का जो शुभ-अशुभ फल, उसके रसास्वाद के भेद से भेद है, तथा शुभ-अशुभ मोक्ष तथा बन्ध के मार्ग की आश्रितता होने पर आश्रय के भेद से भेद है । इसप्रकार इन चारों हेतुओं से कोई शुभ है, कोई कर्म अशुभ है, ऐसा किसी का पक्ष है । उसका निषेध करने वाला दूसरा

शुभोऽशुभो वा जीवपरिणामः केवलाज्ञानमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति कारणाभेदात् एकं कर्म । शुभोऽशुभो वा पुद्गलपरिणामः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सति स्वभावाभेदादेकं कर्म शुभोऽशुभो वा फलपाकः केवलपुद्गलमयत्वादेकस्तदेकत्वे सत्यनुभवाभेदादेकं कर्म । शुभाशुभौ मोक्षबन्धमार्गौ तु प्रत्येकं केवलजीवपुद्गलमयत्वादनेकौ तदनेकत्वे सत्यपि केवलपुद्गलमयबन्धमार्गाश्रितत्वेनाश्रयाभेदादेकं कर्म ॥१४५॥

एक एव द्रव्यं पुण्यपापरूपं पुद्गलद्रव्यस्वभावः । सोऽपि निश्चयेन पुद्गलद्रव्यं प्रति, एक एव तत्फलं सुखदुःखरूपं स च फलरूपानुभवः । सोऽयात्मोत्थनिर्विकारसुखानन्दापेक्षया दुःखरूपेणैक एव आश्रयस्तु शुभाशुभबन्धरूपः । सोऽपि बन्धं प्रत्येक एव इति हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाप्यभेदात् । यद्यपि व्यवहारेण भेदोऽस्ति

पक्ष है । यही कहते हैं—जो शुभ अथवा अशुभ जीवका परिणाम है, वह केवल अज्ञान से एक ही है, उसके एक होने पर कारण का अभेद है इसलिये कर्म एक ही है। तथा शुभ अथवा अशुभ पुद्गल का परिणाम केवल पुद्गलमय है, इसलिये एक ही है। उसके एक होने पर स्वभाव के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभ अथवा अशुभ कर्म के फल का रस केवल पुद्गलमय ही है, उसके एक होने पर आस्वाद के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभ अथवा अशुभ मोक्ष का और बन्ध का मार्ग ये दोनों पृथक् हैं, केवल जीवमय तो मोक्ष का मार्ग है और केवल पुद्गलमय बन्धका मार्ग है। वे अनेक हैं, एक नहीं हैं, उनके एक न होने पर भी केवल पुद्गलमय बन्धमार्ग की आश्रितता के कारण आश्रय के अभेद से कर्म एक ही है।

भावार्थ—कर्म में शुभ-अशुभ के भेद का पक्ष चार हेतुओं से कहा है, उसमें शुभका हेतु तो जीव का शुभ परिणाम है, वह अरिहन्तादि में भक्ति का अनुराग, जीवों में अनुकम्पा परिणाम, और मन्दकषाय से चित्त की उज्ज्वलता इत्यादि हैं। तथा अशुभ का हेतु जीव के अशुभ परिणाम; तीव्र क्रोधादिक, अशुभ लेश्या, निर्दयता, विषयासक्तता, देव गुरु आदि पूज्य पुरुषों में अविनयरूप प्रवृत्ति इत्यादिक हैं। इसलिये इन हेतुओं के भेद से कर्म शुभाशुभरूप दो प्रकार के हैं। और शुभ अशुभ पुद्गल के परिणाम के भेद से स्वभाव का भेद है, शुभ द्रव्यकर्म तो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र हैं तथा अशुभ कर्म-चार घातियाकर्म, असातावेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, अशुभ गोत्र ये हैं। इनके उदय से प्राणी को इष्ट-अनिष्ट सामग्री मिलती है, ये पुद्गल के स्वभाव हैं। इनके भेद से कर्म में स्वभाव का भेद है। शुभ-अशुभ अनुभव के भेद से भेद है—शुभ का अनुभव तो सुखरूप स्वाद है और अशुभ का दुःखरूप स्वाद है। शुभाशुभ आश्रय के भेद से भेद है—शुभ का तो आश्रय मोक्षमार्ग है और अशुभ का आश्रय बन्धमार्ग है ऐसा तो भेदपक्ष है। अब इस भेद का निषेधपक्ष कहते हैं—शुभ और अशुभ दोनों जीव के परिणाम अज्ञानमय हैं इसलिये दोनों का एक अज्ञान ही कारण है इसलिये हेतु के भेद से कर्म में भेद नहीं है। शुभ-अशुभ ये दोनों पुद्गल के परिणाम हैं इसलिये पुद्गल परिणामरूप स्वभाव भी दोनों का एक ही है, इस कारण स्वभाव के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभाशुभ फल सुखदुःखरूप स्वाद भी पुद्गलमय ही है इसलिये स्वाद के अभेद से भी कर्म एक ही है। शुभ-अशुभ मोक्ष-बन्धमार्ग कहे हैं वहाँ भी मोक्ष-मार्ग तो केवल जीव का ही परिणाम है और बन्धमार्ग केवल एक पुद्गल का ही

हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां सदाऽप्यभेदान्न हि कर्मभेदः ।
तद्बन्धमार्गाश्रितमेकमिष्टं स्वयं समस्तं खलु बन्धहेतुः ॥१०२॥

अथोभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति—

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं ।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥१४६॥

सौवर्णिकमपि निगलं बध्नाति कालायसमपि च यथा पुरुषम् ।
बध्नात्येवं जीवं शुभमशुभं वा कृतं कर्म ॥१४६॥

शुभमशुभं च कर्माविशेषेणैव पुरुषं बध्नाति बन्धत्वाविशेषात् काञ्चनकालायसनिगलवत् ॥१४६॥

तथापि निश्चयेन शुभाशुभकर्मभेदो नास्ति इति व्यवहारवादिनां पक्षो बाध्यत एव ॥१४५॥ अथोभयं कर्म, अविशेषेण बन्धकारणं साधयति;—यथा सुवर्णनिगलं लोहनिगलं च अविशेषेण पुरुषं बध्नाति तथा शुभमशुभं वा कृतं कर्म अविशेषेण जीवं बध्नातीति । किञ्च । भोगाकांक्षानिदानरूपेण रूपलावण्यसौभाग्यकामदेवेन्द्राहमिन्द्रख्यातिपूजालाभादिनिमित्तं यो व्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति, स पुरुषः तन्निमित्तं रत्नविक्रयवत्, भस्मनिमित्तं रत्नराशिदहनवत्, सूत्रनिमित्तं हारचूर्णवत्, कोद्रवक्षेत्रवृत्तिनिमित्तमगुरुवनच्छेदनवत् वृथैव व्रतादिकं नाशयति । यस्तु शुद्धात्मभावनासाधनार्थं बहिरङ्गव्रततपश्चरणदानपूजादिकं करोति स परंपरया मोक्षं लभते इति भावार्थः ॥१४६॥ अथोभयकर्माविशेषेण मोक्षमार्गविषये निषेधयति;—तम्हा दु कुसीलेहिं य रायं मा काहि मा व संसग्गं तस्मात् कारणात् कुशीलैः कुत्सितैः शुभाशुभकर्मभिः सह चित्तगत-

---

परिणाम है, आश्रय भिन्न-भिन्न हैं इसलिये बन्धमार्ग के आश्रय से भी कर्म एक ही है । इस प्रकार यहाँ कर्म के शुभाशुभ भेद के पक्ष को गौणकर निषेध किया क्योंकि यहाँ अभेदपक्ष प्रधान है, अतः अभेदपक्ष से देखा जाय तो कर्म एक ही है, दो नहीं हैं ॥१४५॥ अब इसी अर्थ को लेकर कलशरूप काव्य कहते हैं—हेतु इत्यादि । अर्थ—हेतु, स्वभाव, अनुभव और आश्रय इन चारों के सदा काल ही अभेद से कर्म में भेद नहीं है, इसलिये बन्ध के मार्ग को आश्रयकर कर्म एक ही माना है क्योंकि शुभरूप तथा अशुभरूप दोनों ही स्वयं निश्चय से बन्ध के ही कारण हैं ॥१०२॥

आगे शुभअशुभ दोनों कर्मों को ही अभेद द्वारा बन्ध के कारण साधते हैं—[यथा] जैसे [कालायसं निगलं] लोहे की वेड़ी [पुरुषं बध्नाति] पुरुष को बांधती है [अपि] और [सौवर्णिकं] सुवर्ण की [अपि] भी बांधती है [एवं] इसी प्रकार [शुभं वा अशुभम्] शुभ तथा अशुभ [कृतं कर्म] किया हुआ कर्म [जीवम्] जीव को [बध्नाति] बांधता ही है ।

टीका—शुभ और अशुभ कर्म अभेदरूप से आत्मा को बांधते ही हैं क्योंकि दोनों ही बन्धरूप से विशेषरहित हैं । जैसे सुवर्ण की बेड़ी और लोहे की बेड़ी में बन्ध की अपेक्षा भेद नहीं है, उसी प्रकार कर्म में भी बन्ध अपेक्षा भेद नहीं है ॥१४६॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेधयति—

तम्हा दु कुसीलेहिय रायं मा कुणह मा व संसग्गं ।
साधीणो हि विणासो कुसीलसंसग्गरायेण ॥१४७॥

तस्मात्तु कुशीलाभ्यां रागं मा कुरुत मा वा संसर्गम् ।
स्वाधीनो हि विनाशः कुशीलसंसर्गरागेण ॥१४७॥

कुशीलशुभाशुभकर्मभ्यां सह रागसंसर्गौ प्रतिषिद्धौ बन्धहेतुत्वात् कुशीलमनो-रमामनोरमकरेणुकुट्टिनीरागसंसर्गवत् ॥१४७॥

अथोभयं कर्म प्रतिषेध्यं स्वयं दृष्टान्तेन समर्थयते—

जह णाम कोवि पुरिसो कुच्छियसीलं जणं वियाणित्ता ।
वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च[1] ॥१४८॥
एमेव कम्मपयडी सीलसहावं च कुच्छिदं णाउं ।
वज्जंति परिहरंति य तस्संसग्गं सहावरया ॥१४९॥ (युग्मम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः कुत्सितशीलं जनं विज्ञाय ।
वर्जयति तेन समकं संसर्गं रागकरणं च ॥१४८॥
एवमेव कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं च कुत्सितं ज्ञात्वा ।
वर्जयन्ति परिहरन्ति च तत्संसर्गं स्वभावरताः ॥१४९॥

रागं मा कुरु । बहिरङ्गवचनकायगतसंसर्गं च मा कुरु । कस्मात् ? इति चेत् । साधीणो हि विणासो कुसील-संसग्गरायेण कुशीलसंसर्गरागाभ्यां स्वाधीनो नियमेन विनाशः निर्विकल्पसमाधिविघातरूपः स्वार्थभ्रंशो हि स्फुटं भवति अथवा स्वाधीनस्यात्मसुखस्य विनाश इति ॥१४७॥ अथोभयकर्म प्रति निषेधं स्वयमेव श्रीकुन्द-कुन्दाचार्यदेवा दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थयन्ति—यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः कुत्सितशीलं जनं ज्ञात्वा वज्जेदि तेण समयं संसग्गं रायकरणं च तेन समकं सह बहिरङ्गवचनकायगतं संसर्गं मनोगतं रागं च वर्जयतीति दृष्टान्तः । एमेव कम्मपयडी सीलसहावं हि कुच्छिदं णाद एवमेव पूर्वोक्तदृष्टान्तन्यायेन कर्मणः

आगे शुभ अशुभ दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं;—[तस्मात्] इसलिये [कुशीलाभ्याम्] इन दोनों कुशीलों से [रागम्] प्रीति [मा कुरुत] मत करो [वा] अथवा [संसर्गं च] सम्बन्ध भी [मा] मत करो [हि] क्योंकि [हि कुशीलसंसर्गरागेण] कुशील के संसर्ग से और राग से [स्वाधीनो विनाशः] अपनी स्वाधीनता का विनाश होता है ।

---

१. 'वा' इत्यपि पाठः ।

यथा खलु कुशलः कश्चिद्वनहस्ती स्वस्य बन्धाय उपसर्प्पन्तीं चटुलमुखीं मनोरमाममनोरमां वा करेणुकुट्टिनीं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति। तथा किलात्माऽरागो ज्ञानी स्वस्य बन्धाय उपसर्प्पन्तीं मनोरमाममनोरमां वा सर्वामपि कर्मप्रकृतिं तत्त्वतः कुत्सितशीलां विज्ञाय तया सह रागसंसर्गौ प्रतिषेधयति ॥१४८।१४९॥

प्रकृतिशीलं स्वभावं कुत्सितं हेयं ज्ञात्वा वज्जंति परिहरंति य तं संसग्गं सहावरदा इह जगति वर्जयन्ति तत्संसर्गं वचनकायाभ्यां परिहरन्ति मनसा रागं च तस्य कर्मणः। के ते ? समस्तद्रव्यभावगतपुण्यपापपरिणामपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणनिर्विकल्पसमाधिस्वभावरताः साधव इति दार्ष्टान्तः ॥१४८॥१४९॥ अथोभयं कर्म शुद्धनिश्चयेन केवलं बन्धहेतुं न केवलं बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो यस्मात् कारणात् रक्तः सन् कर्माणि बध्नाति। मुच्यते जीवः कर्मजनितभावेषु विराग-

---

टीका—कुशील जो शुभ-अशुभ कर्म उनके साथ राग और संगति दोनों का निषेध किया है, क्योंकि ये दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं। जैसे कुशील जो मन को रमाने वाली अथवा नहीं रमाने वाली हथिनीरूप कुट्टनी के साथ राग और संगति करने वाले हाथी की स्वाधीनता का विनाश हो जाता है ।।१४७।।

आगे दोनों कर्मों के निषेध को आप दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं;—[यथा नाम] जैसे [कोऽपि] कोई [पुरुषः] पुरुष [कुत्सितशीलं] निन्दितस्वभाव वाले [जनं] किसी पुरुष को [विज्ञाय] जान कर [तेन समकं] उसके साथ [संसर्गम्] संगति [च रागकरणम्] और राग करना [वर्जयति] छोड़ देता है [एवमेव च] इसी तरह ज्ञानी जीव [कर्मप्रकृतिशीलस्वभावं] कर्मप्रकृतियों के शील स्वभाव को [कुत्सितं ज्ञात्वा] निन्दनीय जानकर [वर्जयन्ति] उससे राग छोड़ देते हैं [च] और [तत्संसर्गम्] उसकी संगति भी [परिहरन्ति] छोड़ देते हैं पश्चात् [स्वभावरताः] अपने स्वभाव मे लीन हो जाते हैं।

टीका—जैसे कोई चतुर वन का हाथी अपने बंधन के लिये समीप आने वाली, चंचलमुख को लीलारूप करती मन को रमाने वाली, सुन्दर अथवा असुन्दर हथिनीरूपी कुट्टिनी को बुरी समझ उसके साथ राग तथा संसर्ग दोनों ही नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी रागरहित ज्ञानी हुआ अपने बन्ध के कारण समीप उदय आतीं शुभरूप अथवा अशुभरूप सभी कर्म प्रकृतियों को परमार्थ से बुरी जानकर उनके साथ राग और संसर्ग नहीं करता।

भावार्थ—जैसे हाथी के पकड़ने को कोई हथिनी दिखलावे, तब हाथी कामान्ध हुआ उससे राग तथा संसर्ग कर गड्ढे में पड़ पराधीन होकर दुःख भोगता है, किन्तु (चतुर) हाथी उससे राग, संसर्ग नहीं करता, उसीप्रकार कर्मप्रकृतियों को अच्छी समझ अज्ञानी जन उनसे राग तथा संसर्ग करता है, तब बन्ध में पड़ संसार के दुःख भोगता है और ज्ञानी तो उनसे संसर्ग तथा राग कभी नहीं करता ।।१४८।।१४९।।

अथोभयं कर्मबन्धहेतुं प्रतिषेध्यं चागमेन साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपत्तो ।
एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज ॥१५०॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते जीवो विरागसम्प्राप्तः ।
एष जिनोपदेशः तस्मात् कर्मसु मा रज्यस्व ॥१५०॥

यः खलु रक्तोऽवश्यमेव कर्म बध्नीयात् विरक्त एव मुच्येतेत्ययमागमः स सामान्येन रक्तत्वनिमित्तत्वाच्छुभमशुभमुभयं कर्माविशेषेण बन्धहेतुं साधयति तदुभयमपि कर्म प्रतिषेधयति च ॥१५०॥

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः ॥१०३॥

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल,
प्रवृत्ते नैष्कर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ।
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं,
विन्दन्त्येते परममृतं तत्र निरताः ॥१०४॥

सम्पन्नः एसो जिणोवदेसो तम्हा कम्मेसु मा रज्ज एष प्रत्यक्षीभूतो जिनोपदेशः कर्त्ता, किं करोति ? उभयं कर्म बन्धहेतुं न केवलं बन्धहेतुं प्रतिषेध्यं हेयं च कथयति तस्मात्कारणात् शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितत्वेन स्वकीयशुद्धात्मभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसस्वादेन तृप्तो भूत्वा शुभाशुभकर्मणि मा रज्यस्व रागं मा

आगे शुभ तथा अशुभ दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं और निषेध करने योग्य हैं यह बात आगम से साधते हैं—[रक्तः] रागी [जीवः] जीव तो [कर्म] कर्मों को [बध्नाति] बांधता है [विरागसम्प्राप्तः] तथा वैराग्य को प्राप्त हुआ जीव [मुच्यते] कर्म से छूट जाता है [एषः] यह [जिनोपदेशः] जिन भगवान् का उपदेश है [तस्मात्] इस कारण भी भव्य जीवो तुम, [कर्मसु] कर्मों में [मा रज्यस्व] प्रीति मत करो, रागी मत होओ ।

टीका—जो रागी है, वह अवश्य कर्मो को बांधता ही है और जो विरक्त है, वही कर्मों से छूटता है, ऐसा यह आगम का वचन है। वह सामान्यतः राग के निमित्त से कर्म शुभ अशुभ ये दोनों हैं उनको अविशेष कर बन्ध का कारण साधा है इसलिए उन दोनों ही कर्मों का निषेध करते हैं ॥१५०॥

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—कर्म इत्यादि। अर्थ—सर्वज्ञदेव सभी शुभ तथा अशुभ कर्मों को सामान्य से बन्ध का कारण कहते हैं इसीलिए सभी कर्मो का निषेध किया है। मोक्ष का कारण एक ज्ञान ही कहा है ॥१०३॥

अब कहते है कि सभी कर्म का निषेध किया है तो मुनि किसके आश्रय मुनिपद पाल सकेंगे ? उसके निर्वाह का काव्य कहते हैं—निषिद्धे इत्यादि। अर्थ—शुभ तथा अशुभ आचरण रूप सभी कर्म का निषेध करते हुए, कर्मरहित निवृत्ति अवस्था में प्रवृत्ति करते हुए मुनि अशरण

अथ ज्ञानं मोक्षहेतुं साधयति—

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥१५१॥

परमार्थः खलु समयः शुद्धो यः केवली मुनिर्ज्ञानी।
तस्मिन् स्थिताः स्वभावे मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥१५१॥

ज्ञानं हि मोक्षहेतुः, ज्ञानस्य[1] शुभाशुभकर्मणोरबन्धहेतुत्वे सति मोक्षहेतुत्वस्य तथोपपत्तेः। तत्तु सकलकर्मादिजात्यन्तरविविक्तचिज्जातिमात्रः[2] परमार्थ आत्मेति यावत्, स तु युगपदेकीभावप्रवृत्तज्ञानगमनमयतया[3] समयः। सकलनयपक्षासंकीर्णैकज्ञान-

---

कुर्विति। एवं यद्यप्यनुपचरितासद्भूतव्यवहारेण द्रव्यपुण्यपापयोर्भेदोऽस्ति अशुद्धनिश्चयेन पुनस्तद्द्वयजनितेन्द्रियसुदुखःखयोर्भेदोऽस्ति तथापि शुद्धनिश्चयनयेन नास्ति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाषट्कं गतम् ॥१५०॥ अथ विशुद्धज्ञानशब्दवाच्यं परमात्मानं मोक्षकारणं कथयति—**परमट्ठो खलु समओ** उत्कृष्टार्थः परमार्थः स कः ? परमात्मा अथवा धर्मार्थकाममोक्षलक्षणेषु परमार्थेषु परम उत्कृष्टो मोक्षलक्षणोऽर्थः परमार्थः सोऽपि स एव। अथवा मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानभेदरहितत्वेन निश्चयेनैकः परमार्थः सोऽपि परमात्मैव खलु स्फुटं **समओ** सम्यगयति गच्छति शुद्धगुणपर्यायान् परिणमतीति समयः। अथवा सम्यगयः संशयादिरहितो बोधो

नहीं हैं। यहाँ पर यह शंका करना ठीक नहीं कि वे मुनिपद किसके आश्रय पालेंगे। निवृत्ति अवस्था होने पर इन मुनियों के ज्ञान में ज्ञान को ही आचरण करना शरण है। वे मुनि उस ज्ञान में लीन हुए परम अमृत को भोगते हैं।

भावार्थ—सब कर्म का त्याग होने से ज्ञान का बड़ा शरण है, उस ज्ञान में लीन होने से सब आकुलताओं से रहित परमानन्द का भोगना होता है। इसका स्वाद ज्ञानी ही जानता है, अज्ञानी कषायी जीव कर्म को ही सर्वस्व जान उसमें लीन होता है, वह ज्ञानानन्द का स्वाद नहीं जानता ॥१५०॥

आगे ज्ञान को मोक्ष का कारण सिद्ध करते हैं;—[खलु] निश्चय से [**परमार्थः समयः**] परमार्थरूप जीव नाम पदार्थ का स्वरूप यह है कि [यः] जो [शुद्धः] शुद्ध है [**केवली**] केवली है [मुनिः] मुनि है [ज्ञानी] ज्ञानी है ये जिसके नाम हैं [**तस्मिन् स्वभावे**] उस स्वभाव में [**स्थिताः**] स्थित [मुनयः] मुनि [निर्वाणम्] मोक्ष को [प्राप्नुवन्ति] प्राप्त होते हैं।

टीका—ज्ञान ही मोक्ष का कारण है क्योंकि अज्ञान शुभ अशुभ कर्मरूप है, वह बन्ध का कारण है अतः उसकी मोक्ष की हेतुता असिद्ध है। मोक्ष की हेतुता ज्ञान से ही बनती है, यह ज्ञान ही परमार्थ है, आत्मा है, क्योंकि समस्त कर्मों को आदि लेकर अन्य पदार्थों से भिन्न जात्यन्तर चिज्जातिमात्र है वही परमार्थस्वरूप आत्मा है, जड़जाति से भिन्न है इसी को समय कहते हैं। समयशब्द का अर्थ पहले भी कह चुके हैं–सम् ऐसा तो उपसर्ग है। उसका अर्थ एककाल एकरूप प्रवर्तन है तथा अय ऐसे शब्द का अर्थ ज्ञान भी है, और गमन भी। दोनों क्रियारूप एककाल से

---

१. "अज्ञानस्य शुभाशुभकर्मणोः बन्धहेतुत्वे सति"—इत्यपि पाठः। २. "चिज्ज्योतिर्मात्रः" इति पाठोऽपि। ३. "ज्ञानमयतया" इत्यपि पाठः।

तथा शुद्धः । केवलचिन्मात्रवस्तुतया केवली । मननमात्रभावमात्रतया मुनिः । स्वयमेव ज्ञानतया ज्ञानी । स्वस्य ज्ञानस्य भावमात्रतया स्वभावः स्वतश्चितो भवनमात्रतया सद्भावो वेति शब्दभेदेऽपि न च वस्तुभेदः ॥१५१॥

अथ ज्ञानं विधापयति-

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारेई ।
तं सव्वं वालतवं वालवदं विंति सव्वण्हू ॥१५२॥

परमार्थे त्वस्थितः यः करोति तपो व्रतं च धारयति ।
तत्सर्वं बालतपो बालव्रतं वदन्ति सर्वज्ञाः ॥१५२॥

ज्ञानमेव मोक्षस्य कारणं विहितं परमार्थभूतज्ञानशून्यस्याज्ञानकृतयोर्व्रततपः कर्मणोः बन्धहेतुत्वाद्बालव्यपदेशेन प्रतिषिद्धत्वे सति तस्यैव मोक्षहेतुत्वात् ॥१५२॥

ज्ञानं यस्य भवति स समयः । अथवा समित्येकत्वेन परमसमरसीभावेन स्वकीयशुद्धस्वरूपे अयनं गमनं परिणमनं समयः सोऽपि स एव शुद्धो रागादिभावकर्मरहितो यः सोऽपि स एव केवली परद्रव्यरहितत्वेनासहायः

प्रवृत्त हों उसको समय कहते हैं, ऐसा प्रवर्तन जीव नाम पदार्थ का है, वही आत्मा है, उसी का शुद्ध ऐसा नाम है क्योंकि समस्त धर्म तथा धर्मी के ग्रहण करने वाले नयों के पक्षों से न मिलने वाला पृथक् ही ज्ञानस्वरूप असाधारणधर्म है, वह अन्यधर्मों से भिन्न प्रकाशरूप है, वह अन्य से नहीं मिलता । उस एक को ही शुद्ध कहते हैं, इसी को केवली कहते हैं क्योंकि एक चैतन्यमात्र वस्तुत्व इसके है, केवलशब्द का अर्थ एक है । इसी को मुनि कहते हैं क्योंकि मननमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र भावरूप यह है, उस रूप से मुनि भी यही है और स्वयमेव ज्ञानी है ही, अतः इसको ज्ञानी भी कहते हैं । अपने ज्ञानस्वरूप के सत्तारूप प्रवर्तन के कारण स्वभाव भी इसको कहते हैं तथा अपनी चेतना का सत्तारूप होने से सद्भाव ऐसा भी नाम है । ऐसे शब्दों के भेद से नामभेद होने पर भी वस्तुभेद नहीं है ।

भावार्थ—मोक्ष का उपादानकारण आत्मा ही है सो आत्मा का परमार्थ से ज्ञान स्वभाव है । ज्ञान है वह आत्मा ही है, आत्मा है वह ज्ञान ही है, इसलिये ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहना युक्त है ॥१५१॥

जो यह मानता है कि बाह्य तपश्चरणादि करना ही ज्ञान है, उसको ज्ञान की विधि वतलाते हैं—[यः] जो [परमार्थे तु] ज्ञानस्वरूप आत्मा में तो [अस्थितः] स्थिर नहीं है [तपः करोति] किन्तु तप करता है [च] तथा [व्रतं धारयति] व्रतों को धारण करता है [तत्सर्वं] उस सब तप व्रत को [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञदेव [बालतपः] अज्ञान तप [बालव्रतम्] अज्ञान व्रत [विन्दन्ति] कहते हैं ।

टीका—मोक्ष का कारण ज्ञान ही है यह विधि है क्योंकि परमार्थभूत ज्ञान के शून्य अज्ञान से किये तप और व्रत रूप कर्म ये दोनों बन्ध के कारण हैं । इसलिये बाल तप, वालव्रत ऐसा नाम कहकर सर्वज्ञदेव ने इसका प्रतिषेध किया है । इस कारण पूर्वकथित ज्ञान ही मोक्ष का कारण है ॥१५२॥

अथ ज्ञानाज्ञाने मोक्षबन्धहेतू नियमयति—

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता।
परमट्ठ[1] वाहिरा जे णिव्वाणं ते ण विंदंति ॥१५३॥

व्रतनियमान् धारयन्तः शीलानि तथा तपश्च कुर्वन्तः।
परमार्थबाह्या ये निर्वाणं ते न विन्दन्ति ॥१५३॥

ज्ञानमेव मोक्षहेतुस्तदभावे स्वयमज्ञानभूतानामज्ञानिनामन्तर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मसद्भावेऽपि मोक्षाभावात्। अज्ञानमेव बन्धहेतुः, तदभावे स्वयं ज्ञानभूतानां ज्ञानिनां बहिर्व्रतनियमशीलतपःप्रभृतिशुभकर्मासद्भावेऽपि मोक्षसद्भावात् ॥१५३॥

केवली सोऽपि स एव मुणी मुनिः स एव णाणी विशुद्धज्ञानमस्यास्तीति ज्ञानी सोऽपि प्रत्यज्ञानी सोऽपि परमात्मैव। तम्हि ट्ठिदा सहावे मुणिणो पावंति णिव्वाणं। तस्मिन् परमात्मस्वभावे स्थिता वीतरागस्वसंवेदनज्ञानरता मुनयस्तपोधना निर्वाणं प्राप्नुवन्ति लभन्त इत्यर्थः ॥१५१॥ अथ तस्मिन्नेव परमात्मनि स्वसम्वेदनज्ञानरहितानां व्रततपश्चरणादिकं पुण्यबन्धकारणमेवेति प्रतिपादयति—परमट्ठम्मि य अठिदो जो कुणदि तवं वदं च धारयदि तस्मिन्नेव पूर्वसूत्रोक्तपरमार्थलक्षणे परमात्मस्वरूपे अस्थितो रहितो यस्तपश्चरणं करोति व्रतादिकं च धारयति तं सव्वं बालतवं बालवदं विंति सव्वण्हू—तत्सर्वं बालतपश्चरणं बालव्रतं ब्रुवन्ति कथयन्ति। के ते ? सर्वज्ञाः।

अब ज्ञान तो नियम से मोक्ष का हेतु है और अज्ञान बन्ध का हेतु है, ऐसा कहते हैं—[ये] जो कोई [व्रतनियमान्] व्रत और नियमों को [धारयन्तः] धारणा करते हैं [तथा] उसी प्रकार [शीलानि च तपः कुर्वन्तः] शील और तप को करते हैं परन्तु [परमार्थबाह्याः] परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा से बाह्य हैं अर्थात् उसके स्वरूप का ज्ञान, श्रद्धान जिनके नहीं है [ते] वे [निर्वाणम्] मोक्ष को [न] नहीं [विन्दन्ति] पाते।

टीका—ज्ञान ही मोक्ष का हेतु है क्योंकि ज्ञान का अभाव होने से स्वयं अज्ञानरूप हुए अज्ञानियों के अन्तरंग में व्रत, नियम, शील, तपोरूप शुभकर्म का सद्भाव होने पर भी मोक्ष का अभाव है। अज्ञान ही बन्ध का हेतु है। अज्ञान का अभाव होने पर स्वयं ज्ञानरूप हुए ज्ञानियों के बाह्य व्रत, नियम, शील, तप आदि शुभकर्म का असद्भाव होने पर भी मोक्ष का सद्भाव है।

भावार्थ—ज्ञान होने पर ज्ञानी के व्रत नियम शील तपोरूप शुभकर्म बाह्य में न होने पर भी मोक्ष होता है। यहाँ ऐसा जानना कि व्रत आदि की प्रवृत्ति शुभकर्म है। उस प्रवृत्ति का अभाव और निवृत्ति अवस्था होने पर भी व्रत, नियम, शील, तप स्वरूप बाह्यप्रवृत्ति का अभाव है तो भी मोक्ष होता है यह नियम है ॥१५३॥

१. तात्पर्यवृत्तौ 'तु ण तेण ते होंति अण्णाणा' इत्यपि पाठः।

यदेतज् ज्ञानात्मा ध्रुवमचलमाभाति भवनं,
शिवस्यायं हेतुः स्वयमपि यतस्तच्छिव इति ।
अतोऽन्यद्बन्धस्य स्वयमपि यतो बन्ध इति, तत्,
ततो ज्ञानात्मत्वं भवनमनुभूतिर्हि विहितम् ॥१०५॥

अथ पुनरपि पुण्यकर्मपक्षपातिनः प्रतिबोधनायोपक्षिपति—

परमट्ठबाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
संसारगमणहेदुं वि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

परमार्थबाह्या ये ते अज्ञानेन पुण्यमिच्छन्ति ।
संसारगमनहेतुं मपि मोक्षहेतुमजानन्तः ॥१५४॥

कस्मात् ? इति चेत्, पुण्यपापोदयजनितसमस्तेन्द्रियसुखदुःखाधिकारपरिहारपरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन विशिष्टः-भेदज्ञानेन रहितत्वात् इति ॥१५२॥ अथ स्वसंवेदनज्ञानं तथैवाज्ञानं चेति यथाक्रमेण मोक्षवन्धहेतू दर्शयति;— वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवंच कुव्वंता त्रिगुप्तसमाधिलक्षणाद्भेदज्ञानाद् बाह्या ये ते व्रतनियमान् धारयन्तः, शीलानि तपश्चरणं च कुर्वाणा अपि मोक्षं न लभन्ते । कस्मादिति चेत्, परमट्ठवाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् परमार्थबाह्यास्तेन कारणेन ते भवन्त्यज्ञानिनः । अज्ञानिनां तु कथं मोक्षः ? ये तु परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितास्ते तु व्रतनियमानधारयन्तोऽपि शीलानि तपश्चरणं बाह्यद्रव्यरूपमकुर्वाणा अपि मोक्षं लभन्ते । तदपि कस्मात्, येन कारणेन पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् परमार्थाद्-बाह्यास्तेन कारणेन ते च ज्ञानिनो भवन्ति । ज्ञानिनां तु मोक्षोभवत्येवेति । किंच विस्तरः । व्रतनियमशील-बहिरङ्गतपश्चरणादिकं विनापि यदि मोक्षो भवति इति तर्हि संकल्पविकल्परहितानां विषयव्यापारेऽपि पापं नास्ति, तपश्चरणाभावेऽपि मोक्षो भवतीति सांख्यशैवमतानुसारिणो वदन्तीति तेषामेव मतं सिद्धमिति । नैवं, निर्विकल्पत्रिगुप्तिसमाधिलक्षणभेदज्ञानसहितानां मोक्षो भवतीति विशेषेण बहुधा भणितं तिष्ठति । एवंभूतभेद-ज्ञानकाले शुभरूपा ये मनोवचनकायव्यापाराः परम्परया मुक्तिकारणभूतास्तेऽपि न सन्ति । ये पुनरशुभविषय-कषायव्यापाररूपास्ते विशेषेण न सन्ति । न हि चित्तस्थे रागभावे विनष्टे सति बहिरङ्गविषयव्यापारो दृश्यते । तन्दुलस्याभ्यन्तरे तुषे गते सति बहिरङ्गतुष इव । तदपि कस्मात् ? इति चेत् निर्विकल्पसमाधि-

---

इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—यदेत इत्यादि । अर्थ—जो यह ज्ञानस्वरूप आत्मा ध्रुव है सो जब निश्चल अपने ज्ञानस्वरूप हुआ शोभायमान होता है, तब ही यह मोक्ष का कारण है क्योंकि आप स्वयमेव मोक्षस्वरूप है और इसके सिवाय जो अन्य है वह बंध का कारण है क्योंकि आप स्वयमेव बंधस्वरूप है । इसलिये ज्ञानस्वरूप अपना होना ही अनुभूति है इस प्रकार निश्चय से बन्धमोक्ष के हेतु का विधान किया है ॥ १०५ ॥

यदि आगे फिर भी कोई पुण्यकर्म का पक्षपात करे तो उसके समझाने के लिए गाथा कहते हैं :—[ये] जो जीव [परमार्थबाह्या] परमार्थ से बाह्य हैं परमार्थभूतज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव नहीं करते [ते] वे जीव [अज्ञानेन] अज्ञान से [पुण्यं] पुण्य [इच्छन्ति] चाहते हैं वह पुण्य [संसारगमतहेतुं अपि] संसार के गमन का कारण है तो भी वे जीव [मोक्षहेतु] मोक्ष का

इह खलु केचिन्निखिलकर्मपक्षक्षयसंभावितात्मलाभं मोक्षमभिलषन्तोऽपि तद्धेतुभूतं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रस्वभावपरमार्थभूतज्ञानभवन¹मात्रमैकाग्र्यलक्षणं समयसारभूतं सामायिकं प्रतिज्ञायापि दुरन्तकर्मचक्रोत्तरणक्लीबतया परमार्थभूतज्ञानानुभवनमात्रसामायिकमात्मस्वभावमलभमानाः प्रतिनिवृत्तस्थूलतमसंक्लेशपरिणामकर्मतया प्रवर्त्तमानस्थूलतमविशुद्धपरिणामकर्माणः कर्मानुभवगुरुलाघवप्रतिपत्तिमात्रसंतुष्टचेतसः स्थूललक्ष्यतया सकलं कर्मकाण्डमनुन्मूलयन्तः स्वयमज्ञानादशुभकर्म केवलं बन्धहेतुमध्यास्य च व्रतनियमशीलतपः प्रभृतिशुभकर्मबन्धहेतुमप्यजानन्तो मोक्षहेतुमभ्युपगच्छन्ति ॥१५४॥

लक्षणभेदज्ञानविषयकषायव्यापारयोर्द्वयोः परस्परं विरुद्धत्वात् शीतोष्णवदिति ॥१५३॥ अथ वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मभावनां विहाय तेन पुण्यमेवैकान्तेन मुक्तिकारणं ये वदन्ति तेषां प्रतिबोधनार्थं पुनरपि दूषणं ददाति—इह हि केचन सकलकर्मक्षयमोक्षमिच्छन्तोऽपि निजपरमात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणं परमसामायिकं पूर्वं दीक्षाकाले प्रतिज्ञायापि चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानसामर्थ्याभावात्पूर्वोक्तं परमसामायिकमलभमानाः परमार्थबाह्याः सन्तः संसारगमनहेतुत्वेन बन्धकारणमप्यज्ञानभावेन कृत्वा पुण्यमिच्छन्ति । किं कुर्वन्तः? अभेदरत्नत्रयात्मकं मोक्षकारणमजानन्तः । अथवा द्वितीयव्याख्यानं, बन्धहेतुमपि

कारण ज्ञानस्वरूप आत्मा को [अजानंतः] नहीं जानते । पुण्य को ही मोक्ष का कारण मानते हैं।

टीका—इस लोक में निश्चय से कई एक जीव ऐसे हैं जो समस्त कर्म के पक्ष का नाश कर जिसमें निज स्वरूप का लाभ उत्पन्न हुआ है ऐसे मोक्ष को चाहते हैं तो भी उस मोक्ष के कारणभूत सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वभाव परमार्थभूत ज्ञान के होनेमात्र एकाग्रतालक्षण समयसारभूत सामायिक चारित्र की प्रतिज्ञा लेकर भी दुरन्त कर्म के समूह के पार होने की असामर्थ्य से परमार्थभूत ज्ञान के होने मात्र जो सामायिकचारित्रस्वरूप आत्मा का स्वभाव उसको न पाते हुए अतिशय स्थूल संक्लेशपरिणामस्वरूप कर्म से तो निवृत्त हुए हैं और अतिशय मोटे विशुद्ध परिणामरूप कर्म के द्वारा प्रवृत्ति करते हैं, वे कर्म के अनुभव को गुरुता और लघुता की प्राप्ति मात्र से ही संतुष्ट चित्त वाले हुए स्थूल लक्ष्यतारूप स्थूलअनुभवगोचर संक्लेशरूप कर्मकाण्ड को तो छोड़ते हैं परन्तु समस्त कर्मकाण्ड को मूल से नहीं उखाड़ते । वे स्वयं अपने अज्ञान से केवल अशुभ कर्म को बन्ध का कारण मान व्रत, नियम, शील, तप आदिक शुभ कर्म बन्ध के कारण को बन्ध का कारण नहीं जानते,उसको मोक्ष का कारण मानते हैं, अंगीकार करते हैं ।

भावार्थ—कितने ही जीव अति संक्लेशपरिणामरूप कर्म को तो बन्ध का कारण जानकर छोड़ देते हैं और अतिविशुद्धता परिणामरूपकर्म सहित वर्तते हैं । वे कर्म की अत्यल्पता को ही बन्ध-मोक्ष का कारण जानते हैं तथा सकल कर्मों से रहित अपने स्वरूप को मोक्ष का कारण नहीं जानते । वे अशुभ कर्म को छोड़ व्रत, नियम, शीलतपरूप शुभकर्म को ही मोक्ष का कारण मान अंगीकार करते हैं। वे व्रत आदि को पालते हुए भी अज्ञानी ही हैं, और परमार्थ को नहीं जानते ॥ १५४ ॥

---

१. 'ज्ञानभवनमात्रतया' इत्यपि पाठः ।

अथ परमार्थमोक्षहेतुं तेषां दर्शयति—

जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादीपरिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो ॥ १५५ ॥

जीवादिश्रद्धानं सम्यक्त्वं तेषामधिगमो ज्ञानम्।
रागादिपरिहरणं चरणं एष तु मोक्षपथः ॥ १५५ ॥

मोक्षहेतुः किल सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि। तत्र सम्यग्दर्शनं तु जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनम्। जीवादिज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं ज्ञानं। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं चारित्रम्। तदेवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राण्येकमेव ज्ञानस्य भवनमायातम्। ततो ज्ञानमेव परमार्थमोक्षहेतुः ॥१५५॥

पुण्यं मोक्षहेतुमिच्छन्ति। किं कुर्वन्तः ? पूर्वोक्तमभेदरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकं मोक्षकारणमजानन्तः सन्त इति। किं च निर्विकल्पसमाधिकाले व्रताव्रतस्य स्वयमेव प्रस्तावो नास्ति। अथवा निश्चयव्रतं तदेवेत्यभिप्रायः। इति वीतरागसम्यक्त्वरूपां शुद्धात्मोपादेयभावनां विना व्रततपश्चरणादिकं पुण्यकारणमेव भवति तद्भावनासहितं पुनर्बहिरङ्गसाधकत्वेन परम्परया मुक्तिकारणं चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥ १५४ ॥ एवं गाथादशकेन पुण्याधिकारः समाप्तः। अथ सविकल्पत्वपराश्रितत्वाच्च निश्चयेन पापव्याख्यानमुख्यत्वेन, अथवा निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गमुख्यत्वेन जीवादीसद्दहणमित्यादिसूत्रद्वयं। तदनन्तरं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ सम्यक्त्वादिजीवगुणस्तत्प्रच्छादनमुख्यत्वेन वत्थस्स सेदभावो इत्यादि गाथात्रयं। ततः परं पापं पुण्यं च बन्धकारणमेवेतिमुख्यतया सो सव्वणाण इत्यादि सूत्रमेकम्। ततश्च मोक्षहेतुभूतो योसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादन-

---

यहाँ ऐसे जीवों को परमार्थस्वरूप मोक्ष का कारण दिखलाते हैं;—[जीवादिश्रद्धानं] जीवादिक पदार्थों का श्रद्धान तो [सम्यक्त्वं] सम्यक्त्व है और [तेषां] उन जीवादि पदार्थों का [अधिगमः] अधिगम वह [ज्ञानं] ज्ञान है तथा [रागादिपरिहरणं] रागादिक का त्याग [चरणं] वह चारित्र है [एष तु] यही [मोक्षपथः] मोक्ष का मार्ग है।

टीका—मोक्ष के कारण निश्चय से सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं। जीवादिपदार्थों के यथार्थ श्रद्धान स्वभाव से ज्ञान का परिणमन तो सम्यग्दर्शन है; जीवादिपदार्थों के ज्ञानस्वभाव से ज्ञान का होना सम्यग्ज्ञान है; तथा रागादि के त्याग स्वभाव से ज्ञान का होना सम्यक् चारित्र है। इस कारण ज्ञान ही परमार्थरूप से मोक्ष का कारण है।

भावार्थ—आत्मा का असाधारण स्वरूप ज्ञान ही है और इस प्रकरण में ज्ञान का ही प्रधानतः व्याख्यान है। इसलिये सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ज्ञान के ही परिणमन हैं। इस भाँति कह कर ज्ञान को ही मोक्ष का कारण कहा है। ज्ञान अभेदविवक्षा से आत्मा ही है। ऐसा कहने में कुछ विरोध नहीं है ॥ १५५ ॥

अथ परमार्थमोक्षहेतोरन्यत् कर्म प्रतिषेधयति—

मोत्तूण णिच्छयट्ठं ववहारेण विदुसा पवट्टंति।
परमट्ठमस्सिदाण दु जदीण कम्मक्खओ विहिओ॥ १५६॥

मुक्त्वा निश्चयार्थं व्यवहारेण विद्वान्सः प्रवर्तन्ते।
परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो विहितः॥ १५६॥

यः खलु परमार्थमोक्षहेतोरतिरिक्तो व्रततपःप्रभृतिशुभकर्मात्मा केषांचिन्मोक्षहेतुः स सर्वोऽपि प्रतिषिद्धस्तस्य द्रव्यान्तरस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्याभवनात्। परमार्थमोक्षहेतोरेवैकद्रव्यस्वभावत्वात् तत्स्वभावेन ज्ञानभवनस्य भवनात्॥१५६॥

मुख्यतया सम्मत्त इत्यादि गाथात्रयमिति समुदायेन सूत्रनवकपर्यन्तं तृतीयस्थले व्याख्यानं करोति। तद्यथा। अथ तेषामज्ञानिनां निश्चयमोक्षहेतुं दर्शयति;—जीवादीसद्दहणं सम्मत्तं जीवादिनवपदार्थानां विपरीताभिनिवेशरहितत्वेन श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं तेसिमधिगमो णाणं तेषामेव संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेनाधिगमो निश्चयः परिज्ञानं सम्यग्ज्ञानं रागादिपरिहरणं चरणं तेषामेव सम्बन्धित्वेन रागादिपरिहारश्चारित्रं एसो दु मोक्खपहो इत्येव व्यवहारमोक्षमार्गः। अथवा तेषामेव भूतार्थेनाधिगतानां पदार्थानां शुद्धात्मनः सकाशात् भिन्नत्वेन सम्यगवलोकनं निश्चयसम्यक्त्वम्। तेषामेव सम्यक्परिच्छित्तिरूपेण शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयः सम्यग्ज्ञानम्। तेषामेव शुद्धात्मनो भिन्नत्वेन निश्चयं कृत्वा रागादिविकल्परहितत्वेन स्वशुद्धात्मन्यवस्थानं निश्चयचारित्रमिति निश्चय-

---

आगे परमार्थरूप मोक्ष के कारण से भिन्न कर्म का निषेध करते हैं;—[विद्वांसः] पण्डित जन [निश्चयार्थं] निश्चयनय के विषय को [मुक्त्वा] छोड़ [व्यवहारेण] व्यवहार से [प्रवर्तन्ते] प्रवृत्ति करते हैं [तु] परंतु [परमार्थं] परमार्थभूत-आत्मस्वरूप के [आश्रितानां] आश्रित [यतीनां] यतीश्वरों के ही [कर्मक्षयः] कर्म का नाश [विहितः] कहा गया है। व्यवहार में प्रवृत्ति करने वाले का कर्मक्षय नहीं होता।

टीका—कितनों ही ने तो ऐसा मोक्ष का कारण माना है कि परमार्थ भूत मोक्ष के कारण से रहित और व्रत तप आदिक शुभकर्मस्वरूप से ही मोक्ष है। ऐसा मोक्ष का हेतु मानना सभी निषेध किया गया है क्योंकि ऐसा मोक्ष का कारण अन्यद्रव्यस्वभाव है। उस स्वभाव से ज्ञान का परिणमन नहीं होता। ज्ञान का परिणमन परमार्थ से शुभ अशुभ रूप नहीं है अतः परमार्थभूत मोक्ष का कारण ही एक द्रव्यस्वभाव है; उस स्वभाव से ही ज्ञान का परिणमन होता है।

भावार्थ—मोक्ष आत्मा के होता है, उसका कारण भी आत्मा का स्वभाव ही होना चाहिए। जो अन्य द्रव्य का स्वभाव हो, तो उस से आत्मा के मोक्ष कैसे हो? यह निश्चय नय का मत है। इसलिए शुभ कर्म पुद्गल द्रव्य का स्वभाव है वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं है। ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, वही आत्मा के परमार्थभूत मोक्ष का कारण है॥ १५६॥

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा ।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥१०६॥
वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि ।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥१०७॥
मोक्षहेतुनिरोधानाद्बन्धत्वात्स्वयमेव च ।
मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्तन्निषिध्यते ॥१०८॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधानकरणं साधयति—

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
मिच्छत्तमलोच्छण्णं तह सम्मत्तं खु णायव्वं ॥१५७॥
वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
अण्णाणमलोच्छण्णं तह णाणं होदि णायव्वं ॥१५८॥

मोक्षमार्गः ॥१५५॥ अथ निश्चयमोक्षमार्गहेतोः शुद्धात्मस्वरूपाद् यदन्यच्छुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं कर्म तन्मोक्षमार्गो न भवति इति प्रतिपादयति;—मोत्तूण णिच्छयट्टं ववहारे निश्चयार्थं मुक्त्वा व्यवहारविषये ण विदुसा पवट्टंति विद्वान्सो ज्ञानिनो न प्रवर्तन्ते । तस्मात् ? परमट्ठमासिदाण दु जदीण कम्मक्खओ होदि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यपरिणतिलक्षणं निजशुद्धात्मभावनारूपं परमार्थमाश्रितानां तु यतीनां कर्मक्षयो भवतीति यतः कारणादिति । एवं मोक्षमार्गकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं ॥१५६॥ अथमोक्षहेतुभूतानां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां, जीवगुणानां वस्त्रस्य मलेनेव मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रतिपक्षभूतेन प्रच्छादनं दर्शयति वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनाच्छन्नः । तथैव मिथ्यात्वमलेनाच्छन्नो

अब इसी अर्थ के कलश रूप दो श्लोक कहते हैं—वृत्तं इत्यादि । अर्थ—ज्ञान स्वभाव से बर्तना ही ज्ञान का होना है और वही मोक्ष का कारण है क्योंकि ज्ञान ही एक आत्मद्रव्यस्वभाव है । और कर्मस्वभाव से बर्तना ज्ञान का होना नहीं है, वह (कर्म का बर्तना) मोक्ष का कारण नहीं है क्योंकि कर्म अन्यद्रव्यस्वभाव है ।

भावार्थ—मोक्ष आत्मा के होता है इसलिए आत्मा का स्वभाव ही मोक्ष का कारण हो सकता है क्योंकि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है, अतः वही मोक्ष का कारण है । तथा कर्म अन्य (पुद्गल) द्रव्य का स्वभाव है इसलिए वह आत्मा के मोक्ष का कारण नहीं होता, यह निश्चय है ॥ १०६।१०७ ॥

आगे अगले कथन का सूचक श्लोक कहते हैं—मोक्षहेतु इत्यादि—कर्म मोक्ष का कारण नहीं; स्वयं बन्धस्वरूप है; तथा मोक्ष के कारणों का आच्छादक है, अतः इन तीन हेतुओं से कर्म का निषेध किया गया है ॥ १०८ ॥

वत्थस्स सेदभावो जह णासेदि मलमेलणासत्तो ।
कसायमलोच्छण्णं तह चारित्तं पि णादव्वं ॥१५९॥(त्रिकलम्)

वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
मिथ्यात्वमलावच्छन्नं तथा सम्यक्त्वं खलु ज्ञातव्यम् ॥१५७॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
अज्ञानमलावच्छन्नं तथा ज्ञानं भवति ज्ञातव्यम् ॥१५८॥
वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलमेलनासक्तः ।
कषायमलावच्छन्नं तथा चारित्रमपि ज्ञातव्यम् ॥१५९॥

ज्ञानस्य सम्यक्त्वं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन मिथ्यात्यनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात् तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् ।

मोक्षहेतुभूतो जीवस्य सम्यक्त्वगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम् । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना सम्बन्धस्तेनच्छन्नः । तथैवाज्ञनमलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य ज्ञानगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम् । वस्त्रस्य श्वेतभावो यथा नश्यति मलविमेलना, मलस्य विशेषेण मेलना संबन्धस्तेनच्छन्नः । तथा कषायकर्ममलेनाच्छन्नो मोक्षहेतुभूतो जीवस्य चारित्रगुणो नश्यतीति ज्ञातव्यम् । इति मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिगुणानां मिथ्यात्वाज्ञानकषायप्रतिपक्षैः प्रच्छादनकथनरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥१५७।१५८।१५९॥ अथ

कर्म मोक्ष के कारण दर्शन, ज्ञान और चारित्र का आच्छादक हैं यह बताते हैं;—[**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य**] वस्त्र को [**श्वेतभावः**] सफेदी [**मलमेलनासक्तः**] मल के मिलने से लिप्त हुई [**नश्यति**] नष्ट हो जाती है [**तथा**] उसी भांति [**मिथ्यात्वमलावच्छन्नं**] मिथ्यात्वमल से व्याप्त हुआ [**सम्यक्त्वं**] आत्मा का सम्यक्त्वगुण [**खलु**] निश्चय से [**ज्ञातव्यं**] आच्छादित हो रहा है ऐसा जानना चाहिए। [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य श्वेतभावः**] वस्त्र की सफेदी [**मलमेलनासक्तः**] मल के मेल से लिप्त हुई [**नश्यति**] नष्ट हो जाती है [**तथा**] उसी प्रकार [**अज्ञानमलावच्छन्नं**) अज्ञानमल से व्याप्त हुआ [**ज्ञानं**] आत्मा का ज्ञान भाव [**ज्ञातव्यं भवति**] आच्छादित होता है ऐसा जानना चाहिये। [**यथा**] जैसे [**वस्त्रस्य श्वेतभावः**] कपड़े की सफेदी [**मलमेलनासक्तः**] मल के मिलने से व्याप्त हुई [**नश्यति**] नष्ट हो जाती है [**तथा**] उसी तरह [**कषायमलावच्छन्नं**] कषायमल से व्याप्त हुआ [**चारित्रं अपि**] आत्मा का चारित्र भाव भी [**ज्ञातव्यं**] आच्छादित हो जाता है ऐसा जानना चाहिये।

टीका—ज्ञान का सम्यक्त्व मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। यह सम्यक्त्व परभाव स्वरूप मिथ्यात्व कर्म मैल से व्याप्त होने से आच्छादित हो जाता है। जैसे परभावभूत मैल (रंग सहित होने पर सफेद वस्त्र का स्वभावभूत सफेद स्वभाव आच्छादित हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान का ज्ञान मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। वह परभावरूप अज्ञाननामक कर्मरूपी मल से व्याप्त होने

ज्ञानस्य ज्ञानं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेनाज्ञाननाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । ज्ञानस्य चारित्रं मोक्षहेतुः स्वभावः, परभावेन कषायनाम्ना कर्ममलेनावच्छन्नत्वात्तिरोधीयते परभावभूतमलावच्छन्नश्वेतवस्त्रस्वभावभूतश्वेतस्वभाववत् । अतो मोक्षहेतुतिरोधानकरणात् कर्म प्रतिषिद्धम् ॥१५७।१५८।१५९॥

अथ कर्मणः स्वयं बन्धत्वं साधयति—

सो सव्वणाणदरिसी कम्मरएण णियेणवच्छण्णो ।
संसारसमावण्णो ण विजाणदि सव्वदो सव्वं ॥१६०॥

स सर्वज्ञानदर्शी कर्मरजसा निजेनावच्छन्नः ।
संसारसमापन्नो न विजानाति सर्वतः सर्वम् ॥१६०॥

यतः स्वयमेव ज्ञानतया विश्वसामान्यविशेषज्ञानशीलमपि ज्ञानमनादिस्वपुरुषापराधप्रवर्तमानकर्ममलावच्छन्नत्वादेव बन्धावस्थायां सर्वतः सर्वमप्यात्मानमविजान-

---

कर्म स्वयमेव बन्धरूपं कथं मोक्षकारणं भवतीति कथयति;—**सो सव्वणाणदरिसी कम्मरयेण णियेण उच्छण्णो**- स शुद्धात्मा निश्चयेन समस्तपरिपूर्णज्ञानदर्शनस्वभावोऽपि निजकर्मरजसोच्छन्नो झम्पितः सन् । **संसारसमावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं** । संसारसमापन्नः, संसारे पतितः सन् नैव जानाति सर्वं वस्तु, सर्वतः सर्वप्रकारेण । ततो ज्ञायते कर्म कर्तृ जीवस्य स्वयमेव बन्धरूपं कथं मोक्षकारणं भवतीति । एवं पापवत्पुण्यं बन्धकारणमेवेति

से आच्छादित किया जाता है। जैसे परभावरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ श्वेत वस्त्र का स्वभावभूत सफेदपन आच्छादित होता है। ज्ञान का चरित्र भी मोक्ष का कारणरूप स्वभाव है। वह परभाव स्वरूप कषायनाम कर्मरूपी मैल से व्याप्त होने से आच्छादित किया जाता है। जैसे परभावस्वरूप मैल (रंग) से व्याप्त हुआ सफेद कपड़े का स्वभावभूत सफेदपन आच्छादित किया जाता है। इसलिये मोक्ष के कारण जो सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, उनका आच्छादन करने से कर्म का निषेध किया गया है।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप ज्ञान के परिणमन स्वरूप मोक्ष मार्ग के प्रतिबन्धक (रोकने वाले) मिथ्यात्व अज्ञान कषायरूपी कर्म हैं। ये कर्म उस मोक्ष के कारण भावों को आच्छादित करते हैं इसलिये कर्म का निषेध है ॥१५७।१५८।१५९॥

अब कर्म स्वयमेव बन्ध हैं, यह सिद्ध करते हैं;—[सः] वह आत्मा स्वभाव से [सर्वज्ञानदर्शी] सबका जानने वाला और देखने वाला है तो भी [निजेन कर्मरजसा] अपने कर्मरूपी रज से [अवच्छन्नः] आच्छादित हुआ [संसारसमापन्नः] संसार को प्राप्त होता हुआ [सर्वतः] सब प्रकार से [सर्वं] सब वस्तु को [न विजानाति] नहीं जानता।

टीका—जिस कारण यह ज्ञान रूप आत्मा स्वयमेव ज्ञानरूप होने से सब पदार्थों को सामान्य विशेषता से जानने के स्वभाववाला है, तो भी अनादि काल से अपने पुरुषार्थ से किये हुए अपराध

दज्ञानभावेनैवेदमेवमवतिष्ठते। ततो नियतं स्वयमेव कर्मैव बन्धः। अतः स्वयं बन्धत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम् ॥१६०॥

अथ कर्मणो मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वं दर्शयति—

सम्मत्तपडिणिबद्धं मिच्छत्तं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो मिच्छादिट्ठित्ति णायव्वो ॥१६१॥
णाणस्स पडिणिबद्धं अण्णाणं जिणवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अण्णाणी होदि णायव्वो ॥१६२॥
चारित्तपडिणिबद्धं कसायं जिनवरेहि परिकहियं।
तस्सोदयेण जीवो अचरित्तो होदि णायव्वो ॥१६३॥
(त्रिकलम्)

सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं मिथ्यात्वं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवो मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञातव्यः ॥१६१॥
ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं अज्ञानं जिनवरैः परिकथितम्।
तस्योदयेन जीवोऽज्ञानी भवति ज्ञातव्यः ॥१६२॥
चारित्रप्रतिनिबद्धः कषायो जिनवरैः परिकथितः।
तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवति ज्ञातव्यः ॥१६३॥

कथनरूपेण गाथा गता ॥१६०॥ अथ पूर्वं मोक्षहेतुभूतानां सम्यक्त्वादिजीवगुणानां मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छादनं भवतीति कथितं इदानीं तद्गुणाधारभूतो गुणी जीवो मिथ्यात्वादिकर्मणा प्रच्छाद्यते इति प्रकटीकरोति;—सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं प्रतिकूलं मिथ्यात्वं भवतीति जिनवरैः परिकथितं जीवो मिथ्यादृष्टिर्भवतीति ज्ञातव्यः।

से प्रवर्तमान कर्मरूप मल से आच्छादित (व्याप्त-मलिन) है। उस मलिन भाव से बन्धावस्था में सब प्रकार के सब ज्ञेयाकाररूप अपने स्वरूप को नहीं जानता है और अज्ञान भाव से ही यह आप स्थित है। इस कारण यह निश्चय हुआ कि कर्म आप ही बन्धस्वरूप है। इसीलिये आप बन्धरूप होने से कर्म का प्रतिषेध किया गया है।

भावार्थ—यहाँ ज्ञान शब्द से आत्मा का ही ग्रहण किया गया है। सो यह ज्ञान स्वभाव से तो सबको देखने और जानने वाला है परन्तु अनादि से आप अपराधी है, इसलिये बंधे हुए कर्मों से आच्छादित है। अतः अपने संपूर्ण रूप को नहीं जानता हुआ, अज्ञानरूप हुआ आप स्थित है, उसके कर्म अपने आप ही बंधते हैं। कर्मों को आप लेकर नहीं बांधता, आप तो अपने अज्ञानभावरूप परिणमन करता है। तब कर्म स्वयमेव बंध रूप हो जाते हैं इसीलिए कर्म का प्रतिषेध है ॥१६०॥

आगे कर्म मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र के आच्छादक हैं, यह दिखलाते हैं—[सम्यक्त्वप्रतिनिबद्धं] सम्यक्त्व का रोकने वाला [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्वकर्म है ऐसा [जिनवरैः] जिन-

सम्यक्त्वस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किल मिथ्यात्वं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्य मिथ्यादृष्टित्वम्। ज्ञानस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकं किलाज्ञानं, तत्तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याज्ञानत्वम्। चारित्रस्य मोक्षहेतोः स्वभावस्य प्रतिबन्धकः[1] किल कषायः, स तु स्वयं कर्मैव तदुदयादेव ज्ञानस्याचारित्रत्वम्। अतः स्वयं मोक्षहेतुतिरोधायिभावत्वात्कर्म प्रतिषिद्धम् ॥१६१। १६२।१६३॥

ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं प्रतिकूलमज्ञानं भवतीति जिनवरैः परिकथितं तस्योदयेन जीवश्चाज्ञानी भवतीति ज्ञातव्यः। चारित्रस्य प्रतिनिबद्धः प्रतिकूलः क्रोधादिकषायो भवतीति जिनवरैः परिकथितः तस्योदयेन जीवोऽचारित्रो भवतीति ज्ञातव्यः। एवं मोक्षहेतुभूतो योऽसौ जीवो गुणी तत्प्रच्छादनकथनमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतं। इति सम्यक्त्वादिजीवगुणा मुक्तिकारणं तद्गुणपरिणतो जीवो वा मुक्तिकारणं भवति तस्माच्छुद्धजीवाद्भिन्नं शुभाशुभमनोवचनकायव्यापाररूपं, तदव्यापारेणोपार्जितं वा शुभाशुभकर्म मोक्षकारणं न भवतीति मत्वा हेयं त्याज्य-

---

वरदेव ने [परिकथितं] कहा है [तस्योदयेन] उस मिथ्यात्व के उदय से [जीवः] यह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि हो जाता है [इति ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये। [ज्ञानस्य प्रतिनिबद्धं] ज्ञान का रोकने वाला [अज्ञानं] अज्ञान है ऐसा [जिनवरैः परिकथितं] जिनवर ने कहा है [तस्योदयेन] उसके उदय से [जीवः] यह जीव [अज्ञानी] अज्ञानी [भवति] होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिए। [चारित्रप्रतिनिबद्धः] चारित्र का प्रतिबन्धक [कषायः] कषाय है ऐसा [जिनवरैः] जिनेन्द्रदेव ने [परिकथितः] कहा है [तस्य उदयेन] उसके उदय से [जीवः] यह जीव [अचारित्रः] अचारित्री [भवति] हो जाता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना चाहिये।

टीका—सम्यक्त्व मोक्ष का कारण है। उसके स्वभाव का रोकनेवाला मिथ्यात्व है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान को मिथ्यादृष्टित्व है; ज्ञान भी मोक्ष का कारण है, उसके स्वभाव का रोकने वाला प्रकट अज्ञान है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ज्ञान को अज्ञान है; और चारित्र मोक्ष का कारण है, उसके स्वभाव का प्रतिबन्धक प्रकट कषाय है, वह स्वयं कर्म ही है, उसके उदय से ही ज्ञान के अचारित्र्य हैं। क्योंकि कर्म के, स्वयमेव मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का तिरोधायित्व है, इसी कारण कर्म का प्रतिषेध किया गया है।

भावार्थ—ज्ञान के मोक्ष का कारणरूपस्वभाव सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र हैं। इन तीनों के प्रतिपक्षी कर्म मिथ्यात्व, अज्ञान और कषाय ये तीन हैं इसलिये उन तीनों को प्रकट नहीं होने देते। इस कारण कर्म में मोक्ष के कारणों का तिरोधायीभाव हैं इसलिये कर्म का प्रतिषेध है। अशुभ कर्म से मोक्ष की हेतुता तो क्या है, बाधकता ही प्रसिद्ध है परन्तु शुभकर्म भी बन्धरूप ही है। इस कारण यह भी कर्म सामान्य में प्रतिषेध रूप ही जानना ॥१६१।१६२।१६३॥

---

१. "प्रतिनिबन्धक" इत्यपि पाठः।

संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि तत्कर्मैव मोक्षार्थिना,
संन्यस्ते सति तत्र का किल कथा पुण्यस्य पापस्य वा ।
सम्यक्त्वादिनिजस्वभावभवनान्मोक्षस्य हेतुर्भव-
न्नैष्कर्म्यप्रतिबद्धमुद्धतरसं ज्ञानं स्वयं धावति ॥१०९॥

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित्क्षतिः ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्म बन्धाय त-
न्मोक्षाय स्थितमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः ॥११०॥

मिति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतम् ॥१६१।१६२।१६३॥ द्वितीयं पातनिकाभिप्रायेण पापाधिकार-व्याख्यानमुख्यत्वेन गतम् । अत्राह शिष्यः जीवादीसद्दहणंमित्यादि व्यवहाररत्नत्रयव्याख्यानं कृतं तिष्ठति कथं पापाधिकार इति । तत्र परिहारः—यद्यपि व्यवहारमोक्षमार्गो निश्चयरत्नत्रयस्योपादेयभूतस्य कारणभूतत्वा-

---

आगे इसी अर्थ को कलशरूप काव्य कहते हैं—संन्यस्त इत्यादि । अर्थ—मोक्ष के चाहने वालों को यह समस्त कर्म ही त्यागने योग्य हैं । इस तरह इस समस्त ही कर्म को छोड़ने से पुण्य पाप की तो क्या वात है, कर्मसामान्य में दोनों ही आ जाते हैं । इस प्रकार समस्त कर्मों का त्याग होने पर ज्ञान सम्यक्त्व आदिक अपने स्वभाव रूप होने से मोक्ष का कारण हुआ कर्मरहित अवस्था से जिसका रस प्रतिवद्ध (उद्धत) है ऐसा अपने आप दौड़ आता है ।

भावार्थ—कर्म को दूर करके ज्ञान, अपने आप अपने मोक्ष के कारण स्वभावरूप हुआ प्रगट होता है, फिर उसे कौन रोक सकता है ? कोई नहीं ॥१०९॥

यहाँ आशंका उत्पन्न होती है कि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के जव तक कर्म का उदय रहता है, तब तक ज्ञान मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है तथा कर्म और ज्ञान दोनों साथ किस तरह रहते हैं ? उसके समाधान का काव्य कहते हैं—यावत् इत्यादि । अर्थ—जव तक कर्म का उदय है और ज्ञान की सम्यक् कर्मविरति नहीं है, तव तक कर्म और ज्ञान दोनों का समुच्चय (एकत्रीकरण) भी कहा गया है तव तक इसमें कुछ हानि भी नहीं । यहाँ पर यह विशेषता है कि इस आत्मा में कर्म के उदय की जवर्दस्ती से आत्मा के वश के विना कर्म उदय होता है वह तो वन्ध के ही लिये है और मोक्ष के लिये तो एक परम ज्ञान ही है । वह ज्ञान, कर्म से आप ही रहित है, कर्म के करने में अपने स्वामित्वरूप कर्तृत्व का भाव नहीं है ।

भावार्थ—जवतक कर्म का उदय है, तब तक कर्म तो अपना कार्य करता ही है और वहीं पर ज्ञान है, वह भी अपना कार्य करता है । एक ही आत्मा में ज्ञान और कर्म दोनों के इकट्ठे रहने में भी विरोध नहीं आता । जैसे मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान का परस्पर विरोध है, उस प्रकार कर्मसामान्य के और ज्ञान के विरोध नहीं है ॥११०॥

मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति ये,
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमाः।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सततं ज्ञानं भवन्तः स्वयं,
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥१११॥
भेदोन्मादभ्रमरसभराञ्चाटयत्पीतमोहं,-
मूलोन्मूलं सकलमपि तत्कर्म कृत्वा बलेन।

दुपादेयः परम्परया जीवस्य पवित्रताकारणत्वात् पवित्रस्तथापि बहिर्द्रव्यालम्बनत्वेन पराधीनत्वात्पतति नश्यतीत्येकं कारणम्। निर्विकल्पसमाधिरतानां व्यवहारविकल्पालम्बनेन स्वरूपात्पतितं भवतीति द्वितीयं कारणम्। इति निश्चयनयापेक्षया पापम्। अथवा सम्यक्त्वादिविपक्षभूतानां मिथ्यात्वादीनां व्याख्यानं कृतमिति वा

आगे कर्म और ज्ञान का नयविभाग दिखलाते हैं—मग्नाः इत्यादि। अर्थ—जो कोई कर्म नय के अवलम्बन में तत्पर हैं, उसके पक्षपाती हैं, वे भी डूब जाते हैं। जो ज्ञान को तो जानते नहीं और ज्ञाननय के पक्षपाती हैं वे भी डूबते हैं। जो क्रियाकांड को छोड़ स्वच्छन्द हो प्रमादी हुए स्वरूप में मन्द उद्यमी हैं, वे भी डूबते हैं। किन्तु जो आप निरन्तर ज्ञानरूप हुए कर्म को तो करते नहीं तथा प्रमाद के वश भी नहीं होते स्वरूप में उत्साहवान हैं, वे सब लोक के ऊपर तैरते हैं।

भावार्थ—यहाँ सर्वथा एकान्त अभिप्राय का निषेध किया गया है क्योंकि सर्वथा एकान्त का अभिप्राय होना ही मिथ्यादृष्टि है। जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप को तो जानता नहीं है और व्यवहार दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप क्रियाकांड के आडम्बर को ही मोक्ष का कारण जान उसमें ही तत्पर रहता है, उसी का पक्षपात करता है, यह कर्मनय है। इसके पक्षपाती, ज्ञान को तो जानते नहीं हैं और इस कर्मनय में ही खेदखिन्न हैं वे संसार समुद्र में डूबते हैं। और जो परमार्थभूत आत्मस्वरूप को यथार्थ तो जानते नहीं हैं तथा मिथ्यादृष्टि सर्वथा एकान्तियों के उपदेश से अथवा स्वयमेव कुछ अन्तरङ्ग में ज्ञान का स्वरूप मिथ्या कल्पना करके उसमें पक्षपात करते हैं और व्यवहारदर्शन, ज्ञान और चारित्र के क्रियाकाण्ड को निरर्थक जान छोड़ देते हैं, ज्ञाननय के पक्षपाती भी हैं वे भी संसार समुद्र में डूबते हैं, क्योंकि बाह्यक्रियाकाण्ड को छोड़ स्वेच्छाचारी रहते हैं, स्वरूप में मंद उद्यमी रहते हैं। इसलिये जो पक्षपात का अभिप्राय छोड़ निरन्तर ज्ञानरूप हुए कर्मकाण्ड को छोड़ते हैं और निरन्तर ज्ञानस्वरूप में 'जबतक न थंभा जाय तबतक' अशुभकर्म को छोड़ स्वरूप के साधनरूप शुभ कर्मकाण्ड में प्रवर्तते हैं, वे कर्म का नाश कर संसार से निवृत्त होते हैं, वे ही सब लोकों के ऊपर रहते हैं ॥१११॥

आगे इस पुण्यपापाधिकार को सम्पूर्ण कर ज्ञान की महिमा बताते हैं—भेदोन्मादं इत्यादि। अर्थ—ज्ञानज्योति अतिशय से उदय को प्राप्त हुई सब जगह फैली है। उस ज्योति ने लीलामात्र में उघड़ी अपनी परमकला केवलज्ञान के साथ क्रीड़ा आरम्भ की है। यहाँ ऐसा अभिप्राय समझना कि जब तक सम्यग्दृष्टि छद्मस्थ है, तब तक तो वह अपनी ज्ञान परमकला-केवल ज्ञान

हेलोन्मीलत्परमकलया सार्धमारब्धकेलि,
ज्ञानज्योतिः कवलिततमः प्रोज्जजृम्भे भरेण ॥११२॥

इति पुण्यपापरूपेण द्विपात्रीभूतमेकपात्रीभूय कर्म निष्क्रान्तम् ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
पुण्यपापप्ररूपकः तृतीयोऽङ्कः ॥ ३ ॥

पापाधिकारः । तत्रैवं सति व्यवहारनयेन पुण्यपापरूपेण द्विभेदमपि कर्म निश्चयेन शृङ्गार-रहितपात्रवत्पुद्गल-रूपेणैकीभूय निष्क्रान्तम् ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ
स्थलत्रयसमुदायेनैकोनविंशतिगाथाभिश्चतुर्थः पुण्यपापाधिकारः समाप्तः ॥३॥

के साथ शुद्धनय के वल से परोक्ष क्रीड़ा करता है और जब केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है तब साक्षात् क्रीड़ा करता है; उस ज्योति ने अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर दिया है, ऐसी ज्ञानज्योति पूर्वोक्त शुभअशुभरूप समस्त कर्मो को अपनी शक्ति से मूल से उखाड़ करके प्रकट हुई है । उस कर्म ने मोह पी लिया है इसीलिये भ्रम के रस के भार से शुभ अशुभ के भेद रूप उन्माद को उत्पन्न करता है ।

भावार्थ—ज्ञानज्योति, अपने प्रतिबंधक कर्म को जो कि भेद रूप होकर नृत्य करता था, ज्ञान भुला देता था उस कर्म को अपनी शक्ति से नष्ट करके आप अपने सम्पूर्ण रूप सहित प्रकाश-रूप हुई । यहाँ अभिप्राय ऐसा जानना कि कर्म सामान्यरूप से एक ही है तो भी शुभ-अशुभ दो भेदरूप स्वांग बनाकर रङ्गभूमि में उसने प्रवेश किया था । जब उसे ज्ञान ने यथार्थ एक जान लिया तब कर्म रङ्गभूमि से निकल गया । उसके बाद ज्ञान अपनी शक्ति से यथार्थ प्रकाशरूप हुआ । इस प्रकार कर्म नृत्य के अखाड़े में पुण्यपाप रूप कर दो नृत्यकारिणी बनकर नाचता था, उसे ज्ञान ने यथार्थ जान लिया कि कर्म एक ही है, तब एकरूप होकर निकल गया ॥११२॥

सवैया—आश्रयकारणरूप सवादसुं भेद विचारि गिनें दोउ न्यारे,
पुण्यरु पाप शुभाशुभभावनि बंधभये सुखदुःख करारे ।
ज्ञान भये दोऊ एक लखैं बुध आश्रय आदि समान विचारे,
बंध के कारण हैं दोऊ रूप इन्हें तजि जिनमुनि मोक्ष पधारे ॥१॥

इति श्री पं० जयचंद्रजी कृत इस समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नाम टीका की
भाषा-वचनिका में तीसरा पुण्यपाप नामक अधिकार पूर्ण हुआ ॥३॥

अथ आस्रवाधिकार ॥ ४ ॥

अथ प्रविशत्यास्रवः ।

अथ महामदनिर्भरमन्थरं समररङ्गपरागतमास्रवम् ।
अयमुदारगभीरमहोदयो जयति दुर्जयबोधधनुर्धरः ॥११३॥

अथ प्रविशत्यास्रवः । यत्र सम्यग्भेदभावनापरिणतः कारणसमयसाररूपः संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवतीति संवरविपक्षद्वारेण सप्तदशगाथापर्यन्तमास्रवव्याख्यानं करोति । तत्र प्रथमतस्तावत्, वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहरूपा आस्रवा न सन्तीति संक्षेपेण संवरव्याख्यानरूपेण 'मिच्छत्तं अविरमणं' इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं रागद्वेषमोहास्रवाणां पुनरपि विशेषविवरणमुख्यत्वेन 'भावो रागादिजुदो' इत्यादि स्वतन्त्रगाथात्रयम् । ततः परं केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपकार्यसमयसारकारणभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतस्य संज्ञानिजीवस्य रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यत्वेन चउविह इत्यादि गाथात्रयम् । अतः परं तस्यैव ज्ञानिनो जीवस्य मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययास्तित्वेऽपि वीतरागचारित्रभावनाबलेन रागादिभावप्रत्ययनिषेधमुख्यतया सव्वे पुव्वणिबद्धा इत्यादि सूत्रचतुष्टयम् । तदनन्तरं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणं भवन्ति, तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणव्याख्यानमुख्यत्वेन रागो दोसो इत्यादि सूत्रचतुष्टयं कथयति, इति समुदायेन सप्तदशगाथाभिः पञ्चस्थलैः आस्रवाधिकारसमुदायपातनिका । अथ द्रव्यभावास्रवस्वरूपं कथयति;—मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु सण्णसण्णा इत्यत्र प्राकृतलक्षण-

---

अब आस्रव का अधिकार है ।

दोहा—द्रव्यास्रवतैं भिन्न ह्वै, भावास्रव करि नास ।
भये सिद्ध परमातमा, नमूं तिनहिं सुख आस ॥

अब यहाँ आश्रव प्रवेश करता है । जैसा नृत्य के अखाड़े में नाचने वाला स्वांग कर प्रवेश करता है, उसी प्रकार यहाँ आस्रव का स्वांग है । वहाँ इस स्वांग को यथार्थ जानने वाला जो सम्यग्ज्ञान है, उसकी महिमारूप मंगल करते हैं—अर्थ—इत्यादि । 'अर्थ—अथ' शब्द मंगल तथा प्रारम्भवाची है सो यहां से आगे कहते हैं—जो किसी से नहीं जीता जा सके ऐसा यह अनुभव गोचर धनुषधारी ज्ञानरूपी सुभट आस्रव को जीतता है । यह ज्ञानरूप सुभट अमर्याद है इसकी थाह छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) नहीं पा सकता और महान् उदय वाला है । तथा आस्रव महान् मद से उन्मत्त है तथा संग्राम की भूमि में आ गया है ।

भावार्थ—यहाँ नृत्य के अखाड़े में आस्रव ने प्रवेश किया है । नृत्य में अनेक रसों का वर्णन होता है इसलिये रसवत् अलंकार से शांत रस में वीररस की प्रधानता से वर्णन किया है कि ज्ञान रूप धनुषधारी आस्रव को जीतता है । वह आस्रव जगत् को जीत मन्दोन्मत्त हुआ संग्राम की रङ्गभूमि में आकर खड़ा हो गया, तब इससे भी बलवान सुभट ज्ञान उसी समय उस आस्रव को जीत लेता है अर्थात् अन्तर्मुहूर्त में कर्म का नाश करके केवलज्ञान उत्पन्न कर देता है । ऐसी ज्ञान की सामर्थ्य है ॥११३॥

तत्रास्रवस्वरूपमभिदधाति—

मिच्छत्तं अविरमणं कसायजोगा य सण्णसण्णा दु ।
बहुविहभेया जीवे तस्सेव अणण्णपरिणामा ॥१६४॥
णाणावरणादीयस्य ते दु कम्मस्स कारणं होंति ।
तेसिंपि होदि जीवो य रागदोसादिभावकरो ॥१६५॥
(युगलम्)

मिथ्यात्वमविरमणं कषाययोगौ च संज्ञासंज्ञास्तु ।
बहुविधभेदा जीवे तस्यैवानन्यपरिणामाः ॥१६४॥
ज्ञानावरणाद्यस्य ते तु कर्मणः कारणं भवन्ति ।
तेषामपि भवति जीवः च रागद्वेषादिभावकरः ॥१६५॥

रागद्वेषमोहा आस्रवा इह हि जीवे स्वपरिणामनिमित्ताः, अजडत्वे सति चिदा-

---

बलात् अकारलोपो द्रष्टव्यः। मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः, कथंभूताः; भावप्रत्ययद्रव्यप्रत्ययरूपेण संज्ञाऽसंज्ञाश्चेतनाचेतनाः । अथवा संज्ञाः, आहारभयमैथुनपरिग्रहरूपाः, असंज्ञाः ईषत्संज्ञाः, इहलोकाकांक्षाऽपरलोकाकांक्षाकुधर्माकांक्षारूपास्तिस्रः । कथंभूताः, एते बहुविभेदा जीवे । उत्तरप्रत्ययभेदेन बहुधा विविधाः, क्व ? जीवे, अधिकरणभूते । पुनरपि कथंभूताः । तस्सेव अणण्णपरिणामा अनन्यपरिणामाः अभिन्नपरिणामाः तस्यैव जीवस्याशुद्धनिश्चयनयेनेति । णाणावरणादीयस्स ते दु कम्मस्स कारणं होंति ते च पूर्वोक्तद्रव्यप्रत्ययाः उदयागताः सन्तः निश्चयचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपच्युतानां जीवानां ज्ञानावरणाद्यष्टविधस्य द्रव्यकर्मास्रवस्य कारणभूता भवन्ति । तेंसिंपि होदि जीवो रागदोसादिभावकरो तेषां च द्रव्यप्रत्ययानां जीवः कारणं भवति । कथंभूतः ? रागद्वेषादिभावकरः रागद्वेषादिभावपरिणतः । अयमत्र

आगे आस्रव का स्वरूप कहते हैं—[मिथ्यात्वं अविरमणं] मिथ्यात्व अविरति [कषाययोगौ च] और कषाय योग [संज्ञासंज्ञाः तु] ये चार आस्रव के भेद चेतना के और जड़-पुद्गल के विकार ऐसे दो दो भेद भिन्न भिन्न हैं। उनमें से जो चेतन के विकार हैं वे [जीवे] जीव में [बहुविधभेदाः] बहुत भेद लिये हुए हैं वे [तस्यैव अनन्यपरिणामाः] उस जीव के ही अभेदरूप परिणाम हैं और जो मिथ्यात्व आदि पुद्गल के विकार हैं [ते तु] वे तो [ज्ञानावरणाद्यस्य] ज्ञानावरण आदि [कर्मणः] कर्मों के बंधने के [कारणं] कारण [भवन्ति] हैं (च) और [तेषामपि] उन मिथ्यात्व आदि भावों को भी [रागद्वेषादिभावकरः] रागद्वेष आदि भावों का करने वाला [जीवः] जीव [भवति] कारण होता है।

टीका—इस जीव में रागद्वेष मोह ही आस्रव हैं। उनको अपना परिणाम निमित्त है इसीलिये वे जड़ भी नहीं हैं। ऐसा होने पर वे चिदाभास हैं, जिनमें चैतन्य का आभास है; क्योंकि मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग पुद्गल के परिणाम हैं, वे ज्ञानावरण आदि पुद्गलों के आने के

भासाः, मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगाः पुद्गलपरिणामाः, ज्ञानावरणादिपुद्गलकर्मास्रवणनिमित्तत्वात्किलास्रवाः। तेषां तु तदास्रवणनिमित्तत्वनिमित्तम् अज्ञानमया आत्मपरिणामा रागद्वेषमोहाः। तत आस्रवणनिमित्तत्वनिमित्तत्वाद्रागद्वेषमोहा एवास्रवाः, ते चाज्ञानिन एव भवन्तीति अर्थादेवापद्यते ॥१६४।१६५॥

अथ ज्ञानिनस्तदभावं दर्शयति—

णत्थि दु आसवबंधो सम्मादिट्ठिस्स आसवणिरोहो।
संते पुव्वणिबद्धे जाणदि सो ते अबंधंतो ॥१६६॥

नास्ति त्वास्रवबन्धः सम्यग्दृष्टेरास्रवनिरोधः।
सन्ति पूर्वनिबद्धानि जानाति स तान्यबध्नन् ॥१६६॥

भावार्थः—द्रव्यप्रत्ययोदये सति शुद्धात्मस्वरूपभावनां त्यक्त्वा यदा रागादिभावेन परिणमति तदा बन्धो भवति नैवोदयमात्रेण। यदि उदयमात्रेण बन्धो भवति तदा सर्वदा संसार एव। कस्मात्। इति चेत् संसारिणां सर्वदैव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्। तर्हि कर्मोदयो बन्धकारणं न भवति? इति चेत् तन्न निर्विकल्पसमाधिभ्रष्टानां मोहसहितकर्मोदयो व्यवहारेण निमित्तं भवति। निश्चयेन पुनः अशुद्धोपादानकारणं स्वकीयरागाद्यज्ञानभाव एव भवति ॥१६४।१६५॥ अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागद्वेषमोहरूपभावास्रवाणामभावं

निमित्त हैं, उस रूप से वे प्रकट आस्रव हैं। तथा उन मिथ्यात्वादिकों को ज्ञानावरणादि कर्मों के आगमन की निमित्तता होने के कारण आत्मा के अज्ञानमय राग, द्वेष, मोह परिणाम हैं इसलिये मिथ्यात्व आदि के कर्म के आस्रव को निमित्तता की हेतुता से राग द्वेष मोह ही आस्रव हैं वे अज्ञानी के ही होते हैं ऐसा तात्पर्य से अर्थ निकलता है।

भावार्थ—ज्ञानावरणादि कर्मों के आने का कारण तो मिथ्यात्वादि कर्म के उदय रूप पुद्गल के परिणाम हैं और उन कर्मों के आने का निमित्त जीव के राग द्वेष मोह रूप परिणाम हैं, उनको चिद्विकार भी कहते हैं, वे जीव के अज्ञान अवस्था में होते हैं। सम्यग्दृष्टि के अज्ञान अवस्था होती नहीं क्योंकि मिथ्यात्व सहित ज्ञान को अज्ञान कहते हैं। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हो गया है इसलिये वे ज्ञान अवस्था में नहीं हैं। तथा अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदय से जो रागादिक होते हैं, उनका यह स्वामी नहीं है, उदयकी जबरदस्ती है, उनको वह रोग के समान समझ मेंटना चाहता है। इस अपेक्षा से इन से राग नहीं है। इसलिये मिथ्यात्वसहित जो रागादिक होते हैं, वे ही अज्ञानमय राग द्वेष मोह हैं, वे सम्यग्दृष्टि के नहीं हैं ॥१६४।१६५॥

आगे ज्ञानी के उन आस्रवों का अभाव दिखलाते हैं;—[सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [आस्रवबन्धः] आस्रव बन्ध [नास्ति] नहीं है [तु] किन्तु [आस्रवनिरोधः] आस्रव का निरोध है [पूर्वनिबद्धानि] और जो पहले के बांधे हुए [सन्ति] सत्ता में मौजूद हैं [तानि] उनको [अबध्नन्] आगामी नहीं बांधता हुआ [सः] वह [जानाति] जानता ही है।

यतो हि ज्ञानिनो ज्ञानमयैर्भावैरज्ञानमया भावाः परस्परविरोधिनो अवश्यमेव निरुध्यन्ते। ततोऽज्ञानमयानां भावानां रागद्वेषमोहानां आस्रवभूतानां निरोधात् ज्ञानिनो भवत्येव आस्रवनिरोधः। अतो ज्ञानी नास्रवनिमित्तानि पुद्गलकर्माणि बध्नाति, नित्यमेवाकर्तृत्वात्तानि नवानि न बध्नन् सदवस्थानि पूर्वबद्धानि ज्ञानस्वभावत्वात्केवलमेव जानाति ॥१६६॥

दर्शयति;—णत्थि इत्यादि पदखण्डनारूपेण व्याख्यानं क्रियते। **णत्थि दु आसववंधो सम्मादिट्ठिस्स** आसवणिरोहो न भवतः, न विद्येते। कौ? तौ आस्रवबन्धौ। गाथायां पुनः समाहारद्वन्द्वसमासापेक्षया द्विवचनमप्येकवचनं कृतं। कस्यास्रवबन्धौ न स्तः? सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य। तर्हि किमस्ति? आस्रवनिरोधलक्षणसंवरोऽस्ति सो स सम्यग्दृष्टिः संते सन्ति विद्यमानानि से तानि पुव्वणिबद्धे पूर्वनिबद्धानि ज्ञानावरणादिकर्माणि। अथवा प्रत्ययापेक्षया पूर्वनिबद्धान् मिथ्यात्वादिप्रत्ययान् जाणदि जानाति वस्तुस्वरूपेण जानाति। किं कुर्वन् सन्? अबंधंतो विशिष्टभेदज्ञानबलात्रवतराण्यभिनवान्यवध्नन्—अनुपार्जयन् इति। अयमत्र भावार्थः। सरागवीतरागभेदेन द्विधा सम्यग्दृष्टिर्भवति। तत्र योऽसौ सरागसम्यग्दृष्टिः,

सोलसपणवीसणभं दसचउछक्केक्क बंधवोछिण्णा।
दुगतीसचदुरपुव्वे पणसोलसजोगिणो इक्को॥ गो० कर्म० ९४॥

इत्यादि बन्धत्रिभङ्गकथितबन्धविच्छेदक्रमेण मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबन्धकः सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बन्धकोऽपि सन् संसारस्थितिच्छेदको भवति। तेन कारणेनाबन्धक

टीका—जिस कारण निश्चय से ज्ञानी के अज्ञानमय भाव हैं वे अवश्य निरोध रूप (अभाव रूप) होते हैं, ज्ञानमय भावों से अज्ञानमय भाव रुक जाते हैं और जिस कारण वे परस्पर विरोधी हैं, विरोधियों का एक जगह रहना होता नहीं है, इस कारण राग द्वेष मोह भाव हैं वे अज्ञानमय हैं, आस्रव स्वरूप हैं, उनके निरोध से ज्ञानी के आस्रव का निरोध होता ही है। इसलिये ज्ञानी, आस्रव निमित्तवाले ज्ञानावरण आदि पुद्गल कर्मों को नहीं बांधता। जिस कारण सदा उन कर्मों का अकर्ता है, इस कारण कर्मों को नवीन नहीं बांधता जो पहले बंधे हुए थे वे सत्तारूप अवस्थित हैं, उनको केवल जानता ही है क्योंकि ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है कर्ता स्वभाव नहीं है, कर्ता होवे तो बांधे।

भावार्थ—ज्ञानी हुए बाद अज्ञान रूप राग-द्वेष मोह भावों का निरोध है, राग-द्वेष मोह का निरोध होने पर मिथ्यात्व आदि आस्रव भावों का निरोध होता है और आस्रव के निरोध से नवीन बन्ध का निरोध होता है। तथा जो पूर्व बंधे हुए सत्ता में स्थित हैं, उनका ज्ञाता ही रहता है कर्ता नहीं होता और जब कर्ता नहीं हुआ तब ज्ञानी का ज्ञान ही स्वभाव है। यद्यपि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्र मोह का उदय है, उसको ऐसा जानना कि यह उदय की बलवत्ता है, वह अपनी शक्ति के अनुसार उनको रोग रूप जानकर काटता ही है इसलिये हुए भी अनहुए सरीखे कहे जाते हैं, वे आगामी सामान्य संसार के बन्धरूप नहीं है। जो अल्पस्थिति अनुभागरूप बन्ध करते हैं, वे अज्ञान के पक्ष में नहीं गिने। अज्ञान के पक्ष में तो मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी के निमित्त से बन्धता है, वह गिना जाता है इस प्रकार ज्ञानी के आस्रव का बन्ध नहीं गिना ॥१६६॥

अथ रागद्वेषमोहानामास्रवत्वं नियमयति—

भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो भणिदो ।
रायादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरिं ॥१६७॥

भावो रागादियुतः जीवेन कृतस्तु बन्धको भणितः ।
रागादिविप्रमुक्तोऽबन्धको ज्ञायको नवरि ॥१६७॥

इह खलु रागद्वेषमोहसंपर्कजोऽज्ञानमय एव भावः, अयस्कान्तोपलसंपर्कज इव कालायससूचीं कर्म कर्तुमात्मानं चोदयति । तद्विवेकजस्तु ज्ञानमयः, अयस्कान्तोपलविवेकज इव कालायससूचीमकर्मकरणोत्सुकमात्मानं स्वभावेनैव स्थापयति । ततो रागादिसंकीर्णोऽज्ञानमय एव कर्तृत्वे चोदकत्वाद्बन्धकः । तदसंकीर्णस्तु स्वभावोद्भासकत्वात्केवलं ज्ञायक एव, न मनागपि बन्धकः ॥१६७॥

इति । तथैवाविरतिसम्यग्दृष्टेर्गुणस्थानादुपरि यथासंभवं सरागसम्यक्त्वपर्यंतं, अधस्तनगुणस्थानापेक्षया तारतम्येनाबन्धकः । उपरिमगुणस्थानापेक्षया पुनर्बन्धकः । ततश्च वीतरागसम्यक्त्वे जाते साक्षादबन्धको भवति, इति मत्वा वयं सम्यग्दृष्टयः सर्वथा बन्धो नास्तीति न वक्तव्यं । इति आस्रवविपक्षद्वारेण संवरस्य संक्षेपसूचनव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१६६॥ अथ रागद्वेषमोहरूपभावनामास्रवत्वं निश्चिनोति;—भावो रागादिजुदो जीवेण कदो दु बंधगो होदि यथा अयस्कान्तोपलसंपर्कजो भावः परिणतिविशेषः, कालायससूचि

आगे राग द्वेष मोह इनके ही आस्रवत्व का नियम करते हैं;—[रागादियुक्तो भावः] जो रागादि से युक्त भाव [जीवेन कृतः] जीव के द्वारा किया गया हो [तु] वही [बन्धको भणितः] नवीन कर्म का बंध करने वाला कहा गया है और जो [रागादिविप्रमुक्तः] रागादिकभावों से रहित है वह [अबन्धकः] बंध करने वाला नहीं है [केवलं] केवल [ज्ञायकः] जानने वाला ही है ।

टीका—इस आत्मा में निश्चय से जो राग द्वेष मोह के मिलाप से उत्पन्न हुआ भाव है वह अज्ञानमय ही है । जैसे चुम्बक पत्थर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ भाव लोहे की सुई को चलाता है, उसी प्रकार वह अज्ञान भाव आत्मा को कर्म करने के लिये प्रेरणा करता है तथा उन रागादिकों के भेद ज्ञान से उत्पन्न हुआ जो भाव है, वह ज्ञानमय है । जैसे चुंबक पाषाण के संसर्ग बिना सुई का स्वभाव चलने रूप नहीं है उसी प्रकार आत्मा को कर्म करने में अनुत्साह रूप स्वभाव से स्थापित करता है । इसलिये रागादिकों से मिला हुआ अज्ञानमय भाव ही कर्म के कर्तृत्व में प्रेरक है इस कारण नवीन बंध का करने वाला है तथा रागादिक से न मिला हुआ भाव ही अपने स्वभाव का प्रकट करने वाला है । वह केवल जानने वाला ही है, वह नवीन कर्म का किंचिन्मात्र भी बंध करने वाला नहीं है ।

भावार्थ—रागादिक के मिलाप से हुआ अज्ञानमय भाव ही बंध करने वाला है और रागादिक से नहीं मिला ज्ञानमय भाव बंध का करने वाला नहीं है, यह नियम है ॥१६७॥

अथ रागाद्यसंकीर्णभावसंभवं दर्शयति—

पक्के फलम्हि पडिए जह ण फलं बज्झए पुणो विंटे।
जीवस्स कम्मभावे पडिए ण पुणोदयमुवेई ॥१६८॥

पक्वे फले पतिते यथा न फलं बध्यते पुनर्वृन्ते।
जीवस्य कर्मभावे पतिते न पुनरुदयमुपैति ॥१६८॥

यथा खलु पक्वं फलं वृन्तात्सकृद्विश्लिष्टं सन्न पुनर्वन्तसंबन्धमुपैति तथा कर्मोदयजो भावो जीवभावात्सकृद्विश्लिष्टः सन्, न पुनर्जीवभावमुपैति। एवं ज्ञानमयो रागाद्यसंकीर्णो भावः संभवति ॥१६८॥

प्रेरयति तथा जीवेन कृतो रागाद्यज्ञानजो भावः परिणतिविशेषः कर्ता, शुद्धस्वभावेन सानन्दमव्ययमनादिमनन्तशक्तिमुद्योतिनं निरुपलेपगुणमपि जीवं शुद्धस्वभावात्प्रच्युतं कृत्वा कर्मवन्धं कर्तुं प्रेरयति। रागादिविप्पमुक्को अबंधगो जाणगो णवरि यथा चायस्कान्तोपलसंपर्करहितो भावः परिणतिर्तुविशेषः कालायससूचिं न प्रेरयति तथा रागाद्यज्ञानविप्रमुक्तो भावस्त्ववन्धकः सन् नवरि किंतु जीवं कर्मवन्धं कर्तुं न प्रेरयति। तर्हि किं करोति? पूर्वोक्तशुद्धस्वभावेनैव स्थापयति। ततो ज्ञायते निरुपरागचैतन्यचिच्चमत्कारमात्रपरमात्मपदार्था-

---

आगे रागादिक से न मिले ज्ञानमय भाव की संभावना दिखलाते हैं;—[यथा] जैसे [फले] वृक्ष तथा वेलि का फल [पक्वे पतिते] पककर गिर जाय वह [पुनः] फिर [वृन्ते] गुच्छे में [न बध्यते] नहीं बंधता, उसी तरह [जीवस्य] जीव में [कर्मभावे] पुद्गल कर्मभाव रूप [पतिते] पक कर झड़ जाय अर्थात् निर्जरा हो गई हो वह कर्म [पुनः] फिर [उदयं] उदय को [न उपैति] प्राप्त नहीं होता।

टीका—जैसे यह प्रकट है कि पका हुआ फल गुच्छे से एक बार गिर जाय तो वह फल फिर गुच्छे से सम्बन्धित नहीं होता, उसी प्रकार कर्म के उदय से उत्पन्न हुआ जीव का भाव एक बार भी जीव से पृथक् हो जाय तो जीव भाव को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार रागादिक से मिला हुआ ही ज्ञानभाव संभव है।

भावार्थ—कर्म की निर्जरा होने के बाद वह कर्म फिर उदय में नहीं आता, तब ज्ञानमय ही भाव रह जाता है। इस प्रकार जब जीव का मिथ्यात्व कर्म अनंतानुबंधी सहित सत्ता में से क्षय हो जाता है तब फिर उदय में नहीं आता, तब ज्ञानी हुआ वह फिर कर्म का कर्ता नहीं होता। मिथ्यात्व के साथ रहने वाली प्रकृतियां तो बंधतीं नहीं और अन्य प्रकृति सामान्य संसार का कारण नहीं है। मूल से कटे हुए वृक्ष के हरे पत्ते के समान हैं, वे शीघ्र ही सूखने योग्य हैं। इस प्रकार ज्ञानी का रागादिक से न मिला हुआ ज्ञानमय भाव संभव होता है, चारित्र मोह के उदय का राग अज्ञानमय नहीं गिना जाता क्योंकि सम्यग्दृष्टि के उसका स्वामित्व नहीं है ॥१६८॥

भावो[1] रागद्वेषमोहैर्विना यो जीवस्य स्याद् ज्ञाननिर्वृत्त एव ।
रुन्धन् सर्वान्[2] द्रव्यकर्मास्रवौघान् एषोऽभावः सर्वभावास्रवाणाम् ॥११४॥

अथ ज्ञानिनो द्रव्यास्रवाभावं दर्शयति;—

पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा दु पच्चया तस्स ।
कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स ॥१६९॥

पृथ्वीपिण्डसमानाः पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययास्तस्य ।
कर्मशरीरेण तु ते बद्धाः सर्वेऽपि ज्ञानिनः ॥१६९॥

ये खलु पूर्वमज्ञानेनैव बद्धा मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगा द्रव्यास्रवभूताः प्रत्ययाः, ते ज्ञानिनो द्रव्यान्तरभूता अचेतनपुद्गलपरिणामत्वात् पृथ्वीपिण्डसमानाः । ते तु

द्भिन्ना रागद्वेषमोहा एव बन्धकारणमिति ॥१६७॥ अथ रागादिरहितशुद्धभावस्य संभवं दर्शयति;—पक्के फलम्मिपडिदे जह ण फलं बज्झदे पुणो विंटे यथा पक्वे फले पतिते सति पुनरपि तदेव फलं वृंते न बध्यते । जीवस्स कम्मभावे पडिदे ण पुणोदयमुवेहि तथा तत्त्वज्ञानिनो जीवस्य सातासातोदयजनितसुखदुःखरूपकर्मभावे

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं भावो इत्यादि । अर्थ—जो जीव का रागद्वेष मोह के विना भाव होता है, वह भाव ज्ञान के द्वारा ही रचा हुआ है, यह भाव सब द्रव्यास्रवों को रोकने वाला है इसलिये सभी भावास्रवों का अभाव कहना चाहिए ।

भावार्थ—यहाँ सब भावास्रवों का अभाव कहा है । वह इस कारण कि संसार का कारण मिथ्यात्व ही है उस सम्बन्धी रागादिक का अभाव हुआ तो सभी भावास्रवों का अभाव हो गया समझना ॥११४॥

आगे ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव दिखलाते हैं;—[तस्य ज्ञानिनः] उस पूर्वोक्त ज्ञानी के [पूर्वनिबद्धाः] पहले अज्ञान अवस्था में बंधे हुए [सर्वेऽपि] सभी [प्रत्ययाः] कर्म [पृथिवीपिण्डसमानाः] जीव के रागादि भावों के हुए बिना पृथ्वी के पिंड समान हैं जैसे मिट्टी आदि अन्य पुद्गलस्कन्ध हैं उसी तरह वे भी हैं [तु] और वे [कर्मशरीरेण बद्धाः] कार्मण शरीर के साथ बंधे हुए हैं ।

टीका—जो पहले अज्ञान से बांधे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, योग रूप द्रव्यास्रवभूत प्रत्यय हैं वे ज्ञानी के अन्य द्रव्यरूप अचेतन पुद्गल द्रव्य के परिणाम होने से पृथिवी के पिण्ड समान हैं । वे सभी अपने पुद्गलस्वभाव से कार्मण शरीर से ही एक होकर बंधे हैं परन्तु जीव से नहीं बंधे हैं । इस कारण ज्ञानी के द्रव्यास्रव का अभाव स्वभाव से ही सिद्ध है ।

भावार्थ—जब से आत्मा ज्ञानी हुआ, तब से ज्ञानी के भावास्रव का तो अभाव हुआ ही और द्रव्यास्रव हैं वह मिथ्यात्वादि पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं वे कार्मण शरीर से स्वयमेव बंध

---

१. सम्यक्त्वपूर्वः शुद्धस्वरूपानुभवः परिणामः । २. द्रव्यकर्मणां ज्ञानावरणादीनामास्रवः प्रतिसमयं धाराप्रवाहरूपतया आत्मप्रदेशैः सहान्योन्यानुगमः तस्यौघान् ।

सर्वेऽपि स्वभावत एव कार्मणशरीरेणैव सम्बद्धाः न तु जीवेन, अतः स्वभावसिद्ध एव द्रव्यास्रवाभावो ज्ञानिनः ॥१६९॥

भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो द्रव्यास्रवेभ्यः स्वत एव भिन्नः ।
ज्ञानी सदा ज्ञानमयैकभावो निरास्रवो ज्ञायक एक एव ॥११५॥

कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति चेत्—

चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं ।
समये समये जम्हा तेण अबंधोत्ति णाणी दु ॥१७०॥

चतुर्विधा अनेकभेदं बध्नन्ति ज्ञानदर्शनगुणाभ्याम् ।
समये समये यस्मात् तेनाबन्ध इति ज्ञानी तु ॥१०७॥

ज्ञानी हि तावदास्रवभावभावनाभिप्रायाभावान्निरास्रव एव । यत्तु[1] तस्यापि द्रव्यप्रत्ययाः प्रतिसमयमनेकप्रकारं पुद्गलकर्म प्रतिबध्नन्ति तत्र ज्ञानगुणपरिणाम एव हेतुः ॥१७०॥

कर्मपर्याये पतिते गलिते निर्जीर्णे सति रागद्वेषमोहाभावात् पुनरपि तत्कर्म बन्धं नायाति, नैवोदयं च । ततो रागाद्यभावात् शुद्धभावः संभवति । तत एव च सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य निर्विकारस्वसंवित्तिबलेन संवरपूर्विका निर्जरा भवतीत्यर्थः ॥१६८॥ अथ ज्ञानिनो नवतरद्रव्यास्रवाभावं दर्शयति,—पुढवीपिंडसमाणा पुव्वणिबद्धा

रहे हैं, जैसे अन्य मृत्तिका के पिण्ड हैं, वैसे वे भी हैं। भावास्रव के बिना वे आगामी कर्मबंध के कारण नहीं हैं और पुद्गलमय हैं इस कारण अमूर्तीक चैतन्यस्वरूप जीव से स्वयमेव ही भिन्न हैं, ऐसा ज्ञानी जानता है ॥१६९॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—भावा इत्यादि। अर्थ—यह ज्ञानी भावास्रव के अभाव को प्राप्त हुआ है इसलिये द्रव्यास्रव से तो स्वयमेव ही भिन्न है, क्योंकि ज्ञानी तो सदा ज्ञानमय ही (एक) भाववाला है, इस कारण निरास्रव ही है, ज्ञायक ही है।

भावार्थ—भावास्रव जो राग द्वेष मोह उनका तो ज्ञानी के अभाव हो गया है और द्रव्यास्रव हैं वे पुद्गलपरिणाम हैं, उनसे सदा ही स्वयमेव भिन्न है, इसलिये ज्ञानी निरास्रव ही है ॥११५॥

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी निरास्रव किस तरह है? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं :—[यस्मात्] जिस कारण [चतुर्विधाः] चार प्रकार के जो पूर्व कहे गये मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय, योग आस्रव हैं वे [ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां] दर्शन ज्ञान गुणों द्वारा [समये समये] समय समय [अनेकभेदं] अनेक भेद लिये [बध्नन्ति] कर्मों को बांधते हैं [तेन] इस कारण [ज्ञानी तु] ज्ञानी तो [अबन्ध इति] अबन्धरूप ही है।

टीका—प्रथम ही ज्ञानी तो आस्रवभाव की भावना के अभिप्राय के अभाव से निरास्रव ही है और उस ज्ञानी के द्रव्यास्रव भी प्रति समय अनेक प्रकार के पुद्गल कर्मों को बांधता है, उसमें ज्ञानगुण का परिणमन कारण है ॥१७०॥

---

१. "ये तु" इत्यपि पाठः।

कथं ज्ञानगुणपरिणामो बन्धहेतुरिति चेत्—

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि ।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो ॥१७१॥

यस्मात्तु जघन्यात् ज्ञानगुणात् पुनरपि परिणमते ।
अन्यत्वं ज्ञानगुणः तेन तु स बन्धको भणितः ॥१७१॥

ज्ञानगुणस्य हि यावज्जघन्यो भावः, तावत् तस्यान्तर्मुहूर्तविपरिणामित्वात् पुनः पुनरन्यतयास्ति परिणामः । स तु यथाख्यातचारित्रावस्थाया अधस्तादवश्यंभाविरागसद्भावात् बन्धहेतुरेव स्यात् ॥१७१॥

दु पच्चया तस्स पृथ्वीपिण्डसमानाः अकिञ्चित्करा भवन्ति । के ते ? पूर्वनिबद्धाः मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः । कस्य ? तस्य वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य । यतो रागाद्यजनकत्वादकिञ्चित्करास्ततः कारणात्, नवतरद्रव्यकर्मबन्धो न भवति । तर्हि पृथ्वीपिण्डसमानाः सन्तः केन रूपेण तिष्ठन्ति ? कम्मसरीरेण दु ते बद्धा सव्वेपि णाणिस्स कार्मणशरीररूपेणैव ते सर्वे बद्धास्तिष्ठन्ति; न च रागादिभावपरिणतजीवरूपेण । कस्य ? निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदविज्ञानिनो जीवस्येति । किञ्च यद्यपि द्रव्यप्रत्ययाः कार्मणशरीररूपेण मुष्टिबद्धविषवत्तिष्ठन्ति तथापि उदयाभावे सुखदुःखविकृतिरूपां बाधां न कुर्वन्ति । तेन कारणेन ज्ञानिनो जीवस्य, नवतरकर्मास्रवाभाव इति भावार्थः । एवं रागद्वेषमोहरूपास्रवाणां विशेषविवरणरूपेण स्वतन्त्रगाथात्रयं गतम् ॥१६९॥ अथ कथं ज्ञानी निरास्रवः ? इति पृच्छति:—चहुविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं चहुविह इति बहुवचने प्राकृतलक्षणबलेन ह्रस्वत्वं । चतुर्विधा मूलप्रत्ययाः कर्तारः ज्ञानावरणादिभेदभिन्नमनेकविधं कर्म कुर्वन्ति । काभ्यां कृत्वा ? ज्ञानदर्शनगुणाभ्यां दर्शनज्ञानगुणौ कथं बन्धकारणभूतौ भवतः ? इति चेत्—अयमत्र भावः,

---

आगे फिर पूछते हैं कि ज्ञानगुण का परिणाम बन्ध का कारण कैसे है, उसके उत्तर की गाथा कहते हैं-:[यस्मात् तु] जिस कारण [ज्ञानगुणः] ज्ञानगुण [पुनरपि] फिर भी [जघन्यात् ज्ञानगुणात्] जघन्य ज्ञानगुण से [अन्यत्वं] अन्य रूप से [परिणमते] परिणमन करता है [तेन तु] इस कारण [सः] वह ज्ञानगुण [बन्धको भणितः] कर्म का बन्ध करने वाला कहा गया है ।

टीका—जब तक ज्ञानगुण का जघन्य भाव है-क्षयोपशमरूप भाव है, तब तक अन्तर्मुहूर्त विपरिणामी है, ज्ञानभावरूप अन्तर्मुहूर्त ही रहता है, उसके बाद अन्य प्रकार परिणमन करता है । वह यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्यंभावी रागपरिणाम का सद्भाव होने से बन्ध का कारण ही है ।

भावार्थ—क्षयोपशमज्ञान का एक ज्ञेयके ऊपर ठहरना अन्तर्मुहूर्त ही होता है, पीछे अवश्य अन्य ज्ञेयको अवलम्बन करता है । इस कारण स्वरूप में भी अन्तर्मुहूर्त ही ठहरना हो सकता है । इसलिये ऐसा अनुमान है कि यथाख्यात चारित्र अवस्था के नीचे अवश्य रागपरिणाम का सद्भाव है, उस राग के सद्भाव से बन्ध भी होता है । इसकारण ज्ञान गुणका जघन्य भाव बन्धका कारण कहा गया है ॥१७१॥

एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रवः इति चेत्—

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ।
णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण ॥१७२॥

दर्शनज्ञानचारित्रं यत्परिणमते जघन्यभावेन ।
ज्ञानी तेन तु बध्यते पुद्गलकर्मणा विविधेन ॥१७२॥

यो हि ज्ञानी स [1]बुद्धिपूर्वकरागद्वेषमोहरूपास्रवभावाभावात् निरास्रव एव, किन्तु सोऽपि यावज्ज्ञानं सर्वोत्कृष्टभावेन द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वाऽशक्तः सन्

द्रव्यप्रत्यया उदयमागताः सन्तः जीवस्य ज्ञानदर्शनगुणद्वयं रागाद्यज्ञानभावेन परिणमयन्ति, तदा रागाद्यज्ञानभावपरिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयं बन्धकारणं भवति। वस्तुतस्तु रागाद्यज्ञानभावेन परिणतं ज्ञानदर्शनगुणद्वयम् अज्ञानमेव,—भण्यते। ततएव 'अणणदंसणगुणेहिं' इति पाठान्तरं केचन पठन्ति। समए समय जम्हा तेण अवंधुत्ति णाणी दु समये समये यस्मात् प्रत्ययाः कर्तारः। ज्ञानदर्शनगुणं रागाद्यज्ञानभावपरिणतं कृत्वा नवतरं कर्म कुर्वन्ति। तेन कारणेन भेदज्ञानी बन्धको न भवति। किन्तु ज्ञानदर्शनरञ्जकत्वेन प्रत्यया एव बन्धकाः, इति ज्ञानिनो निरास्रवत्वं सिद्धम् ॥१७०॥ अथ कथं ज्ञानगुणपरिणामो बन्धहेतुरिति पुनरपि पृच्छतिः—जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणोवि परिणमदि अण्णत्तं णाणगुणो यस्मात् यथाख्यातचारित्रात्पूर्वं जघन्यो हीनः सकषायो ज्ञानगुणो भवति। तस्मात्—जघन्यत्वादेव ज्ञानगुणात् सकाशात्, अन्तर्मुहूर्तानन्तरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्नोति जीवः। ततः कारणात् अन्यत्वं सविकल्पकपर्यायान्तरं परिणमति। स कः? कर्ता। ज्ञानगुणः। तेण दु सो बंधगो भणिदो तेन सविकल्पेन कषायभावेन स ज्ञानगुणो बन्धको भणितः। अथवा द्वितीयव्याख्यानं। जघन्यात् कोऽर्थः, जघन्यात् मिथ्यादृष्टिज्ञानगुणात्। काललब्धिवशेन सम्यक्त्वे प्राप्ते सति ज्ञानगुणः कर्ता मिथ्यापर्यायं त्यक्त्वा अन्यत्वं सम्यग्ज्ञानित्वं परिणमति। तेण दु सो बंधगो भणिदो तेन कारणेन स ज्ञानगुणो ज्ञानगुणपरिणतजीवो

आगे फिर पूछते हैं कि यदि ज्ञान गुण का जघन्यभाव अन्यत्वरूप परिणाम बन्ध का कारण है तो ज्ञानी निरास्रव है, ऐसा किस तरह से कहा? उसके उत्तर की गाथा कहते हैं;—[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शनज्ञानचारित्र [यत्] जिस कारण [जघन्यभावेन] जघन्य भाव से [परिणमते] परिणमन करते हैं [तेन तु] इस कारण से [ज्ञानी] ज्ञानी [विविधेन] अनेक प्रकार के [पुद्गलकर्मणा] पुद्गल कर्मों से [बध्यते] बंधता है।

टीका—निश्चय से जो ज्ञानी है वह बुद्धि पूर्वक राग द्वेष मोहरूप आस्रव भाव के अभाव से निरास्रव ही है। वहां यह विशेषता है कि वही ज्ञानी जब तक ज्ञान को सर्वोत्कृष्ट भाव से देखने को, जानने को, आचरणकरने को असमर्थ है तथा जघन्य भाव से ही ज्ञान को देखता है, जानता है, आचरण करता है तब तक उस ज्ञानी के भी ज्ञान के जघन्य भाव की अन्यथा अप्राप्ति से

---

१. बुद्धिपूर्वकास्ते परिणामा ये मनोद्वारा बाह्यविषयानालम्ब्य प्रवर्तन्ते, प्रवर्तमानाश्च स्वानुभवगम्याः अनुमानेन परस्यापि गम्या भवन्ति। अबुद्धिपूर्वकास्तु परिणामा इन्द्रियमनोव्यापारमन्तरेण केवलमोहोदयनिमित्तास्ते तु स्वानुभवगोचरत्वादबुद्धिपूर्वका इति विशेषः।

जघन्यभावेनैव ज्ञानं पश्यन्ति जानात्यनुचरति च तावत्तस्यापि जघन्यभावान्यथानुपपत्त्याऽनुमीयमानाबुद्धिपूर्वक[1] कलङ्कविपाकसद्भावात् पुद्गलकर्मबन्धः स्यात्। अतस्तावज्ज्ञानं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावज्ज्ञानस्य यावान् पूर्णो भावस्तावान् दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च सम्यग्भवति। ततः साक्षात् ज्ञानीभूतः सर्वथा निरास्रव एव स्यात् ॥१७२॥

अबन्धको भणित इत्यभिप्रायः ॥१७१॥ अथ यथाख्यातचारित्राधस्तादन्तर्मुहूर्तानन्तरं निर्विकल्पसमाधौ स्थातुं न शक्यत इति भणितं पूर्वं। एवं सति कथं ज्ञानी निरास्रव इति चेत्। दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण ज्ञानी तावदीहापूर्वरागादिविकल्पकरणाभावान्निरास्रव एव। किन्तु सोऽपि यावत्कालं परमसमाधेरनुष्ठानाभावे सति शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टुं ज्ञातुमनुचरितुं वासमर्थः तावत्कालं तस्यापि संबन्धि यद्दर्शनं ज्ञानं चारित्रं तज्जघन्यभावेन सकषायभावेन अनीहितवृत्त्या परिणमति। णाणी तेण दु बज्झदि पुग्गलकम्मेण विविहेण तेन कारणेन स तु भेदज्ञानी स्वकीयगुणस्थानानुसारेण परम्परया मुक्तिकारणभूतेन तीर्थकरनामकर्मप्रकृत्यादिपुद्गलरूपेण विविधपुण्यकर्मणा बध्यते। इति ज्ञात्वा ख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिविभावपरिणामपरिहारेण निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा तावत्पर्यन्तं शुद्धात्मस्वरूपं द्रष्टव्यं ज्ञातव्यमनुचरितव्यं च यावत्तस्य शुद्धात्मस्वरूपस्य परिपूर्णः केवलज्ञानरूपो भावो दृष्टो ज्ञातोऽनुचरितश्च भवतीति भावार्थः। एवं ज्ञानिनो भावास्रवस्वरूपनिषेध मुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥१७२॥ अथ द्रव्यप्रत्ययेषु विद्यमानेषु कथं ज्ञानी निरा-

---

अनुमान रूप किया गया अबुद्धिपूर्वक कर्ममलकलंङ्क का सद्भाव है। इसलिये पुद्गल कर्म का बन्ध होता है इस कारण यह उपदेश है कि तभी तक ज्ञान को देखना, जानना और आचरण करना जब तक ज्ञान का जितना पूर्ण भाव है उतना देखा, जाना, आचरण करना अच्छी तरह न हो जाय। उसके बाद साक्षात् ज्ञानी हुआ सर्वथा निरास्रव ही होता है।

भावार्थ—ज्ञानी को निरास्रव इस तरह कहा है कि जब तक इसके क्षयोपशमज्ञान है, तब तक तो बुद्धिपूर्वक अज्ञानमय राग द्वेष मोह का अभाव है इसलिये निरास्रव है और जब तक क्षयोपशमज्ञान है, तब तक दर्शन ज्ञान चारित्र जघन्य भाव से परिणमते हैं, तब तक संपूर्ण ज्ञान का देखना, जानना, आचरण होना नहीं होता। सो इस जघन्यभाव से ही ऐसा जानते हैं कि इसके अबुद्धिपूर्वक कर्म कलङ्क विद्यमान है, उसी से बन्ध भी होता है वह चारित्र मोह के उदय से है, अज्ञानमय भाव नहीं है। इसलिये ऐसा उपदेश है कि जब तक ज्ञान संपूर्ण न हो—केवलज्ञान न प्रकट हो तब तक ज्ञान का ही ध्यान निरन्तर करना, ज्ञान को ही देखना, ज्ञान को ही जानना, ज्ञान को ही आचरना। इसी मार्ग से ही चारित्र मोह का नाश होता है और केवलज्ञान प्रकट होता है तब सब तरह से साक्षात् निरास्रव होता है। यह विवक्षा की विचित्रता है। बुद्धिपूर्वक रागादिक के अभाव की अपेक्षा तो अबुद्धिपूर्वक रागादिक होने पर भी निरास्रव कहा है और अबुद्धिपूर्वक का अभाव होने के बाद तो केवलज्ञान ही उत्पन्न होगा, तब साक्षात् निरास्रव होगा ही ॥१७२॥

१, कर्मकलङ्क इत्यर्थः।

संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं रागं समग्रं स्वयं,
वारम्वारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्तिं स्पृशन् ।
उच्छिन्दन् परिवृत्तिमेव[1] सकलां ज्ञानस्य पूर्णोभवन्
नात्मानित्यनिरास्रवो भवति हि ज्ञानी यदा स्यात्तदा ॥११६॥

सर्वस्यामेव जीवन्त्यां द्रव्यप्रत्ययसन्ततौ ।
कुतो निरास्रवो ज्ञानी नित्यमेवेति चेन्मतिः ॥११७॥

सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया संति सम्मदिट्ठिस्स ।
उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण ॥१७३॥
संति दु णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स ।
बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स ॥१७४॥
होदूण णिरुवभोज्जा तह बंधदि जह हवंति उवभोज्जा ।
सत्तट्ठविहा भूदा णाणावरणादिभावेहिं ॥१७५॥

स्रवः ? इति चेत्—सव्वे पुव्वणिबद्धा दु पच्चया सन्ति सम्मदिट्ठिस्स सर्वे पूर्वं निबद्धा द्रव्यप्रत्ययाः सन्ति तावत्सम्यग्दृष्टेः । उवओगप्पाओगं बंधंते कम्मभावेण यद्यपि विद्यन्ते तथाप्युपयोगेन प्रायोग्यं तत्कालोदय-

---

अब इसी अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—संन्य इत्यादि । अर्थ—यह आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धिपूर्वक सभी राग को आप निरन्तर दूर करता है और अबुद्धिपूर्वक राग को भी जीतने के लिये बारम्वार अपनी ज्ञानानुभवनरूप शक्ति का स्पर्श करता हुआ प्रवृत्त होता है तथा ज्ञान के समस्त पलटने को दूर करता हुआ ज्ञान को स्वरूप में ठहराता पूर्ण हुआ प्रवृत्त होता है । जब ऐसा ज्ञानी होता है तब शाश्वत निरास्रव होता है ।

भावार्थ—जब सब राग को हेय जाना तब उसके मेटने के लिए उद्यमी होता है अतः सदा निरास्रव ही कहना चाहिए, क्योंकि इसके आस्रव भावों की भावना के अभिप्राय का अभाव है । यहाँ बुद्धिपूर्वक और अबुद्धिपूर्वक की दो सूचनायें हैं । एक तो वह कि आप तो करना नहीं चाहता किन्तु परनिमित्त से जबरदस्ती से हो, उसको आप जानता है तो भी उसको बुद्धिपूर्व कहना चाहिए । और दूसरा वह कि अपने ज्ञानगोचर ही नहीं प्रत्यक्ष ज्ञानी जिसे जानते हैं तथा उसके अविनाभावी चिन्ह के अनुमान से उसे जानते हैं उसे अबुद्धिपूर्वक जानना ॥१२६॥

आगे पूछते हैं कि द्रव्यास्रव की सन्तति को जीवित रखने से ज्ञानी निरास्रव किस प्रकार है ? ऐसे प्रश्न का श्लोक कहते हैं—सर्वस्यां इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी के सभी द्रव्यास्रव की सन्तति के जीने

---

१. परिवृत्ति—इत्यपि पाठः ।

एदेण कारणेण दु सम्मादिट्ठी अबंधगो होदि (भणिदो)।
आसवभावाभावे ण पच्चया बंधगा भणिदा ॥१७६॥ (चतुष्कं)

सर्वे पूर्वनिबद्धास्तु प्रत्ययाः सन्ति सम्यग्दृष्टेः।
उपयोगप्रायोग्यं बध्नन्ति कर्मभावेन ॥ १७३ ॥

सन्ति तु निरुपभोग्यानि बाला स्त्री यथेह पुरुषस्य।
बध्नाति तानि उपभोग्यानि तरुणी स्त्री यथा नरस्य ॥ १७४ ॥

भूत्वा निरुपभोग्यानि तथा बध्नाति यथा भवन्त्युपभोग्यानि।
सप्ताष्टविधानि भूतानि ज्ञानावरणादिभावैः ॥ १७५ ॥

एतेन कारणेन तु सम्यग्दृष्टिरबन्धको भणितः।
आस्रवभावाभावे न प्रत्यया बन्धका भणिताः ॥ १७६ ॥

प्रायोग्यकर्मतापन्नं कर्म बध्नन्ति। केन कृत्वा ? भावेन रागादिपरिणामेन, न चास्तित्वमात्रेण बन्धकारणं भवन्तीति। संतावि णिरुवभोज्जा बाला इत्थी जहेव पुरिसस्स सन्त्यपि विद्यमानान्यपि कर्माणि क्वचित्प्राकृते

से ज्ञानी नित्य ही निरास्रव है ऐसा क्यों कहा ? ऐसी शिष्य की आशङ्कारूप बुद्धि है उसके उत्तर में गाथा कहते हैं,—[सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [सर्वे] सभी [पूर्वनिबद्धाः तु] पूर्व अज्ञान अवस्था में बांधे [प्रत्ययाः] मिथ्यात्वादि आस्रव [सन्ति] सत्ता रूप मौजूद हैं वे [उपयोगप्रायोग्यं] उपयोग के प्रयोग करने रूप जैसा हो वैसे [कर्मभावेन] उसके अनुसार कर्म भाव से [बध्नन्ति] आगामी बन्ध को प्राप्त होते हैं [निरुपभोग्यानि] और जो पूर्व बंधे प्रत्यय उदय बिना आये भोगने के अयोग्य [भूत्वा] होकर स्थित हैं वे फिर [तथा बध्नन्ति] आगामी उस तरह बंधते हैं [यथा] जैसे [ज्ञानावरणादि भावैः] ज्ञानावरणादि भावों के द्वारा [सप्ताष्टविधानि] सात आठ प्रकार फिर [उपभोग्यानि] भोगने योग्य [भवन्ति] हो जायं [तु] और [निरुपभोग्यानि सन्ति] वे पूर्व बंधे प्रत्यय सत्ता में ऐसे हैं [यथा] जैसे [इह] इस लोक में [पुरुषस्य] पुरुष के [बालास्त्री] बालिका स्त्री भोगने योग्य नहीं होती [तानि] और वे ही [उपभोग्यानि] भोगने योग्य होते हैं तब [बध्नाति] पुरुष को बांधते हैं [यथा] जैसे [तरुणी स्त्री] वही बाला स्त्री जवान हो जाय तब [नरस्य] पुरुष को बांध लेती है अर्थात् पुरुष उसके आधीन हो जाता है यही बंधना है। [एतेन तु कारणेन] इसी कारण से [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [अबन्धकः] अबन्धक [भणितः] कहा गया है क्योंकि [आस्रवभावाभावे] आस्रवभाव जो राग-द्वेष-मोह उनका अभाव होने से [प्रत्ययाः] मिथ्यात्व आदि प्रत्यय सत्ता में होने पर भी [बन्धकाः] आगामी कर्म बन्ध के करने वाले [न] नहीं [भणिताः] कहे गये हैं।

यतः सदवस्थायां तदात्वपरिणीतबालस्त्रीवत् पूर्वमनुपभोग्यत्वेऽपि विपाकावस्थायां प्राप्तयौवनपूर्वपरिणीतस्त्रीवत् उपभोग्यत्वाद् [1]उपयोगप्रायोग्यं पुद्‌गलकर्मद्रव्यप्रत्ययाः सन्तोऽपि कर्मोदयकार्यजीवभावसद्भावादेव बध्नन्ति ततो ज्ञानिनो यदि द्रव्यप्रत्ययाः पूर्वबद्धाः सन्ति सन्तु तथापि स तु निरास्रव एव कर्मोदयकार्यस्य रागद्वेषमोहरूपस्यास्रवभावस्याभावे द्रव्यप्रत्ययानामबन्ध हेतुत्वात् ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥

लिङ्गव्यभिचारोऽपि इति वचनान्नपुंसकलिङ्गपुंल्लिङ्गनिर्देशः। पुंल्लिङ्गेऽपि नपुन्सकलिङ्गनिर्देशः। कारके कारकान्तरनिर्देशो भवति, इति। तानि कर्माणि उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भवन्ति। केन दृष्टान्तेन? बाला स्त्री यथा पुरुषस्य। **बंधदि ते उवभोज्जे तरुणी इत्थी जह णरस्स** तानि कर्माणि उदयकाले उपभोग्यानि भवन्ति। रागादिभावेन नवतराणि च बध्नन्ति। कथं? यथा तरुणी स्त्री नरस्येति। अथ तमेवार्थं दृढयति।

टीका—जैसे तत्काल की विवाहित बालस्त्री पहले बालक अवस्था में पुरुष के भोगने योग्य नहीं होती, फिर वही स्त्री जब तरुणी हो जाय, तब यौवन अवस्था में भोगने योग्य होती है तब पुरुष भी उसके आधीन हो, जाता है। उसी प्रकार पहले बांधे कर्म जब तक सत्ता अवस्था में हैं तब तक भोगने योग्य नहीं होते; फिर वे ही कर्म जब विपाक अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं तब उस उदय अवस्था में भोगने योग्य हो जाते हैं तब जैसा आत्मा का उपयोग विकार सहित हो उसी योग्यता के अनुसार पुद्‌गल कर्मरूप द्रव्यप्रत्यय सत्तारूप होने भी कर्म के उदयानुसार जीव के भावों के सद्भाव से ही बन्ध को प्राप्त होते हैं। इस कारण ज्ञानी के द्रव्यकर्मरूप प्रत्यय (आस्रव) सत्ता में मौजूद हैं तो भी वह ज्ञानी तो निरास्रव ही है, क्योंकि कर्म के उदय का कार्य जो जीव का भाव राग द्वेष मोह रूप आस्रवभाव उसके अभाव होने पर द्रव्यास्रव बन्ध के कारण नहीं है।

भावार्थ—सत्ता में मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव विद्यमान हैं तो भी वे आगामी कर्मबन्ध के करने वाले नहीं हैं। क्योंकि बन्ध के करने वाले तो जीव के राग द्वेष मोहरूप भाव होते हैं अतः मिथ्यात्वादि द्रव्यास्रव के उदय के और जीव के भावों के कार्य कारण भाव निमित्तनैमित्तिक रूप हैं। जब मिथ्यात्वादि का उदय आता है, तब जीव का रागद्वेष मोहरूप जैसा भाव हो, उस भाव के अनुसार आगामी बन्ध होता है। और जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है, तब मिथ्यात्व सत्ता में से नष्ट हो जाता है उस समय उसके साथ अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उस सम्बन्धी अविरति, योग भाव ये भी नष्ट हो जाते हैं तब उस सम्बन्धी जीव के राग-द्वेष-मोह भाव भी नहीं होते और उस मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का बन्ध भी आगामी नहीं होता। तथा मिथ्यात्व का उपशम होता है, वह सत्ता में ही रहता है तब सत्ता का द्रव्य उदय के बिना बन्ध का कारण ही नहीं है। और जब तक अविरत सम्यग्दृष्टि आदिक गुणस्थानों की परिपाटी में चारित्रमोह के उदयसम्बन्धी बन्ध कहा गया है, वह यहां संसार सामान्य की अपेक्षा तो बन्ध में गिना नहीं हैं क्योंकि ज्ञानी अज्ञानी का भेद है। जब तक कर्म के उदय में कर्म का स्वामित्व रखकर परिणमन करता है तब तक का ही कर्म का कर्ता कहा गया है, जब पर के निमित्त से परिणमन करे तब उसका ज्ञाता द्रष्टा हो ज्ञानी

---

१. उपभोग इत्यपि पाठः।

विजहति नहि सत्तां प्रत्ययाः पूर्वबद्धाः समयमनुसरन्तो यद्यपि द्रव्यरूपाः ।
तदपि सकलरागद्वेषमोहव्युदासादवतरति न जातु ज्ञानिनः कर्मबन्धः ॥११८॥
रागद्वेषविमोहानां ज्ञानिनो यदसम्भवः। तत एव न बन्धोऽस्य, ते हि बन्धस्य कारणम्॥११९

उदयात्पूर्वं निरुपभोग्यानि भूत्वा कर्माणि स्वकीयस्वकीयगुणस्थानानुसारेण, उदयकालं प्राप्य यथा यथा भोग्यानि भवन्ति, तथा तथा रागादिभावेन परिणामेन आयुष्कबन्धकाले अष्टविधभूतानि शेषकाले सप्तविधानि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभावेन पर्यायेण नवतराणि बध्नन्ति, न चास्तित्वमात्रेणेति । रागादिभावास्रवस्याभावे द्रव्यप्रत्यया अस्तित्वमात्रेण बन्धकारणं न भवन्ति । एतेन कारणेन सम्यग्दृष्टिरबन्धको भणित इति । किञ्च विस्तरः, मिथ्यादृष्ट्यपेक्षया चतुर्थगुणस्थाने सरागसम्यग्दृष्टिः, त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनामबन्धकः । सप्ताधिकसप्ततिप्रकृतीनामल्पस्थित्यनुभागरूपाणां बन्धकोऽपि संसारस्थितिच्छेदं करोति । तथा चोक्तं सिद्धान्ते "द्वादशाङ्गावगमस्तत्तीव्रभक्तिरनिवृत्तिपरिणामः केवलिसमुद्घातश्चेति संसारस्थितिघातकरणानि भवन्ति" तद्यथा, तत्र द्वादशाङ्गश्रुतविषये अवगमो ज्ञानं व्यवहारेण बहिर्विषयः । निश्चयेन तु वीतरागस्वसंवेदनलक्षणं चेति । भक्तिः पुनः सम्यक्त्वं भण्यते व्यवहारेण सरागसम्यग्दृष्टीनां पञ्चपरमेष्ठ्याराधनारूपा । निश्चयेन वीतरागसम्यग्दृष्टीनां शुद्धात्मतत्त्वभावनारूपा चेति । न निवृत्तिरनिवृत्तिः शुद्धात्मस्वरूपादचलनं एकाग्रपरिणतिरिति । तत्रैवं सति द्वादशाङ्गावगमो निश्चयव्यवहारज्ञानं जातम् । भक्तिस्तु निश्चयव्यवहारसम्यक्त्वं जातम् । अनिवृत्तिपरिणामस्तु सरागचारित्रानन्तरं वीतरागचारित्रं जातमिति सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि भेदाभेदरत्नत्रयरूपेण संसारविच्छित्तिकारणमिति भावार्थः । एवं द्रव्यप्रत्यया विद्यमाना अपि रागादिभावास्रवाभावे सति बन्धकारणं न भवन्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥ अथ यतएव

ही है, कर्ता नहीं है, इस तरह अपेक्षा से सम्यग्दृष्टि हुए बाद चारित्रमोह का उदयरूप परिणाम होने पर भी ज्ञानी ही कहा गया है। जब तक मिथ्यात्व का उदय है, तब तक उस संबन्धी रागद्वेषमोहभावरूप परिणमन से अज्ञानी कहा जाता है। ऐसे ज्ञानी अज्ञानी कहने का भेद जानना। इस प्रकार बन्ध अबन्ध का विशेष है। और शुद्ध स्वरूप में लीन रहने के अभ्यास से साक्षात्संपूर्ण ज्ञानी केवलज्ञान प्रकट होने से होता है तब सर्वथा निरास्रव हो जाता है ॥१७३।१७४।१७५।१७६॥

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—विजहति इत्यादि। अर्थ—यद्यपि पहले अज्ञान अवस्थामें बन्ध रूप जो हुए थे वे द्रव्यरूप प्रत्यय (द्रव्यास्रव) सत्ता में विद्यमान हैं क्योंकि उनका उदय अपनी स्थिति के अनुसार है इसलिये जब तक उदय का समय नहीं आता तब तक सत्ता में ही द्रव्यास्रव रहते हैं वे अपनी सत्ता को नहीं छोड़ते तो भी ज्ञानी के समस्त रागद्वेषमोह के अभाव से नवीन कर्म का बन्ध कभी अवतार नहीं रखता।

भावार्थ—राग द्वेष मोह भावों के बिना सत्ता का द्रव्यास्रव बन्ध का कारण नहीं है। यहां सकल राग द्वेष मोह का अभाव बुद्धिपूर्वक जानना ॥११८॥

इसी अर्थ के दृढ़ करने के लिए गाथा की उत्थानिका में श्लोक कहते हैं;—राग इत्यादि। अर्थ—जब ज्ञानी के राग-द्वेष-मोह का होना असंभव है तब ज्ञानी के बन्ध नहीं है क्योंकि रागद्वेषमोह ही बन्ध के कारण हैं ॥११९॥

रागो दोषो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स ।
तह्मा आसवभावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥१७७॥
हेदू चदुव्वियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं भणिदं ।
तेसिं पि य रागादि तेसिमभावे ण बज्झंति ॥१७८॥ (युग्मम्)

रागो द्वेषो मोहश्च आस्रवा न सन्ति सम्यग्दृष्टेः ।
तस्मादास्रवभावेन विना हेतवो न प्रत्यया भवन्ति ॥ १७७ ॥
हेतुश्चतुर्विकल्पः अष्टविकल्पस्य कारणं भणितम् ।
तेषामपि च रागादयस्तेषामभावे न बध्यन्ते ॥ १७८ ॥

रागद्वेषमोहा न सन्ति सम्यग्दृष्टेः सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेः । तदभावे न तस्य द्रव्यप्रत्ययाः पुद्गलकर्महेतुत्वं बिभ्रति द्रव्यप्रत्ययानां पुद्गलकर्महेतुत्वस्य रागादिहेतुत्वात् । ततो [1]हेतुहेत्वभावे हेतुमदभावस्य प्रसिद्धत्वात् ज्ञानिनो नास्ति बन्धः ।१७७-७८।

कर्मबन्धहेतुभूता रागद्वेषमोहा ज्ञानिनो न सन्ति, ततएव तस्य कर्मबन्धो नास्तीति कथयति—रागो दोषो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठिस्स रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्ति, सम्यग्दृष्टित्वान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । तथाहि, अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानाद्यनन्तगुणसहितपरमात्मोपादेयत्वे सति वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य—"संवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती । वच्छल्लं अणुकंपा गुणट्ठ सम्मत्तजुत्तस्स ।" इति गाथाकथितलक्षणस्य चतुर्थगुणस्थानवर्तिस-

---

आगे इसी अर्थ के समर्थन की गाथा कहते हैं—[रागः] राग [द्वेषः] द्वेष [च मोहः] और मोह [आस्रवाः] ये आस्रव [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [न सन्ति] नहीं हैं [तस्मात्] इसीलिये [आस्रवभावेन विना] आस्रवभाव के विना [प्रत्ययाः] द्रव्यप्रत्यया [हेतवः] कर्मबन्ध का कारण [न भवन्ति] नहीं हैं [चतुर्विकल्पः] मिथ्यात्व आदि चार प्रकार का [हेतुः] हेतु [अष्टविकल्पस्य] आठ प्रकार के कर्म बंधने का [कारणं भणितं] कारण कहा गया है [च] और [तेषामपि] उन चार प्रकार के हेतुओं को भी [रागादयः] जीव के रागादिक भाव कारण हैं सो सम्यग्दृष्टि के [तेषां अभावे] उन रागादिक भावों का अभाव होने से [न बध्यन्ते] कर्मबंध नहीं है।

टीका—सम्यग्दृष्टि के राग द्वेष मोह नहीं है; क्योंकि राग द्वेष मोह के अभाव के विना सम्यग्दृष्टित्व नहीं बन सकता। रागद्वेषमोह के अभाव से उस सम्यग्दृष्टि के द्रव्यास्रव पुद्गल कर्म के बंधने का कारण नहीं बनते। क्योंकि द्रव्यास्रव के पुद्गल कर्म बंधने का कारणपने का कारणपना रागादिक ही हैं इसलिये कारण के कारण का अभाव होने से कार्य का अभाव अच्छी तरह प्रसिद्ध है। इस कारण ज्ञानी के बन्ध नहीं है।

1. हेतुहेतुत्वाभावे, इत्यपि पाठः ।

अध्यास्य शुद्धनयमुद्धतबोधचिह्नमैकाग्र्यमेव कलयन्ति सदैव ये ते ।
रागादिमुक्तमनसः सततं भवन्तः पश्यन्ति बन्धविधुरं समयस्य सारम् ॥१२०॥

रागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । अथवा, अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरणसंज्ञाः क्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत्; निर्विकारपरमानन्दैकसुखलक्षणपरमात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारि--प्रशमसंवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य पञ्चमगुणस्थानयोग्यदेशचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । अथवा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणक्रोधमानमायालोभोदयजनितरागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः । कस्मादिति चेत्, चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मोपादेयत्वे सति षट्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थरुचिरूपस्य मूढत्रयादिपञ्चविंशतिदोषरहितस्य तदनुसारिप्रशमसंवेगानुकम्पादेवधर्मादिविषयास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणस्य षष्ठगुणस्थानरूपसरागचारित्राविनाभाविसरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः अथवा अनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनक्रोधमानमायालोभतीव्रोदयजनिताः प्रमादोत्पादकाः रागद्वेषमोहाः सम्यग्दृष्टेर्न सन्तीति पक्षः कस्मात् ? इति चेत्—शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मोपादेयत्वे सति तद्योग्यस्वकीयशुद्धात्मसमाधिसञ्जातसहजानन्दैकस्वलक्षणसुखानुभूतिमात्रस्वरूपाऽप्रमत्तादिगुणस्थानवर्तिवीतरागचारित्राविनाभूतवीतरागसम्यक्त्वस्यान्यथानुपपत्तेरिति हेतुः । तथा चोक्तम्—

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि, रागद्वेषमोह के अभाव विना नहीं होता ऐसा अविनाभाव नियम कहा है सो यहाँ मिथ्यात्वसम्बन्धी रागादिकों का अभाव जानना उन्हीं को रागादि माना गया है। सम्यग्दृष्टि होनेके बाद कुछ चारित्रमोह सम्बन्धी राग रहता है सो यहाँ पर नहीं गिना वह गौण है इसलिये उन भावास्रवोंके बिना द्रव्यास्रव बन्धके कारण नहीं है, कारण का कारण न हो तभी कार्य का भी अभाव हो जाता है यह प्रसिद्धि है। इसलिए सम्यग्दृष्टि ज्ञानी ही है इसके बन्ध नहीं है। यहां सम्यग्दृष्टिको ज्ञानी कहने की अपेक्षा ऐसा जानना कि प्रथम तो जिसके ज्ञान हो वही ज्ञानी कहलाता है सो सामान्य ज्ञान की अपेक्षा तो सभी जीव ज्ञानी हैं और सम्यग्ज्ञान मिथ्याज्ञान की अपेक्षा ली जाय तो सम्यग्दृष्टि के सम्यग्ज्ञान है उसकी अपेक्षा ज्ञानी है तथा मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। यदि सम्पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा ज्ञानी कहा जाय तो केवली भगवान् ज्ञानी हैं क्योंकि जब तक सर्वज्ञ न हो तब तक पांच भावों के कथन में अज्ञानभाव बारहवें गुणस्थान तक सिद्धान्त में कहा है। इस तरह अनेकान्त से विधिनिषेध सब अपेक्षा से निर्बाध सिद्ध होते हैं सर्वथा एकान्त से कुछ भी नहीं सधता। इस तरह ज्ञानी होके बन्ध नहीं करता ॥१७७॥१७८॥

यह शुद्धनयका माहात्म्य है, इसलिए शुद्धनयकी महिमा कहते हैं—**अध्यास्य** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष शुद्धनयको अङ्गीकार कर निरन्तर एकाग्रपनेका अभ्यास करते हैं वे पुरुष रागादिरहित चित्त वाले हुए बन्ध से रहित अपने शुद्ध आत्मस्वरू का अवलोकन करते हैं। कैसा है शुद्धनय ? कि जिसका चिन्ह उज्ज्वल ज्ञान है जो किसी का छिपाया नहीं छिपता।

भावार्थ—यहां शुद्धनय से एकाग्र होना कहा है। सो साक्षात् शुद्धनय का होना तो केवलज्ञान होने पर होता है और शुद्धनय, श्रुतज्ञानका अंश है इसके द्वारा शुद्धस्वरूप का श्रद्धान करना तथा ध्यान कर एकाग्र होना। सो यह परोक्ष अनुभव है। एक देश शुद्ध की अपेक्षा व्यवहार से प्रत्यक्ष भी कहते हैं ॥१२०॥

प्रच्युत्य शुद्धनयतः पुनरेव ये तु रागादियोगमुपयान्ति विमुक्तबोधाः ।
ते कर्मबन्धमिह बिभ्रति पूर्वबद्धद्रव्यास्रवैः कृतविचित्रविकल्पजालम् ॥१२१॥

आद्या सम्यक्त्वचारित्रे द्वितीया घ्नन्त्यणुव्रतं । तृतीयाः संयमं तुर्या यथाख्यातं क्रुधादयः ॥" इति गाथापूर्वार्धे व्याख्यानं गतम् । **तह्मा आसावभावेण विणा हेदू ण कारणं पच्चया होंति** यस्माद्गाथायाः पूर्वार्धकथितक्रमेण रागद्वेषमोहा न सन्ति तस्मात्कारणात् रागादिरूपभावास्रवेण विना अस्तित्वमात्रेण, उदयमात्रेण वा द्रव्य-प्रत्ययाः सम्यग्दृष्टेर्बन्धहेतवो न भवन्तीति । **हेदू चदुवियप्पो अट्ठवियप्पस्स कारणं होदि** मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषाययोगरूपचतुर्विधो हेतुः ज्ञानावरणादिरूपस्याष्टविधस्य नवतरद्रव्यकर्मणः कारणं भवति । **तेसिं पि य रागादी** तेषामपि मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययानां उदयागतानां जीवगतरागादिभावप्रत्ययाः कारणं भवन्ति । कस्मात् ? इति चेत् **तेसिमभावे ण बज्झंति** तेषां जीवगतरागादिभावप्रत्ययानामभावे सति द्रव्यप्रत्ययेष्वुदया-गतेष्वपि वीतरागपरमसामायिकभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञानस्य सद्भावे सति कर्मणा जीवा न बध्यन्ते यतः कारणादिति । ततः स्थितं नवतरद्रव्यकर्मास्रवस्योदयागतद्रव्यप्रत्ययाः कारणम् तेषां च जीवगता रागादिभावप्रत्ययाः कारणमिति कारणकारणव्याख्यानं ज्ञातव्यम् १७७ ॥ १७८ ॥ अथ यदुक्तं पूर्वं रागादि-विकल्पोपाधिरहित परमचैतन्यचमत्कारलक्षणनिजपरमात्मपदार्थभावनारहितानां वहिर्मुखजीवानां पूर्वबद्धप्रत्ययाः नवतरकर्म बध्नन्ति तमेवार्थं दृष्टान्ताभ्यां दृढयति;—**जह पुरिसेणाहारो गहिदो परिणमदि सो अणेयविहं** यथा पुरुषेण गृहीताहारः स परिणमति अनेकविधं वहुप्रकारम् । किं ? **मंसवसारुहिरादी भावे उदरग्गिसंजुत्तो** मांस-वसारुधिरादीन् पर्यायान् कर्मतापन्नान् परिणमति । कथंभूतः सन् ? उदराग्निसंयुक्तः इति दृष्टान्तो गतः । **तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया वहुवियप्पं बज्झंते कम्मं ते**—तथैव च पूर्वोक्तोदराग्निसंयुक्ताहारदृष्टान्तेन अज्ञानिनश्चैतन्यलक्षणजीवस्य न च विवेकिनः । पूर्वं ये बद्धाः, मिथ्यात्वादिद्रव्यप्रत्ययाः; जीवगतरागादि-परिणाममुदराग्निस्थानीयं लब्ध्वा ते वहुविकल्पं कर्म बध्नन्ति । **णयपरिहीणा दु ते जीवा** येषां जीवानां संबंधिनः

अब फिर कहते हैं कि जो इससे चिग जाते हैं वे कर्मों को बांधते हैं—**प्रच्युत्य** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष शुद्धनय से छूट फिर रागादिक के सम्बन्ध को प्राप्त होते हैं वे ज्ञान को छोड़कर कर्मबन्ध को धारण करते हैं, जिस कर्मबन्ध ने पूर्वबंधे द्रव्यास्रवों से अनेक प्रकार विकल्पों का जाल कर रक्खा है ।

भावार्थ–फिर शुद्धनय से चिग जाय तो रागादिक के सम्बन्ध से द्रव्यास्रव के अनुसार अनेक भेदों को लिए कर्मों को बांधता है । नय से चिगने पर जो फिर मिथ्यात्व का उदय आ जाय तब बन्ध होने लगता है, क्योंकि यहां मिथ्यात्व सम्बन्धी रागादिक से बन्ध होने की प्रधानता की है और उपयोग की अपेक्षा गौण है । शुद्धोपयोग रूप रहने का काल थोड़ा है इसलिए उसके छूटने की अपेक्षा यहां नहीं है । ज्ञान अन्य ज्ञेयों से उपयुक्त होवे तो भी मिथ्यात्व के बिना राग का अंश है वह ज्ञानी के अभिप्राय पूर्वक नहीं है इसलिए अल्पबन्ध संसार का कारण नहीं है । अथवा उपयोग की अपेक्षा ली जाय तो शुद्धस्वरूप से चिगे और सम्यक्त्व से नहीं छूटे तब चारित्रमोह के राग से कुछ बन्ध होता है वह अज्ञान के पक्ष में नहीं गिना परन्तु बन्ध तो अवश्य है उसी के मेंटने को शुद्ध-नय से न छूटने का और शुद्धोपयोग में लीन होने का सम्यग्दृष्टि ज्ञानी को उपदेश है, ऐसे जानना ॥१२१॥

जह पुरिसेणाहारो गहिओ परिणमइ सो अणेयविहं ।
मंसवसारुहिरादी भावे उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
तह णाणिस्स दु पुव्वं जे बद्धा पच्चया बहुवियप्पं ।
बज्झंते कम्मं ते णयपरिहीणा उ ते जीवा ॥१८०॥ (युगलम्)

यथा पुरुषेणाहारो गृहीतः परिणमति सोऽनेकविधम् ।
मांसवसारुधिरादीन् भावान् उदराग्निसंयुक्तः ॥१७९॥
तथा ज्ञानिनस्तु पूर्वं बद्धा ये प्रत्यया बहुविकल्पम् ।
बध्नन्ति कर्म ते नयपरिहीनास्तु ते जीवाः ॥१८०॥

यदा तु शुद्धनयात् परिहीणो भवति ज्ञानी तदा तस्य रागादिसद्भावात् पूर्वबद्धाः द्रव्यप्रत्ययाः स्वस्य हेतुत्वहेतुसद्भावे [1]हेतुमद्भावस्यानिवार्यत्वात् ज्ञानावरणादिभावैः पुद्गलकर्मबन्धं परिणामयन्ति । न चैतदप्रसिद्धं पुरुषगृहीताहारस्योदराग्निना रसरुधिरमांसादिभावैः परिणामकरणस्य दर्शनात् ॥ १७९।१८०॥

प्रत्ययाः कर्म बध्नन्ति ते जीवाः । कथं भूताः ? परमसमाधिलक्षणभेदज्ञानरूपात् शुद्धनयाद् भ्रष्टाः च्युताः ।

आगे इसी अर्थ के समर्थन करने को दृष्टांत दिखलाते हैं ।—[यथा] जैसे [पुरुषेण] पुरुष के द्वारा [गृहीतः] ग्रहण किया गया [आहारः] आहार [स उदराग्निसंयुक्तः] वह उदराग्नि से युक्त हुआ [अनेकविधं] अनेक प्रकार [मांसवसारुधिरादीन्] मांस वसा रुधिर आदि [भावान्] भावों रूप [परिणमति] परिणमता है [तथा तु ज्ञानिनः] उसी तरह ज्ञानी के [पूर्वं बद्धाः] पूर्व बंधे [ये] जो [प्रत्ययाः] द्रव्यास्रव [ते] वे [बहुविकल्पं] बहुत भेदों को लिये [कर्म] कर्मों को [बध्नंति] बांधते हैं । [ते] वे [जीवाः] जीव [तु नयपरिहीनाः] शुद्धनय से छूट गये हैं ।

टीका—जिस समय ज्ञानी शुद्धनय से छूट जाता है उस समय उसके रागादि भावों के सद्भाव से पूर्व बंधे हुए द्रव्यास्रव, वे अपने हेतुत्व के हेतु का सद्भाव होने से कार्यभाव का होना अनिवार्य है अर्थात् अवश्य होते हैं इस कारण ज्ञानावरणादि भावों से पुद्गलकर्म को बन्धरूप परिणमाते हैं । यह दृष्टांत से प्रसिद्ध है । जैसे पुरुष से ग्रहण किया गया आहार उदराग्नि से रस, रुधिर, मांस आदि भावों से परिणाम करने का प्रत्यक्ष दर्शन है अर्थात् देखने में आता है उस तरह दृष्टान्त में भी जानना ।

भावार्थ—ज्ञानी शुद्धनय से छूटे तब रागादिभावों का सद्भाव होता है तभी रागादिरूप हुआ कर्मों को बांधता है । क्योंकि रागादिभाव द्रव्यास्रव के निमित्त होते हैं तब वे आस्रव अवश्य कर्मबन्ध के कारण होते हैं ।

---

१. रागादिसद्भावे ।

इदमेवात्र तात्पर्यं हेयः शुद्धनयो नहि ।
नास्ति बन्धस्तदत्यागात् तत्त्यागाद्बन्ध एव हि ॥१२२॥

धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने बोधे निबध्नन् धृतिं,
त्याज्यः शुद्धनयो न जातु कृतिभिः सर्वंकषः कर्मणाम् ।
तत्रस्थाः [2]स्वमरीचिचक्रमचिरात्संहृत्य [3]निर्यद्बहिः,
पूर्णं ज्ञानघनौघमेकमचलं पश्यन्ति शांतं महः ॥१२३॥

रागादीनां झगिति विगमात् सर्वतोप्यास्रवाणां,
नित्योद्योतं किमपि परमं वस्तु संपश्यतोऽन्तः ।

अथवा द्वितीयव्याख्यानं, ते प्रत्यया अशुद्धनयेन जीवात् सकाशात् परिहीणा भिन्ना न च भवन्ति । इदमत्र

यहाँ इसी अर्थ का तात्पर्यरूप श्लोक कहते हैं-इद इत्यादि । अर्थ-यहाँ पहले कथन का यह तात्पर्य है कि शुद्धनय त्यागने योग्य नहीं है । क्योंकि उस शुद्धनय के ग्रहण से तो कर्म का बन्ध नहीं होता और उसके त्याग से कर्म का बन्ध होता ही है ॥१२२॥ फिर उस शुद्धनय के ही ग्रहण को दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं-धीरो इत्यादि । अर्थ-पुण्यवान् महान् पुरुषों को शुद्धनय कभी छोड़ने योग्य नहीं है । यह ज्ञान में स्थिरता को अतिशय से बाँधता है । वह ज्ञान चलाचलपने से रहित और सर्व पदार्थों में विस्तारयुक्त महिमा वाला है, अनादि निधन है अर्थात् जिसका आदि-अन्त नहीं है । वह शुद्धनय कर्मों को मूल से नाश करने वाला है । ऐसा शुद्धनय में जो स्थित हैं वे पुरुष अपने ज्ञान की व्यक्तिविशेष को तत्काल समेट कर कर्म के पटल से बाह्य निकलता तथा संपूर्ण ज्ञानघन का समूह स्वरूप निश्चल जो शान्तरूप ज्ञानमय प्रताप का पुञ्ज उसे अवलोकन करते (देखते) हैं ।

भावार्थ—शुद्धनय, एक ज्ञानमय तेज (प्रताप) के पुञ्ज व एक चैतन्यमात्र आत्मा को समस्त ज्ञान के विशेषों को गौणकर तथा समस्त परनिमित्त से हुए भावों को गौणकर शुद्ध नित्य अभेद (एक) रूप ग्रहण करता है । सो ऐसे शुद्ध के विषयस्वरूप अपने आत्मा को जो अनुभव कर एकाग्र हो स्थित हैं वे ही समस्त कर्मों के समूह से भिन्न केवलज्ञानस्वरूप अमूर्तीक पुरुषाकार वीतराग ज्ञानमूर्ति स्वरूप अपने आत्मा को देखते हैं । इस शुद्धनय से अन्तर्मुहूर्त ठहरने से शुक्ल-ध्यान की प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा इसका माहात्म्य है । सो इसको अवलम्बन कर जब तक केवलज्ञान न उत्पन्न हो तब तक फिर इससे छूटना नहीं ऐसा श्रीगुरुओं का उपदेश है ।। इस तरह आस्रव का अधिकार पूर्ण किया ॥ १२३ ॥ अब रङ्गभूमि में आस्रव का स्वांग प्रवेश हुआ था उसको ज्ञान ने यथार्थ जान स्वांग दूर कराया और आप प्रगट हुआ इस तरह ज्ञान की महिमा के अर्थरूप काव्य कहते हैं—रागादीनां इत्यादि । अर्थ—रागादिक आस्रवों के तत्काल (क्षणमात्र में) सब तरह दूर होने से नित्य उद्योतरूप कुछ परम वस्तु को अंतरङ्ग में अवलोकन

---

१. आत्मशुद्धत्वानुभवः । २. ज्ञानविशेषव्यक्तिसमूहः । ३. बहिरनात्मपदार्थे निर्यद् भ्राम्यत् ।

स्फारस्फारैः[1] स्वरसविसरैः[2] प्लावयत्सर्वभावा[3]।
नालोकान्तादचलमतुलं ज्ञानमुन्मग्नमेतत् ॥१२४॥

इति आस्रवो निष्क्रान्तः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
आस्रवप्ररूपकः चतुर्थोऽङ्कः ॥ ४ ॥

तात्पर्य, निजशुद्धात्मध्येयरूपसर्वकर्मनिर्मूलनसमर्थशुद्धनयो विवेकिभिर्न त्याज्य इति। एवं कार्यकारणव्याख्यान-मुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥ १७९।१८० ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ सप्तदशगाथाभिः पञ्चस्थलैः संवरविपक्षद्वारेण पञ्चमः आस्रवाधिकारः समाप्तः ॥ ४ ॥

करनेवाले पुरुष का यह ज्ञान, अतिविस्ताररूप फैलता हुआ अपने निज रस के प्रवाह से सब लोक पर्यन्त अन्य भावों को अन्तर्मग्न करता हुआ उदय रूप प्रगट हुआ। कैसा है ज्ञान ? अचल है अर्थात् ज्यों का त्यों सब पदार्थ जिसमें सदा प्रतिभासित हैं, चले नहीं। फिर कैसा है ? जिसके बराबर दूसरा कोई नहीं है।

भावार्थ—शुद्धनय को अवलम्बन कर जो पुरुष अन्तरङ्ग में चैतन्यमात्र परवस्तु को एकाग्र अनुभव करते हैं उनके सब रागादिक आस्रव भाव दूर हो के सब पदार्थों को जानने वाला निश्चय अतुल्य केवलज्ञान प्रगट होता है। ऐसा यह ज्ञान सब से महान् है। इस प्रकार आस्रव का स्वांग रङ्गभूमि में प्रविष्ट हुआ था उसको ज्ञान ने यथार्थ स्वरूप जान लिया, तब वह निकल गया ॥१२४॥

सवैया तेईसा—योग कषाय मिथ्यात्व असंयम, आस्रव द्रव्यत आगम गाये,
राग विरोध विमोह विभाव, अज्ञानमयी यह भावित जाये।
जे मुनिराज करैं इनि पाल सुरिद्धि समाज लये सिव थाये,
काय नवाय नमूं चितलाय, कहूँ जय पाय लहूँ मन भाये ॥

यहां तक १८० गाथा और १२४ कलशा हुए ॥

इस प्रकार पण्डित जयचन्द्रजी कृत समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नाम टीका की
भाषावचनिका में आस्रव नाम चौथा अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ४ ॥

●

---

१. अनन्तानन्तः। २. स्वरसस्य चिद्रूपतायाः विसरैः प्रसरैः। ३. सर्वभावानतीतानागतवर्तमानान् पदार्थान् प्लावयन्नात्मनि प्रतिबिम्बितान् कुर्वन्।

अथ संवराधिकारः ॥ ५ ॥

अथ प्रविशति संवरः ।

आसंसारविरोधिसंवरजयैकान्तावलिप्तास्रव-
न्यक्कारात्प्रतिलब्धनित्यविजयं संपादयत्संवरम् ।
व्यावृत्तं पररूपतो नियमितं सम्यक् स्वरूपे स्फुर-
ज्ज्योतिश्चिन्मयमुज्ज्वलं निजरसप्राग्भारमुज्जृम्भते ॥१२५॥

अथ प्रविशति संवरः । संवराधिकारेऽपि यत्र मिथ्यात्वरागादिपरिणतबहिरात्मभावनारूप आस्रवो नास्ति तत्र संवरो भवतीत्यास्रवविपक्षद्वारेण चतुर्दशगाथापर्यन्तं वीतरागसम्यक्त्वरूपसंवरव्याख्यानं करोति । तत्रादौ भेदज्ञानात् शुद्धात्मोपलम्भो भवति इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन उवओगे—इत्यादि गाथात्रयम् । तदनन्तरं भेदज्ञानात्कथं शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति प्रश्ने परिहाररूपेण जह कणयमग्गि इत्यादि गाथाद्वयम् । ततः परं शुद्धभावनया पुनः शुद्धो भवतीति मुख्यत्वेन शुद्धं तु वियाणंतो इत्यादि गाथैकम् । ततः परं केन प्रकारेण संवरो भवतीति पूर्वपक्षे कृते सति परिहारमुख्यतया अप्पाणमप्पणा इत्यादि गाथात्रयम् । अथात्मा परोक्षस्तस्य ध्यानं कथं क्रियेतेति पृष्ठे सति देवतारूपदृष्टान्तेन परोक्षेऽपि ज्ञायत इति परिहाररूपेण उवदेसेण

अथ संवराधिकार ।

दोहा—"मोह राग द्वेष दूरिकरि, समिति गुप्ति व्रत धारि ।
संवरमय आतम कियो, नमूं ताहि मन धारि ॥"

अब रङ्गभूमि में संवर प्रवेश करता है । प्रथम ही टीकाकार मङ्गल के लिये सब स्वांगों को जानने वाले सम्यग्ज्ञान की ज्योति का मङ्गल करते हैं—आसंसार इत्यादि । अर्थ—चैतन्यस्वरूप-मय स्फुरायमान प्रकाशरूप ज्योति उदयरूप होकर फैलती है । वह ज्योति अनादि संसार से लेकर अपने विरोधी संवर को जीत कर एकान्तपने से मद को प्राप्त हुए आस्रव के तिरस्कार से जिसने नित्य ही जीत पाई है ऐसे संवर को उत्पन्न कराती है । तथा परद्रव्य और परद्रव्य के निमित्त से हुए भावों से भिन्न है । वह ज्योति अपने यथार्थ स्वरूप में निश्चित है, उज्ज्वल है निर्बाध, निर्मल, देदीप्यमान प्रकाशरूप है और उसमें ज्ञानप्रवाहरूपी रस का प्राग्भार है अर्थात् अपने रस के बोझे को लिये हुए है, अन्य बोझा उतारके रख दिया है ।

भावार्थ—अनादि काल से संवर आस्रव का विरोधी है उसको आस्रव ने जीत लिया था इसलिये मदसे गर्वित हुआ उसका फिर तिरस्कार कर जय को प्राप्त हुए संवर को प्राप्त करता हुआ और सब पररूपों से भिन्न होके अपने स्वरूप में निश्चल हुआ जो यह चैतन्य प्रकाश है वह अपने ज्ञान रसरूप भार को लिये हुए निर्मल उदयरूप होता है ॥ १२५ ॥

तत्रादावेव सकलकर्मसंवरणस्य परमोपायं भेदविज्ञानमभिनन्दति—

उवओए उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो ।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो ॥१८१॥
अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो ।
उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि ॥१८२॥
एयं तु अविवरीदं णाणं जइया उ होदि जीवस्स ।
तइया ण किंचि कुव्वदि भावं उवओगसुद्धप्पा ॥१८३॥
(त्रिकलम्)

उपयोगे उपयोगः क्रोधादिषु नास्ति कोऽप्युपयोगः ।
क्रोधे क्रोधश्चैव हि उपयोगे नास्ति खलु क्रोधः ॥१८१॥
अष्टविकल्पे कर्मणि नोकर्मणि चापि नास्त्युपयोगः ।
उपयोगे च कर्म नोकर्म चापि नो अस्ति ॥१८२॥
एतत्त्वविपरीतं ज्ञानं यदा तु भवति जीवस्य ।
तदा न किंचित्करोति भावमुपयोगशुद्धात्मा ॥१८३॥

इत्यादि गाथाद्वयम् । तदनन्तरं अथोदयप्राप्तप्रत्ययागतानां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतानां रागादि-भावास्रवाणामभावो भवतीत्यादि संवरक्रमाख्यानमुख्यत्वेन तेसिं हेदू इत्यादि गाथात्रयम् । एवं आस्रवविपक्ष-द्वारेण संवरव्याख्याने समुदायपातनिका । तद्यथा—प्रथमतस्तावच्छुभाशुभकर्मसंवरस्य परमोपायभूतं निर्विकार-स्वसंवेदनज्ञानलक्षणं भेदज्ञानं निरूपयति;—उवओगो उवओगे ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षणत्वादभेदनयेनात्मैवोप-योगस्तस्मिन्नुपयोगाभिधाने शुद्धात्मन्युपयोग आत्मा तिष्ठति कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो शुद्धनिश्चयेन

आगे संवर के प्रदेश की आदि में ही सब कर्मों के संवर होने के उत्कृष्ट उपाय भेदविज्ञान की प्रशंसा करते हैं;—[उपयोगे] उपयोग में [उपयोगः] उपयोग है [क्रोधादिषु] क्रोध आदिकों में [कोपि उपयोगः] कोई उपयोग [नास्ति] नहीं है [च] और [हि] निश्चय कर [क्रोधे एव] क्रोध में ही [क्रोधः] क्रोध है [उपयोगे] उपयोग में [खलु] निश्चय कर [क्रोधः नास्ति] क्रोध नहीं है, [अष्टविकल्पे कर्मणि] आठ प्रकार के ज्ञानावरण आदि कर्मों में [च] तथा [नोकर्मणि अपि] शरीर आदि नोकर्मों में भी [उपयोगः नास्ति] उपयोग नहीं है [च] और [उपयोगे] उपयोग में [कर्म अपि च नोकर्म] कर्म और नोकर्म भी [नो अस्ति] नहीं है [यदा तु] जिस काल में [एतत्तु] ऐसा [अविपरीतं] सत्यार्थ [ज्ञानं] ज्ञान [जीवस्य] जीव के [भवति] हो जाता है [तदा] उस काल में [उपयोगशुद्धात्मा] केवल उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा [किंचित् भावं] उपयोग के विना अन्य कुछ भी भाव [न करोति] नहीं करता ।

न खल्वेकस्य द्वितीयमस्ति द्वयोर्भिन्नप्रदेशत्वेनैकसत्तानुपपत्तेस्तदसत्त्वे च तेन सहाधाराधेयसम्बन्धोऽपि नास्त्येव, ततः स्वरूपप्रतिष्ठत्वलक्षण एवाधाराधेयसम्बन्धोऽवतिष्ठते। तेन ज्ञानं जानत्तायां स्वरूपे प्रतिष्ठितम्। जानत्ताया ज्ञानादपृथग्भूतत्वात् ज्ञाने एव स्यात्। क्रोधादीनि क्रुध्यत्तादौ स्वरूपे प्रतिष्ठितानि, क्रुध्यत्तादेः क्रोधादिभ्योऽपृथग्भूतत्वात्क्रोधादिष्वेव स्युः, न पुनः क्रोधादिषु कर्मणि नोकर्मणि वा ज्ञानमस्ति, न च ज्ञाने क्रोधादयः कर्म नोकर्म वा सन्ति परस्परमत्यन्तं स्वरूपवैपरीत्येन परमार्थाधाराधेयसम्बन्धशून्यत्वात्। न च यथा ज्ञानस्य जानत्तास्वरूपं तथा क्रुध्यत्तादिरपि, क्रोधादीनां च यथा क्रुध्यत्तादिस्वरूपं तथा जानत्तापि कथञ्चनापि व्यवस्थापयितुं शक्येत, जानत्तायाः क्रुध्यत्तादेश्च स्वभावभेदेनोद्भासमानत्वात् स्वभावभेदाच्च

क्रोधादिपरिणामेषु नास्ति कोऽप्युपयोग आत्मा कोहे कोहो चेव हि क्रोधे क्रोधश्चैव हि स्फुटं तिष्ठति उवओगे णत्थि खलु कोहो उपयोगे शुद्धात्मनि नास्ति खलु स्फुटं क्रोधः॥ अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगो तथैव चाष्टविधज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मणि, औदारिकशरीरादिनोकर्मणि चैव नास्त्युपयोगः उपयोगशब्दवाच्यः शुद्धबुद्धैकस्वभावः परमात्मा उवओगह्मि य कम्मं णोकम्मं चावि णो अत्थि उपयोगे शुद्धात्मनि शुद्धनिश्चयेन कर्म नोकर्म चैव नास्ति इति। एदं तु अविवरीदं णाणं जइया दु होदि जीवस्स इदं तु चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसंवित्तिरूपं विपरीताभिनिवेशरहितं भेदज्ञानं यदा भवति जीवस्य तइया ण किंचि कुव्वदि भाव उवओगसुद्धप्पा तस्माद्भेदविज्ञानात्स्वात्मोपलम्भो भवति शुद्धात्मोपलम्भे जाते सति किमपि मिथ्यात्वरागादिभावं

टीका—निश्चय से एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कुछ भी सम्बन्धी नहीं है क्योंकि द्रव्य भिन्न भिन्न प्रदेशरूप है इसलिए एक सत्ता की अप्राप्ति है प्रत्येक द्रव्य की सत्ता भिन्न भिन्न है और सत्ता के एक न होने से अन्य द्रव्य का अन्य द्रव्य के साथ आधाराधेय सम्बन्ध भी नहीं है। इस कारण द्रव्य का अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठारूप आधाराधेय सम्बन्ध स्थित है इसलिए ज्ञान आधेय जानपने अपने स्वरूप आधार में 'प्रतिष्ठित है क्योंकि जानपना ज्ञान से अभिन्न स्वरूप है अर्थात् भिन्न प्रदेशरूप नहीं है इस कारण जाननेक्रियास्वरूप ज्ञान है वह ज्ञान में ही है, और क्रोधादिक हैं वे क्रोधरूप क्रिया जो क्रोधपना अपना स्वरूप उसी में प्रतिष्ठित हैं। क्योंकि क्रोधरूप क्रिया क्रोधादिक से अभिन्न प्रदेश है इसलिए क्रोधरूप क्रिया क्रोधादि में ही होती है। तथा क्रोधादिक में अथवा कर्म नोकर्म में ज्ञान नहीं है और ज्ञान में क्रोधादिक अथवा कर्म नोकर्म नहीं हैं क्योंकि ज्ञान का तथा क्रोधादिक और कर्म नोकर्म का आपस में स्वरूप का अत्यन्त विपरीतपना है उनका स्वरूप एक नहीं है। इसलिए परमार्थ रूप आधाराधेय सम्बन्ध का शून्यपना है। जैसे ज्ञान का जाननक्रियारूप जानपना स्वरूप है उस तरह क्रोधरूप क्रियापना स्वरूप नहीं है, तथा जैसे क्रोधादिक का क्रोधपना आदिक क्रियापना स्वरूप है उस तरह जानन क्रिया स्वरूप नहीं है किसी तरह से ज्ञान को क्रोधादि क्रियारूप परिणामस्वरूप स्थापन नहीं किया जाता क्योंकि जानन क्रिया के और क्रोधरूप क्रिया के स्वभाव को भेद कर प्रकट प्रतिभासमान हैं, स्वभाव के भेद से ही वस्तु का

वस्तुभेद एवेति नास्ति ज्ञानाज्ञानयोराधाराधेयत्वम् । किञ्च यदा किलैकमेवाकाशं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकमाकाशमेवैकस्मिन्नाकाश एव प्रतिष्ठितं विभावयतो न पराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । एवं यदैकमेव ज्ञानं स्वबुद्धिमधिरोप्याधाराधेयभावो विभाव्यते तदा शेषद्रव्यान्तराधिरोपनिरोधादेव बुद्धेर्न भिन्नाधिकरणापेक्षा प्रभवति । तदप्रभवे चैकं ज्ञानमेवैकस्मिन् ज्ञान एव प्रतिष्ठितं विभावयतो नापराधाराधेयत्वं प्रतिभाति । ततो ज्ञानमेव ज्ञाने एव । क्रोधादय एव क्रोधादिष्वेवेति साधु सिद्धं भेदविज्ञानम् ॥१८१॥१८२॥१८३॥

न करोति न परिणमति । कथंभूत सन् ? निर्विकारचिदानन्दैकलक्षणशुद्धोपयोगेन शुद्धात्मा शुद्धस्वभावः सन्निति । यत्रैवम्भूतो संवरो नास्ति तत्रास्रवो भवत्यस्मिन्नधिकारे सर्वत्र ज्ञातव्यमिति तात्पर्यम् । एवं पूर्वप्रकारेण भेदविज्ञानात् शुद्धात्मोपलम्भो भवति । शुद्धात्मोपलम्भे सति मिथ्यात्वरागादिभावं न करोति ततो नवतरकर्मसंवरो भवतीति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम् ॥ १८१॥१८२॥१८३ ॥ अथ कथं भेदज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति पुनरपि पृच्छति :—जह कणयमग्गितवियं कणयसहावं ण तं परिच्चयदि—यथा

भेद है यह नियम है। इसलिये ज्ञान का और अज्ञानस्वरूप क्रोधादिक का आधाराधेय भाव नहीं है। यहां दृष्टान्त से विशेष कहते हैं। जैसे आकाश द्रव्य एक ही है उसको अपनी बुद्धि में स्थापित करके आधाराधेयभाव कल्पित कीजिए तब आकाश के सिवाय अन्य द्रव्यों का तो अधिकरण रूप आरोप का निरोध हुआ इसीसे बुद्धि को भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रही। और जब भिन्न आधार की अपेक्षा न रही तब बुद्धि में यही ठहरा कि आकाश एक ही है वह एक आकाश में ही प्रतिष्ठित है आकाश का आधार अन्य द्रव्य नहीं है आप अपने ही आधार है। ऐसी भावना करने वाले के अन्य का अन्य में आधाराधेय भाव नहीं प्रतिभासित होता। इसी तरह जब एक ही ज्ञान को अपनी बुद्धि में स्थापित कर आधाराधेय भाव कल्पना करें तब अवशेष अन्य द्रव्यों का अधिरोप करने का निरोध हुआ क्योंकि बुद्धि को भिन्न आधार की अपेक्षा नहीं रहती। जब भिन्न आधार की अपेक्षा ही बुद्धि में न रही तब एक ज्ञान ही ज्ञान में प्रतिष्ठित सिद्ध हुआ। ऐसी भावना करने वाले को अन्य का अन्य में आधाराधेय भाव प्रतिभासित नहीं होता। इसलिए ज्ञान तो ज्ञान में ही है और क्रोधादिक क्रोधादिक में है। इस प्रकार ज्ञान का और क्रोधादिक का तथा कर्म नोकर्म के भेद का ज्ञान अच्छी तरह सिद्ध हुआ।

भावार्थ—उपयोग तो चैतन्य का परिणमन है वह ज्ञानस्वरूप है और क्रोधादिक भावकर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म ये सब पुद्‌गलद्रव्य के ही परिणाम हैं वे जड़ हैं, इनका और ज्ञान का प्रदेश भेद है, इसलिए अत्यन्त भेद है। उपयोग में तो क्रोधादिक, कर्म, नोकर्म नहीं है और क्रोधादिक, कर्म, नोकर्म में उपयोग नहीं है। इस तरह इनमें परमार्थस्वरूप आधाराधेय भाव नहीं है अपना अपना आधाराधेय भाव अपने में है। इस प्रकार इनमें परस्पर परमार्थ से अत्यन्त भेद है। इस भेद को जानना ही भेदविज्ञान है यह अच्छी तरह सिद्ध होता है ॥१८१-१८३॥

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ॥१२६॥

एवमिदं भेदविज्ञानं यदा ज्ञानस्य वैपरीत्यकणिकामप्यनासादयदविचलितमवतिष्ठते तदा शुद्धोपयोगमयात्मत्वेन ज्ञानं ज्ञानमेव केवलं सन्न किञ्चनापि रागद्वेषमोहरूपं भावमारचयति। ततो भेदविज्ञानाच्छुद्धात्मोपलम्भः प्रभवति। शुद्धात्मोपलम्भात् रागद्वेषमोहाभावलक्षणः संवरः प्रभवति।

कनकं सुवर्णमग्नितप्तमपि तं कनकस्वभावं न परित्यजति। तह कम्मोदयतविदो ण चयदि णाणी दु णाणित्तं तेन प्रकारेण तीव्रपरीषहोपसर्गेण कर्मोदयेन संतप्तोऽपि रागद्वेषमोहपरिणामपरिहारपरिणतो भेदरत्नत्रयलक्षण-

---

अब इसी अर्थ का कलश कहते हैं—चैद्रूप्यं इत्यादि। अर्थ—यह निर्मल भेदज्ञान उदय को प्राप्त होता है इसका निश्चय करने वाले सत्पुरुषों को सम्बोधन कर कहते हैं कि हे सत्पुरुषो! तुम इस भेदज्ञान को प्राप्त करके दूसरे रागादिभावों से रहित हुए एक शुद्ध ज्ञानघन के समूह को आश्रय कर उसमें लीन होकर बहुत आनन्द मानो। यह ज्ञान कैसे उदय होता है? चैतन्यरूप को धारण करता ज्ञान और जड़ रूप को धारण करता हुआ राग इन दोनों का जो अज्ञानदशा में एकत्व दीखता था उसको अन्तरङ्ग में अनुभव के अभ्यास रूप बल से अच्छी तरह विदारणकर (सब प्रकार विभाग कर) उदय होता है।

भावार्थ—ज्ञान तो चेतनास्वरूप है और रागादि पुद्गल के विकार होने से जड़ हैं सो दोनों अज्ञान से एक जड़रूप भासते हैं। सो जब भेदविज्ञान प्रकट हो जाता है तब ज्ञान का और रागादिक का भिन्नत्व अन्तरङ्ग अनुभव के अभ्यास से प्रकट होता है तब ऐसा जानता है कि, ज्ञान का स्वभाव तो जानने मात्र ही है और ज्ञान में जो रागादिक की कलुषता (मलिनता) आकुलतारूप संकल्प विकल्प प्रतिभासित होते हैं ये सब पुद्गल के विकार हैं जड़ हैं। ऐसे ज्ञान और रागादिक के भेद का आस्वाद आता है। यह भेद-विज्ञान सब विभाव भावों के मेंटने का कारण होता है और आत्मा में परमसंवरभाव को प्राप्त करता है। इसलिये सत्पुरुषों से कहते हैं कि इसको पाकर रागादिकों से रहित होकर शुद्ध ज्ञानघन आत्मा का आश्रय लेकर आनन्द को प्राप्त होओ ॥१२६॥

अब कहते हैं कि ऐसे यह भेदविज्ञान, जिस समय ज्ञान में रागादिविकाररूप विपरीतपने की कणिका को नहीं प्राप्त करता अविचलित होता है, उस समय वह ज्ञान शुद्धोपयोग स्वरूपपने कर ज्ञान रूप ही केवल हुआ किञ्चिन्मात्र भी राग द्वेष मोह भाव को प्राप्त नहीं होता। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है और शुद्धात्मा की प्राप्ति से राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवभावों का अभावस्वरूप संवर होता है।

कथं भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भः ? इति चेत्—

जह कणयमग्गितवियं पि कणयहावं ण तं परिच्चयइ ।
तह कम्मोदयतविदो ण जहदि णाणी उ णाणित्तं ॥१८४॥

एवं जाणइ णाणी अण्णाणी मुणदि रायमेवादं ।
अण्णाणतमोच्छण्णो आदसहावं अयाणंतो ॥१८५॥(युग्मं)

यथा कनकमग्नितप्तमपि कनकभावं न तं परित्यजति ।
तथा कर्मोदयतप्तो न जहाति ज्ञानी तु ज्ञानित्वम् ॥१८४॥

एवं जानाति ज्ञानी अज्ञानी जानाति रागमेवात्मानम् ।
अज्ञानतमोऽवच्छन्नः आत्मस्वभावमजानन् ॥१८५॥

यतो यस्यैव यथोदितं भेदविज्ञानमस्ति स एव तत्सद्भावाज् ज्ञानी सन्नेवं जानाति। यथा प्रचण्डपावकप्रतप्तमपि सुवर्णं न सुवर्णत्वमपोहति तथा प्रचण्डकर्मविपाकोपष्टब्ध-

भेदज्ञानी न त्यजति । किं तत् ?—शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं ज्ञानित्वं पाण्डवादिवदिति । एवं जाणदि णाणी एव-मुक्तप्रकारेण शुद्धात्मानं जानाति । कोऽसौ ? वीतरागस्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानी अण्णाणी मुणदि ... अज्ञानी पुनः पूर्वोक्तभेदज्ञानाभावात् मिथ्यात्वरागादिरूपमेवात्मानं मनुते जानाति । कथंभूतः सन् ? ... तमोच्छण्णो अज्ञानतमसोवच्छन्नः प्रच्छादितो झम्पितः । पुनरपि कथंभूतः सन् । आदसहावं अयाणंतो निर्विकार परमचैतन्यचमत्कारस्वभावं शुद्धात्मानं निर्विकल्पसमाधेरभावादजानन् अननुभवन् इति । एवं भेदज्ञानात्...

आगे पूछते हैं कि भेदविज्ञान से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति कैसे होती है ? इसका उत्तर ... में कहते हैं :—[यथा] जैसे [कनकं] सुवर्ण [अग्नितप्तं अपि] अग्नि से तप्त हुआ भी [तं] अपने [कनकभावं] सुवर्णपने को [न परित्यजति] नहीं छोड़ता [तथा] उसी तरह [ज्ञानी] ज्ञानी [कर्मोदयतप्तस्तु] कर्मों के उदय से तप्तायमान हुआ भी [ज्ञानित्वं] ज्ञानीपने के स्व... [न जहाति] नहीं छोड़ता [एवं] इस तरह [ज्ञानी] ज्ञानी [जानाति] जानता है । ... [अज्ञानी] अज्ञानी [रागमेव] राग को ही [आत्मानं] आत्मा जानता है क्योंकि वह ... [अज्ञानतमोवच्छन्नः] अज्ञानरूप अन्धकार से व्याप्त है इसलिये [आत्मस्वभावं] आत्मा स्वभाव को [अजानन्] नहीं जानता हुआ प्रवर्तता है ।

टीका—जिसके जैसा कहा गया है वैसा भेदविज्ञान है, वह उस भेदज्ञान के सद्भाव से ज्ञा... हुआ ऐसा जानता है । जैसे प्रचण्ड अग्नि से तपाया हुआ भी सुवर्ण अपने सुवर्णपने स्वभाव को ... छोड़ता उसी तरह तीव्र कर्म के उदय सहित हुआ भी ज्ञानी अपने ज्ञानपने को नहीं छोड़ता, क्यों...

मपि ज्ञानं न ज्ञानत्वमपोहति, कारणसहस्रेणापि स्वभावस्यापोढुमशक्यत्वात् । तदपोहेन तन्मात्रस्य वस्तुन एवोच्छेदात् । न चास्ति वस्तूच्छेदः सतो नाशासंभवात् । एवं जानंश्च कर्माक्रान्तोऽपि न रज्यते न द्वेष्टि न मुह्यति किन्तु शुद्धमात्मानमेवोपलभते । यस्य तु यथोदितं भेदविज्ञानं नास्ति स तदभावादज्ञानी सन्नज्ञानतमसच्छिन्नतया चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावमजानन् रागमेवात्मानं मन्यमानो रज्यते द्वेष्टि मुह्यति च न जातु शुद्धमात्मानमुपलभते । ततो भेदविज्ञानादेव शुद्धात्मोपलम्भः ॥१८४।१८५॥

शुद्धात्मोपलम्भो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥ १८४।१८५ ॥ अथ कथं शुद्धात्मोपलम्भात्संवर इति पुनरपि पृच्छति;—सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितमनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपं शुद्धात्मानं निर्विकारसुखानुभूतिलक्षणेन भेदज्ञानेन विजानन्ननुभवन् ज्ञानी जीवः । एवं गुणविशिष्टः यादृशं शुद्धात्मानं ध्यायति भावयति तादृशमेव लभते । कस्मात् ? इति चेत् उपादानकारणसदृशं कार्यमितिहेतोः जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहदि अशुद्धं मिथ्यात्वादिपरिणतमात्मानं जानन्ननुभवन् सन् अशुद्धं, नरनारकादिरूपमेवात्मानं लभते । स कः ? अज्ञानी जीव इति । एवं शुद्धात्मनोपलम्भादेव कथं संवरो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तरकथनरूपेण गाथा गता ॥ १८६ ॥ अथ केन प्रकारेण संवरो भवतीति पृष्टे पुनरपि विशेषेणोत्तरं ददाति—अप्पाणमप्पणा रुंभिदूण दो (सु) पुण्णपावजोगेसु आत्मानं कर्मत्वापन्नं आत्मनो करणभूतेन द्वयोः पुण्यपापयोगयोरधिकारभूतयोर्वर्तमानं स्वसंवेदनज्ञानबलेन शुभाशुभयोगाभ्यां सकाशाद्रुन्ध्वा व्यावर्त्य । दंसणणाणह्मि ठिदो दर्शनज्ञाने स्थितः सन् । इच्छाविरदो य अण्णह्मि अन्यस्मिन् देहरागादिपरद्रव्ये सर्वत्रेच्छा-

---

जो जिसका स्वभाव है वह हजारों कारण मिलने पर भी अपने स्वभाव के छोड़ने को असमर्थ है। यदि स्वभाव को छोड़ दे तो उसके छोड़ने से उस स्वभावमात्र वस्तु का ही अभाव हो जाय, ऐसा वस्तु का अभाव नहीं होता है क्योंकि सत्ता का नाश होना असम्भव है। ऐसा जानता हुआ ज्ञानी कर्मों से व्याप्त हुआ भी रागरूप, द्वेषरूप और मोहरूप नहीं होता। वह तो एक शुद्ध आत्मा को ही पाता है। तथा जिसके जैसा कहा गया है वैसा विज्ञान नहीं है, वह उस भेदविज्ञानके अभाव से अज्ञानी हुआ अज्ञानरूप अन्धकार से आच्छादित होने के कारण चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा के स्वभाव को नहीं जानता, रागस्वरूप ही आत्मा को मानता हुआ रागी होता है, द्वेषी होता है, मोही होता है, परन्तु शुद्ध आत्मा को कभी नहीं पाता। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति है।

भावार्थ—भेद विज्ञान से आत्मा जब ज्ञानी होता है तब कर्म के उदय से संतप्त हुआ भी अपने ज्ञानस्वभाव से नहीं छूटता। यदि स्वभाव से छूट जाय तो वस्तु का नाश हो जाय ऐसा न्याय है। इसलिये कर्म के उदय के समय ज्ञानी, रागी, द्वेषी, मोही नहीं होता। और जिसके भेदविज्ञान नहीं है वह अज्ञानी हुआ रागी, द्वेषी, मोही होता है। इसलिये यह निश्चय हुआ कि भेदविज्ञान से ही शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है ॥१८४।१८५ ॥

कथं शुद्धात्मोपलम्भादेव संवर ? इति चेत्—

सुद्धं तु वियाणंतो सुद्धं चेवप्पयं लहदि जीवो ।
जाणंतो दु असुद्धं असुद्धमेवप्पयं लहइ ॥१८६॥

शुद्धं तु विजानन् शुद्धं चैवात्मानं लभते जीवः ।
जानंस्त्वशुद्धमशुद्धमेवात्मानं लभते ॥१८६॥

यो हि नित्यमेवाच्छिन्नधारावाहिना ज्ञानेन शुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते स ज्ञानमयाद् भावात् ज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसन्तानस्य निरोधाच्छुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । यो हि नित्यमेवाज्ञानेनाशुद्धमात्मानमुपलभमानोऽवतिष्ठते सोऽज्ञानमयाद्भावादज्ञानमय एव भावो भवतीति कृत्वा प्रत्यग्रकर्मास्रवणनिमित्तस्य रागद्वेषमोहसन्तानस्यानिरोधादशुद्धमेवात्मानं प्राप्नोति । अतः शुद्धात्मोपलम्भादेव संवरः ॥१८६॥

रहितश्चेति प्रथमगाथा गता । जो यः कर्ता सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा आत्मा, पुनरपि कथंभूतः । सव्वसंगमुक्को निस्सङ्गात्मतत्त्वविलक्षणबाह्याभ्यन्तरसर्वसङ्गमुक्तः सन् । झायदि ध्यायति । कं, अप्पाणं निजशुद्धात्मानं । केन करणभूतेन । अप्पणो स्वशुद्धात्मना । णवि कम्मं णोकम्मं नैव कर्म नोकर्म ध्यायति, आत्मानं ध्यायन् । किं करोति । चेदा चिंतेदि एवं गुणविशिष्टश्चेतयितात्मा चिन्तयति । किं ? एयत्तं "एकोहं

प्रश्न—शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से ही संवर कैसे होता है ? उत्तर—[शुद्धं तु] शुद्ध आत्मा को [विजानन्] जानता हुआ [जीवः] जीव [शुद्धं चैव] शुद्ध ही [आत्मानं] आत्मा को [लभते] पाता है [तु] और [अशुद्धं आत्मानं] अशुद्ध आत्मा को [जानन्] जानता हुआ जीव [अशुद्धमेव] अशुद्ध आत्मा हो भी [लभते] पाता है।

टीका—जो पुरुष अविच्छेदरूप धारावाही ज्ञान से शुद्ध आत्मा को पाता हुआ स्थित है वह पुरुष "ज्ञानमय भाव से ज्ञानमय ही भाव होते हैं" ऐसे न्यायकर आगामी कर्म के आस्रव के निमित्त जो राग, द्वेष, मोह उनकी सन्तान (परिपाटी) रूप उत्पत्ति के निरोध से शुद्ध आत्मा को ही पाता है। और जो जीव नित्य ही अज्ञानकर अशुद्ध आत्मा को पाता हुआ स्थित है वह जीव "अज्ञानमय भाव से अज्ञानमय ही भाव होता है" ऐसे न्यायकर आगामी कर्म के आस्रवण के निमित्त जो राग-द्वेष मोह उनकी सन्तान रूप उत्पत्ति का निरोध न होने से अशुद्ध आत्मा को ही पाता है। इसलिये शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से ही संवर होता है।

भावार्थ—जो पुरुष शुद्ध आत्मा का अनुभव करता है वह तो शुद्ध को ही पाता है उसके आस्रव रुक कर संवर होता है और जो अशुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वह अशुद्ध को ही पाता है उसके आस्रव नहीं रुकते अर्थात् संवर नहीं होता ॥ १८६ ॥

यदि कथमपि धारावाहिना बोधनेन ध्रुवमुपलभमानः शुद्धमात्मानमास्ते ।
तदयमुदयदात्मारामसात्मानमात्मा परपरिणतिरोधाच्छुद्धमेवाभ्युपैति ॥१२७॥

केन प्रकारेण संवरो भवतीति चेत्—

अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण दोपुण्णपावजोएसु ।
दंसणणाणह्मि ठिदो इच्छाविरओ य अण्णह्मि ॥१८७॥
जो सव्वसंगमुक्को झायदि अप्पाणप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्मं चेदा चेयेइ[1] एयत्तं ॥१८८॥
अप्पाणं झायंतो दंसणणाणमओ अणण्णमओ ।
लहइ अचिरेण अप्पाणमेव सो कम्मपविमुक्कं ॥१८९॥(त्रिकलम्)

आत्मानमात्मना रुन्ध्वा द्विपुण्यपापयोगयोः ।
दर्शनज्ञाने स्थितः इच्छाविरतश्चान्यस्मिन् ॥१८७॥
यः सर्वसङ्गमुक्तो ध्यायत्यात्मानमात्मनात्मा ।
नापि कर्म नोकर्म चेतयिता चेतयत्येकत्वम् ॥१८८॥
आत्मानं ध्यायन् दर्शनज्ञानमयोऽनन्यमयः ।
लभतेऽचिरेणात्मानमेव स कर्मप्रविमुक्तम् ॥१८९॥

निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । वाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ।" इत्याद्येकत्वं इति द्वितीयगाथा गता । सो इत्यादि । सो स पूर्वसूत्रद्वयोक्तः पुरुषः अप्पाणं झायंतो एवं पूर्वोक्तप्रकारेणात्मानं कर्म-

---

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—यदि इत्यादि । अर्थ—जो आत्मा किसी प्रकार (महान् भाग्य से) धारावाही ज्ञान से निश्चल शुद्ध आत्मा को प्राप्त हुआ स्थित होता है वह आत्मा उदय होते हुए आत्मारूप क्रीड़ावन वाले अपने आत्मा को परपरिणतिरूप राग, द्वेष, मोह के निरोध से शुद्ध को पाता है । इस तरह शुद्ध आत्मा की प्राप्ति से संवर होता है । यहां पर जो धारावाही ज्ञान कहा गया है उसका अर्थ यह है कि जो एक प्रवाहरूप ज्ञान हो वह धारावाही है । सो इसकी दो रीतियाँ हैं–एक तो मिथ्याज्ञान बीच में न आये ऐसा सम्यग्ज्ञान वह धारावाही है और दूसरा उपयोग का ज्ञेय के साथ उपयुक्त होने की अपेक्षा है । सो जहाँ तक एक ज्ञेय से उपयोग उपयुक्त होता है वहां तक धारावाही कहा जाता है । इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त ही है, बाद में विच्छेद हो जाता है । सो जहां जैसी विवक्षा हो वहां वैसा जानना । श्रेणी चढ़े तब शुद्ध आत्मा से उपयुक्त हो धारावाही होता है ॥ १२७ ॥

आगे पूछते हैं कि वह संवर किस तरह से होता है ? उसका उत्तर कहते हैं (यः)जो [आत्मा]

---

१. चितेदि इत्यपि पाठः ।

यो हि नाम रागद्वेषमोहमूले शुभाशुभयोगे प्रवर्तमानं, दृढतरभेदविज्ञानावष्टम्भेन आत्मानं आत्मनैवात्यन्तं रुध्वा शुद्धदर्शनज्ञानात्मन्यात्मद्रव्ये सुष्ठु प्रतिष्ठितं कृत्वा समस्तपरद्रव्येच्छापरिहारेण समस्तसङ्गविमुक्तो भूत्वा नित्यमेवातिनिष्प्रकम्पः सन्, मनागपि कर्मनोकर्मणोरसंस्पर्शेन आत्मीयमात्मानमेवात्मना ध्यायन् स्वयं सहज-चेतयितृत्वादेकत्वमेव चेतयते; स खल्वेकत्वचेतने नात्यन्तविविक्तं[1] चैतन्यचमत्कार-मात्रमात्मानं ध्यायन् शुद्धदर्शनज्ञानमयमात्मद्रव्यमवाप्तः शुद्धात्मोपलंभे सति समस्त-परद्रव्यमयत्वमतिक्रान्तः सन् अचिरेणैव सकलकर्मविमुक्तमात्मानमवाप्नोति। एष संवरप्रकारः ॥१८७।१८८।१८९॥

तापन्नं चिन्तयन् निर्विकल्परूपेण ध्यायन् सन्। दंसणणाणमइओ दर्शनज्ञानमयो-भूत्वा। अणण्णमणो अनन्य-मनाश्च लहदि लभते। कमेव अप्पाणमेव आत्मानमेव। कथंभूतं, कम्मणिम्मुक्कं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मविमुक्तं। केन, अचिरेण स्तोककालेन। एवं केन प्रकारेण संवरो भवति, इति प्रश्ने सति विशेषपरिहारव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं गतम्॥ १८७।१८८।१८९॥ अथ परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं भवतीति[2] प्रश्ने सत्युत्तरं ददाति;—

जीव [आत्मानं] अपने आत्मा को [आत्मना] अपने से [द्विपुण्यपापयोगयोः] दो पुण्यपाप रूप शुभाशुभ योगों से [रुध्वा] रोक के [दर्शनज्ञाने] दर्शन ज्ञान में [स्थितः] ठहरा हुआ [अन्य-स्मिन् इच्छाविरतः] अन्यवस्तु में इच्छा रहित [च] और [सर्वसङ्गमुक्तः] सब परिग्रह से रहित हुआ [आत्मना] आत्मा से ही [आत्मानं] आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है तथा [कर्म नोकर्म] कर्म नोकर्म को [न अपि] नहीं ध्याता और आप [चेतयिता] चेतना रूप होने से [एकत्वं] उसस्वरूप एकत्व को [चिन्तयति] अनुभव करता है विचारता है [सः] वह जीव [दर्शनज्ञानमयः] दर्शनज्ञानमय हुआ [अनन्यमयः] अन्यमय नहीं होके [आत्मानं ध्यायन्] आत्मा को ध्यान करता हुआ [अचिरेण] थोड़े समय में [एव] ही [कर्मविप्रमुक्तं] कर्मों से रहित [आत्मानं] आत्मा को [लभते] पाता है।

टीका—निश्चय से जो जीव राग द्वेष मोहरूप मूलवाले ऐसे शुभाशुभ योगों में प्रवर्तमान अपने आत्मा को दृढ़तर भेदविज्ञान के बल से आप से ही अत्यन्त रोक कर, शुद्धज्ञान दर्शनरूप अपने आत्मद्रव्य में अच्छी तरह ठहरा कर, समस्त परद्रव्यों की इच्छारूप परिग्रह से रहित होकर नित्य ही निश्चल हुआ किंचिन्मात्र भी कर्म को नहीं स्पर्श करके अपने आत्मा को अपने से ही ध्यावता आप (स्वयं) चेतने वाला है, अपने चेतना रूप ही एकत्व को अनुभव करता है ज्ञान चेतनामय होता है, वह जीव निश्चय से एकत्व का अनुभव करने से परद्रव्य से अत्यन्त भिन्न चैतन्य चमत्कारमात्र अपने आत्मा का ध्याता हुआ, शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्मद्रव्य को प्राप्त होने से समस्त पर द्रव्य से पृथक् होकर थोड़े समय में ही सब कर्मों से रहित आत्मा को पाता है। यह संवर का प्रकार है।

---

१. विभक्तं इत्यपि पाठः। २. क्रियते इति पाठान्तरं।

निजमहिमरतानां भेदविज्ञानशक्त्या भवति नियतमेषां शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरे स्थितानां भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ॥१२८॥

केन क्रमेण संवरो भवतीति चेत्—

तेसिं हेऊ भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं ।
मिच्छत्तं अण्णाणं अविरयभावो य जोगो य ॥१९०॥
हेउअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो ।
आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्सवि णिरोहो ॥१९१॥
कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं पि जायइ णिरोहो ।
णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होइ ॥१९२॥ (त्रिकलम्)

तेषां हेतवः भणिताः अध्यवसानानि सर्वदर्शिभिः ।
मिथ्यात्वमज्ञानमविरतभावश्च योगश्च ॥१९०॥
हेत्वभावे नियमाज्जायते ज्ञानिनः आस्रवनिरोधः ।
आस्रवभावेन विना जायते कर्मणोऽपि निरोधः ॥१९१॥

उवदेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि ।
भण्णादि तहेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णादो य ॥

उपदेशेन परोक्षरूपं यथा द्रष्टा जानाति । भण्यते तथैव ध्रियते जीवो दृष्टश्च ज्ञातश्च । उववेसेण परोक्खं रूवं जह पस्सिदूण णादेदि यथालोके परोक्षमपि देवतारूपं परोपदेशाल्लिखितं दृष्ट्वा कश्चिद्देवदत्तो जानाति । भण्णदि तदेव घिप्पदि जीवो दिट्ठो य णावो य । तथैव वचनेन भण्यते तथैव मनसि गृह्यते । कोऽसौ ?

भावार्थ—जो जीव पहले तो रागद्वेषमोह से मिले हुए शुभ अशुभ मन वचन काय के योगों से अपनी आत्मा को भेदज्ञान के बल से चलने न दे, पीछे शुद्ध दर्शन ज्ञानमय अपने स्वरूप में निश्चल करे और फिर सब बाह्य अभ्यन्तर के परिग्रहों से रहित होकर कर्म नोकर्म से भिन्न अपने स्वरूप में एकाग्र होके ध्यान करता हुआ स्थित होता है वह थोड़े समय में ही सब कर्मों का नाश करता है । यह संवर होने की रीति है ॥ १८७।१८८।१८९ ॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—जिन इत्यादि । अर्थ—जो पुरुष भेद-विज्ञान की शक्ति से अपने स्वरूप की महिमा में लीन हैं उनको नियम से शुद्धतत्त्व की प्राप्ति होती है ओर जो उस शुद्धतत्त्व की प्राप्ति होने पर निश्चल होके समस्त अन्य द्रव्यों से दूर ठहरे हुए हैं उनके अक्षय मोक्ष होता है फिर कर्म का बन्ध नहीं होता ॥ १२८ ॥

कर्मणोऽभावेन च नोकर्मणामपि जायते निरोधः ।
नोकर्मनिरोधेन च संसारनिरोधनं भवति ॥१९२॥

सन्ति तावज्जीवस्य, आत्मकर्मैकत्वाध्यासमूलानि मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानि अध्यवसानानि। तानि रागद्वेषमोहलक्षणस्यास्रवभावस्य हेतवः। आस्रवभावः कर्महेतुः कर्म नोकर्महेतुः। नोकर्म संसारहेतुः, इति ततो नित्यमेवायमात्मा, आत्मकर्मणोरेकत्वाध्यासेन मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगमयमात्मानमध्यवस्यति। ततो रागद्वेषमोहरूपमास्रवभावं भावयति। ततः कर्म आस्रवति, ततो नोकर्म भवति, ततः संसारः प्रभवति। यदा तु आत्मकर्मणोर्भेदविज्ञानेन शुद्धं चैतन्यचमत्कारमात्रमात्मानं उपलभते तदा मिथ्यात्वाज्ञानाविरतियोगलक्षणानां अध्यवसानानां आस्रवभावहेतूनां भवत्यभावः। तदभावे रागद्वेषमोहरूपास्रवभावस्य भवत्यभावः, तदभावेऽपि भवति कर्माभावः तदभावे नोकर्माभावः, तदभावेऽपि भवति संसाराभावः। इत्येष संवरक्रमः ॥१९०।१९१।१९२॥

जीवः, केन रूपेण ? मया दृष्टो ज्ञातश्चेति मनसा संप्रधारयति। तथा चोक्तं। गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः

आगे संवर का क्रम बतलाते हैं;—[**तेषां**] पूर्व कहे हुए राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवों के [**हेतवः**] हेतु [**सर्वदर्शिभिः**] सर्वज्ञदेव ने [**मिथ्यात्वं**] मिथ्यात्व [**अज्ञानं**] अज्ञान [**च अविरतभावः**] अविरतभाव [**च योगः**] और योग ये चार [**अध्यवसानानि**] अध्यवसान [**भणिताः**] कहे हैं सो [**ज्ञानिनः**] ज्ञानी के [**हेत्वभावे**] इन हेतुओं का अभाव होने से [**नियमात्**] नियम से [**आस्रवनिरोधः**] आस्रव का निरोध [**जायते**] होता है और [**आस्रवभावेन विना**] आस्रवभाव के विना [**कर्मणः अपि**] कर्म का भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है [**च**] और [**कर्मणः अभावेन**] कर्म के अभाव से [**नोकर्मणां अपि**] नोकर्मों का भी [**निरोधः**] निरोध [**जायते**] होता है [**च**] तथा [**नोकर्मनिरोधेन**] नोकर्म का निरोध होने से [**संसारनिरोधनं**] संसार का निरोध [**भवति**] होता है।

टीका—पहले ही जीव के आत्मा और कर्म के एकत्व के निश्चयरूप मूलकारणवाले मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योगस्वरूप अध्यवसान विद्यमान हैं; वे राग-द्वेष-मोहस्वरूप आस्रवों के कारण हैं, आस्रवभाव कर्म के कारण हैं, कर्म नोकर्म के कारण हैं और नोकर्म संसार के कारण हैं। इसलिये आत्मा नित्य ही आत्मा और कर्म के एकत्व के निश्चय से आत्मा के मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगमय मानता है। उस निश्चय से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव भावों को भाता है उससे कर्म का आस्रव होता है, कर्म से नोकर्म होता है और नोकर्म से संसार प्रगट होता है। तथा जिस समय यह आत्मा, आत्मा और कर्म के भेद ज्ञान से शुद्ध चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मा को पाता है उस समय मिथ्यात्व अज्ञान अविरति योगस्वरूप अध्यवसान रूप आस्रवभावों के कारणों का इसके अभाव होता है, मिथ्यात्व आदि का अभाव होने से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव भाव का अभाव होता है, राग-द्वेष-मोह का अभाव होने से नोकर्म का अभाव होता है और नोकर्म का अभाव होने से संसार का अभाव होता है। ऐसा यह संवर का अनुक्रम है।

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात् ।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥
भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ॥१३०॥

स्वपरान्तरम् । जानाति यः स जानाति मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ अथ—

कोविदिदच्छो साहू संपडिकाले भणिज्ज रूवमिणं ।
पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं ॥

कोऽविदितार्थः साधुः संप्रतिकाले भणेत् रूपमिदं । प्रत्यक्षमेव दृष्टं परोक्षज्ञाने प्रवर्तमानं । अथ मतं भणिज्ज रूवमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं परोक्खणाणे पवट्टंतं । योऽसौ प्रत्यक्षेणात्मानं दर्शयति तस्य पार्श्वे पृच्छामो वयं । नैवं कोविदिदच्छो साहू सम्पडिकाले भणिज्ज कोऽविदितार्थः साधुः सम्प्रतिकाले ब्रूयात् ? न

भावार्थ—जीव के जब तक आत्मा और कर्म के एकत्व का आशय है-भेदविज्ञान नहीं-तब तक मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति और योगरूप अध्यवसान विद्यमान हैं, उनसे राग-द्वेष-मोहरूप आस्रवभाव होता है। आस्रवभाव से कर्म बंधते हैं, कर्म से नोकर्म शरीरादिक प्रगट होते हैं और नोकर्म से संसार है। परन्तु जिस समय आत्मा और कर्म का भेद विज्ञान हो जाता है तब शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है, उसके होने से मिथ्यात्वादि अध्यवसान का अभाव होता है, अध्यवसान का अभाव होने से राग-द्वेष-मोहरूप आस्रव का अभाव होता है, आस्रव के अभाव से कर्म नहीं बंधता, कर्म के अभाव से नोकर्म नहीं प्रगट होता और नोकर्म के अभाव से संसार का अभाव होता है। ऐसा संवर का अनुक्रम है ॥१९०।१९१।१९२॥

अब इस संवर का कारण जो पहले ही भेदविज्ञान कहा था उसकी भावना का उपदेश करते हैं उसका कलश रूप काव्य कहते हैं—संपद्यते इत्यादि। अर्थ-जिस कारण यह संवर निश्चय से साक्षात् शुद्धात्मतत्त्व के पाने से होता है। शुद्धात्मतत्त्व का पाना आत्मा और कर्म के भेदविज्ञान से होता है अर्थात् जब कर्म और आत्मा को पृथक् जाने तब आत्मा का अनुभव करे। इस कारण भेदविज्ञान को विशेषरूप से ध्यान करना चाहिये ॥१२९॥

फिर कहते हैं कि भेदविज्ञान कहां तक भावना? भावयेद् इत्यादि। अर्थ—इस भेदविज्ञान को निरन्तर धाराप्रवाह रूप जिसमें कि विच्छेद न पड़े इस तरह तब तक भावे जब तक कि ज्ञान परभावों से छूट कर अपने स्वरूप ज्ञान में ही ठहर जाय।

भावार्थ—ज्ञान का ज्ञान में ठहरना दो प्रकार से होता है। एक तो मिथ्यात्व का अभाव होकर सम्यग्ज्ञान होना और उसके बाद मिथ्यात्व नहीं होना। दूसरा यह शुद्धोपयोगरूप होकर ज्ञान ठहरे, अन्य विकाररूप नहीं परिणमें। सो जब तक दोनों प्रकार न बनें तब तक निरन्तर भेदविज्ञान की भावना रखनी चाहिये ॥ १३० ॥

भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

कोपि । किं ब्रूयात्, न कोपि । किं तु **स्वमिणं पच्चक्खमेव दिट्ठं** इदमात्मस्वरूपं प्रत्यक्षमेव मया दृष्टं । चतुर्थकाले केवलज्ञानिवत् । अपि तु नैवं । कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपम् । **परोक्खणाणे पवट्टंतं** केवलज्ञानापेक्षया परोक्षे श्रुतज्ञाने प्रवर्तमानं इति । किञ्च विस्तरः । यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया रागादिविकल्परहितं स्वसंवेदनरूपं भावश्रुतज्ञानं शुद्धनिश्चयनयेन परोक्षं भण्यते, तथापि इन्द्रियमनोजनितसविकल्पज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षम् । तेन कारणेन आत्मा स्वसंवेदनज्ञानापेक्षया प्रत्यक्षो भवति, केवलज्ञानापेक्षया पुनः परोक्षोऽपि भवति । सर्वथा परोक्ष एवेति वक्तुं नायाति । किं तु चतुर्थकालेऽपि केवलिनः, किमात्मानं हस्ते गृहीत्वा दर्शयन्ति ? तेपि दिव्यध्वनिना भणित्वा गच्छन्ति । तथापि श्रवणकाले श्रोतॄणां परोक्ष एव पश्चात्परमसमाधिकाले प्रत्यक्षो भवति । तथा इदानीं कालेऽपीति भावार्थः । एवं परोक्षस्यात्मनः कथं ध्यानं क्रियते, इति प्रश्ने परिहाररूपेण गाथाद्वयं गतम् । अथ, उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययस्वरूपाणां रागाद्यध्यवसानानामभावे सति जीवगतरागादिभावकर्मरूपाणामध्यवसानानाम् अभावो भवतीत्यादिरूपेण संवरस्य क्रमाख्याने कथयति—

तेसिं हेदू भणिदा अज्झवसाणाणि सव्वदरसीहिं । तेषां प्रसिद्धानां जीवगतरागादिविभावकर्मरूपाणांभावास्रवाणां हेतवः कारणानि भणितानि । कानि ? उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि रागाद्यध्यवसानानि । कैः, सर्वदर्शिभिः । ननु[1] अध्यवसानानि भावकर्मरूपाणि, तानि जीवगतान्येव भवन्ति उदयप्राप्तद्रव्यप्रत्ययागतानि भावप्रत्ययानि कथं भवन्तीति ? नैवं यतः कारणात् भावकर्म द्विधा भवति । जीवगतं पुद्‌गलकर्मगतं च । तथापि–भावक्रोधादिव्यक्तिरूपं जीवभावगतं भण्यते । पुद्‌गलपिण्डशक्तिरूपं पुद्‌गलद्रव्यगतं । तथा चोक्तं—**पुग्गलपिंडो दव्वं कोहादी भावदव्वं तु**—इति जीवभावगतं भण्यते । **पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु**—इति पुद्‌गलद्रव्यगतं ॥ अत्र दृष्टान्तो यथामधुरकटुकादिद्रव्यस्य भक्षणकाले जीवस्य मधुरकटुकस्वादव्यक्तिविकल्परूपं जीवभावगतं, तद्‌व्यक्तिकारणभूतं मधुरकटुकद्रव्यगतं शक्तिरूपं पुद्‌गलद्रव्यगतम् । एवं भावकर्मस्वरूपं जीवगतं पुद्‌गलगतं च द्विधेति भावकर्मव्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यम् । कानि तानि, अध्यवसानानि । **मिच्छत्तं अण्णाणं**

फिर भेदविज्ञान की महिमा कहते हैं—भेद इत्यादि । **अर्थ**—जो कोई सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जो कर्म से बंधे हैं वे इसी भेदविज्ञान के अभाव में बंधे हुए हैं ।

भावार्थ—आत्मा और कर्म की एकता के मानने से ही संसार है वहां अनादि से जबतक भेदविज्ञान नहीं है तब तक कर्म से बंधता ही है । इसलिये कर्मबन्ध का मूल भेदविज्ञान का अभाव ही है । जो बंधे हैं वे इसीके अभाव से बंधे हैं और जो सिद्ध हुए हैं वे इस भेदविज्ञान के होने पर ही हुए हैं । इस कारण भेदविज्ञान ही मोक्ष का कारण है । यहां ऐसा भी जानना कि विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध तथा वेदान्ती वस्तु को अद्वैत कहते हैं वे अद्वैत की सिद्धि अनुभव से ही कहते हैं । उनका भी इस भेदविज्ञान से अद्वैत सिद्धि कहने का निषेध हुआ, क्योंकि सर्वथा वस्तु का स्वरूप अद्वैत नहीं है, परन्तु जो मानते हैं उनका भेदविज्ञान का कथन नहीं बन सकता । भेदविज्ञान का कथन तो जब वस्तु द्वैत हो तब बन सकता है । सो जब जीव अजीव दो वस्तुएं मानें और दो का संयोग मानें तब भेद-विज्ञान बने । इस कारण स्याद्वादियों के सब निर्बाध सिद्धि होती है ॥ १३१ ॥

---

१. न तु इति पाठान्तरम् ।

भेदज्ञानोच्छलनकलनाच्छुद्धतत्त्वोपलम्भात् रागग्रामप्रलयकरणात्कर्मणां संवरेण ।
बिभ्रत्तोषं परममलालोकमम्लानमेकं ज्ञानं ज्ञाने नियतमुदितं शाश्वतोद्योतमेतत् ।१३२।
इति संवरो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ

संवरप्ररूपकः पञ्चमोऽङ्कः ॥ ५ ॥

अविरदिभावो य जोगो य मिथ्यात्वमज्ञानमविरतिर्योगश्चेति प्रथमगाथा गता । **हेदुअभावे णियमा जायदि णाणिस्स आसवणिरोहो** पूर्वोक्तानामुदयागतद्रव्यप्रत्ययानां जीवगतभावास्रवहेतुभूतानां वीतरागस्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य उदयागतद्रव्यकर्मरूपाणां अभावे सति नियमान्निश्चयात् रागादिरूपभावास्रवनिरोधलक्षणः संवरो जायते **आसवभावेण विणा जायदि कम्मस्स दु णिरोहो** निरास्रवपरमात्मतत्त्वविलक्षणस्य जीवगतभावास्रवस्य भावेन स्वरूपेण विना जायते कर्मणो निरोधरूपः संवरः । कस्य ? परमात्मतत्त्वप्रच्छादकनवतरद्रव्यकर्मणः इति द्वितीयगाथा गता ॥ **कम्मस्साभावेण य णोकम्माणं च जायदि णिरोहो** । ततश्च नवतरकर्माभावेन संवरेण शरीरादिनोकर्मणां च जायते निरोधः संवरः । **णोकम्मणिरोहेण य संसारणिरोहणं होदि** । नोकर्मनिरोधेन संवरेण संसारातीतशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतद्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारनिरोधनं भवतीति तृतीयगाथा गता ॥१९०।१९१।१९२॥ एवं संवरक्रमाख्यानेन गाथात्रयं गतम्, एवं पात्रवदास्रवविपक्षभूतः संवरो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां

तात्पर्यवृत्तौ चतुर्दशगाथाभिः षट्स्थलैः आस्रवविपक्षद्वारेण संवरनामा

पञ्चमोऽधिकारः समाप्तः ॥ ५ ॥

आगे संवर का अधिकार पूर्ण हुआ अब संवर के होने से ज्ञान कैसा है ? ऐसे ज्ञान की महिमा का कलश कहते हैं—**भेदज्ञानो** इत्यादि । **अर्थ**—यह ज्ञान, ज्ञान में ही निश्चल नियमरूप उदय को प्राप्त हुआ । प्रथम तो भेदविज्ञान के उदय होने का अभ्यास हुआ, फिर भेदविज्ञान के अभ्यास से शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति हुई, उस शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति से राग के समूह का प्रलय हुआ, राग के समूह का प्रलय करने से आस्रव के रुकने से कर्मों का संवर हुआ तथा कर्मों का संवर होने से परम संतोष को धारण करता हुआ ज्ञान प्रगट हुआ । जिस (ज्ञान) का प्रकाश निर्मल है । क्षयोपशम के दोष से जो मलिनता थी वह अब नहीं, आप भी अम्लान है अर्थात् रागादिक से जो कलुषता थी वह अब न होने से निर्मल है । एक है, क्षयोपशम से जो भेद थे वे अब नहीं हैं और जिसका नित्य उद्योत है, क्षयोपशम ज्ञान में जो क्रम होता था वह अब नहीं है । ऐसा रङ्गभूमि में संवर का स्वांग प्रविष्ट हुआ था उसको ज्ञान ने जान लिया सो नृत्य कर वह रङ्गभूमि से निकल गया ॥ १३२ ॥

---

१. यदनादिकालादरम्याशुद्धरागादिविभावरूपेण परिणतं तदेव काललब्धि प्राप्य शुद्धस्वरूपेण परिणतमित्यर्थः ।

सवैया तेईसा—भेदविज्ञान कला प्रगटै तब शुद्धस्वभाव लहै अपना ही,
राग-द्वेष विमोह सबहि गलि जाय इमें दुठ कर्म रुकाही।
उज्वल ज्ञान प्रकाश करै बहु तोष धरै परमातममाही,
यों मुनिराज भली विधि धारत केवल पाय सुखी शिव जाहीं ॥ १ ॥

यहां तक गाथा १९२ हुई और कलश १३२ हुए।

इस प्रकार पं० जयचंद्रजी कृत इस समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामा टीका की भाषा वचनिका में पांचवां संवर अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ५ ॥

अथ निर्जराधिकारः ॥ ६ ॥

अथ प्रविशति निर्जरा—

रागाद्यास्रवरोधतो निजधुरां धृत्वा परः संवरः,
कर्मागामि समस्तमेव भरतो दूरान्निरुन्धन् स्थितः ।
प्राग्बद्धं तु तदेव दग्धुमधुना व्याजृम्भते निर्जरा
ज्ञानज्योतिरपावृतं न हि यतो रागादिभिर्मूर्छति ॥१३३॥

उवभोगमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥१९३॥

उपभोगमिन्द्रियैः द्रव्याणामचेतनानामितरेषाम् ।
यत्करोति सम्यग्दृष्टिः तत्सर्वं निर्जरानिमित्तम् ॥१९३॥

तत्रैवं सति रङ्गभूमेः सकाशात् शृङ्गाररहितपात्रवत् शुद्धजीवस्वरूपेण संवरो निष्क्रान्तः । अथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपा शुद्धोपयोगलक्षणा संवरपूर्विका निर्जरा प्रविशति । उवभोज्जमिंदियेहिं इत्यादिगाथामादिं कृत्वा दण्डकान् विहाय पाठक्रमेण पञ्चाशद्गाथापर्यन्तं षट्स्थलैर्निर्जराव्याख्यानं करोति । तत्र द्रव्य-

---

दोहा—रागादिककूं मेटिकरि, नवे बन्ध हति संत ।
पूर्व उदय में सम रहे नमूं निर्जरावंत ॥

अब निर्जरा प्रवेश करती है । जिस तरह नृत्य के अखाड़े में नृत्य करने वाला स्वांग बना के प्रवेश करता है उसी तरह यहां तत्त्वों का नृत्य है । वहां रंगभूमि में निर्जरा के स्वांग का प्रवेश है । प्रथम ही सब स्वांग देखकर यथार्थ जानने वाला जो सम्यग्ज्ञान है, उसे टीकाकार मंगलरूप जान प्रकट करते हैं—

रागाद्या—इत्यादि । अर्थ—उत्कृष्ट संवर रागादिक आस्रवों के रोकने से अपनी सामर्थ्य द्वारा आगामी सब ही कर्मों को मूल में दूर ही से रोकता हुआ ठहर रहा था, अब इस संवर के होने के पहले जो कर्म बंधरूप हुआ था उसे जलाने को निर्जरारूप अग्नि फैलती है सो इस निर्जरा के प्रकट होने से ज्ञानज्योति निरावरण होकर फिर रागादिभावों से मूर्च्छित नहीं होती ।

भावार्थ—संवर होने के बाद नवीन कर्म नहीं बंधते और जो पहले बंधे हुए थे वे निर्जर हुए, तब ज्ञान का आवरण दूर होने से ज्ञान ऐसा हो जाता है कि फिर रागादिरूप नहीं परिणमता, सदा प्रकाशरूप ही रहता है ॥ १३३ ॥

आगे निर्जरा का स्वरूप कहते हैं;—[सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि जीव [यत्] जो [इन्द्रियैः] इन्द्रियों से [चेतनानां] चेतन और [इतरेषां] अन्य अचेतन [द्रव्याणां] द्रव्यों का [उपभोगं] उपभोग [करोति] करता है—उनको भोगता है [तत् सर्वं] वह सब ही [निर्जरानिमित्तं] निर्जरा के निमित्त हैं ।

विरागस्योपभोगो निर्जरायै एव, रागादिभावानां सद्भावेन मिथ्यादृष्टेरचेतनान्यद्रव्योपभोगो बन्धनिमित्तमेव स्यात् । स एव रागादिभावानामभावेन सम्यग्दृष्टेर्निर्जरानिमित्तमेव स्यात् । एतेन द्रव्यनिर्जरास्वरूपमावेदितम् ॥१९३॥

निर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तीनां क्रमेण व्याख्यानं करोति, इति पीठिकारूपेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम् तदनन्तरं ज्ञानवैराग्यशक्तेः सामान्यव्याख्यार्थं **सेवंतोवि ण सेवदि** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथापञ्चकम् । ततः परं तयोरेव ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणार्थं **परमाणुमित्तियंपि** इत्यादि तृतीयस्थले सूत्रदशकम् । ततश्च मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानानामभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मुक्तिकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं येन स्वसंवेदनज्ञानगुणेन लभ्यते तस्य सामान्यव्याख्यानार्थं **णाणगुणेंहि विहीणा** इत्यादि चतुर्थस्थले सूत्राष्टकम् । ततः परं तस्यैव ज्ञानगुणस्य विशेषविवरणार्थं**णाणी रागप्पजहो** इत्यादि पञ्चमस्थले गाथाः चतुर्दश । तदनन्तरं शुद्धनयमाश्रित्य चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मभावनाश्रितानां निश्चयनिश्शङ्काद्यष्टगुणानां व्याख्यानार्थं **सम्मादिट्ठी जीवो** इत्यादिषष्ठस्थले सूत्रनवकं कथयति । इति षड्भिरन्तराधिकारैः निर्जराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा, अथ द्रव्यनिर्जरां कथयति;—**उवभोज्जमिंदियेहिं दव्वाणमचेदणाणमिदराणं जं कुणदि सम्मदिट्ठी**—सम्यग्दृष्टिः कर्ता चेतनाचेतनद्रव्याणां सम्बन्धि यद्वस्तूपभोग्यं करोति । कैः कृत्वा ? पञ्चेन्द्रियविषयैः **तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं** तद्वस्तु मिथ्यादृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानां सद्भावेन बन्धकारणमपि सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागद्वेषमोहानामभावेन समस्तमपि निर्जरानिमित्तं भवतीति । अत्राह शिष्यः—रागद्वेषमोहाभावे सति निर्जराकारणं भणितं सम्यग्दृष्टेस्तु रागादयः सन्ति, ततः कथं निर्जराकारणं भवतीति ? अस्मिन्पूर्वपक्षे परिहारः । अत्र ग्रन्थे वस्तुवृत्त्या वीतरागसम्यग्दृष्टेर्ग्रहणं, यस्तु चतुर्थगुणस्थानवर्ती सरागसम्यग्दृष्टिस्तस्य गौणवृत्त्या ग्रहणं, तत्र तु परिहारः पूर्वमेव भणितः कथमिति चेत् ? मिथ्यादृष्टेः सकाशादसंयतसम्यग्दृष्टेः अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमाया-

---

टीका—विरागी का उपभोग निर्जरा के लिए ही होता है और मिथ्यादृष्टि के रागादिभावों के सद्भाव से चेतन अचेतन द्रव्य का उपभोग बंध के निमित्त ही होता है। इस कथन से द्रव्यनिर्जरा का स्वरूप कहा।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि को ज्ञानी कहा गया है और ज्ञानी के राग द्वेष मोह का अभाव कहा है; इसलिए विरागी का जो इन्द्रियों से भोग होता है उस भोग की सामग्री को यह सम्यग्दृष्टि ऐसा जानता है कि ये परद्रव्य है, मेरा इनका कुछ सम्बन्ध नहीं है लेकिन कर्म के उदय के निमित्त से इनका मेरा संयोग वियोग है वह चरित्र मोह के उदय की पीड़ा है सो बलहीन होने से जब तक सही नहीं जाती तब तक रोगी की तरह (जैसे रोगी रोग को अच्छा नहीं जानता परन्तु पीड़ा नहीं सही जाती तब तक ओषधि आदि से इलाज करता है उस तरह) विषयरूप भोग उपभोग सामग्री से इलाज करता है परन्तु कर्म के उदय से तथा भोगोपभोग की सामग्री से राग द्वेष मोह नहीं है। इसलिए सम्यग्दृष्टि विरागी है। इसके भोग उपभोग निर्जरा के ही निमित्त हैं। कर्म उदय होता है वह अपना रस देकर झड़ जाता है उदय आने के बाद द्रव्य कर्म की सत्ता नहीं रहती निर्जरा ही होती है। सम्यग्दृष्टि के उस कर्म उदय से रागद्वेष मोह नहीं है, उदय में आये हुए को जानता है और फल को भी भोगता है, वह रागद्वेष मोह के विना भोगता है इसलिए कर्म का

अथ भावनिर्जरास्वरूपमावेदयति—

दव्वे उवभुंजंते णियमा जायदि सुहं वा दुक्खं वा ।
तं सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि अह णिज्जरं जादि ॥१९४॥

द्रव्ये उपभुज्यमाने नियमाज्जायते सुखं वा दुःखं वा ।
तत्सुखदुःखमुदीर्णं वेदयते अथ निर्जरां याति ॥१९४॥

उपभुज्यमाने सति हि परद्रव्ये तन्निमित्तः सातासातविकल्पानतिक्रमणेन वेदनायाः सुखरूपो दुःखरूपो वा नियमादेव जीवस्य भाव उदेति । स तु यदा वेद्यते तदा मिथ्यादृष्टे रागादिभावानां सद्भावेन बन्धनिमित्तं भूत्वा निर्जीर्यमाणोऽप्यनिर्जीर्णः सन् बन्ध एव स्यात् । सम्यग्दृष्टेस्तु रागादिभावानामभावेन बन्धनिमित्तमभूत्वा केवलमेव निर्जीर्यमाणो निर्जीर्णः सन्निर्जरैव स्यात् ॥१९४॥

लोभमिथ्यात्वोदयजनिताः, श्रावकस्य चाप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनिता रागादयो न सन्तीत्यादि । किंच सम्यग्दृष्टेः संवरपूर्विका निर्जरा भवति, मिथ्यादृष्टेस्तु गजस्नानवत् बन्धपूर्विका भवति । तेन कारणेन मिथ्यादृष्टचपेक्षया सम्यग्दृष्टिरबन्धक इति । एवं द्रव्यनिर्जराव्याख्यानरूपेण गाथा गता ॥१९३॥ अथ भावनिर्जरास्वरूपमाख्याति:—दव्वे उवभुज्जंते णियमा जायदि सुहं च दुक्खं च उदयागते द्रव्यकर्मणि जीवेनोपभुज्यमाने सति नियमात् निश्चयात् सातासातोदयवशेन सुखं दुःखं वा वस्तुस्वभावत एव जायते तावत् । तं

आस्रव नहीं होता, आस्रव के विना विरागी सम्यग्दृष्टि के आगामी बन्ध नहीं होता । और जब आगामी बन्ध नहीं हुआ तब केवल निर्जरा ही हुई । इस कारण सम्यग्दृष्टि विरागी का भोगोपभोगनिर्जरा के ही निमित्त कहा गया है । तथा पूर्वकर्मों का द्रव्यकर्म उदय आकर झड़ जाना वही द्रव्यनिर्जरा है ॥१९३॥

आगे भावनिर्जरा का स्वरूप कहते हैं— [द्रव्ये च उपभुज्यमाने] परद्रव्य को भोगने से [सुखं वा दुःखं] सुख अथवा दुःख [नियमात्] नियम से [जायते] होता है । [उदीर्णं] उदय में आये हुए [तत्सुखदुःखं] उस सुख दुःख को [वेदयते] अनुभव करता है [अथ] फिर वह द्रव्यकर्म [निर्जरांयाति] झड़ जाता है ।

टीका—परद्रव्य को भोगते हुए जीव के सुखरूप अथवा दुःखरूप भाव नियम से उदय होते हैं वेदना के साता तथा असाता इस तरह दो रूप हैं इन दोनों भावों का अतिक्रमण नहीं करती । इस भाव का जीव जिस समय वेदना करता है उस समय मिथ्यादृष्टि के तो रागादिभावों के होने से आगामी कर्म बन्ध का निमित्त होकर निर्जरा रूप हुआ भी निर्जरारूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आगामी बन्ध करके निर्जरा रूप हुआ इसलिये बन्ध ही कहना चाहिए । और सम्यग्दृष्टि के उस सुख दुःख के अनुभव से रागादिभावों का अभाव होने से आगामी बन्ध के निमित्त न होने से केवल निर्जरा रूप ही होता है सो निर्जरा रूप हुआ निर्जरा ही कहना चाहिये बन्ध नहीं कह सकते ।

तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं विरागस्यैव वा किल।
यत्कोऽपि कर्मभिः कर्म भुञ्जानोऽपि न बध्यते ॥१३४॥

अथ ज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति—

जह विसमुवभुज्जंतो वेज्जो पुरिसो ण मरणमुवयादि।
पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुंजदि णेव बज्झए णाणी ॥१९५॥

यथा विषमुपभुञ्जानो वैद्यः पुरुषो न मरणमुपयाति।
पुद्गलकर्मण उदयं तथा भुङ्क्ते नैव बध्यते ज्ञानी ॥१९५॥

यथा कश्चिद्विषवैद्यः परेषां मरणकारणं विषमुपभुञ्जानोऽपि अमोघविद्यासामर्थ्येन

सुहदुक्खमुदिण्णं वेददि निरुपरागस्वसंवित्तिभावनोत्पन्नपारमार्थिकसुखाद्भिन्नं तत्सुखं दुःखं वा समुदीर्णं सत् सम्यग्दृष्टिर्जीवो रागद्वेषौ न कुर्वन् हेयबुद्धया वेदयति। न च तन्मयो भूत्वा, अहं सुखी दुःखीत्याद्यहमिति प्रत्ययेनानुभवति। अथ णिज्जरं जादि अथ अहो ततः कारणान्निर्जरां याति स्वस्थभावेन निर्जराया निमित्तं भवति! मिथ्यादृष्टेः पुनः उपादेयबुद्धया, सुख्यहं दुःख्यहमिति प्रत्ययेन बन्धकारणं भवति। किं च, यथा कोऽपि तस्करो यद्यपि मरणं नेच्छति तथापि तलवरेण गृहीतः सन् मरणमनुभवति। तथा सम्यग्दृष्टिः यद्यप्यात्मोत्थसुखमुपादेयं च जानाति, विषयसुखं च हेयं जानाति। तथापि चारित्रमोहोदयतलवरेण गृहीतः सन् तदनुभवति, तेन कारणेन निर्जरानिमित्तं स्यात्। इति भावनिर्जराव्याख्यानं गतम् ॥ १९४ ॥ अथ वीतरागस्वसंवेदनज्ञानसामर्थ्यं दर्शयति :—जह विसमुवभुञ्जंता विज्जापुरिसा ण मरणमुवयंति यथा विषमुप-

---

भावार्थ—कर्म का उदय आने पर सुख दुःख भाव नियम से उत्पन्न होते हैं उनको अनुभव करते हुए मिथ्यादृष्टि के तो रागादिक के निमित्त से आगामी कर्म का बन्ध करके निर्जरा होती है इसलिये निर्जरा किस काम की, बन्ध ही किया गया। और सम्यग्दृष्टि के उस अनुभव के रागादिकभाव नहीं होते इसलिये आगामी बन्ध भी नहीं होता। केवल निर्जरा ही हुई ॥ १९४ ॥

इसके अर्थ की आगे के कथन की सूचना का कलश कहते हैं—तज्ज्ञान इत्यादि। **अर्थ**-जो कर्म को भोगता हुआ भी कर्म से नहीं बंधता यह आश्चर्यरूप सामर्थ्य ज्ञान की है अथवा विराग की ही है। अज्ञानी को तो आश्चर्य को उत्पन्न करती है और ज्ञानी यथार्थ जानता है ॥ १३४ ॥

आगे ज्ञान की सामर्थ्य दिखलाते हैं;—[**यथा**] जैसे [**वैद्यः**] वैद्य [**विषं उपभुञ्जानः**] विष को भोगता हुआ भी [**मरणं**] मरण को [**न उपयाति**] नहीं प्राप्त होता [**तथा**] उसी तरह [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**पुद्गलकर्मणः**] पुद्गल कर्म के [**उदयं**] उदय को [**भुङ्क्ते**] भोगता है तो भी [**नैव बध्यते**] बंधता नहीं है।

टीका—जैसे कोई वैद्य, दूसरे के मरण का कारण विष को भोगता हुआ भी सफल मन्त्र तन्त्र औषध आदिक विद्या की सामर्थ्य से विष की मारणशक्ति को रोक कर उससे मरण को प्राप्त नहीं

निरुद्धतच्छक्तित्वान्न म्रियते, तथा अज्ञानिनां रागादिभावसद्भावेन बन्धकारणं पुद्गलकर्मोदयमुपभुञ्जानोऽपि अमोघज्ञानसामर्थ्यात् रागादिभावानामभावे सति निरुद्धतच्छक्तित्वात् न बध्यते ज्ञानी ॥१९५॥

अथ वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति—

जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण बज्झदि तहेव ॥१९६॥

यथा मद्यं पिबन् अरतिभावेन माद्यति न पुरुषः ।
द्रव्योपभोगे अरतो ज्ञान्यपि न बध्यते तथैव ॥१९६॥

यथा कश्चित्पुरुषो मैरेयं प्रति प्रवृत्ततीव्रारतिभावः सन् मैरेयं पिबन्नपि तीव्रा-

---

भुञ्जानाः सन्तो गारुडविद्यापुरुषा, अमोघमन्त्रसामर्थ्यात् नैव मरणमुपयान्ति । पुग्गलकम्मस्सुदयं तह भुञ्जदि णेव बज्झदे णाणी तथा परमतत्त्वज्ञानी शुभाशुभकर्मफलं भुङ्क्ते तथापि निर्विकल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानामोघमन्त्रबलान्नैव बध्यते कर्मणेति ज्ञानशक्तिव्याख्यानं गतम् ॥ १९५ ॥ अथ संसारशरीरभोगविषये वैराग्यसामर्थ्यं दर्शयति;—जह मज्जं पिवमाणो अरदिभावेण मज्जदि ण पुरिसो यथा कश्चित् पुरुषो व्याधिप्रतीकारनिमित्तं मद्यमध्ये मद्यप्रतिपक्षभूतमौषधं निक्षिप्य मद्यं पिबन्नपि रतेरभावान्न माद्यति । दव्वुवभोगे अरदो णाणीवि ण बज्जदि तहेव तथा परमात्मतत्त्वज्ञानी पञ्चेन्द्रियविषयभूताशनपानादिद्रव्योपभोगे सत्यपि यावता यावतांशेन

होता, उसी तरह अज्ञानी को रागादिभावों के सद्भाव से बन्ध का कारण ऐसे पुद्गल कर्म के उदय को भोगता हुआ भी ज्ञानी ज्ञान की अमोघ सामर्थ्य से रागादिभावों के अभाव से कर्म के उदय की आगामी बन्ध करने वाली शक्ति को रोक देता है इसलिये आगामी कर्मों से नहीं बंधता ।

भावार्थ—जैसे वैद्य अपनी विद्या की सामर्थ्य से विष की मारने रूप शक्ति का अभाव करता है उस विष को खाने पर भी उससे नहीं मरता, उसी तरह ज्ञानी के ज्ञान की सामर्थ्य कर्म के उदय की बन्ध करने रूप शक्ति को रोक देती है । इसलिये उसके कर्म का उदय भोगने में आता है तो भी आगामी बन्ध नहीं करता । यह सम्यग्ज्ञान की सामर्थ्य है ॥ १९५ ॥

आगे वैराग्य की सामर्थ्य दिखलाते हैं;—[यथा] जैसे [पुरुषः] कोई पुरुष: [मद्यं] मदिरा को [अरतिभावेन] विना प्रीति से [पिबन्] पीता हुआ [न माद्यति] मतवाला नहीं होता [तथैव] उसी तरह [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [द्रव्योपभोगे] द्रव्य के उपभोग में [अरतः] तीव्ररागरहित हुआ [न बध्यते] कर्मों से नहीं बंधता ।

टीका—जैसे कोई पुरुष मदिरा में तीव्र अरतिभाव से मदिरा (शराब) को पीता हुआ भी तीव्र अरतिभाव के कारण मतवाला नहीं होता, उसी तरह ज्ञानी भी रागादिभावों के अभाव से

रतिभावसामर्थ्यान्न माद्यति तथा रागादिभावानामभावेन सर्वद्रव्योपभोगं प्रति प्रवृत्त-तीव्रविरागभावः सन् विषयानुपभुञ्जानोऽपि तीव्रविरागभावसामर्थ्यान्न बध्यते ज्ञानी ॥१९६॥

नाश्नुते विषयसेवनेऽपि यत् स्वं फलं विषयसेवनस्य ना ।
ज्ञानवैभवविरागताबलात् सेवकोऽपि तदसावसेवकः ॥१३५॥

अथैतदेव दर्शयति—

सेवंतोवि ण सेवइ असेवमाणोवि सेवगो कोई ।
पगरणचट्ठा कस्सवि ण थ पाथरणोत्ति सो होई ॥१९७॥

सेवमानोऽपि न सेवते असेवमानोऽपि सेवकः कश्चित् ।
प्रकरणचेष्टा कस्यापि न च प्राकरण इति स भवति ॥१९७॥

निर्विकारस्वसंवित्तिशून्यवहिरात्मजीवापेक्षया रागभावं न करोति, तावता तावतांशेन कर्मणा न बध्यते । यदा तु हर्षविषादादिरूपसमस्तविकल्पजालरहितपरमयोगलक्षणभेदज्ञानबलेन सर्वथा वीतरागो भवति । तदा सर्वथा न वध्यते इति वैराग्यशक्तिव्याख्यानं गतम् । एवं यथाक्रमेण द्रव्यनिर्जराभावनिर्जराज्ञानशक्तिवैराग्यशक्ति-प्रतिपादनरूपेण निर्जराधिकारे तात्पर्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं गतम् ॥१९६॥ अथैतदेव वैराग्यशक्ति-

---

सब द्रव्यों को भोगने में तीव्र विरागभाव के कारण विषयों को भोगता हुआ भी तीव्र विरागभाव की सामर्थ्य से कर्मों से नहीं बंधता ॥१९६॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—नाश्नुते इत्यादि । अर्थ—यह पुरुष, विषयों को सेवता हुआ भी विषय सेवने के निजफल को नहीं पाता सो ज्ञान के विभव के तथा विरागता के बल से विषयों का सेवने वाला होने पर भी सेवने वाला नहीं कहा जाता ।

भावार्थ—ज्ञान और विरागता की ऐसी अचिन्त्य सामर्थ्य है कि इन्द्रियों से विषयों को सेवन करने पर भी उनका सेवने वाला नहीं कहा जाता । क्योंकि विषय सेवन का सामान्य निज-फल संसार है । ज्ञानी वैरागी के मिथ्यात्व का अभाव होने से संसार का भ्रमणरूप फल नहीं होता ॥ १३५ ॥

आगे इसी अर्थ को दृष्टान्त द्वारा दिखलाते हैं;—[कश्चित्] कोई तो [सेवमानोपि] विषयों को सेवता हुआ भी [न सेवते] नहीं सेवन करता है और [असेवमानोपि] कोई नहीं सेवन करता हुआ भी [सेवकः] सेवने वाला कहा जाता है [कस्यापि] जैसे किसी पुरुष के [प्रकरणचेष्टा अपि] किसी कार्य के करने की चेष्टा तो है अर्थात् उस प्रकरण की ही सब क्रियाओं को करता है तो भी किसीका कराया हुआ करता है [सः] वह [प्राकरणः] कार्य करने वाला स्वामी है [इति न च भवति] ऐसा नहीं कहा जाता ।

यथा कश्चित् प्रकरणे व्याप्रियमाणोऽपि प्रकरणस्वामित्वाभावात् न प्राकरणिकः, अपरस्तु तत्राव्याप्रियमाणोऽपि तत्स्वामित्वात्प्राकरणिकः । तथा सम्यग्दृष्टिः पूर्वसंचितकर्मोदयसंपन्नान् विषयान् सेवमानोऽपि रागादिभावानामभावेन विषयसेवनफलस्वामित्वाभावादसेवक एव । मिथ्यादृष्टिस्तु विषयानसेवमानोऽपि रागादिभावानां सद्भावेन विषयसेवनफलस्वामित्वात्सेवक एव ॥१९७॥

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं[1] स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या ।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यतिकरमिदं तत्त्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥१३६॥

स्वरूपं विवृणोति;—सेवंतोवि ण सेवदि असेवमाणोवि कोवि निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानी जीवः स्वकीयगुणस्थानयोग्याशनपानादिपञ्चेन्द्रियभोगं सेवमानोऽपि सेवको न भवति । अन्यः पुनरज्ञानी कश्चिद् रागादिसद्भावादसेवमानोऽपि सेवको भवति । अमुमेवार्थं दृष्टान्तेन दृढयति । पगरणचेट्ठा कस्सवि ण य पायरणोत्ति सो होदि

टीका—जैसे कोई पुरुष किसी कार्य की प्रकरण क्रिया में व्यापार रूप होकर उस सम्बन्धी सब क्रियाओं को करता है तो भी उस कार्य का स्वामी कोई दूसरा ही है उसका कराया करता है। इसलिये प्रकरण के स्वामीपन के अभाव से करने वाला नहीं है। तथा दूसरा कोई पुरुष उस प्रकरण में व्यापार रूप होकर उस कार्यसम्बन्धी क्रिया को नहीं भी करता है तो भी उस कार्य के स्वामीपन से उस प्रकरण का करने वाला कहा जाता है। उस तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व सञ्चित कर्मों के उदय से प्राप्त हुए इन्द्रियों के विषयों को सेवता है तो भी रागादिक भावों के अभाव से विषयसेवन के फलके स्वामीपन का अभाव होने से सेवने वाला नहीं कहा जाता। और मिथ्यादृष्टि, विषयों को नहीं सेवता हुआ भी रागादिभावों के सद्भाव से विषय सेवने के फल के स्वामीपने से विषयों का सेवने वाला ही कहा जाता है।

भावार्थ—जैसे कोई व्यापारी स्वयं कार्य न करके नौकर के द्वारा दुकान का कार्य कराता है। वह स्वयं कार्य न करता हुआ भी स्वामित्व के कारण दुकान सम्बन्धी हानि-लाभ का जिम्मेदार है। नौकर स्वामित्व के अभाव में व्यापार करता हुआ भी उसके लाभ-हानि का जिम्मेदार नहीं है। यहां दुकानदार के स्थान पर मिथ्यादृष्टि जानो और नौकर के स्थान पर सम्यग्दृष्टि को जानो ॥१९७॥

अब इसी अर्थ का समर्थन रूप सम्यदृष्टि के भावों की प्रवृत्ति का कलश कहते हैं—सम्य इत्यादि। अर्थ—सम्यग्दृष्टि के नियम से ज्ञान और वैराग्य की शक्ति होती है। क्योंकि यह सम्यग्दृष्टि अपने वस्तुपना यथार्थस्वरूप का अभ्यास करने को अपने स्वरूप का ग्रहण और परके त्याग की विधिकर "यह तो अपना स्वरूप है और यह परद्रव्य का है ऐसे" दोनों का भेद परमार्थ से जानकर अपने स्वरूप में ठहरता है और परद्रव्य से सब तरह राग का योग छोड़ता है। सो यह रीति ज्ञान वैराग्य की शक्ति के विना नहीं होती ॥१३६॥

---

१. सम्यग्दृष्टिरित्यर्थः ।

सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरावेवं तावज्जानाति–

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिओ जिणवरेहिं ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥१९८॥

उदयविपाको विविधः कर्मणां वर्णितो जिनवरैः ।
न तु ते मम स्वभावाः ज्ञायकभावस्त्वहमेकः ॥१९८॥

ये कर्मोदयविपाकप्रभवा विविधा भावा न ते मम स्वभावाः । एष टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावोऽहम् ॥१९८॥

सम्यग्दृष्टिर्विशेषेण तु स्वपरावेवं तावज्जानाति ।

पुग्गलकम्मं [1]रागो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो हु अहमिक्को ॥१९९॥

पुद्गलकर्म रागस्तस्य विपाकोदयो भवति एषः ।
नत्वेष मम भावः ज्ञायकभावः खल्वहमेकः ॥१९९॥

अस्ति किल रागो नाम पुद्गलकर्म, तदुदयविपाकप्रभवोऽयं रागरूपो भावः, न

यथा कस्यापि परगृहादागतस्य विवाहादिप्रकरणचेष्टा तावदस्ति, तथापि विवाहादिप्रकरणस्वामित्वाभावात् प्राकरणिको न भवति । अन्यः पुनः प्रकरणस्वामी नृत्यगीतादिप्रकरणव्यापारमकुर्वाणोऽपि प्रकरणरागसद्भावात् प्राकरणिको भवति । तथा परमतत्त्वज्ञानी सेवमानोऽप्यसेवको भवति । अज्ञानी जीवो रागादिसद्भावादसेवकोऽपि सेवक इति ॥ १९७ ॥ अथ सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वभावमनेकप्रकारेण जानाति;—उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहिं उदयविपाको विविधो नानाप्रकारः कर्मणां सम्बन्धी वर्णितः कथितः, जिन

आगे इसके समर्थन में गाथा कहते हैं; सम्यग्दृष्टि प्रथम ही अपने को और परको सामान्य से तो ऐसे जानता है;—[कर्मणां] कर्मों के [उदयविपाकः] उदय का रस [जिनवरैः] जिनेश्वर देवने [विविधः] अनेक तरह का [वर्णितः] कहा है [ते] वे कर्मविपाक से हुए भाव [मम स्वभावाः] मेरा स्वभाव [न तु] नहीं हैं [अहं तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकस्वभावस्वरूप हूँ ।

टीका—जो कर्म के उदय के रस से उत्पन्न हुए अनेक प्रकार के भाव हैं वे मेरा स्वभाव नहीं हैं मैं तो प्रत्यक्ष अनुभवगोचर टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव हूँ ॥१९८॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि अपने को और पर को विशेषकर इस तरह जानता है;—[एषः] यह [रागः] राग [पुद्गलकर्म] पुद्गल कर्म है [तस्य] उसके [विपाकोदयः] विपाक का उदय [भवति] है जो मेरे अनुभव में रागरूप प्रीतिरूप आस्वाद होता है सो [एषः] यह [मम भावः] मेरा भाव [न] नहीं है, क्योंकि [खलु] निश्चय कर [अहं तु] मैं तो [एकः] एक [ज्ञायकभावः] ज्ञायकभावस्वरूप हूँ ।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ तु अस्य स्थाने 'कोहो, इत्यपि पाठः ।

पुनर्मम स्वभावः। एष टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावोऽहं। एवमेव च रागपदपरिवर्तनेन द्वेषमोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि, अनया दिशा अन्यान्यप्यूह्यानि। एवं च सम्यग्दृष्टिः स्वं जानन्रागं मुञ्चंश्च नियमाज्ज्ञानवैराग्य[1]संपन्नो भवति ॥१९९॥

वर्‍: ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ते कर्मोदयप्रकाराः कर्मभेदा मम स्वभावा न भवन्ति इति। कस्मात्? इति चेत्, टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभावोऽहं यतः कारणात् सम्यग्दृष्टिः सामान्येन स्वपरस्वरूपावेवं जानाति इति भणितम्। कथं सामान्यं? इति चेत् क्रोधोऽहं मानोऽहमित्यादि विवक्षा नास्तीति। तदपि कथमिति चेत् "विवक्षाया अभावः सामान्यमिति वचनात्।" एवं भेदभावनारूपेण ज्ञानवैराग्ययोः सामान्यव्याख्यानमुख्यत्वेन गाथापञ्चकं गतम् ॥ १९८ ॥ इत ऊर्ध्वं गाथादशकपर्यन्तं पुनरपि ज्ञानवैराग्यशक्त्योर्विशेषविवरणं करोति। अथ सम्यग्दृष्टिः स्वपरस्वरूपमेवं विशेषेण जानाति;—पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदयो हवदि एसो पुद्गलकर्मरूपो योऽसौ द्रव्यक्रोधो जीवे पूर्वबद्धस्तिष्ठति तस्य विशिष्टपाको विपाकः फलरूप उदयो भवति। स कः? शान्तात्मतत्त्वात्पृथग्भूत एषः अक्षमारूपो भावः क्रोधः ण दु एस मज्झ भावो जाणगभावो दु अहमिक्को न वैष मम भावः। कस्मात्? इति चेत्, टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकभावोऽहं यतः। किं च—पुद्गलकर्मरूपः क्रोधःक्वास्ते? भावरूप एव दृश्यते इति? नैवं। पुद्गलपिण्डरूपो द्रव्यक्रोधस्तदुदयजनितो यश्चाक्षमारूपः स भावक्रोधः। इति व्याख्यानं पूर्वमेव कृतं तिष्ठति। कथं? इति चेत् पुग्गलपिंडो दव्वं तस्सत्ती भावकम्मं तु इत्यादि। एवमेव च क्रोधपदपरिवर्तनेन मानमायालोभरागद्वेषमोहकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि षोडशसूत्राणि व्याख्येयानि। तेनैव प्रकारेणान्यान्यपि, असंख्येयलोकमात्रप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानीति ॥ १९९ ॥ अथ कथं तव स्वरूपं न भवतीति पृष्टे सति भेदभावनारूपेणोत्तरं ददाति;—

कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो।
परदव्वाणुवओगो ण दु देहो हवदि अण्णाणी ॥

टीका—निश्चय से रागनामा पुद्गलकर्म है उस पुद्गलकर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर रागरूप भाव है वह मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप हूँ। इस गाथा में परभाव को विशेष राग कहा है उसी तरह राग की जगह पद पलटने से द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म नोकर्म, मन, वचन, काय, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसन, स्पर्शन ये पद रखकर सोलह सूत्रों का व्याख्यान करना। और इसी उपदेश से अन्य को भी विचार लेना। इस तरह सम्यग्दृष्टि अपने को जानता हुआ राग को छोड़ता नियम से ज्ञान, वैराग्य सम्पन्न होता है ॥ १९९ ॥

---

१. वैराग्याभ्यां इत्यपि पाठः।

एवं सम्मद्दिट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणयसहावं ।
उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः आत्मानं जानाति ज्ञायकस्वभावम् ।
उदयं कर्मविपाकं च मुञ्चति तत्त्वं विजानन् ॥२००॥

एवं सम्यग्दृष्टिः सामान्येन विशेषेण च परस्वभावेभ्यो भावेभ्यो सर्वेभ्योऽपि विविच्य टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावात्मनस्तत्त्वं विजानाति । तथा तत्त्वं विजानंश्च स्वपरभावोपादानापोहननिष्पाद्यं स्वस्य वस्तुत्वं प्रथयन् कर्मोदयविपाकप्रभवान् भावान् सर्वानपि मुञ्चति । ततोऽयं नियमात् ज्ञानवैराग्याभ्यां संपन्नो भवति ॥२००॥

कथमेष तव न भवति विविधः कर्मोदयफलविपाकः । परद्रव्याणामुपयोगो न तु देहो भवति अज्ञानी । **कह एस तुज्झ ण हवदि विविहो कम्मोदयफलविवागो** कथमेष विविधकर्मोदयफलविपाकस्तवस्वरूपं न भवतीति केनापि पृष्टः तत्रोत्तरं ददाति **परदव्वाणुवओगो** निर्विकारपरमाह्लादैकलक्षणस्वशुद्धात्मद्रव्यात्पृथग्भूतानि परद्रव्याणि यानि कर्माणि जीवे लग्नानि तिष्ठन्ति तेषामुपयोग उदयोयं, औपाधिकस्फटिकस्य परोपाधिवत् । न केवलं भावक्रोधादि मम स्वरूपं न भवति, **इति ण दु देहो हवदि अण्णाणी** देहोऽपि मम स्वरूपं न भवति हु स्फुटं । कस्मादिति चेत्, अज्ञानी जडस्वरूपो यतः कारणात्, अहं पुनः अनन्तज्ञानादिगुणस्वरूप इति । अथ सम्यग्दृष्टिः स्वस्वभावं जानन् रागादींश्च मुञ्चन् नियमाज्ज्ञानवैराग्यसंपन्नो भवति इति कथयति;—**एवं सम्माइट्ठी अप्पाणं मुणदि जाणगसहावं** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिर्जीवः आत्मानं जानाति । कथंभूतं ?

आगे इसी अर्थ को सूचित करने वाली गाथा कहते हैं;—[**एवं**] इस तरह [**सम्यग्दृष्टिः**] सम्यग्दृष्टि [**आत्मानं**] अपने को [**ज्ञायकस्वभावं**] ज्ञायक स्वभाव [**जानाति**] जानता है [**च**] और [**तत्त्वं**] वस्तु के यथार्थ स्वरूप को [**विजानन्**] जानता हुआ [**उदयं**] कर्म के उदय को [**कर्मविपाकं**] कर्म का विपाक जान उसे [**मुञ्चति**] छोड़ता है ।

टीका—इस तरह सम्यग्दृष्टि, सामान्य तथा विशेष सभी परभावों से भिन्न होकर टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभाव स्वभावरूप आत्मा के तत्त्व को अच्छी तरह जानता है और उस प्रकार तत्त्व को अच्छी तरह जानता हुआ स्वभाव का ग्रहण और परभाव का त्यागकर उत्पन्न हुए अपने वस्तुपने को फैलाता हुआ कर्म के उदय के विपाक से उत्पन्न हुए जो भाव उन सब को छोड़ता है । इसलिए यह सम्यग्दृष्टि नियम से ज्ञान वैराग्य से सम्पन्न होता है । यह सिद्ध हुआ ।

भावार्थ—जब अपने को तो ज्ञायक भावस्वरूप—सुखमय जाने और कर्म के उदय से हुए भावों को आकुलता रूप—दुःखमय जाने तब ज्ञानरूप रहना तथा परभावों से विरागता ये दोनों होते ही हैं । यह बात प्रगट अनुभवगोचर है, यही सम्यग्दृष्टि का चिन्ह है ॥२००॥

सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं जातु बन्धो न मे स्या-
दित्युत्तानोत्पुलकवदना रागिणोऽप्याचरन्तु ।
आलम्बन्तां समितिपरतां ते यतोऽद्यापि पापा
आत्मानात्मावगमविरहात्सन्ति सम्यक्त्वरिक्ताः ॥१३७॥

टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभावं । उदयं कम्मविवागं य मुअदि तच्चं वियाणंतो उदयं पुनर्मम स्वरूपं न भवति कर्मविपाकोयमिति मत्वा मुञ्चति । किं कुर्वन् सन् ? नित्यानन्दैकस्वभावं परमात्मतत्त्वं त्रिगुप्तिसमाधौ स्थित्वा जानन्निति ॥ २०० ॥ तद्यथा रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति कथयति;—परमाणुमित्तयंपि य रागादीणं

आगे कहते हैं कि ऐसा न हो और परद्रव्यों से आसक्तता रूप रागी हो तब वृथा ही सम्यग्दृष्टिपने का अभिमान करता है । सम्यग्दृष्टि इत्यादि—अर्थ—जो परद्रव्य के रागद्वेष मोह से संयुक्त हैं और अपने को ऐसा मानते हैं कि मैं सम्यग्दृष्टि हूं मेरे कदाचित् कर्म का वन्ध नहीं होता; क्योंकि शास्त्रों में सम्यग्दृष्टि के वन्ध होना नहीं कहा है । ऐसा मानकर जिनका मुख गर्वसहित ऊँचा हुआ है तथा हर्ष सहित रोमाञ्चरूप हुआ है वे जीव महाव्रतादि आचरण करें तथा वचन विहार आहार की क्रिया में यत्न से प्रवर्तने की उत्कृष्टता को भी अवलम्बन करें तो भी पापी मिथ्यादृष्टि ही हैं क्योंकि आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित हैं । इसलिये सम्यक्त्व से शून्य हैं।

भावार्थ–जो अपने को सम्यग्दृष्टि माने और परद्रव्य से राग हो तो उसके सम्यक्त्व कैसा ? व्रतसमिति पालें तो भी आप परके ज्ञान के विना पापी ही हैं, तथा अपने वन्ध नहीं होना मानकर स्वच्छन्द प्रवर्ते तो कैसा सम्यग्दृष्टि । क्योंकि चारित्रमोह के राग से जब तक यथाख्यात चारित्र न हो तब तक वन्ध तो होता ही है । जब तक राग रहता है तब तक सम्यग्दृष्टि अपनी निन्दा (गर्हा) करता ही रहता है, ज्ञान होने मात्र से तो वन्ध से छूटना नहीं होता, ज्ञान होने के बाद उसी में लीनरूप शुद्धोपयोगरूप चारित्र से वन्धन कटता है । इसलिये राग होने पर बन्ध का न होना मानकर स्वच्छन्द होना तो मिथ्यादृष्टि ही है । यहां कोई पूछे कि व्रतसमिति तो शुभकार्य हैं उनको पालने पर भी पापी क्यों कहा ? उसका समाधान–सिद्धान्त में मिथ्यात्व को ही पाप कहा है जहां तक मिथ्यात्व रहता है वहां तक शुभ अशुभ सभी क्रियाओं को अध्यात्म में परमार्थ से पाप ही कहा है और व्यवहारनय की प्रधानता में व्यवहारी जीवों को अशुभ से छुड़ाकर शुभ में लगाने को किसी तरह पुण्य भी कहा है स्याद्वादमत में कोई विरोध नहीं है । फिर कोई पूछे कि परद्रव्य से जब तक राग रहे तब तक मिथ्यादृष्टि कहा है सो इस को हम नहीं समझे क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदय से रागादिभाव होते हैं उसके सम्यक्त्व किस तरह कहा है ? उसका समाधान—यहां मिथ्यात्व सहित अनन्तानुवन्धी का राग प्रधान करके कहा है, क्योंकि अपने और परके ज्ञान श्रद्धान के विना परद्रव्य में तथा उसके निमित्त से हुए भावों में आत्मबुद्धि हो तथा प्रीति अप्रीति हो तब समझना कि इसके भेदज्ञान नहीं हुआ । मुनिपद लेकर व्रतसमिति भी पालता है वहां पर जीवों की रक्षा तथा शरीर सम्बन्धी यत्न से प्रवर्तना, अपने शुभ भाव होना इत्यादि परद्रव्य सम्वन्धी भावों से अपना मोक्ष होना माने और पर जीवों का घात होना अयत्नाचाररूप प्रवर्तना अपना अशुभभाव होना इत्यादि परद्रव्यों की क्रिया से ही अपने में वन्ध

कथं रागी न भवति सम्यग्दृष्टिरिति चेत्—

परमाणुमित्तयं पि हु रायादीणं तु विज्जदे जस्स ।
णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि ॥२०१॥
अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चावि सो अयाणंतो ।
कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो ॥२०२॥ (युग्मम्)

परमाणुमात्रमपि खलु रागादीनां तु विद्यते यस्य ।
नापि स जानात्यात्मानं तु सर्वागमधरोऽपि ॥२०१॥
आत्मानमजानन् अनात्मानं चापि सोऽजानन् ।
कथं भवति सम्यग्दृष्टिर्जीवाजीवावजानन् ॥२०२॥

तु विज्जदे जस्स परमाणुमात्रमपि रागादीनां तु विद्यते यस्य हृदये हु स्फुटं णवि सो जाणदि अप्पाणयं तु सव्वागमधरोवि स तु परमात्मतत्त्वज्ञानाभावात् शुद्धबुद्धैकस्वभावं परमात्मानं न जानाति, नानुभवति । कथंभूतोऽपि ?

माने तब तक जानना कि इसके अपना और परका ज्ञान नहीं हुआ, क्योंकि बंधमोक्ष तो अपने भावों से था परद्रव्य तो निमित्तमात्र था, उसमें विपर्यय माना, इसलिये परद्रव्य से ही भला बुरा मान रागद्वेष करता है तब तक सम्यग्दृष्टि नहीं है । और जब तक चारित्रमोह के रागादिक रहते हैं उनकी तथा उनसे प्रेरित परद्रव्य सम्बन्धी शुभाशुभ क्रिया में प्रवृत्तियों को ऐसा मानता है कि यह कर्म का जोर है इससे निवृत्त होने से ही मेरा भला है, उनको रोग के समान जानता है, पीड़ा सही नहीं जाती तब उनका इलाज करने रूप प्रवर्तता है तो भी इसके उनसे राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो रोग मानें उसके राग कैसा ? उसके मेंटने का ही उपाय करता है सो मेंटना भी अपने ही ज्ञान परिणामरूप परिणमन से मानता है । इस तरह परमार्थ अध्यात्मदृष्टि से यहां व्याख्यान जानना । मिथ्यात्व के विना चारित्र मोह सम्बन्धी उदय के परिणाम को यहां राग नहीं कहा, इसलिये सम्यग्दृष्टि के ज्ञान वैराग्यशक्ति का अवश्य होना कहा है । मिथ्यात्वसहित राग को ही राग कहा गया है वह सम्यग्दृष्टि के नहीं है और जिसके मिथ्यात्वसहित राग है वह सम्यग्दृष्टि नहीं है । उस भेद को सम्यग्दृष्टि ही जानता है । मिथ्यादृष्टि का अध्यात्मशास्त्र में प्रथम तो प्रवेश ही नहीं है और जो प्रवेश करे तो उलटा समझता है, व्यवहार को सर्वथा छोड़ भ्रष्ट हो जाता है, अथवा निश्चय को अच्छी तरह नहीं जानकर व्यवहार से ही मोक्ष मानता है परमार्थ तत्त्व में मूढ है । इसलिये यथार्थ स्याद्वादनय द्वारा सत्यार्थ समझने से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है ॥१३७॥

आगे पूछते हैं कि सम्यग्दृष्टि रागी किस तरह नहीं होता ? उसका उत्तर कहते हैं,—(खलु) निश्चय करके (यस्य) जिस जीव के (रागादीनां) रागादिकों का (परमाणुमात्रमपि) लेश-मात्र (अंशमात्र) भी (तु विद्यते) मौजूद है सो (सः) वह जीव (सर्वागमधरोपि) सब शास्त्रों को पढ़ा हुआ होने पर भी (आत्मानं तु) आत्मा को (नापि) नहीं (जानाति) जानता (च) और

यस्य रागादीनामज्ञानमयानां भावानां लेशतोऽपि विद्यते सद्भावः, भवतु स श्रुतकेवलिकल्पोऽपि[1], तथापि[2] ज्ञानमयभावानामभावेन न जानात्यात्मानम्। यस्त्वात्मानं न जानाति सोऽनात्मानमपि न जानाति स्वरूपपररूपसत्ताऽसत्ताभ्यामेकस्य वस्तुनो निश्चीयमानत्वात्। ततो य आत्मानात्मानौ न जानाति स जीवाजीवौ न जानाति। यस्तु जीवाजीवौ न जानाति स सम्यग्दृष्टिरेव न भवति। ततो रागी ज्ञानाभावान्न भवति सम्यग्दृष्टिः ॥२०१।२०२॥

सर्वागमवरोऽपि सिद्धान्तसिन्धुपारगोऽपि। अप्पाणमयाणंतो अणप्पयं चेव सो अयाणंतो स्वसंवेदनज्ञानबलेन सहजानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानमजानन्, तथैवाभावयंश्च शुद्धात्मनो भिन्नं रागादिरूपमनात्मानं चाजानन् कह होदि सम्मदिट्ठी जीवाजीवे अयाणंतो स पुरुषो जीवाजीवस्वरूपमजानन् सन् कथं भवति सम्यग्दृष्टिः? न कथम-

---

(आत्मानं) आत्मा को (अजानन्) नहीं जानता हुआ (अनात्मानं अपि) पर को भी (अजानन्) नहीं जानता है (जीवाजीवौ) इस तरह जो जीव और अजीव दोनों पदार्थों को भी (अजानन्) नहीं जानता (सः) वह (सम्यग्दृष्टिः) सम्यग्दृष्टि (कथं भवति) कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

टीका—जिस जीव के लेश मात्र भी अज्ञानमय रागादिकभाव हैं वह जीव श्रुतकेवली के समान भी हो तो भी ज्ञानमय भाव के अभाव के कारण आत्मा को नहीं जानता। और अपने आत्मा को नहीं जानता है वह अनात्मा (पर) को भी नहीं जानता। क्योंकि अपना और परका स्वरूप का सत्त्व तथा असत्त्व दोनों एक ही वस्तु के निश्चय में आ जाते हैं। इसलिये ऐसा है कि जो आत्मा और अनात्मा दोनों को नहीं जानता है वह जीव अजीव वस्तु को ही नहीं जानता, तथा जो जीव अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। इसलिये रागी है वह ज्ञान के अभाव से सम्यग्दृष्टि नहीं है।

भावार्थ—यहाँ रागी कहने से अज्ञानमय रागद्वेष मोह भाव लिये गये हैं। उसमें भी अज्ञान मय कहने से मिथ्यात्व अनन्तानुवन्धी से हुए रागादिक समझना, मिथ्यात्व के विना चारित्रमोह के उदय का राग नहीं लेना। क्योंकि अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह के उदय सम्बन्धी राग है वह ज्ञान सहित है उसको रोग के समान जानता है उस रोग के साथ राग नहीं है कर्मोदय से जो राग हुआ है उसको मेंटना चाहता है। और जो राग का लेशमात्र भी इसके नहीं कहा सो ज्ञानी के अशुभ राग तो अत्यन्त गौण है परन्तु शुभ राग होता है उस शुभ राग को अच्छा समझ लेशमात्र भी उस राग से राग करे तो सर्वशास्त्र भी पढ़ लिये हैं मुनि भी हो व्यवहारचारित्र भी पाले तो भी ऐसा समझना चाहिये कि इसने अपने आत्मा का परमार्थस्वरूप नहीं जाना कर्मोदयजनितभाव को ही अच्छा समझा है उसी से अपना मोक्ष होना मान रक्खा है। ऐसे मानने से अज्ञानी ही है। अपने और परके परमार्थरूप को नहीं जाना तब जानना चाहिये कि जीव अजीव पदार्थ का भी परमार्थरूप नहीं जाना और जब जीव अजीव को ही नहीं जाना तब कैसा सम्यग्दृष्टि? ऐसा जानना ॥२०१।२०२॥

---

१. सदृशोऽपि—इत्यपि पाठः। २. ज्ञानमयस्य भावस्य इत्यपि पाठः।

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः-
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥१३८॥

पीति। किंच—रागी सम्यग्दृष्टिर्न भवतीति भणितं भवद्भिः। तर्हि चतुर्थपञ्चमगुणस्थानवर्तिन-, तीर्थंकर-कुमार-भरत-सगर-राम-पाण्डवादयः सम्यग्दृष्टयो न भवन्ति ?, इति। तन्न, मिथ्यादृष्टयपेक्षया त्रिचत्वारिंशत्प्रकृतीनां बन्धाभावात् सरागसम्यग्दृष्टयो भवन्ति। कथं इति चेत्, चतुर्थगुणस्थानवर्तिनां जीवानां अनन्तानुबन्धिक्रोधमानमायालोभमिथ्यात्वोदयजनितानां पाषाणरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्। पञ्चमगुणस्थानवर्तिनां पुनर्जीवानां, अप्रत्याख्यानक्रोधमानमायालोभोदयजनितानां भूमिरेखादिसमानानां रागादीनामभावात्, इति पूर्वमेव भणितमास्ते। अत्र तु ग्रन्थे पञ्चमगुणस्थानादुपरितनगुणस्थानवर्तिनां वीतरागसम्यग्दृष्टीनां मुख्यवृत्या ग्रहणं, सरागसम्यग्दृष्टीनां गौणवृत्येति व्याख्यानं सम्यग्दृष्टिव्याख्यानकाले सर्वत्र तात्पर्येण

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—आ संसारात् इत्यादि। अर्थ—श्रीगुरु संसारी भव्यजीवको संबोधन करते हैं कि हे अन्धे प्राणियो ! जो रागी पुरुष हैं वे अनादि संसार से लेकर जिस पद में सोते हैं उस पद को तुम अपद समझो, यह तुम्हारा स्थान नहीं है। यहाँ दोबार कहने से अति करुणाभाव सूचित होता है। फिर कहते है कि तुम्हारा ठिकाना यह है यह है जहाँ चैतन्य धातु शुद्ध है शुद्ध है अपने स्वाभाविक रस के समूह से स्थायीभावपने को प्राप्त है। यहाँ पर दो शुद्ध पद हैं वे द्रव्य और भाव दोनों की शुद्धता के लिये हैं। सो अन्य द्रव्यों से भिन्नता वह तो द्रव्य शुद्धता है और परके निमित्त से हुए अपने भाव उनसे रहितभाव शुद्ध कहे जाते हैं सो इस तरफ आओ इस तरफ आओ यहाँ निवास करो।

भावार्थ—ये प्राणी अनादि संसार से लेकर रागादिक को अच्छा जानकर उनको ही अपना स्वभाव मानकर उन्हीं में निश्चित हैं उनको श्री गुरुदयालु होकर संबोधन करते हैं कि हे अंधे प्राणियो ! तुम जिस पद में सोते हो वह तुम्हारा पद नहीं है तुम्हारा पद तो चैतन्य स्वरूपमय है उसको प्राप्त होओ ऐसे सावधान करते हैं। जैसे कोई महन्त पुरुष मद पीकर मलिन जगह में सोता हो उसको कोई आकर जगावे और कहे कि तेरी जगह तो सुवर्णमय धातु की अतिदृढ़ शुद्ध सुवर्ण से रची और बाह्य कजौड़े से रहित शुद्ध ऐसी है। सो हम बतलाते हैं वहाँ आओ वहाँ ही शयनादिक आनन्द रूप हो। उसी तरह श्री गुरु ने उपदेश से सावधान किया है कि बाह्य तो अन्य द्रव्यों से मिलाप नहीं और अन्तरंग विकार नहीं ऐसे शुद्ध चैतन्यरूप अपने भाव का आश्रय करो। दो दो बार कहने से अतिकरुणा अनुराग सूचित होता है ॥१३८॥

आगे पूछते हैं कि वह पद कहाँ है ? उसका उत्तर कहते हैं,—(आत्मानं) आत्मा में (अप-

किन्नाम तत्पदम् ? इत्याह—

आदह्मि दव्वभावे अपदे मोत्तूण गिण्ह तह णियदं ।
थिरमेगमिमं भावं उवलब्भंतं सहावेण ॥२०३॥

आत्मनि द्रव्यभावानपदानि मुक्त्वा गृहाण तथा नियतम् ।
स्थिरमेकमिमं भावमुपलभ्यमानं स्वभावेन ॥२०३॥

इह खलु भगवत्यात्मनि बहूनां द्रव्यभावानां मध्ये ये किल अतत्स्वभावेनोपलभ्यमानाः, अनियतत्वावस्थाः, अनेके, क्षणिकाः, व्यभिचारिणो भावाः ते सर्वेऽपि स्वयमस्थायित्वेन स्थातुः स्थानं भवितुम[2] शक्यत्वादपदभूताः । यस्तु तत्स्वभावेनोपलभ्यमानो नियतत्वावस्थः, एकः, नित्यः अव्यभिचारी भावः, स एक एव स्वयं स्थातुः स्थानं भवितुं[3] शक्यत्वात् पदभूतः । ततः सर्वानेवास्थायिभावान् । मुक्त्वा स्थायिभावभूतं, परमार्थरसतया स्वदमानं ज्ञानमेकमेवेदंस्वाद्यम् ॥२०३॥

ज्ञातव्यम् ॥२०१।२०२ ॥ अथ किं तत् परमात्मपदमिति पृच्छति,—आदह्मि दव्वभावे अथिरे मोत्तूण आत्मद्रव्येऽधिकरणभूते, द्रव्यकर्माणि भावकर्माणि च यानि तिष्ठन्ति तानि विनश्वराणि, इति विज्ञाय मुक्त्वा

दानि) पर निमित्त से हुए अपद रूप (द्रव्यभावान्) द्रव्य भावरूप सभी भावों को (मुक्ता) छोड़कर (नियतं) निश्चित (स्थिरं) स्थिर (एकं) एक (स्वभावेन) स्वभाव से ही (उपलभ्यमानं) ग्रहण होने योग्य (इमं) इस प्रत्यक्ष अनुभवगोचर (भावं) चैतन्य मात्र भाव को हे भव्य ! तू (तथागृहाण) जैसा है वैसा ग्रहण कर। वही अपना पद है।

टीका—निश्चय से इस भगवान् आत्मा में द्रव्यभावरूप बहुत भाव दीखते हैं। उनमें कोई तो उस आत्मा के स्वभाव से रहित हैं वे अनिश्चित अवस्था रूप हैं, क्षणिक हैं, व्यभिचारी हैं, ऐसे भाव हैं, वे सभी अस्थायी हैं जिनका ठहरने का स्वभाव नहीं है, इसलिये ठहरने वाले आत्मा के ठहरने का स्थान होने के योग्य नहीं हैं। इस कारण वे अपदस्वरूप हैं और जो भाव आत्मस्वभाव से तो ग्रहण में आता है तथा सदा निश्चित रहता है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है ऐसा एक चैतन्यमात्र ज्ञान भाव है। सो आप स्थायी भावस्वरूप है सदा विद्यमान पाया जाता है, वह ही स्थित होनेवाले आत्मा का ठहरने का स्थान होने योग्य है। इसलिये यह भाव पदभूत है। इस कारण सभी अस्थायी भावों को छोड़कर स्थायीभूत परमार्थरसरूप से स्वाद में आता हुआ यह ज्ञान है वही एक आस्वादन करने योग्य है।

१, तात्पर्यवृत्तौ, 'अथिरे मोत्तूण' इति पाठः। २. अशक्तवाद्। ३. शक्तत्वात इति पाठोऽस्तः।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदम्[1]।
अपदान्येव[2] भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः[3] ॥१३९॥
एकं ज्ञायकभावनिर्भरमहास्वादं समासादयन्
स्वादं द्वन्द्वमयं विधातुमसहः स्वां वस्तुवृत्तिं विदन्।
आत्मात्मानुभवानुभावविवशो भ्रश्यद्विशेषोदयं[4]
सामान्यं कलयत्किलैष सकलं ज्ञानं नयत्येकताम् ॥१४०॥

गिण्ह हे भव्य गृहाण स्वीकुरु। कं? कर्मतापन्नं तव णियदं थिरमेगमिमं भावं उपलब्भंतं सहावेण भावं आत्मपदार्थं। कथंभूतं? तव सम्बन्धि स्वरूपम्। नियतं निश्चितम्। पुनरपि कथंभूतं? थिरं स्थिरं, अविनश्वरम्। एकम् असहायम्। इमं प्रत्यक्षीभूतम्। पुनरपि किंविशिष्टम् उपलभ्यमानमनुभूयमानम्। केन

भावार्थ—पूर्व वर्णादिक गुणस्थानांत भाव कहे थे वे सभी आत्मा में अनियत, अनेक, क्षणिक, व्यभिचारी ऐसे भाव हैं वे आत्मा के पद नहीं हैं। और यह जो स्वसंवेदनस्वरूप ज्ञान है वह नियत है, एक है, नित्य है, अव्यभिचारी है, स्थायीभाव है। वह आत्मा का पद है सो ज्ञानियों के यही एक स्वाद लेने योग्य है ॥२०३॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—एकमेव इत्यादि। अर्थ—वही एक पद आस्वादने योग्य है जो आपदाओं का पद नहीं है अर्थात् जिस पद में कोई भी आपदा प्रवेश नहीं कर सकती। जिसके आगे अन्य सभी पद अपद प्रतिभासित होते हैं।

भावार्थ—एक ज्ञान ही आत्मा का पद है इसमें कुछ भी आपदा नहीं है इसके आगे अन्य सभी पद आपदास्वरूप (आकुलतामय) अपद भासते हैं ॥१३९॥

फिर कहते हैं कि आत्मा, ज्ञान का अनुभव इस तरह करता है-एकं ज्ञायक इत्यादि। अर्थ-यह आत्मा, ज्ञान के विशेषों के उदय को गौण करता हुआ सामान्यमात्र ज्ञान को अभ्यास करता सब ज्ञान को एकभावस्वरूप प्राप्त करता है, एक ज्ञायकमात्र भाव से भरे हुए ज्ञान के महास्वाद को लेता है, मिले हुए वर्णादिक रागादिक तथा क्षायोपशमरूप ज्ञान के भेदरूप स्वाद उसके लेने को असमर्थ है अर्थात् ज्ञान में ही एकाग्र हो जाता है तब दूसरा स्वाद नहीं आता, अपनी वस्तु की प्रवृत्ति को जानता है आस्वाद करता है क्योंकि वह आत्मा के अनुभव (आस्वाद) के प्रभाव से विवश है अर्थात् उसी स्वाद के आधीन है वहाँ से चिग नहीं सकता, अद्वितीय स्वाद लेता हुआ बाहर क्यों आये ?

भावार्थ—इस एक स्वरूप ज्ञान के रसीले स्वाद के सामने अन्य रस फीके हैं। ज्ञान के विशेष ज्ञेय के निमित्त से होते हैं। सो जब ज्ञान सामान्य का स्वाद लिया जाता है तब सब ज्ञान के भेद भी गौण हो जाते हैं एक ज्ञान ही ज्ञेय रूप हो जाता है। यहां कोई पूछे कि छद्मस्थ को पूर्णरूप केवल ज्ञान का स्वाद कैसे आता है? उसका उत्तर पहले शुद्धनय के कथन में दे दिया था ॥१४०॥

---

१. विपदां चातुर्गतिकदुःखानां। २. अपदानि अस्वभावभूतानि चातुर्गतिकपर्याया वा रागद्वेषसुख-दुःखावस्थाभेदा वा। ३. स्थैर्यादिधर्मान्वितस्य चैतन्यस्य पुरस्तात्। ४. गौणीकुर्वत्।

तथाहि—

आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं ।
सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि ॥२०४॥

आभिनिबोधिकश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलं च तद्भवत्येकमेव पदम् ।
स एष परमार्थो यं लब्ध्वा निर्वृतिं याति ॥ २०४ ॥

आत्मा किल परमार्थः तत्तु ज्ञानं, आत्मा च एक एव पदार्थः, ततो ज्ञानमप्येकमेव पदम्, यदेतत्तु ज्ञानं नामैकं पदं स एष परमार्थः साक्षान्मोक्षोपायः । न चाभिनिबोधिकादयो भेदा इदमेकपदमिह भिन्दन्ति । किं तु तेऽपीदमेवैकं पदमभिनन्दन्ति । तथाहि-यथात्र सवितुर्घनपटलावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतः प्रकाशनातिशयभेदा न तस्य प्रकाशस्वभावं भिन्दन्ति । तथाऽऽत्मनः कर्मपटलोदयावगुण्ठितस्य तद्विघटनानुसारेण प्राकट्यमासादयतो ज्ञानातिशयभेदा न तस्य

कृत्वा ? परमात्मसुखसंवित्तिरूपस्वसंवेदनज्ञानस्वभावेनेति ॥ २०३ ॥ अथ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थसंज्ञं मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं तत्समस्तहर्षविषादादिविकल्पजालरहितं परमयोगाभ्यासादेवात्मानुभवति, इति प्रतिपादयति;—आभिणिसुदोहिमणकेवलं च तं होदि एक्कमेव पदं मतिश्रुतावधिमनः-

---

आगे कहते हैं कि कर्म के क्षयोपशम के निमित्त से ज्ञान में भेद है जब ज्ञान का स्वरूप विचारा जाय तो ज्ञान एक ही है—[आभिनिबोधिक श्रुतावधिमनः पर्ययकेवलं च] मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवलज्ञान [तत् एकमेव पदं भवति] ये ज्ञान के भेद हैं वे ज्ञानपद को ही प्राप्त हैं, सभी एक ज्ञान नाम से कहे जाते हैं [स एषः परमार्थः] सो यह शुद्धनय का विषयस्वरूप ज्ञान सामान्य है इसलिये यही शुद्धनय है [यं लब्ध्वा] जिसको पाकर आत्मा [निर्वृतिं] मोक्ष पद को [याति] प्राप्त होता है ।

टीका—निश्चय से आत्मा परम पदार्थ है, वह आत्मा पूर्वकथित ज्ञान ही है, वह आत्मा एक ही पदार्थ है इसलिये ज्ञान भी एक पद को ही प्राप्त है, यह ज्ञाननामा एक पद है वह परमार्थस्वरूप साक्षात् मोक्ष का उपाय है । मतिज्ञानादिक जो ज्ञान के भेद हैं वे उस ज्ञाननामा एक पद को भेदरूप नहीं करते, इकट्ठा करते हैं अर्थात् एक ज्ञाननामा पद को ही वृद्धि रूप प्रगट कर प्रकाशित करते हैं । यही कहते हैं—जैसे इस लोक में वादलों से संकोचरूप आच्छादित सूर्य का उस वादल के दूर होने के अनुसार प्रगटपना होता है तिसके प्रगट होने के प्रकाश के हीनाधिक भेद हैं वे उसके प्रकाशरूप सामान्य स्वभाव को नहीं भेदते, उसी प्रकार कर्मसमूहों के उदयकर संकोचरूप आच्छादित आत्मा उस कर्म के क्षयोपशम के अनुसार प्रगटपने को प्राप्त हुए ज्ञान के हीनाधिक भेद हैं वे आत्मा के सामान्य ज्ञानस्वभाव को नहीं भेदते, किंतु प्रकाशरूप प्रगट ही करते हैं । इसलिये जिसमें समस्त भेद दूर हो गये हैं ऐसे आत्मा के स्वभावभूत एक ज्ञान का ही आलम्बन करना चाहिये । उस ज्ञान के आलम्बन से हो निज पद की प्राप्ति होती है, उसी से

ज्ञानस्वभावं भिन्द्यु:। किन्तु प्रत्युत्तमभिनन्देयु:। ततो निरस्तसमस्तभेदमात्मस्वभावभूतं ज्ञानमेवैकमालम्ब्यम्। तदालम्बनादेव भवति पदप्राप्तिः, नश्यति भ्रान्तिः, भवत्यात्मलाभः, सिद्ध्यत्यनात्मपरिहारः, न कर्म मूर्च्छति, न रागद्वेषमोहा उत्प्लवन्ते, न पुनः कर्म आस्रवति, न पुनः कर्म बध्यते, प्राग्बद्धं कर्मोपभुक्तं निर्जीर्यते, कृत्स्नकर्माभावात् साक्षान्मोक्षो भवति ॥२०४॥

अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति यदिमाः संवेदनव्यक्तयो
निष्पीताखिलभावमण्डलरसप्राग्भारमत्ता इव।
[1]यस्याभिन्नरसः स एष भगवानेकोऽप्यनेकीभवन्
व[2]ल्गत्यु[3]त्कलिकाभिरद्भुतनिधिश्चैतन्यरत्नाकरः ॥१४१॥

पर्यंयकेवलज्ञानभेदरूपं यत्तन्निश्चयेन एकमेव पदं परं, किं तु यथादित्यस्य मेघावरणतारतम्यवशेन प्रकाशभेदा भवन्ति, तथा मतिज्ञानावरणादिभेदकर्मवशेन मतिश्रुतज्ञानादिभेदभिन्नं जातं सो एसो परमट्ठो जं लहिदुं णिव्वुदिं जादि स एष लोकप्रसिद्धः पञ्चज्ञानाभेदरूपः परमार्थः यं परमार्थं लब्ध्वा जीवो निर्वृतिं याति लभत इत्यर्थः। एवं ज्ञानशक्तिवैराग्यशक्तिविशेषविवरणरूपेण सूत्रदशकं गतं ॥ २०४ ॥ अत ऊर्ध्वं गाथाष्टकपर्यन्तं

भ्रम का नाश होता है, उसी के आत्मा का लाभ होता है और अनात्मा के परिहार की सिद्धि होती है। ऐसा होने पर कर्म के उदय को मूर्छा नहीं होती, रागद्वेष मोह नहीं उत्पन्न होते, रागद्वेष मोह के बिना फिर कर्म का आस्रव नहीं होता, आस्रव न होने से फिर कर्म बंध नहीं होता, पहले जो कर्म बांधे थे वे भोगने के बाद निर्जरा को प्राप्त होते हैं। सब कर्मों का अभाव होकर साक्षात् मोक्ष होता है। ऐसा ज्ञान के आलम्बन का माहात्म्य है।

भावार्थ—ज्ञान में भेद कर्मों के क्षयोपशम के अनुसार होते हैं वे कुछ ज्ञानसामान्य को अज्ञान रूप नहीं करते, उल्टे ज्ञान को ही प्रगट करते हैं। इसलिए भेदों को गौणकर एक ज्ञानसामान्य का आलम्बन करके आत्मा का ध्यान करना। इसी से सब सिद्धि होती है ॥२०४॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—अच्छाच्छाः इत्यादि। अर्थ—आत्मा की जो यह संवेदन की व्यक्ति है अर्थात् अनुभव में आये हुए ज्ञान के भेद हैं वे निर्मल से निर्मल अपने आप उछलते हैं—प्रगट अनुभव में आते हैं। वे भेद समस्त पदार्थों के समूहरूप रस के पीने के बहुत बोझे से मानों मतवाले हो गये हैं। यह भगवान् चैतन्यरूप समुद्र उठती हुई लहरों से अभिन्नरस हुआ एक है तो भी अनेक रूप हुआ दोलायमान प्रवर्तता है, जिसकी निधि अद्भुत है ऐसा है।

भावार्थ—जैसे बहुत रत्नों से भरा समुद्र एक जल से भरा है तो भी उसमें निर्मल छोटी बड़ी अनेक लहरें उठती हैं वे सब एकजलरूप ही हैं उसी तरह यह आत्मा ज्ञानसमुद्र है सो एक ही है इसमें अनेक गुण हैं और कर्म के निमित्त से ज्ञान के अनेकभेद अपने आप व्यक्ति रूप होकर प्रगट होते हैं वे व्यक्तियां एक ज्ञानरूप ही जाननी, खण्ड खण्ड रूप नहीं अनुभव करती ॥१४१॥

---

१. यावन्तः पर्यायास्तेभ्योऽभिन्नसत्ताकः। २. परिणमति। ३. अनादितो मत्याद्यनेकभेदैः।

किंच—

क्लिश्यन्तां स्वयमेव दुष्करतरैर्मोक्षोन्मुखैः कर्मभिः
क्लिश्यन्तां च परे[1] महाव्रततपोभारेण भग्नाश्चिरम् ।
साक्षान्मोक्ष इदं[2] निरामयपदं संवेद्यमानं स्वयं
ज्ञानं[3] ज्ञानगुणं विना कथमपि प्राप्तुं क्षमन्ते न हि ॥१४२॥

णाणगुणेण विहीणा एयं तु पयं बहूवि ण लहंति ।
तं गिण्ह[4] णियदमेदं जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्खं ॥२०५॥

ज्ञानगुणेन विहीना एतत्तु पदं बहवोऽपि न लभन्ते ।
तद्गृहाण नियतमेतद् यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षम् ॥२०५॥

यतो हि सकलेनापि कर्मणा कर्मणि ज्ञानस्याप्रकाशनात् ज्ञानस्यानुपलम्भः । केवलेन ज्ञानेनैव ज्ञान एव ज्ञानस्य प्रकाशनाद् ज्ञानस्योपलम्भः । ततो बहवोऽपि बहुनापि

तस्यैव परमात्मपदस्य प्रकाशको योसौ ज्ञानगुणः, तस्य सामान्यविवरणं करोति । तद्यथा । अथ मत्यादिपञ्चज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणभूतं यत्परमात्मपदं, तत्पदं शुद्धात्मानुभूतिशून्यं व्रततपश्चरणादिकायक्लेशं कुर्वाणा अपि स्वसंवेदनज्ञानगुणेन विना न लभन्त इति कथयति;—णाणगुणेहिं विहीणा एवं तु पदं बहूवि ण लहंति निर्विकारपरमात्मतत्त्वोपलब्धिलक्षणज्ञानगुणेन विहीनाः रहिताः ।

अब फिर भी विशेषता से कहते हैं—क्लिश्यताम् इत्यादि । अर्थ—कोई जीव दुःख से किये जानेवाले और मोक्ष से पराङ्मुख कर्मों से स्वयमेव (जिनाज्ञा विना) क्लेश करें और कोई मोक्ष के सन्मुख कथंचित् जिनाज्ञा में कहे गये ऐसे महाव्रत तथा तप के भार से बहुत काल तक भग्न (पीड़ित) हुए कर्मोंकर क्लेश करें उन कर्मों से तो मोक्ष होता नहीं । इसलिये यह ज्ञान ही साक्षात् मोक्षस्वरूप है और निरामय पद है अर्थात् जिसमें कुछ रोगादिक क्लेश नहीं हैं तथा अपने से ही आप वेदने योग्य है । ऐसा ज्ञान तो ज्ञान गुण के बिना किसी तरह के कष्ट से प्राप्त नहीं हो सकता ॥१४२॥

आगे इसी का उपदेश करते हैं:—हे भव्य [यदि] जो तू [कर्मपरिमोक्षं] कर्म का सब तरफ से मोक्ष करना [इच्छसि] चाहता है [तु] तो [तद् एतत् नियतं] उस निश्चित ज्ञान को [गृहाण] ग्रहणकर । क्योंकि [ज्ञानगुणेन विहीनाः] ज्ञान गुणकर रहित [बहवः अपि] बहुत पुरुष बहुत प्रकार से कर्म करते हैं तो भी [एतत् पदं] इस ज्ञानस्वरूप पद को [न लभन्ते] नहीं प्राप्त होते ।

टीका–जिस कारण सभी कर्मों में ज्ञान का प्रकाशना नहीं है इस कारण ज्ञान का पाना कर्म से नहीं होता, केवल एक ज्ञान द्वारा ही ज्ञान में ज्ञानका प्रकाशन है इसलिए है इसलिए ज्ञान से ही

१. शुद्धस्वरूपानुभवभ्रष्टाः । २. सांसारिकक्लेशरहितं ३. शुद्धस्वरूपानुभवशक्तिमन्तरेण । ४. सुपदमिति तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

कर्मणा ज्ञानशून्या नेदमुपलभन्ते। इदमनुपलभमानाश्च न कर्मभिर्विप्रमुच्यन्ते ततः कर्ममोक्षार्थिना केवलज्ञानावष्टम्भेन नियतमेवेदमेकं पदमुपलम्भनीयम् ॥२०५॥

पदमिदं ननु कर्मदुरासदं सहजबोधकलासुलभं किल।
तत इदं निजबोधकलाबलात्कलयितुं यततां सततं जगत् ॥१४३॥

किञ्च—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि।
एदेण होदि तित्तो होहदि तुह उत्तमं सोक्खं ॥२०६॥

एतस्मिन् रतो नित्यं संतुष्टो भव नित्यमेतस्मिन्।
एतेन भव तृप्तो भविष्यति तवोत्तमं सौख्यम् ॥२०६॥

पुरुषाः वहवोऽपि शुद्धात्मोपादेयसंवित्तिरहितं दुर्धरकायक्लेशादितपश्चरणं कुर्वाणा अपि मत्यादिपञ्चज्ञानाभेदरूपं साक्षान्मोक्षकारणं स्वसंवेद्यं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणमिदं पदं न लभन्ते। तं गिण्ह सुपदमेदं जदि इच्छसि

ज्ञान का पाना होता है। इस कारण ज्ञानशून्य बहुत से प्राणी अनेक प्रकार के कर्मों के करने पर भी इस ज्ञान के पद को नहीं प्राप्त करते और इस पद के न पाने से ही कर्मों से नहीं छूटते। इसलिए जो कर्मों को मोचन करना चाहता है उसको तो केवल एक ज्ञान के अवलम्बन द्वारा निश्चित इसी एक पद को प्राप्त करना चाहिये।

भावार्थ—ज्ञान से ही मोक्ष होता है कर्म से नहीं। इसलिये मोक्षार्थी को ज्ञान का ही ध्यान करना चाहिए यह उपदेश है ॥२०५॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—परमिदं इत्यादि। अर्थ—यह ज्ञानमय पद कर्म करने से तो दुष्प्राप्य है और स्वाभाविक ज्ञान की कला से सुलभ है यह प्रकट निश्चय से जानो। इसलिये अपने निज ज्ञान की कला के बल से इस ज्ञान के अभ्यास करने को सब जगत् अभ्यास का यत्न करो।

भावार्थ—समस्त कर्मों से छुड़ा कर ज्ञान के अभ्यास करने का उपदेश किया है। और ज्ञान की कला कहने से ऐसा सूचित होता है कि जब तक पूर्ण कला प्रकट न हो तब तक जो ज्ञान है वह हीन कलास्वरूप है मतिज्ञानादिरूप है। उस ज्ञान की कला के अभ्यास से पूर्णकला केवल ज्ञानस्वरूप कला प्रकट होती है ॥१४३॥

आगे फिर इसी उपदेश को प्रकट कर कहते हैं :—हे भव्य जीव ! तू [एतस्मिन्] इस ज्ञान में [नित्यं] सदाकाल [रतः भव] रुचि से लीन हो और [एतस्मिन्] इसी में [नित्यं] हमेशा [संतुष्टः भव] संतुष्ट हो अन्य कोई कल्याणकारी नहीं है और [एतेन] इसी से [तृप्तः भव] तृप्त हो अन्य कुछ इच्छा न रहे; ऐसा अनुभव करने से [तव] तेरे [उत्तमं सुखं] उत्तम सुख [भविष्यति] होगा।

एतावानेव सत्य आत्मा यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्र एव नित्यमेव रतिमुपैहि। एतावत्येव सत्याशीः, यावदेतज्ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव सन्तोषमुपैहि। एतावदेव सत्यमनुभवनीयं यावदेव ज्ञानमिति निश्चित्य ज्ञानमात्रेणैव नित्यमेव तृप्तिमुपैहि। अथैवं तव तन्नित्यमेवात्मरतस्य, आत्मसन्तुष्टस्य, आत्मतृप्तस्य च वाचामगोचरं सौख्यं भविष्यति। तत्तु तत्क्षण एव त्वमेव स्वयमेव द्रक्ष्यसि मा[1] अन्यान् प्राक्षीः ॥२०६॥

अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव देवश्चिन्मात्रचिन्तामणिरेष यस्मात्।
सर्वार्थसिद्धात्मतया विधत्ते ज्ञानी किमन्यस्य परिग्रहेण? ॥१४४॥

कम्मपरिमोक्खं हे भव्य तत्पदं गृहाण यदीच्छसि कर्मपरिमोक्षमिति ॥ २०५ ॥ अथात्मसुखे सन्तोषं दर्शयति। एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि एदेण होहि तित्तो हे भव्य पञ्चेन्द्रियसुखनिवृत्तिं कृत्वा निर्विकल्पयोगबलेन स्वाभाविकपरमात्मसुखे रतो भव, सन्तुष्टो भव, तृप्तो भव नित्यं सर्वकालं तो होहदि उत्तमं सुक्खं ततस्तस्मादात्मसुखानुभवनात् तवोत्तममक्षयं मोक्षसुखं भविष्यति ॥ २०६ ॥ अथ ज्ञानी परद्रव्यं

टीका—हे भव्य, इतने मात्र ही सत्य परमार्थस्वरूप आत्मा है जितना यह ज्ञान है। ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र आत्मा में ही निरंतर प्रीति को प्राप्त हो। इतना मात्र ही सत्यार्थ कल्याण है, जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय करके ज्ञानमात्र आत्मा से नित्य ही सन्तोष को प्राप्त हो इतना ही सत्यार्थ अनुभव करने योग्य है। जितना यह ज्ञान है ऐसा निश्चय कर ज्ञानमात्र ही आत्माकर नित्य तृप्ति को प्राप्त हो। इस प्रकार नित्य ही आत्मा में रत, आत्मा में संतुष्ट, आत्मा में तृप्ति होने से वचनातीत नित्य उत्तम सुख होगा, उस सुख को उसी समय स्वयमेव ही देखेगा। दूसरे से मत पूछ, यह सुख अपने अनुभवगोचर हो है दूसरे से क्यों पूछता है।

भावार्थ—ज्ञानमात्र आत्मा में लीन होना, इसी से संतुष्ट रहना और इसी से तृप्त होना यह परम ध्यान है। इसी से वर्तमान में आनन्दरूप होता है और उसके बाद ही संपूर्ण ज्ञानानंदस्वरूप केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस सुख को ऐसा पूर्वोक्त करने वाला ही जानता है अन्य का इसमें प्रवेश नहीं ॥२०६॥

अब ज्ञानी की महिमा का कलश कहते हैं—अचिन्त्य इत्यादि। अर्थ—जिस कारण यह चैतन्यमात्र चिन्तामणि वाला ऐसा ज्ञानी, स्वयमेव आप देव है। इसमें ऐसी शक्ति है जो किसी के विचार में नहीं आ सकती। ऐसे ज्ञानी के सब प्रयोजन सिद्ध हैं, ज्ञानी को अन्य परिग्रह का क्या लाभ है?

भावार्थ—यह ज्ञानमूर्ति आत्मा अनंत शक्ति का धारक वांछित कार्य की सिद्धि करने वाला आप ही देव है इसलिये सब प्रयोजनों के सिद्ध करने पर ज्ञानी के अन्य परिग्रह के सेवन करने से क्या साध्य है? कुछ भी नहीं, यह निश्चयनय का उपदेश है ॥१४४॥

---

१. "माऽति प्राक्षीः" इत्यपि पाठः।

कुतो ज्ञानी न परं गृह्णातीति चेत्—

को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इमं हवदि दव्वं।
अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं वियाणंतो ॥२०७॥

को नाम भणेद् बुधः परद्रव्यं ममेदं भवति द्रव्यम्।
आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियतं विजानन् ॥२०७॥

यतो हि ज्ञानी, यो हि यस्य स्वो भावः स तस्य [1]स्वः। स तस्य स्वामीति खरतरतत्त्वदृष्ट्यवष्टम्भाद् आत्मानमात्मनः परिग्रहं तु नियमेन विजानाति ततो न ममेदं स्वं नाहमस्य स्वामी इति परद्रव्यं न परिगृह्णाति ॥२०७॥

अतोऽहमपि न तत् परिगृह्णामि—

मज्झं परिग्गहो जइ तदो अहमजीवदं तु गच्छेज्ज।
णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ ॥२०८॥

मम परिग्रहो यदि ततोऽहमजीवतां तु गच्छेयम्।
ज्ञातैवाहं यस्मात्तस्मान्न परिग्रहो मम ॥२०८॥

गृह्णातीति भेदभावनां प्रतिपादयति; को णाम भणिज्ज बुहो परदव्वं मम इदं हवदि दव्वं परद्रव्यं मम भवतीति नाम स्फुटमहो वा को ब्रूयात्? बुधो ज्ञानी, न कोपि। किं कुर्वन्? अप्पाणमप्पणो परिग्गहं तु णियदं

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी परद्रव्य को क्यों नहीं ग्रहण करता? उसका उत्तर कहते हैं:—[कः नाम बुधः] ऐसा कौन ज्ञानी पंडित है? जो [इदं परद्रव्यं] यह परद्रव्य [मम द्रव्यं] मेरा द्रव्य [भवति] है [भणेत्] ऐसा कहे, ज्ञानी पंडित [आत्मानं तु] अपने आत्मा को ही [नियतं] नियम से [आत्मनः परिग्रहं] अपना परिग्रह [विजानन्] जानता हुआ प्रवर्तता है।

टीका—जो ज्ञानी है वह नियम से ऐसा जानता है कि जो जिसका निजभाव है वही उसका स्व है, और उसी स्वभाव रूप द्रव्य का वह स्वामी है। ऐसे सूक्ष्म तीक्ष्ण तत्त्वदृष्टि के अवलंबन से आत्मा का परिग्रह अपना आत्मस्वभाव ही है ऐसा जानता है। इस कारण परद्रव्य को ऐसा जानता है कि यह मेरा स्व नहीं, मैं इसका स्वामी नहीं। इसलिए परद्रव्य को ग्रहण नहीं करता।

भावार्थ—लोक में समझदार मनुष्य परकी वस्तु को अपनी नहीं जानता हुआ उसको ग्रहण नहीं करता उसी तरह परमार्थ ज्ञानी अपने स्वभाव को ही अपना धन जानता है परके भाव को अपना नहीं जानता; ऐसा ज्ञानी परका ग्रहण सेवन नहीं करता ॥२०७॥

आगे इसी अर्थ को युक्ति से दृढ़ करते हैं;—ज्ञानी ऐसा जानता है कि [यदि] जो [मम]

१, 'स्व' इत्यपि पाठः।

यदि परद्रव्यमजीवमहं परिगृह्णीयां तदावश्यमेवाजीवो ममासौ स्वः स्यात्। अहमप्यवश्यमेवाजीवस्यामुष्य स्वामी स्याम् अजीवस्य तु यः स्वामी, स किलाजीव एव। एवमवशेनापि ममाजीवत्वमापद्येत। मम तु एको ज्ञायक एव भावः यः स्वः, अस्यैवाहं स्वामी, ततो माभून्ममाजीवत्वं ज्ञातैवाहं भविष्यामि न परद्रव्यं परिगृह्णामि, अयं च मे निश्चयः ॥२०८॥

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहवि हु ण परिग्गहो मज्झ ॥२०९॥

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वाथवा यातु विप्रलयम्।
यस्मात्तस्माद् गच्छतु तथापि खलु न परिग्रहो मम ॥२०९॥

वियाणंतो चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मानमेव, आत्मनः परिग्रहं विजानन् नियतं निश्चितमिति ॥ २०७ ॥ मिथ्यात्वरागादिरूपमपध्यानं मम परिग्रहो न भवतीति पुनरपि भेदज्ञानशक्तिं वैराग्यशक्तिं च प्रकटयति;—मज्झं परिग्गहो यदि तदो अहमजीविदं तु गच्छेज्ज सहजशुद्धकेवलज्ञानदर्शनस्वभावस्य मम यदि मिथ्यात्वरागादिकं परद्रव्यं परिग्रहो भवति ततोऽहमजीवत्वं जडत्वं गच्छामि। न चाहं अजीवो भवामि। णादेव अहं जह्मा तह्मा ण परिग्गहो मज्झ परमात्मज्ञानपदमेवाहं यस्मात्ततः परद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीत्यर्थः ॥ २०८ ॥ अथायं च मे निश्चयः देहरागादिपरद्रव्यं मम परिग्रहो न भवतीति भेदज्ञानं

मेरा परद्रव्य [परिग्रहः] परिग्रह हो [ततः] तो [अहं] मैं भी [अजीवतां] अजीवत्व को [गच्छेयं] प्राप्त हो जाऊँ [यस्मात्] जिस कारण [अहं तु] मैं तो [ज्ञाता एव] ज्ञाता ही हूँ [तस्माद्] इस कारण [मम] मेरे [परिग्रहः] कुछ भी परिग्रह [न] नहीं है।

टीका—यदि मैं अजीव परद्रव्य को ग्रहण करूँ तो अजीव मेरा स्व अवश्य हो जाय और मैं भी उस अजीव का अवश्य स्वामी ठहरूँ। क्योंकि यह न्याय है कि अजीव का स्वामी निश्चय से अजीव ही होता है इस तरह मेरे भी अजीवपना अवश्य आ जावे। इसलिये मेरा तो एक ज्ञायक-भाव ही स्व है उसी का मैं स्वामी हूँ। इस कारण मेरे अजीवपना न हो, मैं तो ज्ञाता ही होऊँगा परद्रव्य को नहीं ग्रहण करूँगा यह मेरा निश्चय है।

भावार्थ—निश्चयनय का यह सिद्धान्त है कि जीव का भाव तो जीव ही है उसी से जीवका स्वस्वामी संबन्ध है। और अजीव के भाव अजीव ही हैं उन्हीं के साथ अजीव का स्वस्वामी संबन्ध है। इसलिए यदि जीव के अजीव का परिग्रह माना जाए तो जीव अजीवपने को प्राप्त हो जाय। अतः परमार्थ से जीव के अजीव का परिग्रह मानना मिथ्याबुद्धि है। ज्ञानी के यह मिथ्याबुद्धि नहीं होती। ज्ञानी तो इस तरह मानता है कि परद्रव्य मेरा परिग्रह नहीं है मैं तो ज्ञाता हूँ ॥२०८॥

आगे कहते हैं कि ऐसा मानने वाले ज्ञानी के परद्रव्य के बिगड़ने, सुधरने में दोनों में समता है:—ज्ञानी ऐसा विचारता है कि परद्रव्य [छिद्यतां वा] छिद जाओ [भिद्यतां वा] अथवा भिद जाओ [नीयतां वा] अथवा कोई ले जाओ [अथवा] या [विप्रलयं यातु] नष्ट हो जाओ (यस्मात् तस्मात्)

छिद्यतां वा भिद्यतां वा नीयतां वा विप्रलयं यातु वा यतस्ततो गच्छतु वा तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि । यतो न परद्रव्यं मम स्वं नाहं परद्रव्यस्य स्वामी । परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी । अहमेव मम स्वं अहमेव मम स्वामीति जानामि ॥२०९॥

इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव सामान्यतः स्वपरयोरविवेकहेतुम् ।
अज्ञानमुज्झितुमना अधुना विशेषाद् भूयस्तमेव परिहर्तुमयं प्रवृत्तः ॥१४५॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं ।
अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होई ॥२१०॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति धर्मम् ।
अपरिग्रहस्तु धर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१०॥

निरूपयति;—छिज्जदु वा भिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं छिद्यतां वा द्विधा भवतु, भिद्यतां वा छिद्रो भवतु, नीयतां वा केनचित् । अथवा विप्रलयं विनाशं गच्छतु, एवमेव जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ अन्यस्मात् यस्मात् तस्मात् कारणाद्वा गच्छतु तथापि शरीरं मम परिग्रहो न भवति । कस्मात् ? इति चेत् टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभावोहं, यतः कारणात् अयं च मे निश्चयः ॥ २०९ ॥ अथ विशेषपरिग्रह-त्यागरूपेण तमेव ज्ञानगुणं विवृणोति;—अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदे धम्मं अपरिग्रहो भणितः । कोऽसौ ।

जिस तिस तरह से [गच्छतु] चली जाओ [तथापि] तो भी [खलु] निश्चय से [मम] मेरा [परिग्रहः न] परद्रव्य परिग्रहण नहीं है ।

टीका—परद्रव्य छिदो, वा भिदो, वा कोई लेओ, वा नष्ट हो जाओ, वा जिस तिस कारण से चली जाओ तो भी मैं परद्रव्य को परिग्रहण नहीं करता, क्योंकि परद्रव्य मेरा स्व नहीं है और न मैं उसका स्वामी हूँ । मैं अपना ही स्वामी हूँ ऐसा जानता हूँ ।

भावार्थ—ज्ञानी के परद्रव्य के बिगड़ने सुधरने का हर्ष और विषाद नहीं है ॥२०९॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं;—इत्थं इत्यादि । अर्थ—इस प्रकार सामान्य से सभी परिग्रह को छोड़कर अपने और परके अविवेक का जो कारण अज्ञान उसको छोड़ने का जिसका मन है ऐसा यह ज्ञानी उस परिग्रह को विशेषकर भिन्न-भिन्न छोड़ने को फिर प्रवृत्त होता है ।

भावार्थ—स्व और पर को एकरूप जानने का हेतु अज्ञान है इसी अज्ञान से परद्रव्य का परिग्रहण है । इसलिए ज्ञानी के पहली गाथा में परिग्रह का सामान्यकर त्याग करना कहा गया है ॥१४५॥

अब कहते हैं कि ज्ञानी के धर्म का भी परिग्रह नहीं है—[ज्ञानी] ज्ञानी [अपरिग्रहः] परिग्रह से रहित है [अनिच्छः] इसलिए परिग्रह की इच्छा से रहित है [भणितः] ऐसा कहा है इसी कारण [धर्मं च] धर्म को [न इच्छति] नहीं चाहता [तेन] इसलिए [धर्मस्य अपरिग्रहः] धर्म का परिग्रह नहीं है [सः] वह ज्ञानी [ज्ञायकः भवति तु] धर्म का ज्ञायक ही है ।

इच्छा परिग्रहः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छात्वज्ञानमयो भावः, अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति। ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति, ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावाद् धर्मं नेच्छति। तेन ज्ञानिनो धर्मपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावाद् धर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥२१०॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अधम्मं।
अपरिग्गहो अधम्मस्य जाणगो तेण सो होदि ॥२११॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छत्यधर्मम्।
अपरिग्रहोऽधर्मस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥ २११ ॥

इच्छा परिग्रहः, तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति, इच्छात्वज्ञानमयो भावः। अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति, ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो

अनिच्छः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य वहिर्द्रव्येष्विच्छा वाञ्छा मोहो नास्ति। तेन कारणेन स्वसंवेदन-ज्ञानी शुद्धोपयोगरूपं निश्चयधर्मं विहाय शुभोपयोगरूपं धर्मं पुण्यं नेच्छति अपरिग्गहो दु धम्मस्स जाणगो तेण सो होदि ततः कारणात्पुण्यरूपधर्मस्यापरिग्रहः सन् पुण्यमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् अतन्मयो भवन् दर्पणे विम्बस्येव ज्ञायक एव भवति ॥ २१० ॥ अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणी य णिच्छदि अहम्मं अपरिग्रहो भणितः। स कः ? अनिच्छः—तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य वहिर्द्रव्येषु इच्छा कांक्षा नास्ति। तेन कारणेन तत्त्वज्ञानी विषयकषायरूपमधर्मं पापं नेच्छति। अपरिग्गहो अधम्मस्य जाणगो तेण सो होदि तत एव कारणात्—विषयकषायरूपस्याधर्मस्याऽपरिग्रहः सन् पापमिदं मम स्वरूपं न भवतीति ज्ञात्वा तद्रूपेणापरिणमन् दर्पणे विम्बस्येव ज्ञायक एव भवति। एवमेव च, अधर्मपदपरिवर्तनेन रागद्वेषमोहक्रोधमान-

---

टीका—इच्छा है वही परिग्रह है जिसके इच्छा नहीं उसके परिग्रह भी नहीं और जो इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है वह भाव ज्ञानी के नहीं है, जानी के तो ज्ञानमय ही भाव है। इसलिए ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से धर्म को नहीं चाहता इस कारण ज्ञानी के धर्म परिग्रह नहीं है ज्ञानमय एक ज्ञायकभाव के सद्भाव से धर्म का केवल ज्ञाता ही यह ज्ञानी है ॥२१०॥

आगे इसी प्रकार ज्ञानी के अधर्म का परिग्रह नहीं है [ज्ञानी] ज्ञानी [अनिच्छः] इच्छारहित है इसलिए [अपरिग्रहः] परिग्रहरहित [भणितः] कहा है इसीसे [अधर्मं न इच्छति] अधर्म की इच्छा नहीं करता [सः] वह ज्ञानी [अधर्मस्य] अधर्म का [अपरिग्रहः] परिग्रह नहीं रखता [तेन] इसलिए वह [ज्ञायकः भवति च] उस अधर्म का ज्ञायक ही है।

टीका—इच्छा है वह परिग्रह है जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह नहीं है। और इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है वह भाव ज्ञानी के नहीं है। ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से अधर्म की इच्छा नहीं करता इस कारण ज्ञानी के अधर्म का

ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावादधर्मं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽधर्म-परिग्रहो नास्ति, ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादधर्मस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् । एवमेव चाधर्मपदपरिवर्तने रागद्वेषक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकाय श्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसूत्राणि षोडश व्याख्येयानि । अनया दिशाऽन्यान्य-प्यूह्यानि ॥२११॥

अपरिग्गहो अणिच्छो[1] भणिदो णाणी य णिच्छदे असणं ।
अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१२॥

अपरिग्रहोऽनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति अशनं ।
अपरिग्रहस्त्वशनस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१२॥

इच्छा परिग्रहः । तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः । अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति । ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोस्ति ।

मायालोभकर्मनोकर्ममनोवचनकायश्रोत्रचक्षुर्घ्राणरसनस्पर्शनसंज्ञानि सप्तदशसूत्राणि व्याख्येयानि । तेनैव प्रकारेण शुभाशुभसंकल्पविकल्परहितानन्तज्ञानादिगुणस्वरूपशुद्धात्मनः प्रतिपक्षभूतानि शेषाण्यप्यसंख्येयलोकप्रमितानि विभावपरिणामस्थानानि वर्जनीयानि ।। २११ ॥

धम्मच्छि अधम्मच्छी आयासं सुत्तमंगपुव्वेसु ।
संगं च तहा णेयं देवमणुअत्तिरियणेरइयं ॥

अपरिग्रही भणितः । कोऽसौ ? अनिच्छः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा आकांक्षा नास्ति । तेन कारणेन परमतत्वज्ञानी चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मानं विहाय धर्माधर्माकाशाद्यङ्गपूर्वगतश्रुत-

---

परिग्रह नहीं है । ज्ञानमय जो एक ज्ञायकभाव उसके सद्भाव से यह ज्ञानी अधर्म का केवल ज्ञायक ही है । इसी प्रकार गाथा में अधर्म पद के पलटने से अधर्म की जगह राग द्वेष क्रोध मान माया लोभ कर्म नोकर्म मन वचन काय श्रोत्र चक्षु घ्राण रसन स्पर्शन—ये सोलह पद रख सोलह गाथा सूत्रोंकर व्याख्यान करना । और इसी उपदेश से अन्य भी विचार लेना ॥२११॥

आगे ज्ञानी के आहार करना भी परिग्रह नहीं है;—[अनिच्छः अपरिग्रहः] इच्छा रहित हो वही परिग्रहरहित है [भणितः] ऐसा कहा है [च] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अशनं] भोजन को [न इच्छति] नहीं चाहता इसलिये [अशनस्य] ज्ञानी के भोजन का [अपरिग्रहः] परिग्रह नहीं है [तेन] इस कारण [सः] वह ज्ञानी [ज्ञायकः तु] अशन का ज्ञायक ही [भवति] है ।

टीका—इच्छा है वही परिग्रह है जिसके इच्छा नहीं है उसके परिग्रह भी नहीं । और इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है सो ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं है । ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भावरूप इच्छा के अभाव से भोजन को नहीं चाहता इस कारण

---

१. तात्पर्यवृत्तौ—'भणिदो असणं तु णिच्छदे णाणी' इति पाठः ।

ततो ज्ञानी अज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया आभावादशनं नेच्छति तेन ज्ञानिनोऽशनपरिग्रहो नास्ति ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावादशनस्य केवलं ज्ञायक एवायं स्यात् ॥२१२॥

अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो णाणीय णिच्छदे पाणं।[1]
अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ॥२१३॥

अपरिग्रहो अनिच्छो भणितो ज्ञानी च नेच्छति पानम्।
अपरिग्रहस्तु पानस्य ज्ञायकस्तेन स भवति ॥२१३॥

इच्छा परिग्रहः। तस्य परिग्रहो नास्ति यस्येच्छा नास्ति। इच्छात्वज्ञानमयो भावः। अज्ञानमयो भावस्तु ज्ञानिनो नास्ति। ज्ञानिनो ज्ञानमय एव भावोऽस्ति। ततो ज्ञान्यज्ञानमयस्य भावस्य इच्छाया अभावात् पानं नेच्छति। तेन ज्ञानिनः पानपरिग्रहो नास्ति। ज्ञानमयस्यैकस्य ज्ञायकभावस्य भावात् केवलं पानकस्य ज्ञायक एवायं स्यात् ॥२१३॥

बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहदेवमनुष्यतिर्यङ्नारकादिभावपर्यायान्नेच्छति इति ज्ञेयं ज्ञातव्यम्। ततः कारणात्तद्विषये निष्परिग्रहो भूत्वा तद्रूपेणापरिणमन् सन् दर्पणे बिम्बस्येव ज्ञायक एव भवति। अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो

ज्ञानी के अशन का परिग्रह नहीं है ज्ञानमय जो एक ज्ञायक भाव उसके सद्भाव से यह ज्ञानी केवल अशन का ज्ञायक ही है।

भावार्थ—ज्ञानी के आहार की भी इच्छा नहीं है इस कारण ज्ञानी के आहार करना भी परिग्रह नहीं है। **प्रश्न**—आहार तो मुनि भी करते हैं उनके इच्छा है या नहीं? **समाधान**—असातावेदनीय कर्म के उदय से तो जठराग्नि क्षुधा उपजती है, वीर्यांतराय के उदय से उसकी वेदना सही नहीं जाती और चारित्रमोह के उदय से ग्रहण करने की इच्छा उत्पन्न होती है सो इस इच्छा को कर्म के उदय का कार्य जानता है उस इच्छा को रोग के समान जान मेंटना चाहता है। अनुरागरूप इच्छा नहीं हैं अर्थात् ऐसी इच्छा नहीं होती कि मेरी यह इच्छा सदा रहे इसलिये अज्ञानमय इच्छा का अभाव है परजन्य इच्छा का स्वामीपना ज्ञानी के नहीं है इसलिये ज्ञानी इच्छा का भी ज्ञायक ही है। ऐसा शुद्ध नय को प्रधान कर कथन जानना ॥२१२॥

पान का परिग्रह भी ज्ञानी के नहीं;—[**अनिच्छः**] इच्छारहित है वह [**अपरिग्रहः**] परिग्रहरहित [**भणितः**] कहा गया है [**च**] और [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**पानं**] जल आदि पीने की [**न इच्छति**] इच्छा नहीं रखता [**तेन**] इस कारण [**पानस्य**] पान का [**अपरिग्रहः**] परिग्रह ज्ञानी के नहीं है इसलिये [**सः**] वह ज्ञानी [**ज्ञायकः तु**] पान का ज्ञायक ही [**भवति**] है।

टीका—इच्छा है वह अज्ञानमय भाव है, ज्ञानी के अज्ञानमय भाव नहीं है। ज्ञानी के तो ज्ञानमय ही भाव है इसलिये ज्ञानी अज्ञानमय भाव जो इच्छा उसके अभाव से पान की इच्छा नहीं

१. 'तात्पर्यवृत्तौ—भणिदो पाणं च णिच्छदे णाणी' इति पाठः।

[1]एवमादिए दु विविहे सव्वे भावे य णिच्छदे णाणी ।
जाणगभावो णियदो णीरालंबो दु सव्वत्थ ॥२१४॥

एवमादिकांस्तु विविधान् सर्वान् भावांश्च नेच्छति ज्ञानी ।
ज्ञायकभावो नियतः निरालम्बस्तु सर्वत्र ॥ २१४ ॥

एवमादयोऽन्येऽपि बहुप्रकाराः परद्रव्यस्य ये स्वभावास्तान् सर्वानेव नेच्छति ज्ञानी तेन ज्ञानिनः सर्वेषामपि परद्रव्यभावानां परिग्रहो नास्ति इति सिद्धं ज्ञानिनोऽत्यन्तनिष्परिग्रहत्वम् । अथैवमयमशेषभावान्तरपरिग्रहशून्यत्वादुद्वान्तसमस्ताज्ञानः सर्वत्राप्यत्यन्तनिरालम्बो भूत्वा प्रतिनियतटङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावः सन् साक्षाद्विज्ञानघनमात्मानमनुभवति ॥२१४॥

असणं च णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः । स कः ? अनिच्छः । तस्य । परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येषु इच्छा मूर्च्छा ममत्वं नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति । अपरिग्गहो दु असणस्स जाणगो तेण सो होदि तत एव कारणात् आत्मसुखे तृप्तो भूत्वा अशनविषये निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव अशनाद्याहारस्य वस्तुनो वस्तुरूपेण ज्ञायक एव भवति । न च रागरूपेण ग्राहक इति ॥ २१२ ॥ अपरिग्गहो अणिच्छो भणिदो पाणं तु णिच्छदे णाणी अपरिग्रहो भणितः । कोसौ ? अनिच्छः तस्य परिग्रहो नास्ति यस्य बहिर्द्रव्येष्वाकाङ्क्षा तृष्णा मोह इच्छा नास्ति । इच्छात्वज्ञानमयो भावः स च ज्ञानिनो न संभवति । अपरिग्गहो दु पाणस्स जाणगो तेण सो होदि ततः कारणात् स्वाभाविकपरमानन्दसुखे तृप्तो भूत्वा विविधपानकविषय

करता इसलिए ज्ञानी के पान का परिग्रह नहीं है। ज्ञानमय जो एक ज्ञायक भाव उसके सद्भाव से यह ज्ञानी पान का केवल ज्ञायक ही है। भावार्थ—आहार के समान जानना ॥२१३॥

आगे कहते हैं कि इसी प्रकार अनेक प्रकार के परजन्य भाव को भी ज्ञानी नहीं चाहता;—[एवमादिकान् तु] इस प्रकार को आदि लेकर [विविधान्] अनेक प्रकार के [सर्वान् भावान्] सब भावों को [ज्ञानी] ज्ञानी [न इच्छति] नहीं चाहता। क्योंकि [नियतः] नियम से [ज्ञायकभावः] आप ज्ञायक भाव है इसलिये [सर्वत्रनिरालम्बः तु] सबमें निरालम्ब है।

टीका—इसी पूर्वोक्त प्रकार को आदि लेकर अन्य भी बहुत प्रकार पर द्रव्य के जो स्वभाव हैं उन सबकी ही ज्ञानी इच्छा नहीं करता, इस कारण ज्ञानी के सभी पर द्रव्यों के भावों का परिग्रह नहीं है। इस तरह ज्ञानी का अत्यन्त निष्परिग्रहपना सिद्ध हुआ। इस प्रकार यह ज्ञानी समस्त अन्य भावों के परिग्रह के शून्यत्व से जिसने समस्त अज्ञान उगल दिया है ऐसा हुआ सर्वत्र अति निरालम्बन स्वरूप होकर केवल एक टङ्कोत्कीर्ण ज्ञायकभाव हुआ साक्षात् विज्ञानघन आत्मा को अनुभव करता है।

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार आदि लेकर सभी अन्य भावों का ज्ञानी के परिग्रह नहीं है क्यों कि जब सभी परभावों को हेय जाने, तब उनकी प्राप्ति की इच्छा नहीं होती। उदय में आये हुए

---

१. 'एवमादिए दु' इत्यपि पाठः। इच्चादि इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः।

पूर्वबद्धनिजकर्मविपाकाज्ज्ञानिनो यदि भवत्युपभोगः ।
तद्भवत्वथ च रागवियोगान्नूनमेति न परिग्रहभावम् ॥२१४॥

उप्पण्णोदयभोगो विओगबुद्धीए तस्स सो णिच्चं ।
कंखामणागयस्स य उदयस्स ण कुव्वए णाणी ॥२१५॥

उत्पन्नोदयभोगो वियोगबुद्ध्या तस्य स नित्यम् ।
काङ्क्षामनागतस्य चोदयस्य न करोति ज्ञानी ॥२१५॥

निष्परिग्रहः सन् दर्पणे बिम्बस्येव वस्तुनो वस्तुस्वरूपेण ज्ञायक एव भवति, न च रागरूपेण ग्राहक इति । तथा चोक्तम्—ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठतेजट्ठं । णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥१॥ अक्खामक्खणिमित्तं इसिणो भुंजंति पाणधारणणिमित्तं । पाणा धम्मणिमित्तं धम्मं हि चरंति मोक्खट्ठं ॥२॥" ॥ २१३ ॥ अथ परिग्रहत्यागव्याख्यानमुपसंहरति;—**इच्चादिएदु विविहे सव्वे भावेय णिच्छदे णाणी** इत्यादिकान् पुण्यपापाशनपानादिबहिर्भावान् सर्वान् सर्वतः परमात्मतत्त्वज्ञानी नेच्छति । अनिच्छन् स कथंभूतो भवति ? **जाणगभावो णियदो णीरालंबो य सव्वत्थ** टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दज्ञायकैकस्वभाव एव भवति नियतो निश्चितः । पुनश्च कथंभूतो भवति ? जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमितैश्च बाह्याभ्यन्तर-परिग्रहरूपे चेतनाचेतनपरद्रव्ये सर्वत्र निरालम्बोऽपि, अनन्तज्ञानादिगुणस्वरूपे स्वस्वभावे पूर्णकलश इव सालम्बन एव तिष्ठतीति भावार्थः ॥ २१४ ॥ अथ ज्ञानी वर्तमानभाविभोगेषु वाञ्छां न करोति कथयति;—**उप्पण्णोदयभोगे वियोगबुद्धीय तस्स सो णिच्चं** उत्पन्नोदयभोगे वियोगबुद्धिश्च हेयबुद्धिर्भवति 'तस्य तस्मिन् भोगविषये 'षष्ठीसप्तम्योरभेद इति वचनात्' कोसौ निरीहवृत्तिर्भवति ? स्वसंवेदनज्ञानी नित्यं सर्वकालं

को अनासक्त हुआ भोगता है । संसार देहभोगों से रागरूप इच्छा के विना परिग्रह का अभाव कहा गया है ॥२१४॥

अब उसी अर्थ का कलश है-**पूर्वबद्ध इत्यादि** । **अर्थ**—ज्ञानी के पूर्व बंधे अपने कर्म के उदय से जो उपभोग होता है सो होवे परन्तु राग के अभाव में निश्चय से वह उपभोग परिग्रहभाव को प्राप्त नहीं होता है ।

भावार्थ—पूर्वबद्ध कर्मों का उदय आने पर उपभोग की सामग्री प्राप्त होती है उसको यदि अज्ञानमयरागभाव से भोगे तब तो वह परिग्रह भाव को प्राप्त होवे, परन्तु ज्ञानी के अज्ञानमय राग भाव नहीं है उदय आया है उसे भोगता है । यह जानता है कि पूर्व बांधा था वही उदय आ गया, पीछा छूटा, आगामी वांछा नहीं करता हूँ । इस प्रकार उनसे रागरूप इच्छा नहीं है तब वे परिग्रह भी नहीं हैं ॥१४६॥

आगे ज्ञानी के तीन कालगत परिग्रह नहीं है ऐसा कहते हैं;—[**उत्पन्नोदयभोगः**] उत्पन्न हुआ वर्तमान काल के उदय का भोग [**तस्य**] उस ज्ञानी के [**नित्यं**] हमेशा [**स**] वह [**वियोग-बुद्धया**] वियोग की बुद्धिकर वर्तता है इसलिए परिग्रह नहीं है [**च**] और [**अनागतस्य**] **उदयस्य** आगामी काल में होने वाले उदय की [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**कांक्षां**] [**न करोति**] नहीं करता इसलिए परिग्रह नहीं है । तथा अतीत-काल का बीत ही चुका सो यह बिना कहा सामर्थ्य से ही जानना कि इसके परिग्रह नहीं है । गये हुए की वांछा ज्ञानी के कैसे हो ?

कर्मोदयोपभोगस्तावदतीतः प्रत्युत्पन्नोऽनागतो वा स्यात् । तत्रातीतस्तावदतीतत्वादेव सन् परिग्रहभावं बिभर्ति । अनागतस्तु आकाङ्क्ष्यमाण एव परिग्रहभावं बिभृयात् । प्रत्युत्पन्नस्तु स किल रागबुद्धया प्रवर्तमान एव तथा स्यात् । न च प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनो रागबुद्धया प्रवर्तमानो दृष्टो ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्य रागबुद्धेरभावात् । वियोगबुद्ध्यैव केवलं प्रवर्तमानस्तु स किल न परिग्रहः स्यात् । ततः प्रत्युत्पन्नः कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् । अनागतस्तु स किल ज्ञानिनो न काङ्क्षित एव, ज्ञानिनोऽज्ञानमयभावस्याकाङ्क्षाया अभावात् । ततोऽनागतोऽपि कर्मोदयोपभोगो ज्ञानिनः परिग्रहो न भवेत् ॥२१५॥

कंखामणागदस्स य उदयस्स ण कुव्वदे णाणी स एव ज्ञानी, अनागतस्य निदानबन्धरूपभाविभोगोदयस्याकाङ्क्षां न करोति । किं च विशेषः । य एव भोगोपभोगादिचेतनाचेतनसमस्तपरद्रव्यनिरालम्बनो भावः स एव स्वसंवेदनज्ञानगुणो भण्यते । तेन ज्ञानगुणावलम्बनेन य एव पुरुषः ख्याति-पूजा-लाभभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिविभावरहितः सन् जगत्त्रये कालत्रयेऽपि मनोवचनकार्यैः कृतकारितानुमितैश्च विषयसुखानन्दवासनावासितं मुक्त्वा शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागपरमानन्दसुखेन वासितं रञ्जितं मूर्च्छितं परिणतं तन्मयं तृप्तं रतं संतुष्टं चित्तं कृत्वा वर्तते स एव मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दाभिधेयं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं परमागमभाषया वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानस्वरूपं स्वसंवेद्यशुद्धात्मपदं परमसमरसीभावेन अनुभवति न चान्यः । यादृशं परमात्मपदमनुभवति तादृशं परमात्मपदस्वरूपं मोक्षं लभते । कस्मात् ?

टीका—कर्म के उदय का उपयोग तीन प्रकार है-अतीत वर्तमान और आगामी काल का। उनमें अतीत काल का तो उपभोग बीत चुकने के कारण ज्ञानी अतीत काल के परिग्रह भाव को धारण नहीं करता; अनागत काल के उपभोग को यदि वांछा करे तब परिग्रहभाव को धरे सो ज्ञानी के आगामी वांछा नहीं है इसलिये परिग्रहभाव को नहीं धारता, जिस कर्म को ज्ञानी अपना अहित जानता है उसके उदय के भोग की आगामी वांछा कैसे कर सकता है? और वर्तमान का उपभोग यदि रागबुद्धि से प्रवर्तमान हो तब परिग्रहभाव को धारे सो ज्ञानी के वर्तमान का उपभोग रागबुद्धिकर प्रवर्तमान नहीं दीखता, क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानमयभाव रागबुद्धि का अभाव है। केवल विराग बुद्धिकर ही प्रवर्तमान होना परिग्रह नहीं है क्योंकि ज्ञानी की ऐसी बुद्धि है कि जिसका संयोग हुआ उसका वियोग अवश्य होगा इसलिए विनाशीक से प्रीति नहीं करनी। इस कारण वर्तमान कर्म के उदय का उपभोग है वह ज्ञानी के परिग्रह नहीं है और आगामी कर्म के उदय को न चाहनेवाले ज्ञानी के अनागत उपभोग परिग्रह नहीं है क्योंकि ज्ञानी के अज्ञानभाव रूप वांछा का अभाव है इसलिये अनागत कर्म के उदय का उपभोग भी ज्ञानी के परिग्रह नहीं है।

भावार्थ—अतीत उपभोग तो बीत ही चुका, अनागत की वांछा नहीं और वर्तमान में राग नहीं है, जब उपभोग को हेय जाने तो उसमें राग किस तरह हो सकता है। इसलिये ज्ञानी के तीनों ही काल के कर्म के उदयका उपभोग परिग्रह नहीं है जो वर्तमान में उपभोग के कारण मिलाता है सो पीड़ा न सह सकने के कारण रोगी की भाँति उसका इसका इलाज करता है यह निर्बलता का दोष है ॥२१५॥

कुतोऽनागतमुदयं ज्ञानी नाकाङ्क्षतीति चेत्—

जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं ।
तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखइ कयावि ॥२१६॥

यो वेदयते वेद्यते समये समये विनश्यत्युभयम् ।
तज्ज्ञायकस्तु ज्ञानी, उभयमपि न कांक्षति कदाचित् ॥२१६॥

ज्ञानी हि तावद् ध्रुवत्वात् स्वभावभावस्य टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावो नित्यो भवति, यौ तु वेद्यवेदकभावौ तौ तूत्पन्नप्रध्वंसित्वाद्विभावानां क्षणिकौ भवतः। तत्र यो भावः काङ्क्ष्यमाणं वेद्यं भावं वेदयते स यावद्भवति तावत्काङ्क्ष्यमाणो वेद्यो भावो विनश्यति। तस्मिन् विनष्टे वेदको भावः किं वेदयते ? यदि काङ्क्ष्यमाणवेद्यभावपृष्ठभाविनमन्यं भावं वेदयते। तदा तद्भवनात्पूर्वं

इति चेत्, उपादानकारणसदृशं कार्यं भवति यतः कारणाद् इति। एवं स्वसंवेदनज्ञानगुणं विना मत्यादिपञ्चज्ञानविकल्परहितमखण्डपरमात्मपदं न लभ्यते इति संक्षेपव्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्राष्टकं गतम् ॥ २१५ ॥ अथ भाविनं भोगं ज्ञानी न काङ्क्षतीति कथयति—**जो वेददि वेदिज्जदि समए समए विणस्सदे उहयं** योसौ रागादिविकल्पः कर्ता वेदयत्यनुभवति यस्तु सातोदयः कर्मतापन्नं वेद्यते तेन रागादिविकल्पेन, अनुभूयते। तदुभयमपि अर्थपर्यायापेक्षया समयं समयं प्रति विनश्वरं **तं जाणगो दु णाणी उभयंपि ण कंखदि कयावि** तदुभयमपि वेद्यवेदकरूपं वर्तमानं भाविनं च विनश्वरं जानन् सन् तत्त्वज्ञानी नाकाङ्क्षति न वांछति कदाचिदपि ॥२१६॥ अथ तथैवापध्यानरूपाणि निष्प्रयोजनबन्धनिमित्तानि शरीरविषये भोगनिमित्तानि च रागाद्यध्यवसानानि परमात्मतत्त्ववेदी न वाञ्छति, इति प्रतिपादयति—**बंधुवभोगणिमित्तं अज्झवसाणोदयेसु णाणिस्य णेव**

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी अनागत कर्मोदय उपभोग की क्यों वांछा नहीं करता ? उसका उत्तर कहते हैं:—[यः] जो [वेदयते] अनुभव करने वाला भाव अर्थात् वेदकभाव और जो [वेद्यते] अनुभव करने योग्य भाव अर्थात् वेद्यभाव [उभयं] इस तरह वेदक और वेद्य ये दोनों भाव आत्मा के होते हैं सो क्रम से होते हैं एक समय में नहीं होते। ये दोनों ही [समये समये] समय समय में [विनश्यति] नष्ट हो जाते हैं। आत्मा उन दोनों भावों में नित्य है [तत्] इसलिए [ज्ञानी] ज्ञानी [ज्ञायकः तु] दोनों भावों का ज्ञायक ही है [उभयमपि] इन दोनों भावों को [कदापि] कदाचित् भी [न काङ्क्षति] नहीं चाहता।

टीका—ज्ञानी तो अपने स्वभाव के ध्रुवत्व के कारण टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञानस्वरूप नित्य है और जो वेदने वाला तथा वेदने योग्य ऐसे दो वेदक तथा वेद्यभाव हैं वे उत्पत्ति तथा विनाशस्वरूप हैं क्योंकि विभाव भाव हैं उनके क्षणिकपना है इसलिये दोनों भाव विनाशीक (क्षणिक) हैं वहाँ ऐसा विचार होता है कि वेदकभाव आगामी वांछा में लेने योग्य वेद्य भाव को अनुभव करे।

स विनश्यति कस्तं वेदयते? यदि वेदकभावपृष्ठभावी भावोऽन्यस्तं वेदयते तदा तद्भवनात्पूर्वं स वेद्यो विनश्यति। किं स वेदयते? इति काङ्क्ष्यमाणभाववेदनानवस्था। तां च विजानन् ज्ञानी न किंचिदेव काङ्क्षति ॥२१६॥

वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्वेद्यते न खलु काङ्क्षितमेव।
तेन काङ्क्षति न किञ्चन विद्वान् सर्वतोऽप्यतिविरक्तिमुपैति ॥१४७॥

उप्पज्जदे रागो स्वसंवेदनज्ञानिनो जीवस्य रागाद्युदयरूपेषु, अध्यवसानेषु बन्धनिमित्तं वा नैवोत्पद्यते रागः। कथंभूतेष्वध्यवसानेषु? संसारदेहविसएसु निष्प्रयोजनबन्धनिमित्तेषु संसारविषयेषु भोगनिमित्तेषु देहविषयेषु वा। इदमत्र तात्पर्यं भोगनिमित्तं स्तोकमेव पापं करोत्ययं जीवः निष्प्रयोजनापध्यानेन बहुतरं करोति शालिमत्स्यवत्। तथा चोक्तमपध्यानलक्षणं-बन्धबन्धच्छेदादेर्द्वेषाद्रागाच्च परकलत्रादेः। आध्यानमपध्यानं शासति जिनशासने विशदाः ॥ १ ॥ इति अपध्यानेन कर्म बध्नाति तदप्युक्तमास्ते—

यह जब तक उपजे तब तक वेद्यभाव नष्ट हो जाय (विनश जाय) उसके विनाश होनेपर वेदकभाव किसका अनुभव करे? तथा जो यहां ऐसे कहा जाय कि वांछा में आता जो वेद्यभाव उसके बाद होने वाला जो अन्य वेद्यभाव उसको वेदन करता है तो उसके होने के पहले ही वह वेदकभाव नष्ट हो जाता है तब उस वेद्यभाव को कौन वेद सकता है? फिर कहते हैं कि वेदकभाव के बाद होने वाला जो अन्य वेदकभाव वह उस वेद्यभाव को वेदेगा तो उस वेद्यकभाव के होने के पहले वह वेद्यभाव नष्ट हो जाय तब वह वेदकभाव कौन से भाव को वेदे? ऐसा कांक्षमाणभाव अर्थात् वेदना की वांछा में आता हुआ भाव उसकी अनवस्था है कहीं ठहराव नहीं। उस अवस्था को जानता हुआ ज्ञानी कुछ भी आकांक्षा नहीं करता।

भावार्थ—वेदकभाव और वेद्यभाव इन दोनों में काल भेद है। जब वेदकभाव होता है तब वेद्यभाव नहीं होता और जब वेद्यभाव होता है तब वेदकभाव नहीं होता। जब वेदकभाव आता है तब वेद्यभाव नष्ट हो जाता है और जब वेद्यभाव आता है तब वेदकभाव नष्ट हो जाता है। इसलिये ज्ञानी दोनों को विनाशीक जान आप जानने वाला ही रहता है ॥२१६॥

यहाँ प्रश्न—आत्मा तो नित्य है उसे दोनों भावों का वेदने वाला क्यों नहीं कहते? उसका समाधान—वेद्य वेदकभाव तो विभाव भाव हैं आत्मा के स्वभाव नहीं हैं, सो जिसकी वांछा की ऐसा वेद्यभाव जब तक वेदकभाव आया तब तक नष्ट हो गया। मनोवांछित होता नहीं है तब वांछा करना अज्ञान है।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-वेद्य इत्यादि। अर्थ—वेद्यवेदकभाव कर्म के निमित से होते हैं इसलिये वे स्वभाव नहीं विभाव हैं, चलायमान हैं, समय समय में विनसते हैं; इसलिये वांछितभाव नहीं वेदा जाता। इसी कारण ज्ञानी कुछ भी आगामी भोगों की वांछा नहीं करता सभी से वैराग्य भाव को प्राप्त है।

भावार्थ—अनुभवगोचर जो वेद्यवेदक विभाव उनके काल भेद हैं इसलिये मिलाप नहीं—विधि मिलती नहीं तब आगामी बहुत काल सम्बन्धी की वांछा ज्ञानी क्यों करे ॥१४७॥

तथाहि—

बंधुवभोगणिमित्ते अज्झवसाणोदएसु णाणिस्स ।
संसारदेहविसएसु णेव उप्पज्जदे रागो ॥२१७॥

वन्धोपभोगनिमित्तेषु, अध्यवसानोदयेषु ज्ञानिनः ।
संसारदेहविषयेषु नैवोत्पद्यते रागः ॥२१७॥

इह खल्वध्यवसानोदयाः कतरेऽपि संसारविषयाः, कतरेऽपि शरीरविषयाः । तत्र यतरे संसारविषयाः ततरे बन्धनिमित्ताः । यतरे शरीरविषयास्ततरे तूपभोगनिमित्ताः । यतरे बन्धनिमित्तास्ततरे रागद्वेषमोहाद्याः । यतरे तूपभोगनिमित्तास्ततरे सुखदुःखाद्याः । अथामीषु सर्वेष्वपि ज्ञानिनो नास्ति रागः । नानाद्रव्यस्वभावत्वेन टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावस्य तस्य तत्प्रतिषेधात् ॥२१७॥

संकल्पकल्पतरुसंश्रयणात्त्वदीयं चेतो निमज्जति मनोरथसागरेऽस्मिन् ।
तत्रार्थतस्तव चकास्ति न किंचनापि पक्षः परं भवसि कल्मषसंश्रयस्य ॥ १ ॥
दौर्विध्यदग्धमनसोऽन्तरुपात्तभुक्तेश्चित्तं यथोल्लसति ते स्फुरितान्तरङ्गम् ।
धाम्नि स्फुरेद्यदि तथा परमात्मसंज्ञे कौतस्कुती तव भवेद्विफला प्रसूतिः ॥ २ ॥

आचारशास्त्रे भणितं—कंखदि कलुसिदभूदो दु कामभोगेहिं मुच्छिदो संतो ।
णय भुंजंतो भोगे वंधदि भावेण कम्माणि ॥ १ ॥

इति ज्ञात्वा, अपध्यानं त्यक्त्वा च शुद्धात्मस्वरूपे स्थातव्यमिति भावार्थः ॥ २१७ ॥ अथानन्तरं तस्यैव ज्ञानगुणस्य चतुर्दशगाथापर्यन्तं पुनरपि विशेषव्याख्यानं करोति । तद्यथा—ज्ञानी सर्वद्रव्येषु वीतरागत्वात्कर्मणा

ऐसे सभी उपभोगों से ज्ञानी के वैराग्य है यह कहते हैं–[बंधोपभोगनिमित्तेषु] वंध और उपभोग के निमित्त जो [अध्यवसानोदयेषु] अध्यवसानके उदय हैं वे [संसारदेहविषयेषु] संसारविषयक और देह विषयक हैं उनमें [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [रागः] राग [नैव उत्पद्यते] नहीं उत्पन्न होता ।

टीका—इस लोक में निश्चय से अध्यवसान के उदय कितने हो तो संसार के विषय हैं और कितने ही शरीर के विषय हैं उनमें से जितने संसार के विषय हैं उतने तो वंध के निमित्त हैं और जितने शरीर के विषय हैं उतने उपभोग के निमित्त हैं । वहाँ जितने वंध के निमित्त हैं उतने तो रागद्वेप मोह आदिक हैं और जितने उपभोग के निमित्त हैं उतने सुखदुःखादिक हैं । इन सब में ही ज्ञानी के राग नहीं हैं क्योंकि अध्यवसान नाना द्रव्यों का स्वभाव है इसलिए एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभाव वाले ज्ञानी के उनका प्रतिषेध है ।

भावार्थ—संसार देहभोग संवंधी रागद्वेप मोह सुख दुःखादिक अध्यवसान के उदय हैं वे नाना द्रव्य अर्थात् पुद्गल तथा जीवद्रव्य संयोगरूप हुए उनके स्वभाव हैं, ज्ञानी का एक ज्ञायकस्वभाव है इसलिए ज्ञानी के उनका प्रतिपेध है इस कारण ज्ञानी के उनमें प्रीति नहीं हैं । परद्रव्य परभाव संसार में भ्रमण के कारण हैं उनसे प्रीति करे तो किस काम का ? ॥२१७॥

ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं [1]कर्म रागरसरिक्ततयैति ।
रङ्गयुक्तिरकषायितवस्त्रे [2]स्वीकृतैव हि बहिर्लुठतीह ॥१४८॥
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात् सर्वरागरसवर्जनशीलः ।
लिप्यते सकलकर्मभिरेष कर्ममध्यपतितोऽपि ततो न ॥१४९॥

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि रजएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२१८॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहम् ॥२१९॥(युग्मम्)

ज्ञानी रागप्रहायः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।
नो लिप्यते रजसा तु कर्दममध्ये यथा कनकम् ॥२१८॥
अज्ञानी पुना रक्तः सर्वद्रव्येषु कर्ममध्यगतः ।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दममध्ये यथा लोहम् ॥२१९॥

न लिप्यते सरागत्वादज्ञानी लिप्यते इति प्रतिपादयति;—हर्षविषादादिविकल्पोपाधिरहितः स्वसंवेदनज्ञानी सर्वद्रव्येषु रागादिपरित्यागशीलो यतः कारणात्, ततः कर्दममध्यगतं कनकमिव कर्मरजसा न लिप्यते इति । अज्ञानी पुनः स्वसंवेदनज्ञानाभावात् सर्वपञ्चेन्द्रियविषयादिपरद्रव्ये रक्तः काङ्क्षितो मूर्च्छितो मोहितो भवति यतः कारणात् ततः कर्दममध्यलोहमिव कर्मरजसा बध्यते इति ॥ २१८ ॥ २१९ ॥

इसी अर्थ का कलश रूप तथा अगले कथन की सूचनिका के श्लोक कहते हैं—ज्ञानिनो इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी परिग्रहभावां से रहित है, रागरूपी रस से भी रहित है उसका कर्म परिग्रहभाव को नहीं प्राप्त होता । जैसे लोध फिटकरी से कसायला नहीं किया गया जो वस्त्र उसमें रङ्ग का लगना अंगीकार न हुआ बाहर ही लोटता है वस्त्र में प्रवेश नहीं करता ।

भावार्थ—जैसे लोध फिटकरी लगाये विना वस्त्र पर रंग नहीं चढ़ता उसी तरह ज्ञानी के राग भाव के बिना कर्म के उदय का भोग नहीं है इसलिये वह परिग्रहपने को नहीं प्राप्त होता ॥१४८॥

फिर कहते हैं—ज्ञानवान् इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी निजरस से ही सब रागरस के त्यागरूप स्वभाव वाला है इस कारण कर्म के मध्य में पड़ा हुआ भी सब कर्मों से लिप्त नहीं होता ॥१४९॥

आगे इसी अर्थ का व्याख्यान गाथा में करते हैं;-[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**सर्वद्रव्येषु**] सब द्रव्यों के [**रागप्रहायकः**] राग का छोड़ने वाला है वह [**कर्ममध्यगतः**] कर्म के मध्य में प्राप्त हुआ हो [**तु**] तौभी [**रजसा**] कर्मरूपी रज से [**नो लिप्यते**] लिप्त नहीं होता [**यथा**] जैसे [**कर्दममध्ये**]

---

१. कर्म—विषयोपभोगलक्षणाक्रिया, राग आत्मनो रञ्जकपरिणामः स एव रसस्तद्रिक्ततया तद्भिन्नतया । २. स्वीकृता संयोगपरिणामपरिणता ।

यथा खलु कनकं कर्दममध्यगतमपि कर्दमेन न लिप्यते तदलेपस्वभावत्वात् । तथा किल ज्ञानी कर्ममध्यगतोऽपि कर्मणा न लिप्येत सर्वपरद्रव्यकृतरागत्यागशीलत्वे सति तदलेपस्वभावत्वात् ज्ञान्येव[1] । यथा लोहं कर्दममध्यगतं सत्कर्दमेन लिप्यते तल्लेपस्वभावत्वात् तथा किलाज्ञानी कर्ममध्यगतः सन् कर्मणा लिप्यते सर्वपरद्रव्यकृतरागोपादानशीलत्वे सति तल्लेपस्वभावत्वात् ॥२१८॥२१९॥

याद‍ृक् ताद‍ृगिहास्ति तस्य वशतो यस्य स्वभावो हि यः
कर्तुं नैष कथञ्चनापि हि परैरन्याद‍ृशः शक्यते ।
अज्ञानं न कदाचनापि हि भवेत् ज्ञानं भवत्संततं
ज्ञानिन् भुङ्क्ष्व परापराधजनितो नास्तीह बन्धस्तव ॥१५०॥

अथ सकलकर्मनिर्जरा नास्ति कथं मोक्षो भविष्यतीति प्रश्ने परिहारमाह;—

णागफणीए मूलं णाइणितोएण गब्भणागेण ।

कोचड़ में पड़ा हुआ [कनकं] सोना [तु पुनः] और [अज्ञानी] अज्ञानी [सर्वद्रव्येषु] सब द्रव्यों में [रक्तः] रागी है इसलिये [कर्ममध्यगतः] कर्म के मध्य को प्राप्त हुआ [कर्मरजसा] कर्मरज से [लिप्यते] लिप्त होता है [यथा] जैसे [कर्दममध्ये] कीच में पड़े हुए [लोहं] लोहे को काई लग जाती है वैसे ।

टीका—जैसे निश्चय से सुवर्ण कीचड़ के बीच में पड़ा हुआ है तौभी कीचड़ से लिप्त नहीं होता क्योंकि सुवर्ण का स्वभाव कर्दम के लेप न लगने स्वरूप ही है; उसी प्रकार प्रकटपने से ज्ञानी कर्म के बीच में पड़ा है तौभी कर्म से लिप्त नहीं होता क्योंकि ज्ञानी सब परद्रव्यगतराग के त्याग के स्वभावपने के होने से कर्म से अलिप्तस्वभावी है । और जैसे लोहा कर्दम के मध्य पड़ा हुआ कर्दम से लिप्त हो जाता है क्योंकि लोहे का स्वभाव कर्दम से लिप्त होने रूप ही है; उसी तरह अज्ञानी प्रकटपने कर्म के बीच पड़ा हुआ कर्म से लिप्त होता है क्योंकि अज्ञानी सब परद्रव्यों में किये गये राग का उपादानस्वभाव होने से कर्म में लिप्त होने के स्वभाव वाला है ।

भावार्थ—जैसे कीचड़ में पड़े हुए सुवर्ण के काई नहीं लगती, और लोहे के काई लग जाती है उसी प्रकार ज्ञानी कर्म के मध्यगत है तौभी वह कर्म में नहीं बंधता । और अज्ञानी कर्म से बंधता है । यह ज्ञान अज्ञान की महिमा है ॥ २१८।२१९ ॥

अब इस अर्थ का तथा अगले कथन की सूचनिका का कलश कहते हैं—याद‍ृक् इत्यादि । अर्थ—इस लोक में जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है उसका वैसा ही स्वाधीनपना है यह निश्चय है सो उस स्वभाव को अन्य कोई अन्य सरीखा करना चाहे तो कभी नहीं कर सकता इस न्याय से ज्ञान निरन्तर ज्ञानस्वरूप ही होता है ज्ञान का अज्ञान कभी नहीं होता यह निश्चय है । इसलिये हे ज्ञानी ! तू कर्मोदय जनित उपभोग को भोग, तेरे परके अपराध से उत्पन्न हुआ ऐसा लोक में बंध नहीं है ।

---

१. पाठोऽयमद्यावधि प्रकाशितेषु केषुचिदपि संस्करणेषु न लभ्यते ।

भुंजंतस्सवि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिये दव्वे ।
संखस्स सेदभावो णवि सक्कदि किण्णगो काउं ॥२२०॥
तह णाणिस्स वि विविहे सच्चित्ताचित्तमिस्सिए दव्वे ।
भुंजंतस्सवि णाणं ण सक्कमण्णाणदं णेदुं ॥२२१॥
जइया स एव संखो सेदसहावं तयं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कत्तणं पजहे ॥२२२॥
जह[1] संखो पोग्गलदो जइया सुक्कत्तणं पजहिदूण ।
गच्छेज्ज किण्हभावं तइया सुक्कतणं पजहे ॥
तह णाणी वि हु जइया णाणसहावं तयं पजहिऊण ।
अण्णाणेण परिणदो तइया अण्णाणदं गच्छे ॥२२३

णागं होइ सुवण्णं धम्मंतं भत्थवाएण ॥

नागफण्या मूलं नागिनीतोयेन गर्भनागेन । नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रावायुना । नागफणी नामौषधी तस्या मूलं । नागिनी हस्तिनी तस्यास्तोयं मूत्रं । गर्भनागं सिंदूरद्रव्यं । नागं सीसकं । अनेन प्रकारेण पुण्योदये सति सुवर्णं भवति न च पुण्याभावे । कथंभूतः सन् ? भस्त्रया धम्यमानमिति दृष्टान्तगाथा गता । अथ दार्ष्टान्तमाह;—

कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ ।
सम्मत्तणाणचरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥

कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिका अथ विभावाः । सम्यक्त्वज्ञानदर्शनचारित्रं परमौषधमिति विजानीहि । द्रव्यकर्म किट्टसंज्ञं भवति रागादिविभावपरिणामाः कालिकासंज्ञा ज्ञातव्याः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं भेदाभेदरूपं परमौषधं जानीहि इति ।

[2]झाणं हवेइ अग्गी तवयरणं भत्तली समक्खादो ।
जीवो हवेइ लोहं धमियव्वो परमजोईहिं ॥

भावार्थ—वस्तु स्वभाव मेंटने को कोई समर्थ नहीं है इसलिये ज्ञान हुए बाद उसे अज्ञान करने को कोई समर्थ नहीं है यह निश्चयनय है । इसलिये ज्ञानी को कहा गया है कि तेरे परके किये अपराध से बंध नहीं है तू उपभोग को भोग । उपभोगों के भोगने की शंका मत कर । शंका करेगा तो परद्रव्य से बुरा होना ऐसा मानने का प्रसंग आयेगा । इस तरह परद्रव्य से अपना बुरा होना

१. आत्मख्यातिवृत्तौ, नेयं गाथा । २. एषा गाथा नात्मख्यातौ ।

भुञ्जानस्यापि विविधानि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।
शङ्खस्य श्वेतभावो नापि शक्यते कृष्णकः कर्तुम् ॥२२०॥
तथा ज्ञानिनोऽपि सचित्ताचित्तमिश्रितानि द्रव्याणि ।
भुञ्जानस्यापि ज्ञानं न शक्यमज्ञानतां नेतुम् ॥२२१॥
यदा स एव शङ्खः श्वेतस्वभावं तकं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥२२२॥
यथा शङ्खः पौद्गलिकः यदा शुक्लत्वं प्रहाय ।
गच्छेत् कृष्णभावं तदा शुक्लत्वं प्रजह्यात् ॥
तथा ज्ञान्यपि खलु यदा ज्ञानस्वभावं तकं प्रहाय ।
अज्ञानेन परिणतस्तदा अज्ञानतां गच्छेत् ॥२२३॥

यथा खलु शङ्खस्य परद्रव्यमुपभुञ्जानस्यापि न परेण श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः । तथा किल ज्ञानिनः परद्रव्यमुपभुञ्जान-

---

ध्यानं भवत्यग्निः तपश्चरणं भस्त्रा समाख्यातं । जीवो भवति लोहं धवितव्यः परमयोगिभिः । वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूपं ध्यानमग्निर्भवति द्वादशविधतपश्चरणं भस्त्रा ज्ञातव्या । आसन्नभव्यजीवो लोहं भवति । स च भव्यजीवः पूर्वोक्तसम्यक्त्वाद्यौषधध्यानाग्निभ्यां[1] संयोगं कृत्वा द्वादशविधतपश्चरणभस्त्रया

मानने की शंका मेटी है । ऐसा मत समझो कि भोग भोगने की प्रेरणा कर स्वच्छन्द किया है । स्वेच्छाचारी होना अज्ञानभाव है ॥१५०॥

आगे इसी अर्थ को दृष्टांत द्वारा दृढ़ करते हैं—जैसे शंख [विविधानि] अनेक प्रकार के [सचित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त अचित्त और मिश्रित [द्रव्याणि] द्रव्यों को [भुञ्जानस्यापि] क्षण करता है तो भी [शङ्खस्य] उस शंख का [श्वेतभावः] सफेदपना [कृष्णकः कर्तुं] काला करने को [नापि शक्यते] कोई भी समर्थ नहीं [तथा] उसी तरह [विविधानि] अनेक प्रकार के [सचित्ताचित्तमिश्रितानि] सचित्त अचित और मिश्रित [द्रव्याणि] द्रव्यों को [भुञ्जानस्यापि] भोगने वाले [ज्ञानिनः] ज्ञानी के [ज्ञानं अपि] ज्ञान के भी [अज्ञानतां नेतुं न शक्यं] अज्ञानपना करने की किसी की भी सामर्थ्य नहीं है और जैसे [स एव शंखः] वही शंख [यदा] जिस समय [तकं श्वेतस्वभावं] अपने उस श्वेतस्वभाव को [प्रहाय] छोड़कर [कृष्णभावं] कृष्णभाव को [गच्छेत्] प्राप्त होता है [तदा] तब [शुक्लत्वं] सफेदपन को [प्रजह्यात्] छोड़ देता है [तथा] उसी तरह [ज्ञानी अपि] ज्ञानी भी [खलु यदा] निश्चय से जब [तकं ज्ञानस्वभावं] अपने उस ज्ञान स्वभाव को [प्रहाय] छोड़कर [अज्ञानेन परिणतः] अज्ञान रूप परिणमन करता है [तदा] उस समय [अज्ञानतां] अज्ञानपने को [गच्छेत्] प्राप्त होता है ।

टीका—जैसे शंख परद्रव्य को भक्षण करता रहता है तो भी कोई उसका श्वेतपन काले

---

१. ध्यानाग्न्यभ्यासादित्यपि पाठः ।

स्यापि न परेण ज्ञानमज्ञानं कर्तुं शक्येत परस्य परभावत्वनिमित्तत्वानुपपत्तेः। ततो ज्ञानिनः परापराधनिमित्तो नास्ति बन्धः। यथा च यदा स एव शङ्खः परद्रव्यमुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा श्वेतभावं प्रहाय स्वयमेव कृष्णभावेन परिणमते तदास्य श्वेतभावः स्वयंकृतः कृष्णभावः स्यात्। तथा यदा स एव ज्ञानी परद्रव्यमुपभुञ्जानोऽनुपभुञ्जानो वा ज्ञानं प्रहाय स्वयमेवाज्ञानेन परिणमेत तदास्य ज्ञानं स्वयंकृतमज्ञानं स्यात्। ततो[1] ज्ञानिनः स्वापराधनिमित्तो बन्धः ॥२२०।२२१।२२२।२२३॥

ज्ञानिन् कर्म न जातु कर्तुमुचितं किंचित्तथाप्युच्यते
भुङ्क्ष्ये हन्त न जातु मे यदि परं दुर्भुक्त एवासि भोः।
बन्धः स्यादुपभोगतो यदि न तत्किं कामचारोऽस्ति ते
ज्ञानं सन्वस बन्धमेष्यपरथा स्वस्यापराधाद्ध्रुवम् ॥१५१॥

परमयोगिभिः चमितव्यो ध्यातव्यः। इत्यनेन प्रकारेण यथा सुवर्णं भवति तथा मोक्षो भवतीति संदेहो न कर्तव्यो भट्टाचार्वाकमतानुसारिभिरिति। अथ ज्ञानिनः शङ्खदृष्टान्तेन बन्धाभावं दर्शयति;—यथा सजीवस्य शङ्खस्य श्वेतभावः कृष्णीकर्तुं न शक्यते। किं कुर्वाणस्यापि ? भुञ्जानस्यापि। कानि ? कर्मतापन्नानि सचित्ता-

---

स्वरूप नहीं कर सकता क्योंकि परमें परभाव स्वरूप करने का निमित्तपना नहीं है। उसी तरह परद्रव्य को भोगते हुए ज्ञानी के ज्ञान को कोई दूसरा अज्ञानरूप नहीं कर सकता क्योंकि दूसरे में परभावस्वरूप करने का निमित्तपना नहीं है इसलिये ज्ञानी के परकृत अपराध के निमित्त से बंध नहीं हैं। और जिस समय वही शङ्ख परद्रव्य को भोगता हो अथवा न भोगता हो परन्तु अपने श्वेतपने को छोड़ आप ही कृष्णभावस्वरूप परिणमता है उस समय शङ्ख का श्वेतभाव अपने द्वारा ही किये कृष्णभाव स्वरूप होता है, उसी तरह वही ज्ञानी परद्रव्य को भोगता हो अथवा न भोगता हो परन्तु जिस समय अपने ज्ञान को छोड़ आप ही अज्ञान से परिणमन करे उस समय इसका ज्ञान अपना ही किया निश्चय से अज्ञानरूप होता हैं। इसलिये ज्ञानी के परका किया बंध नहीं है आप ही अज्ञानी होय तब अपने अपराध के निमित्त से बंध होता है।

भावार्थ—जैसे शङ्ख सफेद है वह परको भक्षण से तो काला होता नहीं जब आप ही कालिमा रूप परिणमे तब काला होता है उसी प्रकार ज्ञानी उपभोग करता हुआ भी अज्ञानी नहीं होता जब आप ही अज्ञानरूप परिणमन करे तब अज्ञानी होता है तभी बंध करता है ॥ २२०।२२१।२२२।२२३ ॥

इसका कलशरूप काव्य कहते हैं—ज्ञानिन् इत्यादि। अर्थ—हे ज्ञानी ! तुझ को कुछ भी कर्म कभी करना योग्य नहीं हैं तो भी तू कहता है कि परद्रव्य मेरा तो कदाचित् भी नहीं है और मैं भोगता हूं। तो आचार्य कहते हैं यह बड़ा खेद है, जो तेरा नहीं उसको तू भोगता है तो तू खोटा खाने वाला है। हे भाई जो तू कहे कि परद्रव्य के उपभोग से बंध नहीं होता इसलिये

---

१. ततो ज्ञानिनो अस्ति बन्धस्तदा स्वापराधनिमित्त एवेति भावः। ज्ञानिनः इति शब्दानन्तर यदि शब्दोऽपि प्राचीनप्रतिषु केषुचिद् वर्तते।

कर्तारं स्वफलेन यत्किल बलात्कर्मैव नो योजयेत्
कुर्वाणः फललिप्सुरेव हि फलं प्राप्नोति यत्कर्मणः ।
ज्ञानं संस्तदपास्तरागरचनो नो बध्यते कर्मणा
कुर्वाणोऽपि हि कर्म तत्फलपरित्यागैकशीलो मुनिः ॥१५२॥

चित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणीति व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानिनो जीवस्य वीतराग-स्वसंवेदनलक्षणभेदज्ञानं, रागत्वमज्ञानत्वं नेतुं न शक्यते । कस्मात् ? स्वभावस्यान्यथाकर्तुमशक्यत्वात् । किं कुर्वाणस्यापि ? भुञ्जानस्यापि । कानि ? स्वकीयगुणस्थानावस्थायोग्यानि सचित्ताचित्तमिश्राणि विविधद्रव्याणि । ततः कारणात् चिरन्तनबद्धकर्मनिर्जरैव भवति । नवतरस्य च संवर इति व्यतिरेकदार्ष्टान्तगाथा गता । अन्वयव्यतिरेकशब्देन सर्वत्र विधिनिषेधौ ज्ञातव्यौ इति । यथा यदा स एव पूर्वोक्तः सजीवशंखः कृष्णपरद्रव्य-लेपवशात्, अन्तरङ्गस्वकीयोपादानपरिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । तथैव च यथा निर्जीवशंखः कृष्णपरद्रव्यलेपवशात् अन्तरङ्गोपादान-परिणामाधीनः सन् श्वेतस्वभावत्वं विहाय कृष्णभावं गच्छेत् तदा शुक्लत्वं त्यजति । इति निर्जीवशंखनिमित्तं द्वितीयान्वयदृष्टान्तगाथा गता । तथा तेनैव प्रकारेण ज्ञानी जीवोऽपि हि स्फुटं स्वकीयप्रज्ञापराधेन वीतराग-ज्ञानस्वभावत्वं विहाय मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन परिणतो भवति तदा स्वस्वभावच्युतः सन्नज्ञानत्वं गच्छेत् । तस्य संवरपूर्विका निर्जरा नास्तीति भावार्थः—इत्यन्वयदार्ष्टान्तगाथा गता ॥ २२०।२२१।२२२।२२३ ॥

अथ सरागपरिणामेन बन्धः तथैव वीतरागपरिणामेन मोक्षो भवतीति दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्यां समर्थ-यति;—यथा कश्चित्पुरुषः, वृत्तिनिमित्तं राजानं सेवते ततः सोऽपि राजा तस्मै सेवकाय ददाति, कान् ? विविधसुखोत्पादकान् भोगान् इत्यज्ञानिजीवविषयेऽन्वयदृष्टान्तगाथा गता । एवमेवाज्ञानी जीवपुरुष शुद्धा-त्मोत्थसुखात्प्रच्युतः सन्नुदयागतं कर्मरजः सेवते विषयसुखनिमित्तं ततः सोऽपि पूर्वोपार्जितपुण्यकर्म राजा ददाति, कान् ? विषयसुखोत्पादकान् भोगाकाङ्क्षारूपान् शुद्धात्मभावानां विनाशकान् रागादिपरिणामान्

भोगता हूँ उस जगह क्या तुझे भोगने की इच्छा है ? तू ज्ञान रूप हुआ अपने स्वरूप में निवास करे तो बंध नहीं है और जो भोगने की इच्छा करेगा तो तू आप अपराधी हुआ, अपने अपराध से नियम से बंध को प्राप्त होगा ।

भावार्थ—ज्ञानी को कर्म तो करना ही उचित नहीं और जो परद्रव्य जानकर भी उसे भोगे तो यह योग्य नहीं । परद्रव्य के भोगने वाले को तो लोक में चोर अन्यायी कहते हैं । जो उपभोग से बंध नहीं कहा है वह ऐसे है कि ज्ञानी बिना इच्छा पर को बरजोरी से उदय में आये को भोगे उसके बंध नहीं कहा और जो आप इच्छा से भोगेगा तो आप अपराधी हुआ, तब बंध क्यों न होगा ? ॥१५१

इसी अर्थ के दृढ़ करने को काव्य कहते हैं—**कर्तारं** इत्यादि । **अर्थ**—कर्म अपने करने वाले कर्ता को अपने फल के साथ जबरदस्ती से तो नहीं लगता कि मेरे फल को तू भोग । कर्मफल का इच्छुक ही कर्म को करता हुआ उस कर्म का फल पाता है । इसलिए ज्ञानरूप हुआ, तथा जिसकी राग की रचना कर्म में दूर हो गई है ऐसा मुनि कर्म को करता हुआ भी कर्म से नहीं बँधता । क्योंकि उसका स्वभाव उस कर्म के फल का परित्यागरूप ही है ।

भावार्थ—कर्म तो कर्ता को जबरदस्ती से अपने फल के साथ जोड़ता नहीं परन्तु जो कर्म

पुरिसो जह कोवि इह वित्तिणिमित्तं त सेवए रायं ।
तो सोवि देदि राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२४॥
एमेव जीवपुरिसो कम्मरयं सेवदे सुहणिमित्तं ।
तो सोवि देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२५॥
जह पुण सो चिय पुरिसो वित्तिणिमित्तं ण सेवदे रायं ।
तो सो ण देइ राया विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२६॥
एमेव सम्मदिट्ठी विसयत्थं सेवए ण कम्मरयं ।
तो सो ण देइ कम्मो विविहे भोए सुहुप्पाए ॥२२७॥ (चतुष्कम्)

पुरुषो यथा कोपीह वृत्तिनिमित्तं तु सेवते राजानम् ।
तत्सोऽपि ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२४॥
एवमेव जीवपुरुषः कर्मरजः सेवते सुखनिमित्तम् ।
तत्तदपि ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२५॥
यथा पुनः स एव पुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम् ।
तत्सोऽपि न ददाति राजा विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२६॥
एवमेव सम्यग्दृष्टिर्विषयार्थं सेवते न कर्मरजः ।
तत्तन्न ददाति कर्म विविधान् भोगान् सुखोत्पादकान् ॥२२७॥

इति । अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि जीवोऽभि नवपुण्यकर्मनिमित्तं भोगाऽकाङ्क्षानिदानरूपेण शुभकर्मानुष्ठानं करोति सोऽपि पापानुबन्धिपुण्यराजा कालान्तरे भोगान् ददाति । तेऽपि निदानबन्धेन प्राप्ता

को कर्ता हुआ उसके फल की इच्छा करता है वही उसका फल पाता है । इस कारण जो ज्ञानी ज्ञानरूप हुआ कर्म के करने में राग न करे तथा उसके फल की आगामी इच्छा न करे वह मुनि कर्मों से नहीं बँधता ॥१५२॥

आगे इस अर्थ को दृष्टान्त से दृढ़ करते हैं :—[यथा] [इह] इस लोक में [कोपि पुरुषः] कोई पुरुष [वृत्तिनिमित्तं तु] आजीविका के लिये [राजानं] राजा को [सेवते] सेवे [तत्] तो [स राजापि] वह राजा भी उसको [सुखोत्पादकान्] सुख के उपजाने वाले [विविधान्] अनेक प्रकार के [भोगान्] भोगों को [ददाति] देता है [एवमेव] इसी तरह [जीवपुरुषः] जीवनामा पुरुष [सुखनिमित्तं] सुख के लिये [कर्मरजः] कर्म रूपी रज को [सेवते] सेवन करता है [तत्] तो [तत्कर्म अपि] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख के उपजाने वाले [विविधान् भोगान्] अनेक प्रकार के भोगों को [ददाति] देता है [पुनः] और [यथा] जैसे [स एव पुरुषः] वही पुरुष [वृत्तिनिमित्तं] आजीविका के लिये [राजानं] राजा को [न सेवते] नहीं सेवे [तत्] तो [स राजा अपि] वह राजा

यथा कश्चित्पुरुषः फलार्थं राजानं सेवते ततः स राजा तस्य फलं ददाति । तथा जीवः फलार्थं कर्म सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं ददाति । यथा च स एव पुरुषः फलार्थं राजानं न सेवते ततः स राजा तस्य फलं न ददाति । तथा सम्यग्दृष्टिः फलार्थं कर्म न सेवते ततस्तत्कर्म तस्य फलं न ददातीति तात्पर्यम् ॥२२४।२२५। २२६।२२७॥

त्यक्तं येन फलं स कर्म कुरुते नेति प्रतीमो वयं
किन्त्वस्यापि कुतोऽपि किंचिदपि तत्कर्मावशेनापतेत् ।
तस्मिन्नापतिते त्वकम्पपरमज्ञानस्वभावे स्थितो
ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः ॥१५३॥

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि परत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि ।

भोगा रावणादिवन्नारकादिदुःखपरम्परां प्रापयन्तीति भावार्थः । एवमज्ञानिजीवं प्रत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । यथा स चैव पूर्वोक्तपुरुषो वृत्तिनिमित्तं न सेवते राजानम् । ततः सोऽपि राजा तस्मै न ददाति, कान् ? विविधान् सुखोत्पादकान् भोगान् इति ज्ञानिजीवविषये व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता । एवमेव च सम्यग्दृष्टि-

---

भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख के उपजाने वाले [विविधान्] अनेक प्रकार के [भोगान्] भोगों को [न ददाति] नहीं देता है [एवमेव] इसी तरह [सम्यग्दृष्टिः] सम्यदृष्टि [विषयार्थं] विषयों के लिये [कर्मरजः] कर्म रूपी रज को [न सेवते] नहीं सेवता [तत्] तो [तत्कर्म अपि] वह कर्म भी उसे [सुखोत्पादकान्] सुख के उपजाने वाले [विविधान् भोगान्] अनेक प्रकार के भोगों को [न ददाति] नहीं देता ।

टीका—जैसे कोई पुरुष फलके लिये राजा की सेवा करे तो राजा उसे फल देता है उसी तरह जीव भी फल के लिये कर्मों का सेवन करे तो वह कर्म उसे फल देता है । और जैसे वही पुरुष फल के लिये राजा की सेवा न करे तो राजा भी उसको फल नहीं देता उसी तरह सम्यग्दृष्टि फल के लिये कर्म को नहीं सेवे तो वह कर्म भी उसको फल नहीं देता ऐसा अभिप्राय है ।

भावार्थ—फल की वांछा से कर्म करे तो उसका फल पाता है वांछा के विना कर्म करे तो उसका फल नहीं पा सकता ॥२२४।२२५।२२६।२२७॥

अब ऐसी आशंका को कि जिसको फल की इच्छा नहीं है, वह कर्म क्यों करे दूर करने को काव्य कहते हैं—त्यक्तं इत्यादि । अर्थ—हम ऐसी प्रतीति नहीं करते कि जिसने कर्म का फल छोड़ दिया हो वह कर्म करता है परन्तु यहां इतना विशेष है कि ज्ञानी के भी किसी कारण से कुछ कर्म इसके वश विना आ पड़ते हैं उनके आने पर भी यह ज्ञानी निश्चल परमज्ञानस्वभाव में ठहरता कुछ कर्म करता है या नहीं करता यह कौन जाने ?

भावार्थ—ज्ञानी के परवश कर्म आपड़े हैं उनके होने पर भी ज्ञानी ज्ञान से चलायमान

सर्वमेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमबध्यबोधवपुषं बोधाच्च्यवन्ते न हि ॥१५४॥

जीवः पूर्वोपार्जितमुदयागतं कर्मरजः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानन्दात्प्रच्युतो भूत्वा विषयसुखार्थं, उपादेयबुद्धया न सेवते ततस्तदपि कर्म न ददाति, कान् ? विविधविषयसुखोत्पादकान् भोगाकाङ्क्षारूपान् शुद्धात्मभावनाविनाशकान् रागादिपरिणामानिति। अथवा द्वितीयव्याख्यानं—कोऽपि सम्यग्दृष्टिर्जीवो निर्विकल्पसमाधेरभावात्, अशक्यानुष्ठानेन विषयकषायवञ्चनार्थं यद्यपि व्रतशीलदानपूजादिशुभकर्मानुष्ठानं करोति तथापि भोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धेन तत्पुण्यकर्मानुष्ठानं न सेवते। तदपि पुण्यानुबन्धिपुण्यकर्म भवान्तरे तीर्थंकर-चक्रवर्ति-बलदेवाद्यभ्युदयरूपेणोदयागतमपि पूर्वभवभावितभेदविज्ञानवासनावलेन शुद्धात्मभावनाविनाशकान् विषयसुखोत्पादकान् भोगाकाङ्क्षानिदानरूपान् रागादिपरिणामान्न ददाति, भरतेश्वरादीनामिव। इति संज्ञानिजीवं प्रति व्यतिरेकदार्ष्टान्तिगाथा गता। एवं मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानाभेदरूपं परमार्थशब्दवाच्यं साक्षान्मोक्षकारणभूतं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं स्वसंवेद्यं संवरपूर्विकाया निर्जराया उपादानकारणं पूर्वं यद्व्याख्यातं परमात्मपदं, तत्पदं येन निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदविज्ञानगुणेन विना न लभ्यते तस्यैव भेदविज्ञानगुणस्य पुनरपि विशेषव्याख्यानरूपेण चतुर्दशसूत्राणि गतानि ॥ २२४।२२५।२२६।२२७ ॥ इति ऊर्ध्वं निश्शङ्काद्यष्टगुणकथनं गाथानवकपर्यंतं व्याख्यानं करोति। तत्र तावत् प्रथमगाथायां निजपरमात्मपदार्थभावनोत्पन्नसुखामृतरसास्वादतृप्ताः सन्तः सम्यग्दृष्टयो घोरोपसर्गेऽपि सप्तभयरहितत्वेन निर्विकारस्वानुभव-

---

नहीं होता, उस अवस्था में यह ज्ञानी कर्म करता है कि नहीं यह नहीं मालूम होता यह बात कौन जान सकता है, ज्ञानी की बात ज्ञानी ही जानता है अज्ञानी की सामर्थ्य ज्ञानी के परिणाम को जानने की नहीं है। यहां पर ऐसा जानना कि ज्ञानी कहने से अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर ऊपर के सभी ज्ञानी हैं। उनमें से अविरत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा आहार विहार करने वाले मुनियों की बाह्यक्रिया प्रवर्तती है तो भी अंतरंग मिथ्यात्व के अभाव से तथा यथासम्भव कषाय के अभाव से वे क्रियायें उज्ज्वल हैं। इसलिए उनके उजलापन को वे ही जानते हैं मिथ्यादृष्टि उनके उजलापन को नहीं जानता। मिथ्यादृष्टि तो बहिरात्मा है बाहर से ही भला बुरा मानता है, अन्तरात्मा की गति मिथ्यादृष्टि क्या जान सकता है ? ॥१५३॥

आगे इसी अर्थ के समर्थन रूप कहते हैं कि ज्ञानी के निःशंकित नामा गुण होता है उसी की सूचना रूप काव्य कहते हैं—**सम्यग्दृष्टयः** इत्यादि। **अर्थ**—यह साहस एक सम्यग्दृष्टि ही कर सकता है क्योंकि जिस भय से तीन लोक चलायमान हो गये हैं ऐसे वज्रपात के पड़ने पर भी वे अपने ज्ञान से चलायमान नहीं होते। वे स्वभाव से ही निर्भयपना होने के कारण सब शंकाओं को छोड़कर अपने आत्मा को ऐसा जानते हैं कि इस आत्मा का ज्ञानरूपी शरीर किसी से भी बाधित नहीं हो सकता ऐसा जानते हुए आप ज्ञान में प्रवृत्त होते हैं उससे च्युत नहीं होते।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि निःशंकित गुणसहित होता है सो ऐसे वज्रपात के पड़ने पर भी (जिसके भय से तीन लोक के जीव मार्ग छोड़ देते हैं) वह अपने स्वरूप को निर्बाध ज्ञानशरीररूप मानता हुआ ज्ञान से चलायमान नहीं होता, ऐसी शंका नहीं रखता कि इस वज्रपात से मेरा विनाश हो जायगा। पर्याय का विनाश होवे तो ठीक ही है क्योंकि उसका विनाशीक स्वभाव ही है ॥१५४॥

सम्मद्दिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ॥२२८॥

सम्यग्दृष्टयो जीवा निश्शङ्का भवन्ति निर्भयास्तेन ।
सप्तभयविप्रमुक्ता यस्मात्तस्मात्तु निश्शङ्काः ॥२२८॥

येन नित्यमेव सम्यग्दृष्टयः सकलकर्मफलनिरभिलाषाः सन्तः, अत्यन्तं कर्मनिरपेक्षतया वर्तन्ते तेन नूनमेते अत्यन्तनिश्शङ्कदारुणाध्यवसायाः सन्तोऽत्यन्तनिर्भयाः संभाव्यन्ते ॥२२८॥

लोकः शाश्वत एक एष [1]सकलव्यक्तो विविक्तात्मनः
चिल्लोकं[2] स्वयमेव केवलमयं यं लोकयत्येककः ।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस्तस्यास्ति तद्भीः कुतो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५५॥

स्वरूपं स्वस्वभावं न त्यजन्तीति कथयति;—सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति सम्यग्दृष्टयो जीवाः शुद्धबुद्धैक-

---

आगे इसी अर्थ को गाथा से कहते हैं—[सम्यग्दृष्टयः जीवाः] सम्यग्दृष्टि जीव [निःशंका भवति] निःशंक होते हैं [तेन] इसीलिये [निर्भयाः] निर्भय हैं [यस्मात्] क्योंकि [सप्तभयविप्रमुक्ताः] सप्तभय से रहित हैं [तस्मात्] इसीलिये निःशंकाः] निःशंक हैं ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि नित्य ही सब कर्मों के फल की अभिलाषा से रहित हुए कर्म से सर्वथा निरपेक्ष हुए प्रवर्तन करते हैं इस कारण अत्यन्त निःशंक दारुण (तीव्र) निश्चयरूप दृढ़ आशयरूप हुए अत्यन्त निर्भय हैं ऐसी सम्भावना की जाती है ॥२२८॥

अब सप्तभय के कलशरूप काव्य कहते हैं उनमें इस लोक तथा परलोक के दो भयों का काव्य—लोक इत्यादि । अर्थ—जो यह भिन्न आत्मा का चैतन्यस्वरूप लोक है वह शाश्वत है एक है, सब जीवों के प्रगट है इसको यह ज्ञानी आत्मा ही स्वयमेव एकाकी (केवल) अवलोकन करता है । उस अवस्था में ज्ञानी ऐसा विचारता है कि यह चैतन्यलोक तेरा है और इससे जो अन्य लोक है वह परलोक है तेरा नहीं । ऐसा विचारते हुए उस ज्ञानी के इस लोक तथा परलोक का भय कैसे हो सकता है ? नहीं होता । इस कारण ज्ञानी निःशंक हुआ हमेशा अपने को स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप अनुभवता है ।

भावार्थ—इस भव में लोकों का डर रहता है कि ये लोग न मालूम मेरा क्या बिगाड़ करेंगे ऐसा तो इस लोक का भय है, और परभव में न मालूम क्या होगा ऐसा भय रहना वह परलोक का भय है ।सो ज्ञानी ऐसा जानता है कि मेरा लोक तो चैतन्यस्वरूपमात्र एक नित्य है यह सबमें प्रकट है । इस लोक के सिवाय जो अन्य है वह परलोक है । सो मेरा लोक तो किसी का बिगाड़ा हुआ नहीं बिगड़ता । ऐसे विचारता हुआ ज्ञानी अपने को स्वाभाविक ज्ञानरूप अनुभवे तो उसके इस लोक का भय किस तरह हो सकता है कभी नहीं होता ॥१५५॥

---

१. सकलं कालं व्यक्तः प्रकटः सकलव्यक्त इत्यर्थः । २. एषोऽयं लोकः केवलमयं चिल्लोकं लोकयतीत्यर्थः ।

एषैकैव हि वेदना यदचलं ज्ञानं स्वयं वेद्यते
निर्भेदोदितवेद्यवेदकबलादेकं सदानाकुलैः ।
नैवान्यागतवेदनैव हि भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५६॥

यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं व्यक्तेति वस्तुस्थिति-
र्ज्ञानं सत्स्वयमेव तत्किल ततस्त्रातं किमस्यापरैः ।
अस्यात्राणमतो न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निःशङ्का सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५७॥

स्वभावनिर्दोषपरमात्माराधनं कुर्वाणाः सन्तो निश्शंका भवन्ति यस्मात्कारणात् । णिब्भया तेण तेन कारणेन निर्भया भवति सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा यस्मादेव कारणाद् इहलोक परलोक-अत्राण-अगुप्ति-मरण-वेदना-आकस्मिकसंज्ञितसप्तभयविप्रमुक्ता भवन्ति तह्मा दु णिस्संका तस्मादेव कारणात घोरपरीषहोपसर्गे प्राप्तेपि निश्शङ्काः शुद्धात्मस्वरूपे निष्कम्पाः सन्तः शुद्धात्मभावनोत्थवीतरागसुखानन्दतृप्ताश्च परमात्मस्वरूपान्न

अब वेदना के भय का काव्य कहते हैं—एषैकेव इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी पुरुषों के यही एक वेदना है कि निराकुल होकर अपना एक ज्ञानस्वरूप आप अपने ज्ञान भाव से ही वेदा जाता है और आप ही वेदनेवाला ऐसा अभेद स्वरूप वेद्यवेदकभाव के बल से निरंतर निश्चल वेदा जाता है—अनुभव किया जाता है परन्तु अन्य से हुई वेदना ज्ञानी के नहीं है । इसलिये उस ज्ञानी के उस वेदना का भय कैसा हो सकता है ? नहीं होता । इस कारण ज्ञानी निःशंक हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का सदा (निरंतर) अनुभव करता है ।

भावार्थ—वेदना नाम सुखदुःख के भोगने का है ज्ञानी के एक अपना ज्ञानमात्रस्वरूप का भोगना ही है । वह अन्य से आई हुई को वेदना ही नहीं जानता इसलिये अन्य द्वारा आगत वेदना का भय नहीं है । इस कारण सदा निर्भय हुआ ज्ञानका अनुभव करता है ॥१५६॥

अब अरक्षा के भय का काव्य कहते हैं—यत् इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी ऐसा विचारता है कि सत्स्वरूप वस्तु है वह नाशको प्राप्त नहीं होती ऐसी नियम से वस्तु की मर्यादा है । ज्ञान भी आप सत्स्वरूप वस्तु है उसकी निश्चय से दूसरे से रक्षा कैसी ? इसलिये उस ज्ञान की अरक्षा करने वाला कुछ भी नहीं है इसकारण ज्ञानी के अरक्षा का भय कैसे हो सकता है ? ज्ञानी तो अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप को निःशंक हुआ सदा आप अनुभव करता है ।

भावार्थ—ज्ञानी ऐसा जानता है कि सत्ता का कभी नाश नहीं होता, ज्ञान आप सत्तास्वरूप है इसलिये ज्ञान स्वयं ही रक्षित है । ज्ञानी के अरक्षा का भय नहीं । वह तो निःशंक हुआ अपने स्वाभाविक ज्ञान का सदा अनुभव करता है ॥१५७॥

स्वं रूपं किल वस्तुनोऽस्ति परमा गुप्तिः स्वरूपे न य-
च्छक्तः कोऽपि परः प्रवेष्टुमकृतं ज्ञानं स्वरूपं च नुः।
अस्यागुप्तिरतो न काचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५८॥

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नो छिद्यते जातुचित्।
तस्यातो मरणं न किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१५९॥

प्रच्यवन्ते पाण्डवादिवत् ॥ २२८ ॥ अथानन्तरं वीतरागसम्यग्दृष्टेर्निश्शङ्काद्यष्टगुणाः नवतरबन्धं निवारयन्ति ततः कारणाद्‌बन्धो नास्ति किं तु संवरपूर्विका निर्जरैव भवतीति प्रतिपादयति;—जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते कम्ममोहवाधकरे यः कर्ता मिथ्यात्वाविरतिकषाययोगलक्षणान् संसारवृक्षस्य मूलभूतान् निष्कर्मात्मतत्त्व॰

अब अगुप्तिभय का काव्य कहते हैं—स्वं रूपं इत्यादि। अर्थ—ज्ञानी विचारता है कि वस्तु का निजरूप ही वस्तु की परम गुप्ति है, उसमें अन्य कोई प्रवेश नहीं कर सकता। यहां ज्ञान भी पुरुष का स्वरूप है। वह अकृत्रिम है इसलिये ज्ञानी के कुछ भी अगुप्त नहीं है। ज्ञानी के अगुप्ति का भय नहीं है। इसी कारण ज्ञानी निःशंक हुआ निरंतर आप स्वाभाविक अपने ज्ञानभाव का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—जिसमें किसी का प्रवेश नहीं ऐसे गढ़ दुर्गादिक का नाम गुप्ति है उसमें यह प्राणी निर्भय होकर रहता है। और जो गुप्त प्रदेश न हो, खुला हुआ हो, उसको अगुप्ति कहते हैं वहां बैठने से जीव को भय उत्पन्न होता है ज्ञानी ऐसा समझता है कि जो वस्तु का निज स्वरूप है उसमें परमार्थ से दूसरी वस्तु का प्रवेश नहीं है यही परमगुप्ति है। पुरुष का स्वरूप ज्ञान है उसमें किसी का प्रवेश नहीं है। इसलिये ज्ञानी को भय कैसे हो सकता है? ज्ञानी अपने स्वाभाविक ज्ञानस्वरूप को निःशंक होकर निरंतर अनुभव करता है ॥१५८॥

अब मरणभय का काव्य कहते हैं—प्राणो इत्यादि। अर्थ—प्राणों का उच्छेद होना उसे मरण कहते हैं सो आत्मा का प्राण निश्चयज्ञान है, वह स्वयमेव शाश्वत है इसका कभी उच्छेद नहीं हो सकता, इस कारण आत्मा का मरण नहीं होता। ऐसा विचारने से ज्ञानी के मरण का भय कैसे हो? इसलिये ज्ञानी निःशंक हुआ निरंतर अपने स्वाभाविक ज्ञानभाव का आप सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—इन्द्रियादिक प्राणों के विनाश को मरण कहते हैं, आत्मा के इन्द्रियादिक प्राण परमार्थ स्वरूप नहीं हैं निश्चय से उसके ज्ञान प्राण हैं वह अविनाशी है इसलिये आत्मा के मरण नहीं। इस कारण ज्ञानी को मरण का भय नहीं है। ज्ञानी अपने ज्ञानस्वरूप को निःशंक हुआ निरंतर आप अनुभव करता है ॥१५९॥

एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं सिद्धं किलैतत्स्वतो
यावत्तावदिदं सदैव हि भवेन्नात्र द्वितीयोदयः ।
तन्नाकस्मिकमत्र किंचन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो
निश्शङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति ॥१६०॥

टङ्कोत्कीर्णस्व[1] रसनिचितज्ञानसर्वस्वभाजः
सम्यग्दृष्टेर्यदिह सकलं घ्नन्ति लक्ष्माणि कर्म ।
तत्तस्यास्मिन्पुनरपि मनाक्कर्मणो नास्ति बन्धः
पूर्वोपात्तं तदनुभवतो निश्चितं निर्जरैव ॥१६१॥

विलक्षणत्वेन कर्मकरान् निर्मोहात्मद्रव्यपृथक्त्वेन मोहकरान् अव्यावाधसुखादिगुणलक्षणपरमात्मपदार्थभिन्नत्वेन वा वाधाकरांस्तान् आगमप्रसिद्धांश्चतुरः पादान् शुद्धात्मभावनाविषये निश्शङ्को भूत्वा स्वसंवेदनज्ञानखड्गेन

अब आकस्मिक भय का काव्य कहते हैं—एकं इत्यादि। अर्थ—ज्ञान एक है, अनादि है, अनन्त है, अचल है, ऐसा आप से ही सिद्ध है सो जब तक सदा वही है, इसमें दूसरे का उदय नहीं है इसलिए ऐसा कुछ भी नहीं है जो इसमें अकस्मात् नया उत्पन्न हो। ऐसा विचारने से उस अकस्मात् होने का भय कैसे हो सकता है। ज्ञानी निःशंक हुआ निरन्तर अपने स्वाभाविक ज्ञान-स्वभाव का सदा अनुभव करता है।

भावार्थ—अकस्मात् भयानक पदार्थ से प्राणी को जो भय उत्पन्न होता है वह आकस्मिक भय है। सो आत्मा का ज्ञान अविनाशी, अनादि, अनन्त, अचल, एक है, इसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है नवीन अकस्मात् कुछ नहीं होता। ऐसा ज्ञानी अपने को जानता है उसके अकस्मात् भय कैसे हो? इसलिए ज्ञानी अपने ज्ञानभाव का निःशंक निरंतर अनुभव करता है इस प्रकार सात भय ज्ञानी के नहीं हैं। यहां प्रश्न–अविरत सम्यग्दृष्टि आदिक को भी ज्ञानी कहते हैं उसके भय प्रकृति का उदय है उसके निमित्त से भय भी देखा जाता है सो ज्ञानी निर्भय कैसे है? उसका समाधान–जो भय प्रकृति के उदय के निमित्त से भय उत्पन्न होता है उसकी पीड़ा नहीं सही जाती, क्योंकि अन्तराय के प्रवल उदय से वह निर्वल है। इसलिए उस भय का इलाज भी करता है परंतु ऐसा भय नहीं है कि जिससे स्वरूप के ज्ञान श्रद्धान से डिग जाय। तथा जो भय उत्पन्न होता है वह मोह कर्म की भयनामा प्रकृति के उदय का दोष है उसका आप स्वामी होकर कर्ता नहीं बनता ज्ञाता ही रहता है ॥१६०॥

आगे कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के निःशंकितादि चिन्ह कर्म की निर्जरा करते हैं शंकादिक से किया बंध नहीं होता उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं–टङ्कोत्कीर्ण इत्यादि। अर्थ–सम्यग्दृष्टि के निःशङ्कित आदि चिह्न सब कर्मों का हननकरते हैं—निर्जरा करते हैं। इस कारण फिर भी इसका

---

१. स्वरसः स्वभावः स्वपरावबोधशक्त्युपेतत्वं तेन चितं व्याप्तमित्यर्थः ।

जो चत्तारिवि पाए छिंददि ते [1]कम्मबंधमोहकरे ।
सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२२९॥

यश्चतुरोपि पादान् छिनत्ति तान् कर्मबन्धमोहकरान् ।
स निश्शङ्कश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२२९॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन कर्मबन्धशङ्काकरमिथ्यात्वादिभावाभावान्निश्शङ्कः, ततोऽस्य शंकाकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरैव ॥२२९॥

छिनत्ति सो णिस्संको चेदा सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो स चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिर्निश्शङ्को मन्तव्यः तस्य तु शुद्धात्मभावनाविषये शङ्काकृतो नास्ति बन्धः, किंतु पूर्वबद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥ २२९ ॥ जो ण करेदि दु कंखं कम्मफले तहय सव्वधम्मेसु यः कर्ता शुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखे तृप्तो भूत्वाकाङ्क्षां वाञ्छां न करोति । केषु ? पञ्चेन्द्रियविषयसुखभूतेषु कर्मफलेषु तथैव च समस्तवस्तुधर्मेषु स्वभावेषु अथवा विषयसुखकारणभूतेषु नानाप्रकारपुण्यरूपधर्मेषु अथवा इहलोकपरलोकाकाङ्क्षा समस्तपरसमयप्रणीतकुधर्मेषु च । सो णिक्कंखो चेदा सम्मदिट्ठी मुणेदव्वो च चेतयिता आत्मा सम्यग्दृष्टिः संसारसुखे निष्काङ्क्षितो

उदय होने से नवीन कर्म का कुछ भी बंध नहीं होता जिस कर्म का पहले बन्ध नहीं हुआ था उसके उदय को भोगते हुए उसके नियम से निर्जरा ही होती है । सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीर्णवत् एक स्वभावरूप जो अपना निज रस उससे परिपूर्ण हुए ज्ञान के सर्वस्व का भोगने वाला है—आस्वादक है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि पहले बांधी हुई भयादि प्रकृतियों के उदय को भोगता है तो भी उसके निःशंकितादि गुण प्रवर्तते हैं वे पूर्वकर्मों की निर्जरा करते हैं । और शङ्कादिकर किया बन्ध नहीं होता ॥१६१॥

आगे इस कथन को गाथा में कहते हैं उसमें भी पहले निशंकित अङ्ग का स्वरूप कहते हैं—[यः] जो [चेतयिता] आत्मा [कर्मबन्धमोहकरान्] कर्मबन्ध के कारण मोह के करने वाले [तान् चतुरोपि पादान्] मिथ्यात्वादिभावरूप चारों पादों को [निःशङ्कः] निःशङ्क हुआ [छिनत्ति] काटता है [सः] वह आत्मा [सम्यग्दृष्टिः] निःशङ्क सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना चाहिये ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावमय है उस भाव से कर्मबन्ध के कारण शङ्का को करने वाले ऐसे मिथ्यात्व अविरति कषाय योग इन चारों भावों का इसके अभाव है इस कारण निःशङ्क है । इसलिए इसके शङ्काकृत बन्ध नहीं है ? निर्जरा ही है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के जो कर्म का उदय आता है उसका आप स्वामीपने के अभाव से कर्ता नहीं होता इसलिये भय प्रकृति के उदय आने पर भी शङ्का के अभाव से स्वरूप से भ्रष्ट नहीं होता निशङ्क रहता है । इसलिये इसके शङ्काकृत बन्ध नहीं होता, कर्म रस देकर क्षय हो जाता है ॥२२९॥

---

१. तात्पर्यवृत्तौ "मोहबाधकरे" पाठः ।

जो[1] दुण करेदि कंखं कम्मफलेसु तह सव्वधम्मेसु ।
सो णिक्कंखो चेदा सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३०॥

यस्तु न करोति काङ्क्षां कर्मफलेषु तथा सर्वधर्मेषु ।
स निष्काङ्क्षश्चेतयिता सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३०॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि कर्मफलेषु सर्वेषु वस्तु धर्मेषु च काङ्क्षाभावान्निष्काङ्क्षस्ततोऽस्य काङ्क्षाकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरैव ॥२३०॥

जो ण करेदि जुगुप्पं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं ।
सो खलु णिव्विदिगिच्छो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३१॥

यो न करोति जुगुप्सां चेतयिता सर्वेषामेव धर्माणाम् ।
स खलु निर्विचिकित्सः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३१॥

मन्तव्यः । तस्य विषयसुखकाङ्क्षाकृतो नास्ति बन्धः किंतु पूर्वसञ्चितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥ २३० ॥ जो ण करेदि दुगुंछं चेदा सव्वेसिमेव धम्माणं यश्चेतयिता आत्मा परमात्मतत्त्वभावनाबलेन जुगुप्सां निन्दा दोषं

आगे निःकांक्षित गुण की गाथा कहते हैं—[यः चेतयिता] जो आत्मा [कर्मफलेषु] कर्मों के फलों में [तथा] तथा [सर्वधर्मेषु] सब धर्मों में [कांक्षां] वाञ्छा [न तु] नहीं [करोति] करता है [सः] वह आत्मा [निष्कांक्षः सम्यग्दृष्टिः] निःकांक्ष सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सब ही धर्मों के फलों में तथा सभी वस्तु के धर्मों में वांछा के अभाव से निष्कांक्ष है, निर्वाञ्छक है, इसलिये इसके कांक्षा (इच्छा) से किया हुआ बन्ध नहीं है निर्जरा ही है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के कर्मफल में तथा सब धर्मों में अर्थात् काच सोना आदि, निन्दा प्रशंसा आदि के वचनरूप पुद्गल के परिणमन अथवा अन्यमतियोंकर माने हुए अनेक प्रकार सर्वथा एकान्तरूप व्यवहार धर्म के भेदों में वाञ्छा नहीं है । इसलिये इसके वांछा से होने वाला बन्ध नहीं है । वर्तमान की पीड़ा सही नहीं जाती उसके मेंटने के इलाज की वांछा चारित्रमोह के उदय से है । वह उसका आप कर्त्ता नहीं होता कर्म का उदय जानकर उसका ज्ञाता है । इस कारण वांछाकृत बन्ध नहीं है ॥२३०॥

अब निर्विचिकित्सा गुण की गाथा कहते हैं; [यः चेतयिता] जो जीव [सर्वेषामेव] सभी [धर्माणां] वस्तु धर्मों में [जुगुप्सां] ग्लानि [न करोति] नहीं करता [सः] वह जीव [खलु] निश्चय कर [निर्विचिकित्सः] विचिकित्सा दोषरहित [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टिः [ज्ञातव्यः] जानना ।

टीका—जिस कारण सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सभी वस्तुधर्मों में

---

१. 'जो ण करेदि दु कंखं' पाठोयं तात्पर्य त्तौ ।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि वस्तुधर्मेषु जुगुप्साऽभावान्निर्विचिकित्सः ततोऽस्य विजिकित्साकृतो नास्ति बन्धः किंतु निर्जरैव ॥२३१॥

जो हवइ असम्मूढो चेदा सद्दिट्ठी सव्वभावेसु ।
सो खलु अमूढदिट्ठो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३२॥

यो भवति असंमूढः चेतयिता सद्दृष्टिः सर्वभावेषु ।
स खलु अमूढदृष्टिः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३२॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः, टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सर्वेष्वपि भावेषु मोहाभावादमूढदृष्टिः ततोऽस्य मूढदृष्टिकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरैव ॥२३२॥

द्वेषं विचिकित्सान्न करोति, केषां संबन्धित्वेन ? सर्वेषामेव वस्तुधर्माणां स्वभावानां, दुर्गन्धाविषये वा सो खलु णिव्विदिगिछो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो स सम्यग्दृष्टिः निर्विचिकित्सः खलु स्फुटं मन्तव्यो ज्ञातव्यः तस्य च परद्रव्यद्वेषनिमित्तो नास्ति बन्धः कि तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ।। २३१ ॥ जो हवदि असंमूढो चेदा सव्वेसु कम्मभावेसु यश्चेतयिता आत्मा स्वकीयशुद्धात्मनि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपेण निश्चयरत्नत्रयलक्षणभावनाबलेन शुभाशुभकर्मजनितपरिणामरूपे बहिर्विषये सर्वथाऽसंमूढो भवति सो खलु अमूढदिट्ठी सम्मादिट्ठी

जुगुप्सा के अभाव से निर्विचिकित्स (ग्लानि रहित) है इसी कारण इसके विचिकित्सा से किया गया बन्ध नहीं है। निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि वस्तु के धर्म जो क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण आदि भाव तथा विष्ठा आदि मलिन द्रव्यों में ग्लानि नहीं करता। जुगुप्सानामा कर्म प्रकृति का उदय आता है तब उसका आप कर्ता नहीं होता है! इसलिये इसे जुगुप्सा से किया गया बन्ध नहीं है। प्रकृति रस (फल) देकर छूट जाती है इस कारण निर्जरा ही है ॥२३१॥

आगे अमूढदृष्टि अङ्ग की गाथा कहते हैं-(यः) जो जीव [सर्वभावेषु] सब भावों में [असंमूढः] मूढ़ नहीं होता [सद्दृष्टिः] यथार्थदृष्टि रखता है [स चेतयिता] वह ज्ञानी जीव [खलु] निश्चय कर [अमूढदृष्टिः] अमूढदृष्टि [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्य] जानना।

टीका—निश्चय से सम्यग्दृष्टि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सब भावों में मोह के अभाव से अमूढदृष्टि है इसलिये इसके मूढदृष्टि से किया गया बन्ध नहीं है निर्जरा ही है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि सब पदार्थों का स्वरूप यथार्थ जानता है, उन पर रागद्वेष मोह के अभाव से यथार्थ दृष्टि नहीं पड़ती और जो चारित्रमोह के उदय से इष्टानिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं उनको उदय की बलवत्ता जान उन भावों का कर्ता नहीं होता इसलिये मूढदृष्टि से किया बन्ध नहीं है, निर्जरा ही है। प्रकृति रस देकर क्षीण हो जाती है सो निर्जरा ही हुई ॥२३२॥

---

१. 'सम्मदिट्ठि' इत्यपि पाठः ।

जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं।
सो उवगूहणकारी सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३३॥

य: सिद्धभक्तियुक्त: उपगूहनकस्तु सर्वधर्माणाम्।
स उपगूहनकारी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्य: ॥२३३॥

यतो हि सम्यग्दृष्टि: टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन समस्तात्मशक्तीनामुपबृंहणादुपबृंहक:, ततोऽस्य जीवस्य शक्तिदौर्बल्यकृतो नास्ति बन्ध: किं तु निर्जरैव ॥२३३॥

मुणेदव्वो स खलु स्फुटं सम्यग्दृष्टिरमूढदृष्टिर्मन्तव्यो ज्ञातव्य:। तस्य च वहिर्विषये मूढताकृतो नास्ति बन्ध: परसमयमूढताकृतो वा, किंतु पूर्ववद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥२३२॥ **जो सिद्धभत्तिजुत्तो उवगूहणगो दु सव्वधम्माणं** शुद्धात्मभावनारूपपारमार्थिकसिद्धभक्तियुक्त: मिथ्यात्वरागादिविभावधर्माणामुपगूहक: प्रच्छादको विनाशक:। **सो उवगूहणगारी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि: उपगूहनकारी मन्तव्यो ज्ञातव्य:। तस्य चानुपगूहनकृतो नास्ति वन्ध: किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥ २३३ ॥ **उम्मग्गं गच्छंतं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं** य कर्ता मिथ्यात्वरागादिरूपमुन्मार्गे गच्छन्तं सन्तमात्मानं परमयोगाभ्यासवलेन शिवमार्गे स्वशुद्धात्मभावनारूपे निश्चयमोक्षमार्गे निश्चलं स्थापयति **सो ठिदिकरणेण जुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो** स सम्यग्दृष्टि: स्थितिकरणयुक्तो मन्तव्यो ज्ञातव्य:। तस्य चास्थितिकरणकृतो नास्ति बन्ध: किं तु पूर्ववद्धकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति ॥ २३४ ॥ **जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हे साधूण मोक्खमग्गम्मि** य: कर्ता

अव उपगूहन गुण की गाथा कहते हैं;—[य:] जो जीव [सिद्धभक्तियुक्त:] सिद्धों की भक्ति से युक्त हो [तु] और [सर्वधर्माणां] अन्य वस्तु के सब धर्मों का [उपगूहनक:] गोपने वाला हो [स:] वह [उपगूहनकारी] उपगूहन धारी [सम्यग्दृष्टि:] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्य] जानना चाहिये।

टीका—सम्यग्दृष्टि निश्चय से टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से आत्मा की सब शक्ति वढ़ाने से उपवृंहक होता है इसलिये इसके जीवशक्ति के दुर्वलपने कर लिया बन्ध नहीं है निर्जरा ही है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि उपगूहनगुणयुक्त है। उपगूहन का अर्थ छिपाने का है निश्चयनय को प्रधान कर ऐसा कहा है कि जो अपना उपयोग सिद्ध भक्ति में लगाये वह सब धर्मों का उपगूहक हो। सो जब सिद्धभक्ति में उपयोग लगाया तब अन्य धर्म पर दृष्टि ही नहीं रही, तब सभी धर्म छिप गए। दूसरा उपवृंहण इस तरह है कि जब अपना उपयोग सिद्धों के स्वरूप में लगाया तब अपने आत्मा की सब शक्ति वढ़ा ली आत्मा पुष्ट हुआ। दुर्बलता से बंध होना था वह नहीं होता तब निर्जरा ही होती है। और जब तक अन्तराय का उदय है तब तक निर्बलता है परन्तु इसके अभिप्राय में निर्वलता नहीं है कर्म के उदय को जीतने का अपनी शक्ति के अनुसार महान् उद्यम होता है ॥२३३॥

उम्मग्गं गच्छंतं [1]सगंपि मग्गे ठवेदि जो चेदा ।
सो ठिदिकरणाजुत्तो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३४॥

उन्मार्गं गच्छन्तं स्वकमपि मार्गे स्थापयति यश्चेतयिता ।
स स्थितिकरणयुक्तः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३४॥

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन मार्गात्प्रच्युतस्यात्मनो मार्गे एव स्थितिकरणात् स्थितिकारी ततोऽस्य मार्गच्यवनकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरैव ॥२३४॥

जो कुणदि वच्छलत्तं तिण्हं साहूण मोक्खमग्गम्मि ।
सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेयव्वो ॥२३५॥

यः करोति वत्सलत्वं त्रयाणां साधूनां मोक्षमार्गे ।
स वात्सल्यभावयुतः सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३५॥

मोक्षमार्गे स्थित्वा वत्सलत्वं भक्तिं करोति, केषां ? त्रयाणां स्वकीयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां, कथंभूतानां ? साधूनां मोक्षमार्गे साधकानां अथवा व्यवहारेण तदाधारभूतसाधूनां सो वच्छलभावजुदो सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो

आगे स्थितीकरण गुण की गाथा कहते हैं;—[यः] जो जीव [उन्मार्गं गच्छंतं] उन्मार्ग चलते हुए [स्वकं अपि] अपनी आत्मा को भी [मार्गे] मार्ग में [स्थापयति] स्थापन करता है [सः चेतयिता] वह ज्ञानी [स्थितिकरणयुक्तः] स्थितिकरणगुणसहित [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना ।

टीका—सम्यग्दृष्टि निश्चय से टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावमय है इसलिये जो अपना आत्मा सम्यग्दर्शन चारित्रस्वरूप मोक्ष के मार्ग से छूट जाय तो उसे उसी मार्ग में स्थापन करे वह स्थितिकारी है । इसलिये मार्ग से छूटनेपर किया गया इसके बन्ध नहीं है निर्जरा ही है ।

भावार्थ—जो अपना आत्मा अपने स्वरूपमय मोक्ष मार्ग से चिग जाय तो उसे उसी मार्ग में स्थापन करे वह स्थितीकरणगुणयुक्त है । उसके मार्ग से छूट जाने का बंध नहीं होता उदय आये हुए कर्म रस देकर खिर जाते हैं इसलिये निर्जरा ही है ॥२३४॥

आगे वात्सल्य गुण की गाथा कहते हैं:—[यः] जो जीव [मोक्षमार्गे] मोक्ष मार्ग में स्थित [त्रयाणां साधूनां] आचार्य उपाध्याय साधु पद सहित आत्मा में अथवा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में वत्सलत्वं] वात्सल्यभाव [करोति] करता है [स] वह [वत्सलभावयुतः] वत्सलभावसहित [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना ।

---

१. 'सिवमग्गेति' तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टंकोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां स्वस्मादभेदबुद्ध्या सम्यग्दर्शनान्मार्गवत्सलः, ततोऽस्य मार्गानुपलम्भकृतो नास्ति बन्धः किं तु निर्जरैव ॥२३५॥

विज्जारहमारूढो [1]मणोरहपहेसु भमइ जो चेदा ।
सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो ॥२३६॥

विद्यारथमारूढः मनोरथपथेषु भ्रमति यश्चेतयिता ।
स जिनज्ञानप्रभावी सम्यग्दृष्टिर्ज्ञातव्यः ॥२३६॥

स सम्यग्दृष्टि वात्सल्यभावयुक्तो मन्तव्यो ज्ञातव्यः तस्य चावात्सल्यभावकृतो नास्ति बन्धः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निर्जरैव भवति ॥ २३५ ॥ विज्जारहमारूढो मणोरहरएसु हणदि जो चेदा यश्चेतयिता आत्मा स्वशुद्धात्मतत्त्वोपलब्धिस्वरूपविद्यारथरूढः सन् ख्यातिपूजालाभभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्धादिविभावपरिणामरूपान् द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारसंसारदुःखकारणान् शत्रून् मनोरथरयान् वेगांश्चित्तकल्लोलान् स्वस्वभावसारथियलेन दृढतरध्यानखड्गेन हन्ति सो जिणणाणपहावी सम्मादिट्ठी मुणेदव्वो स सम्यग्दृष्टिर्जिनज्ञानप्रभावी मन्तव्यो ज्ञातव्यः । तस्य चाप्रभावनाकृतो नास्ति बन्धः किं तु पूर्वसंचितकर्मणो निश्चितं निर्जरैव भवति । एवं संवरपूर्विकाया भावनिर्जराया उपादानकारणभूतानां शुद्धात्मभावनारूपाणां शुद्धनयमाश्रित्य निश्शंकाद्यष्टगुणानां व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथानवकं गतं । इदं तु निश्शङ्काद्यष्टगुणव्याख्यानं निश्चयनयमुख्यत्वेन व्याख्यातं । निश्चयरत्नत्रयसाधके व्यवहाररत्नत्रयेऽपि स्थितस्य सरागसम्यग्दृष्टेरप्यञ्जनचौरादिकथारूपेण व्यवहारनयेन यथासंभवं योजनीयं । निश्चयं व्याख्याय पुनरपि किमर्थं व्यवहारनयव्याख्यानं ? इति चेन्नैवं । अग्निसुवर्णपाषाणयोरिव निश्चयव्यवहारनययोः परस्परसाध्यसाधकभावदर्शनार्थमिति । तथाचोक्तं—जइजिणसमइं प उंजह ता मा ववहारणिच्छए मुचह । एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्चं, इति । किं च—

टीका—निश्चय से सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को अपने से अभेद बुद्धि कर अच्छी तरह देखता है इसलिये मोक्ष मार्ग का वत्सल है अतिप्रीतियुक्त है। इसलिये इसके मार्ग की अप्राप्ति कर किया गया कर्म का बन्ध नहीं है निर्जरा ही है।

भावार्थ—वत्सलपना नाम प्रीतिभाव का है इसलिये जो मोक्षमार्गरूप अपने स्वरूप में अनुराग युक्त हो उसके मार्ग की अप्राप्ति कर किया कर्म का बन्ध नहीं होता कर्म रस (फल) देकर खिर जाता है इसलिए निर्जरा ही है ॥२३५॥

आगे प्रभावना गुण की गाथा कहते हैं;—(यः) जो जीव (**विद्यारथं आरूढः**) विद्यारूपी रथ में चढ़ा (**मनोरथपथेषु**) मनरूपी रथ के चलने के मार्ग में (**भ्रमति**) भ्रमण करता है (**सःचेतयिता**) वह ज्ञानी (**जिनज्ञानप्रभावी**) जिनेश्वर के ज्ञान की प्रभावना करने वाला (**सम्यग्दृष्टिः**) सम्यग्दृष्टि (**ज्ञातव्यः**) जानना।

---

१. "मणोरहरएसु हणदि जो चेदा" पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ।

यतो हि सम्यग्दृष्टिः टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावमयत्वेन ज्ञानस्य समस्तशक्तिप्रबोधेन प्रभावजननात्प्रभावनाकरः ततोस्य ज्ञानप्रभावनाऽप्रकर्षकृतो नास्ति बन्धः किंतु निर्जरैव ॥२३६॥

संवरपूर्विका पूर्वनिर्जरा या व्याख्याता सा सम्यग्दृष्टेर्जीवस्य शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपे मुख्यवृत्त्या निश्चयरत्नत्रये सति भवति स च निश्चयरत्नत्रयलाभो, वीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरूपे शुभाशुभबहिर्द्रव्यनिरालम्बने निर्विकल्पसमाधौ सति भवति, स च समाधिरतीव दुर्लभः। कस्मात् ? इति चेद् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसंज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्कवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धान-

---

टीका—निश्चय से सम्यग्दृष्टि टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावपने से ज्ञान की समस्त शक्ति के फैलाने पर प्रभाव के उपजाने से प्रभावना करने वाला है इसलिये इसके ज्ञान की प्रभावना का बढ़ाना नहीं है उसपर किया बन्ध नहीं होता निर्जरा ही होती है।

भावार्थ—प्रभावना नाम उद्योत करना, प्रगट करना इत्यादि का है जो अपने ज्ञान को निरन्तर अभ्यास से प्रगट करता है, बढ़ाता है उसके प्रभावना अङ्ग होता है, अप्रभावनाकृत कर्म का बन्ध नहीं है। कर्म रस देकर खिर जाता है इस कारण निर्जरा ही है। यहां गाथा में ऐसा कहा है कि जो विद्यारूपी रथ में आत्मा को स्थापना करके भ्रमण करता है वह ज्ञान की प्रभावनायुक्त सम्यग्दृष्टि है। यह निश्चय प्रभावना है। जैसे व्यवहार में जिनबिंब को रथ में स्थापन कर नगर वन आदि में विहार कराके प्रभावना की जाती है उसी तरह यहां भी जानना। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के निःशङ्कित आदिक आठ गुण कर्म की निर्जरा के कारण कहे गये हैं। इसी तरह अन्य भी सम्यक्त्व के गुण निर्जरा के कारण जानना। यहां पर निश्चयनय की प्रधानता से कथन है इसलिये आत्मा के ही परिणाम निःशकारूप आदिक से कहे हैं। उसका सारांश ऐसा है कि जो सम्यग्दृष्टि आत्मा अपने ज्ञान श्रद्धान में निःशंक हो भय के निमित्त से स्वरूप से नहीं चिगता अथवा संदेहयुक्त न हो उसके निःशंकित गुण कहना चाहिये १, जो कर्म के फलकी वांछा न करे तथा अन्य वस्तु के धर्मों की वांछा न करे उसके निःकांक्षित गुण होता है २, जो वस्तु के धर्मों में ग्लानि न करे उसके निर्विचिकित्सा गुण होता है ३, जो स्वरूप में मूढ न हो, यथार्थ जाने उसके अमूढदृष्टि गुण होता है ४, जो आत्मा को स्वरूप से चिगते हुए को स्थापन करे उसके स्थितिकरण गुण होता है ५, जो आत्मा को शुद्ध स्वरूप में लगाये आत्मा की शक्ति बढ़ाये अन्य धर्मों को गौण करे उसके उपगूहन गुण होता है ६, जो अपने स्वरूप में विशेष अनुराग रखे, उसके वात्सल्य गुण होता है ७, जो आत्मा के ज्ञानगुण को प्रकाशरूप प्रगट करे उसके प्रभावनागुण होता है ८। इन सब गुणों के प्रतिपक्षी दोषों द्वारा कर्मका बन्ध होता था उसको नहीं होने देता और इनके होने से चारित्रमोह के उदयरूप शङ्कादि प्रवर्तें हों तो उनकी निर्जरा ही होती है बन्ध नहीं होता। बन्ध तो मिथ्यात्व सहित ही प्रधानता से कहा है वह भी निर्जरारूप ही जानना क्योंकि सम्यग्दृष्टि के जैसे मिथ्यात्व के उदय में बांधा हुआ कर्म खिरता है वैसे ही नवीन बन्धा हुआ भी खिरता है इसके इस कर्म के स्वामीपने का अभाव है इसलिये आगामी बन्ध रूप नहीं है निर्जरारूप ही है। जैसे कोई पुरुष पराया द्रव्य उधार लाये उससे उसको ममता बुद्धि नहीं है वर्तमान में उस द्रव्य से कुछ

रुन्धन् बन्धं नवमिति निजैः संगतोऽष्टाभिरङ्गैः
प्राग्बद्धं तु क्षयमुपनयन् निर्जरोज्जृम्भणेन

संयमविषयसुखव्यावर्तनक्रोधादिकषायनिवर्तनतपोभावनासमाधिमरणानि परम्परादुर्लभानि यतः। तदपि कस्मात्? तत्प्रतिपक्षभूतानां मिथ्यात्वविषयकषायख्यातिपूजालाभभोगाकांक्षारूपनिदानवन्धादिविभावपरिणामानां प्रबलत्वात् इति दुर्लभपरंपरां ज्ञात्वा सर्वतात्पर्येण समाधौ प्रमादो न कर्तव्यः। तदप्युक्तं—इत्यादि-

---

कार्य कर लेना हो वह करके कर्ज देने वाले को नियत समय पर दे देता है यदि अपने घर में भी पड़ा रहे तो भी उससे ममत्व नहीं है इसलिये उस पुरुष को उस द्रव्य का बन्धन नहीं है दूसरे को देने सरीखा ही है। उसी तरह ज्ञानी कर्मद्रव्य को जानता है उससे ममत्व नहीं है सो मौजूद होने पर भी निर्जरा समान ही है ऐसा जानना। तथा ये निशंकित आदिक आठ गुण व्यवहारनय-कर व्यवहार मोक्ष मार्ग पर लगा लेना। जिन वचन में संदेह नहीं करना भय आने पर व्यवहार दर्शन ज्ञान चारित्र से नहीं चिगना वह निःशंकित गुण है १, संसार देह भोग की तथा परमत की वांछा से व्यवहार मोक्ष मार्ग से नहीं चिगना वह निष्कांक्षित गुण है २, अपवित्र दुर्गंधादि वस्तु के निमित्त से व्यवहार मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति में ग्लानि न करना वह निर्विचिकित्सा गुण है ३, देव शास्त्र गुरु लोक की प्रवृत्ति अन्यमतादि के तत्त्वार्थ के स्वरूप में मूढ़ता नहीं रखना यथार्थ जान प्रवर्तन करना अमूढ़ दृष्टि है ४, धर्मात्मा में कर्म के उदय से दोष हो जाय उसे गौण कर व्यवहार मोक्ष मार्ग की प्रवृत्ति को बढ़ाना उपगूहन अथवा उपबृंहणगुण है ५, व्यवहार मोक्ष मार्ग से चिगते हुए को स्थिर करना वह स्थितीकरण है ६, व्यवहार मोक्ष मार्ग में प्रवर्तने वाले से विशेष अनुराग (प्रीति) होना वात्सल्य है ७, और व्यवहार मोक्ष मार्ग का अनेक उपायों से उद्योग करना प्रभावना है ८, ये व्यवहार नये को प्रधान करके कहे हैं, निश्चय प्रधान कथन में इनकी गौणता है। सम्यग्ज्ञानरूप प्रमाणदृष्टि में दोनों ही प्रधान हैं, स्याद्वाद मत में कुछ विरोध नहीं है ॥१६२॥

अब निर्जरा अधिकार पूर्ण हुआ। निर्जरा के स्वरूप को यथार्थ जानने वाले तथा कर्म का नवीन बन्ध रोककर निर्जरा करने वाले सम्यग्दृष्टि की महिमा कहते हैं-रुन्धन् इत्यादि। अर्थ—सम्यग्दृष्टि जीव आप स्वयमेव अपने निज रस में मस्त हुआ आदि मध्य अन्तर रहित सर्वव्यापक एक प्रवाहरूप धारावाही ज्ञानरूप होकर आकाश का मध्यरूप जो अति निर्मल रंगभूमि उसमें अवगाहन (प्रवेश) कर नृत्य करता है। वह नवीन बन्ध को तो पूर्वोक्तरीति से रोकता है और जो पहले बाँधा था उसको अपने अष्ट अंगों सहित निर्जरा के प्रकट होने से नाश कर डालता है।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के शंकादिक से किया नवीन बन्ध तो होता ही नहीं और आठ अङ्गों सहित होने से निर्जरा का उदय है उससे पूर्व बन्ध का नाश होता है। इसलिए वह एक प्रवाहरूप ज्ञानरूपी रस को आप पीकर मद पीने वाले की तरह (जैसे कोई मद पीकर मगन हुआ नृत्य के अखाड़े में नृत्य करे वैसे) निर्मल आकाशरूप रङ्गभूमि में नृत्य करता है। यहां कोई प्रश्न करे कि—सम्यग्दृष्टि के निर्जरा होना तो कहते आ रहे हैं बन्ध होना नहीं कहा परन्तु गुण स्थानों की परिपाटी में सिद्धान्त में अविरत सम्यग्दृष्टि से लेकर बन्ध कहा गया है तथा घाति कर्मों का कार्य आत्मा के गुणों का घात करना है सो दर्शनज्ञान सुख वीर्य इन गुणों का घात भी विद्यमान है।

सम्यग्दृष्टिः स्वयमतिरसादादिमध्यान्तमुक्तम्
ज्ञानं भूत्वा नटति गगनाभोगरङ्गं विगाह्य ॥१६२॥

इति निर्जरा निष्क्रान्ता ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ निर्जरा प्ररूपकः षष्ठोऽङ्कः ॥ ६ ॥

दुर्लभरूपां बोधिं लब्ध्वा यदि प्रमादी स्यात् । संसृतिभीमारण्ये भ्रमति वराको नरः सुचिरं इति । तत्रैवं सति शृङ्गाररहितपात्रवत् शान्तरसरूपेण निर्जरा निष्कान्ता ॥ २३६ ॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ गाथाचतुष्टयं पीठिकारूपेण, गाथापञ्चकं ज्ञानवैराग्यशक्त्योः सामान्यविवरणरूपेण, गाथादशकं तयोरेव विशेषविवरण-रूपेण, गाथाष्टकं ज्ञानगुणस्य सामान्यविवरणरूपेण, गाथाचतुर्दशतस्यैव विशेषविवरणरूपेण, गाथानवकं निश्शङ्काद्यष्टगुणकथनरूपेण चेति समुदायेन पञ्चाशद्गाथाभिः षड्भिरन्तराधिकारैः सप्तमो निर्जराधिकारः समाप्तः ॥ ६ ॥

वहाँ चारित्रमोह का उदय नवीन बन्ध भी करता है। यदि मोह के उदय में भी बन्ध न मानो तो मिथ्यादृष्टि के मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का उदय होने पर भी बन्ध का न होना क्यों नहीं माना जाय ? उसका समाधान–बन्ध होने में मुख्य मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी का उदय ही है। सम्यग्दृष्टि के उनके उदय का अभाव है। और चारित्रमोह के उदय से यद्यपि सुख गुण का घात है तथा अल्पस्थिति अनुभाग लिये मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी के बिना और उसके साथ रहने वाली अन्य प्रकृतियों के बिना घातिया तथा अघातिया कर्मों की प्रकृतियों का बन्ध भी होता है तो भी जैसा मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी सहित होता है वैसा नहीं होता। अनन्त संसार का कारण तो मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धी हैं उनका अभाव होने के पश्चात् उनका बन्ध नहीं होता। जब आत्मा ज्ञानी हुआ तब अन्य बन्ध की गिनती कौन करे ? वृक्ष की जड़ कटने के बाद हरे पत्ते रहने की क्या अवधि ? इसलिये इस अध्यात्मशास्त्र में सामान्यपने से ज्ञानी अज्ञानी होने का ही प्रधान कथन है। ज्ञानी हुए पश्चात् शेष कर्म सहज ही मिट जायेंगे। जैसे कोई दरिद्री पुरुष झोपड़ी में रहता था उसको भाग्योदय से धन से पूर्ण बड़े महल की प्राप्ति हुई। उस महल में बहुत दिन का कूड़ा (मैला) भरा हुआ था। इस पुरुष ने जब आकर प्रवेश किया उसी दिन यह तो महल का धनी बन गया। अब कूड़ा झारना रह गया है वह क्रम से अपने बल के अनुसार से झाड़ता है। जब सब झड़ जायगा तब उज्ज्वल हो जायेगा। तभी परमानन्द भोगेगा, ऐसा जानना ॥२३६॥

सवैया—सम्यक्वंत महंत सदा समभाव रहै दुःख संकट आये,
कर्मनवीन बंधै न तवै अर पूरव बन्ध झड़े विन भाये।
पूरण अंग सुदर्शनरूप धरै नित ज्ञान वढै निज पाये,
यों शिवमारग साधि निरंतर आनंद रूप निजातम थाये ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री पं० जयचन्द्र कृत समयसार आत्मख्याति निर्जरा अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ६ ॥

अथ बन्धाधिकारः ॥ ७ ॥

अथ प्रविशति बन्धः ।

[1] रागोद्गारमहारसेन सकलं कृत्वा प्रमत्तं जगत्
क्रीडन्तं रसभारनिर्भरमहानाट्येन बन्धं [2] धुनत् ।
आनन्दामृतनित्यभोजि सहजावस्थां स्फुटं नाटयद्
धीरोदारमनाकुलं निरुपधिज्ञानं समुन्मज्जति ॥१६३॥

जह णाम कोवि पुरिसो णेहभत्तो दु रेणुबहुलम्मि ।
ठाणम्मि ठाइदूण य करेइ सत्थेहिं वायामं ॥२३७॥
छिंद्दि भिंद्दि य तहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ द्व्वाणमुवघायं ॥२३८॥

अथ प्रविशति बन्धः । तत्र जहणाम कोवि पुरिसो इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षट्पञ्चाशद्गाथापर्यन्तं व्याख्यानं करोति । तासु षट्पञ्चाशद्गाथासु मध्ये प्रथमतरस्तावद् बन्धस्वरूपसूचनमुख्यत्वेन गाथादशकं । तदनन्तरं निश्चयेन हिंसाहिंसाव्रताव्रतद्वयस्य लक्षणकथनरूपेण जो मण्णदि हिंसामि इत्यादि गाथा-

---

अथ बन्धाधिकार ।

दोहा—रागादिकतें कर्मकौ, बन्ध जानि मुनिराय ।
तजैं तिनहिं समभावकरि, नमूं सदा तिन पांय ॥

अब बन्ध तत्त्व प्रवेश करता है । जिस प्रकार नृत्य के अखाड़े में कोई स्वांग धरकर प्रवेश करता है उसी प्रकार रङ्गभूमि में बन्धतत्त्व का स्वांग प्रवेश करता है ।

प्रथम ही सब तत्त्वों को यथार्थ जानने वाला सम्यग्ज्ञान बन्ध को दूर करता हुआ प्रकट होता है उस अर्थ का मङ्गलरूप काव्य कहते हैं—रागोद्गार । इत्यादि । अर्थ—जो बन्ध राग के उद्गाररूप महारस (मदिरा) से समस्त जगत को प्रमत्त (मतवाला) करके रसपूर्ण महान् नाटक करता हुआ क्रीड़ा करता है । ज्ञान उस बन्ध को दूर करता हुआ उदय को प्राप्त होता है । वह ज्ञान सदाकाल आनन्दरूपी अमृत का भोजन करने वाला है । अपनी सहज अवस्था—जाननरूप क्रिया को करता हुआ नाट्य कराता है । वह ज्ञान धीर है, उदार है, अनाकुल है और निरुपाधि है ।

भावार्थ—बन्धतत्त्व रङ्गभूमि में प्रवेश करता है उसको ज्ञान उड़ाके आप प्रकट हो नृत्य करेगा उसकी महिमा इस काव्य में प्रकट की है । ऐसा अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा सदा प्रकट रहो ॥१६३॥

---

१. रागशब्द उपलक्षणं तेन द्वेषमोहादीनामपि ग्रहणं तस्य उद्गार आधिक्यं स एव महारस उन्मादकरसः तेन रागोद्गारमहारसेन । २. वेपयत् ।

उवघायं कुव्वंतस्स तस्स णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्ज हु किं पच्चयगो दु रयबंधो ॥२३९॥

जो सो दु णेहभावो तह्मि णरे तेण तस्स रयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४०॥

एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहासु चिट्ठासु ।
रायाई उवओगे कुव्वंतो लिप्पइ रयेण ॥२४१॥ (पंचकम्)

यथा नाम कोऽपि पुरुषः स्नेहाभ्यक्तस्तु रेणुबहुले ।
स्थाने स्थित्वा च करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥२३७॥

छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिंडीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥२३८॥

उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः ।
निश्चयतश्चिन्त्यतां किंप्रत्ययिकस्तु तस्य रजोबन्धः ॥२३९॥

सप्तकं । ततः परं बहिरङ्गद्रव्यहिंसा भवतु मा भवतु निश्चयेन हिंसाध्यवसाय एव हिंसेति प्रतिपादनरूपेण जो मरदि इत्यादि गाथाषट्कम् । अथानन्तरं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं यद् भेदविज्ञानं तस्माद्विलक्षणानि यानि व्रताव्रतानि तद्व्याख्यानमुख्यत्वेन एवमलिए इत्यादि सूत्रभूतगाथाद्वयम् । तदनन्तरं तस्यैव भावपुण्यपापरूपव्रताव्रतस्य शुभाशुभबन्धकारणभूतस्य परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन वत्थुं पडुच्च इत्यादि गाथात्रयोदश । एवं समुदायेन पञ्चदश । तदनन्तरं निश्चये स्थित्वा व्यवहारो निषेध्यत इति कथनरूपेण ववहारणओ इत्यादि सूत्रषट्कम्, अतः परं रागद्वेषरहितज्ञानिनां प्रासुकान्नपानाद्याहारो बन्धकारणं न भवति इति पिण्डशुद्धिव्याख्यानरूपेण आधाकम्मादीया इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । तदनन्तरं क्रोधादिकषायाः कर्मबन्धनिमित्तं भवन्ति तेषां च चेतनाचेतनबहिर्द्रव्यं निमित्तं भवतीति प्रतिपादनरूपेण जह फलिहमणि विसुद्धो इत्यादि सूत्रपञ्चकम् तदनन्तरमप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बन्धकारणं भवति न पुनः शुद्धात्मेति व्याख्यानमुख्यत्वेन अप्पडिकमणं

आगे बन्ध तत्त्व का स्वरूप विचारते हैं। वहाँ प्रथम बन्ध के कारण को प्रकट करते हैं;—[यथा नाम] जैसे [कोपि पुरुषः] कोई पुरुष [स्नेहाभ्यक्तः तु] अपनी देह में तैलादि लगाकर [रेणुबहुले] बहुत धूली वाली [स्थाने] जगह में [स्थित्वा च] स्थित होकर [शस्त्रैः व्यायामं] हथियारों में व्यायाम [करोति] करता है वहाँ [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] ताड़ वृक्ष केले का वृक्ष तथा वांस के पिंड इत्यादिकों को [छिनत्ति] छेदता है [च भिनत्ति] भेदता है [तथा] और [सचित्ताचित्तानां] सचित्त व अचित्त [द्रव्याणां] द्रव्यों का [उपघातं] उपघात [करोति] करता है। इस प्रकार [नानाविधैः करणैः] नाना प्रकार के करणों से [उपघातं कुर्वतः] उपघात करने वाले [तस्य] उस पुरुष के

यः स तु स्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्य रजोबन्धः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४०॥
एवं मिथ्यादृष्टिर्वर्तमानो बहुविधासु चेष्टासु ।
रागादीनुपयोगे कुर्वाणो लिप्यते रजसा ॥२४१॥

इह खलु यथा कश्चित् पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः स्वभाव एव रजोबहुलायां भूमौ स्थितः शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणः, अनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् रजसा बध्यते । तस्य कतमो बन्धहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव रजोबहुला भूमिः, स्नेहानभ्यक्तानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसङ्गात् । न शस्त्रव्यायामकर्म, स्नेहानभ्यक्तानामपि तस्मात् तत्प्रसङ्गात् । नानेकप्रकारकरणानि, स्नेहानभिव्यक्तानामपि तैस्तत्प्रस-

---

इत्यादि गाथात्रयं चेति समुदायेन षट्पञ्चाशद्गाथाभिरष्टान्तराधिकारैः बन्धाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा—बहिरात्मजीवसंबन्धिनो बन्धकारणभूतस्य शृङ्गारसहितपात्रस्थानीयस्य मिथ्याज्ञानस्य नाटकरूपेण प्रविशत सतः शान्तरसपरिणतं वीतरागसम्यक्त्वाविनाभूतं भेदज्ञानं प्रतिषेधं करोतीति उपदिशति;—जह णाम कोवि पुरुसो इत्यादि व्याख्यानं क्रियते—यथानाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषः स्नेहाभ्यक्तः सन् रजोबहुलस्थाने स्थित्वा शस्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोति इति प्रथमगाथा गता । छिनत्ति भिनत्ति च तथा । कान् ? तालतमालकदलीवंशाशोकसंज्ञान् वृक्षविशेषान् तत्संबन्धिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता । उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैर्निश्चयतश्चिन्त्यतां विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः तस्य रजोबंधः ? इतिपूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतं । अत्रोत्तरं—यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यङ्गरूपः तेन तस्य रजोबन्ध इति निश्चयतो विज्ञेयं न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिरित्युत्तरगाथा । एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टान्तो गतः । अथ दार्ष्टान्तिमाह—एवं मिच्छादिट्ठी वट्टन्तो

[खलु निश्यतः] निश्चय से [चिन्त्यतां] विचारो कि [रजोबन्धः तु] रज का बन्ध [किंप्रत्ययिकः] किस कारण से हुआ है ? [यः तु] जो [तस्मिन् नरे] उस मनुष्य में [सस्नेहभावः] तेल आदि का सचिक्कण भाव है [तेन] उससे [तस्य रजोबन्धः] उसके रज का बन्ध लगता है [निश्चयः विज्ञेयं] यह निश्चय से जानना । [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष काय की चेष्टाओं से [न] रज का बन्ध नहीं है [एवं] इस प्रकार [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि जीव [बहुविधासु चेष्टासु] बहुत प्रकार की चेष्टाओं में [वर्तमानः] वर्तमान है वह [उपयोगे] अपने उपयोग में [रागादीन् कुर्वाणः] रागादि भावों को करता हुआ [रजसा] कर्मरूप रज से [लिप्यते] लिप्त होता है, बन्धता है ।

टीका—इस लोक में निश्चय से जैसे कोई पुरुष स्नेह (तैल) आदिक से मर्दनयुक्त हुआ स्वभाव से ही बहुत रज वाली भूमि में स्थित हुआ शस्त्रों का अभ्यास करता हुआ अनेक प्रकार के कारणों से सचित्त अचित्त वस्तुओं को काटता हुआ उस भूमि की रज से लिप्त होता है । उसका विचार किया जाय कि बन्ध का कारण इनमें कौन है ? वहाँ प्रथम तो स्वभाव से ही जिसमें बहुत रज है ऐसी भूमि रज के बन्ध का कारण नहीं है । यदि भूमि ही कारण हो तो जिनके तैल

ङ्गात् । न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः, स्नेहानभिव्यक्तानामपि तस्मिंस्तत्प्रसङ्गात् । ततो न्यायबलेनैवैतदायातं यत्तस्मिन् पुरुषे स्नेहाभ्यङ्गकरणं स बन्धहेतुः । एवं मिथ्यादृष्टिरात्मनि रागादीन् कुर्वाणः स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणोऽनेकप्रकारकरणैः सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा बध्यते । तस्य कतमो बन्धहेतुः ? न तावत्स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुलो लोकः, सिद्धानामपि तत्रस्थानां तत्प्रसङ्गात् । न कायवाङ् मनःकर्म, यथाख्यातसंयतानामपि तत्प्रसङ्गात् । नानेकप्रकारकरणानि, केवलज्ञानिनामपि तत्प्रसङ्गात् । न सचित्ताचित्तवस्तूपघातः समितितत्पराणामपि तत्प्रसङ्गात् । ततो न्यायबलेनैतदेवायातं यदुपयोगे रागादिकरणं स बन्धहेतुः ॥२३७।२३८।२३९।२४०।२४१॥

बहुविहासु चेट्ठासु एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन मिथ्यादृष्टिर्जीवः विविधासु कायादिव्यापारचेष्टासु वर्तमानः रागादी उवओगे कुव्वंतो लिप्पदि रयेण शुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात मिथ्यात्वरागाद्युपयोगान् परिणामान् कुर्वाणः सन् कर्मरजसा लिप्यते बध्यत इत्यर्थः । एवं तथा तैलम्रक्षितस्य रजोबन्धो भवति तथा मिथ्यात्वरागादिपरिणतस्य जीवस्य कर्मबन्धो भवति इति बन्धकारणतात्पर्यकथनरूपेण सूत्रपञ्चकं गतं ॥२३७।२३८।२३९।२४०।२४१॥ अथ गाथापञ्चकेन वीतरागसम्यग्दृष्टेर्बन्धा-

---

आदिक नहीं लगा और भूमि पर ठहरते हैं उनके भी रज का बन्ध लगना चाहिए। शस्त्रों का अभ्यास करना भी उस रज के बन्ध लगने को कारण नहीं है। यदि शस्त्रों का अभ्यास बन्धने का कारण हो तो जिनके तैल आदि नहीं लगा उनके भी उस शस्त्राभ्यास के करने से रज का बन्ध लग जाय और भी अनेक प्रकार के कारण उस रज के बन्धने को कारण नहीं है यदि ऐसा हो तो जिनके तैल आदि नहीं लगा उनके भी उन करणों द्वारा रज का बन्ध लगना चाहिये। तथा सचित्त अचित्त वस्तुओं का उपघात भी उस रज के लगने को कारण नहीं है यदि ऐसा हो तो जिनके तैल आदि नहीं लगा उनके भी सचित्त अचित्त का घात करने से रज का बन्ध लगना चाहिए। इसलिये न्याय के बल से यह सिद्ध हुआ कि उस पुरुष में जो तेल आदि सचिक्कण पदार्थ का मर्दन करना है वही बन्ध का कारण है। ऐसे ही मिथ्यादृष्टि जीव अपने आत्मा में राग आदि भावों को करता हुआ स्वभाव से ही कर्म के योग्य जो पुद्गल, उनसे भरे हुए लोक में काय वचन मन की क्रिया को करता हुआ अनेक प्रकार के करणों द्वारा सचित्त अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूप रजसे बन्धता है। वहाँ विचारा जाय कि बन्ध का कारण कौन है ? वहाँ प्रथम तो स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलों से बहुत भरा हुआ लोक बन्ध का कारण नहीं है, यदि उनसे बंध हो तो लोक में सिद्धों को भी बंध का प्रसंग आयेगा। काय, वचन, मन की क्रियास्वरूप योग भी बन्ध के कारण नहीं हैं, यदि उनसे बन्ध हो तो मन वचन काय की क्रिया वाले यथाख्यात संयमियों के भी बन्ध का प्रसङ्ग प्राप्त होगा। अनेक प्रकार के कारण भी बन्ध के कारण नहीं हैं, यदि उनसे बन्ध हो तो केवल ज्ञानियों के भी उन करणों के कारण बन्ध का प्रसङ्ग आयेगा। तथा सचित्त-अचित्त वस्तुओं का उपघात भी बन्ध का कारण नहीं है, यदि उनसे बन्ध हो तो जो

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥१६४॥

भावं दर्शयति,—यथा स एव पूर्वोक्तो नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीतेसति धूलिबहुलस्थाने स्थित्वा शास्त्रैर्व्यायाममभ्यासं श्रमं करोतीति प्रथमगाथा गता। छिनत्ति भिनत्ति च तथा, कान् ? तालतमालकदलीवंशपिण्डीसंज्ञान् वृक्षविशेषान्। तत्संबन्धिसचित्ताचित्तद्रव्याणामुपघातं च करोति इति द्वितीयगाथा गता। उपघातं कुर्वाणस्य तस्य नानाविधैर्वैशाखस्थानादिकरणविशेषैः, निश्चयतश्चिन्त्यताम् विचार्यतां किंप्रत्ययकः किंनिमित्तकः तस्य रजोबन्धो न भवति। एवं प्रश्नरूपेण गाथात्रयं गतं। अत्रोत्तर—यः स्नेहभावस्तस्मिन्नरे स पूर्वोक्तस्तैलाभ्यङ्गरूपः तेन स तस्य रजोबन्धः, इति निश्चयतो विज्ञेयं। न कायादिव्यापारचेष्टाभिः शेषाभिः, तदभावात् तस्य बन्धो नास्तीत्यभिप्रायः, इत्युत्तरगाथा गता। एवं सूत्रचतुष्टयेन प्रश्नोत्तररूपेण दृष्टान्तो गतः। अथ दार्ष्टान्तमाह;—एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो बहुविहेसु जोगेसु एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन सम्यग्दृष्टिर्जीवः विविधयोगेषु नाना प्रकारमनोवचनकायव्यापारेषु वर्तमानः। अकरंतो उवओगे रागादी निर्मलात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठान-

---

साधु समिति में तत्पर हैं यत्नरूप प्रवृत्ति करते हैं उनके भी सचित्त अचित्त के घात से बंध का प्रसंग आयेगा। इसलिये न्याय के बल से यही सिद्ध हुआ कि उपयोग में रागादिक का करना बंध का कारण है।

भावार्थ—यहाँ निश्चयनय प्रधान करके कथन है। जहां निर्बाध हेतु से सिद्ध हो वही निश्चय है। बंधका कारण विचारने से यह निर्बाध सिद्ध हुआ कि मिथ्यादृष्टि पुरुष राग, द्वेष, मोह भावों को अपने उपयोग में करता है इसलिये ये रागादिक ही बंध के कारण हैं। तथा अन्य जो कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा लोक, मन वचन काय के योग, अनेक करण और चेतन अचेतन का घात ये बंध के कारण नहीं हैं। यदि इनसे बंध हो तो सिद्ध के, यथाख्यात चारित्र वालों के, केवल ज्ञानियों के तथा समितिरूप प्रवर्तने वाले मुनियों के बंध का प्रसंग आ जायगा; परन्तु उनके बंध नहीं होता। इसलिये यह हेतु व्यभिचारी हुआ, इसलिये बंध का कारण रागादिक ही हैं यह निश्चय है। यहाँ समितिरूप प्रवर्तने वाले मुनिका नाम तो कहा और अविरत देशविरत का नाम ही न लिया। सो इनके बाह्यसमितिरूप प्रवृत्ति नहीं है इसलिये चारित्रमोह संबंधी किंचित् बंध होता है इस कारण सर्वथा बंध के अभाव की अपेक्षा में इनका नाम नहीं लिया, अंतरंग अपेक्षा ये भी निर्बन्ध ही जानने ॥२३७।२३८।२३९।२४०।२४१॥

आगे इस अर्थ का कलश कहते हैं—न कर्म इत्यादि। अर्थ—कर्म बंध का कारण कर्मयोग्य पुद्गलों से बहुत भरा लोक नहीं है, चलने स्वरूप काय वचन मन की क्रियारूप योग भी कारण नहीं हैं, अनेक प्रकार के करण भी कारण नहीं है और चेतन अचेन का घात भी कारण नहीं है। परन्तु आत्मा जब रागादिभावों के साथ एकता को प्राप्त होता है सो ही एक पुरुषों के बंध का कारण है।

भावार्थ—यहां निश्चय से एक रागादिक को ही बंधका कारण कहा है ॥१६४॥

जइ पुण सो चेव णरो णहे सव्वह्मि अवणिये संते ।
रेणुबहुलम्मि ठाणे करेदि सत्थेहिं वायामं ॥२४२॥
छिंददि भिंददि य यहा तालीतलकयलिवंसपिंडीओ ।
सच्चित्ताचित्ताणं करेइ दव्वाणमुवघायं ॥२४३॥
उवघायं कुव्वंतस्स तस्य णाणाविहेहिं करणेहिं ।
णिच्छयदो चिंतिज्जहु किंपच्चयगो ण रयबंधो ॥२४४॥
जो सो अणेहभावो तह्मि णरे तेण तस्सऽरयबंधो ।
णिच्छयदो विण्णेयं ण कायचेट्ठाहिं सेसाहिं ॥२४५॥
एवं सम्मादिट्ठी वट्टन्तो बहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागाइ ण लिप्पइ रयेण ॥२४६॥ (पंचकम्)

यथा पुनः स चैव नरः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति ।
रेणबहुले स्थाने करोति शस्त्रैर्व्यायामम् ॥२४२॥
छिनत्ति भिनत्ति च तथा तालीतलकदलीवंशपिण्डीः ।
सचित्ताचित्तानां करोति द्रव्याणामुपघातम् ॥२४३॥

रूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात रागाद्युपयोगान परिणामानकुर्वाणः सन् णेव बज्झदि रयेण कर्म-

---

आगे सम्यग्दृष्टि, उपयोग में रागादिकों को नहीं करता अर्थात् उपयोग के और रागादिक के आपस में भेद जान रागादिक का स्वामी नहीं होता इसलिये उसके पूर्वोक्त चेष्टा से बंध नहीं होता ऐसा कहते हैं,—[यथा] जैसे [पुनः स चैव] फिर वही [नरः] मनुष्य [सर्वस्मिन् स्नेहे अपनीते] तैलादिक सब चिकनी वस्तु को दूर करके [रेणुबहुले] बहुत रजवाले [स्थाने] स्थानमें [शस्त्रैः व्यायामं करोति] शस्त्रों कर अभ्यास करता है, [तालीतलकदलीवंशपिंडीः] तालवृक्ष की जड़ को केले के वृक्षको तथा वांस के बिड़े को [छिनत्ति च भिनत्ति] छेदन भेदन करता है [तथा] और [सचित्ताचित्तानां] सचित्त अचित्त [द्रव्याणां] द्रव्यों का [उपघातं करोति] उपघात करता है। [उपघातं कुर्वतः तस्य] वहां उपघात करने वाले उसके [नानाविधैः करणैः] नानाप्रकार के करणों से [निश्चयतः] निश्चय से [विज्ञेयं] जानना कि [रजोबंधः] रज का बध [किंप्रत्ययिको न] किस कारण से नहीं होता [तस्मिन् नरे] उस पुरुष के [य] जो [स स्नेहभावः] चिक्कणता है [तेन] उससे [तस्य] उसके [रजोबंधः] रज का बंधना [निश्चयतः] निश्चय से [विज्ञेयं] जानना चाहिये [शेषाभिः कायचेष्टाभिः] शेष काय की भी चेष्टाओं से [न] रज का बंध नहीं होता [एवं] इस

उपघातं कुर्वतस्तस्य नानाविधैः करणैः
निश्चयतश्चिंत्यतां किंप्रत्ययिको न रजोबन्धः ॥२४४॥
यः सोऽस्नेहभावस्तस्मिन्नरे तेन तस्यारजोबंधः ।
निश्चयतो विज्ञेयं न कायचेष्टाभिः शेषाभिः ॥२४५॥
एवं सम्यग्दृष्टिर्वर्तमानो बहुविधेषु योगेषु ।
अकुर्वन्नुपयोगे रागादीन् न लिप्यते रजसा ॥२४६॥

यथा स एव पुरुषः स्नेहे सर्वस्मिन्नपनीते सति तस्यामेव स्वभावत एव रजोबहुलायां भूमौ तदेव शस्त्रव्यायामकर्म कुर्वाणस्तैरेवानेकप्रकारकरणैस्तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन्रजसा न बध्यते स्नेहाभ्यंगस्य बंधहेतोरभावात् । तथा सम्यग्दृष्टिः, आत्मनि रागादीनकुर्वाणः सन् तस्मिन्नेव स्वभावत एव कर्मयोग्यपुद्गलबहुले लोके तदेव कायवाङ्मनःकर्म कुर्वाणः, तैरेवानेकप्रकारकरणैः, तान्येव सचित्ताचित्तवस्तूनि निघ्नन् कर्मरजसा न बध्यते रागयोगस्य बन्धहेतोरभावात् ॥२४२।२४३।२४४।२४५।२४६॥

रजसा न बध्यते । एवं तैलम्रक्षणाभावे यथा रजोबन्धो न भवति तथा वीतरागसम्यग्दृष्टेर्जीवस्य रागाद्यभावाद् बन्धो न भवति, इति बन्धाभावकारणतात्पर्यकथनरूपेण गाथापंचकं गतं । किं च यथात्र पातनिकायां भणितं, संज्ञानिजीवस्य शान्तरसे स्वामित्वमज्ञानिनस्तु शृङ्गाराद्यष्टरसानां स्वामित्वं, तथाध्यात्मविषये नाटकावतारप्रस्तावे नवरसानां स्वामित्वं ज्ञातव्यं । इति सूत्रदशकसमुदायेन प्रथमस्थलं गतं ॥२४२।२४३।२४४।२४५।२४६॥

प्रकार [सम्यग्दृष्टिः] सम्यग्दृष्टि [बहुविधेषु] बहुत तरह के [योगेषु] योगों में [वर्तमानः] वर्तमान है वह [उपयोगे] उपयोग में [रागादीन्] रागादिकों को [अकुर्वन्] नहीं करता इसलिये [रजसा] कर्म रज से [न लिप्यते] लिप्त नहीं होता ।

टीका—जैसे वही पुरुष तैलादिक की सब चिकनाई को दूर करके स्वभाव से ही बहुत रज वाली भूमि में उन्हीं शस्त्रों से अभ्यास करता हुआ उन्हीं अनेक तरह के करणों से उन्हीं सचित्त अचित्त वस्तुओं को तोड़ता हुआ रज से लिप्त नहीं होता क्योंकि इसके बंध का हेतु चिकनाई के लेप का अभाव है । उसी तरह सम्यग्दृष्टि आत्मा में रागादिक को नहीं करता स्वभाव से ही कर्मयोग्य पुद्गलों से भरे उसी लोक में उसी काय वचन मन की क्रिया को करता हुआ उन्हीं अनेक प्रकार के कारणों से उन्हीं सचित्त अचित्त वस्तुओं का घात करता हुआ कर्मरूप रज से नहीं बंधता । क्योंकि इसके बंध का कारण राग के योग का अभाव है ।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि के पूर्वोक्त सब संबंध होने पर भी राग के संबंध का अभाव है इसलिये कर्मबंध नहीं होता । इसका समर्थन पहले कह आये हैं ॥२४२।२४३।२४४।२४५।२४६॥

लोकः कर्मततोऽस्तु सोऽस्तु च परिस्पन्दात्मकं कर्म तत्
तान्यस्मिन् करणानि सन्तु चिदचिद्व्यापादनं चास्तु तत् ।
रागादीनुपयोगभूमिमनयन्[1] ज्ञानं भवन्[2] केवलं
बन्धं नैव कुतोऽप्युपैत्ययमहो सम्यग्दृगात्मा[3] ध्रुवम् ॥१६५॥
तथापि न निरर्गलं चरितुमिष्यते ज्ञानिनाम्
तदायतनमेव सा किल निरर्गला व्यापृतिः ।
अकामकृतकर्म तन्मतमकारणं ज्ञानिनां
द्वयं न हि विरुध्यते किमु करोति जानाति च ॥१६६॥

अथ वीतरागस्वस्वभावं मुक्त्वा हिंस्यहिंसकभावेन परिणमनमज्ञानिजीव लक्षणं । तद्विपरीतं संज्ञानिलक्षणमिति

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—लोकः कर्म इत्यादि । अर्थ—इस कारण कर्मों कर भरा हुआ लोक हो, मन वचन काय के चलनस्वरूप योग भी रहो, पूर्वोक्त करण भी होवें, और पूर्वकथित चैतन्य अचैतन्य का घात करना रहो परन्तु यह सम्यग्दृष्टि रागादिकों को उपयोग भूमि में नहीं करता केवल एक ज्ञानरूप होता है इसलिए पूर्वोक्त किसी भी कारण से बंध को प्राप्त नहीं होता यह निश्चल सम्यग्दृष्टि है । अहो देखो ! यह सम्यग्दर्शन की अद्भुत महिमा है ।

भावार्थ—यहाँ सम्यग्दृष्टि का अद्भुत माहात्म्य कहा है लोक, योग, करण चेतन अचेतन का घात—ये बन्ध के कारण नहीं कहे हैं । यहाँ ऐसा मत समझना कि परजीव की हिंसा से बन्ध नहीं कहा इसलिये स्वच्छन्द होकर हिंसा करनी । यहाँ तो अबुद्धिपूर्वक कभी परजीव का घात भी हो जाता है उससे बन्ध नहीं होता । और जहाँ पर बुद्धिपूर्वक जीव मारने के भाव होंगे वहाँ तो अपने उपयोग से रागादिक का सद्भाव आयेगा वहाँ हिंसा से बन्ध होगा ही । जिस जगह जीव को जिवाने का अभिप्राय है उसको भी निश्चयनय में मिथ्यात्व कहते हैं तो मारने का अभिप्राय मिथ्यात्व होगा ही । इसलिये कथन को नय विभाग से यथार्थ समझ श्रद्धान करना । सर्वथा एकान्त मानना तो मिथ्यात्व है ॥१६५॥

अब इसी अर्थ के दृढ़ करने को व्यवहारनय की प्रवृत्ति करने के लिए काव्य कहते हैं—**तथापि** इत्यादि **अर्थ**—तथापि अर्थात् लोक आदि कारणों से बन्ध नहीं कहा और रागादिक से ही बन्ध कहा है तो भी ज्ञानियों को अमर्याद होकर स्वच्छन्द प्रवर्तन करना योग्य नहीं कहा, क्योंकि निरर्गल (स्वच्छन्द) प्रवर्तना ही बन्ध का ठिकाना है ज्ञानियों के बिना वाञ्छा कार्य होता है वह बन्ध का कारण नहीं कहा क्योंकि जानता भी है और कर्म को करता भी है ये दोनों क्रियायें निश्चयरूप से विरोध रूप ही हैं ।

भावार्थ—पहले काव्य में लोक आदि बन्ध के कारण नहीं कहे उस जगह ऐसा नहीं समझना कि बाह्य व्यवहार प्रवृत्ति बन्ध के कारणों में सर्वथा ही निषेध की गई है । ज्ञानियों की जो अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है वहाँ बन्ध नहीं कहा । इसलिए ज्ञानियों को स्वच्छन्द प्रवर्तना तो

---

१. 'अनयत्' इत्यपि पाठः । २. 'भवत्' इत्यपि पाठः । ३. 'ध्रुवः' इत्यपि पाठः ।

जानाति यः स न करोति यस्तु जानात्ययं न खलु तत्किल कर्मरागः ।
रागं त्वबोधमयमध्यवसायमाहुर्मिथ्यादृशः स नियतं स हि [च] बन्धहेतुः ॥१६७॥

जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥

यो मन्यते हिनस्मि च हिंस्ये च परैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२४७॥

परजीवानहं हिनस्मि परजीवैर्हिंस्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात्सम्यग्दृष्टिः ॥२४७॥

प्रज्ञापयति;—जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहिं सत्तेहिं सो मूढो अण्णाणी यो मन्यते जीवानहं

कहा ही नहीं है, अमर्याद प्रवर्तन करना तो बन्ध का ही ठिकाना है। जानने में और करने में परस्पर विरोध है। ज्ञाता रहेगा तब तो बन्ध न होगा यदि कर्ता होगा तो अवश्य बन्ध होगा ॥१६६॥

अब कहते हैं कि जो जानता है वह करता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। जो करना है वह कर्म का राग है, वही अज्ञान है और अज्ञान ही बन्ध का कारण है। ऐसा काव्य कहते हैं - जानाति इत्यादि अर्थ—जो जानता है वह कर्ता नहीं है और जो करता है वह जानता नहीं है। जो करना है वह निश्चय से कर्मराग है जो राग है उसे मुनि अज्ञानमय अध्यवसाय कहते हैं। यही अध्यवसाय नियम से बन्ध का कारण है ॥१६७॥

अब मिथ्यादृष्टि के आशय को गाथा में कहते हैं;—[यः] जो पुरुष [मन्यते] ऐसा मानता है कि [हिनस्मि] मैं पर जीव को मारता हूँ [च] और [परैः सत्त्वैः] परजीवों द्वारा मैं [हिंस्ये] मारा जाता हूँ [स] वह पुरुष [मूढः] मोही है [अज्ञानी] अज्ञानी है [तु अतः] और जो इससे [विपरीतः] विपरीत [ज्ञानी] है वह ज्ञानी है।

टीका—मैं परजीवों को मारता हूँ और परजीवों द्वारा मैं मारा जा रहा हूँ ऐसा आशय निश्चय से अज्ञान है। ऐसा जिसके अध्यवसाय है वह अज्ञानी है इस अज्ञानीपने से ही मिथ्यादृष्टि है और जिसके ऐसा आशयरूप अज्ञान नहीं है वह ज्ञानीपने से सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—जिस जीव के ऐसा आशय है कि परजीव को मैं मारता हूँ और पर जीव मुझे मारते हैं वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है और जिसके यह आशय नहीं है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है। निश्चयनय से कर्ता का स्वरूप यह है कि आप स्वाधीन जिस भावरूप परिणमे उसको उस भाव का कर्ता कहते हैं, परमार्थ से कोई किसी का मरण नहीं कर सकता। जो पर द्वारा परका मरण मानता है वह अज्ञानी है। निमित्तनैमित्तिक भाव से कर्ता कहना व्यवहारनय का वचन है उसे यथार्थ मानना सम्यग्ज्ञान है ॥२४७॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानम् ? इति चेत्—

आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कयं तेसिं ॥२४८॥
[1]आउक्खयेण मरणं जीवाणां जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
आउं न हरंति तुहं कह ते मरणं कयं तेहिं ॥२४९॥(युग्मम्)

आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरसि त्वं कथं त्वया मरणं कृतं तेषाम् ॥२४८॥
आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
आयुर्न हरन्ति तव कथं ते मरणं कृतं तैः ॥२४९॥

मरणं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मक्षयेणैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् स्वायुःकर्म च नान्येनान्यस्य हर्तुं शक्यं तस्य स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि, अन्योऽन्यस्य मरणं कुर्यात् । ततो हिनस्मि हिंस्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ॥२४८॥२४९॥

हिनस्मि परं: सत्वैरहं हिंस्ये इति च योसौ परिणामः स निश्चितमज्ञानः स एव बन्धहेतुः, स परिणामो यस्यास्ति स चाज्ञानी । णाणी एत्तो दु विवरीदो एतस्माद्विपरीतो यो जीवितमरणलाभालाभसुखदुःखशत्रुमित्र-निन्दाप्रशंसादिविकल्पविषये रागद्वेषरहितशुद्धात्मभावनासंजातपरमानन्दसुखास्वादरूपे वा भेदज्ञाने रतः स

आगे पूछते हैं कि यह अध्यवसान क्यों है ? उसका उत्तररूप गाथा कहते हैं—[जीवानां] जीवों के [मरणं] मरण है वह [आयु क्षयेण] आयुकर्म के क्षय से होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेश्वर देव ने [प्रज्ञप्तम्] कहा है सो हे भाई तू मानता है कि मैं परजीव को मारता हूँ यह अज्ञान है क्योंकि [तेषां] उन परजीवों का [आयुः] आयुकर्म [त्वं न हरसि] तू नहीं हरता [त्वया] तो तूने [मरणं] उनका मरण [कथं कृतं] कैसे किया ? तथा [जीवानां] जीवों का [मरणं] मरण [आयुःक्षयेण] आयु कर्म के क्षय से होता है ऐसा [जिनवरैः] जिनेश्वरदेव ने [प्रज्ञप्तं] कहा है परन्तु हे भाई तू ऐसा मानता है कि मैं परजीवों से मारा जाता हूँ यह मानना तेरा अज्ञान है क्योंकि परजीव [तव] तेरा [आयुः] आयु कर्म [न हरंति] नहीं हरते इसलिये [तैः] उन्होंने [ते मरणं] तेरा मरण [कथं कृतं] कैसे किया ।

टीका—निश्चय से जीव के मरण अपने आयुकर्म के क्षय से ही होता है, यदि आयुका क्षय न हो तो कोई उसके मारने को समर्थ नहीं हो सकता, अपना आयु कर्म अन्य द्वारा नहीं हरा जा सकता, आयुकर्म तो अपने उपभोग से ही क्षय को प्राप्त होता है इसलिये अन्य अन्य का मरण किसी प्रकार भी नहीं कर सकता । इसलिये जो ऐसा मानता है (अभिप्राय करता है) कि मैं पर-जीव को मारता हूँ तथा परजीव मुझे मारते हैं ऐसा अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है ।

१. तात्पर्यवृत्तौ नेयं गाथा, आत्मख्यातावेव तत एव नैतस्यास्तात्पर्यवृत्तिष्टीका ।

जीवनाध्यवसायस्य तद्विपक्षस्य का वार्ता ? इति चेत्—

[1]जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहिं सत्तेहिं ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५०॥

यो मन्यते जीवयामि च जीव्ये चापरैः सत्त्वैः ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२५०॥

परजीवानहं जीवयामि परजीवैर्जीव्ये चाहमित्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानं स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥२५०॥

ज्ञानीत्यर्थः ॥ २४७ ॥ अथ कथमयमध्यवसायः पुनरज्ञानम् इति चेत्;—आउक्खयेण मरणं जीवाणं जिणवरेहिं पण्णत्तं आयुःक्षयेण मरणं जीवानां जिनवरैः प्रज्ञप्तं कथितम् आउं ण हरेसि तुमं कह ते मरणं कदं तेसिं तेषामायुःकर्म च न हरसि त्वं तस्यायुषः स्वोपभोगेनैव क्षीयमाणत्वात् कथं त्वया तेषां मरणं कृत-

---

भावार्थ—जो जीव की मान्यता हो परन्तु उस रूप कार्य न हो वही अज्ञान है। अपना मरण भी पर द्वारा किया हुआ नहीं होता और आप द्वारा पर का मरण नहीं होता; परन्तु जो यह प्राणी ऐसा मानता है यही अज्ञान है यह कथन निश्चय की प्रधानता से कहा है। तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव से जो पर्याय का उत्पाद और व्यय हो उसे जन्म मरण कहते हैं। वहाँ जिसके निमित्त से ऐसा हो उसे कहते हैं कि इसने इसको मारा। यह कहना व्यवहार है। यहां ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार का सर्वथा निषेध है। जो निश्चय को नहीं जानते उनके अज्ञान मेटने को कहा है इसको जानने के बाद दोनों नयों के अविरोध को जान यथायोग्य नय मानना ॥२४८।२४९॥

फिर पूछते हैं कि मरण के अध्यवसाय को जो अज्ञान कहा वह तो जान लिया परन्तु उस मरण का प्रतिपक्षी जो जीने का अध्यवसाय उसकी क्या बात है। इसका उत्तर कहते हैं;—[यः] जो जीव [मन्यते] ऐसा मानता है कि [जीवयामि] मैं परजीवों को जीवित करता हूँ [च] और [परैः सत्त्वैः च] परजीव भी मुझे [जीव्ये] जीवित करते हैं [स मूढः] वह मूढ है [अज्ञानी] अज्ञानी है [तु] परन्तु [ज्ञानी] ज्ञानी [अतः] इससे [विपरीतः] विपरीत है, ऐसा नहीं मानता।

टीका—परजीवों को मैं जिलाता हूँ और परजीव मुझे जिलाते हैं ऐसा आशय निश्चय से अज्ञान है जिसके यह आशय हो वह जीव अज्ञानीपन से मिथ्यादृष्टि है और जिसके ऐसा अध्यवसाय नहीं है वह ज्ञानीपने में सम्यग्दृष्टि है।

भावार्थ—जो ऐसा मानता है कि मुझे पर जीव जिलाते हैं और मैं परजीव को जिलाता हूँ यह अज्ञान है। जिसके यह अज्ञान है वह मिथ्यादृष्टि है, ज्ञानी सम्यग्दृष्टि है ॥२५०॥

---

१. इयमपि गाथा तात्पर्यवृत्तौ नास्ति ।

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत् ?—

आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीवियं कयं तेसिं ॥२५१॥
[1]आऊदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू ।
आउं च ण दिंति तुहं कहं णु ते जीवियं कयं तेहिं ॥२५२॥
(युग्मम्)

आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणन्ति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददाति त्वं कथं त्वया जीवितं कृतं तेषाम् ॥२५१॥
आयुरुदयेन जीवति जीव एवं भणन्ति सर्वज्ञाः ।
आयुश्च न ददाति तुभ्यं कथं नु ते जीवितं कृतं तैः ॥२५२॥

जीवितं हि तावज्जीवानां स्वायुःकर्मोदयेनैव, तदभावे तस्य भावयितुमशक्यत्वात् । आयुःकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योऽन्यस्य जीवितं कुर्यात् । अतो जीवयामि जीव्ये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ॥२५१॥२५२॥

मिति ॥ २४८।२४९।२५० ॥ आउउदयेण जीवदि जीवो एवं भणंति सव्वण्हू आयुरुदयेन जीवति जीव

आगे पूछते हैं कि यह जिलाने का अध्यवसाय अज्ञान क्यों है ? उसका उत्तर कहते हैं;—[जीवः] जीव [आयुरुदयेन] अपनी आयु के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञ देव [भणन्ति] कहते हैं सो हे भाई [त्वं] तू [आयुः च] परजीव को आयु कर्म [न ददासि] नहीं देता तो [त्वया] तूने [तेषां] उन परजीवों का [जीवितं] जीवित [कथं कृतं] कैसे किया ? [च] और [जीवः] जीव [आयुरुदयेन] आपने आयु कर्म के उदय से [जीवति] जीता है [एवं] ऐसा [सर्वज्ञाः] सर्वज्ञ देव [भणन्ति] कहते हैं सो हे भाई पर जीव [तव आयुः] तुझे आयु कर्म [न ददाति] नहीं देता [नु] तो [तैः] उन्होंने [तव जीवितं] तेरा जीवन [कथं कृतं] कैसे किया ?

टीका—जीवों का जीवित रहना अपने आयुकर्म के उदय से ही है । जो आयु के उदय का अभाव हो तो उसका जीवित होना अशक्य है । तथा अपना आयुकर्म कोई दूसरे को नहीं दे सकता उस आयुकर्म का अपने परिणामों से ही उपजना है इसलिये दूसरा दूसरे का जीवन किसी तरह भी नहीं कर सकता । इस कारण मैं पर को जिलाता हूँ तथा पर मुझे जिलाते हैं ऐसा अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है ।

भावार्थ—जैसा पहले मरण के अध्यवसाय में कहा था वैसा जानना ॥२५१।२५२॥

१. इयमपि न आत्मख्यातावेव ।

दुःखसुखकरणाध्यवसायस्यापि एवैव गतिः—

जो अप्पणा दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२५३॥

य आत्मना तु मन्यते दुःखितसुखितान् करोमि सत्त्वानिति ।
स मूढोऽज्ञानी ज्ञान्यतस्तु विपरीतः ॥२५३॥

परजीवानहं दुःखितान् सुखितांश्च करोमि । परजीवैर्दुःखितः सुखितश्च क्रियेऽहं, इत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् । स तु यस्यास्ति सोऽज्ञानित्वान्मिथ्यादृष्टिः । यस्य तु नास्ति स ज्ञानित्वात् सम्यग्दृष्टिः ॥२५३॥

एवं भणन्ति सर्वज्ञाः आउं च ण देसि तुमं कहं तए जीविदं कदं तेसिं आयुःकर्म च न ददासि त्वं तेषां जीवानां तस्यायुषः स्वकीयशुभाशुभपरिणामेनैव उपार्ज्यमाणत्वात्, कथं त्वया जीवितं कृतम् न कथमपि । किं च ज्ञानिना पुरुषेण स्वसंवित्तिलक्षणत्रिगुणत्रिगुप्तसमाधौ स्थातव्यं तावत् । तदभावे चाशक्यानुष्ठानेन प्रमादेन अस्य मरणं करोमि, अस्य जीवितं करोमि, इति यदा विकल्पो भवति तदा मनसि चिन्तयति अस्य शुभाशुभ-कर्मोदये सति, अहं निमित्तमात्रमेव जातः इति मत्वा मनसि रागद्वेषरूपोऽहंकारो न कर्तव्य इति भावार्थः ॥ २५१।२५२ ॥ अथ दुःखसुखमपि निश्चयेन स्वकर्मोदयवशाद् भवति, इत्युपदिशति;—जो अप्पणो दु मण्णदि दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति यः कर्ता आत्मनः संबन्धित्वेन मन्यते । किम् ? दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहम् सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो यश्चाहमिति परिणामो निश्चितमज्ञानः स एव बन्ध-कारणं स परिणामो यस्यास्ति स अज्ञानी बहिरात्मा एतस्माद्विपरीतः परमोपेक्षासंयमभावनापरिणताभेदरत्न-त्रयलक्षणे भेदज्ञाने स्थितो ज्ञानीति ॥ २५३ ॥ अथ परस्य सुखदुःखं करोमीत्यध्यवसायकः कथमज्ञानी जातः ? इति चेत्;—कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि चेत् कर्मोदयनिमित्तं सर्वे सत्त्वा जीवाः सुखितदुःखिता भवन्ति ? कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कदा ते तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि

आगे कहते हैं कि दुःखसुख करने के अध्यवसाय की भी ऐसी ही रीति है;—[यः] जो जीव [इति मन्यते तु] ऐसा मानता है कि मैं [आत्मना] अपने कर [सत्त्वान्] पर जीवों को [दुःखितसु-खितान्] दुःखी सुखी [करोमि] करता हूँ [स मूढः] वह जीव मोही है [अज्ञानी] अज्ञानी है [तु] और [ज्ञानी] ज्ञानी [अतः] इससे [विपरीतः] उलटा मानता है ।

टीका—पर जीवों को मैं दुखी करता हूँ; सुखी करता हूँ, और परजीव मुझे सुखी दुःखी करते हैं ऐसा अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है । जिसके ऐसा अज्ञान है वह अज्ञानीपने के मिथ्या-दृष्टि है तथा जिसके यह अज्ञान नहीं है वह ज्ञानीपने से सम्यग्दृष्टि है ।

भावार्थ—जिसकी ऐसी मान्यता है कि मैं परजीव को सुखी दुःखी करता हूँ और मुझे परजीव सुखी दुःखी करते हैं यह मानना अज्ञान है । जिसके यह है वह अज्ञानी है तथा जिसके यह नहीं है वह ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है ॥२५३॥

कथमयमध्यवसायोऽज्ञानमिति चेत्—

[1]कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण देसि तुमं दुक्खिदसुहिदा कहं कया ते ॥२५४॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च दिंति तुहं कदोसि कहं दुक्खिदो तेहिं ॥२५५॥
कम्मोदएण जीवा दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सव्वे ।
कम्मं च ण दिंति तुहं कह तं सुहिदो कदो तेहिं ॥२५६॥
(त्रिकलम्)

कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददासि त्वं दुःखितसुखिताः कथं कृतास्ते ॥२५४॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कृतोसि कथं दुःखितस्तैः ॥२५५॥
कर्मोदयेन जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति यदि सर्वे ।
कर्म च न ददति तव कथं त्वं सुखितः कृतस्तैः ॥२५६॥

त्वं कथं ते जीवास्त्वया सुखितदुःखिताः कृताः ? न कथमपि ? कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता यदि चेत्कर्मोदयनिमित्तं सर्वे जीवाः सुखितदुःखिता भवन्ति कम्मं च ण देसि तुमं कहं तं सुहिदो कदो तेहिं तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं सुखीकृतस्तैः ? न कथमपि । कम्मोदयेण

आगे पूछते हैं कि यह अध्यवसाय अज्ञान कैसे है ? उसका उत्तर कहते हैं;—[सर्वे जीवाः] सब जीव [कर्मोदयेन] अपने कर्म के उदय से [दुःखितसुखिताः] दुखी सुखी [भवन्ति] होते हैं [यदि] जो ऐसा है तो हे भाई [त्वं] तू उन जीवों को [कर्म च] कर्म तो [न ददासि] नहीं देता परन्तु तूने [ते] वे [दुःखितसुखिताः] दुःखी सुखी [कथं कृताः] कैसे किये ? [सर्वे जीवाः] सब जीव [कर्मोदयेन] अपने कर्म के उदय से [दुःखितसुखिताः] दुःखी सुखी [भवन्ति] होते हैं [यदि] जो ऐसे हैं तो हे भाई वे जीव [तव] तुझको [कर्म च] कर्म तो [न ददाति] नहीं देते [तैः] उन्होंने [दुखितः कथं] दुःखी तू कैसे [कृतोसि] किया [च] तथा [सर्वे जीवाः] सभी जीव [कर्मोदयेन] अपने कर्म के उदय से [दुःखितसुखिताः] दुःखी सुखी [यदि] जो [भवन्ति] होते हैं सो हे भाई ऐसा है तो वे जीव [कर्म च] कर्मों को [तव] तुझे [न ददति] दे नहीं सकते तो [तैः] उन्होंने [त्वं सुखितः] तुझको सुखी [कथं] [कृतः] कैसे किया ।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ "कम्मणिमित्तं सव्वे दुक्खिदसुहिदा हवंति जदि सत्ता" इति पाठः ।

सुखदुःखे हि तावज्जीवानां स्वकर्मोदयेनैव तदभावे तयोर्भवितुमशक्यत्वात् । स्वकर्म च नान्येनान्यस्य दातुं शक्यं तस्य स्वपरिणामेनैवोपार्ज्यमाणत्वात् । ततो न कथंचनापि अन्योन्यस्य सुखदुःखे कुर्यात् । अतः सुखितदुःखितान् करोमि, सुखितदुःखितश्च क्रिये चेत्यध्यवसायो ध्रुवमज्ञानम् ॥२५४।२५५।२५६॥

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीयकर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य कुर्यात् पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ॥१६८॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य पश्यन्ति ये मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।
कर्माण्यहंकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवन्ति ॥१६९॥

जीवा दुःखितसुहिदा हवंति जदि सव्वे यदि चेत् कर्मोदयेन सर्वे जीवा दुःखितसुखिता भवन्ति कम्म च ण देसि तुमं कह तं दुहिदो कदो तेहिं तर्हि शुभाशुभं कर्म च न ददासि त्वं न प्रयच्छसि तेभ्यः कथं त्वं

टीका—सुखदुःख तो जीवों के अपने कर्म के उदय से ही होते हैं इसलिये कर्म के उदय का अभाव होने से उन सुःखदुखों के उदय होने का असमर्थपना है। तथा अन्य पुरुष अपना कर्म अन्य को नहीं दे सकता, वह कर्म अपने-अपने परिणामों से ही उत्पन्न होता है इस कारण एक दूसरे को सुख दुःख किसी तरह भी नहीं दे सकता। जिसके ऐसा अध्यवसाय है "कि मैं परजीवों को सुखी दुःखी करता हूँ और परजीवों से मैं सुखी दुःखी किया जाता हूँ" यह अध्यवसाय निश्चय से अज्ञान है।

भावार्थ—जैसा आशय हो वैसा कार्य न हो तो ऐसा आशय अज्ञान है। सब जीव अपने-अपने कर्म के उदय से सुखी दुःखी होते हैं। जो ऐसा माने कि मैं पर को सुखी दुःखी करता हूँ और पर मुझे सुखी दुःखी करते हैं यह मानना निश्चयनय से अज्ञान है। तथा निमित्तनैमित्तिक भाव के आश्रय से सुखदुःख का करने वाला कहना वह व्यवहार है सो निश्चय की दृष्टि में गौण है। ॥२५४।२५५।२५६॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—सर्वं इत्यादि। अर्थ—इस लोक में जीवों के जो जीवन मरण दुःख सुख हैं वे सभी सदाकाल नियम से अपने अपने कर्म के उदय से होते हैं। ऐसा होने पर पुरुष करके जीवन मरण दुःख सुख को करता है यह मानना अज्ञान है ॥१६८॥

फिर इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए आगे का काव्य कहते हैं—अज्ञान इत्यादि। अर्थ—ऐसी पूर्वकथित मानना अज्ञान है उसको प्राप्त हुए जो पुरुष परसे परका जीवन, मरण, दुःख-सुख होना मानते हैं वे पुरुष "मैं इन कर्मों को करता हूँ" ऐसे अहंकार रूप रस के कर्मों के करने के इच्छुक होते हैं, कर्म करने की मारने जिलाने की सुखी दुःखी करने की वांछा करते हैं, वे नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने से ही अपना घात करने वाले होते हैं।

भावार्थ—जो पर को मारने जिलाने तथा सुख दुःख करने का अभिप्राय करते हैं वे मिथ्यादृष्टि हैं वे अपने स्वरूप से च्युत हुए रागी मोही होके आप अपना घात करते हैं इसलिए हिंसक हैं ॥१६९॥

जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो ।
तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो [1]सोवि य कम्मोदयेण चेव खलु ।
तह्मा ण मारिदो णो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥
(जुगलम्)

यो म्रियते यश्च दुःखितो जायतो कर्मोदयेन स सर्वः ।
तस्मात्तु मारितस्ते दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥२५७॥
यो न म्रियते न च दुःखितः सोपि च कर्मोदयेन चैव खलु ।
तस्मान्न मारितो नो दुःखितश्चेति न खलु मिथ्या ॥२५८॥

दुःखीकृतस्तैः ? न कथमपि । किं च तत्त्वज्ञानी जीवस्तावत् 'अन्यस्मै परजीवाय' सुखदुःखे ददामि, इति विकल्पं न करोति । यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधेरभावे सति प्रमादेन सुखदुःखं करोमीति विकल्पो भवति तदा मनसि चिन्तयति—अस्य जीवस्यान्तरङ्गपुण्यपापोदयो जातः अहं पुनर्निमित्तमात्रमेव, इति ज्ञात्वा मनसि हर्षविपाद-परिणामेन गर्वं न करोति इति । एवं परजीवानां जीवितमरणं सुखदुःखं करोमीति व्याख्यानमुख्यतया गाथा-सप्तकेन द्वितीयस्थलं गतम् ॥ २५४।२५५।२५६ ॥ अथ परो जनः परस्य निश्चयेन जीवितमरणसुखदुःखं करोतीति योऽसौ मन्यते स बहिरात्मेति प्रतिपादयति;—जो मरदि जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो यो म्रियते यश्च दुःखितो भवति स सर्वोऽपि कर्मोदयेन जायते तह्मा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा तस्मात्कारणात् मया मारितो दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोऽयं न खलु मिथ्या ? किन्तु मिथ्यैव । जो ण मरदि ण य दुहिदो सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो यो न म्रियते यश्च दुःखितो न भवति । कोऽसौ ? जीवः खलु स्फुटं स सर्वोऽपि कर्मोदयेनैव तह्मा ण मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा तस्मात् कारणात् न मारितो मया न दुःखीकृतश्चेति तवाभिप्रायोऽयं न खलु मिथ्या ? अपि तु मिथ्यैव । अनेनापध्यानेन स्वस्वभावाच्च्युतो भूत्वा कर्मैव बध्नातीति भावार्थः ॥ २५७।२५८ ॥ अथ स एव पूर्वसूत्रद्वयोक्तो मिथ्याज्ञानभावो मिथ्या-

---

आगे इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं—[यः म्रियते] जो मरता है [च यः दुःखितो जायते] और जो दुःखी होता है [सः] वह [सर्वः] सब [कर्मोदयेन] कर्म के उदय से होता है [तस्मात् तु] इसलिए [ते] तेरा [मारितः च दुःखितः इति] "मैं मारा मैं दुःखी किया गया" ऐसा अभिप्राय [खलु न मिथ्या] क्या मिथ्या नहीं है ? तथा [यः न म्रियते] जो नहीं मरता [च न दुःखितः] और न दुःखी होता [सोपि च] वह भी [कर्मोदयेन चैव खलु] कर्म के उदय से ही होता है; [तस्मात्] इसलिए तेरा यह अभिप्राय [न मारितः नो दुःखितश्च इति] "कि मैं मारा नहीं गया और न दुःखी किया गया" ऐसा भी अभिप्राय [खलु मिथ्या न] क्या मिथ्या नहीं है ? मिथ्या ही है।

1. सोवि य कम्मोदयेण खलु जीवो पाठोऽयं तात्पर्यवृत्तौ ।

यो हि म्रियते जीवति वा दुःखितो भवति सुखितो भवति च स खलु कर्मोदयेनैव तदभावे तस्य तथा भवितुमशक्यत्वात्[1]। ततः मयायं मारितः, अयं जीवितः, अयं दुःखितः कृतः, अयं सुखितः कृतः इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः ॥२५७।२५८॥

मिथ्यादृष्टेः स एवास्य बन्धहेतुर्विपर्ययात् ।
य एवाध्यवसायोऽयमज्ञानात्मास्य दृश्यते ॥१७०॥

एसा दु जा मई दे दुःखिदसुहिदे करेमि सत्तेति ।
एसा दे मूढमई सुहासुहं बंधए कम्मं ॥२५९॥

एषा तु या मतिस्ते दुःखितसुखितान् करोमि सत्वानिति ।
एषा ते मूढमतिः शुभाशुभं बध्नाति कर्म ॥२५९॥

परजीवानहं हिनस्मि न हिनस्मि दुःखयामि सुखयामि इति य एवायमज्ञानमयोऽध्यवसायो मिथ्यादृष्टेः स एव स्वयं रागादिरूपत्वात्तस्य शुभाशुभबन्धहेतुः ॥२५९॥

दृष्टेर्बन्धकारणं भवतीति कथयतिः—एसा दु जा मदी दे दु खिदसुहिदे करेमि सत्तेत्ति एषा या मतिस्ते तव

टीका—निश्चय से जो मरता है, जीता है, दुःखी होता है तथा सुखी होता है वह अपने कर्म के उदय ही से होता है। उस कर्म के उदय का अभाव होने से उस जीव के उसी तरह मरण जीवन सुख दुःख नहीं हो सकता। इसलिए "यह मैं मारा गया, यह मैं जिवाया, यह मैं दुःखी किया यह मैं सुखी किया" ऐसा मानता हुआ जीव मिथ्यादृष्टि है।

भावार्थ—कोई किसी का मारा मरता नहीं, जिवाया जीता नहीं, सुखी दुःखी किया सुखी दुःखी होता नहीं इसलिए मारने जिवाने आदि का जो अभिप्राय करता है वह तो मिथ्यादृष्टि ही होता है यह निश्चय का वचन है। यहाँ व्यवहारनय गौण है ॥२५७।२५८॥

इसका कलशरूप श्लोक कहते हैं—मिथ्यादृष्टेः इत्यादि। अर्थ—मिथ्यादृष्टि का जो यह अध्यवसाय है वह प्रत्यक्ष अज्ञानरूप दीखता है वही अभिप्राय मिथ्या विपर्ययस्वरूप है इसलिए बन्ध का कारण है।

भावार्थ—झूठा अभिप्राय ही मिथ्यात्व है वही बन्ध का कारण है ऐसा जानना ॥१७०॥

आगे यही अध्यवसाय बन्ध का कारण है ऐसा गाथा में कहते हैं;—हे आत्मन् [ते तु] तेरी [एषा या इति मतिः] जो यह बुद्धि है कि मैं [सत्त्वान्] जीवों को [दुःखितसुखितान्] सुखी दुःखी [करोमि] करता हूँ [एषा ते] यह तेरी [मूढमतिः] मूढबुद्धि ही [शुभाशुभं कर्म] शुभाशुभ कर्मों को [बध्नाति] बांधती है।

टीका—परजीवों को मैं मारता हूँ, दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ ऐसा जो यह अज्ञानमय अध्यवसाय है वह मिथ्यादृष्टि के होता है। वही स्वयं रागादिरूपपने से उसके शुभाशुभ बन्ध का कारण है।

---

१. 'अशक्तत्वाद्' इत्यपि पाठः।

अथाध्यवसायं बन्धहेतुत्वेनावधारयति–

दुक्खिदसुहिदे सत्ते करेमि जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६०॥
मारिमि जीवावेमि य सत्ते जं एवमज्झवसिदं ते ।
तं पावबंधगं वा पुण्णस्स व बंधगं होदि ॥२६१॥(युग्मम्)

दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोमि यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबन्धकं वा पुण्यस्य वा बन्धकं भवति ॥२६०॥
मारयामि जीवयामि च सत्वान् यदेवमध्यवसितं ते ।
तत्पापबन्धकं वा पुण्यस्य वा बन्धकं भवति ॥२६१॥

य एवायं मिथ्यादृष्टेरज्ञानजन्मा रागमयोऽध्यवसायः स एव बन्धहेतुः, इत्यवधारणीयं न च पुण्यपापत्वेन द्वित्वाद्बन्धस्य तद्धेत्वन्तरमन्वेष्टव्यम् । एकेनैवानेनाध्यवसायेन दुःखयामि, मारयामि इति, सुखयामि, जीवयामीति च द्विधा शुभाशुभाहंकाररसनिर्भरतया द्वयोरपि पुण्यपापयोर्बन्धहेतुत्वस्याविरोधात् ॥२६०।२६१॥

दुःखितसुखितान् करोम्यहं सत्त्वान् एसा दे मूढमदी सुहासुहं बंधदे कम्मं सैषा भवदीया मतिः हे मूढमते स्वस्वभावच्युतस्य शुभाशुभं कर्म बध्नाति न किमप्यन्यत्कार्यमस्ति इति ॥२५९॥ अथ निश्चयेन रागाद्यध्यवसानमेव बन्धहेतुर्भवति इति प्रतिपादनरूपेण तमेवार्थं दृढयति;—दुःखितसुखितान् सत्त्वान् करोम्यहं कर्ता

भावार्थ—मिथ्या अध्यवसाय बन्ध का कारण है ॥२५९॥

आगे मिथ्या अध्यवसाय को बन्ध का कारण नियम से कहते हैं;—हे आत्मन् [ते यदेवं अध्यवसितं] तेरा जो यह अभिप्राय है कि मैं [सत्त्वान्] जीवों को [दुःखितसुखितान्] दुःखी सुखी [करोमि] करता हूँ [तत्] वह ही अभिप्राय [पापबन्धकं वा] पाप का बन्धक है [वा पुण्यस्य बंधकं] तथा पुण्य का बन्धक [भवति] है । [वा] अथवा मैं [सत्त्वान्] जीवों को [मारयामि] मारता हूँ [जीवयामि] अथवा जिवाता हूँ [यदेवं ते अध्यवसितं] जो ऐसा तेरा अभिप्राय है [तत्] वह भी [पापबन्धकं वा] पाप का बन्धक है [वा पुण्यस्य बन्धकं] अथवा पुण्य का बन्धक [भवति] है।

टीका—अज्ञान से उत्पन्न रागमय अध्यवसाय मिथ्यादृष्टि के बन्ध का कारण है ऐसा नियम जानना । बन्ध पुण्य पाप के भेद से दो भेद वाला है सो इसके दो भेद होने से कारण का भेद नहीं विचारना कि पुण्यबन्ध का कारण तो अन्य है और पापबन्ध का कारण दूसरा ही है, इस एक ही अध्यवसाय से "मैं दुःखी करता हूँ मारता हूँ तथा सुखी करता हूँ जिवाता हूँ" ऐसे दो भेदों को अशुभ अहंकार रस से पूर्ण होने से पुण्य पाप दोनों ही बन्ध के कारण है अर्थात् एक ही अध्यवसाय से पुण्यपाप दोनों का बन्ध होता है ।

एवं हि हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं—

अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेउ मा व मारेउ।
एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयणयस्स ॥२६२॥

अध्यवसितेन बन्धः सत्त्वान् मारयतु मा वा मारयतु।
एष बन्धसमासो जीवानां निश्चयनयस्य ॥२६२॥

परजीवानां स्वकर्मोदयवैचित्र्यवशेन प्राणव्यपरोपः कदाचिद् भवतु, कदाचिन्मा भवतु। य एव हिनस्मीत्यहंकाररसनिर्भरो हिंसायामध्यवसायः स एव निश्चयतस्तस्य बन्धहेतुः, निश्चयेन परभावस्य प्राणव्यपरोपस्य परेण कर्तुमशक्यत्वात् ॥२६२॥

यदेवमध्यवसितं रागाद्यध्यवसानं ते तव शुद्धात्मभावनाच्युतस्य सतः पापस्य वा पुण्यस्य वा बन्धकारण भवति न चान्यत् किमपि दुःखादिकं कर्तुमायाति। कस्मात् ? इति चेत्, तस्य सुखदुःखपरिणामस्य जीवस्य स्वोपार्जितशुभाशुभकर्माधीनत्वात् इति। मारयामि जीवयामि सत्त्वान्यदेवमध्यवसितं ते तव शुद्धात्मश्रद्धानज्ञानानुष्ठानशून्यस्य सतः पापस्य वा पुण्यस्य वा तदेव बन्धकं भवति न चान्यत् किमपि कर्तुमायाति। कस्मात् ? इति चेत्, तस्य परजीवस्य जीवितमरणादेः स्वोपार्जितकर्मोदयाधीनत्वात् इति ॥२६०।२६१॥ अथैवं निश्चयनयेन

भावार्थ—यह अज्ञानमय अध्यवसाय ही बन्ध का कारण है; उसमें शुभ अध्यवसाय तो जिवाना सुखी करना ऐसा है तथा मारना दुःखी करना यह अशुभ अध्यवसाय है। सो अहंकाररूप मिथ्याभाव दोनों में ही है इसलिए ऐसा न जानना कि शुभ का कारण तो अन्य है और अशुभ का कारण दूसरा ही है। अज्ञानपने से दोनों अध्यवसाय एक ही हैं ॥२६०॥२६१॥

आगे कहते हैं कि ऐसा होने पर अर्थात् अध्यवसाय को ही बन्ध का कारण होने से जो यह हिंसा का अध्यवसाय है वही हिंसा है [निश्चयनयस्य] निश्चय का यह पक्ष है कि [सत्त्वान्] जीवों को [मारयतु] मारो [वा मा मारयतु] अथवा मत मारो [जीवानां] यह जीवों के [बन्धः] कर्मबन्ध [अध्यवसितेन] अध्यवसायकर ही होता है [एषः बन्धसमासः] यह बन्ध का संक्षेप है।

टीका—परजीवों के प्राणों का वियोग अपने कर्म के उदय की विचित्रता से है। वह कभी होवे अथवा न होवे परन्तु "यह मैं मारता हूँ ऐसा अहंकाररस से भरा हुआ हिंसा का अध्यवसाय [अभिप्राय] ही निश्चय से उस अभिप्रायवाले बन्ध का कारण है। क्योंकि निश्चयनय के पक्ष में पर का भाव जो प्राणों का वियोग करना वह दूसरे से नहीं किया जा सकता।

भावार्थ—निश्चयनय से दूसरे के प्राणों का वियोग करना दूसरे द्वारा नहीं किया जा सकता। उसके कर्म के उदय की विचित्रता से कदाचित् होता है कभी नहीं भी होता। इसलिये जो ऐसा अहंकार करता है "कि मैं परजीव को मारता हूँ" यह अहंकाररूप अध्यवसाय अज्ञानमय है। यही हिंसा है; क्योंकि अपने विशुद्ध चैतन्य प्राण का घात है। तथा यही बन्ध का कारण है यह निश्चयनय का मत है। यहां व्यवहारनय को गौणकर कहा जानना वह कथंचित् जानना, सर्वथा एकान्त पक्ष मिथ्यात्व है ॥२६२॥

अथाध्यवसायं पापपुण्ययोर्बन्धहेतुत्वेन दर्शयति—

एवमलिये अदत्ते अबंभचेरे[1] परिग्गहे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पावं ॥२६३॥
तहवि य सच्चे दत्ते बंभे अपरिग्गहत्तणे चेव ।
कीरइ अज्झवसाणं जं तेण दु बज्झए पुण्णं ॥२६४॥
(युग्मम्)

एवमलीकेऽदत्तेऽब्रह्मचर्ये परिग्रहे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पापम् ॥२६३॥
तथापि च सत्ये दत्ते ब्रह्मणि अपरिग्रहत्वे चैव ।
क्रियतेऽध्यवसानं यत्तेन तु बध्यते पुण्यम् ॥२६४॥

एवमयमज्ञानात् यो यथा हिंसायां विधीयतेऽध्यवसायः, तथा असत्यादत्ताब्रह्मपरिग्रहेषु यश्च विधीयते स सर्वोऽपि केवल एव पापबन्धहेतुः । यस्तु अहिंसायां यथा विधीयते अध्यवसायः, तथा यश्च सत्यदत्तब्रह्मापरिग्रहेषु विधीयते स सर्मोऽपि केवल एव पुण्यहेतुः ॥२६३।२६४॥

हिंसाध्यवसाय एव हिंसेत्यायातं विचार्यमाणं;–अज्झवसिदेण बंधो सत्ते मारेहि मा व मारेहि एसो अध्यवसितेन परिणामेन बन्धो भवति, सत्वान् मारय मा वा मारय एसो बंधसमासो एप प्रत्यक्षीभूतो बन्धसमासः बन्धसंक्षेपः ।

आगे यह जैसे हिंसा का अध्यवसाय कहा है उसी तरह उसी को अन्य कार्यों में भी पुण्य पाप के बन्ध का कारणपने से प्रत्यक्ष दिखलाते हैं—[एवं] पहले हिंसा का अध्यवसाय कहा था उसी प्रकार [अलीके] असत्य [अदत्ते] चोरी [अब्रह्मचर्ये] स्त्री का संसर्ग [परिग्रहे] धन धान्यादिक इनमें [यत् अध्यवसानं] जो अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे तो [पापं बध्यते] पाप का बन्ध होता है [अपि च] और [तथा] उसी तरह [सत्ये] सत्य में [दत्ते] दिया हुआ लेने में [ब्रह्मणि] ब्रह्मचर्य में [च अपरिग्रहत्वे एव] और अपरिग्रह में [यत्] जो [अध्यवसानं] अध्यवसान [क्रियते] किया जाता है [तेन तु] उससे [पुण्यं बध्यते] पुण्य का बन्ध होता है ।

टीका—पूर्व कथित रीति से अज्ञान से जैसे हिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसी प्रकार अदत्त, अब्रह्म, परिग्रह इनमें जो अध्यवसाय किया जाय वह सभी केवल पापबन्ध का ही कारण है । तथा जैसे अहिंसा में अध्यवसाय किया जाता है उसी तरह सत्य दत्त, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इनमें भी अध्यवसाय किया जाय वह सभी पुण्यबन्ध का ही कारण है ।

भावार्थ—जैसा हिंसा में अध्यवसाय पापबन्ध का कारण कहा है, उसी तरह असत्य अदत्त अब्रह्म परिग्रह इनमें भी अध्यवसाय पापबन्ध का कारण है । तथा जैसे अहिंसा में अध्यवसाय

---

१. 'अबंभचारे' इत्यपि पाठः प्राचीनप्रतौ ।

न च बाह्यवस्तु द्वितीयोऽपि बन्धहेतुरिति [1]शङ्कयम्—

वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होइ जीवाणं ।
ण य वत्थुदो दु बन्धो अज्झवसाणेण बन्धोत्थि ॥२६५॥

वस्तु प्रतीत्य यत्पुनरध्यवसानं तु भवति जीवानाम् ।
न च वस्तुतस्तु बन्धोऽध्यवसानेन बन्धोस्ति ॥२६५॥

अध्यवसानमेव बन्धहेतुर्न तु बाह्यवस्तु तस्य बन्धहेतोरध्यवसानस्य हेतुत्वेनैव चरितार्थत्वात् । तर्हि किमर्थो बाह्यवस्तुप्रतिषेधः ? अध्यवसानप्रतिषेधार्थः । अध्यवसानस्य हि बाह्यवस्तु आश्रयभूतम् । न हि बाह्यवस्त्वनाश्रित्य अध्यवसानमात्मानं लभते । यदि बाह्यवस्त्वनाश्रित्यापि अध्यवसानं जायेत तदा यथा वीरसूसुतस्याश्रय-

---

तद्विपरीतेन निरूपाधिचिदानन्दैकलक्षणनिर्विकल्पसमाधिना मोक्षो भवतीति मोक्षसमासः । केषां ? जीवाणं णिच्छयणयस्स जीवानां निश्चयनयस्येति । एवं जीवितमरणसुखदुःखानि परेषां करोमीत्यध्यवसाय एव बन्धकारणं, प्राणव्यपरोपणादिव्यापारो भवतु मा भवतु । एवं सर्वं ज्ञात्वा रागाद्यपध्यानं त्यजनीयमिति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रषट्केन तृतीयस्थलं गतम् ॥ २६२ ॥ अथ हिंसाध्यवसानं पूर्वमुक्तं तावत् इदानीं पुनः असत्याद्यव्रताध्यवसानैः पापं सत्याद्यध्यवसानैश्च पुण्यबन्धो भवतीत्याख्याति;—एवमसत्ये चौर्येऽब्रह्मणि परिग्रहे चैव यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पापं बध्यते इति प्रथमगाथा गता । यश्चाचौर्ये सत्ये ब्रह्मचर्ये तथैवापरिग्रहत्वे यत्क्रियतेऽध्यवसानं तेन पुण्यं बध्यते इति व्रताव्रतविषये पुण्यपापबन्धरूपेण सूत्रभूतगाथाद्वयं गतम् ॥२६३।२६४॥ अतः परमिदमेव सूत्रद्वयं परिणाममुख्यत्वेन त्रयोदशगाथाभिर्विवृणोति । तद्यथा, बाह्यं वस्तु रागादिपरिणाम-

---

पुण्यबन्ध का कारण है उसी तरह सत्य दत्त ब्रह्मचर्य अपरिग्रहपना इनमें भी पुण्यबन्ध का कारण है । इस प्रकार पांच पापों का अभिप्राय तो पापबन्ध करता है और पांच व्रतरूप एक देश वा सर्व देश का अभिप्राय पुण्य बन्ध करता है ॥२६३।२६४॥

आगे कहते हैं कि बाह्य वस्तु बन्धका कारण नहीं है । एक अध्यवसाय ही बन्धका कारण है;—[जीवानां तु] जीवों के [यत् पुनरध्यवसानं] जो अध्यवसान है वह [वस्तु] वस्तु को [प्रतीत्य] अवलम्बन करके [भवति] होता है [तु वस्तुतः] तथा वस्तु से [बन्धः न च] बन्ध नहीं है [अध्यवसानेन] अध्यवसान से ही [बन्धः अस्ति] बन्ध है ।

टीका—अध्यवसान ही बन्ध का कारण है, बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है । क्योंकि बन्ध का कारण जो अध्यवसान उसके कारणपने से ही बाह्य वस्तु को चरितार्थपना है । बाह्य वस्तु तो अध्यवसान का ही कारण है, बन्ध का कारण नहीं है । यहां पूछते हैं कि यदि बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है तो उसका निषेध किसलिये किया जाता है ? कि बाह्य वस्तु का प्रसङ्ग मत करो, त्याग करो । उसका समाधान कहते हैं—अध्यवसान के निषेध के लिए बाह्य वस्तु का त्याग कराया जाता है, क्योंकि बाह्य वस्तु अध्यवसान का आश्रयभूत है बाह्य वस्तु के आश्रय

---

१. "शक्यं वक्तुम्" इत्यपि पाठः ।

भूतस्य सद्भावे वीरसूसूनुं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायते, तथा वन्ध्यासुतस्याश्रयभूतस्यासद्भावेऽपि वन्ध्यासुतं हिनस्मीत्यध्यवसायो जायेत। न च जायते। ततो निराश्रयं नास्त्यध्यवसानमिति प्रतिनियमः। तत एव चाध्यवसानाश्रयभूतस्य वाह्यवस्तुनोऽत्यन्तप्रतिषेधः, हेतुप्रतिषेधेनैव हेतुमत्प्रतिषेधात्। न च बन्धहेतुहेतुत्वे सत्यपि वाह्यं वस्तु बन्धहेतुः स्याद् ईर्यासमिति परिणतयतीन्द्रपदव्यापाद्यमानवेगापतत्कालचोदितकुलिङ्गवद् बाह्यवस्तुनो बन्धहेतुहेतोरप्यबन्धहेतुत्वेन बन्धहेतुत्वस्यानैकान्तिकत्वात्। अतो न बाह्यवस्तु जीवस्यातद्भावो बन्धहेतुः। अध्यवसानमेव तस्य तद्भावो बन्धहेतुः ॥२६५॥

कारणं परिणामस्तु वन्धकारणमित्यावेदयति;—वत्थुं पडुच्च जं पुण अज्झवसाणं तु होदि जीवाणं वाह्यवस्तु चेतनाचेतनं पञ्चेन्द्रियविषयभूतं प्रतीत्य आश्रित्य जीवानां तत्प्रसिद्धं रागाद्यध्यवसानं भवति ण हि वत्थुदो दु वंधो न हि वस्तुनः सकाशाद्वन्धो भवति। तर्हि केन बन्धः ? अज्झवसाणेण वंधोत्ति वीतरागपरमात्मतत्त्वभिन्नेन रागाद्यध्यवसानेन बन्धो भवति। वस्तुनः सकाशाद्वन्धो कथं न भवतीति चेत्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारात्। तथाहि—वाह्यवस्तुनि सति नियमेन बन्धो भवतीति अन्वयो नास्ति, तदभावे बन्धो न भवतीति व्यतिरेकोऽपि नास्ति। तर्हि किमर्थं वाह्यवस्तुत्यागः ? इति चेत्, रागाद्यध्यवसानानां परिहारार्थं। अयमत्र भावार्थः। वाह्येपञ्चेन्द्रियविषयभूते वस्तुनि सति अज्ञानभावात् रागाद्यध्यवसान भवति, तस्मादध्यवसानाद्बन्धो भवतीति पारंपर्येण वस्तु बन्धकारणं भवति न च साक्षात्। अध्यवसानं पुनर्निश्चयेन बन्धकारणमिति ॥ २६५ ॥ एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारित—स्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वमसत्यत्वं

विना अध्यवसान अपने स्वरूप को नहीं पाता। यदि वाह्य वस्तु का आश्रय न लेकर भी अध्यवसान उत्पन्न हो तो जैसे सुभट की माता के पुत्र सुभट का सद्भाव होने से उसका आश्रय लेकर किसी के अध्यवसान होता है कि मैं सुभट की माता के पुत्र को मारता हूँ उसी प्रकार वांझ के पुत्र का असद्भाव होने पर भी ऐसा अध्यवसान होना चाहिये "मैं वंध्यासुत को मारता हूँ" सो तो ऐसा अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। जब वन्ध्या का पुत्र ही नहीं है तो मारने का अध्यवसान कैसे हो सकता है ? इसलिये यह नियम है कि वाह्यवस्तु के विना अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता; इसी कारण अध्यवसान का आश्रयभूत जो वाह्यवस्तु उसका अत्यन्त निषेध है। इसलिये कारण के प्रतिषेध से ही कार्य का भी प्रतिषेध होता है यह न्याय है। वाह्यवस्तु अध्यवसान का हेतु है। इस कारण उसके निषेध से अध्यवसान का निषेध होता है परन्तु वाह्य वस्तु के बन्धका हेतु अध्यवसान को हेतुपना होने पर वाह्य वस्तु वन्ध का हेतु नहीं है, इसमें व्यभिचार है। क्योंकि जैसे कोई मुनीन्द्र ईर्यासमितिरूप प्रवर्त रहा है उसके चरण से हना गया जो काल का प्रेरा अतिवेग से शीघ्र आकर पड़ा कोई उड़ता हुआ जीव उसके मर जाने से मुनीश्वर को हिंसा नहीं लगती, उसी प्रकार अन्य वस्तु भी बंध के कारण माने गये हैं, वे अवन्ध के भी कारण हैं। इसलिये वाह्य वस्तु को वन्ध का कारणपना मानने में अनैकान्तिक हेत्वाभासपना (व्यभिचार) आता है क्योंकि निश्चय से वाह्य वस्तु में बंध का कारणपना निर्दोष सिद्ध नहीं होता। जीव के वाह्य वस्तु अतद्भावरूप है वह वन्ध का कारण नहीं है तद्भावस्वरूप अध्यवसान ही बन्ध का कारण है।

एवं बन्धहेतुत्वेन निर्धारितस्याध्यवसानस्य स्वार्थक्रियाकारित्वाभावेन मिथ्यात्वं दर्शयति—

दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधेमि तह विमोचेमि ।
जा एसा मूढमई णिरत्थया सा हु दे मिच्छा ॥२६६॥

दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि बन्धयामि तथा विमोचयामि ।
या एषा मूढमतिः निरर्थिका सा खलु ते मिथ्या ॥२६६॥

परान् जीवान् दुःखयामि सुखयामीत्यादी बन्धयामि विमोचयामीत्यादि वा यदेतदध्यवसानं तत्सर्वमपि परभावस्य परस्मिन्नव्याप्रियमाणत्वेन स्वार्थक्रियाकारित्वाभावात् खकुसुमं लुनामीत्यध्यवसानवन्मिथ्यारूपं केवलमात्मनोऽनर्थायैव ॥२६६॥

दर्शयति;—दुक्खिदसुहिदे जीवे करेमि बंधामि तह विमोचेमि दुःखितसुखितान् जीवान् करोमि, बन्धयामि, तथा विमोचयामि जा एसा तुज्झ मदी णिरत्थया सा हु दे मिच्छा या एषा तव मतिः सा निरर्थिका निष्प्रयो-

---

भावार्थ—बन्ध का कारण निश्चयनय से अध्यवसान ही है। बाह्य वस्तुएं अध्यवसान का आलम्बन (सहायक) हैं, उनकी सहायता से अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता है इसलिये अध्यवसान का कारण कही जाती हैं। बाह्य वस्तु के बिना निराश्रय अध्यवसान उत्पन्न नहीं होता। इसी से बाह्य वस्तु का त्याग कराया गया है। यदि वन्ध का कारण बाह्य वस्तु ही कहो तो इसमें व्यभिचार आता है। व्यभिचार उसे कहते हैं कि कारण किसी जगह दीखे, किसी जगह नहीं दीखे। उसका दृष्टान्त ऐसे हैं जैसे कोई मुनि ईर्या समिति ये यत्न कर गमन करता था उस समय उसके पैरों के नीचे कोई उड़ता जीव आ पड़ा फिर मर गया तो उसकी हिंसा मुनीश्वर को नहीं लगती। सो यहां बाह्य दृष्टि से देखा जाय तो हिंसा हुई परन्तु मुनि के हिंसा का अध्यवसान है, इसलिए वन्ध का कारण नहीं है। उसी तरह अन्य भी वाह्य वस्तु जानना। बाह्य वस्तु के विना निराश्रय अध्यवसाय नहीं होता इसलिये उसका निषेध ही है ॥२६५॥

इस प्रकार वन्ध के कारण से निश्चय किया गया अध्यवसान अपनो अर्थक्रिया का करने वाला न होने से मिथ्या है। अव यह दिखलाते हैं कि जिसके अर्थक्रियाकारीपना नहीं है वही मिथ्या है—हे भाई [ते या एषा मूढमतिः] तेरी जो ऐसी मूढबुद्धि है कि मैं [जीवान्] जीवों को [दुःखितसुखितान्] दुःखी सुखी [करोमि] करता हूँ [बन्धयामि] बंधाता हूँ [तथा] और [विमोचयामि] छुड़ाता हूँ [सा] वह मोहस्वरूप बुद्धि [निरर्थिका] निरर्थक है सत्यार्थ नहीं है इसलिए [खलु] निश्चय से [मिथ्या] मिथ्या है।

टीका—परजीवों को दुःखी करता हूँ, सुखी करता हूँ इत्यादि, तथा बंधाता हूँ, छुड़ाता हूँ इत्यादि, जो यह अध्यवसान है वह सभी मिथ्या हैं, क्योंकि परभाव का परमें व्यापार न होने से स्वार्थ क्रियाकारीपन नहीं है, परभाव परमें प्रवेश नहीं करता। जैसे कोई कहे ऐसा अध्यवसान

कुतो नाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ? इति चेत्—

अज्झवसाणणिमित्तं जीवा बज्झंति कम्मणा जदि हि ।
मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ता किं करोसि[1] तुमं ॥२६७॥

अध्यवसाननिमित्तं जीवा बध्यंते कर्मणा यदि हि ।
मुच्यंते मोक्षमार्गे स्थिताश्च तत् किं करोषि त्वं ॥२६७॥

यत्किल बंधयामि मोचयामीत्यध्यवसानं तस्य हि स्वार्थक्रिया यद्बन्धनं मोचनं जीवानां । जीवस्तु अस्याध्यवसायस्य सद्भावेऽपि सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः अभावान्न बध्यते न मुच्यते सरागवीतरागयोः स्वपरिणामयोः सद्भावात्तस्याध्यवसायस्याभावेऽपि बध्यते मुच्यते च, ततः परत्राकिंचित्करत्वान्नेदमध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि ततश्च मिथ्यैवेति भावः ॥२६७॥

जना हु स्फुटं । दे अहो ततः कारणात् मिथ्या वितथा व्यलीका भवति । कस्मात् ? इति चेत्, भवदीयाध्यवसाने सत्यपि परजीवानां सातासातोदयाभावात् सुखदुःखाभावः स्वकीयाशुद्धशुद्धाध्यवसानाभावात् बंधो मोक्षाभावश्चेति ॥ २६६ ॥ अथ कस्मादध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवतीति चेत्—अज्झवसाणणिमित्तं

करे कि मैं आकाश के फूल को तोड़ता हूँ वह झूठा है, मात्र अपने अनर्थ के लिए ही है, परका कुछ भी करने वाला नहीं है।

भावार्थ—जिसका विषय नहीं है वह निरर्थक है। जीव परको दुःखी-सुखी आदि करने की बुद्धि करता है किन्तु परजीव इसके किये दुःखी सुखी नहीं होते तब वैसी बुद्धि निरर्थक होने से मिथ्या है ॥२६६॥

आगे फिर पूछते हैं कि यह अध्यवसान अपनी अर्थक्रिया का करने वाला किस तरह नहीं है ? उसका उत्तर कहते हैं;—हे भाई **[यदि हि]** जो **[जीवाः]** जीव **[अध्यवसाननिमित्तं]** अध्यवसान के निमित्त से **[कर्मणा]** कर्म से **[बध्यन्ते]** बंधते हैं **[च]** और **[मोक्षमार्गे]** मोक्ष मार्ग में **[स्थिताः]** ठहरे हुए **[मुच्यन्ते]** कर्म से छूटते हैं जब ऐसा है **[तत्]** तो **[त्वं किं करोषि]** तू क्या करेगा ? तेरा तो बांधने छोड़ने का अभिप्राय विफल हुआ।

टीका—मैं निश्चयतः बंधाता हूँ छुड़ाता हूं' ऐसा जो अध्यवसान है उसकी अर्थक्रिया जीवों का बांधना छोड़ना है। सो जीव तो इस अध्यवसाय के मौजूद होने पर भी अपने सरागवीतरागपरिणाम के अभाव से न बंधते हैं न छूटते हैं। और अपने सरागवीतरागपरिणाम के सद्भाव से तेरे अध्यवसाय का अभाव होने पर भी बंधते हैं तथा छूटते हैं, इसलिये पर में अकिंचित्कर होने से यह अध्यवसान कुछ भी करने वाला नहीं है। इस कारण यह अध्यवसान स्वार्थक्रियाकारी न होने से मिथ्या ही है ऐसा भाव है।

---

१. 'करेसि' इत्यपि पाठः।

अनेनाध्यवसानेन निष्फलेन विमोहितः ।
तत्किञ्चनापि नैवास्ति नात्मात्मानं करोति यत् ॥१७१॥

सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण तिरियणेरयिए ।
देवमणुये य सव्वे पुण्णं पावं च णेयविहं ॥२६८॥
धम्माधम्मं च तहा जीवाजीवे अलोयलोयं च ।
सव्वे करेइ जीवो अज्झवसाणेण अप्पाणं ॥२६९॥(युगलम्)

सर्वान् करोति जीवोऽध्यवसानेन तिर्यङ्नैरयिकान् ।
देवमनुजांश्च सर्वान् पुण्यं पापं च नैकविधम् ॥२६८॥
धर्माधर्मं च तथा जीवाजीवौ अलोकलोकं च ।
सर्वान् करोति जीवः अध्यवसानेन आत्मानम् ॥२६९॥

जीवा वज्झंति कम्मणा जदि हि मिथ्यात्वरागादिस्वकीयाध्यवसाननिमित्तं कृत्वा ते जीवा निश्चयेन कर्मणा बध्यन्ते इति चेत् मुच्चंति मोक्खमग्गे ठिदा य ते शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूप-निश्चयरत्नत्रयलक्षणे

भावार्थ—जो हेतु कुछ भी न करे उसे अकिंचित्कर कहते हैं। सो यह बांधने छोड़ने का अध्यवसान पर में कुछ भी नहीं करता। क्योंकि इसके न होने पर भी जीव अपने सराग वीतराग परिणामों द्वारा बन्ध मोक्ष को प्राप्त होता है और इसके होने पर भी जीव अपने सरागवीतराग-परिणाम के अभाव होने से बन्ध मोक्ष को नहीं प्राप्त होता। इसलिये अध्यवसान पर में अकिंचित्कर है इस कारण स्वार्थक्रियाकारी नहीं, मिथ्या है ॥२६७॥

अब इस अर्थ का कलशरूप तथा आगे के कथन की सूचनिकारूप श्लोक कहते हैं—अनेना इत्यादि। अर्थ—आत्मा इस निष्फल (निरर्थक) अध्यवसान से मोहित हुआ अपने को अनेकरूप करता है, ऐसा जगत् में कोई पदार्थ नहीं है जिस रूप अपने को नहीं करे।

भावार्थ—यह आत्मा मिथ्या अभिप्राय से भूला हुआ चतुर्गति संसार में जितनी अवस्थायें हैं, जितने पदार्थ हैं उन सब स्वरूप आपको हुआ मानता है। अपने शुद्धस्वरूप को नहीं पहिचानता ॥१७१॥

आगे इस अर्थ को प्रगटरूप गाथा में कहते हैं;—[जीव] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसान से [तिर्यङ्नैरयिकान् सर्वान्] सब तिर्यंच नारक [च देवमनुजान्] देव मनुष्य [सर्वान्] सभी पर्यायों को अपने [करोति] करता है [च] और [नैकविधं पुण्यं पापं] अनेक प्रकार के पुण्य पापों को अपने करता है [तथा च] तथा [धर्माधर्मं] धर्म अधर्म [जीवाजीवौ] जीव अजीव [च] और [अलोकलोकं] अलोक लोक [सर्वान्] इन सभी को [जीवः] जीव [अध्यवसानेन] अध्यवसान से [आत्मानं] आत्म स्वरूप [करोति] करता है।

यथायमेवं क्रियागर्भहिंसाध्यवसानेन हिंसकम् इतराध्यवसानैरितरं च आत्मात्मानं कुर्यात्, तथा विपच्यमाननारकाध्यवसानेन नारकं, विपच्यमानतिर्यगध्यवसानेन तिर्यञ्चं, विपच्यमानमनुष्याध्यवसानेन मनुष्यं, विपच्यमानदेवाध्यवसानेन देवं, विपच्यमानसुखादिपुण्याध्यवसानेन पुण्यं, विपच्यमानदुःखादिपापाध्यवसानेन पापमात्मानं कुर्यात् । तथैव च ज्ञायमानधर्माध्यवसानेन धर्मं, ज्ञायमानाधर्माध्यवसानेनाधर्मं, ज्ञायमानजीवान्तराध्यवसानेन जीवान्तरं, ज्ञायमानपुद्गलाध्यवसानेन पुद्गलं, ज्ञायमानलोकाकाशाध्यवसानेन लोकाकाशं ज्ञायमानालोकाकाशाध्यवसायेनालोकाकाशमात्मानं कुर्यात् ॥२६८॥२६९॥

मोक्षमार्गे स्थिताः पुनर्मुच्यन्ते यदि चेत्तं जीवाः किं करोसि तुमं तर्हि किं करोषि त्वं हे दुरात्मन् न किमपीति, त्वदीयाध्यवसानं स्वार्थक्रियाकारि न भवति ॥ अथ दुःखिता जीवाः स्वकीयपापोदयेन भवन्ति न च भवदीयपरिणामेनेति;—कायेण इत्यादि स्वकीयपापोदयेन जीवा दुःखिता भवन्ति यदि चेत् ? तेषां जीवानां स्वकीयपापकर्मोदयाभावे भवतो किमपि कर्तुं नायाति इति हेतोः मनोवचनकायैः शस्त्रैश्च जीवान् दुःखितान् करोमि इति रे दुरात्मन् त्वदीया मतिर्मिथ्या । परं किंतु स्वस्वभावच्युतो भूत्वा त्वं पापमेव बध्नासि इति । अथ सुखिता अपि निश्चयेन स्वकीयशुभकर्मोदये सति भवन्तीति कथयति—

कायेण[1] दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

टीका—जैसे यह आत्मा पूर्वोक्त क्रिया वाले हिंसा के अध्यवसान से अपने को हिंसक करता है और अहिंसा के अध्यवसान से अहिंसक करता है, तथा अन्य अध्यवसान से अन्य बहुत प्रकार करता है; उसी प्रकार उदय में आया जो नारक का अध्यवसान उससे अपने को नारकी करता है, उदय में आया जो तिर्यञ्च का अध्यवसान उससे अपने को तिर्यञ्च करता है, उदय में आया जो मनुष्य का अध्यवसान उससे अपने को मनुष्य करता है, उदय में आया जो देव का अध्यवसान उससे अपने को देव करता है, उदय में आया जो सुख आदि पुण्य का अध्यवसान उससे पुण्य रूप अपने को करता है, उदय में आया जो दुःख आदि पाप का अध्यवसान उससे अपने को पापरूप करता है । उसी प्रकार जानने में आया जो धर्म उसके अध्यवसान से अपने को धर्मरूप करता है, जाने हुए अधर्म के अध्यवसान से अपने को अधर्मरूप करता है, जाने हुए अन्य जीव के अध्यवसान से अपने को अन्य जीवरूप करता है, जाने हुए पुद्गल के अध्यवसान से अपने को पुद्गलरूप करता है, जाने हुए लोकाकाश के अध्यवसान से अपने को लोकाकाशरूप करता है, जाने हुए अलोकाकाश के अध्यवसान से अपने को अलोकाकाशरूप करता है । इस तरह अध्यवसान से अपने को सब-स्वरूप करता है ।

भावार्थ—यह अध्यवसान अज्ञानरूप है इसलिये अपना परमार्थरूप नहीं जानना । आत्मा आपको अनेक अवस्थारूप करता है उनमें आपा मान प्रवर्तता है ॥२६८॥२६९॥

---

१. इत आरभ्य गाथापञ्चकं नोपलब्धमात्मख्यातौ ततो नास्त्यस्य गाथा पञ्चकस्यात्मख्यातिः ।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मानमात्मा विदधाति विश्वम् ।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष नास्तीह येषां यतयस्त एव ॥१७२॥

वाचाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
मणसाए दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
सच्छेण दुक्खवेमिय सत्ते एवं तु जं मदिं कुणसि ।
सव्वावि एस मिच्छा दुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥
कायेण च वाया वा मणेण सुहिदे करेमि सत्तेति ।
एवंपि हवदि मिच्छा सुहिदा कम्मेण जदि सत्ता ॥

कायेन दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः । वाचा दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः । मनसा दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ शस्त्रेण दुःखयामि सत्त्वान् एवं तु यन्मतिं करोषि । सर्वापि एषा मिथ्या दुःखिताः कर्मणा यदि सत्त्वाः ॥ कायेन च वाचा वा मनसा सुखितान् करोमि सत्त्वानिति । एवमपि भवति मिथ्या सुखिनः कर्मणा यदि सत्त्वाः । स्वकीयकर्मोदयेन जीवा यदि चेत् सुखिता भवन्ति । न च त्वदीयपरिणामेन तर्हि मनोवचनकायैर्जीवान् सुखितानहं करोमि इति भवदीया मतिर्मिथ्या । एवं तवाध्यवसानं स्वार्थकं न भवति । परं किं तु निरुपराग-परमचिज्ज्योतिःस्वभावे स्वशुद्धात्मतत्त्वमश्रद्दधानः, तथैवाजानन् अभावयंश्च तेन शुभपरिणामेन पुण्यमेव बध्नाति इत्यर्थः ॥ २६७ ॥ अथ स्वस्वभावप्रतिपक्षभूतेन च रागाद्यध्यवसानेन मोहितः सन्नयं जीवः समस्त-मपि परद्रव्यमात्मनि नियोजयति इत्युपदिशति;—उदयागतनरकगत्यादिकर्मवशेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवपाप-पुण्यरूपान् कर्मजनितभावान् आत्मानं करोति आत्मनः सम्बन्धात्करोति । निर्विकारपरमात्मतत्त्वज्ञानाद् भ्रष्टः सन् नारकोऽहमित्यादिरूपेण, उदयागतकर्मजनितविभावपरिणामान् आत्मनि योजयतीत्यर्थः । धर्माधर्मास्ति-कायजीवाजीवलोकालोकज्ञेयपदार्थान् अध्यवसानेन तत्परिछित्तिविकल्पेनात्मानं करोति, आत्मनः संबन्धात् करोतीत्यभिप्रायः किं च, यथा घटाकारपरिणतं ज्ञानं घट इत्युपचारेणोच्यते तथा धर्मास्तिकायादिज्ञेयपदार्थ-विषये धर्मोऽयमित्यादि योऽसौ परिच्छित्तिरूपो विकल्पः सोऽप्युपचारेण धर्मास्तिकायादिर्भण्यते । कथं ? इति

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं तथा अगले कथन को सूचना करते हैं-विश्वात् इत्यादि । अर्थ—यह आत्मा सब द्रव्यों से भिन्न है तो भी जिस अध्यवसाय के प्रभाव से अपने को समस्तस्वरूप करता है वह अध्यवसाय कैसा है ? कि जिसका मूल मोह है । ऐसा अध्यवसाय जिनके नहीं है वे ही मुनि हैं ॥१७२॥

एदाणि णत्थि जसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि ।
ते असुहेण सुहेण व कम्मेण मुणी ण लिप्पंति ॥२७०॥

एतानि न सन्ति येषामध्यवसानान्येवमादीनि ।
तेऽशुभेन शुभेन वा कर्मणा मुनयो न लिप्यन्ते ॥

एतानि किल यानि त्रिविधा[1]न्यध्यवसानानि समस्तान्यपि तानि शुभाशुभकर्मबन्धनिमित्तानि, स्वयमज्ञानादिरूपत्वात् । तथाहि, यदिदं हिनस्मीत्याद्यध्यवसानं तदज्ञानमयत्वेन आत्मनः सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियस्य रागद्वेषविपाकमयीनां हननादिक्रियाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माऽज्ञानादस्ति तावदज्ञानं, विविक्तात्माऽदर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं, विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रं । यत्पुनरेष धर्मो ज्ञायत इत्याद्यध्यवसानं तदपिज्ञानमयत्वेनात्मनः सदहेतुकज्ञानैकरूपस्य ज्ञेयमयानां

चेत्, धर्मास्तिकायादिविषयत्वात् । स्वस्वभावच्युतो भूत्वा यदा धर्मास्तिकायोयमित्यादिविकल्पं करोति तदा तस्मिन् विकल्पे कृते सति धर्मास्तिकायादिरप्युपचारेण कृतो भवति इति ॥ २६८॥२६९ ॥ अथ निश्चयेन परद्रव्याद्भिन्नोपि यस्य मोहस्य प्रभावात् आत्मानं परद्रव्ये योजयति स मोहो येषां नास्ति त एव तपोधना इति प्रकाशयति;—एदाणि णत्थि जेसिं अज्झवसाणाणि एवमादीणि एतान्येवमादीनि पूर्वोक्तानि शुभाशुभाध्यवसानानि कर्मबन्धनिमित्तभूतानि न सन्ति येषां ते असुहेण सुहेण य कम्मेण मुणी ण लिप्पंति त एव मुनीश्वराः शुभाशुभकर्मणा न लिप्यन्ते । किं च विस्तरः, शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपं निश्चयरत्नत्रयलक्षणं भेदविज्ञानं यदा न भवति, तदाहं जीवान् हिनस्मीत्यादि हिंसाध्यवसानं नारकोहमित्यादि कर्मोदयाध्यवसानं, धर्मास्तिकायोऽयमित्यादि ज्ञेयपदार्थाध्यवसानं च निर्विकल्पशुद्धात्मनः सकाशाद्भिन्नं न जानातीति ।

आगे कहते हैं कि यह अध्यवसाय जिनके नहीं है वे मुनि कर्म से नहीं लिप्त होते;-[एतानि] ये पूर्वोक्त अध्यवसाय तथा [एवमादीनि] इस तरह के अन्य भी [अध्यवसानानि] अध्यवसान [येषां] जिनके [न सन्ति] नहीं हैं [ते मुनयः] वे मुनिराज [अशुभेन] अशुभ [वा] अथवा [शुभेन कर्मणा] शुभकर्म से [न लिप्यन्ते] नहीं लिप्त होते ।

टीका—ये पूर्वोक्त अध्यवसान तीन प्रकार के हैं अज्ञान, अदर्शन और अचारित्र । ये सभी शुभ अशुभ कर्मबन्ध के निमित्त हैं क्योंकि ये आप (स्वयं) अज्ञानादिरूप हैं । किस तरह हैं सो कहते हैं-जो यह मैं परजीव को मारता हूँ इत्यादिक अध्यवसान है वह अज्ञानादिरूप है क्योंकि आत्मा तो ज्ञायक है उस ज्ञायकपने से ज्ञप्तिक्रियामात्र ही है, इसलिये सद्रूप द्रव्यदृष्टि से किसी से उत्पन्न नहीं ऐसा नित्यरूप जानने मात्र ही क्रियावाला है । हनना घातना आदि क्रिया हैं वे राग द्वेष के उदय से हैं । इस प्रकार आत्मा और घातने आदि क्रिया के भेद को न जानने से

१. अज्ञानादर्शनाचारित्रसंज्ञकानि ।

धर्मादिरूपाणां च विशेषाज्ञानेन विविक्तात्माज्ञानादस्ति तावदज्ञानं विविक्तात्मादर्शनादस्ति च मिथ्यादर्शनं विविक्तात्मानाचरणादस्ति चाचारित्रम् । ततो बन्धनिमित्तान्येवैतानि समस्तान्यध्यवसानानि । येषामेवैतानि न विद्यन्ते त एव मुनिकुञ्जराः । केचन सदहेतुकज्ञप्त्येकक्रियं सदहेतुकज्ञायकैकभावं सदहेतुकज्ञानैकरूपं च विविक्तात्मानं जानन्तः सम्यक्पश्यन्तोऽनुचरन्तश्च स्वच्छस्वच्छन्दोद्यदमन्दान्तर्ज्योतिषोऽत्यन्तमज्ञानादिरूपत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा कर्मणा खलु न लिप्येरन् ।।२७०।।

तदजानन् हिंसाध्यवसानविकल्पेन सहात्मानमभेदेन श्रद्दधाति जानाति अनुचरति च, ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति मिथ्याज्ञानी भवति मिथ्याचारित्री भवति । ततः कर्मबन्धः स्यात् । यदापुनः पूर्वोक्तभेदविज्ञानं भवति तदा सम्यग्दृष्टिर्भवति सम्यग्ज्ञानी भवति सम्यक्चारित्री भवति ततः कर्मबन्धो न भवतीति भावार्थः ।। २७० ।।

कियन्तं कालं परभावानात्मनि योजयतीति चेत्;—

जा[1] संकप्पवियप्पो ता कम्मं कुणदि असुहसुहजणयं ।
अप्पसरूवा रिद्धी जाव ण हियए परिप्फुरइ ।।

आत्मा को भिन्न नहीं जाना इसलिये मैं परजीव का घात करता हूँ ऐसा अध्यवसान मिथ्याज्ञान है । इसी प्रकार भिन्न आत्मा का श्रद्धान न होने से अध्यवसान मिथ्यादर्शन है । इसी प्रकार भिन्न आत्मा के अनाचरण से मिथ्याचारित्र है । यह धर्म द्रव्य मुझसे जाना जाता है ऐसा अध्यवसाय भी अज्ञानादि रूप ही है आत्मा तो ज्ञानमय होने से ज्ञानमात्र ही है क्योंकि सद्रूप द्रव्यदृष्टि से अहेतुक (जिसका कोई कारण नहीं ऐसा) ज्ञानमात्र ही एकरूप वाला है । धर्मादिकरूप ज्ञेयमय है । ऐसे ज्ञानज्ञेय का विशेष न जानने से भिन्न आत्मा के अज्ञान से मैं धर्म को जानता हूँ ऐसा भी अज्ञानरूप अध्यवसान है । भिन्न आत्मा के न देखने से श्रद्धान न होने से यह अध्यवसान मिथ्यादर्शन है, और भिन्न आत्मा के अनाचरण से यह अध्यवसान अचारित्र है इसलिये ये सभी अध्यवसान बन्ध के निमित्त हैं । जिनके ये अध्यवसान विद्यमान नहीं है वे ही मुनियों में प्रधान हैं, उन्हीं को मुनिकुञ्जर कहते हैं, ऐसे कोई-कोई विरले हैं । वे सब अन्य द्रव्यभावों से भिन्न आत्मा सत्तारूप द्रव्यदृष्टि से किसी से उत्पन्न नहीं हुआ इसलिये अहेतुक एक ज्ञायकभावस्वरूप और सत्ता अहेतुक एक ज्ञानरूप ऐसे आत्मा को जानते हैं, उसी का सम्यक् (भले प्रकार) श्रद्धान करते हैं और उसी का आचरण करते हैं । वे मुनि निर्मल स्वच्छन्द स्वाधीन प्रवृत्तिरूप उदय को प्राप्त अमन्द प्रकाश रूप अन्तरङ्ग ज्योतिःस्वरूप हैं । इसी कारण अज्ञान आदि के अत्यन्त अभाव से शुभ तथा अशुभ कर्म से नहीं लिप्त होते ।

भावार्थ—यह अध्यवसान कि "मैं पर को मारता हूँ" तथा "मैं परद्रव्य को जानता हूँ" तब तक प्रवर्तता है जब तक आत्मा के रागादिक के तथा आत्मा के ज्ञेयरूप अन्यद्रव्य के भेद न जाने । वह भेद ज्ञान के विना मिथ्याज्ञानरूप है, मिथ्यादर्शनरूप है तथा मिथ्याचारित्ररूप है । ऐसे तीन प्रकार प्रवर्तता है । जिनके यह नहीं है वे मुनिकुञ्जर हैं, वे ही आत्मा को सम्यक् जानते हैं सम्यक्

---

१. नेयमात्मख्यातौ गाथा नात आत्मख्यातिव्याख्यैतस्याः ।

किमेतदध्यवसानं नामेति चेद्—

बुद्धी ववसाओवि य अज्झवसाणं मई य विण्णाणं ।
एक्कट्ठमेव सव्वं चित्तं भावो य परिणामो ॥२७१॥

बुद्धिर्व्यवसायोऽपि च अध्यवसानं मतिश्च विज्ञानम् ।
एकार्थमेव सर्वं चित्तं भावश्च परिणामः ॥२७१॥

स्वपरयोरविवेके सति जीवस्याध्यवसितिमात्रमध्यवसानम् । तदेव च बोधनमात्रत्वाद्बुद्धिः । व्यवसानमात्रत्वाद् व्यवसायः । मननमात्रत्वान्मतिः विज्ञप्तिमात्रत्वाद्विज्ञानम् । चेतनमात्रत्वाच्चित्तम् चितो भवनमात्रत्वाद् भावः चितः परिणमनमात्रत्वात् परिणामः ॥२७१॥

यावत्संकल्पविकल्पौ तावत्कर्म करोत्यशुभशुभजनकम् । आत्मस्वरूपा ऋद्धिः यावत् न हृदये परिस्फुरति । यावत्कालं बहिर्विषये देहपुत्रकलत्रादौ ममेतिरूपं संकल्पं करोति अभ्यन्तरे हर्षविषादरूपं विकल्पं च करोति तावत्कालमनन्तज्ञानादिसमृद्धिरूपमात्मानं हृदये न जानाति । यावत्कालमित्थंभूत आत्मा हृदये न परिस्फुरति, तावत्कालं शुभाशुभजनकं कर्म करोतीत्यर्थः । अथाध्यवसानस्य नाममालामाह;—बोधनं बुद्धिः, व्यवसनं व्यवसायः, अध्यवसनमध्यवसायः, मननं पर्यालोचनं मतिश्च, विज्ञायते अनेनेति विज्ञानं, चिन्तनं चित्तं, भवनं भावः, परिणमनं परिणामः, इति शब्दभेदेऽपि नार्थभेदः—किं तु सर्वोऽपि समभिरूढनयापेक्षयाऽध्यवसानार्थ एव । कथं ? इति चेत्, यथेन्द्रः शक्रः पुरन्दर इति । एवं व्रतैः पुण्यं, अव्रतैः पापमिति कथनेन सूत्रद्वयं पूर्वमेव व्याख्यातं, तस्यैव सूत्रद्वयस्य विशेषविवरणार्थं बाह्यं वस्तु रागाद्यध्यवसानकारणं रागाद्यध्यवसानं तु बन्धकारणमिति कथनमुख्यत्वेन त्रयोदश गाथा गताः, इति समुदायेन पञ्चदशसूत्रैश्चतुर्थस्थलं

श्रद्धान करते हैं सम्यक् आचरण करते हैं। इसलिए अज्ञान के अभाव से सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप कर्मों से लिप्त नहीं होते ॥ २७० ॥

आगे पूछते हैं कि जिसे कई बार कहते आ रहे हैं वह अध्यवसान क्या है ? इसका स्वरूप अच्छी तरह समझने में नहीं आया, ऐसा पूछने पर अध्यवसान का स्वरूप दिखलाते हैं :—

(बुद्धिः) बुद्धि (व्यवसायः) व्यवसाय (अपि च) और (अध्यवसानं) अध्यवसान (च) और (मतिः) मति (विज्ञानं) विज्ञान (चित्तं) चित्त (भावः) भाव (च) और (परिणामः) परिणाम (सर्वं) ये सब (एकार्थमेव) एकार्थ ही हैं नाम भेद हैं इनका अर्थ भिन्न नहीं है।

टीका—स्व और परका भेद ज्ञान न होने से जो जीव की निश्चिति होना वह अध्यवसान है। वही बोधन मात्रपने से बुद्धि है, निश्चयमात्रपने से व्यवसाय है, जाननेमात्रपने से मति है, विज्ञप्ति मात्रपने से विज्ञान है, चेतनमात्रपन से चित्त है, चेतन के भवनमात्रपन से भाव है और परिणमनमात्रपन से परिणाम है। ये सब ही एकार्थ हैं।

भावार्थ—ये जो बुद्धि आदि आठ नाम कहे हैं वे सभी चेतन आत्मा के परिणाम हैं। जब तक स्व और परका भेद ज्ञान न हो तब तक परमें और अपने में जो एकत्व के निश्चय रूप बुद्धि आदिक होते हैं वे ही अध्यवसान नाम से कहे जाते हैं ॥ २७१ ॥

सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं त्याज्यं यदुक्तं जिनै-
स्तन्मन्ये व्यवहार एवं निखिलोप्यन्याश्रयस्त्याजितः ।
सम्यङ्निश्चयमेकमेव तदमी निष्कम्पमाक्रम्य किं
शुद्धज्ञानघने महिम्नि न निजे बध्नन्ति सन्तोधृतिम् ॥१७३॥

एवं ववहारणओ पडि सिद्धो जाण णिच्छयणयेण ।
[1]णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

एवं व्यवहारनयः प्रतिषिद्धो जानीहि निश्चयनयेन ।
निश्चयनयाश्रिताः पुनः मुनयः प्राप्नुवन्ति निर्वाणम् ॥२७२॥

समाप्तम् ॥ ३७१ ॥ अतः परमभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेण निश्चयनयेन विकल्पात्मकव्यवहारनयो हि वाध्यत इति कथनमुख्यत्वेन गाथाषट्कपर्यन्तं व्याख्यानं करोति;—एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण एवं पूर्वोक्तप्रकारेण परद्रव्याश्रितत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषिद्ध इति जानीहि। केन कर्तृभूतेन ? शुद्धात्मद्रव्याश्रितनिश्चयनयेन। कस्मात् ? णिच्छयणयसल्लीणा मुणिणो पावंति णिव्वाणं निश्चयनयमालीना आश्रिताः स्थिताः सन्तो मुनयो निर्वाणं लभन्ते यतः कारणादिति । किं च यद्यपि प्राथमिकापेक्षया प्रारम्भ-प्रस्तावे सविकल्पावस्थायां निश्चयसाधकत्वाद् व्यवहारनयः सप्रयोजनस्तथापि विशुद्धज्ञानदर्शनलक्षणे शुद्धात्मनि स्थितानां निष्प्रयोजन इति भावार्थः। कथं निष्प्रयोजनः ? इति चेत्, कर्मभिरमुच्यमानेना भव्येनाप्याश्रीय-

---

आगे अगले कथन की सूचनिका के अर्थ काव्य कहते हैं-जो अध्यवसान त्यागने योग्य कहा है वहां ऐसी संभावना है कि व्यवहार का त्याग कराया है निश्चय का ग्रहण कराया है—सर्वत्र इत्यादि। अर्थ—सभी वस्तुओं में जो अध्यवसान है उन्हें जिनेन्द्र भगवान ने सभी को त्यागने योग्य कहा है सो आचार्य कहते हैं कि हम ऐसा मानते हैं कि परके आश्रय से प्रवर्तने वाला सभी व्यवहार छुड़ाया है। इसलिए हम उपदेश करते हैं कि जो सत्पुरुष हैं वे सम्यक् प्रकार एक निश्चय को ही जिस तरह हो सके उस तरह निश्चल अंगीकार करके शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप अपनी आत्मस्वरूप महिमा में स्थिरता क्यों नहीं धारण करते।

भावार्थ—जिनेश्वरदेव ने अन्य पदार्थों में जो आत्मबुद्धिरूप अध्यवसान छुड़ाया है सो ऐसा समझना चाहिए कि पराश्रित सभी व्यवहार छुड़ाया है। इस कारण शुद्धज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में स्थिरता रखो ऐसा शुद्ध निश्चय के ग्रहण का उपदेश है। आचार्य ने आश्चर्य भी किया है कि जब भगवान ने अध्यवसान को छुड़ाया है तो सत्पुरुष इसको छोड़कर अपने में स्थिर क्यों नहीं होते ?॥१७३॥

आगे इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं;—[एवं] पूर्वकथित रीति से [व्यवहारनयः] अध्यवसान रूप व्यवहारनय है वह [निश्चयनयेन] निश्चयनय से [प्रतिसिद्धः] निषेध रूप [जानीहि] जानो

---

१. णिच्छयणयसल्लीणा पाठोऽयं तात्पर्यवृत्तौ ।

आत्माश्रितो निश्चयनयः, पराश्रितो व्यवहारनयः । तत्रैवं निश्चयनयेन पराश्रितं समस्तमध्यवसानं बन्धहेतुत्वेन मुमुक्षोः प्रतिषेधयता व्यवहारनय एव किल प्रतिषिद्धः, तस्यापि पराश्रितत्वाविशेषात् । प्रतिषेध्य एव चायम्, आत्माश्रितनिश्चयनयाश्रितानामेव मुच्यमानत्वात्, पराश्रितव्यवहारनयस्यैकान्तेनामुच्यमानेनाभव्येनाप्याश्रीयमाणत्वाच्च ॥२७२॥

कथमभव्येनाश्रीयते व्यवहारनयः ? इति चेत्–

वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं ।
कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठी दु ॥२७३॥

व्रतसमितिगुप्तयः शीलतपो जिनवरैः प्रज्ञप्तम् ।
कुर्वन्नप्यभव्योऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिस्तु ॥२७३॥

माणत्वात् ॥ २७२ ॥ वदसमिदीगुत्तीओ सीलतवं जिणवरेहिं पण्णत्तं व्रतसमितिगुप्तिशीलतपश्चरणादिकं

[पुनः] जो [मुनयः] मुनिराज [निश्चयनयाश्रिताः] निश्चय के आश्रित हैं वे [निर्वाणं] मोक्ष को [प्राप्नुवन्ति] पाते हैं।

टीका–निश्चयनय आत्मा के आश्रित है और व्यवहारनय पर के आश्रित। यहां निश्चयनय से पराश्रित समस्त अध्यवसान (पर और अपने को एक मानना) मुमुक्षुओं को बन्ध का कारण होने से उस (अध्यवसान) का निषेध करने से वास्तव में व्यवहारनय का ही निषेध कराया है; क्योंकि अध्यवसान और व्यवहारनय दोनों ही पराश्रित हैं। इसलिए व्यवहारनय निषेध करने योग्य है; क्योंकि आत्माश्रित निश्चयनय का आश्रय लेने वाले ही मुक्त होते हैं। पराश्रित व्यवहारनय का आश्रय तो एकान्ततः कभी मुक्त न होने वाला अभव्य भी करता है।

भावार्थ—आत्मा के जो परके निमित्त से अनेक भाव होते हैं वे सब व्यवहारनय के विषय हैं। इसलिए व्यवहारनय तो पराश्रित है और जो एक अपना स्वाभाविक भाव है वह निश्चय का विषय है। इसलिये निश्चयनय आत्माश्रित है। अध्यवसान भी व्यवहारनय का ही विषय है। इसलिये जो अध्यवसान का त्याग है वह व्यवहारनय का ही त्याग है। सो निश्चयनय को प्रधान कर व्यवहारनय के त्याग का उपदेश है जो निश्चय के आश्रय प्रवर्तते हैं वे तो कर्म से छूटते हैं और जो एकान्त से व्यवहारनय के ही आश्रय प्रवर्त रहे हैं वे कर्म से कभी नहीं छूटते ॥२७२॥

आगे पूछते हैं कि अभव्य जीव व्यवहारनय को कैसे आश्रय करता है ? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[व्रतसमितिगुप्तयः] व्रत समिति गुप्ति [शीलतपः] शील तप [जिनवरैः] जिनेश्वर देव ने [प्रज्ञप्तं] कहे हैं उनको [कुर्वन्नपि] करता हुआ भी (अभव्यः) अभव्य जीव [अज्ञानी मिथ्यादृष्टिः तु] अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है।

शीलतपःपरिपूर्णं त्रिगुप्तिपञ्चसमितिपरिकलितमहिंसादिपञ्चमहाव्रतरूपं व्यवहार-चारित्रमभव्योऽपि कुर्यात् तथापि स निश्चारित्रोऽज्ञानी मिथ्यादृष्टिरेव निश्चयचारित्र-हेतुभूतज्ञानश्रद्धानशून्यत्वात् ॥२७३॥

तस्यैकादशाङ्गज्ञानमस्ति ? इति चेत्—

मोक्खं असद्दहंतो अभवियसत्तो दु जो अधीएज्ज ।
पाठो ण करेदि गुणं असद्दहंतस्स णाणं तु ॥२७४॥

मोक्षमश्रद्दधानोऽभव्यसत्त्वस्तु योऽधीयीत ।
पाठो न करोति गुणमश्रद्दधानस्य ज्ञानं तु ॥२७४॥

जिनवरैः प्रज्ञप्तंः कथितं कुव्वंतोवि अभव्वो अण्णाणी मिच्छदिट्ठीओ मन्दमिथ्यात्वमन्दकषायोदये सति कुर्वन्नप्यभव्यो जीवस्त्वज्ञानी भवति मिथ्यादृष्टिश्च भवति । कस्मात् ? इति चेत्, मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युप-शमक्षयोपशमक्षयाभावात् शुद्धात्मोपादेयश्रद्धानाभावात् इति ॥२७३॥ अथ तस्यैकादशाङ्गश्रुतज्ञानमस्ति कथम-ज्ञानी ? इति चेत्;—मोक्खं असद्दहंतो अभविय सत्तो दु जो अधीयेज्ज मोक्षमश्रद्दधानः सन्नभव्यजीवो यद्यपि ख्यातिपूजालाभार्थमेकादशाङ्गश्रुताध्ययनं कुर्यात् पाठो ण करेदि गुणं तथापि तस्य शास्त्रपाठः शुद्धात्मपरिज्ञान-रूपं गुणं न करोति । किं कुर्वतस्तस्य ? असद्दहंतस्स णाणं तु अश्रद्दधतोऽरोचमानस्य । किं ? ज्ञानं कोऽर्थः? शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपेण निर्विकल्पसमाधिना प्राप्यं गम्यं शुद्धात्मस्वरूपमिति । कस्मान्न श्रद्धत्ते ? दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयाभावात् । तदपि कस्मात् ? अभव्यत्वादिति भावार्थः ॥ २७४ ॥ अथ

टीका—शील तप से परिपूर्ण तीन गुप्ति पांच समिति से संयुक्त, अहिंसादिक पांच महा-व्रत रूप ऐसे व्यवहार चारित्र को अभव्य भी करता (पालता) है, तो भी वह अभव्य चारित्र से रहित ही है अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही है क्योंकि उसके निश्चय चारित्र का कारण स्वरूप का ज्ञान और श्रद्धान नहीं है ।

भावार्थ—अभव्य जीव महाव्रत समिति गुप्त रूप व्यवहार पाले तो भी निश्चय सम्यक् ज्ञान श्रद्धान के विना वह सम्यक् चारित्र नाम नहीं पाता । इसलिये वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ही रहता है ॥ २७३ ॥

आगे शिष्य कहता है कि उसके तो ग्यारह अङ्गतक का ज्ञान होता है उसे अज्ञानी क्यों कहा ? उसका उत्तर कहते हैं;—[यः अभव्यसत्त्वः] जो अभव्य जीव [अधीयीत] शास्त्र का पाठ भी पढ़ता है [तु] परन्तु [मोक्षं] मोक्ष तत्त्व का [अश्रद्दधानः] श्रद्धान नहीं करता [तु] तो [ज्ञानं अश्रद्दधानस्य] ज्ञान का श्रद्धान नहीं करने वाले उस अभव्य का [पाठः] शास्त्र पढ़ना [गुणं न करोति लाभ नहीं करता ।

मोक्षं हि न तावदभव्यः श्रद्धत्ते शुद्धज्ञानमयात्मज्ञानशून्यत्वात् ततो ज्ञानमपि नासौ श्रद्धत्ते, ज्ञानमश्रद्दधानश्चाचाराद्येकादशाङ्गं श्रुतमधीयानोऽपि श्रुताध्ययनगुणाभावान्न ज्ञानी स्यात् स किल गुणः श्रुताध्ययनस्य यद्विविक्तवस्तुभूतज्ञानमयात्मज्ञानं तच्च विविक्तवस्तुभूतं ज्ञानमश्रद्दधानस्याभव्यस्य श्रुताध्ययनेन न विधातुं शक्येत ततस्तस्य तद्गुणाभावः, ततश्च ज्ञानश्रद्धानाभावात् सोऽज्ञानीति प्रतिनियतः ।।२७४।।

तस्य धर्मश्रद्धानमस्तीति चेत्—

सद्दहदि य पत्तियदि य रोचेदि य तह पुणो य फासेदि ।
धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ।।२७५।।

श्रद्दधाति च प्रत्येति च रोचयति च तथा पुनश्च स्पृशति ।
धर्मं भोगनिमित्तं न तु स कर्मक्षयनिमित्तम् ।।२७५।।

अभव्यो हि नित्यकर्मकर्मफलचेतनारूपं वस्तु श्रद्धत्ते, नित्यज्ञानचेतनामात्रं न तु

तस्य पुण्यरूपधर्मादिश्रद्धानमस्तीति चेत्;—सद्दहदि य श्रद्धत्ते च पत्तेदि य ज्ञानरूपेण प्रत्येति च प्रतीतिं परिच्छित्तिं करोति रोचेदि य विशेषश्रद्धानरूपेण रोचते च तह पुणोवि फासेदि य तथा पुनः स्पृशति च अनुष्ठानरूपेण ।

टीका—अभव्य जीव प्रथम तो निश्चय से मोक्ष का ही श्रद्धान नहीं करता क्योंकि शुद्ध ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान ही अभव्य के नहीं है, इसलिये अभव्य जीव ज्ञान को ही श्रद्धानरूप नहीं करता और ज्ञान का श्रद्धान न करने वाला अभव्य आचाराङ्ग को आदि लेकर ग्यारह अङ्गरूप श्रुत को पढ़ता हुआ भी शास्त्र पढ़ने के फल के अभाव से ज्ञानी नहीं होता। शास्त्र पढ़ने का यह गुण है कि भिन्न वस्तुभूत ज्ञानमय आत्मा का ज्ञान हो। सो उस भिन्न वस्तुभूत ज्ञान को नहीं श्रद्धान करनेवाला अभव्य शास्त्र के पढ़ने से आत्मज्ञान करने को समर्थ नहीं होता। इसलिये उसके शास्त्र पढ़ने का जो भिन्न आत्मा का जानना, वह नहीं है इसलिये सच्चे ज्ञान श्रद्धान के अभाव से वह अभव्य अज्ञानी ही है यह नियम है।

भावार्थ—अभव्य जीव ग्यारह अंग पढ़े तो भी उसके शुद्ध आत्मा का ज्ञान श्रद्धान नहीं होता इसलिये उसके शास्त्र का पढ़ना गुणकारी नहीं हुआ। इस कारण वह अज्ञानी ही है ।।२७४।।

आगे शिष्य फिर कहता है कि उस अभव्य के धर्म का तो श्रद्धान होता है वह कैसे निषेध करते हो ? उसका उत्तर कहते हैं; [सः] वह अभव्य जीव [धर्मं] धर्म को [श्रद्दधाति च] श्रद्धान करता है [प्रत्येति च] प्रतीत करता है [रोचयति च] रुचि करता है [पुनश्च] और [स्पृशति] स्पर्शता है वह [भोगनिमित्तं] संसार भोग के निमित्त जो धर्म है उसी को श्रद्धान आदि करता है [तु] परन्तु [कर्मक्षयनिमित्तं] कर्मक्षय होने का निमित्तरूप धर्म का [न] श्रद्धान आदि नहीं करता।

टीका—अभव्य जीव नित्य ही कर्म और कर्मफलचेतनारूप वस्तु को श्रद्धा करता है परन्तु

श्रद्धत्ते नित्यमेव भेदविज्ञानानर्हत्वात्। ततः स कर्ममोक्षनिमित्तं ज्ञानमात्रं भूतार्थं धर्मं न श्रद्धत्ते। भोगनिमित्तं शुभकर्ममात्रमभूतार्थमेव श्रद्धत्ते। तत एवासौ अभूतार्थधर्मश्रद्धानप्रत्ययनरोचनस्पर्शनैरुपरितनग्रैवेयकभोगमात्रमास्कन्देन्न पुनः कदाचनापि विमुच्यते, ततोऽस्य भूतार्थधर्मश्रद्धानाभावात् श्रद्धानमपि नास्ति। एवं सति तु निश्चयनयस्य व्यवहारनयप्रतिषेधो युज्यत एव ॥२७५॥

कं ? धम्मं भोगणिमित्तं अहमिन्द्रादिपदवीकारणत्वादिति मत्वा भोगाकाङ्क्षारूपेण पुण्यरूपं धर्म ण हु सो कम्मक्खयणि मित्त नच कर्मक्षयनिमित्तं शुद्धात्मसंवित्तिलक्षणं निश्चयधर्ममिति ॥ २७५ ॥ अथ कीदृशो तौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्;—आयारादी णाणं आचारसूत्रकृतमित्यादि एकादशाङ्गशब्दशास्त्रं ज्ञानस्याश्रयत्वात्कारणत्वाद् व्यवहारेण ज्ञानं भवति। जीवादी दंसणं च विण्णेयं जीवादिनवपदार्थः श्रद्धानविषयः सम्यक्त्वाश्रयत्वान्निमित्तत्वाद् व्यवहारेण सम्यक्त्व भवति। छज्जीवाणं रक्खा भणति चरित्तं तु ववहारो षट्जीवनिकायरक्षा चारित्राश्रयत्वात् हेतुत्वाद् व्यवहारेण चारित्रं भवति। एवं पराश्रितत्वेन व्यवहारमोक्षमार्गः प्रोक्त इति। आदा खु मज्झ णाणे स्वशुद्धात्मा ज्ञानस्याश्रयत्वान्निमित्तत्वान्निश्चयनयेन मम सम्यग्ज्ञानं भवति आदा मे दंसणे शुद्धात्मा सम्यग्दर्शनस्याश्रयत्वात् कारणत्वात् निश्चयेन सम्यग्दर्शनं भवति चरित्ते य शुद्धात्मा चारित्रस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् निश्चयेन सम्यक्चारित्रं भवति आदा पच्चक्खाणे शुद्धात्मा रागादिपरित्यागलक्षणस्यप्रत्याख्यानस्याश्रयत्वात्कारणत्वात् निश्चयेन प्रत्याख्यानं भवति। आदा मे संवरे शुद्धात्मा स्वरूपोपलब्धिबलेन हर्षविषादादिनिरोधलक्षणसंवरस्याश्रयत्वान्निश्चयेन संवरो भवति जोगे शुद्धात्मा शुभाशुभ-

---

नित्य ज्ञान चेतनामात्र वस्तु का श्रद्धान नहीं करता क्योंकि अभव्य जीव नित्य ही आप परके भेदज्ञान के योग्य नहीं है। इसलिये वह अभव्य ज्ञानमात्र सत्यार्थ धर्म जो कि कर्मक्षय का निमित्त है उसको श्रद्धान नहीं करता, परन्तु शुभ कर्ममात्र असत्यार्थ धर्म जो भोगों का निमित्त है उसको श्रद्धान करता है। इसलिये यह अभव्य अभूतार्थ धर्म का श्रद्धान, प्रतीति, रुचि, स्पर्शन इनकरऊ पर के ग्रैवेयकतक के भोग मात्रों को पाता है परन्तु कर्म से कभी नहीं छूटता। इसलिये इसके सत्यार्थ धर्म के श्रद्धान का अभाव होने से सच्चा श्रद्धान भी नहीं है। ऐसा होने पर निश्चयनय में व्यवहारनय का निषेध युक्त ही है।

भावार्थ—अभव्य जीव कर्मफलचेतना को जानता है परन्तु ज्ञानचेतना को नहीं जानता क्योंकि इसके भेदज्ञान होने की योग्यता नहीं है; इस कारण इसके शुद्ध आत्मीक धर्म का श्रद्धान नहीं है। शुभ कर्म को ही धर्म समझ कर श्रद्धान करता है, उसका फल ग्रैवेयकतक के भोग पाता है परन्तु कर्म का क्षय नहीं होता। इसलिये इसके सत्यार्थ धर्म का भी श्रद्धान नहीं कहा जा सकता, इसी से निश्चयनय में व्यवहारनय का निषेध है। यहाँ इतना और जानना कि यह हेतुवादरूप अनुभवप्रधानग्रन्थ है इसलिये भव्य अभव्य का अनुभव की अपेक्षा निर्णय है, तथा यही अहेतुवाद आगम से मिलाओ तब अभव्य के सूक्ष्म केवलीगम्य ऐसा ही व्यवहारनय के पक्ष का आशय रह जाता है। वह छद्मस्थ (अल्पज्ञानी) के अनुभवगोचर नहीं होता, सर्वज्ञदेव जानते हैं। उसके केवल व्यवहार की पक्ष से सर्वथा एकान्त रूप मिथ्यात्व रहता है अभव्य का यह आशय सर्वथा नहीं मिटता इसलिये अभव्य ही है ॥२७५॥

कीदृशौ प्रतिषेध्यप्रतिषेधकौ व्यवहारनिश्चयनयाविति चेत्—

आयारादी णाणं जीवादी दंसणं च विण्णेयं।
[1]छज्जीवणिकं च तहा भणइ चरित्तं तु ववहारो ॥२७६॥
आदा खु मज्झ णाणं आदा मे दंसणं चरित्तं च।
आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो ॥२७७॥ (युगलम्)

आचारादि ज्ञानं जीवादि दर्शनं च विज्ञेयम्।
षड्जीवनिकां च तथा भणति चरित्रं तु व्यवहारः ॥२७६॥
आत्मा खलु मम ज्ञानमात्मा मे दर्शनं चरित्रं च।
आत्मा प्रत्याख्यानं आत्मा मे संवरो योगः ॥२७७॥

आचारादिशब्दश्रुतं ज्ञानस्याश्रयत्वात् ज्ञानं, जीवादयो नवपदार्था दर्शनस्याश्र-

---

चिन्तानिरोधलक्षणपरमध्यानशब्दवाच्ययोगस्याश्रयत्वाद्धेतुत्वात् परमयोगे भवतीति। शुद्धात्माश्रितत्वेन निश्चय-मोक्षमार्गो ज्ञातव्यः। एवं व्यवहारनिश्चयमोक्षमार्गस्वरूपं कथितम्। तत्र निश्चयः प्रतिषेधको भवति, व्यवहारस्तु प्रतिषेध्य इति। कस्मादिति चेत्, निश्चयमोक्षमार्गे स्थितानां नियमेन मोक्षो भवति, व्यवहारमोक्षमार्गे स्थितानां तु भवति न भवति च। कथं भवति न भवति? इति चेत्, यदि मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमक्षयोपशमक्षयात्सकाशाच्छुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा वर्तते तदा मोक्षो भवति। यदि पुनः सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते तदा मोक्षो भवति। तदपि कस्मात्? सप्तप्रकृत्युपशमाद्यभावे सति अनन्त-ज्ञानादिगुणस्वरूपमात्मानमुपादेयं कृत्वा न वर्तते न श्रद्धत्ते यतः कारणात्। यस्तु तादृशमात्मानमुपादेयं कृत्वा श्रद्धत्ते तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं विद्यते स तु भव्यो भवति। यस्य पुनः पूर्वोक्तशुद्धात्मस्वरूपमुपादेयं नास्ति

आगे पूछते हैं कि निश्चयनय तो व्यवहार का प्रतिषेधक कहा है और निश्चयनय के व्यवहारनय प्रतिषेधने योग्य कहा सो ये दोनों ही किस तरह हैं? ऐसा पूछने पर निश्चय व्यवहार का स्वरूप कहते हैं—[आचारादि ज्ञानं] आचारांग आदि शास्त्र तो ज्ञान हैं [च] तथा [जीवादिदर्शनं] जीवादि तत्त्व हैं वे दर्शन [विज्ञेयं] जानना [च] और [षड्जीवनिकायं] छह काय के जीवों की रक्षा [चारित्रं] चारित्र है [तथा तु] इस तरह तो [व्यवहारः भणति] व्यवहारनय कहता है [खलु] और निश्चयकर [मम आत्मा ज्ञानं] मेरा आत्मा ही ज्ञान है [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [दर्शनं चारित्रं च] दर्शन और चारित्र है [आत्मा] मेरा आत्मा ही [प्रत्याख्यानं] प्रत्याख्यान है [मे आत्मा] मेरा आत्मा ही [संवरः योगः] संवर और योग (समाधि ध्यान) है। ऐसे निश्चयनय कहता है।

टीका—आचारांग को आदि लेकर जो शब्दश्रुत है वह ज्ञान है क्योंकि वह ज्ञान का आश्रय

---

१. तात्पर्यवृत्तौ छज्जीवाणं रक्खा इति पाठः।

यत्वादर्शनं, षड्जीवनिकायरक्षाचारित्रस्याश्रयत्वात् चारित्रं, इति व्यवहारः। शुद्ध आत्मा ज्ञानाश्रयत्वाद् ज्ञानं, शुद्ध आत्मा दर्शनाश्रयत्वाद्दर्शनं, शुद्ध आत्मा चारित्राश्रयत्वाच्चारित्रमिति निश्चयः। तत्राचारादीनां ज्ञानाश्रयत्वस्यानैकान्तिकत्वाद् व्यवहारनयः प्रतिषेध्यः। निश्चयनयस्तु शुद्धस्यात्मनो ज्ञानाद्याश्रयत्वस्यैकान्तिकत्वाद् तत्प्रतिषेधकः। तथाहि-नाचारादिशब्दश्रुतं, एकान्तेन ज्ञानस्याश्रयः तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन ज्ञानस्याभावात्। न जीवादयः पदार्था दर्शनस्याश्रयाः, तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन दर्शनस्याभावात्। न च षड्जीवनिकायः चारित्रस्याश्रयस्तत्सद्भावेप्यभव्यानां शुद्धात्माभावेन चारित्रस्याभावात्। शुद्ध आत्मैव ज्ञानस्याश्रयः, आचारादिशब्दश्रुतसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव ज्ञानस्य सद्भावात्। शुद्ध आत्मैव दर्शनस्याश्रयः, जीवादिपदार्थसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव दर्शनस्य सद्भावात। शुद्ध आत्मैव चारित्रस्याश्रयः षडजीवनिकायसद्भावेऽसद्भावे वा तत्सद्भावेनैव चारित्रस्य सद्भावात् ॥२७६।२७७॥

तस्य सप्तप्रकृत्युपशमादिकं न विद्यते इति ज्ञातव्यं मिथ्यादृष्टिरसौ। तेन कारणेनाभव्यजीवस्य मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृत्युपशमादिकं कदाचिदपि न संभवति इति भावार्थः। किं च निर्विकल्पसमाधिरूपे निश्चये स्थित्वा व्यव-

---

है। जीव को आदि लेकर नव पदार्थ हैं वे दर्शन हैं क्योंकि ये दर्शन के आश्रय हैं। छह जीवों की रक्षा चारित्र है क्योंकि यह चारित्र का आश्रय है। इस तरह से तो व्यवहारनय के वचन हैं। शुद्ध आत्मा ज्ञान है क्योंकि ज्ञान का आश्रय आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही दर्शन है क्योंकि दर्शन का आश्रय आत्मा ही है। शुद्ध आत्मा ही चारित्र है क्योंकि चारित्र का आश्रय आत्मा ही है। ऐसे निश्चयनय के वचन हैं। आचाराङ्ग आदिक को ज्ञानादिक के आश्रयपने का व्यभिचार है, आचाराङ्ग आदिक तो हों परन्तु ज्ञान आदिक नहीं भी हों इसलिये व्यवहारनय प्रतिषेध करने योग्य है निश्चयनय में शुद्ध आत्मा के साथ ज्ञानादिक के आश्रयत्व का ऐकान्तिकपना है। जहाँ शुद्ध आत्मा है वहां ही ज्ञान दर्शन चारित्र हैं इसलिए व्यवहारनय का निषेध करने वाला है। यही हेतु से कहते हैं—आचारादि शब्दश्रुत एकान्त से ज्ञान का आश्रय नहीं है क्योंकि आचाराङ्गादिक का अभव्य जीव के सद्भाव होने पर भी शुद्ध आत्मा का अभाव होने से ज्ञान का अभाव है। जीव आदि नौ पदार्थ दर्शन का आश्रय नहीं है क्योंकि अभव्य के उनका सद्भाव होने पर भी शुद्धात्मा का अभाव होने से दर्शन का भी अभाव है। छहकाय के जीवों की रक्षा चारित्र का आश्रय नहीं है क्योंकि उसके मौजूद होने पर भी अभव्य के शुद्धात्मा का अभाव होने से चारित्र का अभाव है। शुद्ध आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है क्योंकि आचाराङ्गादि शब्दश्रुत का सद्भाव होने पर या असद्भाव होने पर शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही ज्ञान का सद्भाव है। शुद्ध आत्मा ही दर्शन का आश्रय है क्योंकि जीवादि पदार्थों का सद्भाव होने वा न होने पर भी शुद्ध आत्मा के सद्भाव से ही दर्शन का सद्भाव है। शुद्ध आत्मा ही चारित्र का आश्रय है क्योंकि छहकाय के जीवों की रक्षा का सद्भाव होने तथा असद्भाव होने पर भी शुद्धात्मा के सद्भाव से ही चारित्र का सद्भाव है।

रागादयो बन्धनिदानमुक्तास्ते शुद्धचिन्मात्रमहोऽतिरिक्ताः ।
आत्मा परो व किमु तन्निमित्तमिति प्रणुन्नाः पुनरेवमाहुः ॥१७४॥

जह फलिहमणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
रंगिज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादीहिं दव्वेहिं ॥२७८॥
एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमाईहिं ।
राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रागादीहिं दोसेहिं ॥२७९॥(युग्मम्)

यथा स्फटिकमणिः शुद्धो न स्वयं परिणमते रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रक्तादिभिर्द्रव्यैः ॥२७८॥
एवं ज्ञानी शुद्धो न स्वयं परिणमति रागाद्यैः ।
रज्यतेऽन्यैस्तु स रागादिभिर्दोषैः ॥२७९॥

यथा खलु केवलः स्फटिकोपलः परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन

हारस्त्याज्यः; किं तु तस्यां त्रिगुप्तावस्थायां व्यवहारः स्वयमेव नास्तीति तात्पर्यार्थः । एवं निश्चयनयेन व्यवहारः प्रतिषिद्ध इति कथनरूपेण षट्सूत्रैः पञ्चमं स्थलं गतम् ॥२७६।२७७॥ अथ रागादयः किल कर्मबन्धकारणं भणिताः, तेषां पुनः किं कारणं ? इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाहः—यथा स्फटिकमणिर्विशुद्धो वहिरुपाधिं विना स्वयं रागादिभावेन न परिणमति पश्चात् स एव रज्यते, कैः ? जपापुष्पादिवहिर्भूतान्यद्रव्यैरिति दृष्टान्तो गतः । एवमनेन दृष्टान्तेन ज्ञानी शुद्धो भवन् स्वयं निरुपाधिचिच्चमत्कारस्वभावेन कृत्वा जपापुष्पस्थानीय-

---

भावार्थ—आचाराङ्गादि शब्द श्रुत का जानना, जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना तथा छहकाय के जीवों की रक्षा इन सबके होने पर भी अभव्य के ज्ञान दर्शन चारित्र नहीं होते इसलिये व्यवहार नय प्रतिषेध्य है । तथा शुद्धात्मा के होने पर ज्ञान दर्शन चारित्र होते ही हैं इस कारण निश्चयनय इस व्यवहार का प्रतिषेधक है; इसलिये शुद्धनय उपादेय कहा है ॥ २७६ । २७७ ॥

आगे अगले कथन की सूचनिका का काव्य कहते हैं—**रागादयो** इत्यादि । **अर्थ**—यहां शिष्य फिर पूछता है कि रागादिक हैं वे तो बन्ध के कारण कहे और वे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा से भिन्न कहे हैं वहां पर उनके होने में आत्मा निमित्त कारण है या कोई अन्य ? ॥१७४॥

ऐसे प्रेरे हुए आचार्य इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं;—[**यथा**] जैसे [**स्फटिकमणिः**] स्फटिकमणि [**शुद्धः**] आप शुद्ध है वह [**रागाद्यैः**] ललाई आदि रङ्गस्वरूप [**स्वयं न परिणमति**] आप तो नहीं परणमती [**तु**] परन्तु [**सः**] वह [**अन्यैः रक्तादिभिः द्रव्यैः**] दूसरे लाल काले आदि द्रव्यों से [**रज्यते**] ललाई आदि रङ्ग स्वरूप परणमती है [**एवं**] इसी प्रकार [**ज्ञानी**] ज्ञानी [**शुद्धः**] आप शुद्ध है [**सः**] वह [**रागाद्यैः**] रागादि भावों से [**स्वयं न परिणमति**] आप तो नहीं परिणमता [**तु**] परन्तु [**अन्यैः रागादिभिः दोषैः**] अन्य रागादि दोषों से [**रज्यते**] रागादिरूप किया जाता है ।

टीका—जैसे वास्तव में केवल (अकेला) स्फटिक पाषाण आप परिणाम स्वभावरूप होने पर

रागादिनिमित्तत्वाभावाद् रागादिभिः स्वयं न परिणमति, परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्यते। तथा केवलः किलात्मा परिणामस्वभावत्वे सत्यपि स्वस्य शुद्धस्वभावत्वेन रागादिनिमित्तत्वाभावात् रागादिभिः स्वयं न परिणमति परद्रव्येणैव स्वयं रागादिभावापन्नतया स्वस्य रागादिनिमित्तभूतेन शुद्धस्वभावात्प्रच्यवमान एव रागादिभिः परिणम्येत, इति तावद्वस्तुस्वभावः ॥२७८।२७९॥

न जातु रागादिनिमित्तभावमात्मात्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसङ्ग एव वस्तुस्वभावोऽयमुदेति तावत् ॥१७५॥

इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी जानाति तेन सः।
रागादीन्नात्मनः कुर्यान्नातो भवति कारकः ॥१७६॥

कर्मोदयरूपपरोपाधिं विना रागादिविभावैर्न परिणमति पश्चात्सहजस्वच्छभावच्युतः सन् स एव रज्यते।

भी अपने शुद्ध स्वभावपने से तो रागादिनिमित्त के अभाव से रागादिकों से आप नहीं परिणमता, आप ही अपने रागादि परिणाम होने का निमित्त नहीं है, पर तु परद्रव्य स्वयं रागादिभाव को प्राप्त होने से स्फटिक के रागादिक का निमित्तभूत है, उससे शुद्ध स्वभाव से च्युत (रहित) हुआ ही रागादि रंग रूप परिणमता है, उसी तरह अकेला आत्मा परिणमनस्वभावरूप होने पर भी अपने शुद्ध स्वभावपने से रागादि निमित्तपने के अभाव से आप ही रागादिभावों से नहीं परिणमता, अपने आप ही रागादि परिणाम का निमित्त नहीं परन्तु परद्रव्य स्वयं रागादिभाव को प्राप्त होने से आत्मा के रागादिक का निमित्तभूत है उससे शुद्धस्वभाव से च्युत हुआ ही रागादिक से परिणमता है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

भावार्थ—आत्मा एकाकी तो शुद्ध ही है परन्तु परिणामस्वभाव है, जिस तरह का परका निमित्त मिले वैसा ही परिणमता है। इसलिये रागादिक रूप परद्रव्य के निमित्त से परिणमता है यहाँ स्फटिकमणि का दृष्टान्त है—कि, स्फटिकमणि आप तो केवल एकाकार शुद्ध ही है परन्तु जब परद्रव्य की ललाई आदिका डंक लगे तब ललाई आदि रूप परिणमती है। ऐसा यह वस्तुका ही स्वभाव है ॥२७८।२७९॥

अब इस अर्थ का कलश कहते हैं—न जातु इत्यादि। अर्थ—आत्मा अपने रागादिक के निमित्तभाव को कभी नहीं प्राप्त होता। उस आत्मा में रागादिक होने का निमित्त परद्रव्य का सम्बन्ध ही है। यहाँ सूर्यकांतमणि का दृष्टान्त है—जैसे सूर्यकान्तमणि आप अग्निरूप नहीं परणमती उसमें सूर्य का विम्ब अग्निरूप होने को निमित्त है वैसे जानना। यह वस्तु का स्वभाव उदय को प्राप्त है किसी का किया हुआ नहीं है ॥१७५॥

आगे कहते हैं कि ऐसे वस्तु के स्वभाव को जानता हुआ ज्ञानी रागादिक को अपने नहीं करता ऐसी सूचनिका का श्लोक कहते हैं-इति वस्तु इत्यादि। अर्थ—इस तरह अपने वस्तुस्वभाव को ज्ञानी जानता है इस कारण वह ज्ञानी रागादिक को अपने में नहीं करना इसलिये रागादिक का कर्ता नहीं है ॥१७६॥

ण य रायदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं ॥२८०॥

नापि रागद्वेषमोहं करोति ज्ञानी कषायभावं वा ।
[1]स्वयमात्मनो न स तेन कारकस्तेषां भावानाम् ॥२८०॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावं जानन् ज्ञानी शुद्धस्वभावादेव न प्रच्यवते, ततो रागद्वेषमोहादिभावैः स्वयं न परिणमति न परेणापि परिणम्यते, ततष्टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकस्वभावो ज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानामकर्तैवेति [2]नियमः ॥२८०॥

"इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी वेत्ति तेन सः ।
रागादीनात्मनः कुर्यादतो भवति कारकः ॥१७७॥

कैः ? अन्यैः कर्मोदयनिमित्तै रागादिदोषैः परिणामैरिति, तेन ज्ञायते, कर्मोदयजनिता रागादयो न तु ज्ञानिजीवजनिता इति दार्ष्टान्तो गतः ॥२७८।२७९॥ एवं चिदानन्दैकलक्षणं स्वस्वभावं जानन् ज्ञानी रागादीन्न करोति ततो नवतररागाद्युत्पत्तिकारणभूतकर्मणां कर्ता न भवतीति कथयति;—णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ज्ञानी न करोति । कान् ? रागादिदोपरहित शुद्धात्मस्वभावात्पृथग्भूतान् रागद्वेषमोहान् क्रोधादिकषायभावं वा कथं न करोति ? सयं स्वयं शुद्धात्मभावेन कर्मोदयसहकारिकारणं विना । कस्य सम्बन्धित्वेन ? अप्पणो आत्मनः ण सो तेण कारणो तेसिं भावाणं तेन कारणेन स तत्त्वज्ञानी तेषां रागादि-

---

आगे ऐसा ही गाथा में कहते हैं;—[ज्ञानी] ज्ञानी [स्वयमेव] आप ही [आत्मनः] अपने [रागद्वेषमोहं] राग द्वेष मोह [वा कषायभावं] तथा कषाय भाव [न च करोति] नहीं करता [तेन] इस कारण [सः] वह ज्ञानी [तेषां भावानां] उन भावों का [कारकः न] कर्ता नहीं है ।

टीका—जैसा वस्तु का स्वभाव कहा गया है वैसा जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव से नहीं छूटता, इसलिये राग-द्वेष-मोह आदि भावों से अपने आप नहीं परिणमता और दूसरे से भी नहीं परिणमाया जाता । इस कारण टङ्कोत्कीर्ण एक ज्ञायकभावस्वरूप ज्ञानी राग-द्वेष-मोह आदि भावों का अकर्ता ही है ऐसा नियम है ।

भावार्थ—जब ज्ञानी हुआ तब वस्तु का ऐसा स्वभाव जाना कि आप तो आत्मा शुद्ध है द्रव्यदृष्टि से अपरिणमनस्वरूप है पर्यायदृष्टि से परद्रव्य के निमित्त से रागादि रूप परिणमता है सो अब आप ज्ञानी हुआ उन भावों का कर्ता नहीं होता, उदय में आये हुए फलों का ज्ञाता ही है ॥ २८० ॥

आगे कहते हैं कि अज्ञानी ऐसा वस्तु का स्वभाव नहीं जानता इसलिये रागादिभावों का कर्ता होता है इसकी सूचना का श्लोक कहा है—इति वस्तु इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी ऐसे अपने वस्तुस्वभाव को नहीं जानता इसलिये वह अज्ञानी रागादिक भावों को अपने करता है, इस कारण उन (रागादिकों) का करने वाला होता है ॥ १७७ ॥

---

१. "स्वयमेवात्मानः" इति लिखितप्रतिषु पाठः । २. 'प्रतिनियमः' इत्यपि पाठान्तरं ।

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा।
तेहिं दु परिणमंतो रायाई बंधदि पुणोवि ॥२८१॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति पुनरपि ॥२८१॥

यथोक्तं वस्तुस्वभावमजानंस्त्वज्ञानी शुद्धस्वभावादासंसारं प्रच्युत एव। ततः कर्मविपाकप्रभवै रागद्वेषमोहादिभावैः परिणममानोऽज्ञानी रागद्वेषमोहादिभावानां कर्ता भवन् बध्यत एवेति प्रतिनियमः ॥२८१॥

भावानां कर्ता न भवतीति ॥२८०॥ अज्ञानी जीवः शुद्धस्वभावमात्मानमजानन् रागादीन् करोति ततः स भाविरागादिजनकनवतरकर्मणां कर्ता भवतीत्युपदिशति;—रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा रागद्वेषकषायरूपे द्रव्यकर्मण्युदयागते सति स्वस्वभावच्युतस्य तदुदयनिमित्तेन ये जीवगतरागादिभावाः परिणामा भवन्ति। तेहिं दु परिणममाणो रागादी बंधदि पुणोवि तैः कृत्वा रागादिरहमित्यभेदेनाहमिति प्रत्ययेन कृत्वा परिणमन् सन् पुनरपि भाविरागादिपरिणामोत्पादकानि द्रव्यकर्माणि बध्नाति ततस्तेषां रागादीनामज्ञानी जीवः कर्ता भवतीति ॥२८१॥ तमेवार्थं दृढयति;—पूर्वगाथायामहं रागादीत्यभेदेन परिणमन् सन् तानि रागादिभावोत्पादकानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नातीत्युक्तम्। अत्र तु शुद्धात्मभावनारहितत्वेन मदीयो रागः इति संबन्धेन परिणमन् सन् तानि नवतरद्रव्यकर्माणि बध्नाति, इति विशेषः ? किं च विस्तरः—यत्र मोहरागद्वेषा व्याख्यायन्ते तत्र मोहशब्देन दर्शनमोह मिथ्यात्वादिजनक इति ज्ञातव्यं, रागद्वेषशब्देन तु क्रोधादिकषायोत्पादकश्चारित्रमोहो ज्ञातव्यः। अत्राह शिष्यः—मोहशब्देन तु मिथ्यात्वादिजनको दर्शनमोहो भवतु दोषो नास्ति रागद्वेषशब्देन चारित्रमोह इति कथं भण्यते ? इति पूर्वपक्षे परिहारं ददाति—कषायवेदनीयाभिधानचारित्रमोहमध्ये क्रोधमानौ द्वेषाङ्गौ द्वेषोत्पादकत्वात्, मायालोभौ रागाङ्गौ रागजनकत्वात्, नोकषायवेदनीयसंज्ञचारित्रमोहमध्ये स्त्रीपुन्नपुंसकवेदत्रयहास्यरतयः पञ्चनोकषायाः रागाङ्गा रागोत्पादकत्वात्, अरतिशोकभयजुगुप्सासंज्ञाश्चत्वारो द्वेषाङ्गा द्वेषोत्पादकत्वात् इत्यनेनाभिप्रायेण मोहशब्देन दर्शनमोहो मिथ्यात्वं भण्यते राग-

---

अब इस अर्थ की गाथा कहते हैं;—[रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव] रागद्वेष और कषाय कर्म इनके होने पर [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैस्तु] उनसे [परिणममानः] परिणमता हुआ अज्ञानी [रागादीन्] रागादिकों को [पुनरपि] बार-बार [बध्नाति] बांधता है।

टीका—जैसा वस्तु का स्वभाव कहा गया है वैसे स्वभाव को नहीं जानता हुआ अज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव से अनादि संसार से लेकर च्युत हुआ ही है इस कारण कर्म के उदय से हुए जो राग-द्वेष-मोहादिक भाव हैं उनसे परिणमता अज्ञानी राग-द्वेष-मोहादिक भावों का कर्ता हुआ कर्मों से बंधता ही है, ऐसा नियम है।

भावार्थ—अज्ञानी वस्तु का यथार्थस्वभाव तो जानता नहीं है परन्तु कर्म के उदय से जैसा भाव हो उसको अपना समझ परिणमता है तब उन भावों का कर्ता हुआ आगामी बार-बार कर्म बांधता है यह नियम है ॥२८१॥

इस हेतु से जो बात सिद्ध हुई उसकी गाथा कहते हैं;—[रागे च द्वेषे च] राग, द्वेष [कर्मसु

ततः स्थितमेतत्—

रायम्हि य दोसम्हि य कसायकम्मेसु चेव जे भावा ।
तेहिं[1] दु परिणमंतो रायाई बंधदे चेदा ॥२८२॥

रागे च द्वेषे च कषायकर्मसु चैव ये भावाः ।
तैस्तु परिणममानो रागादीन् बध्नाति चेतयिता ॥२८२॥

य इमे किलाज्ञानिनः पुद्गलकर्मनिमित्ता रागद्वेषमोहादिपरिणामास्त एव भूयो रागद्वेषमोहादिपरिणामनिमित्तस्य पुद्गलकर्मणो बन्धहेतुरिति ॥२८२॥

कथमात्मा रागादीनामकारकः ? इति चेत्—

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चया ॥२८३॥
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे तहा अपच्चक्खाणं ।
एएणुवएसेण य अकारओ वण्णिओ चया ॥२८४॥
जावं अपडिक्कमणं अपच्चक्खाणं च दव्वभावाणं ।
कुव्वई आदा तावं कत्ता सो होइ णायव्वो ॥२८५॥

(त्रिकलम्)

अप्रतिक्रमणं द्विविधमप्रत्याख्यानं तथैव विज्ञेयम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८३॥

द्वेषशब्देन पुनश्चारित्रमोह इति सर्वत्र ज्ञातव्यम् । एवं कर्मबन्धकारणं रागादयः, रागादीनां च कारणं निश्चयेन कर्मोदयो, न च ज्ञानी जीव इति व्याख्यानमुख्यत्वेन सप्तमस्थले गाथापञ्चकं गतम् ॥ २८२ ॥ अथ कथं सम्यग्ज्ञानी जीवो रागादीनामकारक इति पृष्टे प्रत्युत्तरमाह;—

चेव] और कषाय कर्मों के होने पर [ये भावाः] जो भाव होते हैं [तैस्तु] उनसे [परिणममानः] परिणमता हुआ [चेतयिता] आत्मा [रागादीन्] रागादिकों को [बध्नाति] बांधता है ।

टीका—वास्तव में जो ये पुद्गल कर्म के निमित्त से हुए अज्ञानी के राग-द्वेष-मोह आदि भाव हैं अज्ञानी उनको करता हुआ कर्मों से बंधता ही है । ऐसे परिणाम ही फिर राग-द्वेष-मोह आदि परिणाम का निमित्त जो पुद्गलकर्म उसके बन्ध के कारण होते हैं ।

भावार्थ—अज्ञानी के जो कर्म के निमित्त से राग-द्वेष-मोह आदिक परिणाम होते हैं वे फिर आगामी कर्मबन्ध के कारण होते हैं ॥२८२॥

१. तात्पर्यवृत्तौ 'ते मम दु' इत्येव पाठः ।

अप्रतिक्रमणं द्विविधं द्रव्ये भावे तथाऽप्रत्याख्यानम् ।
एतेनोपदेशेन चाकारको वर्णितश्चेतयिता ॥२८४॥
यावदप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्रव्यभावयोः ।
करोत्यात्मा तावत्कर्ता स भवति ज्ञातव्यः ॥२८५॥

आत्मात्मना रागादीनामकारक एव, अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्वैविध्योपदेशान्यथानुपपत्तेः । यः खलु अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोर्द्रव्यभावभेदेन द्विविधोपदेशः स द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावं प्रथयन्नकर्तृत्वमात्मनो ज्ञापयति । तत एतत् स्थितं,

---

अपडिक्कमणं दुविहं अपच्चक्खाणं तहेव विण्णेयं पूर्वानुभूतविषयानुभवरागादिस्मरणरूपमप्रतिक्रमणं द्विविधं, भाविरागादिविषयाकाङ्क्षारूपमप्रत्याख्यानमपि तथैव द्विविधं विज्ञेयं एदेणुवदेसेण दु अकारगो वण्णिदो चेदा एतेनोपदेशेन परमागमेन ज्ञायते । किं ज्ञायते ? चेतयितात्मा हि द्विप्रकाराप्रतिक्रमणेन द्विप्रकाराप्रत्याख्यानेन च रहितत्वात् कर्मणामकर्ता भवतीति । अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे भावे अपच्चक्खाणंपि द्रव्यभावरूपेणाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च द्विविधं भवति एदेणुवदेसेण दु अकारगो, वण्णिदो चेदा तदेव बन्धकारणमित्युपदेश आगमः तेनोपदेशेन ज्ञायते, किं ज्ञायते ? द्रव्यभावरूपेणाप्रत्याख्यानेनाप्रतिक्रमणेन च परिणतः शुद्धात्मभावनाच्युतो योऽसावज्ञानी जीवः स कर्मणां कारकः । तद्विपरीतोऽज्ञानी चेतयिता पुनरकारक इति । तमेवार्थं दृढयति;— जाव ण पच्चक्खाणं यावत्कालं द्रव्यभावरूपं, निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणं प्रत्याख्यानं नास्ति अपडिक्कमणं तु दव्वभावाणं कुव्वदि यावत्कालं द्रव्यभावरूपमप्रतिक्रमणं च करोति आदा तावदु कत्ता सो होदि णादव्वो

आगे फिर पूछते हैं कि यदि अज्ञानी के रागादिक फिर कर्मबन्ध के कारण हैं, तो आत्मा रागादिकों का अकारक कैसे है ? उसका समाधान कहते हैं;—[अप्रतिक्रमणं] अप्रतिकमण [द्विविधं] दो प्रकार का [विज्ञेयं] जानना [तथैव] उसी तरह [अप्रत्याख्यानं] अप्रत्याख्यान भी दो प्रकार जानना [एतेनोपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतयिता] आत्मा [अकारकः भणितः] अकारक कहा है । [अप्रतिक्रमणं] अप्रतिक्रमण [द्विविधं] दो प्रकार है [द्रव्ये भावे] एक तो द्रव्य में दूसरा भाव में [तथा अप्रत्याख्यानं] उसी तरह अप्रत्याख्यान भी दो तरह का है एक द्रव्य में दूसरा भाव में [एतेन उपदेशेन च] इस उपदेश से [चेतयिता] आत्मा [अकारकः वर्णितः] अकारक कहा है । [यावत्] जब तक [आत्मा] आत्मा [द्रव्यभावयोः] द्रव्य और भाव में [अप्रतिक्रमणं च अप्रत्याख्यानं] अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान [करोति] करता है [तावत्] तब तक [सः] वह आत्मा [कर्ताभवति] कर्ता होता है [ज्ञातव्यः] ऐसा जानना ।

टीका—आत्मा स्वतः रागादि भावों का अकारक ही हैं क्योंकि आप ही कारक हो तो अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान दो भेद-द्रव्य भेद और भाव भेद इन दोनों भेदों के उपदेश की अप्राप्ति आती है । अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान जो वास्तव में दो प्रकार का उपदेश है वह उपदेश द्रव्य और भाव के निमित्तनैमित्तिक भाव को बतलाता हुआ आत्मा के अकर्तापन को

परद्रव्यं निमित्तं नैमित्तिका आत्मनो रागादिभावाः। यद्येवं नेष्येत तदा द्रव्याप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानयोः कर्तृत्वनिमित्तत्वोपदेशोऽनर्थक एव स्यात्। तदनर्थकत्वे त्वेकस्यैवात्मनो रागादिभावनिमित्तत्वापत्तौ नित्यकर्तृत्वानुषङ्गान्मोक्षाभावः प्रसजेच्च। ततः परद्रव्यमेवात्मनो रागादिभावनिमित्तमस्तु। तथासति तु रागादीनामकारक एवात्मा, तथापि यावन्निमित्तभूतं द्रव्यं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च तावन्नैमित्तिकभूतं भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे च, यावत्तु भावं न प्रतिक्रामति न प्रत्याचष्टे तावत्तत्कर्तैव स्यात्। यदैव निमित्तभूतं द्रव्यं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदैव नैमित्तिकभूतं भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च। यदा तु भावं प्रतिक्रामति प्रत्याचष्टे च तदा साक्षादकर्तैव स्यात् ॥२८३।२८४।२८५॥

तावत्कालं परमसमाधेरभावात् स चाज्ञानी जीवः कर्मणां कारको भवतीति ज्ञातव्यः। किं चाप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च कर्मणां कर्तृ, न च ज्ञानी जीवः। यदि जीवः कर्ता भवति ? तदा सर्वदैव कर्तृत्वमेव। कस्मात् ? इति चेत्, जीवस्य सदैव विद्यमानत्वात् इति। अप्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं पुनरनित्यं रागादिविकल्परूपं, तच्च स्वस्वभावच्युतानां भवति न सर्वदैव। तेन किं सिद्धं ? यदा स्वस्वभावच्युतः सन् अप्रतिक्रमणाप्रत्याख्यानाभ्यां

बतलाता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि परद्रव्य तो निमित्त है और आत्मा के रागादिक भाव नैमित्तिक हैं। यदि ऐसा न माना जाय तो जो द्रव्य अप्रतिक्रमण और द्रव्य अप्रत्याख्यान इन दोनों के कर्तृत्व के निमित्तपने के उपदेश वह व्यर्थ ही हो जायगा। और उपदेश के व्यर्थ होने पर एक आत्मा के ही रागादिक भाव के निमित्तपने की प्राप्ति होने पर सदा कर्तापन का प्रसङ्ग आयेगा, उससे मोक्ष का अभाव सिद्ध होगा। इसलिये आत्मा के रागादि भावों का परद्रव्य ही निमित्त है। ऐसा होने पर आत्मा रागादिभावों का अकारक ही है यह सिद्ध हुआ। तो भी जबतक रागादिक का निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण तथा प्रत्याख्यान न करे तबतक नैमित्तिकभूतरागादिभावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान नहीं होता। और जबतक इन भावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान न हो तबतक रागादिभावों का कर्ता ही है। जिससमय रागादिभावों का निमित्तभूतद्रव्यों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान करता है, उसीसमय नैमित्तिकभूत रागादिभावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान होता है। तथा जिससमय इन भावों का प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान हुआ उस समय साक्षात् अकर्ता ही है।

भावार्थ—प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान का द्रव्यभाव के भेद से दो तरह का उपदेश है। यहां शुद्धनय को प्रधान करके कथन है, इसलिये निषेध का यहां प्रधानतः वर्णन है। जो अतीत काल में परद्रव्य का ग्रहण किया उसको अब अच्छा समझे उसका संस्कार रहे, ममत्व रहे वह तो द्रव्य अप्रतिक्रमण है और उस परद्रव्य के ग्रहण के निमित्त से रागादिक भाव जो हुए थे उनको वर्तमान में अच्छा समझे, उनसे ममत्वसंस्कार रहे, वह भाव अप्रतिक्रमण है। तथा आगामी काल में परद्रव्य की वाञ्छा से ममत्व रखे वह द्रव्य अप्रत्याख्यान है और उसके निमित्त से आगामी काल में होने वाले रागादि भावों की वाञ्छा रखना, ममत्व रखना वह भाव अप्रत्याख्यान है। यह द्रव्य अप्रति-

द्रव्यभावयोर्निमित्तनैमित्तिकभावोदाहरणं चैतत्—

आधाकम्माईया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा ।
कह ते कुव्वइ णाणी परदव्वगुणा उ जे णिच्चं ॥२८६॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं ।
कह तं मम होइ कयं जं णिच्चमचेयणं उत्तं ॥२८७॥ (युग्मम्)

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य य इमे दोषाः ।
कथं तान् करोति ज्ञानी परद्रव्यगुणास्तु ये नित्यम् ॥२८६॥
अधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलमयमिदं द्रव्यम् ।
कथं तन्मम भवति कृतं यन्नित्यमचेतनमुक्तम् ॥२८७॥

परिणमति तदा कर्मणां कारको भवति । स्वस्वभावे पुनरकारकः इति भावार्थः । एवमज्ञानिजीवपरिणतिरूपम-प्रतिक्रमणमप्रत्याख्यानं च बन्धकारणं न च ज्ञानी जीवः इति व्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रयं गतम् । अथ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्यानरहितानां जीवानां योऽसौ बन्धो भणितः स च हेयस्याशेषस्य नरकादिदुःखस्य कारणत्वाद्धेयः । तस्य बन्धस्य विनाशार्थं विशेषभावनामाह—सहजशुद्धज्ञाना-नन्दैकस्वभावोऽहं, निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं, निरञ्जननिजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चय-रत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानुभूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनज्ञानेन संवेद्यो गम्यः

क्रमण और भाव अप्रतिक्रमण, द्रव्य अप्रत्याख्यान और भाव अप्रत्याख्यान ऐसे दो प्रकार का उपदेश है वह द्रव्यभाव के निमित्तनैमित्तिक भाव को जानता है । परद्रव्य तो निमित्त है और रागादिक भाव नैमित्तिक हैं । सो जबतक निमित्तभूत परद्रव्य का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान इस आत्मा के हैं तब तक तो रागादिभावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है और जब तक रागादिभावों का अप्रतिक्रमण और अप्रत्याख्यान है तबतक रागादि भावों का कर्ता ही है । तथा जिस समय निमित्तभूत परद्रव्य का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान करे; उस समय नैमित्तिक रागादिभावों का भी प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान हो जाता है; और जब रागादिभावों का प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान हो जाय तब साक्षात् अकर्ता ही है । इस प्रकार आत्मा स्वयमेव तो रागादि भावों का अकर्ता ही है ॥२८३। २८४।२८५॥

आगे द्रव्य और भाव की निमित्त-नैमित्तिकता का उदाहरण देते हैं;-[अधः कर्माद्याः ये इमे] अधःकर्म को आदि लेकर जो ये [पुद्गलद्रव्यस्यदोषाः] पुद्गल द्रव्य के दोष हैं [तान्] उनको [ज्ञानी] ज्ञानी [कथं करोति] कैसे करे ? [तु] क्योंकि [ये] ये [नित्यं] सदा ही [परद्रव्यगुणाः] पुद्गल द्रव्य के गुण हैं [च] और [इदं] यह [अधःकर्मोद्देशिकं] अधःकर्म और उद्देदिक [पुद्गलमयं द्रव्यं[पुद्गलमय द्रव्य हैं उनको यह ज्ञानी जानता है कि [यत्] जो [नित्यं] सदा [अचेतनं उक्तं] अचेतन कहे हैं [तत] वे [मम] मेरे [कृतं] किये [कथं भवति] कैसे हो सकते हैं ?

[1]यथाधःकर्मनिष्पन्नमुद्देशनिष्पन्नं च पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतमप्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं न प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यमप्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तकं भावं न प्रत्याचष्टे। यथा चाधःकर्मादीन् पुद्गलद्रव्यदोषान्न नाम करोत्यात्मा परद्रव्यपरिणामत्वे सति आत्मकार्यत्वाभावात्। ततोऽधःकर्मोद्देशिकं च पुद्गलद्रव्यं न मम कार्यं, नित्यमचेतनत्वे सति मत्कार्यत्वाभावात् इति तत्त्वज्ञानपूर्वकं पुद्गलद्रव्यं निमित्तभूतं प्रत्याचक्षाणो नैमित्तिकभूतं बन्धसाधकं भावं प्रत्याचष्टे तथा समस्तमपि परद्रव्यं प्रत्याचक्षाणस्तन्निमित्तं भावं प्रत्याचष्टे। एवं द्रव्यभावयोरस्ति निमित्तनैमित्तिकभावः ॥२८६॥२८७॥

प्राप्यो भरितावस्थोऽहं, राग-द्वेष-मोह-कोध-मान-माया-लोभ–पञ्चेन्द्रियविषयव्यापार, मनोवचनकायव्यापार-भावकर्म–द्रव्यकर्मनोकर्म—ख्याति–पूजा—लाभ—दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानमायामिथ्याशल्यत्रयादि-सर्वविभावपरिणामरहितः। शून्योऽहं जगत्त्रये कालत्रयेपि मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन, तथा सर्वे जीवाः इति निरन्तरं भावना कर्तव्या ॥ २८३।२८४।२८५ ॥ अथाहारविषये सरसविरसमानापमानादिचिन्तारूपरागद्वेषकरणाभावादाहारग्रहणकृतो ज्ञानिनां वन्धो नास्ति, इति कथयति;—

आधाकम्मादीया पुग्गलदव्वस्स जे इमे दोसा।
कहमणुमण्णदि अण्णेण कीरमाणा परस्स गुणा॥
आधाकम्मं उद्देसियं च पोग्गलमयं इमं दव्वं।
कह तं मम कारविदं जं णिच्चमचेदणं वुत्तं॥

अधःकर्माद्याः पुद्गलद्रव्यस्य ये इमे दोषाः। कथमनुमन्यते अन्येन क्रियमाणाः परस्य गुणाः। स्वयं

टीका—जैसे अधःकर्म से और उद्देश्य से उत्पन्न (आहार आदिक) पुद्गल द्रव्य हैं। वे भावों को निमित्तभूत हैं। जैसा भक्षण करे वैसा भाव होता है। ऐसे द्रव्य को अप्रत्याख्यानरूप करता (त्याग न करता) जो मुनि वह उस द्रव्य के नैमित्तिकभूत और बंध के साधक ऐसे भावों को भी त्याग नहीं करता, उसी प्रकार जो समस्त पर द्रव्य को त्याग नहीं करता है वह उसके निमित्त से हुए भावों को भी त्याग नहीं करता। जैसे अधःकर्म आदिक पुद्गल द्रव्यों के दोषों को आत्मा नहीं करता, क्योंकि ये दोष पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं। ऐसा होने पर आत्मा के इनके कार्यत्व का अभाव है। इस कारण ज्ञानी ऐसा जानता है कि जो अधःकर्म उद्देशिक पुद्गल द्रव्य हैं वे मेरे कार्य नहीं हैं; क्योंकि ये नित्य ही अचेतन होने में मेरे कार्यत्व का इनके अभाव हैं। ऐसे तत्त्वज्ञानपूर्वक निमित्तभूत पुद्गल द्रव्य को त्यागता हुआ मुनि बंध के साधक नैमित्तिकभूत भाव को भी त्यागता है; उसी तरह समस्त पर द्रव्य को त्याग करता हुआ उस परद्रव्य के निमित्त से हुए भावों को भी त्यागता है। इस प्रकार द्रव्य और भाव इन दोनों का आपस में निमित्तनैमित्तिक भाव है।

---

१. ण मुंचदि तेण कम्मवंधेण पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ।

इत्यालोच्य विवेच्य तत्किल परद्रव्यं समग्रं बलात्तन्मूलं
बहुभावसंततिमिमामुद्धर्तुकामः समम्।
आत्मानं समुपैति निर्भरवहत्पूर्णैकसंविद्युतं येनोन्मूलित-
बन्ध एष भगवानात्मात्मनि स्फूर्जति ॥१७८॥

पाकेनोत्पन्न आहार अधःकर्मशब्देनोच्यते तत्प्रभृतिव्याख्यानं करोति—अधःकर्माद्या ये इमे दोषाः, कथंभूताः ? शुद्धात्मनः सकाशात्परस्याभिन्नस्याहाररूपपुद्गलद्रव्यस्य गुणाः। पुनरपि कथंभूताः ? तस्यैवाहारपुद्गलस्य पचनपाचनादिक्रियारूपाः तान्निश्चयेन कथं करोतीति ज्ञानीति प्रथमगाथार्थः। अनुमोदयति वा कथमिति द्वितीयगाथार्थः। परेण गृहस्थेन क्रियमाणान्, न कथमपि। कस्मात् निर्विकल्पसमाधौ सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात् इत्याधःकर्मव्याख्यानरूपेण गाथाद्वयं गतम् ॥ २८६॥ आहारग्रहणात्पूर्वं तस्य पात्रस्य निमित्ते यत्किमप्यशनपानादिकं कृतं तदौपदेशिकं भण्यते, तेनौपदेशिकेन सह तदेवाधःकर्म पुनरपि गाथाद्वयेन कथ्यते—अधःकर्मौपदेशिकं च पुद्गलमयमेतद्द्रव्यं। कथं तन्मम कारितं यन्नित्यमचेतनमुक्तम्। यदिदमाहारकपुद्गलद्रव्यमधःकर्मरूपमौपदेशिकं च चेतनशुद्धात्मद्रव्यपृथक्त्वेन नित्यमेवाचेतनं भणितं तत्कथं मया कृतं भवति कारितं वा कथं भवति ? न कथमपि। कस्माद्धेतोः ? निश्चयरत्नत्रयलक्षणभेदज्ञाने सति आहारविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमननाभावात्। इत्यौपदेशिकव्याख्यानमुख्यत्वेन च गाथाद्वयं गतम्। अयमत्राभिप्रायः। पश्चात्पूर्वं संप्रतिकाले वा योग्याहारादिविषये मनोवचनकायकृतकारितानुमतरूपैर्नवभि-

भावार्थ—यह द्रव्य और भावका निमित्तनैमित्तिकपना उदाहरण से पुष्ट किया है। लौकिक जन कहते हैं कि "जैसा अन्न खाय वैसी ही बुद्धि हो जाती है" उसी तरह शास्त्र में उदाहरण है—कि, जो पाप कर्म से आहार उत्पन्न हो उसे **अधःकर्म** निष्पन्न कहते हैं। जो आहार किसी के निमित्त से बना हुआ हो उसे **औद्देशिक** कहते हैं। इन दोनों प्रकार के आहार का जो पुरुष सेवन करे उसके वैसे ही भाव होते हैं इस तरह द्रव्य और भाव का निमित्तनैमित्तिक संबंध है, उसी तरह समस्त द्रव्यों का निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध जानना। ऐसा होने पर जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, उसके रागादिभाव भी होते हैं उनका कर्ता भी होता है तब कर्म का बंध भी करता है। और जब ज्ञानी हो जाता है तब किसी के ग्रहण करने का राग नहीं, रागादिरूप परिणमन भी नहीं, तब आगामी कर्मबंध भी नहीं होता। इस तरह ज्ञानी परद्रव्य का कर्ता नहीं है ॥१८६।१८७॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहकर परद्रव्य के त्याग का उपदेश करते हैं—**इत्यालोच्य इत्यादि।** **अर्थ**—जो पुरुष इस तरह परद्रव्य का और अपने भाव का निमित्तनैमित्तिकपना विचार कर उस समस्त परद्रव्य को अपने पराक्रम से त्याग कर तथा परद्रव्य जिसका मूल है ऐसे बहुत भावों की परिपाटी को दूर से युगपत् उखाड़ फेंकने का इच्छुक अतिशय से बहने वाला प्रवाहरूप धारावाही पूर्ण एक संवेदनयुक्त जो अपना आत्मा उसे प्राप्त होता है। जिससे कि जिसने कर्मबन्धन मूल से उखाड़ दिये हैं, ऐसा भगवान् यह आत्मा आप में ही स्फुरायमान (प्रकट) होता है।

भावार्थ—परद्रव्य और अपने भाव का निमित्तनैमित्तिकभाव जान कर समस्त परद्रव्य का त्याग करे तब समस्त रागादिभावों की संतति कट जाती है, उस समय आत्मा अपना ही अनुभव करता हुआ कर्म के बन्धन को काट कर आप में ही प्रकाशरूप प्रकट होता है। हितेच्छु ऐसा ही करें ॥१७८॥

रागादीनामुदयमदयं दारयत्कारणानां कार्यं बन्धं विविधमधुना सद्य एव प्रणुद्य ।
ज्ञानज्योतिः क्षपिततिमिरं साधु सन्नद्धमेतत्तद्वद्यद्वत्प्रसरमपरः कोऽपि नास्यावृणोति ।।१७९

इति बन्धो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ बन्ध—
प्ररूपकः सप्तमोऽङ्कः ।। ७ ।।

विकल्पैः शुद्धास्तेषां परकृताहारादिविषये बन्धो नास्ति । यदि पुनः परकीयपरिणामेन बन्धो भवति तर्हि क्वापि काले निर्वाणं नास्ति । तथा चोक्तं । णवकोडिकम्मसुद्धो पच्छा पुरदो य संपदियकाले । परसुहदुक्खणिमित्तं वज्झदि जदि णत्थि णिव्वाणं ।। एवं ज्ञानिनामाहारग्रहणकृतो बन्धो नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयेन षष्ठस्थलं गतम् ।। २८७ ।।

इति श्रीजयसेनाचार्य कृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण जह णाम कोवि पुरिसो इत्यादि मिथ्यादृष्टिसद्दृष्टिव्याख्यानरूपेण गाथादशकं, निश्चयहिंसाकथनरूपेण गाथासप्तकं, निश्चयेन रागादिविकल्प एव हिंसेति कथनरूपेण सूत्रषट्कं, अव्रतव्रतानि पापपुण्यबन्धकारणानीत्यादिकथनेन गाथापञ्चदश, निश्चयनयेन स्थित्वा व्यवहारस्त्याज्य इति मुख्यत्वेन गाथाषट्कं, पिण्डशुद्धिमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं । निश्चयनयेन रागादयः कर्मोदयजनिता इति कथनमुख्यत्वेन सूत्रपञ्चकं, निश्चयनयेनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानं च बन्धकारणमिति प्रतिपादनरूपेण गाथात्रयमित्येवं समुदायेन षट्पञ्चाशद्गाथाभिरष्टभिरन्तराधिकारैः अष्टमो बन्धाधिकारः
समाप्तः ।। ७ ।।

अब बन्ध का अधिकार पूर्ण किया । उसके अन्त मङ्गलरूपज्ञान की महिमा का कलश कहते हैं—**रागादि** इत्यादि । **अर्थ**—बन्ध के कारणरूप रागादि के उदय को निर्दयतापूर्वक (प्रखर पुरुषार्थ से) विदारण करती हुई उस रागादि के कार्यरूप (ज्ञानावरणादि) अनेक प्रकार के बन्ध को अब तत्काल ही दूर करके, यह ज्ञान ज्योति, कि जिसने अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश किया है—भली भांति ऐसी सज्जित है कि उसके विस्तार को अन्य कोई आवृत नहीं कर सकता ।

भावार्थ—जब ज्ञान प्रकट होता है तब रागादिक नहीं रहते; उनका कार्य बन्ध भी नहीं रहता तब फिर इसको आवरण करने वाला कोई नहीं रहता, सदाकाल प्रकाश रूप ही रहती है ॥२८६।२८८॥

इस तरह रङ्गभूमि में बंध के स्वांगने प्रवेश किया था सो जब ज्ञान ज्योति प्रकट हुई तब बंध स्वांग को दूर कर निकल गया । यहां तक गाथा २८७ और कलश १७९ हुए ।

सवैया तेईसा—जो नर कोय परै रजमांहि सच्चिक्कण अंग लगै वह गाढै,
त्यों मतिहीन जु रागविरोध लिये विचरे तब बंधन वाढै ।
पाय समै उपदेश यथारथ रागविरोध तजै निज चाटै ।
नांहि बंधै तब कर्मसमूह जु आप गहै पर भावनि काटै ।।१।।

इस प्रकार श्री **पं० जयचंद्र** कृत समयसार नामा ग्रन्थ की आत्मख्यातिनामक टीका की भाषावचनिका में **बंध** नामा सातवां अधिकार पूर्ण हुआ ।। ७ ।।

अथ मोक्षाधिकारः ॥ ८ ॥

अथ प्रविशति मोक्षः ।

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम् ।
इदानीमुन्मज्जत् सहजपरमानन्दसरसं परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१८०॥

जह णाम कोवि पुरिसो बंधणयह्मि चिरकालपडिवद्धो ।
तिव्वं मंदसहावं कालं च वियाणए तस्स ॥२८८॥
जइ णवि कुणइ च्छेदं ण मुच्चए तेण बंधणवसो सं ।
कालेण उ वहुएणवि ण सो णरो पावइ विमोक्खं ॥२८९॥

तत्रैवं सति पात्रस्थानीयशुद्धात्मनः सकाशात्पृथग्भूत्वा शृङ्गारस्थानीयबन्धो निष्क्रान्तः । अथ प्रविशति मोक्षः—जह णाम कोवि पुरसो इत्यादि गाथामादिं कृत्वा यथाक्रमेण द्वाविंशतिगाथापर्य्यन्तं मोक्षपदार्थव्याख्यान

अथ मोक्षाधिकार ।

दोहा—'कर्मबन्ध सब काटिके, पहुँचे मोक्ष सुथान ।
नमू सिद्ध परमातमा, करूं ध्यान अमलान ॥"

जिस प्रकार नृत्य के अखाड़े में स्वांग प्रवेश करता है उसी प्रकार अब मोक्ष तत्त्व प्रवेश करता है । वहाँ ज्ञान सब स्वांग को जानने वाला है इसलिये मोक्ष अधिकार के आदि में सम्यग्ज्ञान की महिमारूप मङ्गल करते हैं—द्विधाकृत्य इत्यादि । अर्थ—अब बन्ध पदार्थ के पश्चात् पूर्णज्ञान प्रज्ञारूप करोंत से बन्ध और पुरुष को पृथक् करके पुरुष को साक्षात् मोक्ष में प्राप्त कराता हुआ जयवन्त प्रवर्त रहा है । वह पुरुष अपने स्वरूप के साक्षात् अनुभव से निश्चित है । ज्ञान अपने स्वाभाविक परम आनन्द से सरस (रस भरा) है, उत्कृष्ट है और जिसने करने योग्य समस्त कार्य कर लिये हैं अब कुछ करना नहीं रहा ।

भावार्थ—ज्ञान, बन्ध और पुरुष को पृथक् करके पुरुष को मोक्ष प्राप्त करता हुआ अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवन्त प्रवर्त रहा है इसका सर्वोत्कृष्टपना कहना यही मङ्गल वचन है ॥१८०॥

आगे कहते हैं कि मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है ? उस जगह प्रथम तो ऐसा कहते हैं, कि जो बन्ध का छेद नहीं करते और बन्ध का स्वरूप ही जानकर सन्तुष्ट हैं वे मोक्ष नहीं पाते;—[नाम] अहो देखो [यथा] जैसे [कश्चित् पुरुषः] कोई पुरुष [बंधनके] बंधन में [चिरकालप्रतिवद्धः] बहुत काल का बंधा हुआ [तस्य] उस बन्धन के [तीव्रमन्दस्वभावं] तीव्र मंद स्वभाव को [च] और [कालं] काल को [विजानाति] जानता है कि इतने काल का बन्ध है । [यदि] जो उस बन्धन को आप

इय कम्मबंधणाणं पएसठिइपयडिमेवमणुभागं ।
जाणंतोवि ण मुच्चइ मुच्चइ सो चेव जइ सुद्धो ॥२९०॥(त्रिकलम्)

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बन्धनके चिरकालप्रतिबद्धः ।
तीव्रमन्दस्वभावं कालं च विजानाति तस्य ॥२८८॥
यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बन्धनवशः सन् ।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२८९॥
इति कर्मबन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम् ।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः ॥२९०॥

करोतितत्रादौ मोक्षपदार्थस्य संक्षेपव्याख्यानरूपेण गाथासप्तकं, तदनन्तरं मोक्षकारणभूतभेदविज्ञानसंक्षेपसूचनार्थं बंधाणं च सहावं इत्यादि सूत्रचतुष्टयं, अतः परं तस्यैव भेदज्ञानस्य विशेषविवरणार्थं पण्णाए घेत्तव्वो इत्यादि सूत्रपञ्चकं, तदनन्तरं वीतरागचारित्रसहितस्य द्रव्यप्रतिक्रमणादिकं विषकुम्भः सरागचारित्रस्यामृतकुम्भ इति युक्तिसूचनमुख्यत्वेन तेयादी अवराहे इत्यादि सूत्रषट्कं कथयतीति द्वाविंशतिगाथाभिः स्थलचतुष्टये मोक्षाधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा-विशिष्टभेदज्ञानावष्टम्भेन बन्धात्मनो पृथक्करणं मोक्ष इति प्रतिपादयति;—जह णाम इत्यादि । यथा कश्चित्पुरुषः बन्धनके चिरकालबद्धस्तिष्ठति तस्य बन्धस्य तीव्रमन्दस्वभावं जानाति दिवसमासादिकालं च विजानाति इति प्रथमगाथा गता । जानन्नपि यदि बन्धच्छेदं न करोति तदा न मुच्यते तेन कर्मबन्धविशेषेणामुच्यमानः सन् पुरुषो बहुतरकालेऽपि मोक्षं न लभते इति गाथाद्वयेन दृष्टान्तो गतः । अथ इय कम्मबंधणाणं पदेसपयडिट्ठिदीय अणुभागं जाणंतोवि ण मुंचदि एवं ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नकर्मबन्धनानां प्रदेशं प्रकृतिस्थितिं, अनुभागं च जानन्नपि कर्मणा न मुच्यते । मुंचदि सव्वे जदि विसुद्धो यदा मिथ्यात्वरागादिरहितो भवति तदाऽनन्तज्ञानादिगुणात्मकपरमात्मस्वरूपे स्थितः सर्वान्कर्मबन्धान् मुञ्चति । अथवा पाठान्तरं मुंचदि सव्वे जदि स बंधे मुच्यते कर्मणा यदि किं, छिज्जदि छिनत्ति । कान् ? सर्वबन्धान् । अनेन व्याख्यानेन ये प्रकृत्यादिबन्धपरिज्ञानमात्रेण सन्तुष्टास्ते प्रतिबोध्यन्ते । कथं ? इति चेत्, बन्धपरिज्ञानमात्रेण स्वरूपोपलब्धिरूपवीतरागचारित्ररहितानां स्वर्गादिसुखनिमित्तभूतः पुण्यबन्धो भवति न च मोक्ष इति दार्ष्टान्तगाथा गता । एतेन व्याख्यानेन कर्मबन्धप्रपञ्चरचनाविषये चिन्तामात्रपरिज्ञानेन सन्तुष्टा निरा-

---

[नापि छेदं करोति] नहीं काटता है [तेन बन्धनवशः सन्] तो उस वन्धन के वश हुआ ही रहता है उससे छूटता नहीं है ऐसा [स नरः] वह पुरुष [बहुकेनापि] बहुत [कालेन अपि] काल में भी [विमोक्षं न प्राप्नोति] उस बंध से छूटने रूप मोक्ष को प्राप्त नहीं करता [इति] उसी प्रकार जो पुरुष [कर्मबन्धनानां] कर्म के बन्धनों के [प्रदेशस्थितिप्रकृतीं अनुभागं] प्रदेश स्थिति प्रकृति और अनुभाग ये भेद हैं [एवं जानन्नपि] ऐसा जानता है तो भी वह [न मुच्यते] कर्म से नहीं छूटता [यदि शुद्धः] जो स्वयं रागादिक को दूर करके शुद्ध हो [स एव च] वही [मुच्यते] मोक्ष पाता है ।

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। बन्धस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके तदसत्, न कर्मवद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञानमात्रवत्। एतेन कर्मबन्धप्रपंञ्चरचनापरिज्ञानमात्रसंतुष्टा उत्थाप्यन्ते ॥२८८।२८९।२९०॥

जह बंधे चिंतंतो बंधणबद्धो ण पावइ विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवोवि ण पावइ विमोक्खं ॥२९१॥

यथा बन्धान् चिन्तयन् बन्धनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बन्धांश्चिंतयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम् ॥२९१॥

क्रियन्ते ॥ २८८।२८९।२९० ॥ जह बंधे चितंतो बंधणबद्धो ण पावदि विमोक्खं यथा कश्चित्पुरुषो बन्धनबद्धो बन्धं चिन्तयमानो मोक्षं न लभते तह बंधं चितंतो जीवोवि ण पावदि विमोक्खं तथा जीवोऽपि प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशबन्धांश्चिन्तयमानः स्वशुद्धात्मावाप्तिलक्षणं मोक्षं न लभते। किं च समस्तशुभाशुभबहिर्द्रव्यालम्बनरहितचिदानन्दैकशुद्धात्मावलम्बनस्वरूपवीतरागधर्मध्यानशुक्लध्यानरहितो जीवः बन्धप्रपञ्चरचनाचिन्तारूपसरागधर्मध्यानशुभोपयोगेन स्वर्गादिसुखकारणपुण्यबन्धं लभते न च मोक्षमिति भावार्थः ॥२९१॥ अथ कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति प्रश्ने प्रत्युत्तरं ददाति;—जह बंधे मुत्तूण य बन्धणबद्धो य पावदि विमोक्खं तह बंधे मुत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं यथा बन्धनबद्धः कश्चित्पुरुषो रज्जुबन्धं शृङ्खलाबन्धं काष्ठनिगलबन्धं वा कमपि बन्धं छित्त्वा कमपि भित्त्वा कमपि मुक्त्वा स्वकीयविज्ञानपौरुषबलेन मोक्षं प्राप्नोति। तथा जीवोऽपि वीतरागनिर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानयुद्धेन बन्धं छित्त्वा द्विधा कृत्वा, भित्त्वा विदार्य, मुक्त्वा छोटयित्वा च निजशुद्धात्मोप-

---

टीका—आत्मा और बन्ध का पृथक् करना मोक्ष है। वहाँ कोई ऐसा कहते हैं कि बन्ध का स्वरूप जानना ही मोक्ष का कारण है। ऐसा कहना असत्य है, कर्म से बन्ध पुरुष के बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र ही मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि यह जानना ही कर्म से छूटने का हेतु नहीं है। जिस प्रकार बेड़ी आदि से बंधे हुए पुरुष के बेड़ी आदि बन्धन के स्वरूप का जानना ही बेड़ी आदि कटने का कारण नहीं होता उसी तरह कर्म के बन्ध का स्वरूप जानने मात्र से ही कर्मबन्ध से नहीं छूटता। इस कथन से कर्म के बन्ध के विस्तार की रचना के (अनेक प्रकार होने के) जानने मात्र से ही जो कोई अन्यमती आदि मोक्ष मानते हैं वे उसके ज्ञान मात्र में ही सन्तुष्ट हैं उनका खण्डन किया है।

भावार्थ—जो अन्यमती ऐसा मानते हैं कि बन्ध का स्वरूप जानने से मोक्ष है उनके कहने का इस कथन से निराकरण जानना। जानने मात्र से ही बन्ध नहीं कटता, बन्ध तो काटने से ही कटता है ॥२८८।२८९।२९०॥

आगे कहते हैं कि बन्ध की चिन्ता करने से भी बन्ध नहीं कटता;—[**यथा**] जैसे कोई [**बन्धनबद्धः**] बन्धन से बंधा हुआ पुरुष [**बन्धान् चिन्तयन्**] उन बंधों को विचारता हुआ [**विमोक्षं**] मोक्ष को [**न प्राप्नोति**] नहीं पाता [**तथा**] उसी तरह [**बन्धान् चिन्तयन्**] कर्मबन्ध की चिन्ता करता हुआ [**जीवोपि**] जीव भी [**विमोक्षं**] मोक्ष को [**न प्राप्नोति**] नहीं पाता।

बन्धचिन्ताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये तदप्यसत्, न कर्मबद्धस्य बन्धचिन्ताप्रबन्धो मोक्षहेतुरहेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बन्धचिन्ताप्रबन्धवत् । एतेन कर्मबन्धविषयचिन्ताप्रबन्धात्मकविशुद्धधर्मध्यानान्धबुद्धयो बोध्यन्ते ॥२९१॥

कस्तर्हि मोक्षहेतुः ? इति चेत्—

जह बंधे छित्तूण य बंधणबद्धो उ पावइ विमोक्खं ।
तह बंधे छित्तूण य जीवो संपावइ विमोक्खं ॥२९२॥

यथा बन्धांश्छित्वा च बन्धनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम् ।
तथा बन्धांश्छित्वा च जीवः संप्राप्नोति विमोक्षम् ॥२९२॥

कर्मबद्धस्य[1] बन्धच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात् निगडादिबद्धस्य बन्धच्छेदवत् । एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे व्यापार्यन्ते ॥२९२॥

लम्भस्वरूपं मोक्षं प्राप्नोतीति । अत्राह शिष्यः—प्राभृतग्रन्थे यन्निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानं भण्यते तन्न घटते । कस्मात् ? इति चेत् तदुच्यते—सत्तावलोकनरूपं चक्षुरादिदर्शनं यथा जैनमते निर्विकल्पं कथ्यते तथा बौद्धमते

टीका—कोई अन्यमती ऐसा मानते हैं कि बन्ध की चिन्ता का प्रबन्ध मोक्ष का कारण है, यह मानना भी असत्य है । कर्मबन्धन से बंधे हुए पुरुष के उस बन्ध की चिन्ता का प्रबन्ध कि यह बन्ध कैसे छूटेगा वह भी बन्ध के अभावरूप मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि यह चिन्ता का प्रबन्ध बन्ध से छूटने का हेतु नहीं है । जैसे बेड़ी (सांकल) से बंधा हुआ पुरुष उस बन्ध की चिन्ता ही करे, छूटने का उपाय न करे तो वह उस बेड़ी आदि के बन्धन से नहीं छूटता, उसी प्रकार कर्मबन्ध की चिन्ता के प्रबन्ध से मोक्ष नहीं है । इस कथन से कर्मबन्ध में चिन्ताप्रबन्धस्वरूप विशुद्ध धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्धी है उनको समझाया है ।

भावार्थ—कर्मबन्ध की चिन्ता में मोक्ष नहीं होता । धर्मध्यान रूप शुभपरिणाम है । जो केवल शुभपरिणाम से ही मोक्ष मानते हैं, उनको उपदेश है कि शुभपरिणाम से मोक्ष नहीं होता ॥२९१॥

आगे पूछते हैं कि यदि बन्ध के स्वरूप के ज्ञान से भी मोक्ष नहीं होता और उसका सोच करने से भी मोक्ष नहीं होता तो मोक्ष का कारण क्या है ? ऐसा पूछने पर मोक्ष होने का उपाय कहते हैं : [यथा च] जैसे [बन्धनबद्धः] बन्धन से बंधा पुरुष [बन्धान् छित्वा तु] बन्ध को छेदकर [विमोक्षं] मोक्ष को [प्राप्नोति] प्राप्त करता है [तथा च] उसी तरह [बन्धान छित्वा] कर्म के बंधन को छेदकर [जीवः] जीव [विमोक्षं प्राप्नोति] मोक्ष को प्राप्त करता है ।

टीका—कर्म के बन्धन को छेदन करना मोक्ष का कारण है, जिस प्रकार बेड़ी सांकल आदि से बंधे हुए पुरुष के सांकल का बन्ध काटना ही छूटने का कारण है उसी प्रकार इस कथन से पहले कहे गये जो दो प्रकार के पुरुष 'एक तो बन्ध का स्वरूप जानने वाला और एक बन्ध की चिन्ता करने वाला' उन दोनों को आत्मा और बन्ध के पृथक्-पृथक् करने में प्रेरणा कराई गई है ॥२९२॥

---

१. 'बन्धस्य' इति पाठो हस्तलिखितत्रिष्वपि प्रतिषु ।

किमयमेव मोक्षहेतुः ? इतिचेत्-

बंधाणं च सहावं वियाणिओ अप्पणो सहावं च ।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्मविमोक्खणं कुणइ ॥२९३॥

बन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च ।
बन्धेषु यो विरज्यते स कर्मविमोक्षणं करोति ॥२९३॥

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय बन्धेभ्यो विरमति स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात् । एतेनात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते ॥२९३॥

केनात्मबन्धौ द्विधा क्रियेते ? इतिचेत्-

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
पण्णाछेदणएण उ छिण्णा णाणत्तमावण्णा ॥२९४॥

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।
प्रज्ञाछेदकेन तु छिन्नौ नानात्वमापन्नौ ॥२९४॥

ज्ञानं निर्विकल्पं भण्यते परन्तु तन्निर्विकल्पमपि विकल्पजनकं भवति । जैनमते तु विकल्पस्योत्पादकं भवत्येवं न किन्तु स्वरूपेणैव सविकल्पमिति तथैव स्वपरप्रकाशकं चेति । तत्र परिहारः—कथंचित्सविकल्पमपि च

कर्म बंधन का ही छेदना मोक्ष का कारण कहा गया, क्या, यही मोक्ष का कारण है ? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[बन्धानां च स्वभावं] बन्धों का स्वभाव [च] और [आत्मनः स्वभावं] आत्मा का स्वभाव [विज्ञाय] जानकर [यः] जो पुरुष [बन्धेषु] बन्धों से [विरज्यते] विरक्त होता है [सः] वह पुरुष [कर्मविमोक्षणं करोति] कर्मों से मुक्त होता है ।

टीका—जो पुरुष निश्चय से निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा का स्वभाव और उस आत्मा के विकार को करने वाले बन्धों के स्वभाव इन दोनों के भेदों को जानकार उन बन्धों से विरक्त होता है वही पुरुष समस्त कर्मों से मुक्त होता है । इस कथन से आत्मा और बन्ध के पृथक् पृथक् करने को मोक्ष के कारण का नियम बतलाया है । दोनों का पृथक् पृथक् करना ही मोक्ष का कारण है ऐसा नियम से कहा गया है ॥२९३॥

आगे फिर पूछते हैं कि आत्मा और बन्ध ये दोनों किस प्रकार पृथक् करने ? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[जीवः च बन्धः] जीव और बन्ध ये दोनों [नियताभ्यां] निश्चित [स्वलक्षणाभ्यां] अपने अपने लक्षणों से [प्रज्ञाछेदकेन] बुद्धिरूपी छैनी से [तथा] इस तरह [छिद्येते] छेदने चाहिए [तु] कि जिस तरह [छिन्नौ] छेदे हुए [नानात्वं] नानापन को [आपन्नौ] प्राप्त हो जायं ।

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये, कर्तुरात्मनः करणमीमांसायां निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणासंभवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणं। तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमापद्येते[1] ततः प्रज्ञयैवात्मबन्धयोर्द्विधाकरणम्। ननु कथमात्मबन्धौ चेत्यचेतकभावेनात्यन्तप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेकचेतकवद्व्यवह्रियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते? नियतस्वलक्षणसूक्ष्मान्तःसन्धिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि। आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणं तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयं तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्, समस्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्। बन्धस्य तु

कथंचिन्निर्विकल्पं च। तद्यथा—यथा विषयानन्दरूपं सरागस्वसंवेदनज्ञानं सरागसंवित्तिविकल्परूपेण सविकल्पमपि शेषानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। तथापि स्वशुद्धात्मसंवित्तिरूपं वीतरागस्वसंवेदनज्ञानमपि स्वसंवित्त्याकारैकविकल्पेन सविकल्पमपि वहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पानां सद्भावेऽपि सति तेषां मुख्यत्वं नास्ति तेन कारणेन निर्विकल्पमपि भण्यते। यत एवेहापूर्वस्वसंवित्त्याकारान्तर्मुख्यप्रतिभासेऽपि वहिर्विषयानीहितसूक्ष्मविकल्पा अपि सन्ति तत एव कारणात् स्वपरप्रकाशकं च सिद्धमिदं निर्विकल्पसविकल्पस्य तथैव स्वपरप्रकाशकस्य च ज्ञानस्य च व्याख्यानं यथागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति स चाध्यात्मशास्त्रत्वान्न कृतः। एवं मोक्षपदार्थसंक्षेपसूचनार्थं प्रथमस्थले गाथासप्तकं गतम् ॥ २९२ ॥ अथ किमयमेव मोक्षमार्ग? इति चेत्;—**बंधाणं च सहावं वियाणिदुं** भावबन्धानां मिथ्यात्वरागादीनां स्वभावं ज्ञात्वा, कथं ज्ञात्वा? मिथ्यात्वस्वभावो हेयोपादेयतत्त्वविषये विपरीताभिनिवेशो भण्यते रागादीनां च स्वभावः पञ्चेन्द्रियविषयेष्विष्टानिष्टपरिणाम इति। न केवलं बन्धस्वभावं ज्ञात्वा **अप्पणो सहावं च** अनन्तज्ञानादिस्वरूपं शुद्धात्मनः स्वभावं च ज्ञात्वा **बंधेसु जो ण रज्जदि** द्रव्यबन्धहेतुभूतेषुमिथ्यात्वरागादिभावबन्धेषु निर्विकल्पसमाधिबलेन यो न रज्यते **सो कम्मविमोक्खणं कुणदि** स कर्मविमोक्षणं करोति ॥ २९३ ॥ अथ केन कृत्वात्मबन्धो द्विधा भवति? इति चेत्;—**जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं** यथा जीवस्तथा बन्धश्चैतौ द्वौ छिद्येते पृथक् क्रियते। काभ्यां कृत्वा? स्वलक्षणरूपाभ्यां निजकाभ्यां **पण्णाछेदणएण दु छिण्णा णाणत्तमावण्णा** प्रज्ञाछेदनैकलक्षणेन

टीका—आत्मा और बन्ध का भिन्न भिन्न करना रूप जो रूप जो कार्य उसमें करने वाला करता आत्मा है। यदि उसके कारण का विचार किया जाय, तो निश्चयनय से आत्मा से पृथक् करण तो असंभव है; इसलिये भगवती प्रज्ञा (ज्ञानस्वरूप बुद्धि) ही छेदनस्वरूप करण है। उस प्रज्ञा से ही वे दोनों—आत्मा और बन्ध छेदे हुए नानापने को अवश्य प्राप्त होते हैं, अर्थात् पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। इसलिये प्रज्ञा से ही आत्मा और बन्ध का पृथक्-पृथक् करना है। यहां प्रश्न है कि आत्मा और बन्ध ये दोनों तो चेत्यचेतक भाव से अत्यन्त निकटता के कारण एकसरीखे हो रहे हैं। आत्मा तो चेतक है और बन्ध चेत्य है सो दोनों एकरूप हुए अनुभव में आते हैं। प्रश्न—भेदविज्ञान के अभाव से एक चेतकरूप ही जो व्यवहार में प्रवर्तते देखे जाते हैं वे प्रज्ञा से कैसे छेदे जा सकते हैं?

---

१. अवश्यमेवापद्येते इति पाठो मुद्रितप्रतिषु।

आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणम् । न च रागादय आत्मद्रव्यसाधारणतां[1] बिभ्राणाः प्रतिभासन्ते नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात् । न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति तावन्त एव रागादयः प्रतिभान्ति । रागादीनन्तरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसंभावनात् । यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतकभावप्रत्यासत्तेरेव नैकद्रव्यत्वात्, चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव चेतकतामेव प्रथयेन्न पुना रागादितां, एवमपि तयोरत्यन्तप्रत्यासत्त्या भेदसंभावनाभावादनादिरस्त्येकत्वव्यामोहः स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव ।।२९४।।

भेदज्ञानेन छिन्नौ सन्तौ नानात्वमापन्नौ इति । तथाहि—जीवस्य लक्षणं शुद्धचैतन्यं भण्यते, बन्धस्य लक्षणं मिथ्यात्वरागादिकं, ताभ्यां पृथक् कृतौ । केन ? करणभूतेन प्रज्ञाछेदनकेन, शुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानरूपा

आचार्य उसका समाधान करते हैं—हम ऐसा जानते हैं कि आत्मा और बन्ध के निश्चित स्वलक्षण की सूक्ष्म जो अन्तरङ्ग की सन्धि है, उसमें इस प्रज्ञा छैनी को सावधान होके पटकने से दोनों आत्मा और बन्ध पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। वहां आत्मा का जो निजलक्षण निश्चय से समस्त अन्यद्रव्यों से असाधारण—जो अन्य में न पाया जाय ऐसा चैतन्यस्वलक्षण है । यह चैतन्यस्वलक्षण प्रवर्तता हुआ जिस जिस पर्याय को व्याप्त कर प्रवर्तता है तथा निवर्तता हुआ जिस जिस पर्याय को ग्रहण कर निवृत्त होता है वह वह समस्त सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायों का समूह ही आत्मा है ऐसा देखने योग्य है। यह लक्षण समस्त गुणपर्यायों में व्यापक है इस कारण सभी गुणपर्यायों का समुदाय आत्मा है । ऐसा इस लक्षण से जानना, क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षण से लक्ष्य है। तथा चैतन्य के समस्त सहवर्ती व क्रमवर्ती जो अनन्त पर्याय हैं उसी का अविनाभावी सम्बन्ध है इसलिये आत्मा चिन्मात्र ही है ऐसा निश्चय करना। इस प्रकार दूसरा व्याख्यान है। और बन्ध का स्वलक्षण आत्मद्रव्य से असाधारण रागादिक है, क्योंकि ये रागादिक आत्मद्रव्य से साधारणपन को धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, वे सदा ही चैतन्य चमत्कार से भिन्न प्रतिभासित होते हैं। जितना अपने समस्त पर्यायों में व्यापने स्वरूप चैतन्य प्रतिभासित होता है, उतने रागादिक प्रतिभासित नहीं होते । रागादिक के विना भी चैतन्य के आत्मलाभ (स्वरूप पाना) की संभावना है । जो रागादिक का चैतन्य के साथ ही उत्पन्न होना दीखता है वह इस ज्ञेयज्ञायक भाव के अति निकट होने से दीखता है, एक द्रव्यपने से नहीं है। वहां ज्ञेयरूप ज्ञान में आते हुए जो रागादिक हैं, वे आत्मा के ज्ञायकपने को ही विस्तारते हैं, रागादिकपने को नहीं विस्तारते, जैसे दीपक के घटादिक प्रकाशने योग्य होते प्रदीपकपने को ही विस्तारते हैं, घटादिकपन को नहीं विस्तारते, उस तरह जानना। ऐसा होने पर भी आत्मा और बन्ध दोनों के अत्यन्त निकटपने से भेद की संभावना का अभाव है अर्थात् भेद नहीं दीखता। इसलिये इस अज्ञानी के अनादिकाल से एकत्व का भ्रम है। ऐसा भ्रम प्रज्ञा से ही छेदा जाता है।

भावार्थ—आत्मा और बन्ध दोनों को लक्षणभेद से पहचान कर बुद्धिरूपी छैनी से छेद

---

१. 'असाधारणतां' केषुचित् प्रतिषु पाठः ।

प्रज्ञा छेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य ।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ॥१८१॥

प्रज्ञैव छेत्र्येव छुरिका तया एवेत्यर्थः । छिन्नौ सन्तौ नानात्वमापन्नौ ॥ २९४ ॥ आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे किं साध्यं ? इति चेत्—जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं जीवबन्धौ द्वौ पूर्वोक्ताभ्यां स्वलक्षणाभ्यां निजकाभ्यां छिद्येते पूर्ववत् । ततश्छेदानन्तरं किं साध्यं ? बंधो छेदेदव्वो विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानछुरिकया मिथ्यात्वरागादिरूपो बन्धश्छेत्तव्यः शुद्धात्मनः सकाशात्पृथक्कर्तव्यः । सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो वीतरागसहजपरमानन्दलक्षणः सुखसमरसीभावेन शुद्धात्मा च गृहीतव्य इत्यभिप्रायः ॥ २९५ ॥ इदमेवात्मबन्धयोर्द्विधाकरणे प्रयोजनं यद्बन्धपरिहारेण शुद्धात्मोपादान-

---

पृथक्-पृथक् करना, क्योंकि आत्मा तो अमूर्तीक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओं का स्कन्ध है इसलिये ये दोनों पृथक् छद्मस्थ के ज्ञान में नहीं आते। एक स्कन्ध दीखता है, इसलिये अनादि अज्ञान है। सो श्रीगुरुओं का उपदेश पाकर इन दोनों का लक्षण न्यारा-न्यारा ही अनुभव कर जानना कि, चैतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है और रागादिक बन्ध का लक्षण है। ये दोनों भी ज्ञेयज्ञायकभाव की अतिनिकटता से एकसे हो रहे दीखते हैं, सो तीक्ष्णबुद्धिरूपी छैनी इनके भेद (पृथक्-पृथक्) करने का जो शस्त्र है उसको इनकी सूक्ष्म सन्धि को देख सावधान (निष्प्रमाद) होके पटकना। उसके पड़ते ही दोनों अलग-अलग दीखने लगते हैं। तब आत्मा को ज्ञानभाव में ही रखना और बन्ध को अज्ञानभाव में रखना। इस तरह दोनों को भिन्न करना ॥२९४॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—प्रज्ञा इत्यादि। अर्थ—आत्मा और बन्ध के पृथक् करने को यह प्रज्ञा तीक्ष्ण छैनी है। जो चतुरपुरुष हैं वे सावधान (प्रमादरहित) हुए, आत्मा और कर्म इन दोनों का सूक्ष्म मध्य संधि, उसमें किसी प्रकार यत्न से उस छैनी को ऐसा पटकते हैं कि वहां पड़ी हुई यह छैनी शीघ्र ही सब तरह से भिन्न कर देती है। वह आत्मा को तो अन्तरङ्ग में स्थिर और स्पष्ट प्रकाशरूप देदीप्यमान तेज वाले चैतन्य के प्रवाह में मग्न करती है तथा बन्ध को अज्ञानभाव में नियम से निश्चल कर देती है। अर्थात् आत्मा और बन्ध को भिन्न कर देती है।

भावार्थ—यहां पर आत्मा और बन्ध का भिन्न-भिन्न करनारूप कार्य है उसका कर्ता आत्मा है। उसमें भी कारण के बिना कर्ता किससे कार्य करे ? इसलिये करण भी चाहिये। निश्चयनय से तो कर्ता से पृथक् करण होता नहीं है। इसलिये आत्मा से अभिन्न यह बुद्धि ही इस कार्य में करण है। आत्मा के अनादि बन्ध ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनका कार्य भावबन्ध तो रागादिक हैं और नोकर्म शरीरादिक हैं। सो बुद्धिकर आत्मा को शरीर से, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न एक चैतन्य भावमात्र अनुभव से ज्ञान में ही लीन रखना, भिन्न करना है। इसी से सब कर्मों का नाश हो जाने से सिद्धपद को प्राप्त हो जाता है ऐसा जानना ॥१८१॥

आत्मबन्धौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यं ? इति चेत्—

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं ।
बंधो छेएदव्वो सुद्धो अप्पा य घेत्तव्वो ॥२९५॥

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम् ।
बन्धश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः ॥२९५॥

आत्मबन्धौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ, ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बन्धो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः ॥२९५॥
एतदेव किलात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बन्धत्यागेन शुद्धात्मोपादानम्—

कह सो घिप्पइ अप्पा पण्णाए सो उ घिप्पए अप्पा ।
जह पण्णाइ विहत्तो तह पण्णाएव घित्तव्वो ॥२९६॥

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा ।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥२९६॥

मित्युपदिशति;—कह सो घिप्पदि अप्पा कथं स गृह्यते आत्मा 'दृष्टिविषयो भवत्यमूर्तत्वात्,' इति प्रश्नः ? पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा प्रज्ञया भेदज्ञानेन गृह्यते, इत्युत्तरम् । कथं ? इति चेत् जह पण्णाए विभत्तो यथा

आगे फिर पूछते हैं कि आत्मा और बन्ध को द्विधा करके क्या करना ? ऐसा पूछने पर उत्तर कहते हैं;—[जीवः] जीव [च] और [बन्धः] बन्ध इन दोनों को [नियताभ्यां] निश्चित [स्वलक्षणाभ्यां] अपने-अपने लक्षणों से [तथा] इस तरह [छिद्येते] भिन्न करना कि [बन्धः छेत्तव्यः] बन्ध तो छिदकर भिन्न हो जाय [च] और [आत्मा ग्रहीतव्यः] आत्मा ग्रहण किया जाय ।

टीका—आत्मा और बन्ध इन दोनों को पहले तो अपने-अपने निश्चित लक्षण के ज्ञान से सब तरह ही भिन्न करना, पीछे रागादिक लक्षण वाले सभी बन्ध को तो छोड़ना तथा उपयोग लक्षण वाले अकेले शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना । यही निश्चय से आत्मा और बन्ध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बन्ध का त्याग कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना ।

भावार्थ—शिष्य ने पूछा था कि आत्मा और बन्ध को द्विधाकर के क्या करना ? उसका उत्तर यह दिया कि बन्ध का तो त्याग करना और शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना ॥२९५॥

आगे पूछते हैं कि आत्मा और बन्ध को प्रज्ञा से तो भिन्न किया परन्तु आत्मा को ग्रहण किससे किया जाय ? उसके प्रश्नोत्तर की गाथा कहते हैं;—शिष्य पूछता है कि [स आत्मा] वह शुद्धात्मा [कथं] कैसे [गृह्यते] ग्रहण किया जा सकता है ? आचार्य उत्तर कहते हैं कि [स तु] यह

ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥२९६॥

कथमयमात्म प्रज्ञया गृहीतव्यः ? इति चेत्;—

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९७॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहम् ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायान्तोऽत्यन्तं मत्तो भिन्नाः । ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त

पूर्वसूत्रे प्रज्ञया विभक्तः रागादिभ्यः पृथक्कृतः तह पण्णाएव घितव्वो तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः । ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोयमात्मा गृहीतव्यः शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतोऽपि विभजत इव प्रज्ञैककरणत्वात् । अतो यथा प्रज्ञया प्रविभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः ॥२९६॥ कथमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य

शुद्धात्मा [प्रज्ञया] प्रज्ञा से ही [गृह्यते] ग्रहण किया जाता है। [तथा] जिस तरह पहले [प्रज्ञया] प्रज्ञा से [विभक्तः] भिन्न किया था [तथा] उसी तरह [प्रज्ञयैव] प्रज्ञा से ही [गृहीतव्यः] ग्रहण करना।

टीका—शिष्य का प्रश्न है कि यह शुद्ध आत्मा किस तरह ग्रहण करना ? उसका गुरु उत्तर देते हैं कि शुद्धात्मा प्रज्ञा से ही ग्रहण करना, आप स्वयं शुद्ध आत्मा को ग्रहण करता जो शुद्ध आत्मा उसके पहले जैसे भिन्न कर्ता के प्रज्ञा ही एक करण था उसी प्रकार ग्रहण कर्ता के भी वही प्रज्ञा एक करण है भिन्न करण नहीं है। इसलिये जैसे पहले प्रज्ञा से भिन्न किया था वैसे प्रज्ञा से ही ग्रहण करना।

भावार्थ—भिन्न करने में और ग्रहण करने में पृथक् कारण नहीं है इसलिये प्रज्ञा से ही तो भिन्न किया और प्रज्ञा से ही ग्रहण करना चाहिये ॥२९६॥

आगे फिर पूछते हैं कि आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा किस तरह ग्रहण करना चाहिए ? उसका उत्तर कहते हैं;—[यः चेतयिता] जो चेतन स्वरूप आत्मा है [निश्चयतः] निश्चय से [सः तु] वह [अहं] मैं हूं इस तरह [प्रज्ञया] प्रज्ञा द्वारा [गृहीतव्यः] ग्रहण करने योग्य है [अवशेषाः] और अवशेष [ये भावाः] जो भाव हैं [ते] वे [मम परा] मुझ से पर हैं [इति ज्ञातव्याः] इस प्रकार जानना चाहिये।

टीका—निश्चय से जो निश्चित निजलक्षण को अवलंबन करने वाली प्रज्ञा है उसके द्वारा चैतन्य स्वरूप आत्मा को भिन्न किया था, कि वही यह मैं हूं और जो ये अवशेष अन्य अपने लक्षण

एव मय्येव मामेव गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये । अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये । किन्तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि ।।२९७।।

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते ।
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम् ।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि ।
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ।।१८२।।

इति चेत्;—प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोहं तु निश्चयतः अवशेषा ये भावास्ते मम परे इति ज्ञातव्याः । यो हि निश्चयतः स्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता सोऽयमहं, ये त्वमी अवशिष्टा अन्ये स्वलक्षण-

---

से पहचानने योग्य व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी आत्मा का व्यापक जो चेतकपन उसके व्याप्यपने में नहीं आते । वे मुझसे अत्यंत भिन्न हैं । इसलिये मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने ही लिये, अपने से ही, अपने में ही; अपने को ही ग्रहण करता हूँ । जो मैं निश्चयतः ग्रहण करता वह आत्मा की चेतना ही एक क्रिया है । उस क्रिया से चेतता ही हूँ, चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिये ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते हुए में चेतता हूँ, चेतते हुए को ही चेतता हूँ । अथवा न तो चेतता हूँ, न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिये चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ । तो कैसा हूँ ? सर्व विशुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ ।

भावार्थ—जिस प्रज्ञा द्वारा आत्मा को बन्ध से भिन्न किया था उसी से यह चैतन्यस्वरूप आत्मा मैं हूँ, अन्य अवशेष भाव मुझसे भिन्न हैं; यहां अभिन्न छह कारकों से मैं, मुझको, मुझकर, मेरे लिये, मुझ से अपने में ग्रहण करता हूँ । वह ग्रहण करना चेतन की चित्स्वरूप क्रिया ही है । उससे चेतता हूँ—जानता हूँ, अनुभवता हूँ इस तरह लगाना । फिर इन कारकों के भेद का भी निषेध किया । कि मैं शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ, सो एक अभेद हूँ, द्रव्यदृष्टि से कर्ता कर्म आदि षट्कारक का भी भेद मुझ में नहीं है । इस तरह बुद्धि के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना ।।२९७।।

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं;—भित्त्वा इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी कहता है कि जो भेदने को समर्थ है उस सब को निजलक्षण के बल से भेदकर चैतन्यचिन्हचिन्हित, विभागरहित महिमावाला मैं शुद्ध चैतन्य ही हूँ । यदि कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण ये छह कारक और सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदिक धर्म व ज्ञान, दर्शन आदिक गुण ये भेदरूप हों तो हों परन्तु विशुद्ध समस्त विभावों से रहित एक तथा सब गुणपर्यायों में व्यापक ऐसे चैतन्य भाव में तो कुछ भेद नहीं है ।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयओ ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णायव्वा ॥२९८॥
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परेत्ति णादव्वा ॥२९९॥ (युग्मम्)

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९८॥
प्रज्ञया गृहीतव्यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः ।
अवशेषा ये भावास्ते मम परा इति ज्ञातव्याः ॥२९९॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव । ततोऽहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव, पश्यन्नेव

लक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावस्ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमनायान्तोऽत्यन्तं मत्तो भिन्नास्ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि, यत् किल गृह्णामि तच्चेतनैकक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव, चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमान एव चेतये, चेतनमानमेव चेतये । अथवा न चेतये, न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये, किं तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि । 'भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणवलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहं' । भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति ॥२९७॥ प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः, अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः । प्रज्ञया

भावार्थ—इस चैतन्यभाव से अन्य, अपने स्वलक्षण से भेदे गये, कारकभेद, धर्मभेद और गुणभेद हैं तो रहें, शुद्ध चैतन्यमात्र में कुछ भी भेद नहीं हैं। शुद्धनय से आत्मा को ऐसा अभेदरूप ग्रहण करना ॥१८२॥

आगे कहते हैं कि शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया, परन्तु सामान्य चेतना दर्शन ज्ञान सामान्यमय हैं इसलिये अनुभव में दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा का ऐसा अनुभव करना;—**[प्रज्ञया गृहीतव्यः]** प्रज्ञा से इस प्रकार ग्रहण करना कि **[यो द्रष्टा]** जो देखने वाला है **[स तु]** वह तो **[निश्चयतः]** निश्चय से **[अहं]** मैं हूं **[अवशेषा ये भावाः]** अवशेष जो भाव हैं **[ते मम पराः]** वे मुझ से पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना, तथा **[प्रज्ञया गृहीतव्यः]** प्रज्ञा से ही ग्रहण करना कि **[यो ज्ञाता]** जो जानने वाला है **[स तु]** वह तो **[निश्चयतः]** निश्चय से **[अहं]** मैं हूं **[अवशेषा ये भावाः]** अवशेष जो भाव हैं **[ते]** वे **[मम पराः]** मुझ से पर हैं **[इति ज्ञातव्याः]** ऐसा जानना ।

टीका—चेतना में दर्शन ज्ञान के भेद का उल्लङ्घन नहीं है। इस कारण चेतकत्व की तरह दर्शकपना व ज्ञातापना आत्मा का निज लक्षण ही है। इसलिये ऐसा अनुभव करना कि मैं देखने वाला आत्मा को ग्रहण करता हूँ, जो निश्चय से ग्रहण करता हूँ सो देखता ही हूँ, देखता

पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यन्तमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यन्तं पश्यामि । किन्तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि । अपि च—ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानन्तमेव जानामि । अथवा—न जानामि, न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि न जानन्तं जानामि । किन्तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ?

गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयः, अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमेव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव । ततोऽहं द्रष्टारमात्मनं गृह्णामि । यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यन्तमेव पश्यामि । अथवा—न पश्यामि, न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, पश्यते पश्यामि,न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यन्तं पश्यामि । किं तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि । अपि च ज्ञातारमात्मानं गृह्णामि यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव, जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानन्तमेव जानामि । अथवा न जानामि, न जानन् जानामि, न जानतैव जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानन्तं जानामि । किं तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि । ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ? उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वाद् द्वैरूप्यं नातिक्रामति । ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति । यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रान्तत्वाच्चेतनैव न भवति । तदभावे द्वौ दोषौ स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतहनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा । ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगन्तव्या ।

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत् तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्सास्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जड़ता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापकादात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ॥

निश्चयतः अवशेषा ये रागादिभावा विभावपरिणामास्ते चिदानन्दैकभावस्य ममापेक्षया परा इति

हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिए ही देखता हूँ, देखते हुए से ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ और देखते हुए को ही देखता हूँ । अथवा नहीं देखता, न देखते हुए को देखता हूँ, न देखतेकर देखता हूँ न देखते के लिये देखता हूँ, न देखते से देखता हूँ, न देखते में देखता हूँ, न देखते को देखता हूँ । तो कैसा हूँ ? सर्व विशुद्ध एक दर्शनमात्र भाव मैं हूँ । इस प्रकार तो दर्शन पर कर्ता कर्म करण संप्रदान अपादान अधिकरण लगा कर फिर उनका निषेध करके एक दर्शनमात्र भाव स्वरूप आत्मा को अनुभव रूप करना । तथा

उच्यते—चेतना तावत्प्रतिभासरूपा सा तु सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात् द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने, ततः सा ते नातिक्रामति। यद्यतिक्रामति ? सामान्यविशेषातिक्रान्तत्वाच्चेतनैव न भवति। तदभावे द्वौ दोषौ—स्वगुणोच्छेदाच्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा। ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाऽभ्युपगन्तव्या ॥२९८।२९९॥

ज्ञातव्या। अत्राह शिष्यः—चेतनाया ज्ञानदर्शनभेदो न स्तः, एकैव चेतना ततो ज्ञाता द्रष्टेति द्विधात्मा कथं घटते इति ? अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—सामान्यग्राहकं दर्शनं, विशेषग्राहकं ज्ञानं। सामान्यविशेषात्मकं च वस्तु। सामान्यविशेषात्मकत्वाभावे चेतनाया अभावः स्यात्। चेतनाया अभावे सति आत्मनो जडत्वं, चेतनालक्षणस्य विशेषगुणस्याभावे सत्यभावो वा भवति। नचात्मनो जडत्वं दृश्यते, नचाभावः ? प्रत्यक्षविरोधात् ततः स्थितं यद्यप्यभेदनयेनैकरूपा चेतना तथापि सामान्यविशेषविषयभेदेन दर्शनज्ञानरूपा भवतीत्यभिप्रायः।२९८।२९९। अथ

उसी तरह ज्ञान पर भी लगाना। मैं जानने वाली आत्मा को ग्रहण करता हूँ, जो ग्रहण करता हूँ सो निश्चय से जानता ही हूँ; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ; जानते हुए के लिये ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ; जानते हुए में ही जानता हूं, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा नहीं जानता, न जानते हुए को जानता हूँ; न जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते के लिये जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते में जानता हूँ, न जानते को जानता हूँ। तो कैसा हूँ ? सर्वविशुद्ध एक जाननक्रियामात्र भाव मैं हूँ। इस तरह ज्ञान पर छह कारक भेदरूप लगा के फिर अभेदरूप करने को कारक भेद का निषेध कर ज्ञानमात्र अपना अनुभव करना।

भावार्थ—पहले तो सामान्य चेतना का अनुभव कराया। पहले आत्मा को ज्ञान द्वारा ग्रहण करना कहा था सो चेतना का अनुभव करना ही ग्रहण करना है कुछ अन्य वस्तु का ग्रहण करना नहीं है। तथा अनुभव करना, अनुभव करने वाला, जिससे अनुभव किया जाय इत्यादि छह कारक भेदरूप कहकर अभेद विवक्षा में कारक भेद का निषेध करके एक शुद्ध चेतना मात्र ही कहा था। अब यहां चेतना सामान्य है, वह दर्शन ज्ञान विशेष को उल्लङ्घन नहीं करता, इसलिये द्रष्टा और ज्ञाता का अनुभव कराया। वहां भी छहकारकरूप भेद अनुभव कर पीछे अभेद अनुभव अपेक्षा कारक भेद दूर कर द्रष्टा ज्ञातामात्र का अनुभव कराया है। यहां शिष्य पूछता है कि चेतना दर्शन ज्ञान भेद को कैसे उल्लंघन नहीं करती कि जिससे आत्मा द्रष्टा ज्ञाता हो जाता है। उसका उत्तर कहते हैं—प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है, ऐसी चेतना दोरूपपने को उल्लङ्घन नहीं करती क्योंकि सभी वस्तु का सामान्यविशेषरूप स्वरूप है। सो चेतना भी वस्तु है, वह सामान्य विशेपरूप को कैसे उल्लंघन करे। उसके दो रूप हैं वे दर्शन, ज्ञान हैं। इसलिये वह चेतना दर्शन ज्ञान इन दोनों को उल्लंघन नहीं करती। यदि इन दो स्वरूपों को लांघे तो सामान्य विशेषरूप के उल्लंघनेपने से चेतना ही नहीं होती। उस चेतना के अभाव से दो दोष आते हैं—एक तो अपने गुण का उच्छेद होने से चेतन के अचेतनपन की प्राप्ति आती है और दूसरे, व्यापक चेतन का अभाव होने से व्याप्य जो चेतन आत्मा उसका अभाव होता है। इस कारण इन दोषों के भय से चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप ही अङ्गीकार करनी ॥२९८।२९९॥

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद्दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्ति चित् ।।१८३।।
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम् ।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ।।१८४।।

शुद्धबुद्धैकस्वभावस्य परमात्मनः शुद्धचिद्रूप एक एव भावः न च रागादय इत्याख्याति;-को णाम भणिज्ज बुहो को ब्रूयाद् बुधो ज्ञानी विवेकी नाम स्फुटमहो वा न कोऽपि । किं ब्रूयात् । मज्झमिणंविय वयणं ममेति वचनं किं कृत्वा ? पूर्वं णादु' निर्मलात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानेन ज्ञात्वा । कान् ? सव्वे परोदये भावे सर्वान् मिथ्या-रागादिभावान् विभावपरिणामान् । कथंभूतान् ? परोदयान् शुद्धात्मन सकाशात् परेण कर्मोदयेन जनितान् । किं कुर्वन् सन् ? जाणंतो अप्पयं सुद्धं जानन् परमसमरसीभावेनानुभवन्, कं ? आत्मानं । कथंभूतं ? शुद्धं, भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितं । केन कृत्वा जानन् ? शुद्धात्मभावनापरिणताभेदरत्नत्रयलक्षणेन भेदज्ञानेनेति । एवं विशेषभेदभावनाव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रपञ्चकं गतम् ।।३००।। अथ मिथ्यात्वरागादिपरभा-वस्वीकारेण बध्यते वीतरागपरमचैतन्यलक्षणस्वस्वभावस्वीकारेण मुच्यते जीव इति प्रकाशयति—तेयादी

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—अद्वैता इत्यादि । अर्थ—जगत् में निश्चय से चेतना अद्वैत है, तो भी जो दर्शन ज्ञानरूप को छोड़े तो सामान्य विशेषरूप के अभाव से वह चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ दे, और जब चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ दे तो चेतन के जड़-पना हो जाय । तथा व्याप्य आत्मा व्यापक चेतना के बिना अन्त को प्राप्त हो जाय अर्थात् आत्मा का नाश हो जाय । इसलिए चेतना नियम से दर्शनज्ञानस्वरूप ही है ।

भावार्थ—वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषरूप है । चेतना भी वस्तु है वह दर्शन ज्ञान विशेष को यदि छोड़ दे तो वस्तुपने का नाश हो जाय तब चेतना का अभाव होने से चेतन के जड़पना आ जायेगा । चेतना आत्मा की सब अवस्थाओं में पाई जाती है, इसलिए व्यापक है । आत्मा चेतन ही है इस कारण चेतना का व्याप्य है सो व्यापक के अभाव से व्याप्य जो चेतन आत्मा उसका अभाव होता है । इसलिये चेतना दर्शनज्ञानस्वरूप ही माननी चाहिए । यहाँ पर तात्पर्य ऐसा है कि सांख्यमती आदि कई मतवाले सामान्य चेतना को ही मानकर एकांत करते हैं, उनके निषेध करने को 'वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषरूप है सो चेतना को भी सामान्यविशेषरूप-अङ्गीकार करना' ऐसा बतलाया है ।।१८३।।

आगे कहते हैं कि चेतना का तो चिन्मय ही एकभाव है अन्य परभाव हैं सो चिन्मयभाव तो उपादेय है और परभाव हेय हैं यह सूचना आगे के कथन की है उसका श्लोक कहते हैं—एक इत्यादि । अर्थ—चैतन्य का तो एक चिन्मय ही भाव है । दूसरे भाव हैं वे प्रगट रीतिसे परके भाव हैं । इसलिए एक चिन्मयभाव ही ग्रहण करने योग्य है और जो परभाव हैं वे सभी त्यागने योग्य हैं ।।१८४।।

को णाम भणिज्ज बुहो णाउं सव्वे [1]पराइए भावे ।
मज्झमिणंति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं ॥३००॥
को नाम भणेद् बुधो ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान् ।
ममेदमिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम् ॥३००॥

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात् स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति शेषांश्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति । एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसंबन्धस्यासंभवात् । अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः शेषाःसर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धान्तः ॥३००॥

सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां
शुद्धं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावा पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहंनास्ति यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

अवराहे कुव्वदि सो ससंकिदो होदि यः स्तेयपरदाराद्यपराधान् करोति स पुरुषः सशङ्कितो भवति । केन

अब इस उपदेश की गाथा कहते हैं;—[सर्वान् परकीयान् भावान्] ज्ञानी अपने स्वरूप को जान और सभी परके भावों को [ज्ञात्वा] जानकर [इदं मम] ये मेरे हैं [इति च वचनं] ऐसा वचन [कः नाम बुधः] कौन बुद्धिमान् [भणेत्] कहेगा ? ज्ञानी पण्डित तो नहीं कह सकता । कैसा है ज्ञानी ? [आत्मानं] अपने आत्मा को [शुद्धं जानन्] शुद्ध जानने वाला है ।

टीका—जो पुरुष आत्मा और परके निश्चित स्वलक्षण के विभाग में पड़ने वाली प्रज्ञा से ज्ञानी होता है, वह पुरुष निश्चयतः एक चैतन्यमात्र अपने भाव को तो अपना जानता है और बाकी के सभी भावों को परके जानता है । ऐसा जानता हुआ परके भावों को 'ये मेरे हैं' ऐसे किस तरह कह सकता है ? ज्ञानी तो नहीं कहता क्योंकि पर और आप में निश्चयसे स्वस्वामिपने के सम्बन्ध का असम्भव है । इसलिये सर्वथा चिद्भाव ही एक ग्रहण करने योग्य है अवशेष सभी भाव त्यागने योग्य हैं ऐसा सिद्धान्त है ।

भावार्थ—लोक में भी यह न्याय है, कि जो सुबुद्धि और न्यायवान् है, वह परके धनादिक को अपना नहीं कहता, उसी तरह सम्यग्ज्ञानी भी समस्त परद्रव्य को अपना नहीं बनाता, अपने निज भाव को ही अपने जान ग्रहण करता है ॥३००॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—सिद्धान्तो इत्यादि । **अर्थ**—जिनके चित्त का चरित्र उज्ज्वल (उत्कट) है, ऐसे मोक्ष के इच्छुक पुरुष हैं वे इस सिद्धान्त का सेवन करो 'जो मैं तो

---

१. 'परोदये', भावे पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ ।

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान् ।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये संवृतो मुनिः ॥१८६॥

थेयाई अवराहे कुव्वदि जो सो उ संकिदो भमई ।
मा वज्झेज्जं केणवि चोरोत्ति जणम्मि वियरंतो ॥३०१॥
जो ण कुणइ अवराहे सो णिस्संको दु जणवए भमदि ।
णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ॥३०२॥
एवंहि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेया ।
जइ पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि ॥३०३॥ (त्रिकलम्)

स्तेयादीनपराधान् करोति यः स तु शङ्कितो भ्रमति ।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ॥३०१॥
यो न करोत्यपराधान् स निशङ्कस्तु जनपदे भ्रमति ।
नापि तस्य बद्धुं यत् चिन्तोत्पद्यते कदाचित् ॥३०२॥

रूपेण ? मा वज्झेहं केणवि चोरोत्ति जणह्मि वियरंतो जने विचरन् माहं बध्ये केनापि तलवरादिना । किं कृत्वा ? चोर इति मत्वा । इत्यन्वयदृष्टान्तगाथा गता । जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि

शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही सदा हूं और ये जो अनेक प्रकार के भिन्न लक्षणरूप भाव हैं मैं वे नहीं हूं क्योंकि वे सभी परद्रव्य हैं । इसका भावार्थ सुगम है ।

आगे कहते हैं कि परद्रव्य को जो ग्रहण करता है वह अपराधवाला है, बन्ध में पड़ता है; और जो निजद्रव्य में सन्तुष्ट है वह निरपराधी है, नहीं बंधता, ऐसी सूचनिका का अगले कथन का श्लोक कहते हैं—परद्रव्य इत्यादि । अर्थ—जो परद्रव्य को ग्रहण करता है वह तो अपराधी है, वही बन्ध में पड़ता है; और जो अपने द्रव्य में ही सन्तुष्ट है परद्रव्य को नहीं ग्रहण करता वह यतीश्वर अपराध रहित है वह नहीं बंधता ॥१८६॥

आगे इस कथन को दृष्टान्तपूर्वक गाथा में कहते हैं ;—[यः] जो पुरुष [स्तेयादीन् अपराधान्] चोरी आदि अपराधों को [करोति] करता है [स तु] वह [शङ्कितो भ्रमति] ऐसी शङ्का सहित हुआ भ्रमता है कि [जने विचरन्] लोक में विचरता हुआ मैं [चोर इति] चोर ऐसा मालूम होने पर [केनापि मा बध्ये] किसी से पकड़ा न जाऊँ [यः] जो [अपराधान्] कोई भी अपराध [न करोति] नहीं करता [स तु] वह पुरुष [जनपदे] देश में [निःशङ्कः भ्रमति] निशङ्क भ्रमता है [तस्य] उसको [यत् बद्धुं चिन्ता] बंधने की चिन्ता [कदाचित् अपि] कभी भी [न उत्पद्यते] नहीं

एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शङ्कितश्चेतयिता ।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शङ्कोऽहं न बध्ये ॥३०३॥

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बन्धशङ्का संभवति । यस्तु तं न करोति तस्य सा न संभवति । तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बन्धशङ्का संभवति यस्तु शुद्धः संस्तं न करोति तस्य सा न संभवति, इति नियमः । अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ॥३०१।३०२।३०३॥

यः स्तेयपरदाराद्यपराधं न करोति स निश्शङ्को जनपदे लोके भ्रमति । णवि तस्स वज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयावि तस्य चिन्ता नोपपद्यते कदाचिदपि जे अह्रो यस्मात्कारणात् वा निरपराधः, केन रूपेण चिन्ता नोत्पद्यते ? नाहं वध्ये केनापि चौर इति मत्वा । एवं व्यतिरेकदृष्टान्तगाथा गता । एवं हि सावराहो वज्झामि अहं तु संकिदो चेदा यो रागादिपरद्रव्यग्रहणं स्वीकारं करोति स स्वस्वभावच्युतः सन् सापराधो भवति ।[1] सापराधोऽत्र शङ्कितो भवति । केन रूपेण ? वध्येऽहं कर्मतापन्नो ज्ञानावरणादिकर्मणा । ततः कर्मवन्धभीतः प्रायश्चित्तं प्रतिक्रमणरूपं दण्डं ददाति जो पुण णिरवराहो णिस्संकोहं ण वज्झामि यस्तु पुनर्निरपराधो भवति स तु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानवन्धादिसमस्तविभावपरिणामरहितो भूत्वा निश्शङ्को भवति । केन रूपेण ? इति चेत्—रागाद्यपराधरहितत्वात् नाहं वध्ये केनापि कर्मणेति प्रतिक्रमणादिदण्डं विनाप्यनन्तज्ञानादिरूपनिर्दोषपरमात्मभावनयैव शुद्ध्यति इत्यन्वयव्यतिरेकदार्ष्टान्तगाथा गता ॥३०१॥३०२॥३०३॥ अथ को

उपजती [होती] [एवं अहं] ऐसे मैं [सापराधः अस्मि] जो अपराधसहित हूं [तु] तो [बध्ये] बंधूँगा ऐसी [शङ्कितः] शङ्कायुक्त [चेतयिता] आत्मा होता है [यदि पुनः] और जो [निरपराधः] निरपराध हूं तो [अहं निशङ्कः] मैं निःशङ्क हूं [न बध्ये] नहीं बँधूंगा । ऐसे ज्ञानी विचारता है ।

टीका—जैसे इस लोक में जो पुरुष परद्रव्य का ग्रहण करने वाला है वही अपराध को करता है, उसी के वन्ध की शङ्का होती है । और जो अपराध नहीं करता है उसके तो शङ्का संभव ही नहीं है । उसी तरह आत्मा भी यदि अशुद्ध हुआ परद्रव्य को ग्रहणस्वरूप अपराध करता है, उसी के वन्ध की शङ्का होती है । और जो आत्मा शुद्ध हुआ उस अपराध को नहीं करता उसके वह शङ्का भी नहीं होती, यह नियम है । इसलिये सर्वथा सब परद्रव्य के भाव का त्याग कर शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना । ऐसा करने पर भी निरपराधपन है ।

भावार्थ—चोरी आदि अपराध करे तो बंधने को शङ्का हो, निरपराध के शङ्का क्यों हो ? उसी तरह आत्मा परद्रव्य का ग्रहणरूप अपराध करे तो वन्ध की शङ्का होवे ही, यदि अपने को शुद्ध अनुभवे, पर को नहीं ग्रहण करे तो वन्ध की शङ्का कैसे हो ? इसलिये पर द्रव्य को छोड़ शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना तभी निरपराध होता है ॥३०१।३०२।३०३॥

---

१ सापराधाच्छङ्कितो भवतीति पाठः ।

को हि नामायमपराधः ?–

संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठं ।
अवगयराधो जो खलु चेया सो होइ अवराधो ॥३०४॥
जो[1] पुण णिरवराधो चेया णिस्संकिओ उ सो होइ ।
आराहणए[2] णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो ॥३०५॥ (युग्मम्)

संसिद्धिराधसिद्धं साधितमाराधितं चैकार्थम् ।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः ॥३०४॥
यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शङ्कितस्तु स भवति ।
आराधनया नित्यं वर्तते, अहमिति जानन् ॥३०५॥

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः । अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधस्तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बन्ध-

---

हि नामायमपराधः ? इति पृच्छति;—संसिद्धिराधसिद्धं साधियमाराधियं च एयट्ठो कालत्रयवर्तिसमस्तमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामरहितत्वेन निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा निजशुद्धात्माराधनं सेवनं राध इत्युच्यते, संसिद्धिः सिद्धिरिति साधितमित्याराधितं च तस्यैव राधशब्दस्य पर्यायनामानि । अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराहो अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधना यस्य पुरुषस्य स पुरुष एवाभेदेन भवत्यपराधः अथवा अपगतो विनष्टो राधः शुद्धात्माराधः शुद्धात्माराधना यस्य रागादिविभावपरिणामस्य स भवत्यपराधः सहापराधेन वर्तते यः स सापराधः, चेतयितात्मा तद्विपरीतः त्रिगुप्तिसमाधिस्थो निरपराध इति । अथ हे भगवन् किमनेन शुद्धात्माराधनाप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणाद्यनुष्ठानेनैव निरपराधो भवत्यात्मा, कस्मात् ? इति

आगे पूछते हैं कि यह अपराध क्या है ? उसका उत्तर अपराध का स्वरूप कहते हैं;–[संसिद्धिराधसिद्धं] संसिद्धि, राध, सिद्ध [साधितं च आराधितं] साधित और आराधित [एकार्थं] ये शब्द एकार्थ हैं । इसलिये [यः खलु चेतयिता] जो आत्मा [अपगतराधः] राध से रहित हो [सः] वह आत्मा [अपराधः भवति] अपराध है [यः पुनः] और जो [चेतयिता] आत्मा [निरपराधः] अपराधी नहीं है [सः तु] वह [निःशङ्कितः] शङ्कारहित [भवति] है और अपने को [अहं इति] मैं हूं ऐसा [जानन्] जानता हुआ [आराधनया] आराधना कर [नित्यं वर्तते] हमेशा वर्तता है ।

टीका—पर द्रव्य का परिहार करके जो शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन उसे राध कहते हैं । जिस आत्मा के राध अर्थात् शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन दूरवर्ती हों वह आत्मा अपराध है । अथवा इसकी दूसरी व्युत्पत्ति (संमास विग्रह) ऐसी कि जिस भाव का राध दूरवर्ती हो उस भाव को अपराध कहते हैं । उस अपराध सहित जो आत्मा वर्ते वह आत्मा सापराध है । ऐसे

---

१. नेयं गाथाऽत्र तात्पर्यवृत्तौ । २. आराहणाइ इत्यपि पाठः ।

शङ्कासंभवे सति स्वयमशुद्धत्वादनाराधक एव स्यात् । यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बन्धशङ्काया असंभवे सति, उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादाराधक एव स्यात् ॥३०४।३०५॥

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु ।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन् सापराधो भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी॥१८७।

चेत्, सापराधस्याप्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधाविनाशकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेर्दोषशब्दवाच्यापराधविनाशकत्वेनामृतकुम्भत्वात् इति । तथा चोक्तं चिरन्तनप्रायश्चित्तग्रन्थे—'अपडिक्कमणं अपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव । अणियत्तीय अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥ १ ॥ "पडिकमणं पडिसरणं पडिहरणं धारणा णियत्तीय । णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥ २ ॥" ॥ ३०४ ॥ ३०५ ॥ अत्र पूर्वपक्षे परिहारः—पडिकमणमित्यादि । पडिकमणं प्रतिक्रमणं कृतदोषनिराकरणं । पडिसरणं प्रतिसरणं सम्यक्त्वादिगुणेषु प्रेरणं । पडिहरणं प्रतिहरणं मिथ्यात्वरागादिदोषेषु निवारणं धारणा पञ्चनमस्कारप्रभृतिमन्त्रप्रतिमादिवहिर्द्रव्यावलम्बनेन चित्तस्थिरीकरणं धारणा । णियत्तीय वहिरङ्गविषयकषायादीहागतचित्तस्य निवर्तनं निवृत्तिः । णिंदा आत्मसाक्षिदोषप्रकटनं निन्दा गरुहा गुरुसाक्षिदोषप्रकटनं गर्हा सोहिय दोषे सति प्रायश्चित्तं गृहीत्वा विशुद्धिकारणं शुद्धिः । इत्यष्टविकल्परूपशुभोपयोगो यद्यपि मिथ्यात्वादिविषयकषायपरिणतिरूपाशुभोपयोगापेक्षया सविकल्पसरागचारित्रावस्थायाममृतकुम्भो भवति । तथापि रागद्वेषमोहख्यातिपूजा-

---

आत्मा परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव से, शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव से, उसके बन्ध की शङ्का का संभव होने से, आप स्वयं अशुद्धपन से आराधना करने वाला नहीं है। और जो आत्मा निरपराध है वह समस्त परद्रव्य के परिग्रह का परिहार करके शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव से उसके बन्ध की शङ्का के न होने से ऐसा निश्चय करता वर्तता है 'कि मैं उपयोगलक्षणवाला एक शुद्ध आत्मा ही हूं वह आत्मा नित्य ही शुद्ध आत्मा की सिद्धि लक्षणवाली आराधनायुक्त सदा वर्तता है, इसलिये आराधक ही है।

भावार्थ—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित—इन शब्दों का अर्थ एक ही है। यहां शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का नाम राध है। जिसके यह नहीं है वह आत्मा सापराध है, और जिसके यह हो वह निरपराध है। सापराध के बंध की शङ्का होती है इसलिये अनाराधक है, और निरपराध निश्शङ्क हुआ अपने उपयोग में लीन होता है तब वन्ध की शङ्का नहीं होती, तब वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तप का एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है॥३०४।३०५॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—अनवरत इत्यादि। अर्थ—जो आत्मा सापराध है वह तो निरन्तर अनंत पुद्गल परमाणुरूप कर्मों से बंधता है; और जो निरपराध है वह बंधन को कभी स्पर्शन नहीं करता। तथा यह सापराध आत्मा तो अपने आत्मा को नियम से अशुद्ध ही सेवन करके सापराध ही होता है और जो निरपराध है वह अच्छी तरह शुद्ध आत्मका सेवन करनेवाला होता है॥१८७॥

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा सापराधस्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहकत्वेनामृतकुम्भत्वात् । उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे—

अपडिकमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥ १ ॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥ २ ॥

अत्रोच्यते—

पडिकमणं [1]पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुंभो ॥३०६॥
अपडिकमणं अप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदाऽगरहाऽसोही अमयकुंभो ॥३०७॥ (युग्मम्)

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च ।
निन्दा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुम्भः ॥३०६॥

लाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनविभावपरिणामशून्या, चिदानन्दैकस्वभावविशुद्धात्मालम्बनभरितावस्था निर्विकल्पशुद्धोपयोगलक्षणा अपडिकमणं इति गाथाकथितक्रमेण ज्ञानिजनाश्रितनिश्चयाप्रतिक्रमणादिरूपा तु या तृतीया भूमिस्तदपेक्षया वीतरागचारित्रस्थितानां पुरुषाणां विषकुम्भ एवेत्यर्थः । किं च विशेषः—अप्रतिक्रमणं द्विविधं भवति ज्ञानिजनाश्रितं, अज्ञानिजनाश्रितं चेति । अज्ञानिजनाश्रितं यदप्रतिक्रमणं तद्विषयकषायपरिणतिरूपं भवति । ज्ञानिजीवाश्रितमप्रतिक्रमणं तु शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठा-

---

आगे व्यवहारनय का आलम्बन करने वाला तर्क करता है कि इस शुद्ध आत्मा के सेवन से क्या लाभ है ? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि प्रायश्चित्त से ही आत्मा निरपराध हो जाता है । सापराध के अप्रतिक्रमणादि अपराध के दूर करने वाले नहीं हैं इसलिए विषकुम्भ कहे गये हैं, और निरपराध के प्रतिक्रमणादिक उस अपराध के दूर करने वाले हैं; इसलिये वे अमृतकुम्भ कहे गये हैं।

यही व्यवहार के कहने वाले आचार सूत्र में कहा है अप्पडि इत्यादि । अर्थ—अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि ऐसे आठ प्रकार के लगे हुये दोष का प्रायश्चित न करना वह तो विषकुम्भ है और प्रधित्क्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि इस तरह आठ प्रकार से लगे हुये दोष का प्रायश्चित्त करना वह अमृतकुम्भ है । ऐसा व्यवहारनय के पक्ष वाले ने तर्क किया था ।

---

१. तात्पर्यवृत्तौ 'परिहरणं धारणा णियत्तीय' इति पाठः ।

अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव ।
अनिवृत्तिश्चानिन्दाऽगर्हाऽशुद्धिरमृतकुम्भः ॥३०७॥

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराधत्वाद् विषकुम्भ एव किं तस्य विचारेण । यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रतिक्रमणाऽप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात् । अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीयभूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि, अमृतकुम्भत्वं साधयति । तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता । तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव । अतस्तृतीयभूमिकयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते, तत्प्राप्त्यर्थ एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः, ततो मेति मंस्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुञ्चति अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचराप्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षणमतिदुष्करं किमपि कारयति ।

नलक्षणं त्रिगुप्तिरूपं । तच्च ज्ञानिजनाश्रितमप्रतिक्रमणं सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगापेक्षया यद्यप्यप्रतिक्रमणं भण्यते तथापि वीतरागचारित्रापेक्षया तदेव निश्चयप्रतिक्रमणं । कस्मात् ? इति चेत्, समस्तशुभाशुभास्रवदोषनि-

---

उसका उत्तर आचार्य निश्चयनय को प्रधानकर कहते हैं;—**प्रतिक्रमणं [प्रतिसरणं परिहारः]** **[धारणा निवृत्तिः निन्दा गर्हा]** प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा **[च शुद्धिः]** और शुद्धि इस तरह **[अष्टविधः]** आठ प्रकार तो **[विषकुम्भः]** विषकुम्भ **[भवति]** है, क्योंकि इसमें कर्तापन की बुद्धि संभवती है **[च]** और **[अप्रतिक्रमणं अप्रतिसरणं अपरिहारः अधारणा]** अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा **[अनिवृत्तिः अनिन्दा अगर्हा]** अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा **[च एव]** और **[अशुद्धिः]** अशुद्धि इस तरह आठ प्रकार **[अमृतकुम्भः]** अमृत कुम्भ हैं क्योंकि, यहां कर्तापने का निषेध है इसलिये बन्ध से रहित हैं।

टीका—प्रथम तो जो अज्ञानीजन साधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाव वाले हैं इसलिये स्वयमेव अपराधरूप होने से विष कुम्भ ही है; उनका विचार करने का क्या प्रयोजन है ? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य हैं) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं वे सब अपराधरूपी विष के दोष को (क्रमशः) कम करने में समर्थ होने से अमृत कुम्भ है (ऐसा व्यवहार आचारसूत्र में कहा है) तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण ऐसी-अप्रतिक्रमणादि रूप तीसरी भूमिका को न देखने वाले पुरुष को वे द्रव्य-प्रतिक्रमणादि (अपराध काटने रूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से विपक्ष (अर्थात् बन्ध का) कार्य करते होने से विषकुम्भ ही है। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है, वह स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट

वक्ष्यते चात्रैव—

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिकम्मणं । इत्यादि ।

अतो हताः प्रमादिनो गताः सुखासीनतां । प्रलीनं चापलमुन्मूलितमालम्बनम् ।
आत्मन्येवालानितं चित्तमासम्पूर्णविज्ञानघनोपलब्धेः ॥१८८॥

राकरणरूपत्वादिति । ततः स्थितं तदेव निश्चयप्रतिक्रमणम् । व्यवहारप्रतिक्रमणापेक्षया, अप्रतिक्रमणशब्द-वाच्यं ज्ञानिजनस्य मोक्षकारणं भवति । व्यवहारप्रतिक्रमणं तु यदि शुद्धात्मानमुपादेयं कृत्वा तस्यैव निश्चयप्रति-क्रमणस्य साधकभावेन विषयकषायवर्जनार्थं करोति तदपि परम्परया मोक्षकारणं भवति, अन्यथा स्वर्गादिसु-

---

करने वाली होने से साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इस प्रकार (वह तीसरी भूमि) व्यवहार से द्रव्य प्रतिक्रमणादि को भी अमृत कुम्भत्व साधती है। उस (तीसरी भूमि) से ही आत्मा निरप-राध होता है। उस (तीसरी भूमि) के अभाव में द्रव्य प्रतिक्रमणादि अपराध ही है। इसलिए तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्ति के लिये ही यह द्रव्य प्रति-क्रमणादि है। ऐसा होने से यह नहीं मानना चाहिये कि (निश्चयनय का) शास्त्र द्रव्य प्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है ? द्रव्य प्रतिक्रमणादि से छुड़ा नहीं देता (अटका नहीं देता, संतोष नहीं मनवा देता) इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अप्रति-क्रमणादि रूप, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा अति दुष्कर कुछ करवाता है।

भावार्थ—व्यवहारनय के अवलम्बन करने वाले ने कहा था कि यदि लगे दोषों का प्रति-क्रमणादि करने से ही आत्मा शुद्ध होता है, तो पहले शुद्धात्मा के आलम्बन का खेद करने से क्या ? शुद्ध हुए पश्चात् उसका आलम्बन होता है, पहले आलम्बन का खेद निष्फल है। उसको आचार्य समझाते हैं कि, द्रव्य प्रतिक्रमणादि दोष के मेंटने वाले हैं; परन्तु शुद्ध आत्मा का स्वरूप प्रतिक्रम-णादि रहित है। उसके आलम्बन के बिना तो द्रव्य प्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, दोष के मेंटने को समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चय से युक्त ही व्यवहारनय मोक्ष मार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है, बन्ध का ही मार्ग है। इसलिये ऐसा कहा है कि अज्ञानी के जो अप्रतिक्रम-णादिक हैं वे विषकुम्भ ही हैं, उनकी तो क्या कथा ? परन्तु जो व्यवहार चारित्र में अप्रतिक्रमणा-दिक कहे हैं वे भी निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं। क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादिक से रहित शुद्ध अप्रतिक्रमणादि स्वरूप है। ऐसा जानना ॥३०६।३०७॥

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं—**अतो हताः** इत्यादि। **अर्थ**—इस कथन से सुख से बैठे हुए प्रमादी जीवों की तो ताड़ना की है और जो निश्चयनय का आश्रय लेकर प्रमादी होकर प्रवर्तन कर रहे हैं उनको ताड़कर उद्यम में लगाया है, चपलता का नाश किया है। जो स्वच्छन्द वर्तते हैं उनका स्वच्छन्दपना मेंटा है, आलम्बन को दूर किया है जो व्यवहार की पक्षकर परद्रव्य का तथा द्रव्यप्रतिक्रमणादि का आलम्बन ले संतुष्ट होते हैं उनका आलम्वन छुड़ाया है। चित्त

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः[1] स्यात् ।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः किं नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ।।१८९।।

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः कषायभरगौरवादलसता प्रमादो यतः ।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमतः स्वभावे भवन्मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते
चाचिरात् ।।१९०।।

स्वनिमित्तपुण्यकारमेव । यत्पुनरज्ञानिजनसम्बन्धिमिथ्यात्वविषयकषायपरिणतिरूपमप्रतिक्रमणं तन्नरकादिदुःखकारणमेव । एवं प्रतिक्रमणाद्यष्टविकल्परूपः शुभोपयोगो यद्यपि सविकल्पावस्यायाममृतकुम्भो भवति

को आत्मा में ही लगाया है, व्यवहार के आलम्बन से जो चित्त अनेक प्रवृत्तियों में भ्रमण करता था उसे शुद्धआत्मा में ही लगाया है। जब तक संपूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो, तब तक चैतन्यमात्र आत्मा में चित्त लगा रहे, चित्त को इस तरह स्थिर किया है, ऐसा जानना ।।१८८।।

अब कहते हैं कि यहां निश्चय नय से प्रतिक्रमणादिक को विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादिक को अमृतकुम्भ कहा, इस कहने से कोई उलटा समझकर प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी हो जावे तो उसे समझाने को कलशरूप काव्य कहते हैं—यत्र इत्यादि। अर्थ—हे भाई जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है वहाँ अप्रतिक्रमण कैसे अमृत हो सकता है? इसलिये यह मनुष्य नीचे गिरता हुआ प्रमाद रूप क्यों होता है? निष्प्रमादी होकर ऊँचा-ऊँचा क्यों नहीं बढ़ता।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रमणादिक था उसकी तो कथा ही क्या? यहाँ तो निश्चयनय को प्रधान कर जो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक शुभप्रवृत्तिरूप थे, उनकी पक्ष छुड़ाने को उन्हें विषकुम्भ कहा है, क्योंकि ये कर्मबन्ध के ही कारण हैं। अप्रतिक्रमण प्रतिक्रमण से रहित जो तीसरी भूमि शुद्ध आत्मस्वरूप है वह प्रतिक्रमणादि से रहित है; इसलिये वहां अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे गये हैं, उस भूमि में चढ़ने को उपदेश किया है। प्रतिक्रमणादिक को विषकुम्भ सुनकर जो प्रमादी होता है उसको कहते हैं कि यह जन नीचा-नीचा क्यों गिरता है तीसरी भूमि में ऊँचा ऊँचा क्यों नहीं चढ़ता? जहाँ प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है वहाँ तो उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ होगा। सो यह अप्रतिक्रमणादिक अज्ञानी के होने वाला नहीं जानना, तीसरी भूमिका शुद्ध आत्मामयी जानना ।।१८९।।

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करते हुए काव्य कहते हैं—प्रमाद इत्यादि। अर्थ—कषाय के भार के भारी होने को आलस्य का होना कहा है उसे प्रमाद कहते हैं। इसलिए प्रमादयुक्त आलस्य भाव कैसे शुद्ध भाव हो सकता है? इसलिये आत्मीकरस से भरे स्वभाव में निश्चल हुआ मुनि परम शुद्धता को प्राप्त होता है। और थोड़े समय में ही कर्मबन्ध से छूट जाता है।

भावार्थ—प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है इसलिये प्रमादी के शुद्धभाव नहीं होते। जो मुनि उद्यम करके स्वभाव में प्रवर्तता है वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त होता है। १०९।

---

१. "कुतः" इत्यपि पाठः।

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं
स्वे द्रव्ये रतिमेति यः स नियतं सर्वापराधच्युतः ।
बन्धध्वंसमुपेत्य नित्यमुदितः स्वज्योतिरच्छोच्छलच्-
चैतन्यामृतपूरपूर्णमहिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९१॥
बन्धच्छेदात्कलयदतुलं मोक्षमक्षय्यमेतन्
नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम् ।
एकाकारस्वरसभरतोऽत्यन्तगंभीरधीरं
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि ॥१९२॥

यद्यपि सविकल्पावस्थायाममृतकुम्भो भवति तथापि सुखदुःखादिसमतालक्षणपरमोपेक्षारूपसंयमापेक्षया विषकुम्भ

अब मुक्त होने के अनुक्रम के अर्थरूप काव्य कहते हैं और मोक्ष का अधिकार पूर्ण करते हैं— त्यक्त्वा इत्यादि। अर्थ—जो पुरुष निश्चय से अशुद्धता के करने वाले सब परद्रव्यों को छोड़कर आप अपने निजद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियम से सब अपराधों से रहित हुआ बन्ध के नाश को प्राप्त होने से नित्य उदय रूप हुआ अपने स्वरूप के प्रकाशरूप ज्योति से निर्मल उछलता जो चैतन्यरूप अमृत का प्रवाह उससे जिसकी महिमा पूर्ण है, ऐसा शुद्ध हुआ कर्मों से छूटता है।

भावार्थ—पहले समस्त परद्रव्य का त्यागकर अपने आत्मस्वरूप (निजद्रव्य) में लीन होता है, वह सब रागादिक अपराधों से रहित होके आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदय-रूप केवलज्ञान को पाकर शुद्ध होकर सब कर्मों का नाशकर मोक्ष को पाता है। यही मोक्ष होने का क्रम है। इस तरह मोक्ष का अधिकार पूर्ण हुआ ॥१९१॥

उसके अन्त में मङ्गलरूपज्ञान की महिमा का कलशरूप काव्य कहते हैं—बन्ध इत्यादि। अर्थ—कर्म के बन्ध के छेदने से अविनाशी अतुल जो मोक्ष उसको प्राप्त हुआ। जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी जिसकी स्वाभाविक अवस्था प्रफुल्लित हुई है। उसके कर्म का मैल न रहने से अत्यन्त शुद्ध प्रगट हुआ है और एक अपने ज्ञानमात्र आकार के निजरस के भार से अत्यन्त गम्भीर व धीर है, जिसकी थाह नहीं और जिसमें कुछ आकुलता नहीं। किसी प्रकार नहीं चले ऐसी अचल अपनी महिमा में लीन हुआ।

भावार्थ—यह ज्ञान प्रकट हुआ सो कर्म का नाश कर मोक्षरूप हुआ अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप अत्यन्त शुद्ध समस्त ज्ञेयाकार को गौण कर अपना (ज्ञान का) प्रकाश "जिसकी थाह नहीं व जिसमें आकुलता नहीं" ऐसा प्रकट देदीप्यमान होकर अपनी महिमा में लीन हुआ है।१९२।

इस प्रकार रङ्गभूमि में मोक्षतत्त्व का स्वांग आया था। सो जब ज्ञान प्रकट हुआ तब मोक्ष का स्वांग निकल गया। यहाँ तक ३०७ गाथा और १९२ कलश हुए।

इति मोक्षो निष्क्रान्तः ।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्षप्ररूपकः अष्टमोऽङ्कः ॥ ८ ॥

एवेति व्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाष्टकं गतम् ॥ ३०६ ॥ ३०७ ॥ तत्रैवं सति शृङ्गाररहितपात्रवद्रागादिरहितशान्तरसपरिणतशुद्धात्मरूपेण मोक्षो निष्क्रान्तः ।

इति श्री जयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ द्वाविंशति गाथाभिश्चतुर्भिरन्तराधिकारैर्नवमो मोक्षाधिकारः समाप्तः ॥ ८ ॥

सवैया—ज्यों नर कोय पर्‌यो दृढबन्धन बन्धस्वरूप लखै दुखकारी,
चितकरै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी ।
छेदनकूं गहि आयुध धाय चलाय निशङ्क करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि घसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी ॥ १ ॥

इस प्रकार पं० जयचन्द्र विरचित समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामा टीका की भाषावचनिका में आठवां मोक्ष नामा अधिकार पूर्ण हुआ ॥ ८ ॥

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकारः ॥ ९ ॥

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धं ज्ञानम् ।

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्
दूरीभूतः प्रतिपदमयं बन्धमोक्षप्रक्लृप्तेः ।
शुद्धः शुद्धः स्वरसविसरापूर्णपुण्याचलार्चिष्-
टङ्कोत्कीर्णप्रकटमहिमा स्फूर्जति ज्ञानपुञ्जः ॥ १९३ ॥
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत् ।
अज्ञानादेव कर्तायं तदभावादकारकः ॥१९४॥

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धं ज्ञानं । संसारपर्यायमाश्रित्याशुद्धोपादानरूपेणाशुद्धनिश्चयनयेन यद्यपि कर्तृत्वभोक्तृत्वबन्धमोक्षादिपरिणामसहितो जीवस्तथापि सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानरूपेण

अथ सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार ।

दोहा—सर्व विशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम ।
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम ॥

यहां मोक्ष तत्त्व का स्वांग निकलने के पश्चात् सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रंगभूमि में जीवाजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—ये आठ स्वांग आये थे उसका नृत्य हुआ। अपना अपना स्वरूप दिखलाके निकल गये। अब सब स्वांग दूर हुए, एकाकार सर्वविशुद्ध ज्ञान प्रवेश करता है।

वहाँ प्रथम ही मङ्गलरूप ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा का काव्य कहते हैं—नीत्वा इत्यादि। अर्थ—समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भली भांति) नाश को प्राप्त कराके पद-पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होने वाली प्रत्येक पर्याय में) बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ, शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादिमल तथा आवरण से रहित) विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा, और जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रकट है ऐसी ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होती है।

भावार्थ—शुद्धनय का विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह कर्ता भोक्तापने के भाव से रहित है। बन्ध-मोक्ष की रचना से रहित है। परद्रव्य से और सब परद्रव्य के भावों से रहित है, इसलिये शुद्ध है और अपने निजरस के प्रवाह से पूर्ण देदीप्यमान ज्योतिरूप टङ्कोत्कीर्ण जिसकी महिमा है, ऐसी ज्ञान पुञ्ज आत्मा प्रगट होती है ॥१९३॥

अब सर्व विशुद्ध ज्ञान को प्रकट करते हैं। वहां प्रथम ही कर्ता—भोक्ता भाव से भिन्न दिखलाते हैं उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं—कर्तृत्वं इत्यादि। अर्थ—इस चित्स्वरूप आत्मा का

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति—

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं ।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ॥३०८॥
जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिया सुत्ते ।
तं जीवमजीवं वा तेहिमणण्णं वियाणाहि ॥३०९॥
ण कुदोचि वि उप्पण्णो जह्मा कज्जं ण तेण सो आदा ।
उप्पादेदि ण किंचिवि कारणमवि तेण ण स होइ ॥३१०॥
कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि ।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसए अण्णा ॥३११॥(चतुष्कम्)

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत् ।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनकमनन्यदिह ॥३०८॥
जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे ।
ते जीवमजीवं वा तैरनन्यं विजानीहि ॥३०९॥

शुद्धद्रव्यार्थिक नयेन कर्तृत्वभोक्तृत्वबन्धमोक्षादिकारणभूतपरिणामशून्य एवेति । दवियं जं उप्पज्जदि इत्यादि-गाथामादिं कृत्वा चतुर्दशगाथापर्यन्तं मोक्षपदार्थचूलिकाव्याख्यानं करोति । तत्रादौ निश्चयेन कर्मकर्तृत्वाभाव-मुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयम् । तदनन्तरं शुद्धस्यापि यद् ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिः बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्य-मिति कथनार्थं चेदा दु पयडिअट्ठं इत्यादि प्राकृतश्लोकचतुष्टयम् । अतः परं निश्चयेन भोक्तृत्वाभावज्ञापनार्थं अण्णाणी कम्मफलं इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । तदनन्तरं मोक्षचूलिकोपसंहाररूपेण विकुणदि इत्यादि सूत्रद्वयं कथय-

---

जिस प्रकार स्वभाव कर्तापना नहीं है । उस तरह भोक्तापन स्वभाव नहीं है । यह आत्मा अज्ञान से कर्ता माना जाता है । जब अज्ञान का अभाव हो जाता है तब कर्ता नहीं है ॥१९४॥

आगे आत्मा का अकर्तापन दृष्टान्त पूर्वक सिद्ध करते हैं;—[यत् द्रव्यं] जो द्रव्य [गुणैः] जिन अपने गुणों से [उत्पद्यते] उपजता है [तत्] वह [तैः] उन गुणों से [अनन्यत्] अन्य नहीं [जानीहि] जानना, उन गुणमय ही है [यथा] जैसे [कनकं] सुवर्ण [कटकादिभिः] अपने कटक, कड़े आदि [पर्यायैः] पर्यायों से [इह] लोक में [अनन्यत् तु] अन्य नहीं है—कटकादि है वह सुवर्ण ही है । उसी तरह [जीवाजीवस्य तु] जीव अजीव के [ये परिणामा तुः] जो परि-णाम [सूत्रे दर्शिताः] सूत्र में कहते हैं [तैः] उन परिणामों से [तं जीवं अजीवं वा] उस जीव अजीव को [अनन्यं] अन्य नहीं [विजानीहि] जानना । परिणाम में वे द्रव्य ही हैं । [यस्मात्]

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा ।
उत्पादयति न किञ्चित्कारणमपि तेन न स भवति ॥३१०॥
कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि ।
उत्पद्यन्ते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ॥३११॥

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव न जीवः, सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कङ्कणादिपरिणामैः काञ्चनवत् । एवं हि जीवस्य स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिद्ध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात् । तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिद्ध्यति । तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिद्ध्यति, अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ॥ ३०८ । ३०९ । ३१० । ३११ ॥

तोति मोक्षपदार्थचूलिकायां समुदायपातनिका । अथ निश्चयेन कर्मणां कर्ता न भवति इत्याख्याति;—यथा कनकमिह कटकादिपर्यायैः सहानन्वयभिन्नं भवति तथा द्रव्यमपि यदुत्पद्यते परिणमति । कैः सह ? स्वकीयस्वकीयगुणैः, तद्द्रव्यं तैर्गुणैः सहानन्यदभिन्नमिति जानीहि इति प्रथमगाथा गता । जीवस्साजीवस्स य जे

जिस कारण [स आत्मा] वह आत्मा [कुतश्चिदपि] किसी से भी [न उत्पन्नः] नहीं उत्पन्न हुआ है [तेन] इससे किसी का किया हुआ [कार्यं] कार्य [न भवति] नहीं है और [किञ्चिदपि] किसी अन्य को भी [न उत्पादयति] उत्पन्न नहीं करता [तेन] इसलिये [सः] वह [कारणमपि] किसी का कारण भी [न] नहीं है । क्योंकि [कर्मप्रतीत्य] कर्म को आश्रय कर के तो [कर्ता] कर्ता होता है [तथा च] और [कर्तारं प्रतीत्य] कर्ता को आश्रय कर [कर्माणि] कर्म [उत्पद्यन्ते] उत्पन्न होते हैं [तु] ऐसा [नियमात्] नियम है [अन्या सिद्धः] अन्य तरह कर्ता-कर्म की सिद्धि [न दृश्यते] नहीं देखी जाती ।

टीका—जीव प्रथम ही क्रम से निश्चित अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ जीव ही है अजीव नहीं है । इसी प्रकार अजीव भी क्रम से निश्चित अपने परिणामों से उत्पन्न हुआ अजीव ही है जीव नहीं है, क्योंकि सभी द्रव्यों को अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है, कोई भी अपने परिणामों से अन्य नहीं, ऐसे परिणामों को छोड़ अन्य में नहीं जाता । जैसे कङ्कणादि परिणामों से सुवर्ण उत्पन्न होता है वह कङ्कणादि से अन्य नहीं है, उनसे तादात्म्य स्वरूप है, उसी तरह सब द्रव्य हैं । इसी प्रकार अपने परिणामों से उत्पन्न हुए जीव का अजीव के साथ कार्य-कारण भाव नहीं सिद्ध होता; क्योंकि सब द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है । उस कार्य कारण भाव की सिद्धि न होने से अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता, अजीव के जीव का कर्मत्व न होने से कर्ता कर्म के अनन्यापेक्ष सिद्ध होने से जीव के अजीव का कर्तापना नहीं सिद्ध होता । इसलिये जीव पर द्रव्य का कर्ता सिद्ध नहीं हुआ, अकर्ता ही सिद्ध हुआ ।

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोपि गहनः ॥ १९५ ॥

परिणामो दु देसिदा सुत्ते जीवस्य अजीवस्य च ये परिणामाः पर्याया देशिताः कथिताः सूत्रे परमागमे तैः सह तेनैव पूर्वोक्तसुवर्णदृष्टान्तेन तमेव जीवाजीवद्रव्यमनन्यदभिन्नं विजानीहीति द्वितीयगाथा गता । यस्माच्छुद्धनिश्चयनयेन नरनारकादिविभावपर्यायरूपेण कदाचिदपि नोत्पन्नः—कर्मणा न जनितः तेन कारणेन कर्मनोकर्मापेक्षयात्मा कार्यं न भवति । न च तत्कर्मनोकर्मोपादानरूपेण किमप्युत्पादयति । तेन कारणेन कर्मनोकर्मणां कारणमपि न भवति, यतः कर्मणां कर्ता मोचकश्च न भवति ततःकारणाद् बन्धमोक्षयोः शुद्धनिश्चयनयेन कर्ता न भवतीति तृतीयगाथा गता । **कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि उप्पजंते णियमा** यतः पूर्वं भणितं सुवर्णद्रव्यस्य कुण्डलपरिणामेनैव सह जीवपुद्गलयोः स्वपरिणामैः सहैवानन्यत्वमभिन्नत्वं । पुनश्चोक्तं कर्मनोकर्मभ्यां कर्तृभूताभ्यां जीवो नोत्पाद्यते जीवश्च कर्मनोकर्मणां नोत्पादयति ततो ज्ञायते कर्म प्रतीत्योपचारेण जीवः कर्मकर्ता । तथा कर्माणि चोत्पद्यन्ते जीवकर्तारमाश्रित्योपचारेण नियमान्निश्चयात् संदेहो नास्ति **सिद्धी दु ण दिस्सदे अण्णा** अनेन प्रकारेण, अनेन कोऽर्थः ? परस्परनिमित्तभावं विहाय शुद्धोपादानरूपेण शुद्धनिश्चयेन जीवस्य कर्मकर्तृत्वविषये सिद्धिर्निष्पत्तिर्घटना न दृश्यते कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलानां च कर्मत्वं न दृश्यते ततःस्थितं शुद्धनिश्चनयेनाकर्ता जीव इति चतुर्थगाथा गता । एवं निश्चयेन जीवः कर्मणां कर्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् । ३०८।३०९।३१०।३११ । अथ शुद्धस्यात्मनो ज्ञानावरणादिप्रकृतिभिर्यद् बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमिति प्रज्ञापयति;—**चेदा** आत्मा स्वस्वभावच्युतः सन् प्रकृतिनिमित्तं कर्मोदयनिमित्तमुत्पद्यते । विनश्यति च विभावपरिणामैः पर्यायैः । प्रकृतिरपि चेतयितृकार्यं

भावार्थ—सब द्रव्यों के परिणाम पृथक्-पृथक् हैं । अपने-अपने परिणामों के सब कर्ता हैं, वे उन परिणामों के कर्ता हैं वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी से भी कर्ता कर्म संबंध नहीं है, इस कारण जीव अपने परिणामों का कर्त्ता है, उसके परिणाम उसके कर्म हैं। इसी तरह अजीव अपने परिणामों का कर्त्ता है, उसके परिणाम उसके कर्म हैं। इस तरह जीव अन्य के परिणामों का अकर्ता है ॥ ३०८ । ३०९ । ३१० । ३११ ॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—उसमें जीव अकर्ता है तो भी इसके बन्ध होता है यह अज्ञान की महिमा है ऐसा कहते हैं—**अकर्ता** इत्यादि। अर्थ—इस तरह जीव अपने निज रस से विशुद्ध है। इसलिये परद्रव्य का तथा परभावों का अकर्ता ठहरा। वह स्फुरायमान होती (फैलती) चैतन्य ज्योति से व्याप्त हुआ है लोक का मध्य जिसकर ऐसा है तो भी इसके लोक में प्रकट कर्म प्रकृतियों से बन्ध होता है। सो यह निश्चयतः अज्ञान की कोई ऐसी ही महिमा है, वह बड़ी गहन है उसका थाह नहीं पाया जाता।

भावार्थ—शुद्धनय से जीव परद्रव्य का कर्ता नहीं है तथा जिसका ज्ञान सब ज्ञेयों में व्यापने वाला है तो भी इसके कर्म का बन्ध होता है यह कोई अज्ञान की बड़ी महिमा है ॥१९५॥

चेया उ पयडियट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ।
पयडीवि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ ॥३१२॥
एवं बंधो उ दुण्हंपि अण्णोण्णप्पच्चया हवे ।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायए ॥३१३॥ (युग्मम्)

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थमुत्पद्यते विनश्यति ।
प्रकृतिरपि चेतकार्थमुत्पद्यते विनश्यति ॥३१२॥
एवं बन्धस्तु द्वयोरपि अन्योन्यप्रत्ययाद्भवेत् ।
आत्मनः प्रकृतेश्च संसारस्तेन जायते ॥३१३॥

अयं हि आसंसारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पादविनाशावासादयति । प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति च एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावेऽप्यन्योन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बन्धो दृष्टः, ततः संसारः तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः ॥३१२।३१३॥

जीवसंबन्धिरागादिपरिणामनिमित्तं ज्ञानावरणादिकर्मपर्यायैः उत्पद्यते विनश्यति च । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण बन्धो जायते द्वयोः—स्वस्वभावच्युतस्यात्मनः, कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलपिण्डरूपाया ज्ञानावरणादिप्रकृतेश्च । कथंभू-

---

आगे इस अज्ञान की महिमा को प्रकट करते हैं;—[चेतयिता तु] चेतन वाली आत्मा तो [प्रकृत्यर्थं] ज्ञानावरणादि कर्म की प्रकृतियों के निमित्त से [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [विनश्यति] तथा विनाश को प्राप्त होता है और [प्रकृतिरपि] प्रकृति भी [चेतकार्थं] उस चेतने वाली आत्मा के लिये [उत्पद्यते] उत्पन्न होती है [विनश्यति] तथा विनाश को प्राप्त होती है। आत्मा के परिणामों के निमित्त से उसी तरह परिणमती है। [एवं] इस तरह [द्वयोः] दोनों [आत्मनः च प्रकृतेः] आत्मा और प्रकृति के [अन्योन्यप्रत्ययात्] परस्पर निमित्त से [बन्धः] बन्ध होता है [च तेन] और उस बन्ध से [संसारः जायते] संसार उत्पन्न होता है।

टीका—यह आत्मा अनादि संसार से लेकर अपने और बन्ध के पृथक्-पृथक् लक्षण का भेद-ज्ञान न होने से पर और आत्मा के एकपने का निश्चित अभिप्राय करने से पर द्रव्य का कर्ता हुआ ज्ञानावरण आदि कर्म की प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होता है। और प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है, आत्मा के परिणाम के अनुसार परिणमती है। इस तरह आत्मा और प्रकृति इन दोनों के परमार्थ से कर्त्ता-कर्मपने के भाव का अभाव होनेपर भी परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से दोनों के ही बन्ध देखा जाता है, उस बन्ध से संसार होता है, उसी से दोनों के कर्त्ता-कर्म का व्यवहार प्रवर्तता है।

जा एस पयडीयट्ठं चेया णेव विमुंचए ।
अयाणओ हवे ताव मिच्छाइट्ठी असंजओ ॥३१४॥
जया विमुंचए चेया कम्मप्फलमणंतयं ।
तया विमुत्तो हवइ जाणओ पासओ मुणी ॥३१५॥

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति ।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टिरसंयतः ॥३१४॥
यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनन्तकम् ।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ॥३१५॥

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बन्धनिमित्तं न मुञ्चति तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति । स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टिर्भवति ।

तयोर्द्वयोः ? अन्योन्यप्रत्ययोः, परस्परनिमित्तकारणभूतयोः । एवं रागाद्यज्ञानभावेन बन्धो भवति तेन च बन्धेन संसारो जायते, न च स्वस्वरूपत इत्युक्तं भवति ॥३१२॥३१३॥ अथ यावत्कालं शुद्धात्मसंवित्तिच्युतः सन् प्रकृत्यर्थं प्रकृत्युदयरूपं रागादिकं न मुञ्चति तावत्कालमज्ञानी स्यात् तदभावे ज्ञानी च भवतीत्युपदिशति;—यावत्कालमेष चेतयिता जीवः, चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणामभावात्प्रकृत्यर्थं रागादिकर्मोदयरूपं न मुञ्चति, तावत्कालं रागादिरूपमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च ततो मिथ्यादृष्टिर्भवति, अज्ञानी भवति, असंयतश्च भवति, तथाभूतः सन् मोक्षं न लभते । यदा पुनरयमेव चेतयिता मिथ्यात्वरागादिरूपं कर्मफलं शक्तिरूपेणानन्तं विशेषेण सर्वप्रकारेण मुञ्चति तदा शुद्धबुद्धैकस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवरूपाणां सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणां सद्भावात् लाभात् मिथ्यात्वरागादिभ्यो भिन्नमात्मानं श्रद्दधाति जानात्यनुभवति च। ततः सम्यग्दृष्टिर्भवति, ज्ञानी भवति

भावार्थ—आत्मा और प्रकृति के परमार्थ से कर्ता कर्मपने का अभाव है, तो भी परस्पर निमित्त नैमित्तिकभाव से कर्त्ता कर्म का भाव है, इससे बन्ध है, बन्ध से संसार है। ऐसा व्यवहार है॥ ३१२।३१३ ॥

आगे कहते हैं-जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजना विनाश होना न छोड़े तब तक अज्ञानी मिथ्यादृष्टि असंयत है—[**एष चेतयिता**] यह आत्मा [**यावत्**] जब तक [**प्रकृत्यर्थं**] प्रकृति के निमित्त से उपजना विनशना [**नैव विमुञ्चति**] नहीं छोड़ता [**तावत्**] तब तक [**अज्ञायकः**] अज्ञानी हुआ [**मिथ्यादृष्टिः**] मिथ्यादृष्टि [**असंयतः**] असंयमी [**भवेत्**] होता है। [**यदा**] और जब [**चेतयिता**] आत्मा [**अनन्तकं**] अनन्त [**कर्मफलं**] कर्मफल को [**विमुञ्चति**] छोड़ देता है [**तदा**] उस समय [**विमुक्तः**] बन्ध से रहित हुआ [**ज्ञायकः दर्शकः**] ज्ञाता द्रष्टा [**मुनि भवति**] संयमी होता है।

टीका—जब तक यह आत्मा अपना और प्रकृति का पृथक्-पृथक् स्वभावरूप लक्षण के भेदज्ञान के अभाव से अपने बन्ध का निमित्त जो प्रकृति का स्वभाव उसे नहीं छोड़ता, तब तक अपने और

स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या चासंयतो भवति। तावदेव परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति। यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बन्धनिमित्तं मुञ्चति तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति। स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति। स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति ।।३१४।३१५।।

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।[1]
अज्ञानादेव भोक्तायं तदभावादवेदकः ।।१९६।।

संयतो मुनिश्च भवति। तथाभूतः सन् विशेषेण द्रव्यभावगतमूलोत्तरप्रकृतिविनाशेन मुक्तो भवतीति। एवं यद्यप्यात्मा शुद्धनिश्चयेन कर्ता न भवति तथाप्यनादिकर्मबन्धवशान्मिथ्यात्वरागाद्यज्ञानभावेन कर्म बध्नातीति अज्ञानसामर्थ्यज्ञापनार्थं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम् ।।३१४।।३१५।। ।अथ शुद्धनिश्चयनयेन कर्मफलभोक्तृत्वं जीवस्यस्वभावो न भवति, कस्मात्? अज्ञानस्वभावत्वात्, इति कथयति—**अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकभेदज्ञानस्याभावादज्ञानी जीवः उदयागतकर्मप्रकृतिस्वभावे सुखदुःखस्वरूपे स्थित्वा ।हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा कर्मफलं वेदयत्यनुभवति। **णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि** ज्ञानी पुनः तन्मयो भूत्वा पूर्वोक्तभेदज्ञानसद्भावात् वीतरागसहजपरमानन्दरूपसुखरसास्वादेन परमसमरसीभावेन परिणतः।सन् कर्मफलमुदितं वस्तुस्वरूपेण जानात्येव न च हर्षविषादाभ्यां तन्मयो भूत्वा वेदयतीति ।। ३१६ ।। अथाज्ञानी जीवः सापराधः सशङ्कितः सन्

परके एकपने के ज्ञान से अज्ञायक होता है, अपने परके एकपनेके दर्शन (श्रद्धान) से मिथ्यादृष्टि होता है, अपनी परकी एकपने की परिणति से असंयत होता है, और तभी तक पर और आत्मा के एकपने का अध्यवसान करने से कर्ता होता है। और जिस समय यही आत्मा आप और प्रकृति के पृथक्-पृथक् स्वलक्षण के निर्णयरूप ज्ञान से अपने बन्ध का निमित्त प्रकृति के स्वभाव को छोड़ देता है उस काल अपने परके विभाग के ज्ञान से ज्ञायक होता है, अपने और परके विभाग के श्रद्धान से दर्शक होता है, अपने परके विभाग की परिणति से संयत होता है और उसी काल अपने परके एकपने का अभ्यास न करने से अकर्ता होता है।

भावार्थ—यह आत्मा जब तक अपना और परका निजलक्षण नहीं जानता, तब तक भेदज्ञान के अभाव से कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझ परिणमता है। उसी तरह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी असंयमी होके कर्ता हुआ कर्म का बन्ध करता है। और जब भेदज्ञान हो जाता है तब उसका न कर्ता बनता है न कर्म का बन्ध करता है, केवल ज्ञाता द्रष्टा हुआ परिणमता है ।।३१४।३१५।।

इसी तरह भोक्तापन आत्मा का स्वभाव नहीं है उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं—**भोक्तृत्वं इत्यादि। अर्थ**—इस आत्मा का जिस प्रकार कर्ता स्वभाव नहीं है उसी तरह भोक्तापन भी नहीं है यह अज्ञान से ही भोक्ता है। जब अज्ञान का अभाव हो जाता है तब भोक्ता नहीं होता ।।१९६।।

---

१. स्थितः इति पाठः।

अण्णाणी कम्मफलं पयडिसहावट्ठिओ दु वेदेइ ।
णाणी पुण कम्मफलं जाणइ उदियं ण वेदेइ ॥३१६॥

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते ।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते ॥३१६॥

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपरयोरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहंतया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते । ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात्स्वपरयोर्विभागज्ञानेन स्वपरयोर्विभागदर्शनेन स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहंतयानुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव न पुनस्तस्याहंतयाऽनुभवितुमशक्यत्वाद्वेदयते ॥३१६॥

अज्ञानी[1] प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः ।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ॥१९७॥

कर्मफलं तन्मयो भूत्वा वेदयति, यस्तु निरपराधो ज्ञानी स कर्मोदये सति किं करोति ? इति कथयति;—

जो[2] पुण णिरावराहो चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि ।
आराहणाए णिच्चं वट्टदि अहमिदि वियाणंतो ।

आगे इसी अर्थ को गाथा में कहते हैं;—[अज्ञानी] अज्ञानी [कर्मफलं] कर्म के फल को [प्रकृतिस्वभावस्थितः] प्रकृति के स्वभाव में ठहरा हुआ [वेदयते] भोगता है [पुनः] और [ज्ञानी] ज्ञानी [उदितं] उदय में आये हुए [कर्मफलं] कर्म के फल को [जानाति] जानता है [तु] परंतु [न वेदयते] भोगता नहीं है ।

टीका—अज्ञानी निश्चय से शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव से अपना परका एकपने का श्रद्धान करके और अपनी परकी एकपने की परिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होता है, इसलिये प्रकृति के स्वभाव को अहंबुद्धिपने से आप अनुभव करता हुआ कर्म के फल को भोगता है । और ज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के सद्भाव से अपने और पर के भेदज्ञान से अपने परके विभाग के श्रद्धान से और अपनी परकी विभाग रूप परिणति से प्रकृति के स्वभाव से दूरवर्ती हुआ है तथा अपने शुद्ध आत्मा के भाव को ही अहंबुद्धिपन से आप अनुभव करता है । इस प्रकार अनुभव करता

---

१. प्रकृतेर्ज्ञानावरणादिकायाः स्वभावश्चतुर्गतिशरीररागादिभावसुखदुःखादिका परिणतिस्तत्र निरतः—आत्मीयबुद्ध्या ।

२. नेयं गाथात्रात्मख्यातौ ।

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते—

ण मुयइ पयडिमभव्वो सुट्ठुवि अज्झाइऊण सत्थाणि।
गुडदुद्धंपि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा हुंति ॥३१७॥

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि।
गुडदुग्धमपि पिबन्तो न पन्नगा निर्विषा भवन्ति ॥३१७॥

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुञ्चति, विषभावमोचनसमर्थसशर्करक्षीरपानाच्च न मुञ्चति। तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुञ्चति प्रकृतिस्वभावमोचनसमर्थद्रव्यश्रुतज्ञानाच्च न मुञ्चति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात्। अतो नियम्यतेऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव।३१७।

यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शङ्कितस्तु स भवति। आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति विजानन्। जो पुण णिरवराहा चेदा णिस्संकिदो दु सो होदि यस्तु चेतयिता ज्ञानी जीवः स निरपराधः सन् परमात्माराधनविषये निश्शङ्को भवति। निश्शङ्को भूत्वा किं करोति? आराहणाए णिच्चं वट्ठदि अहमिदि वियाणंतो

हुआ उदय में आये कर्म के फल को ज्ञेयमात्रपने से जानता ही है, परंतु उसे अहंपने से अनुभव न करने से भोगता नहीं है।

भावार्थ—अज्ञानी के तो शुद्ध आत्मा का ज्ञान ही नहीं है, इसलिये जैसा कर्म उदय में आता है उसी को अपना जान भोगता है, और ज्ञानी के शुद्ध आत्मानुभव हो गया है, इससे प्रकृति के उदय के आनेको अपना स्वभाव नहीं जानता, उसका ज्ञाता ही रहता है भोक्ता नहीं होता ॥३१६॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—अज्ञानी इत्यादि। अर्थ—अज्ञानी जन तो प्रकृति के स्वभाव में लीन है, उसी को अपना स्वभाव जानता है इसलिये सदाकाल उसका भोक्ता है, और ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त है उसको परका स्वभाव जानता है इसलिये कभी भोक्ता नहीं है। सो आचार्य उपदेश करते हैं कि जो प्रवीण पुरुष हैं वे ज्ञानीपने और अज्ञानीपने के नियम को विचार कर अज्ञानीपने को छोड़ो और शुद्ध आत्ममय एक तेज (प्रताप) में निश्चल होकर ज्ञानीपने को सेवन करो ॥१९७॥

आगे अज्ञानी भोक्ता ही है ऐसा नियम कहते हैं;—[अभव्यः] अभव्य [सुष्ठु अपि] अच्छी तरह अभ्यासकर [शास्त्राणि] शास्त्रों को [अधीत्य] पढ़ता हुआ भी [प्रकृतिं न मुञ्चति] कर्म के उदय स्वभाव को नहीं छोड़ता अर्थात् प्रकृति नहीं बदलती [पन्नगाः] जैसे सर्प [गुडदुग्धं] गुड़सहित दूध को [पिबन्तः अपि] पीते हुए भी [निर्विषाः] निर्विष [न भवन्ति] नहीं होते।

टीका—जैसे इस लोक में सर्प अपने विष भाव को स्वयं नहीं छोड़ता तथा विष भाव के मेटने को समर्थ ऐसे मिश्री सहित दूध के पीने से भी नहीं छोड़ता, उसी तरह अभव्य वास्तव में प्रकृति के स्वभाव को स्वयमेव भी नहीं छोड़ता और प्रकृति स्वभाव के छुड़ाने को समर्थ जो द्रव्यश्रुत शास्त्र का ज्ञान उससे भी नहीं छोड़ता। क्योंकि इसके नित्य ही भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव से अज्ञानीपन है। इसलिये ऐसा नियम है कि अज्ञानी प्रकृति स्वभाव में ठहरने से कर्म का भोक्ता ही है।

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते—

णिव्वेयसमावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेइ ।
महुरं कडुयं बहुविहमवेयओ तेण सो होई ॥३१८॥

निर्वेदसमापन्नो ज्ञानी कर्मफलं विजानाति ।
मधुरं कटुकं बहुविधमवेदको तेन भवति ॥३१८॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यन्तविरक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुञ्चति ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहंतयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते । अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव ॥ ३१८ ॥

निर्दोषपरमात्माराधनारूपया निश्चयाराधनया नित्यं सर्वकालं वर्तते । किं कुर्वन् ? अनन्तज्ञानादिरूपोऽहमिति निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा शुद्धात्मानं सम्यग्जानन् परमसमरसीभावेन चानुभवति इति । अज्ञानी कर्मणां नियमेन वेदको भवतीति दर्शयति;—यथा पन्नगाः सर्पाः शर्करासहितं दुग्धं पिबन्तोऽपि निर्विषा न भवन्ति तथाऽज्ञानी जीवो मिथ्यात्वरागादिरूपकर्मप्रकृत्युदयस्वभावं न मुञ्चति । किं कृत्वापि अधीत्यापि । कानि ? शास्त्राणि ।

भावार्थ—अज्ञानी कर्म के फल का भोक्ता ही है यह नियम कहा है। यहां पर अभव्य का उदाहरण ठीक है, इसका स्वयमेव ऐसा स्वभाव है। वहाँ अभव्य बाह्य कारणों के मिलने पर भी कर्म के उदय के भोगने का स्वभाव नहीं बदलता, इस कारण अज्ञानी के भोक्तापने का नियम बनता है ॥ ३१७ ॥

आगे कहते हैं—ऐसा नियम है कि ज्ञानी कर्मफल का अवेदक ही है :—[ज्ञानी] ज्ञानी [निर्वेदसमापन्नः] वैराग्य को प्राप्त हुआ [कर्मफलं] कर्म के फल को [विजानाति] जानता है जो [मधुरं-कटुकं] मीठा तथा कड़वा [अनेकविधं] इत्यादि अनेक प्रकार है [तेन] इस कारण [सः] वह [अवेदकः भवति] भोक्ता नहीं है।

टीका—ज्ञानी अभेदरूप भावश्रुत ज्ञानस्वरूप शुद्धात्मा के ज्ञान के होने से पर से अत्यन्त विरक्त है। इसलिये वह ज्ञानी कर्म के उदय के स्वभाव को स्वयं ही छोड़ देता है, उस रूप परिणमन नहीं करता। इस कारण मीठा कड़ुवा सुख-दुःख रूप उदय आये हुए कर्म फल को केवल जानता ही है। क्योंकि ज्ञानी का ज्ञातापन (जानना) स्वभाव है, इसलिये कर्ता नहीं बनता और भोक्ता भी नहीं बनता। ज्ञान होने पर परद्रव्य को अहंरूप से अनुभव करने की अयोग्यता है; इस कारण भोक्ता नहीं होता। क्योंकि ज्ञानी कर्मस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है।

भावार्थ—जो जिससे विरक्त होता है उसको अपने वश तो भोगता नहीं है, यदि परवश भोगे तो उसे परमार्थ में भोक्ता नहीं कहते, इस न्याय से ज्ञानी भी कर्म के उदय को अपना नहीं समझता, उससे विरक्त है, सो स्वयमेव तो भोगता ही नहीं। यदि उदय की बलवत्ता से परवश हुआ अपनी निर्बलता से भोगे तो उसे वास्तव में भोक्ता नहीं कहते, व्यवहार से भोक्ता है, उसका यहां शुद्धनय से अधिकार नहीं है ॥३१८॥

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम् ।
जानन्परं करणवेदनयोरभावात् शुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥१९८॥

णवि कुव्वइ णवि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं ।
जाणइ पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च ॥३१९॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ।
जानाति पुनः कर्मफलं बन्धं पुण्यं च पापं च ॥३१९॥

ज्ञानी हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वादवेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च । किंतु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबन्धं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति ॥३१९॥

कथं ? सुट्ठुवि सुष्ठ्वपि । कस्मान्न मुञ्चति ? वीतरागस्वसंवेदनज्ञानाभावात् कर्मोदये सति मिथ्यात्वरागादीनां तन्मयो भवति यतः कारणात् इति ॥ ३१७ ॥ ज्ञानी कर्मणां नियमेन निश्चयेन वेदको न भवतीति दर्शयति;—णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि परमतत्त्वज्ञानी जीवः संसारशरीरभोगरूपत्रिविधवैराग्यसंपन्नो भूत्वा शुभाशुभकर्मफलमुदयागतं वस्तु वस्तुस्वरूपेण विशेषेण निर्विकारस्वशुद्धात्मनो भिन्नत्वेन जानाति । कथंभूतं जानाति ? महुरं कडुवं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो॰ अशुभकर्मफलं निम्बकाञ्जीरविषहालाहलरूपेण कटुकं जानाति । शुभकर्मफलं बहुविधं·गुडखण्डशर्करामृतरूपेण मधुरं जानाति । न च शुद्धात्मोत्थसहजपरमा-

---

अव इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**ज्ञानी** इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी जीव कर्म को न करता है और न भोगता है, केवल उस कर्मस्वभाव को जानता ही है । इस प्रकार केवल जानता हुआ कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभाव से शुद्ध स्वभाव में निश्चल है । इसलिये निश्चय से कर्मों से छूटा हुआ ही कहा जाता है ।

भावार्थ—ज्ञानी कर्म का स्वाधीनपने से कर्ता भोक्ता नहीं है केवल ज्ञाता ही है, इसलिये शुद्ध स्वभाव रूप हुआ मुक्त ही है । कर्म का उदय ज्ञानी को क्या कर सकता है ? कुछ नहीं । जब तक निर्बलता रहती है तब तक कर्म ;जोर चलालें; 'कभी तो वह कर्म का निर्मूल नाश करेगा ही ॥ १९८ ॥

आगे इसी अर्थ को फिर पुष्ट करते हैं;—[**ज्ञानी**] ज्ञानी [**बहुप्रकाराणि कर्माणि**] बहुत प्रकार के कर्मों को [**नापि करोति**] न तो करता है [**नापि वेदयते**] और न भोगता है [**पुनः**] परन्तु [**बन्धं**] कर्म के बन्ध को [**च**] और [**कर्मफलं**] कर्म के फल [**पुण्यं च पापं**] पुण्य और पापों को [**जानाति**] जानता ही है ।

टीका—ज्ञानी कर्मचेतना से शून्य है तथा कर्मफलचेतना से भी शून्य है इसलिए आप स्वतन्त्र होकर कर्ता नहीं होता और न भोक्ता ही होता, इसलिये कर्म को न तो करता है और न भोगता है । ज्ञानी ज्ञानचेतनायुक्त होने से केवल ज्ञाता ही है, उससे कर्म के बन्ध को तथा कर्म के शुभ अशुभ फल को केवल जानता ही है ॥३१९॥

कुत एतत् ?—

दिट्ठी[1] जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव ।
जाणइ य बंधमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३२०॥

दृष्टिः यथैव ज्ञानमकारकं तथाऽवेदकं चैव ।
जानाति च बन्धमोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव ॥३२०॥

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यन्तविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्संधुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिण्डवत्स्वयमेवौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात् । किंतु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति । तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यन्तविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च । किंतु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति ॥३२०॥

नन्दरूपमतीन्द्रियसुखं विहाय पञ्चेन्द्रियसुखे परिणमति, तेन कारणेन ज्ञानी वेदको भोक्ता न भवतीति नियमः । एवं ज्ञानी शुद्धनिश्चयेन शुभाशुभकर्मफलभोक्ता न भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम् ॥३१८॥ अयं निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिलक्षणभेदज्ञानी कर्म न करोति न च वेदयतीति प्रकाशयति—**णवि कुव्वदि णवि वेदवि णाणी कम्माइ बहुपयाराइ** त्रिगुप्तिगुप्तिबलेन ख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनशून्येनानन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्यस्वरूपेण सालम्बने भरितावस्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थितो ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि ज्ञानावरणादिमूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नानि निश्चयनयेन न करोति न

आगे पूछते हैं कि ज्ञानी किस प्रकार कर्ता-भोक्ता नहीं हैं मात्र ज्ञाता ही है । उसका उत्तर दृष्टान्त पूर्वक कहते हैं,—[यथा] जैसे [दृष्टिः] नेत्र देखने योग्य पदार्थ को देखता ही है उनका [अकारकं चैव अवेदकं] कर्ता और भोक्ता नहीं है [तथा चैव] उसी प्रकार [ज्ञानं] ज्ञान भी [बन्धमोक्षं] बन्ध मोक्ष [कर्मोदयं] कर्म के उदय [च] और [निर्जरां] निर्जरा को [जानाति] जानता ही है ।

टीका—जैसे इस लोक में नेत्र देखने योग्य पदार्थों से अत्यन्त भिन्न होने के कारण उनके करने और भोगने को असमर्थ है, उस भिन्नत्व के कारण दृश्य पदार्थ का न तो कर्ता है और न भोगता है । यदि ऐसा न हो तो अग्नि को जलाने वाले की तरह व अग्नि से तप्तायमान लोह के पिण्ड की तरह अग्नि के देखने से नेत्र के कर्ता भोक्तापन अवश्य आ जायगा सो नहीं है, नेत्र का स्वभाव केवल दर्शनमात्र है, इसलिये दृश्य को केवल देखता ही है । उसी तरह ज्ञान भी आप नेत्रवत् ही है, इसलिये कर्म से अत्यन्त भिन्न होने से निश्चयतः उस कर्म को करने और भोगने में असमर्थ है, न तो कर्म को करता है, न भोगता है । केवल ज्ञानमात्र स्वभावपने से कर्म के बन्ध, मोक्ष, उदय को तथा उसकी निर्जरा को केवल जानता ही है ।

---

१. दिट्ठी सयंपि पाठोऽयं तात्पर्यवृत्तौ ।

ये तु कर्तारमात्मानं पश्यन्ति तमसा तताः ।
सामान्यजनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षताम् ॥१९९॥

च तन्मयो भूत्वा वेदयत्यनुभवति । तर्हि किं करोति ? **जाणदि पुण कम्मफलं बंधं पुण्णं च पावं च** परमात्मभावनोत्थसुखे तृप्तो भूत्वा वस्तुस्वरूपेण जानात्येव । किं जानाति ? सुखदुःखस्वरूपकर्मफलं प्रकृतिबन्धादिभेदभिन्नं पुनः कर्मबन्धं, सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्ररूपं पुण्यं, अतोऽन्यदसद्वेद्यादिरूपं पापं चेति ॥ ३१९ ॥ तमेव कर्तृत्वभोक्तृत्वाभावं विशेषेण समर्थयति;—**दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव** यथा दृष्टिः कर्त्री दृश्यमग्निरूपं वस्तुसंधुक्षणं पुरुषवन्न करोति तथैव च तप्तायःपिण्डवदनुभवरूपेण न वेदयति । तथा शुद्धज्ञानमप्यभेदेन शुद्धज्ञानपरिणतजीवो वा स्वयं शुद्धोपादानरूपेण न करोति न च वेदयति । अथवा पाठान्तरं **दिट्ठी खयंपि णाणं** तस्य व्याख्यानं—न केवलं दृष्टिः क्षायिकज्ञानमपि निश्चयेन कर्मणामकारकं तथैवावेदकमपि । तथाभूतः सन् किं करोति ? **जाणदि य बंधमोक्खं** जानाति च कौ ? बन्धमोक्षौ । न केवलं बन्धमोक्षौ **कम्मुदयं णिज्जरं चेव** शुभाशुभरूपं कर्मोदयं सविपाकाविपाकरूपेण सकामाकामरूपेण वा द्विधा निर्जरां चैव जानाति

भावार्थ—ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भांति दूर से जानने का है। इसलिये ज्ञान के कर्तृत्व भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहां कोई पूछे कि ऐसा तो केवलज्ञान है। जब तक मोह कर्म का उदय है तब तक तो सुखदुःखरागादिरूप परिणमन होता ही है, जब तक दर्शनावरण ज्ञानावरण और वीर्यांतराय का उदय है तब तक अदर्शन, अज्ञान और असमर्थपना होता ही है, तब केवलज्ञान के पहले ज्ञाता द्रष्टा कैसे कह सकते हैं ? उसका समाधान—यह तो पहले से ही कहते आए हैं कि यदि स्वतन्त्र होकर करे और भोगे तो उसे वास्तव में कर्त्ता—भोक्ता कहते हैं। सो जब मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ, तब परद्रव्य के स्वामीपने का अभाव हुआ, तब आप ज्ञानी हुआ स्वतन्त्रपने से तो किसी का कर्ता भोक्ता नहीं होता। परन्तु अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है उसको परमार्थदृष्टि से कर्ता भोक्ता नहीं कहा जाता। उसके निमित्त से जो कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है, उसको यहां बन्ध में नहीं गिना। जो संसार है वह तो मिथ्यात्व है, मिथ्यात्व के चले जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है, समुद्र में बूंद की क्या गिनती ?। इतना और भी जाना कि केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही है परन्तु श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलंबन से आत्मा को वैसा ही अनुभव करता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है। श्रुतज्ञानी के ज्ञान श्रद्धान की अपेक्षा तो ज्ञाता द्रष्टापना ही है। चारित्र की अपेक्षा प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है उतना ही घात है, इसके नाश करने का उद्यम है। जब कर्म का अभाव हो जायगा तब साक्षात् यथाख्यातचारित्र होगा, तभी केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। सम्यग्दृष्टि को तो ज्ञानी कहते हैं सो मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा ही कहते हैं। यदि अपेक्षा नहीं ली जाय तो ज्ञानसामान्य से सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष अपेक्षा ली जाय तो जब तक कुछ भी अज्ञान रहे तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता। जैसे सिद्धान्त में जो भाव लगाये गये हैं—जब तक केवल ज्ञान नहीं होता तब तक बारहवां गुणस्थानपर्यंत अज्ञान भाव ही लगाया है। इसलिये यहां ज्ञानी अज्ञानी कहना सम्यक्त्व मिथ्यात्व की ही अपेक्षा जानना ॥३२०॥

आगे जो सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं उनका निषेध करते हैं, इसकी सूचना का श्लोक कहते हैं—ये तु इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष अज्ञानरूपी अन्धकार से

लोयस्स कुणइ विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते ।
समणाणंपि य अप्पा जइ कुव्वइ छव्विहे काये ॥३२१॥

इति । एवं सर्वविशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धोपादानभूतेन शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन कर्तृत्व—भोक्तृत्व—बन्ध—मोक्षादिकारणपरिणामशून्यो जीव इति सूचितं । समुदायपातनिकायां पश्चाद्गाथाचतुष्टयेन जीवस्याकर्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन सामान्यविवरणं कृतम् । पुनरपि गाथाचतुष्टयेन शुद्धस्यापि यत्प्रकृतिभिर्बन्धो भवति तदज्ञानस्य माहात्म्यमित्यज्ञानसामर्थ्यकथनरूपेण विशेषविवरणं कृतं । पुनश्च गाथाचतुष्टयेन जीवस्याभोक्तृत्वगुणव्याख्यानमुख्यत्वेन व्याख्यानं कृतं । तदनन्तरं शुद्धनिश्चयेन तस्यैव कर्तृत्वबन्धमोक्षादिककारणपरिणामवर्जनरूपस्य द्वादशगाथाव्याख्यानस्योपसंहाररूपेण गाथाद्वयं गतं ॥ इति समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां तात्पर्यवृत्तौ मोक्षाधिकारसंबन्धिनी चतुर्दशगाथाभिश्चतुर्भिरन्तराधिकारैः चूलिका समाप्ता । अथवा द्वितीयव्याख्यानेनात्र मोक्षाधिकारः समाप्तः ।

किं च विशेषः—औपशमिकादिपञ्चभावानां मध्ये केन भावेन मोक्षो भवतीति विचार्यते । तत्रौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकौदयिकभावचतुष्टयं पर्यायरूपं भवति शुद्धपारिणामिकस्तु द्रव्यरूप इति । तच्च परस्परसापेक्षं द्रव्यपर्यायद्वयमात्मपदार्थो भण्यते । तत्र तावज्जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वत्रिविधपारिणामिकभावमध्ये शुद्धजीवत्वं शक्तिलक्षणं यत्पारिणामिकत्वं तच्छुद्धद्रव्यार्थिकनयाश्रितत्वान्निरावरणं शुद्धपारिणामिकभावसंज्ञं तत्तु बन्धमोक्षपर्यायपरिणतिरहितं । यत्पुनर्दशप्राणरूपं जीवत्वं भव्याभव्यत्वद्वयं च तत्पर्यायार्थिकनयाश्रितत्वादशुद्धपारिणामिकभावसंज्ञमिति । कथमशुद्धमिति चेत्, संसारिणां शुद्धनयेन सिद्धानां तु सर्वथैव दशप्राणरूपजीवत्वभव्याभव्यत्वद्वयाभावादिति । तस्य त्रयस्य मध्ये भव्यत्वलक्षणपारिणामिकस्य तु यथासंभवं सम्यक्त्वादिजीवगुणघातकं देशघातिसर्वघातिसंज्ञं मोहादिकर्मसामान्यं पर्यायार्थिकनयेन प्रच्छादकं भवति इति विज्ञेयं । तत्र च यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदायं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति । तच्च परिणमनमागमभाषयौपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकं भावत्रयं भण्यते । अध्यात्मभाषया पुनः शुद्धात्माभिमुखपरिणामः शुद्धोपयोग इत्यादि पर्यायसंज्ञां लभते । स च पर्यायः शुद्धपारिणामिकभावलक्षणशुद्धात्मद्रव्यात्कथंचिद्भिन्नः । कस्मात् ? भावनारूपत्वात् । शुद्धपारिणामिकस्तु भावनारूपो न भवति । यद्येकान्तेनाशुद्धपारिणामिकादभिन्नो भवति तदास्य भावनारूपस्य मोक्षकारणभूतस्य मोक्षप्रस्तावे विनाशे जाते सति शुद्धपारिणामिकभावस्यापि विनाशः प्राप्नोति; न च तथा । ततः स्थितं—शुद्धपारिणामिकभावविषये या भावना तद्रूपं यदौपशमिकादिभावत्रयं तत्समस्तरागादिरहितत्वेन शुद्धोपादानकारणत्वान्मोक्षकारणं भवति, न च शुद्धपारिणामिकः । यस्तु शक्तिरूपो मोक्षः स शुद्धपारिणामिके पूर्वमेव तिष्ठति । अयं तु व्यक्तिरूपमोक्षविचारो वर्तते । तथा चोक्तं सिद्धान्ते—'निष्क्रियः शुद्धपरिणामिकः' निष्क्रिय इति कोऽर्थः ? बन्धकारणभूता या क्रिया रागादिपरिणतिः, तद्रूपो न भवति । मोक्षकारणभूता च क्रिया शुद्धभावनापरिणतिस्तद्रूपश्च न भवति । ततो ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानरूपो न भवति । कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् । तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तं—णवि उप्पज्जइ णवि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ । जिउ परमत्थे जोइया जिणवरु एउ भणेइ ॥ १ ॥ किंच विवक्षितैकदेशशुद्धनयाश्रितेयं भावना निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणभेदक्षायोपशमिकाज्ञानत्वेन

आच्छादित हुए आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, वे मोक्ष को चाहते हैं तो भी उनके लौकिक जन की तरह मोक्ष नहीं होता ॥१९९॥

लोगसमणाणमेयं[1] सिद्धंतं जइ ण दीसइ विसेसो ।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाणवि अप्पओ कुणइ ॥३२२॥
एवं ण कोवि मोक्खो दीसइ[2] लोयसमणाण दोण्हंपि ।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुयासुरे लोए ॥३२३॥ (त्रिकलम्)

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान् ।
श्रमणानामप्यात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान् ॥३२१॥

यद्यप्येकदेशव्यक्तिरूपा भवति तथापि ध्याता पुरुषः यदेव सकलनिरावरणमखण्डैकप्रत्यक्षप्रतिभासमयमविनश्वरं शुद्धपारिणामिकपरमभावलक्षणं निजपरमात्मद्रव्यं तदेवाहमिति भावयति न च खण्डज्ञानरूपमिति भावार्थः । इदं तु व्याख्यानं परस्परसापेक्षागमाध्यात्मनयद्वयाभिप्रायस्याविरोधेनैव कथितं सिद्ध्यतीति ज्ञातव्यं विवेकिभिः ॥ ३२० ॥ अतः परं जीवादिनवाधिकारेषु जीवस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वादिस्वरूपं यथास्थानं निश्चयव्यवहारनयविभागेन सामान्येन यत्पूर्वं सूचितं, तस्यैव विशेषविवरणार्थं लोकस्स कुणदि विह्णू इत्यादि गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण षडधिकनवतिगाथापर्यन्तं चूलिकाव्याख्यानं करोति—चूलिकाशब्दस्यार्थः कथ्यते । तथाहि—विशेषव्याख्यानं, उक्तानुक्तव्याख्यानं, उक्तानुक्तसंकीर्णव्याख्यानं चेति त्रिधा चूलिकाशब्दस्यार्थो ज्ञातव्यः । तत्र षण्णवतिगाथासु मध्ये विष्णोर्देवादिपर्यायकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन लोगस्स कुणदि विह्णू इत्यादि गाथासप्तकं च भवति । तदनन्तरं, अन्यः कर्ता, भुङ्क्ते चान्यः—इत्येकान्तनिषेधरूपेण बौद्धमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं केहिं दु पज्जयेहिं इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । अतः परं सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति एकान्तेन जीवस्य भावमिथ्यात्वाकर्तृत्वनिराकरणार्थं मिच्छत्ता जदि पयडी इत्यादि सूत्रपञ्चकं । ततः परं ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिभावान् कर्मैवैकान्तेन करोति न चात्मेति । पुनरपि सांख्यमतनिराकरणार्थं—कम्मेहिं अण्णाणी इत्यादि त्रयोदशसूत्राणि । अथानन्तरं कोऽपि प्राथमिकशिष्यः शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां विनाशं कर्तुं वाञ्छति किन्तु मनसि स्थितस्य विषयानुरागस्य घातं करोमीति विशेषविवेकं न जानाति तस्य संबोधनार्थं दंसणणाणचरित्तं इत्यादि सूत्रसप्तकं । तदनन्तरं यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुण्डलादि कर्म हस्तकुट्टकाद्युपकरणैः करोति तत्फलं मूल्यादिकं भुङ्क्ते च तथापि तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि द्रव्यकर्म करोति भुङ्क्ते च तथापि तन्मयो न भवतीत्यादिप्रतिपादनरूपेण जह सिप्पियो दु इत्यादि गाथासप्तकं । ततः परं यद्यपि श्वेतमृत्तिका व्यवहारेण कुड्यादिकं श्वेतं करोति तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि व्यवहारेण ज्ञेयभूतं च द्रव्यमेव जानाति पश्यति परिहरति श्रद्धाति च तथापि निश्चयेन तन्मयो न भवति इति ब्रह्माद्वैतमतानुसारिशिष्यसंबोधनार्थं जह सेडिया इत्यादि सूत्रदशकं । ततः परं शुद्धात्मभावनारूपनिश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचना—निश्चयचारित्रव्याख्यानमुख्यत्वेन कम्मं जं पुव्वकयं इत्यादिसूत्रचतुष्टयं । तदनन्तरं रागद्वेषोत्पत्ति-

---

अब इसी अर्थ को गाथा से कहते हैं—[सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्] देव, नारक, तिर्यंच, मनुष्य प्राणियों को [लोकस्य] लौकिकजनों के मतानुसार [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता

---

१. सिद्धं तं पडि ण दिस्सदि विसेसो, तात्पर्यवृत्तावयं पाठः ।
२. दीसइ दुण्हंपि समणलोयाणं पाठोऽयं तात्पर्यवृत्तौ ।

लोकश्रमणानामेकः सिद्धान्तो यदि न दृश्यते विशेषः ।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति ॥३२२॥
एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि ।
नित्यं कुर्वतां सदेवमनुजासुरान् लोकान् ॥ ३२३ ॥

विषयेऽज्ञानरूपस्वकीयबुद्धिरूपदोष एव कारणं न चाचेतनशब्दादिविषया इति कथनार्थं **णिंदवि संथुदि वयणाणि** इत्यादि गाथादशकं । अतः परं उदयागतं कर्म वेदयमानो मदीयमिदं मया कृतं च मन्यते स्वस्वभावशून्यः सुखितो दुःखितश्च भवति यः सः पुनरप्यष्टविधं कर्म दुःखबीजं बध्नातीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन **वेदंतो कम्मफलं** इत्यादि गाथात्रयं । तदनन्तरं आचारसूत्रकृतादि द्रव्यश्रुतेन्द्रियविषयद्रव्यकर्म धर्माधर्माकाशकालाः शुद्धनिश्चयेन रागादयोऽपि शुद्धजीवस्वरूपं न भवन्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **सच्छं णाणं ण हवदि** इत्यादि पञ्चदश सूत्राणि । ततः परं यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणात्मा मूर्तिरहितस्तस्याभिप्रायेण कर्मनोकर्माहाररहित इति व्याख्यानरूपेण **अप्पा जस्स अमुत्तो** इत्यादि गाथात्रयं । तदनन्तरं देहाश्रितद्रव्यलिङ्गं निर्विकल्पसमाधिलक्षणभावलिङ्गरहितयतीनां मुक्तिकारणं न भवति भावलिङ्गसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन **पाखंडी लिंगाणि य** इत्यादि सूत्रसप्तकं । पुनश्च समयप्राभृताध्ययनफलकथनरूपेण ग्रन्थसमाप्त्यर्थं **जो समयपाहुडमिणं** इत्यादि सूत्रमेकं कथयतीति त्रयोदशभिरन्तराधिकारैः समयसारचूलिकाधिकारे समुदायपातनिका—इदानीं त्रयोदशाधिकाराणां यथाक्रमेण विशेषव्याख्यानं क्रियते । तद्यथा—एकान्तेनात्मानं कर्तारं ये मन्यन्ते तेषामज्ञानिजनवन्मोक्षो नास्तीत्युपदिशति;—**लोगस्स कुणदि विह्णू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते** लोकस्य मते विष्णुः करोति । कान् ? सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान् **समणाणंपि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए** श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति यदि चेत् । कान् ? षट्जीवनिकायानिति । **लोगसमणाणमेवं सिद्धन्तं पडि ण दिस्सदि विसेसो** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धान्तं प्रति, आगमं प्रति न दृश्यते कोऽपि विशेषः । कयोः संबन्धी ? लोकश्रमणयोः । कस्मात् इति चेत्—**लोगस्स कुणदि विह्णू समणाणं अप्पओ कुणदि** लोकमते विष्णुनामा कोऽपि परकल्पित-

---

है ऐसा मन्तव्य है [**च**] इसी प्रकार [**यदि**] यदि [**श्रमणानामपि**] श्रमणों (मुनियों) के मत में भी ऐसा माना जाय कि [**षड्विधान् कायान्**] छह काय के जीवों को [**आत्मा**] आत्मा [**करोति**] करता है तो [**लोक-श्रमणानां**] लोकों का और यतियों का [**एकः सिद्धान्तः**] एक सिद्धान्त ठहरा [**विशेषं न दृश्यते**] कुछ विशेषता नहीं रही । क्योंकि [**लोकस्य**] लोक के मत में [**विष्णुः**] जैसे विष्णु [**करोति**] करता है उस तरह [**श्रमणानामपि**] श्रमणों के मत में भी [**आत्मा करोति**] आत्मा करता है इस तरह कर्ता के मानने में दोनों समान हुए । [**एवं**] इस तरह [**लोकश्रमणानां द्वयेषामपि**] लोक और श्रमण इन दोनों में से [**कोपि**] कोई भी [**मोक्षो न दृश्यते**] मोक्ष हुआ नहीं दीखता क्योंकि जो [**सदेवमनुजासुरान्**] देव, मनुष्य, असुर सहित [**लोकान्**] लोकों को [**नित्यं कुर्वंतां**] नित्य दोनों ही करते हुए प्रवर्तन करते हैं उनके मोक्ष कैसा ।

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते। लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोति इत्यपसिद्धान्तस्य समत्वात्। ततस्तेषामात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात्-लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः ॥३२१।३२२।३२३॥

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्मतत्त्वयोः।
कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

पुरुषविशेषः करोति। श्रमणानां मते पुनरात्मा करोति तत्र विष्णुसंज्ञा श्रमणमते चात्मसंज्ञा नास्ति विप्रतिपत्तिर्न चार्थे। एवं ण कोवि मुक्खो दीसदि दुण्हंपि समणलोयाणं एवं कर्तृत्वे सति को दोषः? मोक्षः कोऽपि न दृश्यते कयोर्लोकश्रमणयोः। किंविशिष्टयोः? णिच्चं कुव्वंताणं सदेवमणुआसुरे लोगे नित्यं सर्वकालं कर्म कुर्वतोः। क्व? लोके। कथंभूते? देवमनुष्यासुरसहिते। किं च—रागद्वेष-मोहरूपेण परिणमनमेव कर्तृत्वमुच्यते। तत्र रागद्वेषमोहपरिणमने सति शुद्धस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गच्च्यवनं भवति ततश्च मोक्षो न भवतीति भावार्थः। एवं पूर्वपक्षरूपेण गाथात्रयं गतम् ॥३२१।३२२।३२३॥ अथोत्तरं निश्चयेनात्मनः पुद्गलद्रव्येण सह कर्तृकर्मसम्बन्धो नास्ति कथं कर्ता भविष्यतीति कथयति;—ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति विदिदच्छा परद्रव्यं मम भणन्ति। के ते? विदितार्थाः—ज्ञातार्थाः तत्त्ववेदिनः। केन कृत्वा भणन्ति? व्यवहारभाषितेन व्यवहारनयेन। जाणंति णिच्छयेण दु ण य इह

टीका- जो पुरुष आत्मा को कर्ता ही मानते हैं वे लोकोत्तर होने पर भी लौकिकपने को उल्लङ्घन नहीं करते (छोड़ते) क्योंकि लौकिक जनों के तो परमात्मा विष्णु सुरनारक आदि शरीरों को करता है और लोक से बाह्य मुनियों के अपना आत्मा सुरनारक आदि को करता है। इस तरह अन्यथा मानने में दोनों समान हैं। इसलिये आत्मा के नित्य कर्तापन के मानने से लौकिक जन की तरह लोकोत्तर मुनि भी लौकिक जन की तरह ही हैं; उनका भी मोक्ष नहीं होता।

भावार्थ—जो आत्मा को कर्ता मानते वे मुनि भी हों तो भी लौकिक जन सरीखे ही हैं क्योंकि लोक ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मुनियों ने भी आत्मा को कर्ता मान लिया। इस तरह इन दोनों का मानना समान हुआ। इस कारण जैसे लौकिक जनों को मोक्ष नहीं है, उसी तरह उन मुनियों को भी मोक्ष नहीं। जो कर्ता होगा वह कार्य के फल को भोगेगा ही, और जो फल भोगेगा उसके मोक्ष कैसा? अर्थात् मोक्ष हो ही नहीं सकता ॥३२१।३२२।३२३॥

आगे कहते हैं कि परद्रव्य और आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है ऐसा काव्य कहते हैं—नास्ति इत्यादि। अर्थ—परद्रव्य और आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है। इस तरह कर्ता कर्म सम्बन्ध का भी अभाव होने से पर द्रव्य का कर्तापन कैसे हो सकता है?

भावार्थ—पर द्रव्य और आत्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है तब कर्ता कर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है? ऐसा होने पर कर्तापन भी क्यों होगा? ॥२०१॥

ववहारभासिएण उ परदव्वं मम भणंति अविदियत्था ।
जाणंति णिच्छयेण उ ण य मह परमाणुमिच्चमवि किंचि ॥३२४॥
जह कोवि णरो जंपइ अम्हं गामविसयणयररट्ठं ।
ण य होंति तस्स ताणि उ भणइ य मोहेण सो अप्पा ॥३२५॥
एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवइ एसो ।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणइ ॥३२६॥
तम्हा ण मेत्ति णिच्चा दोह्णंवि एयाण कत्तविवसायं ।
परदव्वे जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहियाणं ॥३२७॥ (चतुष्कम्)

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणन्त्यविदितार्थाः ।
जानन्ति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किंचित् ॥३२४॥
यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम् ।
न च भवन्ति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा ॥३२५॥

परमाणुमित्त मम किंचि निश्चयेन पुनर्जानंति । किं ? न चेह परद्रव्यं परमाणुमात्रमपि ममेति । **जह कोविणरो जंपदि अह्माणं गामविसयपुररट्ठं** यथा नाम स्फुटमहो वा कश्चित्पुरुषो जल्पति । किं जल्पति ? वृत्यावृतो ग्रामः, देशाभिधानो विषयः, नगराभिधानं पुरं, देशैकदेशसंज्ञं राष्ट्रमस्माकमिति । **ण य हुंति ताणि तस्स दु भणदि य मोहेण सो अप्पा** न च तानि तस्य भवन्ति राजकीयनगरादीनि तथाप्यसौ मोहेन ब्रूते मदीयं ग्रामादिकमिति दृष्टान्तः । अथ दार्ष्टान्तः—एवं पूर्वोक्तदृष्टान्तेन ज्ञानी व्यवहारमूढो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं भणति तदा मिथ्यात्वं प्राप्तः सन् मिथ्यादृष्टिर्भवति निस्संशयं निश्चितं । संदेहो न कर्तव्यः इति । **तम्हा**

आगे जो व्यवहारनय के वचन से यह कहते हैं कि पर द्रव्य मेरा है, ऐसे व्यवहार को ही निश्चय स्वरूप मान लेते हैं, वे अज्ञान से मानते हैं, उसे दृष्टान्त द्वारा कहते हैं;—**[अविदितार्थाः]** जिन्होंने पदार्थ का स्वरूप नहीं जाना है वे पुरुष **[व्यवहारभाषितेन]** व्यवहार के कहे हुए वचनों को लेकर **[भणन्ति]** कहते हैं कि **[परद्रव्यं मम तु]** पर द्रव्य मेरा है **[तु]** और जो **[निश्चयेन]** निश्चयकर **[जानन्ति]** पदार्थों का स्वरूप जानते हैं वे कहते हैं कि **[परमाणुमपि]** परमाणुमात्र भी **[किंचित् मम न च]** कोई मेरा नहीं है। व्यवहार का कहना ऐसा है कि **[यथा]** जैसे **[कोपि]** कोई **[नरः]** पुरुष **[जल्पति]** कहे कि **[अस्माकं]** हमारा **[ग्रामविषयनगरराष्ट्रं]** ग्राम है देश है और मेरे राजा का देश है वहाँ निश्चय से विचारा जाय तो **[तानि तु]** वे ग्राम आदिक **[तस्य]** उसके **[न च भवन्ति]** नहीं हैं **[सआत्मा]** वह आत्मा **[मोहेन च भणति]** मोह से मेरा, मेरा ऐसा कहता है । **[एवमेव]** इसी तरह **[यः]** जो ज्ञानी **[जानन्]** परद्रव्य को परद्रव्य जानता हुआ **[परद्रव्यं मम इति]** परद्रव्य मेरा है ऐसा

एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निस्संशयं भवत्येषः ।
यः परद्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति ॥ ३२६॥
तस्मान्न मम इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम् ।
परद्रव्ये जानन् जानीयाद् दृष्टिरहितानाम् ॥३२७॥

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढा परद्रव्यं ममेदमिति पश्यन्ति । ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यन्ति । ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः । तथा यदि ज्ञान्यपि कथंचिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात् । अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ॥३२४।३२५।३२६।३२७॥

इत्यादि । तम्हा तस्मात् परकीयग्रामादिदृष्टान्तेन स्वानुभूतिभावनाच्युतः सन् योऽसौ परद्रव्यं व्यवहारेणात्मीयं

[आत्मानं करोति[अपने को परद्रव्यमय करता है [एषः] वह [निःसंशयं] निःसन्देह [मिथ्यादृष्टिः भवति] मिथ्यादृष्टि होता है [तस्मात्] इसलिये ज्ञानी [न मम इति ज्ञात्वा[परद्रव्य मेरा नहीं है ऐसा जानकर [परद्रव्ये] परद्रव्य में [एतेषां द्वयेषामपि] इन लौकिकजन तथा मुनियों के [कर्तृव्यवसायं] कर्तापन के व्यापार को [जानन्] जानता हुआ ऐसा [जानीयात्] जानता है कि ये [दृष्टिरहितानां] सम्यग्दर्शन से रहित हैं ।

टीका—जो व्यवहार में ही विमूढ़ हैं वे ही अज्ञानी हैं, वे ही परद्रव्य मेरा है ऐसा देखते हैं (कहते हैं) । जो ज्ञानी हैं वे निश्चय से प्रतिबुद्ध हो गये हैं वे कणिकामात्र भी पुद्गलद्रव्य को यह मेरा है ऐसा नहीं देखते । इसलिए जैसे इस लोक में कोई व्यवहार में मूढ दूसरे के ग्राम में रहने वाला कहे कि 'यह मेरा ग्राम है' ऐसे देखता हुआ मिथ्यादृष्टि कहा जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकार से व्यवहार में विमूढ़ होकर 'यह परद्रव्य मेरा है' ऐसे देखे तो उस समय वह भी परद्रव्य को अपना करता हुआ मिथ्यादृष्टि ही होता है । इसलिये जो तत्त्व को जानने वाला पुरुष है वह 'सभी परद्रव्य मेरा नहीं है' ऐसा जानकर लौकिकजन और श्रमणजन इन दोनों के जो परद्रव्य में कर्तापन का निश्चय है सो उनके सम्यग्दर्शन के न होने से ही है; ऐसा निश्चित जानता है ।

भावार्थ—ज्ञानी होकर भी यदि व्यवहारमोही हो, तो लौकिकजन हो या मुनिजन, दोनों के ही कर्तापन आता है तब मिथ्यादृष्टि होता है, ज्ञानी इस प्रकार जानता है ॥३२४।३२५।३२६।३२७॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—एकस्य इत्यादि । अर्थ—इस जगत् में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सभी संबंध निषेधा गया है इसलिए जहां वस्तु भेद है वहां कर्ता कर्म

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्द्धं संबन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः ।
तत्कर्तृकर्मघटनास्ति न वस्तुभेदे पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्[1] ॥२०१॥
ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेममज्ञानमग्नमहसो बत ते वराकाः ।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भावकर्मकर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ॥२०२॥

करोति स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति भणितं पूर्वं । तस्मात्कारणाज्ज्ञायते'दुह्णं एदाण कत्तिववसाओ। परद्रव्ये तयोः पूर्वोक्तलौकिकजैनयोः—आत्मा परद्रव्यं करोतीत्यनेन रूपेण योऽसौ परद्रव्यविषये कर्तृत्वव्यवसायः। किं कृत्वा ? पूर्वं ण ममेत्ति णच्चा निर्विकारस्वपरपरिच्छित्तिज्ञानेन परद्रव्यं मम संवन्धि न भवति इति ज्ञात्वा ? जाणंतो जाणिज्जो दिट्ठिरहिदाणं इमं लौकिकजैनयोः परद्रव्ये कर्तृत्वव्यवसायं—अन्यः कोऽपि तृतीयतटस्थः पुरुषो जानन् सन् जानीयात्। स कथंभूतं जानीयात् ? वीतरागसम्यक्त्वसंज्ञा या तु निश्चयदृष्टिस्तद्रहितानां व्यवसायोऽयमिति। ज्ञानी भूत्वा व्यवहारेण परद्रव्यमात्मीयं वदन् सन् कथमज्ञानी भवतीति चेत् ? व्यवहारो हि म्लेच्छानां म्लेच्छभाषेव प्राथमिकजनसंबोधनार्थं काल एवानुसर्तव्यः। प्राथमिकजनप्रतिबोधनकालं विहाय कतकफलवदात्मशुद्धिकारकात् शुद्धनयाच्च्युतो भूत्वा यदि परद्रव्यमात्मीयं करोति तदा मिथ्यादृष्टिर्भवति। किं च विशेषः—लोकानां मते विष्णुः करोतीति यदुक्तं पूर्वं तल्लोकव्यवहारापेक्षया भणितं। न चानादिभूतस्य देवमनुष्यादिभूतलोकस्य विष्णुर्ब्रह्मा वा महेश्वरो वा कोऽपि कर्तास्ति। कथमिति चेत्, सर्वोऽपि लोकस्तावदेकेन्द्रियादिजीवैर्भृतस्तिष्ठति। तेषां च जीवानां निश्चयनयेन विष्णुपर्यायेण ब्रह्मपर्यायेण महेश्वरपर्यायेण जिनपर्यायेण च परिणमनशक्तिरस्ति तेन कारणेनात्मैव विष्णुः, आत्मैव ब्रह्मा, आत्मैव महेश्वरः, आत्मैव जिनः। तदपि कथमिति चेत्, कोऽपि जीवः पूर्वं मनुष्यभवे जिनरूपं गृहीत्वा भोगाकांक्षानिदानवन्धेन पापानुवन्धि पुण्यं कृत्वा स्वर्गं समुत्पद्य तस्मादागत्य मनुष्यभवे त्रिखण्डाधिपतिरर्द्धचक्रवर्ती भवति तस्य विष्णुसंज्ञा न चापरः कोऽपि लोकस्य कर्ता विष्णुरस्ति इति। तथा चापरः कोऽपि जीवो जिनदीक्षां गृहीत्वा रत्नत्रयाराधनया पापानुवन्धि

की प्रवृत्ति ही नहीं है इस कारण लौकिकजन तथा मुनिजन वस्तु का यथार्थ स्वरूप ऐसे ही देखो कि कोई पदार्थ का कर्ता नहीं है, परद्रव्य परका अकर्ता ही श्रद्धा में लाओ। आगे कहते हैं कि जो पुरुष ऐसा वस्तु स्वभाव का नियम नहीं जानते वे अज्ञानी हुए कर्म को करते हैं, वे भावकर्म के कर्ता होते हैं ॥२०१॥

इस प्रकार अपने भाव कर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही है उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं—ये तु इत्यादि। अर्थ—आचार्य खेदपूर्वक कहते हैं, कि जो पुरुष वस्तुस्वभाव के नियम को नहीं जानते और जिनका पुरुषार्थरूप तेज अज्ञान में डूब गया है वे दीन होकर कर्मों को करते हैं। अतः भाव कर्म का कर्ता आप चेतन ही है। अन्य नहीं है।

भावार्थ—जो अज्ञानी मिथ्यादृष्टि है वह वस्तु के स्वरूप का नियम जानता नहीं है, और परद्रव्य का कर्ता वनता है, तव आप अज्ञान रूप परिणमता है इसलिये अपने भावकर्म का कर्ता अज्ञानी ही है, अन्य नहीं है ॥२०२॥

---

१. 'जनाः स्वतत्त्वं' इत्यपि पाठः ।

मिच्छत्तं जइ पयडी मिच्छाइट्ठी करेइ अप्पाणं ।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥३२८॥
अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणइ मिच्छत्तं ।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छाइट्ठी ण पुण जीवो ॥३२९॥
अह जीवो पयडी तह पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं ।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णिवि भुंजंति तस्स फलं ॥३३०॥
अह ण पयडी ण जीवो पुग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं ।
तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा ॥३३१॥(चतुष्कम्)

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम् ।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारिका प्राप्ता ॥३२८॥
अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम् ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः ॥३२९॥

पुण्योपार्जनं कृत्वा विद्यानुवादसंज्ञं दशमपूर्वं पठित्वा चारित्रमोहोदयेन तपश्चरणच्युतो भूत्वा हुण्डावसर्पिणीकाल-प्रभावेण विद्याबलेन लोकस्याहं कर्तेत्यादि चमत्कारमुत्पाद्य मूढजनानां विस्मयं कृत्वा महेश्वरो भवति न सर्वा-वसर्पिणीषु । सा च हुण्डावसर्पिणीसंख्यातीतोत्सर्पिण्यवसर्पिणीषु गतासु समुपयाति । तथा चोक्तं—संखातीद-वसप्पिणि गयासु हुण्डावसप्पिणी एइ । परसमयहं उप्पत्ती तहिं जिणवर एव पभणेइ ॥ १ ॥ न चान्यः कोऽपि जगत्कर्त्ता महेश्वराभिधानः पुरुविशेषोऽस्ति इति । तथा चापरः कोऽपि पुरुषो विशिष्टतपश्चरणं कृत्वा पश्चा-त्तपःप्रभावेण स्त्रीविषयनिमित्तं चतुर्मुखो भवति तस्य ब्रह्मा संज्ञा । न चान्य. कोऽपि जगतः कर्ता व्यापकैकरूपो ब्रह्माभिधानोऽस्ति । तथैवापरः कोऽपि दर्शनविशुद्धि विनयसंपन्नतेत्यादिषोडशभावनां कृत्वा देवेन्द्रादिविनिर्मित-

---

आगे इस कथन को युक्ति से पुष्टि करते हैं;—जीव के जो मिथ्यात्वभाव होता है उसका निश्चय से कर्ता कौन होता है ? [यदि] यदि [मिथ्यात्वं प्रकृतिः] मिथ्यात्वनामा मोह कर्म की प्रकृति [आत्मानं] आत्मा को [मिथ्यादृष्टिं] मिथ्यादृष्टि [करोति] करती है ऐसा माना जाय [तस्मात् ननु] तो सांख्यमती से कहते हैं कि अहो सांख्यमती [ते प्रकृतिः अचेतना] तेरे मत में प्रकृति तो अचेतन है वह [कारिका प्राप्ता] अचेतन प्रकृति जीव के मिथ्यात्व भाव को करने वाली ठहरी, ऐसा बनता नहीं। [अथवा] अथवा ऐसा मानिये कि [एष जीवः] वह जीव [पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वं] ही पुद्गल द्रव्य के मिथ्यात्व को [करोति] करता है [तस्मात्] तो ऐसा मानने से [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः] पुद्गल द्रव्य के मिथ्यादृष्टि सिद्ध हुआ [न पुनः जीवः] जीव मिथ्यादृष्टि नहीं ठहरा; ऐसा भी नहीं बन सकता। [अथ] अथवा ऐसा माना जाय कि [जीवः तथा प्रकृतिः] जीव और प्रकृति ये दोनों [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गल द्रव्य के [मिथ्यात्वं] मिथ्यात्व को [कुरुते] करते हैं [तस्मात्] तो [द्वाभ्यां कृतं]

अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुते मिथ्यात्वम् ।
तस्माद्द्वाभ्यां कृतं तद् द्वावपि-भुञ्जाते तस्य फलम् ॥३३०॥
अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वम् ।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या ॥३३१॥ (चतुष्कम्)

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषङ्गात् स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभाव-

---

पञ्चमहाकल्याणपूजायोग्यं तीर्थंकरपुण्यं समुपार्ज्य जिनेश्वराभिधानो वीतरागसर्वज्ञो भवतीति वस्तुस्वरूपं ज्ञातव्यं । एवं यद्येकान्तेन कर्ता भवति तदा मोक्षाभाव इति विष्णुदृष्टान्तेन गाथात्रयेण पूर्वपक्षं कृत्वा गाथाचतुष्टयेन परिहारव्याख्यानमिति प्रथमस्थले सूत्रसप्तकं गतम् ॥ ३२४।३२५।३२६।३२७ ॥ अथ यद्यपि शुद्धनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावत्वात् कर्मणामकर्ता जीवस्तथाप्यशुद्धनयेन रागादिभावकर्मणां स एव कर्ता न च पुद्गल इत्याख्याति । अथ गाथापञ्चकेन प्रत्येकं गाथापूर्वार्धेन सांख्यमतानुसारिशिष्यं प्रति पूर्वपक्ष उत्तरार्द्धेन परिहार इति ज्ञातव्यः—मिच्छत्ता जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं हठान्मिथ्यादृष्टिं करोति तम्हा अचेदणादे पयडी णणु कारगो पत्तो तस्मात्कारणादचेतना तु या द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः सा तव मते नन्वहो भावमिथ्यात्वस्य कर्त्री प्राप्ता जीवश्चैकान्तेनाकर्ता प्राप्तः । ततश्च कर्मबन्धाभाव कर्मबन्धाभावे संसाराभावः । स च प्रत्यक्षविरोधः ।

सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं ।
तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो ॥

सम्यक्त्वं यदि प्रकृतिः सम्यग्दृष्टिं करोत्यात्मानं । तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारिका प्राप्ता ॥ सम्मत्ता जदि पयडी सम्मादिट्ठी करेदि अप्पाणं सम्यक्त्वप्रकृतिः कर्त्री यद्यात्मानं स्वयमपरिणामिनं सम्यग्दृष्टिं करोति तम्हा अचेदणा दे पयडी णणु कारगो पत्तो तस्मात्कारणात् अचेतना प्रकृतिः दे तव मते नन्वहो कर्त्री प्राप्ता

दोनों से किया गया [तस्य फलं] उसका फल [द्वावपि भुञ्जाते] दोनों ही भोगें, सो यह भी नहीं बनता । [अथ] अथवा ऐसा मानिये कि [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं] पुद्गलद्रव्य नामा मिथ्यात्व को [न प्रकृतिः न जीवः कुरुते] न तो प्रकृति करती है और न जीव करता है [तस्मात्] तो भी [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं] पुद्गलद्रव्य ही मिथ्यात्व हुआ [तत्तु] सो ऐसा मानना [खलु] क्या [मिथ्या न] झूठ नहीं है ? इसलिये यह सिद्ध होता है कि मिथ्यात्वनामा भावकर्म का कर्ता अज्ञानी जीव है परन्तु इसके निमित्त से पुद्गलद्रव्य में मिथ्यात्वकर्म की शक्ति उत्पन्न होती है ।

टीका—मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता जीव ही है । यदि उसको अचेतन प्रकृति का कार्य माना जाय, तो उस भावकर्म को भी अचेतनपने का प्रसङ्ग आ जायगा । मिथ्यात्व आदि भावकर्म का

कर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषङ्गात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषङ्गात् । न च जीवश्च प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषङ्गात् । ततो जीवः कर्ता स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धम् ॥३२८।३२९।३३०।३३१॥

कार्यत्वादकृतं न कर्म न च तज्जीवप्रकृत्योर्द्वयो–
रज्ञायाःप्रकृतेः स्वकार्यफलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः[1] ।
नैकस्याः प्रकृतेरचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः ॥२०३॥

जीवश्चैकान्तेन सम्यक्त्वपरिणामस्याकर्तेति ततश्च वेदकसम्यक्त्वाभावो, वेदकसम्यक्त्वाभावे क्षायिकसम्यक्त्वा-

---

कर्ता जीव अपने आप ही है। यदि जीव के पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व आदिक भावकर्म माने जायं तो भावकर्म चेतन होने से पुद्गलद्रव्य के भी चेतनपने का प्रसङ्ग आ जायगा। जीव और प्रकृति दोनों ही मिथ्यात्व आदिक भावकर्म के कर्ता नहीं हैं क्योंकि प्रकृति अचेतन है, उसको भी जीव की तरह उसके फल भोगने का प्रसङ्ग आ जायगा। ये दोनों अकर्ता भी नहीं हैं क्योंकि पुद्गलद्रव्य के अपने स्वभाव से ही मिथ्यात्व आदि भाव का प्रसङ्ग आता है। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि मिथ्यात्व आदि भावकर्म का कर्ता जीव है और भावकर्म अपना कार्य है।

भावार्थ—भावकर्म का कर्ता जीव ही सिद्ध किया है। यहां ऐसा जानना कि परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्यद्रव्य के भाव का कर्ता नहीं है। इसलिये जो चेतन के भाव हैं उनका चेतन ही कर्ता होता है। इस जीव के अज्ञान से मिथ्यात्व आदि भावरूप परिणाम हैं वे चेतन हैं, जड़ नहीं हैं। शुद्धनय से उनको चिदाभास भी कहते हैं। इसलिये चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होना परमार्थ है। वहां अभेददृष्टि में तो शुद्ध चेतनमात्र जीव है, परन्तु कर्म के निमित्त से जब परिणमन करता है तब उन परिणामों से युक्त होता है। उस समय परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभाव परिणामों का कर्ता जीव ही है; और अभेद दृष्टि में तो कर्ता कर्मभाव ही नहीं है, शुद्ध चेतनामात्र जीववस्तु है। इस तरह यथार्थ समझना कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है। ३२८।३२९। ३३०।३३१॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—कार्यत्वा इत्यादि। अर्थ—कर्म है वह कार्य है इसलिए बिना किया नहीं होता। वह कर्म जीव और प्रकृत इन दोनों का किया हुआ नहीं है क्योंकि प्रकृति तो जड़ है उसको अपने-अपने कार्य के फल भोगने का प्रसङ्ग आता है। तथा एक प्रकृति का ही कार्य नहीं है क्योंकि प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है इसलिये इस भावकर्म का कर्ता जीव ही है यह जीव का ही कर्म है, क्योंकि चेतन से अन्वयरूप है चेतन का परिणाम है, और पुद्गल ज्ञाता नहीं है इसलिये भावकर्म पुद्गल का नहीं है।

---

१. 'परमाध्यात्मतरंगिणीग्रन्थे तु भावानुषङ्गात्कृतिः' इति पाठः।

कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृ हतकैः क्षिप्त्वात्मनः कर्तृतां
कर्तात्मैष कथंचिदित्यचलिता कैश्चिच्छ्रुतिः कोपिता।
तेषामुद्धतमोहमुद्रितधियां बोधस्य संशुद्धये
स्याद्वादप्रतिबन्धलब्धविजया वस्तुस्थितिः स्तूयते ॥२०४॥

भावः ततश्च मोक्षाभावः। स च प्रत्यक्षविरोध आगमविरोधश्च। अत्राह शिष्यः—प्रकृतिस्तावत्कर्मविशेषः स च सम्यक्त्वमिथ्यात्वतदुभयरूपस्य त्रिविधदर्शनमोहस्य सम्यक्त्वाख्यः प्रथमविकल्पः स च कर्मविशेषः कथं सम्यक्त्वं भवति ? सम्यक्त्वं तु निर्विकारसदानन्दैकलक्षणपरमात्मतत्त्वादिश्रद्धानरूपो मोक्षबीजहेतुर्भव्यजीवपरिणाम इति। परिहारमाह—सम्यक्त्वप्रकृतिस्तु कर्मविशेषो भवति तथापि यथा निर्विषीकृतं विषं मरणं न करोति तथा शुद्धात्माभिमुखपरिणामेन मन्त्रस्थानीयविशुद्धि विशेषमात्रेण विनाशितमिथ्यात्वशक्तिः सन् क्षायोपशमिकादिलब्धिपञ्चकजनितप्रथमौपशमिकसम्यक्त्वानन्तरोत्पन्नवेदकसम्यक्त्वस्वभावं तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं जीवपरिणामं न हन्ति तेन कारणेनोपचारेण सम्यक्त्वाहेतुत्वात्कर्मविशेषोऽपि सम्यक्त्वं भण्यते स च तीर्थंकरनामकर्मवत् परम्परया मुक्तिकारणं भवतीति नास्ति विरोधः **अहवा एसो जीवो पुग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** अथवा पूर्वदूषणभयादेव प्रत्यक्षीभूतो जीवः; द्रव्यकर्मरूपस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मतत्त्वादिषु विपरीताभिनिवेशजनकं भावमिथ्यात्वं करोति न पुनः स्वयं भावमिथ्यात्वरूपेण परिणमति इति मतं **तम्हा पुग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो** तर्ह्येकान्तेन पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः। कर्मबन्धः तस्यैव, संसारोऽपि तस्यैव, न च जीवस्य। स च प्रत्यक्षविरोध इति। **अह जीवो पयडी विय पुग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं** अथ पूर्वदूषणभयाज्जीवः प्रकृतिरपि पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं भावमिथ्यात्वं कुरुत इति मतं **तम्हा दोवि कवत्तं** तस्मात्कारणाज्जीवपुद्गलाभ्यामुपादानकारणभूताभ्यां कृतं तन्मिथ्यात्वं। **दुण्णिवि भुंजंति तस्स फलं** तर्हि द्वौ जीवपुद्गलौ तस्य फलं भुञ्जाते ततश्चाचेतनायाः प्रकृतेरपि भोक्तृत्वं प्राप्त स च प्रत्यक्षविरोध इति। **अह ण पयडी ण**

भावार्थ—चेतनकर्म चेतन के ही हो सकता है; पुद्गल के चेतन कर्म कैसे होगा ॥२०३॥

आगे जो कोई भावकर्म का भी कर्ता कर्म को ही मानते हैं उनको समझाने के लिये स्याद्वाद से वस्तु की मर्यादा कहते हैं उसकी सूचना का काव्य यह है। **कर्मैव** इत्यादि। **अर्थ**—कोई आत्मघातक (सर्वथा एकान्तवादी) कर्म को ही कर्ता विचार कर और आत्मा के कर्तृत्व को उड़ाकर 'यह आत्मा कथंचित् करता है' ऐसा कहने वाली जिन-भगवान् की निर्बाध श्रुतरूप वाणी को कुपित करते हैं—विराधना करते हैं। ऐसे आत्मघातकों की बुद्धि तीव्र मोह से मुदित हो गई है। उनके ज्ञान की संशुद्धि के लिए स्याद्वाद से निर्बाधित वस्तुस्थिति कही जाती है।

भावार्थ—कोई वादी सर्वथा एकान्त से कर्म का कर्ता कर्म को ही कहते हैं और आत्मा को अकर्ता कहते हैं, वे आत्मा के स्वरूप के घातक हैं। जिनवाणी स्याद्वाद द्वारा वस्तु को निर्बाध कहती है। वह वाणी आत्मा को कथंचित् कर्ता कहती है सो उन सर्वथा एकान्तियों पर वाणी का कोप है। उनकी बुद्धि मिथ्यात्व से ढक रही है। उनके मिथ्यात्व के दूर करने को आचार्य कहते हैं कि स्याद्वाद से जैसी वस्तु की सिद्धि होती है वैसी कहते हैं ॥२०४॥

कम्मेहिं दु अण्णाणी किज्जइ णाणी तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं सुवाविज्जइ जग्गाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ॥३३२॥
कम्मेहिं सुहाविज्जइ दुक्खाविज्जइ तहेव कम्मेहिं ।
कम्मेहिं य मिच्छत्तं णिज्जइ णिज्जइ असंजमं चेव ॥३३३॥
कम्मेहिं भमाडिज्जइ उड्ढमहो चावि तिरियलोयं य ।
कम्मेहिं चेव किज्जइ सुहासुहं जित्तियं किंचि ॥३३४॥
जम्हा कम्मं कुव्वइ कम्मं देई हरत्ति जं किंचि ।
तम्हा उ सव्वजीवा अकारया हुंति आवण्णा ॥३३५॥

जीवो पुग्गलदव्वं करोदि मिच्छत्तं अथ मतं न प्रकृतिः करोति न च जीव एव एकान्तेन । किं ? पुद्गलद्रव्यं कर्मतापन्नं । कथंभूतं । न करोति ? मिथ्यात्वंभावमिथ्यात्वरूपं । **तह्मा पुग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा** तर्हि यदुक्तं पूर्वसूत्रे **अहवा एसो जीवो पुग्गल दव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं** तद्वचनं तु पुनः हु स्फुटं । किं मिथ्या न भवति ? अपि तु भवत्येव । किं च यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धोजीवस्तथापि पर्यायार्थिकनयेन कथंचित्परिणामित्वे सत्यनादिकर्मोदयवशाद्रागाद्युपाधिपरिणामं गृह्णाति स्फटिकवत् । यदि पुनरेकान्तेनापरिणामी भवति तदोपाधिपरिणामो न घटते । जपापुष्पोपाधिपरिणमनशक्तौ सत्यां स्फटिके जपापुष्पमुपाधिं जनयति न च काष्ठादौ । कस्मादिति चेत्, तदुपाधिपरिणमनशक्त्यभावात् इति । एवं यदि द्रव्यमिथ्यात्वप्रकृतिः कर्त्री एकान्तेन यदि भावमिथ्यात्वं करोति तदा जीवो भावमिथ्यात्वस्य कर्ता न भवति । भावमिथ्यात्वाभावे कर्मणो वन्धाभावः ततश्च संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः । इत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चकं गतं ॥ ३२८।३२९।३३०।३३१ ॥ अथ ज्ञानाज्ञानसुखदुःखादिकर्मैकान्तेन कर्मैव करोति न चात्मेति सांख्यमतानुसारिणो वदन्ति तान्प्रति पुनरपि नयविभागेनात्मनः कथंचित्कर्तृत्वं व्यवस्थापयति—तत्र त्रयोदशगाथासु मध्ये कर्मैवैकान्तेन कर्तृ भवति इति कथनमुख्यत्वेन **कम्मेहिं दु अण्णाणी** इत्यादि सूत्रचतुष्टयं । ततः परं सांख्यमतेऽप्येवं भणितमास्ते—इति संवाददर्शनार्थं ब्रह्मचर्यस्थापनमुख्यत्वेन **पुरुसित्थियाहिलासी** इत्यादि गाथाद्वयं । अहिंसास्थापनमुख्यत्वेन **जम्हा घादेदि परं** इत्यादि गाथाद्वयं । प्रकृतेरेव कर्तृत्वं न चात्मन इत्येकान्तनिराक-

---

[कर्मभिस्तु] जीव कर्मों से **[अज्ञानी]** अज्ञानी **[क्रियते]** किया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः]** कर्मों से **[ज्ञानी]** ज्ञानी होता है जीव **[कर्मभिः]** कर्मों से **[स्वाप्यते]** सुलाया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः]** कर्मों से ही **[जागर्यते]** जगाया जाता है **[कर्मभिः सुखी क्रियते]** कर्मों से सुखी किया जाता है **[तथैव]** उसी प्रकार जीव **[कर्मभिः दुःखी क्रियते]** कर्मों से दुखी किया जाता है **[च]** और जीव **[कर्मभिः मिथ्यात्वं नीयते]** कर्मों से मिथ्यात्व को प्राप्त कराया जाता है **[चैव]** तथा **[असंयमं नीयते]** असंयम को प्राप्त कराया जाता है **[कर्मभिः उर्ध्वं चापि अधः च तिर्यग्लोकं भ्राम्यते]** जीव कर्मों से ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक और तिर्यग्लोक में भ्रमाया जाता है **[च कर्मभिः एव]** और कर्मों से ही **[यत्किंचित् यावत् शुभाशुभं क्रियते]** जो कुछ शुभ-अशुभ

पुरिसित्थियाहिलासी इत्थीकम्मं च पुरिसमहिलसइ ।
एसा आयरियपरंपरागया एरिसी दु सुई ॥३३६॥
तम्हा ण कोवि जीवो अबंभचारी उ अम्ह उवएसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं अहिलसइ इदि भणियं ॥३३७॥
जम्हा घाएइ परं परेण घाइज्जए य सा पयडी ।
एएणच्छेण किर भण्णइ परघायणामित्ति ॥३३८॥
तम्हा ण कोवि जीवो वघायओ अत्थि अम्ह उवदेसे ।
जम्हा कम्मं चेव हि कम्मं घाएदि इदि भणियं ॥३३९॥

रणार्थं तस्यैव गाथाचतुष्टयस्यैव दूषणोपसंहाररूपेण एवं संखुवदेसं इत्यादि गाथैका इति सूत्रपञ्चकसमुदायेन द्वितीयमन्तरस्थलं। तदन्तरं आत्मा कर्म न करोति कर्मजनितभावांश्च किंत्वात्मानं करोतीत्येकगाथायां पूर्वपक्षो गाथात्रयेण परिहार इति समुदायेन अहवा मण्णसि मज्झं इत्यादि सूत्रचतुष्टयं। एवं चतुरन्तराधिकारे स्थलत्रयेण समुदायपातनिका;—कर्मभिरज्ञानी क्रियते जीव एकान्तेन तथैव च ज्ञानी क्रियते कर्मभिः। स्वापं निद्रां नीयते जागरणं तथैवेति प्रथमगाथा गता। कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव च कर्मभिः कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते तथैवासंयमं चैवैकान्तेन द्वितीयगाथा गता। कर्मभिश्चैवोर्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं च भ्राम्यते कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यदन्यदपि किंचिदिति तृतीयगाथा गता। यस्मादेवं भणितं कर्मैव करोति कर्मैव ददाति कर्मैव हरति यत्किंचिच्छुभाशुभं तस्मादेकान्तेन सर्वे जीवा अकारकाः प्राप्ताः, ततश्च कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः स च प्रत्यक्षविरोधः—इति कर्मैकान्तकर्तृत्वदूषणमुख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं गतं। कर्मैव करोत्येकान्तेनेति पूर्वोक्तमर्थं श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवाः सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा पुनरपि समर्थयन्ति। वयं ब्रूमो द्वेषेणैवं न। भवदीयमतेऽपि भणितमास्ते पुंवेदाख्यं कर्म कर्तृ स्त्रीवेदकर्माभिलाषं करोति, स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुंवेदकर्माभिलषत्येकान्तेन, न च जीवः। एवमाचार्यपरम्परायाः क्रमागता

है वह किया जाता है। [यस्मात्] क्योंकि [कर्मकरोति] कर्म ही करता है [कर्म ददाति] कर्म ही देता है [यत् किंचित् हरति इति] कर्म ही हरता है जो कुछ करता है वह कर्म ही करता है [तस्मात्तु] इसलिये [सर्वजीवाः] सभी जीव [अकारका आपन्नाः भवन्ति] अकर्ता सिद्ध होते हैं। कर्ता नहीं है। [एषा आचार्यपरम्परागता ईदृशी तु श्रुतिः] यह आचार्यों की परिपाटी से आई हुई श्रुति है कि [पुरुषः] पुरुषवेदकर्म तो [स्त्र्यभिलाषी] स्त्री का अभिलाषी है [च] और [स्त्रीकर्म] स्त्रीवेदकर्म [पुरुषं अभिलषति] पुरुष को चाहता है। [तस्मात्] इसलिये [कोपि जीवः] कोई भी जीव [अब्रह्मचारी न] अब्रह्मचारी नहीं है [अस्माकं तु उपदेशे] हमारे उपदेश में तो ऐसा है [यस्मात्] कि [कर्म चैव हि] कर्म ही [कर्म अभिलषति इति] कर्म को चाहता है [इति भणितं] ऐसा कहा है।

एवं संखुवएसं जे उ परूविंति एरिसं समणा ।
तेसिं पयडी कुव्वइ अप्पा य अकारया सव्वे ॥३४०॥
अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणई ।
एसो मिच्छसहावो तुम्हं एयं मुणंतस्स ॥३४१॥
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो देसिओ उ समयम्हि ।
णवि सो सक्कइ तत्तो हीणो अहिओ य काउं जे ॥३४२॥

श्रुतिरीदृशी । श्रुतिः कोऽर्थः ? आगमो भवतां सांख्यानामिति प्रथमगाथा गता । तथा सति किं दूषणं चेति ? एवं न कोपि जीवोऽस्त्यब्रह्मचारी युष्माकमुपदेशे किंतु यथा शुद्धनिश्चयेन सर्वे जीवा ब्रह्मचारिणो भवन्ति तथैकान्तेनाशुद्धनिश्चयेनापि ब्रह्मचारिण एव यस्मात्पुंवेदाख्यं कर्म स्त्रीवेदाख्यं कर्माभिलषति न च जीव इत्युक्तं पूर्वं स च प्रत्यक्षविरोधः । इत्यब्रह्मकथनरूपेण गाथाद्वयं गतं । यस्मात्कारणात् परं कर्मस्वरूपं प्रकृतिः कर्त्री हन्ति परेण कर्मणा सा प्रकृतिरपि हन्यते न च जीवः । एतेनार्थेन किल जैनमते परघातनामकर्मेति भण्यते । परं किंतु जैनमते जीवो हिंसाभावेन परिणमति परघातनाम सहकारिकारणं भवति इति नास्ति विरोध इति प्रथमगाथा गता । तस्मात्किं दूषणं ? शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्ध द्रव्यार्थिकनयेन तावदपरिणामी हिंसापरिणामरहितो जीवो जैनागमे कथितः, कथं ? इति चेत्, **सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया** इति वचनात्, व्यवहारेण तु परिणामीति । भवदीयमते पुनर्यथा शुद्धनयेन तथाऽशुद्धनयेनाप्युपघातको हिंसकः कोऽपि नाति । कस्मात् ? इति चेत्, यस्मादेकान्तेन कर्म चैव हि स्फुटमन्यत् कर्म हन्ति, न चात्मेति पूर्वसूत्रे भणितमिति । एवं हिंसाविचारमुख्यत्वेन गाथाद्वयं गतं । **एवं संखुवदेसं जे दु परूविंति एरिसं समणा** एवं पूर्वोक्तं सांख्योपदेशमीदृशमेकान्तरूपं ये केचन परमागमोक्तं नयविभागमजानन्तः **समणा** श्रमणाभासाः द्रव्यलिङ्गिनः प्ररूपयन्ति कथयन्ति । **तेसिं पयडी कुव्वदि अप्पाय अकारया सव्वे** तेषां मतेनैकान्तेन प्रकृतिः कर्त्री भवति ।

[यस्मात्] जिस कारण [परं] दूसरे को [हन्ति] मारता है [च] और [परेण हन्यते] परके द्वारा मारा जाता है [सा प्रकृतिः] वह प्रकृति ही है [एतेन अर्थेन भण्यते] उसी अर्थ को लेकर कहते हैं कि [परघात नाम इति] यह परघात नामा प्रकृति है [तस्मात्] इसलिये [अस्माकं उपदेशे] हमारे उपदेश में [कोपि जीवः] कोई भी जीव [उपघातको नास्ति] उपघात करने वाला नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म चैव हि] कर्म ही [कर्म हन्तीति भणितं] कर्म को घातता है ऐसा कहा है [एवं तु] इस तरह [ये श्रमणाः] जो कोई यति [ईदृशं सांख्योपदेशं प्ररूपयन्ति] ऐसा सांख्यमत का उपदेश निरूपण करते हैं [तेषां] उनके मत में [प्रकृतिः] प्रकृति ही [करोति] करती है [च सर्वे आत्मानः] और आत्मा सब [अकारकाः] अकारक ही हैं ऐसा हुआ । [अथवा] आचार्य कहते हैं जो आत्मा के कर्तापने का पक्षसाधने को [मन्यसे] तू ऐसा मानेगा कि [मम आत्मा] मेरा आत्मा [आत्मनः] अपने [आत्मानं] आत्मा को [करोति] करता है, ऐसा कर्तापन का पक्ष मानो तो [तज्जानतः] ऐसे

जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं खु।
तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कहं कुणइ दव्वं ॥३४३॥
अह जाणओ उ भावो णाणसहावेण अत्थिइत्ति मयं।
तम्हा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणइ ॥३४४॥(त्रयोदशकं)

कर्मभिस्तु अज्ञानी क्रियते ज्ञानी तथैव कर्मभिः।
कर्मभिः स्वाप्यते जागर्यते तथैव कर्मभिः ॥३३२॥

आत्मानश्च पुनरकारकाः सर्वे। ततश्च कर्तृत्वाभावे कर्माभावः कर्माभावे संसाराभावः। ततो मोक्षप्रसङ्गः। स च प्रत्यक्षविरोध इति। जैनमते पुनः परस्परसापेक्षनिश्चयव्यवहारनयद्वयेन सर्वं घटत इति नास्ति दोषः। एवं सांख्यमतसंवादं दर्शयित्वा जीवस्यैकान्तेनाकर्तृत्वदूषणद्वारेण सूत्रपञ्चकं गतम्। **अहवा मण्णसि मज्झं अप्पा अप्पाणमप्पणो कुणदि** हे सांख्य! अथवा मन्यसे त्वं पूर्वोक्ताकर्तृत्वदूषणभयान्मदीयमते जीवो ज्ञानी, ज्ञानित्वे च कर्मकर्तृत्वं न घटते यतः कारणादज्ञानिनां कर्मबन्धो भवति। किंत्वात्मा कर्ता आत्मानं कर्मतापन्नं आत्मना करणभूतेन करोति ततः कारणादकर्तृत्वे दूषणं न भवति? इति चेत् **एसो मिच्छसहावो तुह्मं एवं मुणंतस्स** अयमपि मिथ्यास्वभाव एवं मन्यमानस्य तव इति पूर्वपक्षगाथा गता। अथ सूत्रत्रयेण परिहारमाह। कस्मान्मिथ्यास्वभावः? इति चेत्, **जे** यस्मात् कारणात् **अप्पा णिच्चा संखेज्जपदेसो देसिदो दु समयम्मि** आत्मा द्रव्यार्थिकनयेन नित्यस्तथा चासंख्यातप्रदेशो देशितः समये परमागमे तस्यात्मनः शुद्धचैतन्यान्वयलक्षण-द्रव्यत्वं तथैवासंख्यातप्रदेशत्वं च पूर्वमेव तिष्ठति **णवि सो सक्कदि तत्तो हीणो अहियो व कादुं जे** तद्द्रव्यं प्रदेशत्वं च तत्प्रमाणादधिकं हीनं वा कर्तुं नायाति इति हेतोरात्मा आत्मानं करोतीति वचनं मिथ्येति। अथ मतं असंख्यातमानं जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदेन बहुभेदं तिष्ठति तेन कारणेन जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपेणा-संख्यातप्रदेशत्वं जीवः करोति, तदपि न घटते यस्मात्कारणात् **जीवस्स जीवरूवं वित्थरदो जाण लोगमित्तं हि** जीवस्य जीवरूपं प्रदेशापेक्षया विस्तरतो महामत्स्यकाले लोकपूरणकाले वा अथवा जघन्यतः सूक्ष्मनि-गोदकाले नानाप्रकारमध्यमावगाहशरीरग्रहणकाले वा प्रदीपवद्विस्तारोपसंहारवशेन लोकमात्रप्रदेशमेव जानीहि हि स्फुटं **तत्तो सो किं हीणो अहिओ व कदं भणसि दव्वं** तस्माल्लोकमात्रप्रदेशप्रमाणात्स जीवः किं हीनोऽधिको वा कृतो येन त्वं भणसि आत्मद्रव्यं कृतं किंतु नैवेति। **अह जाणगो दु भावो णाणसहावेण अत्थिदेदि मदं** अथ हे शिष्य! ज्ञायको भावः पदार्थः आत्मा ज्ञानरूपेण पूर्वमेवास्तीति मतं। **सम्मत्तमेव तम्हा णवि अप्पा अप्पयं तु सयमप्पणो कुणदि** यस्मान्निर्मलानन्दैकज्ञानस्वभावशुद्धात्मा पूर्वमेवास्ति तस्मादात्मा कर्ता

जानने का [तवैव] तेरा [एषः] यह [मिथ्यास्वभावः तु] मिथ्या स्वभाव है; क्योंकि [आत्मा] आत्मा [नित्यः] नित्य [असंख्येयप्रदेशः] असंख्यातप्रदेशी [समये] सिद्धान्त में [दर्शितः] कहा है [ततः] उससे [यद् सः] जो वह [हीनः च अधिकः कर्तुं] हीन या अधिक करने को [नापि शक्यते] शक्य नहीं है। [जीवस्य] जीव का [जीवरूपं] जीवरूप [विस्तरतः] विस्तार अपेक्षा [खलु] निश्चय

कर्मभिः सुखीक्रियते दुःखीक्रियते तथैव कर्मभिः ।
कर्मभिश्च मिथ्यात्वं नीयते नीयतेऽसंयमं चैव ॥३३३॥

कर्मभिर्भ्राम्यते ऊर्ध्वमधश्चापि तिर्यग्लोकं च ।
कर्मभिश्चैव क्रियते शुभाशुभं यावत्किंचित् ॥३३४॥

यस्मात् कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरतीति यत्किंचित् ।
तस्मात्तु सर्वजीवा अकारका भवन्त्यापन्नाः ॥३३५॥

पुरुषः स्त्र्यभिलाषी स्त्रीकर्म च पुरुषमभिलषति ।
एषाचार्यपरम्परागतेदृशी तु श्रुतिः ॥३३६॥

तस्मान्न कोऽपि जीवोऽब्रह्मचारी त्वस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्माभिलषतीति भणितं ॥३३७॥

यस्माद्धन्ति परं परेण हन्यते च सा प्रकृतिः ।
एतेनार्थेन किल भण्यते परघातनामेति ॥३३८॥

तस्मान्न कोऽपि जीव उपघातकोऽस्त्यस्माकमुपदेशे ।
यस्मात्कर्म चैव हि कर्म हन्तीति भणितम् ॥३३९॥

एवं सांख्योपदेशं ये तु प्ररूपयन्तीदृशं श्रमणाः ।
तेषां प्रकृतिः करोत्यात्मानश्चाकारकाः सर्वे ॥३४०॥

अथवा मन्यसे ममात्मात्मानमात्मनः करोति ।
एष मिथ्यास्वभावस्तवैतज्जानतः ॥३४१॥

आत्मा नित्योऽसंख्येयप्रदेशो दर्शितस्तु समये ।
नापि स शक्यते ततो हीनोऽधिकश्च कर्तुं यत् ॥३४२॥

आत्मानं कर्मतापन्नं स्वयमेवात्मना कृत्वा नैव करोतीत्येकं दूषणं। द्वितीयं च निर्विकारपरमतत्त्वज्ञानी तु कर्ता न 'भवतीति पूर्वमेव भणितमास्ते। एवं पूर्वपक्षपरिहाररूपेण तृतीयान्तरस्थले गाथाचतुष्टयं गतं। कश्चिदाह जीवात्प्राणा भिन्ना अभिन्ना वा? यद्यभिन्नास्तदा यथा जीवस्य विनाशो नास्ति यथा प्राणानामपि विनाशो नास्ति कथं हिंसा? अथ भिन्नास्तर्हि जीवस्य प्राणघातेऽपि किमायातं? तत्रापि हिंसा नास्तीति। तन्न, कायादिप्राणैः सह कथंचिद्भेदाभेदः। कथं? इति चेत्, तप्तायः-

---

से [लोकमात्रं] लोकमात्र [जानीहि] जानो [सः द्रव्यं] ऐसा जीवद्रव्य [ततः] उस परिमाण से [किं] क्या [हीनोऽधिकः वा] हीन तथा अधिक [कथं करोति] कैसे कर सकता है? [अथ] अथवा [इति मतं] ऐसा मानिये जो [ज्ञायकः तु भावः] ज्ञायक भाव [ज्ञानस्वभावेन] ज्ञान स्वभाव से [तिष्ठति] तिष्ठता

जीवस्य जीवरूपं विस्तरतो जानीहि लोकमात्रं खलु ।
ततः स किं हीनोऽधिको वा कथं करोति द्रव्यम् ॥३४३॥
अथ ज्ञायकस्तु भावो ज्ञानस्वभावेन तिष्ठतीति मतम् ।
तस्मान्नाप्यात्मात्मानं तु स्वयमात्मनः करोति ॥३४४॥

कर्मैवात्मानमज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव ज्ञानिनं करोति ज्ञानावरणाख्यकर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव स्वापयति निद्राख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः कर्मैव जागरयति निद्राख्यकर्मक्षयोपशममन्तरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव सुखयति सद्वेदाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव दुःखयति असद्वेदाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैव मिथ्यादृष्टिं करोति मिथ्यात्वकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवासंयतं करोति चारित्रमोहाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः । कर्मैवोर्द्ध्वाधस्तिर्यग्लोकं भ्रमयति आनुपूर्व्याख्यकर्मोदयमन्तरेण अपर-

---

पिण्डवद्वर्तमानकाले पृथक्त्वं कर्तुं नायाति तेन कारणेन व्यवहारेणाभेदः । निश्चयेन पुनर्मरणकाले कायादि-प्राणा जीवेन सहैव न गच्छन्ति तेन कारणेन भेदः । यद्येकान्तेन भेदो भवति तर्हि यथा परकीये काये

है [तु] तो [तस्मात्] उसी हेतु से ऐसा हुआ कि [आत्मा] आत्मा [आत्मनः आत्मानं] अपने आपको [स्वयं नापि करोति] स्वयमेव नहीं करता ।

इसलिए कर्तापन साधने को विवक्षा पलटकर पक्ष कहा था सो नहीं बना । यदि कर्म का कर्ता कर्म को ही मानें तो स्याद्वाद से विरोध ही आयेगा; इसलिए कथंचित् अज्ञान अवस्था में अपने अज्ञान भावरूप कर्म का कर्ता मानने में स्याद्वाद से विरोध नहीं है ।

टीका—वहां पूर्व पक्ष ऐसा है कि कर्म ही आत्मा को अज्ञानी करता है; क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के उदय बिना उस अज्ञान की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के बिना ज्ञान की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को सुलाता है, क्योंकि निद्रानाम कर्म के उदय बिना निद्रा की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को जगाता है; क्योंकि निद्रानामकर्म के क्षयोपशम के बिना जगाने की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को सुखी करता है, क्योंकि सातावेदनीय नामकर्म के उदय के बिना सुख की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को दुःखी करता है क्योंकि असातावेदनीय नामकर्म के उदय के बिना दुःख की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को मिथ्यादृष्टि करता है, क्योंकि मिथ्यात्व कर्म के उदय के बिना मिथ्यात्व की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को असंयमी करता है क्योंकि चारित्रमोह नामकर्म के उदय के बिना असंयम की अप्राप्ति है । कर्म ही आत्मा को ऊर्ध्वलोक में; अधोलोक में और तिर्यंचलोक में भ्रमाता है, क्योंकि आनुपूर्वीनाम कर्म के उदय के बिना भ्रमण की अप्राप्ति है । अन्य जो भी कुछ शुभ-अशुभ हैं, उन सबको कर्म ही करता है, क्योंकि प्रशस्त-अप्रशस्त रागनाम कर्म के उदय बिना उस शुभ-अशुभ की अप्राप्ति है । इस प्रकार सब ही को स्वतन्त्र हो के कर्म करता है, कर्म ही हरता है, इसलिये हम ऐसा निश्चय

मपि यद्यावत्किञ्चिच्छुभाशुभभेदं तत्तावत्सकलमपि कर्मैव करोति प्रशस्ताप्रशस्त-रागाख्यकर्मोदयमन्तरेण तदनुपपत्तेः। यत एवं समस्तमपि स्वतन्त्रं कर्म करोति कर्म ददाति कर्म हरति च ततः सर्व एव जीवाः नित्यमेवैकान्तेनाकर्तार एवेति निश्चिनुमः। किञ्च–श्रुतिरप्येनमर्थमाह, पुम्वेदाख्यं कर्म स्त्रियमभिलषति स्त्रीवेदाख्यं कर्म पुमांस-मभिलषति इति वाक्येन कर्मण एव कर्माभिलाषकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वा-समर्थनेन च जीवस्याब्रह्मकर्तृत्वप्रतिषेधात्। तथा यत्परं हन्ति, येन च परेण हन्यते तत्परघातकर्मेति वाक्येन कर्मण एव कर्मघातकर्तृत्वसमर्थनेन जीवस्य घातकर्तृत्व-प्रतिषेधाच्च सर्वथैवाकर्तृत्वज्ञापनात्। एवमीदृशं सांख्यसमयं स्वप्रज्ञापराधेन सूत्रार्थ-मबुध्यमानाः केचिच्छ्रमणाभासाः प्ररूपयन्ति तेषां प्रकृतेरेकान्तेन कर्तृत्वाभ्युपगमेन सर्वेषामेव जीवानामेकान्तेनाकर्तृत्वापत्तेः–जीवः कर्तेति श्रुतेः कोपो दुःशक्यः परि-हर्तुम्। यस्तु कर्म आत्मनोऽज्ञानादिसर्वभावान् पर्यायरूपान् करोति आत्मा त्वात्मान-मेवैकं द्रव्यरूपं करोति ततो जीवः कर्तेति श्रुतिकोपो न भवतीत्यभिप्रायः स मिथ्यैव। जीवो हि द्रव्यरूपेण तावन्नित्योऽसंख्येयप्रदेशो लोकपरिमाणश्च। तत्र न तावन्नि-त्यस्य कार्यत्वमुपपन्नं कृतकत्वनित्यत्वयोरेकत्वविरोधात्। न चावस्थिताऽसंख्येय-

---

छिद्यमाने भिद्यमानेऽपि दुःखं न भवति तथा स्वकीयकायेऽपि दुःखं न प्राप्नोति। न च तथा, प्रत्यक्षविरोधात्। ननु तथापि व्यवहारेण हिंसा जाता न तु निश्चयेनेति ? सत्यमुक्तं भवता व्यवहारेण हिंसा तथा पापमपि नारकादिदुःखमपि व्यवहारेणेत्यस्माकं सम्मतमेव। तन्नारकादिदुःखं भवतामिष्टं चेतर्हि हिंसां कुरुत।

करते हैं कि सभी जीव नित्य एकांत से अकर्ता ही हैं। विशेष कहते हैं–शास्त्र भी इसी अभिप्राय का समर्थन करता है। अर्थात् पुंवेदकर्म स्त्री की और स्त्रीवेदकर्म पुरुष की अभिलाषा करता है, इस वाक्य से अभिलाषा रूप कर्म का कर्ता कर्म ही सिद्ध होता है यहां जीवकृत अब्रह्म का समर्थन न होने से जीव को अब्रह्म का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'जो दूसरे को मारे और दूसरे से मारा जाय' इस 'परघात' कर्म की व्याख्या के अनुसार घात कर्म का कर्ता कर्म (परघात) ही सिद्ध होता है जीव नहीं, क्योंकि उसका निषेध होने से उसके सर्वथा अकर्तृत्व का ही समर्थन होता है।

इस प्रकार कुछ श्रमणाभास अपने बुद्धि दोष से आगम के अभिप्राय को बिना ही समझे सांख्यमत का अनुसरण करते हैं। उनके इस तरह प्रकृति को एकान्ततः कर्ता मान लेने से सब ही जीव सर्वथा अकर्ता सिद्ध हो जाते हैं। तब 'जीव कर्ता है' आगम की इस विरुद्धता को वे कैसे दूर करेंगे ?

यदि कहा जाय कि 'कर्म आत्मा के पर्यायरूप अज्ञानादि भावों को करता है और आत्मा द्रव्यरूप केवल आत्मा को ही करता है इस तरह आत्मा की विरुद्धता न होगी, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि जीव द्रव्यरूप से नित्य, असंख्यातप्रदेशी और लोक के बराबर है, अतः जो नित्य होता है वह कार्य नहीं हो सकता, क्योंकि कर्तृत्व और नित्यत्व में परस्पर विरोध है।

प्रदेशस्यैकस्य पुद्गलस्कन्धस्येव प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणद्वारेणापि तस्य कार्यत्वं प्रदेशप्रक्षेपणाकर्षणे सति तस्यैकत्वव्याघातात्। न चापि सकललोकवास्तुविस्तारपरिमितनियतनिजाभोगसंग्रहस्य प्रदेशसंकोचनविकाशनद्वारेण तस्य कार्यत्वं, प्रदेशसंकोचविकाशयोरपि शुष्कार्द्रचर्मवत्प्रतिनियतनिजविस्ताराद्धीनाधिकस्य तस्य कर्तुमशक्यत्वात्। यस्तु वस्तुस्वभावस्य सर्वथापोढुमशक्यत्वात् ज्ञायको भावो ज्ञानस्वभावेन सर्वदैव तिष्ठति, तथा तिष्ठंश्च ज्ञायककर्तृत्वयोरत्यन्तविरुद्धत्वान्मिथ्यात्वादिभावानां न कर्ता भवति। भवन्ति च मिथ्यात्वादिभावाः ततस्तेषां कर्मैव कर्तृ प्ररूप्यत इति वासनोन्मेषः स तु नितरामात्माऽऽत्मानं करोतीत्यभ्युपगममुपहन्त्येव ततो ज्ञायकस्य भावस्य सामान्यापेक्षया ज्ञानस्वभावावस्थितत्वेऽपि कर्मजानां मिथ्यात्वादिभावानां

भीतिरस्ति ? इति चेत् तर्हि त्यज्यतामिति। ततः स्थितमेतत् एकान्तेन सांख्यमतवदकर्ता न भवति किं तर्हि रागादिविकल्परहितसमाधिलक्षणभेदज्ञानकाले कर्मणः कर्ता न भवति शेषकाले कर्तेति व्याख्यानमुख्य-

---

यह कहना भी ठीक नहीं है कि अवस्थित और असंख्यात प्रदेशी आत्मा के—पुद्गल स्कन्ध की तरह—प्रदेशों के बिछुड़ने मिलने से कार्यत्व सिद्ध हो जायगा क्योंकि बिछुड़ने मिलने से उसमें एकत्व नहीं रह सकता।

'सम्पूर्ण लोक भवन के बराबर विस्तार वाली आत्मा जब अपने नियत (छोटे बड़े) शरीरों को धारण करती है तब आत्मप्रदेशों में संकोच विस्तार होने के कारण उसमें कार्यत्व सिद्ध हो जायगा' यह कथन भी ठीक नहीं है—क्योंकि संकोच विस्तार होने पर भी सूखी गीली अवस्था में अपने ही परिणाम के अन्दर रहने वाले चमड़े की तरह आत्मा को अपने निश्चित विस्तार से हीनाधिक नहीं किया जा सकता।

चूंकि वस्तुस्वभाव को मिटाया नहीं जा सकता इसलिए आत्मा का ज्ञायक भाव सदा ज्ञान स्वभाव से ही रहता है। और जब वह ज्ञान स्वभाव से रहता है तब ज्ञायकता और कर्तृता दोनों में परस्पर विरोध होने से—वह मिथ्यात्वादि भावों का कर्ता नहीं हो सकता परन्तु मिथ्यात्वादि भाव होते अवश्य हैं इसलिये उनका कर्ता कर्म होना चाहिए। ऐसा कथन केवल संस्कार के आधीन होकर ही किया जा सकता है। इससे तो 'आत्मा आत्मा को ही करती है' इस मान्यता का पूर्णतया खण्डन ही होता है।

इसलिए सामान्य की अपेक्षा से ज्ञानस्वभाव में स्थित होकर भी ज्ञायकभाव जब कर्मों से उत्पन्न मिथ्यात्वादि भावों का ज्ञान करता है तब अनादि काल से ज्ञेय ज्ञान का भेद समझने के कारण परपदार्थ को अपना मानने लगता है इस विशेष की अपेक्षा से अज्ञानमयी परिणामों के करने के कारण उसका कर्ता मानना चाहिए। वह भी तब तक, जब तक कि इसे प्रकट भेद ज्ञान की पूर्णता न हो, पूर्णता हो जाने पर जब वह आत्मा को ही आत्मा जानने लगता है, तब इस विशेष की अपेक्षा से ज्ञानमयी ज्ञान परिणामों से-परिणमन करता है, उस समय मात्र ज्ञाता होने से वह साक्षात् अकर्ता रहता है।

ज्ञानसमयेऽनादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानशून्यत्वात् परमात्मेति जानतो विशेषापेक्षया त्वज्ञानरूपस्य ज्ञानपरिणामस्य करणात्कर्तृत्वमनुमन्तव्यं तावद्यावत्तदादिज्ञेयज्ञानभेदविज्ञानपूर्णत्वादात्मानमेवात्मेति जानतो विशेषापेक्षयापि ज्ञानरूपेणैव ज्ञानपरिणामेन परिणममानस्य केवलं ज्ञातृत्वात्साक्षादकर्तृत्वं स्यात् ॥३३२-३४४॥

तयान्तरस्थलत्रयेण चतुर्थस्थले त्रयोदश सूत्राणि गतानि ॥ ३३२ । ३४४ ॥ अथ द्रव्यार्थिकनयेन य एव कर्म करोति स एव भुङ्क्ते । पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यः करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति च योऽसौ मन्यते स सम्यग्दृष्टिर्भवति । इति प्रतिपादयति—**केहिंचिदु पज्जयेहिं विणस्सदे णेव केहिंचिदु जीवो** कैश्चित्पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैर्देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः । न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः **जम्हा**

भावार्थ—कितने ही जैन मुनि भी स्याद्वादवाणी को अच्छे प्रकार न समझने के कारण सर्वथा एकान्त का अभिप्राय करते हैं, और विवक्षा को बदलकर यह कहते हैं 'आत्मा तो भावकर्म का अकर्ता ही है' कर्म प्रकृति का उदय ही भावकर्म को करता है। ज्ञान, अज्ञान, सोना, जागना, सुख, दुःख, मिथ्यात्व, असंयम, चार गतियों में भ्रमण इन सब को, तथा जो कुछ भी शुभ-अशुभ भाव हैं, उन सब को कर्म ही करता है, जीव तो अकर्ता है। वे मुनि शास्त्र का भी ऐसा ही अर्थ करते हैं कि वेद के उदय से स्त्री पुरुष का विकार होता है और उपघात तथा परघात प्रकृति के उदय से परस्पर घात होता है। इस प्रकार जैसे सांख्य मतावलम्बी सब कुछ प्रकृति का ही कार्य मानते हैं और पुरुष को अकर्ता मानते हैं, उसी प्रकार अपनी बुद्धिदोष से इन मुनियों की भी इसी प्रकार एकान्तिक मान्यता हुई, इसलिए जिनवाणी तो स्याद्वाद रूप है। अतः सर्वथा एकान्त को मानने वाले उन मुनियों पर जिनवाणी का कोप अवश्य होता है। जिनवाणी के कोप के भय से यदि वे विवक्षा को बदलकर ऐसा कहें कि 'भाव कर्म का करता कर्म है और अपने आत्मा का कर्ता आत्मा है'। इस प्रकार हम आत्मा को कथंचित् कर्ता कहते हैं, इसलिए वाणी की विराधना नहीं होती' तो उनका ऐसा कहना मिथ्या ही है। आत्मा द्रव्य से नित्य है, असंख्यात प्रदेशी है, लोक परिमाण है, इसलिए उसमें तो कुछ नवीन करना नहीं है, और जो भावकर्म रूप पर्याएं हैं उनका कर्ता तो वे मुनि कर्म को ही कहते हैं; इसलिए आत्मा तो अकर्ता ही रहा, तब फिर वाणी का कोप कैसे मिट गया। इसलिए आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व की विवक्षा को यथार्थ मानना ही स्याद्वाद को 'यथार्थ मानना है' आत्मा के कर्तृत्व और अकर्तृत्व के सम्बन्ध में सत्यार्थ स्याद्वाद प्ररूपण इस प्रकार है।

आत्मा सामान्य अपेक्षा से तो ज्ञानस्वभाव में ही स्थित है, परन्तु मिथ्यात्वादि भावों को जानते समय अनादिकाल से ज्ञेय और ज्ञान के भेदविज्ञान के अभाव के कारण ज्ञेयरूप मिथ्यात्वादि भावों को आत्मा के रूप में जानता है, इसलिए इस प्रकार विशेष अपेक्षा से अज्ञानरूप ज्ञानपरिणाम को करने से कर्ता है, और जब भेदविज्ञान होने से आत्मा को ही आत्मा के रूप में जानता है, तब विशेष अपेक्षा से भी ज्ञानरूप परिणाम में ही परिणमित होता हुआ मात्र ज्ञाता रहने से साक्षात् अकर्ता है ॥३३२-३४४॥

माऽकर्तारममी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्तारं कलयन्तु तं किल सदा भेदावबोधादधः ।
ऊर्ध्वं[1] तूद्धतबोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तृभावमचलं ज्ञातारमेकं परम् ॥२०५॥
क्षणिकमिदमिहैकः कल्पयित्वात्मतत्त्वं
निजमनसि विधत्ते कर्तृभोक्त्रोर्विभेदम् ।
अपहरति विमोहं तस्य नित्यामृतौघैः
स्वयमयमभिषिञ्चंश्चिच्चमत्कार एव ॥२०६॥

यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवरूपं तम्हा तस्मात्कारणात् कुव्वदि सो वा द्रव्यार्थिकनयेन स एव कर्म करोति । स एव कः ? इति चेत्, यो भुङ्क्ते । अण्णो वा पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा । णेयंतो न

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**मा कर्तार** इत्यादि । अर्थ—अर्हंत के अनुयायी जैन भी आत्मा को, सांख्यमतियों की भांति (सर्वथा) अकर्ता मत मानो, भेदज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर कर्ता मानो और भेदज्ञान होने के पश्चात् उद्धत ज्ञानधाम (ज्ञानमन्दिर) में निश्चित इस स्वयं प्रत्यक्ष आत्मा को अकर्ता अचल और एक परम ज्ञाता ही देखो।

भावार्थ—सांख्यमती पुरुष को एकान्त से अकर्ता, शुद्ध उदासीन, चैतन्यमात्र मानते हैं। ऐसा मानने से पुरुष के संसार का अभाव आता है। प्रकृति को संसार माना जाय तो प्रकृति तो जड़ है, उसके सुखदुःख आदि का संवेदन नहीं है इसलिये किसका संसार ? इत्यादि दोष आते हैं। क्योंकि वस्तु का स्वरूप सर्वथा एकान्त नहीं है इस कारण वे सांख्यमती मिथ्यादृष्टि हैं। उसी तरह जो जैनी भी ऐसा मानते हैं तो वे भी मिथ्यादृष्टि होते हैं। इसलिये आचार्य उपदेश करते हैं कि सांख्यमतियों की तरह जैनी आत्मा को सर्वथा अकर्ता मत मानो। जहाँ तक आप और पर का भेदविज्ञान न हो तबतक तो रागादिक अपने चेतनरूप भावकर्मों का कर्ता मानों, भेदविज्ञान हुए पश्चात् शुद्ध विज्ञानघन समस्त कर्तापन के भाव से रहित एक ज्ञाता ही मानो। इस तरह एक ही आत्मा में कर्ता अकर्ता दोनों भाव विवक्षा के वश से सिद्ध होते हैं। यह स्याद्वादमत जैनियों का है तथा वस्तुस्वभाव भी ऐसा ही है, कल्पना नहीं है। ऐसा मानने से पुरुष के संसार मोक्ष आदि की सिद्धि होती है, सर्वथा एकान्त मानने में सब निश्चय व्यवहार का लोप हो जाता है ऐसा जानना ॥२०५॥

आगे बौद्धमती क्षणिकवादी ऐसा मानते हैं कि कर्ता तो अन्य है और भोक्ता अन्य है, उनके सर्वथा एकान्त मानने में दूषण दिखलाते हैं तथा स्याद्वाद से जिस तरह वस्तुस्वरूप कर्ता-भोक्तापन है उस तरह दिखलाते हैं। उसमें प्रथम ही उसकी सूचना का काव्य यह है—**क्षणिक** इत्यादि। अर्थ—एक बौद्धमती क्षणिकवादी तो आत्मतत्त्व की क्षणिक कल्पना करके अपने मन में कर्ता

---

१. ऊर्ध्वं मिथ्यात्वरूपविभावपरिणामध्वंसानन्तरं–उद्धतमविलम्बेन ज्ञेयग्राहि यद्बोधधाम ज्ञानतेजस्तत्र नियतं तत्परं ।

वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं वृत्तिमन्नाशकल्पनात् ।
अन्यः करोति भुङ्क्तेऽन्य इत्येकान्तश्चकास्तु मा ॥२०७॥

केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव हिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा कुव्वदि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४५॥
केहिंचि दु पज्जयेहिं विणस्सए णेव केहिंचि दु जीवो ।
जम्हा तम्हा वेददि सो वा अण्णो व णेयंतो ॥३४६॥
जो चेव कुणइ सोच्चिय ण वेयए जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णायव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४७॥
अण्णो करेइ अण्णो परिभुंजइ जस्स एस सिद्धंतो ।
सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो ॥३४८॥(चतुष्कम्)

चैकान्तोऽस्ति । एवं कर्तृत्वमुख्यत्वेन प्रथमगाथा गता । केहिंचिदु पज्जयेहिं विणस्सवे णेव केहिंचिदु जीवो

भोक्ता में भेद मानते हैं। कर्ता अन्य है भोगता अन्य है, ऐसा मानते हैं, उनके अज्ञान को यह चैतन्य चमत्कार ही आप नित्य अमृत के समूहों कर सींचता हुआ दूर करता है।

भावार्थ—क्षणिकवादी कर्ता भोक्ता में भेद मानते हैं। जो पहले क्षण में था वह दूसरे क्षण में नहीं है ऐसा मानते हैं। आचार्य कहते हैं कि हम उनको क्या समझावें? यह चैतन्य ही उनका अज्ञान दूर करेगा। जो कि अनुभवगोचर नित्यरूप है। पहले क्षण आप है वही दूसरे क्षण में कहता है कि मैं पहले था वही हूँ ऐसा स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञान उसकी नित्यता दिखलाता है। यहां बौद्ध-मती कहता है कि जो पहले क्षण था वही मैं दूसरे क्षण में हूँ यह मानना तो अनादि अविद्या से भ्रम है यह मिटे तब तत्त्व सिद्ध हो, समस्त क्लेश मिटें। उसको कहते हैं कि हे बौद्ध! तूने प्रत्य-भिज्ञान को भ्रम बतलाया तो जो अनुभव गोचर है वह भ्रम ठहरा, तो तेरा क्षणिक मानना भी अनुभवगोचर है यह भी भ्रम ठहरा, क्योंकि अनुभव अपेक्षा दोनों ही समान हैं। इसलिये सर्वथा एकान्त मानना तो दोनों ही भ्रम हैं वस्तुस्वरूप नहीं है। हम (जैन) कथञ्चित् नित्यानित्यरूप वस्तु का स्वरूप कहते हैं वह सत्यार्थ है॥२०६॥

आगे ऐसे ही क्षणिक मानने वाले को युक्ति से काव्य द्वारा निषेध करते हैं-वृत्त्यंश इत्यादि। अर्थ—क्षण क्षण प्रति अवस्था भेदों को वृत्यंश कहते हैं, उनके सर्वथा भेद जुदे २ वस्तु मानने से अवस्थाओं का आश्रय रूप जो वृत्तिमान् वस्तु उनके नाश की कल्पना करके ऐसा मानते हैं कि करता दूसरा है और भोगता कोई दूसरा ही है। उसपर आचार्य कहते हैं कि ऐसा एकान्त मत प्रकाशित करो। जहां अवस्थावान् पदार्थ का नाश हुआ वहां अवस्थायें किसके आश्रय होके रहें? इस तरह दोनों का नाश आता है, तब शून्य का प्रसङ्ग होता है॥२०७॥

---

१. बौद्धैरित्यर्थः।

केहिचत्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव केश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्मात्करोति स वा अन्यो वा नैकान्तः ॥३४५॥

केश्चित्तु पर्यायैर्विनश्यति नैव कैश्चित्तु जीवः ।
यस्मात्तस्माद्वेदयते स वा अन्यो वा नैकान्तः ॥३४६॥

यश्चैव करोति स चैव न वेदयते यस्यैष सिद्धान्तः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥३४७॥

अन्यः करोत्यन्यः परिभुङ्क्ते यस्य एष सिद्धान्तः ।
स जीवो ज्ञातव्यो मिथ्यादृष्टिरनार्हतः ॥३४८॥

यतो हि प्रतिसमयं संभवदगुरुलघुगुणपरिणामद्वारेण क्षणिकत्वादचलितचैतन्यान्वयगुणद्वारेण नित्यत्वाच्च जीवः कैश्चित्पर्यायैर्विनश्यति, कैश्चित्तु न विनश्यतीति द्विस्वभावो जीवस्वभावः। ततो य एव करोति स एवान्यो वा वेदयते। य एव

कैश्चित् पर्यायैः पर्यायार्थिकनयविभागैः देवमनुष्यादिरूपैर्विनश्यति जीवः न नश्यति कैश्चिद्द्रव्यार्थिकनयविभागैः । जम्हा यस्मादेवं नित्यानित्यस्वभावं जीवस्वरूपं तम्हा तस्मात्कारणात् वेददि सो वा निजशुद्धात्म-

---

अब अनेकांत को प्रकट कर के इस क्षणिक वाद को स्पष्टतया निषेधते हैं;—[यस्मात्] जिस कारण [जीवः] जीव [कैश्चित्तु पर्यायैः] कितनी एक पर्यायों से तो [विनश्यति] विनाश को प्राप्त होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी एक पर्यायों से [नैव] विनष्ट नहीं होता [तस्मात्] इस कारण [स वा करोति] वह ही करता है [वा अन्यः] अथवा अन्य कर्ता है [न एकान्तः] एकान्त नहीं स्याद्वाद है। [यस्मात्] जिस कारण [जीवः] जीव [कैश्चित्तु पर्यायैः] कितनी एक पर्यायों से [विनश्यति] विनाश को प्राप्त होता है [तु] और [कैश्चित्] कितनी एक पर्यायों से [नैव] विनष्ट नहीं होता [तस्मात्] इस कारण [स व वेदयते] वही जीव भोक्ता होता है [अन्यो व] अथवा अन्य भोक्ता है [न एकान्तः] ऐसा ऐकान्त नहीं है स्यादाद है। [च यस्य एष सिद्धान्तः] और जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि [य एव] जो जीव [करोति] करता है [स चैव न वेदयते] वह नहीं भोगता, अन्य ही भोगने वाला है [स जीवः] वह जीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना [अनार्हतः] अरहन्त के मत का अनुयायी नहीं है [यस्य एष सिद्धान्तः] तथा जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि [अन्यः करोति] कोई अन्य करता है [अन्यः परिभुङ्क्ते] और कोई दूसरा भोगता है [स जीवः] वहजीव [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [ज्ञातव्यः] जानना [अनार्हतः] अरहन्त के मत का नहीं है।

टीका—यह जीव प्रति समय होने वाले अगुरुलघुगुण के परिणाम के द्वारा तो क्षणिक है; परन्तु प्रचलित चैतन्य के अवयवरूप गुण के द्वारा नित्य है। ऐसा होने से कुछ एक पर्यायों से तो

वेदयते स एवान्यो वा करोतीति नास्त्येकान्तः। एवमनेकान्तेऽपि यस्तत्क्षणवर्तमानस्यैव परमार्थसत्त्वेन वस्तुत्वमिति वस्त्वंशेऽपि वस्तुत्वमध्यास्य शुद्धनयलोभादृजुसूत्रैकान्ते स्थित्वा य एव करोति स एव न वेदयते। अन्यः करोति अन्यो वेदयते इति पश्यति स मिथ्यादृष्टिरेव द्रष्टव्यः। क्षणिकत्वेऽपि वृत्त्यंशानां वृत्तिमतश्चैतन्यचमत्कारस्य टङ्कोत्कीर्णस्यैवान्तःप्रतिभासमानत्वात् ॥३४५–३४८॥

भावनोत्थसुखामृतरसास्वादमलभमानः स एव कर्मफलं वेदयत्यनुभवति। स एव कः? इति चेत्, येन पूर्वकृतं कर्म अण्णो वा पर्यायार्थिकनयेन पुनरन्यो वा णेयंतो न चैकान्तोऽस्ति। एवं भोक्तृत्वमुख्यत्वेन द्वितीयगाथा। किंच येन मनुष्यभवे शुभाशुभं कर्म कृतं स एव जीवो द्रव्यार्थिकनयेन देवलोके नरके वा भुङ्क्ते। पर्यायार्थिकनयेन पुनस्तद्भवापेक्षया बालकाले कृतं यौवनादिपर्यायान्तरे भुङ्क्ते अति संक्षेपेण अन्त-

---

विनष्ट होता है तथा कितनी एक पर्यायों से विनष्ट नहीं होता ऐसे जीव का स्वभाव दोस्वरूप है। इस कारण 'जो करता है वही भोगता है' अथवा अन्य ही भोगता है। 'जो भोगता है वही करता है' अथवा अन्य करता है ऐसा एकान्त नहीं है। इस प्रकार अनेकान्त होने पर भी जो ऐसा मानता है कि जिस क्षण में जो पर्याय होती है उसी को परमार्थरूप सत्ता से वस्तुपना है, इस प्रकार वस्तु के अंश में वस्तुत्व का निश्चय करके शुद्धनय के लोभ से ऋजुसूत्रनय के एकान्त में ठहरकर जो ऐसा श्रद्धान करता है कि जो करता है वही भोगता नहीं, अन्य करता है और अन्य ही भोगता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि ही जानना। क्योंकि पर्यायरूप अवस्थाओं के क्षणिकपना होने पर की वृत्तिमान् (पर्यायी) जो चैतन्य चमत्कार टङ्कोत्कीर्ण नित्यस्वरूप उसका अन्तरङ्ग में प्रतिभासमानपना है।

भावार्थ—वस्तु का स्वभाव जिनवाणी में द्रव्यपर्यायस्वरूप कहा है। इसलिये पर्याय अपेक्षा तो वस्तु क्षणिक है और द्रव्य अपेक्षा नित्य है ऐसा अनेकान्त स्याद्वाद से सिद्ध होता है। ऐसा होने पर जीव नामा वस्तु भी ऐसा ही द्रव्यपर्यायस्वरूप है, इसलिये पर्याय अपेक्षा से देखा जाय तब कार्य को करता तो अन्य पर्याय है और भोगता अन्य ही पर्याय है। जैसे मनुष्य पर्याय में शुभ अशुभ कर्म किये उनका फल देवादि पर्याय में भोगा। परन्तु द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तब जो करता है वही भोगता है ऐसा सिद्ध होता है। जैसे मनुष्य पर्याय में जो जीवद्रव्य था उसने शुभाशुभ कर्म किये थे वही जीव देवादि पर्याय में गया वहां उसी जीव ने अपने किये का फल भोगा। इसी तरह वस्तु का स्वरूप अनेकान्तरूप सिद्ध होने पर भी शुद्धनय में तो संशय नहीं और शुद्धनय के लोभ से वस्तु का पर्याय वर्तमान काल में जो एक अंश था उसी को वस्तु मानकर ऋजुसूत्रनय के विषय का एकान्त पकड़ ऐसा मानते हैं कि जो करता है वह नहीं भोगता है, अन्य भोगता है। और जो भोगता है वह करता नहीं है, अन्य करता है। ऐसे मिथ्यादृष्टि अरहन्त के मत के नहीं हैं। क्योंकि पर्याय के क्षणिकपना होने पर भी द्रव्यरूप चैतन्यचमत्कार तो अनुभव गोचर नित्य है। जैसे प्रत्यभिज्ञान से ऐसा जाने कि जो बालक अवस्था में मैं था वही अब तरुण अवस्था में तथा वृद्ध अवस्था में हूँ। इस तरह जो अनुभवगोचर स्वसंवेदन में आवे तथा जिनवाणी भी ऐसे ही कहे उसको न माने वही मिथ्यादृष्टि कहलाता है। ऐसा जानना ॥३४५।३४६।३४७।३४८॥

आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभिरतिव्याप्तिं प्रपद्यान्धकैः
कालोपाधिबलादशुद्धिमधिकां तत्रापि मत्वा परैः ।
चैतन्यं क्षणिकं प्रकल्प्य[1] पृथुकैः शुद्धर्जुसूत्रेरितै-
रात्मा व्युज्झित एव हारवदहो निस्सूत्रमुक्तेक्षिभिः ॥२०८॥
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो भेदोऽस्त्वभेदोपि वा
कर्ता वेदयिता च मा भवतु वा वस्त्वेव संचिन्त्यताम् ।
प्रोता सूत्रइवात्मनीह निपुणैर्भेत्तुं न शक्या क्वचित्
चिच्चिन्तामणिमालिकेयमभितोप्येका चकास्त्येव नः ॥२०९॥

मुहूर्तान्तरे च भुङ्क्ते । भावान्तरापेक्षया तु मनुष्यपर्यायेण कृतं देवादिपर्यायेण भुङ्क्ते इति भावार्थः । एवं गाथाद्वयेनानेकान्तव्यवस्थापनारूपेण स्वपक्षसिद्धिः कृता । अथैकान्तेन य एव करोति स एव भुङ्क्ते अथवान्यः

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—आत्मानं इत्यादि । अर्थ—आत्मा को संपूर्णतया शुद्ध मानने से अन्य अन्य बौद्धों के उस आत्मा में काल की उपाधि के बल से अधिक अशुद्धता मानकर अतिव्याप्ति को प्राप्त होकर तथा शुद्ध ऋजुसूत्रनय में रत होकर चैतन्य की क्षणिक कल्पना करके आत्मा को छोड़ दिया, क्योंकि आत्मा तो द्रव्यपर्याय स्वरूप था, वह सर्वथा क्षणिकपर्यायस्वरूप मानकर छोड़ दिया, उनको आत्मा की प्राप्ति नहीं हुई । यहाँ हारका दृष्टान्त है । जैसे मोतियों का हारनामा वस्तु है उसमें सूत्र में जो मोती पोये हुए हैं भिन्न-भिन्न दीखते हैं । जो हार सूत्रसहित मोती पोये हुए नहीं देखते; मोतियों को ही भिन्न देख ग्रहण करते हैं उनको हार की प्राप्ति नहीं होती । उसीप्रकार जो आत्मा के एक नित्यचैतन्य भाव को ग्रहण नहीं करते तथा समय समय वर्तना परिणाम रूप उपयोग की प्रवृत्ति को देख उनको सदा नित्य मान काल की उपाधि से अशुद्धपना मानकर ऐसा जानते हैं कि यदि नित्य माना जाय तो काल की उपाधि लगने से आत्मा के अशुद्धपना आता है तब अतिव्याप्ति दूषण लगता है। इस दोष के भय से ऋजुसूत्रनय का विषय शुद्ध वर्तमान समयमात्र क्षणिकपना उसमात्र मान आत्मा को छोड़ देते हैं।

भावार्थ—आत्मा को समस्तपने शुद्ध मानने के इच्छुक बौद्धमती ने विचारा कि, यदि आत्मा को नित्य माना जाय तो नित्य में काल की अपेक्षा आती है, इसलिए उपाधि लग जायगी तब बड़ी अशुद्धता आयेगी, तब अतिव्याप्ति दोष लगेगा । इस भय से शुद्ध ऋजुसूत्र नयका विषय जो वर्तमान समय है उतना क्षणिक ही आत्मा को माना । तब तो आत्मा नित्यानित्यरूप द्रव्य-पर्यायरूप था उसका उसके ग्रहण नहीं हुआ, केवल पर्यायमात्र में आत्मा की कल्पना हुई । वह आत्मा सत्यार्थ ऐसा नहीं जानना ॥ २०८ ॥

अब फिर इसी अर्थ के समर्थनरूप वस्तु के अनुभव करने को काव्य कहते हैं—कर्तुः इत्यादि । अर्थ—कर्ता में और भोक्ता में युक्ति के वशसे भेद हो अथवा अभेद हो, अथवा कर्ता भोक्ता दोनों ही न हों, वस्तु का ही चिन्तवन करो । क्योंकि चतुर पुरुषों से सूत्र में पोई हुई मणियों की माला

---

१. बौद्धैरित्यर्थः ।

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते[1] ॥२१०॥

करोत्यन्यो भुङ्क्ते इति यो वदति स मिथ्यादृष्टिरित्युपदिशति—**जो चेव कुणदि सो चेव वेदको जस्स एस सिद्धंतो** य एव जीवः शुभाशुभं कर्म करोति स एव चैकान्तेन भुङ्क्ते न पुनरन्यः, यस्यैष सिद्धान्तः—आगमः। **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** स जीवो मिथ्यादृष्टिरनार्हतो ज्ञातव्यः। कथं मिथ्यादृष्टिः? इति चेत्, यदैकान्तेन नित्यकूटस्थोऽपरिणामी टङ्कोत्कीर्णः सांख्यमतवत् तदा येन मनुष्यभवेन नरकगतियोग्यं पापकर्म कृतं स्वर्गगतियोग्यं पुण्यकर्म कृतं तस्य जीवस्य नरके स्वर्गे वा गमनं न प्राप्नोति। तथा शुद्धात्मानुष्ठानेन मोक्षश्च। कुतः? नित्यैकान्तत्वादिति। **अण्णो करेदि अण्णो परिभुंजदि जस्स एस सिद्धंतो** अन्य करोति कर्म भुङ्क्ते चान्यः, यद्येकान्तेन ब्रूते **सो जीवो णादव्वो मिच्छादिट्ठी अणारिहदो** तदा येन मनुष्यभवे पुण्यकर्म कृतं पापकर्म कृतं मोक्षार्थं शुद्धात्मभावनानुष्ठानं च, तस्य पुण्यकर्मणो देवलोकेऽन्यः कोऽपि भोक्ता प्राप्नोति न च स जीवः। नरकेऽपि तथैव। केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपं मोक्षं चान्यः कोऽपि लभते। ततश्च पुण्यपापमोक्षानुष्ठानं वृथेति बौद्धमतदूषणं, इति गाथाद्वयेन नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तमतं निराकृतम्। एवं द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयं गतम् ॥ ३४५ । ३४६ । ३४७ । ३४८ ॥ अथ व्यवहारेण कर्तृकर्मणोर्भेदः, निश्चयेन पुनर्यदेव

जैसे भेदी नहीं जाती, तैसे आत्मा में पोई हुई चैतन्यरूप चिन्तामणि की माला भी कभी किसी से नहीं भेदी जा सकती। ऐसी यह आत्मारूपी माला समस्तपने से एक हमारे प्रकाशरूप प्रकट हो।

भावार्थ—वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप अनेकधर्म वाली है, उसमें विवक्षा के वश से कर्ता भोक्तापने का भेद भी है और भेद नहीं भी है, तथा कर्ता-भोक्ता भेदाभेद भी क्यों करना चाहिए? केवल शुद्ध वस्तुमात्र का उसके असाधारण धर्म के द्वारा अनुभव करना चाहिए, चैतन्य के परिणमनरूप पर्याय के भेदों की अपेक्षा से तो कर्ता-भोक्ता का भेद है। चिन्मात्र द्रव्य अपेक्षा से भेद नहीं है। इस तरह भेद अभेद होवें तथा चिन्मात्र अनुभव में भेद अभेद क्यों कहना? कर्ता भोक्ता भी नहीं कहना, वस्तुमात्र अनुभव करना। जैसे मणियों की माला में सूत और मोतियों का विवक्षा से भेद है। मालामात्र ग्रहण करने मे भेदाभेद विकल्प नहीं हैं। उसी तरह आत्मा में चैतन्य के द्रव्यपर्याय अपेक्षा भेदाभेद है तो भी आत्म वस्तुमात्र अनुभव करने पर विकल्प नहीं रहता। इसलिये आचार्य कहते हैं कि ऐसे निर्विकल्प आत्मा का अनुभव हमारे प्रकाशरूप है, ऐसा जैनों का वचन है ॥२०९॥

आगे इस कथन को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं उसकी सूचना के नयविभाग का काव्य कहते हैं—व्यावहारिक इत्यादि। अर्थ—व्यवहार की दृष्टि में तो कर्ता और कर्म भिन्न दीखते हैं और जब निश्चय से देखा जाय अर्थात् वस्तु को विचारा जाय तो कर्ता और कर्म सदाकाल एक ही देखने में आते हैं।

भावार्थ—व्यवहारनय तो पर्यायाश्रित है इसमें तो भेद ही दीखता है और शुद्ध निश्चयनय द्रव्याश्रित है। इसमें अभेद ही दिखता है। इसलिए व्यवहार में तो कर्ता कर्म का भेद है और निश्चय में अभेद है ॥ २१० ॥

---

१. 'मीक्ष्यते' इत्यापि पाठः।

जह सिप्पिओ उ कम्मं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि ण य तम्मओ होइ ॥३४९॥
जह सिप्पिओ उ करणेहिं कुव्वइ ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणेहिं कुव्वइ ण य तम्मओ होइ ॥३५०॥
जह सिप्पिओ उ करणाणि गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ।
तह जीवो करणाणि उ गिह्णइ ण य तम्मओ होइ ॥३५१॥
जह सिप्पिओ उ कम्मफलं भुंजदि ण य सो उ तम्मओ होइ ।
तह जीवो कम्मफलं भुंजइ ण य तम्मओ होइ ॥३५२॥
एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दरिसणं समासेण ।
सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकयं तु जं होइ ॥३५३॥
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं कुव्वइ हवइ य तहा अणण्णो से ।
तह जीवोवि य कम्मं कुव्वइ हवइ य अणण्णो से ॥३५४॥
जह चिट्ठं कुव्वंतो उ सिप्पिओ णिच्च दुक्खिओ होई ।
तत्तो सिया अणण्णो तह चेट्ठंतो दुही जीवो ॥३५५॥(सप्तकम्)

यथा शिल्पिकस्तु कर्म करोति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति न च तन्मयो भवति ॥३४९॥

कर्तृ तदेव कर्मेत्युपदिशति—यथा लोके शिल्पी तु सुवर्णकारादिः सुवर्णकुण्डलादिकर्म करोति, कैः कृत्वा? हस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः । हस्तकुट्टकाद्युपकरणानि च हस्तेन गृह्णाति, तथापि तैः सुवर्णकुण्डलादिकर्महस्तकुट्टकादिकरणैरुपकरणैः सह तन्मयो न भवति । तथैवाज्ञानी जीवोऽपि निष्क्रियवीतरागस्वसंवेदनज्ञानच्युतः-सन् ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि करोति । कैः कृत्वा? मनोवचनकायव्यापाररूपैः कर्मोत्पादककरणैरुपकरणैः तथैव च कर्मोदयवशान्मनोवचनकायव्यापाररूपाणि कर्मोत्पादककरणान्युपकरणानि संश्लेषरूपेण व्यवहारनयेन गृह्णाति तथापि ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्ममनोवचनकायव्यापाररूपकर्मोत्पादकोपकरणैः सह टङ्कोत्कीर्णज्ञायकत्वेन भिन्नत्वात्तन्मयो न भवति । तथैव च स एव शिल्पी सुवर्णकारादिः सुवर्णकुण्डलादिकर्मणि कृते सति यत्कि-

---

आगे इस कथन को दृष्टान्त से गाथाओं में कहते हैं; [यथा शिल्पिकः तु] जैसे सुनार आदि कारीगर [कर्म] आभूषणादि कर्म को [करोति] करता है [स तु] परन्तु वह [तन्मयो न च भवति] आभूषणादिकों से तन्मय नहीं होता [तथा] उसी तरह [जीवोपि च] जीव भी [कर्म] पुद्गलकर्म को

यथा शिल्पिकस्तु करणैः करोति न स तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणैः करोति न च तन्मयो भवति ॥३५०॥
यथा शिल्पिकस्तु करणानि गृह्णाति न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः करणानि तु गृह्णाति न च तन्मयो भवति ॥३५१॥
यथा शिल्पिकः कर्मफलं भुङ्क्ते न च स तु तन्मयो भवति ।
तथा जीवः कर्मफलं भुङ्क्ते न च तन्मयो भवति ॥३५२॥
एवं व्यवहारस्य तु वक्तव्यं दर्शनं समासेन ।
शृणु निश्चयस्य वचनं परिणामकृतं तु यद्भवति ॥३५३॥

मप्यशनपानादिकं मूल्यं लभते भुङ्क्ते च तथापि तेनाशनपानादिना सह तन्मयो न भवति । तथा जीवोऽपि शुभाशुभकर्मफलं वहिरङ्गेष्टानिष्टाशनपानादिरूपं निजशुद्धात्मभावनोत्थमनोहरानन्दसुखास्वादमलभमानो भुङ्क्ते न च तन्मयो भवति । एवं ववहारस्स उ वत्तव्वं दंसणं समासेण एवं पूर्वोक्तप्रकारेण गाथाचतुष्टयेन द्रव्यकर्मकर्तृत्वभोक्तृत्वरूपस्य व्यवहारनयस्य दर्शनं निदर्शनं दृष्टान्तम् उदाहरणं हे शिष्य ! वक्तव्यं व्याख्येयं कथनीयं समासेन संक्षेपेण सुणु णिच्छयस्स वयणं परिणामकदं तु जं हवदि इदं त्वग्रे वक्ष्यमाणं निश्चयस्य वचनं व्याख्यानं शृणु, यत् कथंभूतं ? परिणामकृतं रागादिविकल्पेन निष्पादितमिति । जह सिप्पिओ दु चेट्ठं कुव्वदि] हवदि य तहा अणण्णो सो यथा सुवर्णकारादिशिल्पी कुण्डलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां करोति इति तथा चेष्टया सह भवति चानन्यस्तन्मयः तह जीवोवि य कम्मं कुव्वदि हवदि य अणण्णो सो तथैवा-

---

[करोति] करता है। [च] तो भी [तन्मयो न भवति] उससे तन्मय नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः] शिल्पी [करणैः] हथौड़ा आदि करणों से [करोति] कर्म करता है। [तु सः] परन्तु वह [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता [तथा] उसी तरह [जीवः] जीव भी [करणैः करोति] मन वचन काय आदि करणों से कर्म को करता है [च] तो भी [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पिकः] शिल्पी [करणानि] करणों को [गृह्णाति] ग्रहण करता है [तु] तो भी [स तु] वह [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता [तथा] उसी तरह [जीवः] जीव [करणानि गृह्णाति] मन वचन कायरूप करणों को ग्रहण करता है [तु च] तो भी [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता। [यथा] जैसे [शिल्पी तु] शिल्पी [कर्मफलं] आभूषणादि कर्मों के फल को [भुङ्क्ते] भोगता है [तु च] तो भी [सः] वह उनसे [तन्मयो न भवति] तन्मय नहीं होता [तथा जीवः] उसी तरह जीव भी [कर्मफलं] सुख दुःख आदि कर्म के फल को [भुङ्क्ते] भोगता है [च] परन्तु [तन्मयो न भवति] उनसे तन्मय नहीं होता। [एवं तु] इस तरह से तो [व्यवहारस्य दर्शनं] व्यवहार का मत [समासेन] संक्षेप से [वक्तव्यं] कहने योग्य है [तु] और [यत्] जो [निश्चयस्य

तथा शिल्पिकस्तु चेष्टां करोति भवति च तथानन्यस्तस्याः ।
तथा जीवोऽपि च कर्म करोति भवति चानन्यस्तस्मात् ॥३५४॥
यथा चेष्टां कुर्वाणस्तु शिल्पिको नित्यदुःखितो भवति ।
तस्माच्च स्यादनन्यस्तथा चेष्टमानो दुःखी जीवः ॥३५५॥

यथा खलु शिल्पी सुवर्णकारादिः कुण्डलादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कर्म करोति । हस्तकुट्टकादिभिः परद्रव्यपरिणामात्मकैः करणैः करोति । हस्तकुट्टकादीनि परद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति । ग्रामादिपरद्रव्यपरिणामात्मकं कुण्डलादिककर्मफलं भुङ्क्ते च । नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः । तथात्मापि पुण्यपापादि पुद्गलपरिणामात्मकं कर्म करोति । कायवाङ् मनोभिः पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकैः

ज्ञानी जीवः केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य योऽसौ साधको निर्विकल्पसमाधिरूपः कारणसमयसारस्तस्याभावे सत्यशुद्धनिश्चयनयेन अशुद्धोपादानरूपेण मिथ्यात्वरागादिरूपं भावकर्म करोति तेन भावकर्मणा सह भवति चानन्यः इति भावकर्मकर्तृत्वगाथा गता । जह चेट्ठं कुव्वंतो दु सिप्पिओ णिच्च दुःखिदो होदि

निश्चय के [वचनं] वचन हैं वे [परिणामकृतं] अपने परिणामों से किये [भवति] होते हैं [शृणु] उनका सुनो । [यथा] जैसे [शिल्पिकः] शिल्पी [चेष्टां करोति] अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूप कर्म को करता है [तु च] परन्तु [तस्या अनन्यः तथा] वह उस चेष्टा से भिन्न नहीं [भवति] होता है, तन्मय है [तथा] उसी तरह [जीवोपि च] जीव भी [कर्म] अपने परिणामस्वरूप चेष्टारूपकर्म को [करोति] करता है [तस्मात्] उस चेष्टारूप कर्म से [अनन्यः भवति] अन्य नहीं है, तन्मय है [यथा तु] जैसे [शिल्पिकः] शिल्पी [चेष्टां कुर्वाणः] चेष्टा करता हुआ [नित्यदुःखितो भवति] निरन्तर दुःखी होता है [तस्माच्च] उस दुःख से [अनन्यः स्यात] पृथक् नहीं है, तन्मय है [तथा] उसी तरह [जीवः] जीव भी [चेष्टमानः दुःखी] चेष्टा करता हुआ दुःखी होता है ।

टीका—जिस प्रकार निश्चय से सुनार आदि शिल्पी कुंडल आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप कर्म को करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों द्वारा करता है, हथौड़ा आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों को ग्रहण करता है, और कुंडल आदि कर्म का फल ग्राम धन आदि परद्रव्य के परिणामस्वरूप को पाता है, उनको भोगता है, तो भी वे सभी भिन्न-भिन्न द्रव्य हैं, उनसे अन्य हैं, इसलिये उनसे तन्मय नहीं होता, इस कारण वहां निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से ही उनके कर्ता-कर्मपने का और भोक्ता-भोग्यपने का व्यवहार है । उसी प्रकार आत्मा भी पुण्य-पाप आदि पुद्गल द्रव्यस्वरूप कर्म को करता है, मन वचन काय पुद्गलद्रव्यस्वरूप करणों द्वारा कर्म को करता है, मन वचन काय पुद्गलद्रव्य के परिणामस्वरूप करणों को ग्रहण करता है और सुख-दुःख आदि पुद्गल द्रव्य के परिणामस्वरूप पुण्य पाप आदि कर्मों के फल को भोगता है, सो भिन्न द्रव्यपने से उनसे अन्य होने पर उनसे तन्मय नहीं होता । इसलिये निमित्त-नैमित्तिक भावमात्र से

करणैः करोति कायवाङ्मनांसि पुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकानि करणानि गृह्णाति सुखदुःखादिपुद्गलद्रव्यपरिणामात्मकं पुण्यपापादिकर्मफलं भुङ्क्ते च नत्वनेकद्रव्यत्वेन ततोऽन्यत्वे सति तन्मयो भवति ततो निमित्तनैमित्तिकभावमात्रेणैव तत्र कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वव्यवहारः। यथा च स एव शिल्पी चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणात्मकं कर्म करोति। दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपकर्मफलं भुङ्क्ते च एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैव कर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः। तथात्मापि चिकीर्षुश्चेष्टानुरूपमात्मपरिणामात्मकं कर्म करोति। दुःखलक्षणमात्मपरिणामात्मकं चेष्टानुरूपकर्मफलं भुङ्क्ते च एकद्रव्यत्वेन ततोऽनन्यत्वे सति तन्मयश्च भवति ततः परिणामपरिणामिभावेन तत्रैककर्तृकर्मभोक्तृभोग्यत्वनिश्चयः ॥३४९-३५५॥

ननु परिणाम एव किल कर्म विनिश्चयतः
स भवति नापरस्य परिणामिन एव भवेत्।
न भवति कर्तृशून्यमिह कर्म न चैकतया
स्थितिरिह वस्तुनो भवतु कर्तृ तदेव ततः ॥२११॥

यथा स एव शिल्पी कुण्डलादिकमेवमेवं करोमीति मनसि चेष्टां कुर्वाणः सन् चित्तखेदेन नित्यं दुःखितो भवति। न केवलं दुःखितः। तत्तो सेय अणण्णो तस्माद् दुःखविकल्पादनुभवरूपेणानन्यश्च स स्यात्

ही वहां कर्ता-कर्मपना भोक्ता भोग्यपने का व्यवहार है। जैसे वही शिल्पी करने का इच्छुक हुआ अपने हस्त आदि की चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्म को करता है और दुःखस्वरूप अपने परिणामरूप चेष्टामय कर्म के फल को भोगता है उन परिणामों को अपने एक ही द्रव्यपने से अनन्य होने से उनसे तन्मय होता है। इसलिये उनमें परिणाम-परिणामी भाव से कर्ता-कर्मपने का तथा भोक्ता-भोग्यपने का निश्चय है। उसी तरह आत्मा भी करने का इच्छुक हुआ अपने उपयोग की तथा प्रदेशों की चेष्टारूप अपने परिणामस्वरूप कर्म को करता है और दुःख स्वरूप अपने परिणामरूप कर्म के फल को भोगता है। उन परिणामों के अपने एक ही द्रव्यपने से अन्यपना न होने से उनमें तन्मय होता है। इसलिये उन परिणामों में परिणाम-परिणामी भाव से कर्ता-कर्मपने का और भोक्ता-भोग्यपने का निश्चय है ॥३४९-३५५॥

अब इसी अर्थ का श्लोक कहते हैं—ननु इत्यादि। अर्थ—हे मुनियो! तुम यह निश्चय करो कि निश्चय से प्रगट परिणाम ही कर्म है, वह परिणाम अपने आश्रयभूतपरिणामी द्रव्य का ही होता है, अन्य का नहीं होता। क्योंकि परिणाम अपने अपने द्रव्य के आश्रय हैं, अन्य के परिणाम का अन्य आश्रय नहीं होता। कर्म कर्ता के बिना नहीं होता, वस्तु द्रव्यपर्यायस्वरूप है, इसलिए उसकी

बहिर्लुठति यद्यपि स्फुटदनन्तशक्तिः स्वयं
तथाप्यपरवस्तुनो विशति नान्यवस्त्वन्तरम् ।
स्वभावनियतं यतः सकलमेव वस्त्विष्यते
स्वभावचलनाकुलः किमिह मोहितः क्लिश्यते ॥२१२॥
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो येन तेन खलु वस्तु वस्तु तत् ।
निश्चयोऽयमपरोऽपरस्य कः किं करोति हि बहिर्लुठन्नपि ॥२१३॥

तह चेट्ठन्तो दुही जीवो तथैवाज्ञानिजीवोऽपि विशुद्धज्ञानदर्शनादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्य साधको योऽसौ निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारः, तस्यालाभे सुखदुःखभोक्तृत्वकाले हर्षविषादरूपां चेष्टां कुर्वाणः सन् मनसि दुःखितो भवति इति। तथा हर्षविषादचेष्टया सह अशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानरूपेणानन्यश्च भवति इति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेणाज्ञानिजीवो निर्विकल्पस्वसंवेदनज्ञानात् च्युतो भूत्वा सुवर्णकारादिदृष्टान्तेन व्यवहारनयेन द्रव्यकर्म करोति भुङ्क्ते च। तथैवाशुद्धनिश्चयेन भावकर्म चेति व्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथासप्तकं गतम् ॥ ३४९—३५५ ॥ अथ ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानाति तथापि धवलकुड्ये श्वेतमृत्तिकावन्निश्चयेन

एक अवस्थारूप कूटस्थ स्थिति आदि नहीं होती, सर्वथा नित्यपना बाधा सहित है इस कारण यह निश्चय सिद्धान्त है कि अपने परिणामरूप कर्म का आप ही कर्ता है ॥२११॥

अब इसी अर्थ के समर्थन में कलशरूप काव्य कहते हैं—बहिर्लुठति इत्यादि। अर्थ—यद्यपि वस्तु आप प्रकाशरूप अनंतशक्ति स्वरूप है तो भी अन्यवस्तु अन्यवस्तु में प्रवेश नहीं करती बाहर ही लोटती है। क्योंकि ऐसा माना जाता है कि सभी वस्तु अपने अपने स्वभाव में नियम रूप हैं। इसपर आचार्य कहते हैं कि ऐसा होने पर भी यह जीव अपने स्वभाव से चलायमान होकर आकुलित तथा मोही हुआ क्लेशरूप क्यों होता है?

भावार्थ—वस्तुस्वभाव तो नियम से ऐसा है कि किसी वस्तु में कोई वस्तु नहीं मिलती और यह बड़ा अज्ञान है कि यह प्राणी अपने स्वभाव से चलायमान होके व्याकुल (क्लेशरूप) हो जाता है ॥ २१२ ॥

फिर इसी अर्थ को दृढ़ करने के लिए श्लोक कहते हैं—वस्तु इत्यादि। अर्थ—जैसे इस लोक में एक वस्तु दूसरी वस्तु की नहीं है, इसी कारण वस्तु वस्तुरूप ही है। ऐसा न माना जाय तो वस्तु का वस्तुपना ही नहीं ठहर सकता ऐसा निश्चय है। ऐसा होने पर अन्यवस्तु अन्यवस्तु के बाहर लोटती है तो भी उसका क्या कर सकती है, कुछ भी नहीं कर सकती।

भावार्थ—वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है कि अन्य कोई वस्तु उसे बदल नहीं सकती, तब अन्य का अन्य ने कुछ भी नहीं किया। जैसे चेतन वस्तु के एक क्षेत्रावगाहरूप पुद्गल रहते हैं तो भी चेतन को जड़ द्वारा अपने रूप तो नहीं परिणमा सकते, तब चेतन का कुछ भी नहीं किया, यह निश्चयनय का मत है, और निमित्त-नैमित्तिक भाव से अन्य वस्तु के परिणाम होता है वह भी उस वस्तु का ही है, अन्य का कहना व्यवहार है ॥२१३॥

यत्तु वस्तु कुरुतेऽन्यवस्तुनः किंचनापि परिणामिनः स्वयं ।
व्यावहारिकदृशैव तन्मतं नान्यदस्ति किमपीह निश्चयात् ॥२१४॥

जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह जाणओ दु ण परस्स जाणओ जाणओ सो दु ॥३५६॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया य सा होइ ।
तह पासओ दु ण परस्स पासओ सो दु ॥३५७॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होइ ।
तह संजओ दु ण परस्स संजओ संजओ सो दु ॥३५८॥
जह सेडिया दु ण परस्स सेडिया सेडिया दु सा होदि ।
तह दंसणं दु ण परस्स दंसणं दंसणं तं तु ॥३५९॥
एवं तु णिच्छयणयस्स भासियं णाणदंसणचरित्ते ।
सुणु ववहारणयस्स य वत्तव्वं से समासेण ॥३६०॥

तन्मयं न भवति इति निश्चयमुख्यत्वेन गाथापञ्चकम् यथैव च श्वेतमृत्तिका कुड्यं श्वेतं करोतीति व्यवह्रियते तथैव च ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु जानात्येवं व्यवहारोऽस्तीति व्यवहारमुख्यत्वेन गाथापञ्चकम् । एवं समुदायेन

यही श्लोक से कहते हैं—यत्तु इत्यादि । अर्थ—कोई वस्तु अन्य वस्तु का कुछ करती है यदि ऐसा कहा जाय तो वस्तु आप परिणामी है, अवस्था से अन्य अवस्था रूप होना वस्तु का पर्यायस्वभाव है, इसीसे परिणामी कहते हैं, ऐसे परिणामी वस्तु के अन्य के निमित्त से परिणाम हुआ उसको ऐसा कहना कि यह अन्य ने किया यह व्यवहारनय की दृष्टि से है। और निश्चय से तो अन्य ने कुछ किया नहीं जो परिणाम हुआ वह अपना ही हुआ, दूसरे ने उसमें कुछ भी लाकर नहीं रक्खा, ऐसा जानना ॥ २१४ ॥

आगे इस निश्चयव्यवहारनय के कथन को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं [यथा] जैसे [सेटिका तु] सफेदी-कलई-खडियामिट्टी तो [परस्य न] पर की-दीवार आदि की नहीं है [सेटिका] सफेदी तो [सा च सेटिका भवति] स्वयं सफेदी ही है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञायकः तु] ज्ञायक आत्मा तो [परस्य न] परद्रव्य का नहीं है [ज्ञायकः स तु ज्ञायकः] ज्ञायक तो ज्ञायक ही है। [यथा] जैसे [सेटिका तु] सफेदी [परस्य न] परद्रव्य की नहीं है [सेटिका स च सेटिका भवति] सफेदी तो सफेदी ही है [तथा] उसी प्रकार [दर्शकः तु] देखने वाला आत्मा [परस्य न] पर का नहीं है [दर्शकः स तु दर्शकः] दर्शक तो दर्शक ही है [यथा] जैसे [सेटिका तु] सफेदी [परस्य न] पर पदार्थ दीवार आदि की नहीं है [सेटिका] सफेदी [सा च सेटिका भवति] वह तो सफेदी

जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं जाणइ णाया वि सयेण भावेण ।।३६१।।
जह परदव्वं सेडिदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं पस्सइ जीवोवि सयेण भावेण ।।३६२।।
जह परदव्वं सेडदि हु सेडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं विजहइ णायावि सयेण भावेण ।।३६३।।

दर्शकं तद्यथा;—यथा लोके श्वेतिका श्वेतिमृत्तिका खटिका परद्रव्यस्य कुड्यादेर्निश्चयेन श्वेतमृत्तिका न भवति तन्मयी न भवति बहिर्भागे तिष्ठतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति ? श्वेतिका श्वेतिकैव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । तथा श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन ज्ञानात्मा घटपटादिज्ञेयपदार्थस्य निश्चयेन ज्ञायको न भवति तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति । ज्ञायको ज्ञायक एव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं ब्रह्माद्वैतवादिवत्—ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता । तथा तेनैव च श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन दर्शकः आत्मा दृश्यस्य घटादिपदार्थस्य निश्चयेन दर्शको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि

ही है [तथा] उसी प्रकार [संयतः तु] त्याग करने वाला आत्मा [परस्य न] परद्रव्य का नहीं है [संयतः स तु संयतः] संयत तो संयत ही है [यथा] जैसे [सेटिका तु] सफेदी [परस्य न] परद्रव्य की नहीं है, [सेटिका सा च सेटिका भवति] सफेदी तो सफेदी ही है [तथा] उसी प्रकार [दर्शनं तु] श्रद्धान [परस्य न] पर पदार्थ का नहीं है [दर्शनं] [तत्तु दर्शनं] श्रद्धान तो श्रद्धान ही है । [एवं तु] इस प्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान, दर्शन और चारित्र में [निश्चयनयस्य भाषितं] निश्चयनय का कथन है [तस्य च] और उस सम्बन्ध में [समासेन व्यवहारनयस्य वक्तव्यं शृणु] संक्षेप से व्यवहारनय का कथन सुनो ।

[यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन] सफेदी अपने स्वभाव से [परद्रव्यं सेटयति] परद्रव्य दीवार आदि को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं जानाति] ज्ञाता भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को जानता है [यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति] सफेदी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [जीवः अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं पश्यति] जीव भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को देखता है [यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति] सफेदी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञाता अपि स्वकेन भावेन परद्रव्यं विजहाति] ज्ञानी भी अपने स्वभाव से परद्रव्य को छोड़ता है [यथा] जैसे [सेटिका आत्मनः स्वभावेन परद्रव्यं सेटयति] सफेदी अपने स्वभाव से परद्रव्य को सफेद करती है [तथा] उसी प्रकार [सम्यग्दृष्टिः स्वभावेन परद्रव्यं श्रद्धत्ते] सम्यग्दृष्टि

जह परदव्वं सेडदि हु सडिया अप्पणो सहावेण ।
तह परदव्वं सद्दहइ सम्मदिट्ठी सहावेण ॥३६४॥
एवं ववहारस्स दु विणिच्छओ णाणदंसणचरित्ते ।
भणिओ अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णायव्वो ॥३६५॥ (दशकम्)

यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा ज्ञायकस्तु न परस्य ज्ञायको ज्ञायकः स तु ॥३५६॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च स भवति ।
तथा दर्शकस्तु न परस्य दर्शको दर्शकः स तु ॥३५७॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा संयतस्तु न परस्य संयतः संयतः स तु ॥३५८॥
यथा सेटिका तु न परस्य सेटिका सेटिका च सा भवति ।
तथा दर्शनं तु न परस्य दर्शनं दर्शनं तत्तु ॥३५९॥
एवं तु निश्चयनयस्य भाषितं ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
शृणु व्यवहारनयस्य च वक्तव्यं तस्य समासेन ॥३६०॥
यथा परद्रव्यं सेटयति खलु सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं जानाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६१॥

कि भवति ? दर्शको दर्शक एव स्वस्वरूपेण तिष्ठतीत्यर्थः । एवं सत्तावलोकनदर्शनं दृश्यपदार्थरूपेण न परिणमतीति कथनमुख्यत्वेन गाथा गता । तथा तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन संयत आत्मा त्याज्यस्य परिग्रहादेः परद्रव्यस्य निश्चयेन त्याजको न भवति, तन्मयो न भवतीत्यर्थः । तर्हि किं भवति । संयतः संयत एव निर्विकारनिजमनोहरानन्दलक्षणस्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं वीतरागचारित्रमुख्यत्वेन गाथा गता । तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन तत्त्वार्थश्रद्धानरूपं सम्यग्दर्शनं श्रद्धेयस्य वहिर्भूतजीवादिपदार्थस्य निश्चयनयेन श्रद्धानकारकं न भवति, तन्मयं न भवतीत्यर्थः। तर्हि किं भवति ? सम्यग्दर्शनं, सम्यग्दर्शनमेव स्वस्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः । एवं तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनमुख्यत्वेन । गाथा गता । एवं तु णिच्छयणयस्य भासिदं णाणदंसणचरित्ते एवं पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन भाषितं व्याख्यानं कृतं । कस्य संबन्धित्वेन ? निश्चयनयस्य । क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रे । सुणु ववहारणयस्य च वत्तव्वं इदानीं हे शिष्य ! शृणु समाकर्णय । किं ?

अपने स्वभाव से परद्रव्य को श्रद्धान करता है [एवं तु] इस प्रकार [ज्ञानदर्शनचरित्रे] ज्ञान, दर्शन और चारित्र में [व्यवहारनयस्य विनिश्चयः] व्यवहारनय का निर्णय कहा है [अन्येषु पर्यायेषु अपि एवं ज्ञातव्यः] अन्य पर्यायों में भी ऐसा ही जानना ।

टीका—प्रथम ही दृष्टान्त कहते हैं—खडिया (सफेदी) श्वेतगुण से भरा हुआ द्रव्य है । कुटी भीत आदि परद्रव्य उसके व्यवहार से श्वेत किये जाते हैं । अब यहां यह विचारते हैं कि खडिया

यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं पश्यति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६२॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं विजहाति ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६३॥
यथा परद्रव्यं सेटयति सेटिकात्मनः स्वभावेन ।
तथा परद्रव्यं श्रद्धत्ते ज्ञातापि स्वकेन भावेन ॥३६४॥
एवं व्यवहारस्य तु विनिश्चयो ज्ञानदर्शनचरित्रे ।
भणितोऽन्येष्वपि पर्यायेषु एवमेव ज्ञातव्यः ॥३६५॥

सेटिकात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं । तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि-परद्रव्यं । अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति तदुभयतत्त्वसंबन्धो मीमांस्यते—यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवन्ती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यान्तरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः, ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः । किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण? न किमपि। तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः ।

वक्तव्यं व्याख्यानं । कस्य संबन्धित्वेन ? व्यवहारनयस्य । कस्य संबन्धिव्यवहारः ? से तस्य पूर्वोक्तज्ञान-दर्शनचारित्रत्रयस्य । केन ? समासेण संक्षेपेण । इति निश्चयनयेन व्याख्यानमुख्यत्वेन सूत्रपञ्चकं गतं । अथ व्यवहारः कथ्यते—यथा येन प्रकारेण लोके परद्रव्यं कुड्यादिकं व्यवहारनयेन श्वेतयते श्वेतं करोति न च कुड्यादिपरद्रव्येण सह तन्मयो भवति । का कर्त्री ? श्वेतिका श्वेतमृत्तिका खटिका । केन कृत्वा श्वेतं

और परद्रव्य दोनों में परमार्थ से क्या संबन्ध है ? जो श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य हैं, उनको श्वेत करने वाली खडिया है या नहीं ? यदि ऐसा माना जावे कि सेटिका भीत आदि परद्रव्य की है, तो ऐसा न्याय है कि जो जिसका हो वह उस स्वरूप ही होता है । जैसे आत्मा का ज्ञान आत्मस्वरूप ही है । ऐसा परमार्थरूप तत्त्वसंबन्धी जीवित (विद्यमान) होने पर सेटिका भीत आदि की हुई भीत आदि के स्वरूप होनी चाहिये, उससे पृथक् द्रव्य नहीं होना चाहिए । ऐसा होने पर सेटिका के निजद्रव्य का तो अभाव हो जायगा; भीत आदिक एक द्रव्य ही ठहरेगा । परन्तु दूसरे द्रव्य का अभाव होना ठीक नहीं है क्योंकि एकद्रव्य का अन्य द्रव्यरूप होना तो पहले ही निषेध कर आये हैं; अन्य द्रव्य पलटकर अन्य द्रव्यरूप नहीं होता । इसलिये यह निश्चय हुआ कि खड़िया कुटी आदि परद्रव्य की नहीं है । यहां पूछते हैं कि यदि खड़िया भीत आदि की नहीं है तो

यथा दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः। चेतयितात्र तावद् ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण ज्ञेयं पुद्गलादि परद्रव्यम्। अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य ज्ञेयस्य ज्ञायकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबन्धो मीमांस्यते। यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं

करोति ? स्वकीयश्वेतभावेन। तथा तेन श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन परद्रव्यं घटादिकं ज्ञेयं वस्तु व्यवहारेण जानाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। कोऽसौ कर्ता ? ज्ञातात्मा। केन जानाति ? स्वकीयज्ञानभावेनेति, प्रथमगाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन घटादिकं दृश्यं परद्रव्यं व्यवहारेण पश्यति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। कोऽसौ ? ज्ञातात्मा। केन पश्यति ? स्वकीयदर्शनभावेनेति द्वितीयगाथा गता। तथैव च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन परिग्रहादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण विरमति त्यजति न च पर-

---

किसकी है ? उसका उत्तर—खड़िया खड़िया की ही है। वहां फिर पूछते हैं कि वह अन्य खड़िया कौनसी है जिस खड़िया की यह खड़िया है ? उसका उत्तर—खड़िया से भिन्न अन्य कोई खड़िया नहीं है। तो क्या है ? खड़िया के स्वस्वामिरूप अंश ही है। सो ये अंशों के अन्यपना है। वहां कहते हैं कि, यहां पर निश्चयनय में स्वस्वामिअंश का व्यवहार से क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि खड़िया अन्य किसी की भी नहीं, खड़िया खड़िया की है ऐसा निश्चय है। जैसा यह दृष्टान्त है वैसा ही दार्ष्टान्तिक अर्थ है। इस लोक में प्रथम तो चेतने वाला आत्मा ज्ञानगुण से भरे स्वभाववाला द्रव्य है, उसके व्यवहार से जानने योग्य पुद्गल आदिक परद्रव्य है। यहां उस आत्मा का और पुद्गल आदि परद्रव्य दोनों का परमार्थ तत्त्वरूप संबन्ध विचारते हैं कि पुद्गल आदि पर द्रव्यों का चेतयिता आत्मा है या नहीं ? यदि ऐसा माना जाय कि चेतयिता आत्मा पुद्गल आदि परद्रव्य का है तो यह न्याय है कि जो जिसका हो वह वही है अन्य नहीं। इस तरह आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है ज्ञान कुछ पृथक् द्रव्य नहीं है। ऐसे परमार्थरूप तत्त्व संबन्ध के जीवित (विद्यमान) होने पर आत्मा पुद्गलादिक का होवे तो पुद्गलादिक ही होना चाहिये। ऐसा होने पर आत्मा के स्वद्रव्य का अभाव हो जायगा, पुद्गल द्रव्य ही ठहरेगा, आत्मा अलग द्रव्य नहीं सिद्ध होगा। सो ऐसा नहीं होता है अर्थात् द्रव्य का अभाव नहीं होता। क्योंकि अन्य द्रव्य को पलटकर अन्य द्रव्य होने का निषेध तो पहले ही कह आये हैं। इसलिये चेतयिता आत्मा पुद्गलादिक परद्रव्य का नहीं होता। यहां पूछते हैं कि, चेतयिता आत्मा पुद्गलादि परद्रव्य का नहीं है तो किसका है ? उसका उत्तर—चेतयिता का ही चेतयिता है। फिर पूछते हैं कि वह दूसरा चेतयिता कौनसा है जिसका यह चेतयिता है ? उसका उत्तर—चेतयिता से अन्य कोई चेतयिता तो नहीं है। तो क्या है ? वहां कहते हैं कि स्वस्वामिअंश हैं, वे अन्य कहे जाते हैं। वहाँ पर कहते हैं यहाँ निश्चयनय में स्वस्वामिअंश के व्यवहार से क्या लाभ है ? कुछ भी नहीं। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि ज्ञायक है वह निश्चय से अन्य किसी का ज्ञायक नहीं है आप ही ज्ञायक है ऐसा निश्चय है।

अब जैसा ज्ञायक दृष्टान्त दार्ष्टन्ति से कहा वैसा ही दर्शक को कहते हैं। वहां खड़िया प्रथम तो श्वेत गुण से भरे स्वभाववाली द्रव्य है, उससे व्यवहार से श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य है। सो सेटिका और कुटी आदि परद्रव्य इन दोनों का यहां परमार्थतत्त्वरूप संबन्ध विचारते हैं—श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य के श्वेत करनेवाली खड़िया है या नहीं ? वहां जो खड़िया कुटी

भवदात्मैव भवति इति तत्संबन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्, एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः। ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः, किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि ज्ञायकः। ज्ञायको ज्ञायक एवेति निश्चयः। किं च सेटि-

---

द्रव्येण सह तन्मयो भवति। स कः कर्ता ? ज्ञातात्मा। केन कृत्वा त्यजति ? स्वकीयनिर्विकल्पसमाधिपरिणामेनेति तृतीयगाथा गता। तथैव,च तेनैव श्वेतमृत्तिकादृष्टान्तेन जीवादिकं परद्रव्यं व्यवहारेण श्रद्दधाति न च परद्रव्येण सह तन्मयो भवति। स कः कर्ता ? सम्यग्दृष्टिः। केन कृत्वा ? स्वकीयश्रद्धानपरिणामेनेति

आदिक की है ऐसा मानो तो यह न्याय है कि जिसका जो हो वह वही है अन्य नहीं है। जैसे आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है। ऐसे परमार्थरूप संबन्ध के विद्यमान होने पर खड़िया कुटी आदि की यदि हो तो कुटी आदिक होनी चाहिये। ऐसा होने पर खड़िया के स्वद्रव्य का नाश हो जायगा किन्तु द्रव्य का उच्छेद नहीं होता। क्योंकि एक द्रव्य का अन्यद्रव्यरूप पलटने का पहले ही निषेध कर चुके हैं। इस कारण खड़िया कुटी आदि की नहीं है। यहां पूछते हैं—सेटिका कुटी आदि की नहीं हैं तो किसकी है ? उसका उत्तर—सेटिका सेटिका की ही है। फिर पूछते हैं—वह दूसरी सेटिका कौनसी है कि जिसकी यह सेटिका है ? उसका उत्तर है—दूसरी सेटिका तो नहीं है कि जिसकी यह सेटिका हो सके। तो क्या है ? स्वस्वामि अंश ही अन्य है। वहां कहते हैं यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तो यह सिद्ध हुआ कि सेटिका किसी की भी नहीं सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चय है। जैसे यह दृष्टान्त है वैसे यहां दार्ष्टान्तिक अर्थ है—यहां चेतयिता आत्मा प्रथम ही दर्शनगुण से परिपूर्ण स्वभाववाला द्रव्य है, उसके व्यवहारसे देखने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य हैं। अब यहां दोनों का परमार्थभूत तत्त्वरूप सम्बन्ध विचारते हैं कि जो पुद्गल आदि परद्रव्य है उसका चेतयिता है या नहीं ? यदि चेतयिता पुद्गल द्रव्यादि का है ऐसा मानो तो यह न्याय है कि जो जिसका होता है वह वही है अन्य नहीं है। जैसे आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है ज्ञान भिन्न द्रव्य नहीं है ऐसे तत्त्वसम्बन्ध के विद्यमान होने पर चेतयिता पुद्गल आदि का हुआ पुद्गल आदिक ही हो सकेगा, भिन्न द्रव्य न हो सकेगा। ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्यका नाश हो जाएगा, परन्तु द्रव्यका नाश होता नहीं। क्योंकि अन्यद्रव्य को पलट कर अन्यद्रव्य होने का पहले ही निषेध कर चुके हैं। इसलिये यह ठहरा कि चेतयिता पुद्गल द्रव्य आदि का नहीं है। यहां पूछते हैं कि चेतयिता पुद्गलद्रव्य आदि का नहीं है तो किसका है ? उसका उत्तर—चेतयिता का ही चेतयिता है। फिर पूछते हैं वह दूसरा चेतयिता कौनसा है जिसका यह चेतयिता है ? उसका उत्तर—चेतयिता से अन्य तो चेतयिता नहीं है। तो क्या है। स्वस्वामिअंश ही अन्य है। वहां कहते हैं कि यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश का व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तब यह ठहरा कि चेतयिता

कात्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ?

चतुर्थगाथा गता। **एसो ववहारस्स दु विणिच्छियो णाणदंसणचरित्ते भणिदो** भणितः कथितः। कोऽसौ कर्मतापन्नः ? एष प्रत्यक्षीभूतः, पूर्वोक्तगाथाचतुष्टयेन निर्दिष्टो विनिश्चयः, व्यवहारानुयायी निश्चय इत्यर्थः। कस्य संबन्धी ? व्यवहारनयस्य। क्व विषये ? ज्ञानदर्शनचारित्रत्रये **अण्णेसु वि पज्जएसु एमेव णादव्वो** इदमोदनादिकं मया भुक्तं इदमहिविषकण्टकादिकं त्यक्तं, इदं गृहादिकं कृतं, तत्सर्वं व्यवहारेण।

किसी का भी दर्शक नहीं है, दर्शक है वह दर्शक ही है यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश के व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं यह निश्चय है। अब इसी तरह चारित्र को भी कहते हैं—वहां जैसे सेटिका प्रथम ही जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा है ऐसा द्रव्य है, उसके व्यवहार से श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य है। अब वहां दोनों का परामर्श से संबन्ध विचारते हैं। श्वेत करने योग्य कुटी आदि परद्रव्य के श्वेत करने वाली सेटिका है या नहीं ? जो सेटिका कुटी आदि की है ऐसा मानिये तो यह न्याय है कि जो जिसका हो वह वही है अन्य नहीं है। जैसे आत्मा का ज्ञान हुआ आत्मा ही है अन्यद्रव्य नहीं है। ऐसे परमार्थरूप तत्त्वसंबन्ध के जीवित (विद्यमान) होने पर सेटिका कुटी आदि की हुई कुटी आदि ही होगी। ऐसा होने पर सेटिका के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा सो द्रव्य का उच्छेद नहीं होता। क्योंकि अन्य द्रव्य को पलट कर अन्य द्रव्य होने का निषेध पहले कर चुके हैं। इसलिये सेटिका कुट्यादिक की नहीं है। वहां पूछते हैं कट्यादि की नहीं है तो कौन की सेटिका है ? उसका उत्तर-सेटिका की ही सेटिका है। फिर पूछते हैं कि वह दूसरी सेटिका कौन सी है जिसकी यह सेटिका है। उसका उत्तर—इस सेटिका से अन्य सेटिका तो नहीं है। तो क्या है ? स्वस्वामिअंश हैं वे ही अन्य हैं। वहां कहते हैं स्वस्वामिअंश से निश्चयनय में क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तब यह ठहरा कि सेटिका अन्य किसी की भी नहीं है सेटिका सेटिका ही है ऐसा निश्चय है। जैसा यह दृष्टान्त है वैसा दार्ष्टान्तिक अर्थ है। चेतयिता आत्मा है वह प्रथम ही ज्ञान दर्शन गुण से भरा जिसका स्वभाव परके त्यागरूप है ऐसा द्रव्य है, उसके व्यवहार से त्यागने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य है। अब यहां दोनों के परमार्थतत्त्वरूप संबन्ध विचारते हैं—त्यागने योग्य पुद्गल आदि परद्रव्य के त्यागने वाला चेतयिता है या नहीं ? जो चेतयिता पुद्गल आदि परद्रव्य का है ऐसा मानिये तो यह न्याय है कि जिसका जो हो वह वही है जैसे आत्मा का ज्ञान होने से ज्ञान वह आत्मा ही है अन्यद्रव्य नहीं। ऐसा तत्त्वसंबन्ध विद्यमान होने पर चेतयिता पुद्गल आदि का हुआ पुद्गल आदिक ही होगा। ऐसा होने पर चेतयिता के स्वद्रव्य का उच्छेद हो जायगा। सो द्रव्य का उच्छेद होता नहीं। क्योंकि अन्यद्रव्य को पलट कर अन्यद्रव्य होने का प्रतिषेध पहले ही कर चुके हैं। इसलिये चेतयिता पुद्गलादि का नहीं हो सकता। यहां पूछते हैं कि चेतयिता पुद्गल आदि का नहीं है तो कौन का चेतयिता है ? उसका उत्तर—चेतयिता का ही चेतयिता है। फिर पूछते हैं वह दूसरा चेतयिता कौनसा है ? जिसका यह चेतयिता है। उसका उत्तर—चेतयिता से अन्य चेतयिता तो नहीं है। तो क्या है ? स्वस्वामिअंश ही अन्य हैं। वहां कहते हैं—यहां निश्चयनय में स्वस्वामिअंश का व्यवहार से क्या साध्य है ? कुछ भी नहीं। तब यह ठहरा कि अपोहक (त्यागनेवाला) है, वह किसी का भी अपोहक नहीं है, अपोहक है वह अपोहक ही ऐसा निश्चय है।

तदुभयतत्त्वसंबंधो मीमांस्यते । यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवतीति तत्त्वसंबन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवन्ती कुड्यादिरेव भवेत्, एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यान्तरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः । यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति । ननु कतरान्या सेटिका सेटिकायाः यस्याः सेटिका भवति ? न खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद्दर्शनगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण दृश्यं पुद्गलादि परद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्य दृश्यस्य दर्शकश्चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसम्बन्धो मीमांस्यते ।

निश्चयेन पुनः स्वकीयरागादिपरिणाम एव कृतो भुक्तश्च । एवमित्याद्यन्येष्वपि पर्यायेषु निश्चयव्यवहारनयविभागो ज्ञातव्य इति । किं च यदि व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति तर्हि निश्चयेन सर्वज्ञो न भवतीति पूर्वपक्षे परिहारमाह—यथा स्वकीयसुखादिकं तन्मयो भूत्वा जानाति तथा बहिर्द्रव्यं न जानाति तेन कारणेन व्यवहारः । यदि पुनः परकीयसुखादिकमात्मसुखादिवत्तन्मयो भूत्वा जानाति तर्हि यथा स्वकीयसुखसंवेदने

अब व्यवहार को कहते हैं—जैसे वही सेटिका जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा हुआ है वह आप कुटी आदि परद्रव्य के स्वभाव से नहीं परिणमती तथा कुड्यादिक परद्रव्य को अपने स्वभाव से नहीं परिणमाती हुई जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त है ऐसे अपने श्वेतगुण से भरे स्वभाव के परिणाम से उपजती हुई कुड्यादि परद्रव्य को अपने स्वभाव से सफेद करती है। कैसा है परद्रव्य ? जिसको सेटिका निमित्त है ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है। उसको श्वेत करती है ऐसा व्यवहार करते हैं। उसी तरह चेतयिता आत्मा भी जिसका स्वभाव ज्ञानगुण से भरा हुआ है ऐसा है। वह आप तो पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमित हुआ नहीं है और न ही पुद्गल आदि परद्रव्य को अपने स्वभाव से परिणमाता हुआ है। तथा जिसको पुद्गल आदि परद्रव्य निमित्त है ऐसे अपने ज्ञानगुण से भरे स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न होता हुआ है। वह पुद्गलादि परद्रव्य जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है, उसको अपने स्वभाव से जानता है, ऐसा व्यवहार किया जाता है। ऐसा तो ज्ञान का व्यवहार है। अब दर्शनगुण का व्यवहार कहते हैं—जैसे वही सेटिका जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा हुआ है, वह आप कुड्यादि परद्रव्य के स्वभाव से तो परिणमन नहीं करती हुई है और कुड्यादि परद्रव्य को अपने स्वभाव से परिणमन नहीं कराती हुई है। तथा जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त हैं, ऐसे श्वेतगुण से भरे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुई है। वह कुड्यादि परद्रव्य जिसको सेटिका निमित्त है ऐसा अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है। उसको अपने स्वभाव से सफेद करती है, ऐसा

यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत्। एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः ? ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः। यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति। ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ। किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि। तर्हि न कस्यापि दर्शकः, दर्शको दर्शक एवेति निश्चयः। अपि च, सेटिका अत्र तावच्छ्वेतगुणनिर्भरस्वभावं द्रव्यं तस्य तु व्यवहारेण श्वैत्यं कुड्यादि परद्रव्यं। अथात्र कुड्यादेः परद्रव्यस्य श्वैत्यस्य श्वेतयित्री सेटिका किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबन्धो मीमांस्यते। यदि सेटिका कुड्यादेर्भवति तदा यस्य यद्भवदि तत्तदेव भवदि यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबन्धे जीवति सेटिका कुड्यादेर्भवन्ती कुड्यादिरेव भवेत्। एवं सति सेटिकायाः स्वद्रव्योच्छेदः। न च द्रव्यान्तरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद् द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः ? ततो न भवति सेटिका कुड्यादेः। यदि न भवति सेटिका कुड्यादेस्तर्हि कस्य सेटिका भवति ? सेटिकाया एव सेटिका भवति। ननु कतरान्या सेटिका सेटिकाया यस्याः सेटिका भवति ? न

सुखी भवति तथा परकीयसुखदुःखसंवेदनकाले सुखी दुःखी च प्राप्नोति न च तथा। यद्यपि स्वकीयसुखसंवेदनापेक्षया निश्चयः, परकीयसुखसंवेदनापेक्षया व्यवहारस्तथापि छद्मस्थजनापेक्षया सोऽपि निश्चय एवेति।

व्यवहार किया जाता है। उसी तरह चेतयिता भी जिसका स्वभाव दर्शनगुण से भरा है ऐसा है। वह स्वयं (आप) तो पुद्गल आदि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन नहीं करता है और पुद्गल आदि परद्रव्य को भी अपने स्वभाव से परिणमन नहीं कराता है। तथा जिसको पुद्गल आदि परद्रव्य निमित्त हैं ऐसा अपने दर्शनगुण से भरे स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है। वह पुद्गल आदि परद्रव्य जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुए को अपने स्वभाव से देखता है ऐसा व्यवहार किया जाता है। इस तरह दर्शनगुण का व्यवहार है। अब चारित्र का व्यवहार कहते हैं—जैसे वही सेटिका जिसका स्वभाव श्वेतगुण से भरा है ऐसी है वह आप कुड्यादि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन नहीं करती हुई है तथा कुड्यादि परद्रव्य को अपने स्वभाव से नहीं परिणमाती हुई है। और जिसको कुड्यादि परद्रव्य निमित्त है ऐसा श्वेतगुण से भरे अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुई है तथा यह कुड्यादि परद्रव्य जिसको सेटिका निमित्त है ऐसा अपने स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न उसको सेटिका अपने स्वभाव से श्वेत करती है। ऐसा व्यवहार किया जाता है। उसी तरह चेतयिता आत्मा भी ज्ञानदर्शन गुण से भरा परके अपोहन (त्याग) रूप स्वभाव है। वह स्वयं पुद्गलादि परद्रव्य के स्वभाव से परिणमन

खल्वन्या सेटिका सेटिकायाः किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि तर्हि न कस्यापि सेटिका, सेटिका सेटिकैवेति निश्चयः । यथायं दृष्टान्तस्तथायं दार्ष्टान्तिकः—चेतयितात्र तावद् ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावं द्रव्यं । तस्य तु व्यवहारेणापोह्यं पुद्गलादिपरद्रव्यं । अथात्र पुद्गलादेः परद्रव्यस्यापोह्यस्यापोहकः चेतयिता किं भवति किं न भवतीति ? तदुभयतत्त्वसंबन्धो मीमांस्यते । यदि चेतयिता पुद्गलादेर्भवति तदा यस्य यद्भवति तत्तदेव भवति यथात्मनो ज्ञानं भवदात्मैव भवति इति तत्त्वसंबन्धे जीवति चेतयिता पुद्गलादेर्भवन् पुद्गलादिरेव भवेत् । एवं सति चेतयितुः स्वद्रव्योच्छेदः । न च द्रव्यान्तरसंक्रमस्य पूर्वमेव प्रतिषिद्धत्वाद्द्रव्यस्यास्त्युच्छेदः । ततो न भवति चेतयिता पुद्गलादेः । यदि न भवति चेतयिता पुद्गलादेस्तर्हि कस्य चेतयिता भवति ? चेतयितुरेव चेतयिता भवति ? ननु कतरोऽन्यश्चेतयिता चेतयितुर्यस्य चेतयिता भवति ? न खल्वन्यश्चेतयिता चेतयितुः किन्तु स्वस्वाम्यंशावेवान्यौ । किमत्र साध्यं स्वस्वाम्यंशव्यवहारेण ? न किमपि । तर्हि न कस्याप्यपोहकः, अपोहकोऽपोहक एवेति निश्चयः । अथ व्यवहारव्याख्यानम्-यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मस्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते तथा चेतयितापि ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणमयन् पुद्गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेवोत्पद्यमानः पुद्गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन जानातीति व्यवह्रियते । किञ्च, यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः

ननु सौगतोऽपि ब्रूते व्यवहारेण सर्वज्ञः तस्य, किमिति दूषणं दीयते भवद्भिरिति ? तत्र परिहारमाह—सौगतादिमते यथा निश्चयापेक्षया व्यवहारो मृषा, तथा व्यवहाररूपेणापि व्यवहारो न सत्य इति, जैनमते पुनर्व्यवहारनयो यद्यपि निश्चयापेक्षया मृषा तथापि व्यवहाररूपेण सत्य इति । यदि पुनर्लोकव्यवहाररूपेणापि सत्यो न भवति तर्हि सर्वोऽपि लोकव्यवहारो मिथ्या भवति, तथा सत्यतिप्रसङ्गः । एवमात्मा

नहीं करता है और पुद्गलादि परद्रव्य को भी अपने स्वभाव से नहीं परिणमाता । तथा पुद्गलादि परद्रव्य जिसको निमित्त है ऐसा अपने ज्ञानदर्शनगुण से भरा पर के त्याग करने रूप स्वभाव के परिणाम से उत्पन्न हुआ है । सो जिसको चेतयिता निमित्त है ऐसा अपने स्वभाव के परिणाम से

श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते। तथा चेतयितापि दर्शनगुणनिर्भरस्वभावः स्वयं पुद्‌गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्‌गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो दर्शनगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन पश्यतीति व्यवह्रियते। अपि च—यथा च सैव सेटिका श्वेतगुणनिर्भरस्वभावा स्वयं कुड्यादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममाना कुड्यादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन्ती कुड्यादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनः श्वेतगुणनिर्भरस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमाना कुड्यादिपरद्रव्यं सेटिकानिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः स्वभावेन श्वेतयतीति व्यवह्रियते। तथा चेतयितापि ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावः स्वयं पुद्‌गलादिपरद्रव्यस्वभावेनापरिणममानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चात्मस्वभावेनापरिणामयन् पुद्‌गलादिपरद्रव्यनिमित्तकेनात्मनो ज्ञानदर्शनगुणनिर्भरपरापोहनात्मकस्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानः पुद्‌गलादिपरद्रव्यं चेतयितृनिमित्तकेनात्मनः स्वभावस्य परिणामेनोत्पद्यमानमात्मनः भवभावेनापोहतीति व्यवह्रियते। एवमयमात्मनो ज्ञानदर्शनचारित्रपर्यायाणां निश्चयव्यवहारप्रकारः। एवमेवान्येषां सर्वेषामपि पर्यायाणां द्रष्टव्यः॥३५६।३६५॥

व्यवहारेण परद्रव्यं जानाति पश्यति निश्चयेन पुनः स्वद्रव्यमेवेति। तत एतदायाति ग्रामारादि सर्वं खल्विदं ब्रह्म ज्ञेयवस्तु किमपि नास्ति यद् ब्रह्माद्वैतवादिनो वदन्ति तन्निषिद्धं। यद्यपि सौगतो वदति ज्ञानमेव

उत्पन्न जो पुद्‌गलादि परद्रव्य उसको अपने स्वभाव से त्यागता है। ऐसा व्यवहार किया जाता है। ऐसे ये आत्मा के ज्ञानदर्शनचारित्र पर्यायों का निश्चय व्यवहार है। इसी प्रकार अन्य भी जो कोई पर्याय हैं उन सभी पर्यायों का निश्चय व्यवहार जानना।

भावार्थ—शुद्धनय से आत्मा का एक चेतनामात्र स्वभाव है। उसके परिणाम देखना, जानना, श्रद्धान करना और परद्रव्य से निवृत्त होना है। वहां निश्चयनय से विचारिये, तब आत्मा परद्रव्य का ज्ञायक नहीं कहा जा सकता, न दर्शक, न श्रद्धान करने वाला और न त्याग करनेवाला कहा जा सकता है। क्योंकि परद्रव्य का और आत्मा का निश्चय से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। जो ज्ञाता द्रष्टा श्रद्धान करनेवाला त्याग करने वाला, ये सब भाव हैं सो आप ही है। भाव्य-भावक का भेद कहना भी व्यवहार है। और परद्रव्य का ज्ञाता, द्रष्टा, श्रद्धान करने वाला त्याग करने वाला जो कहते हैं वह भी व्यवहारनय से कहते हैं, क्योंकि परद्रव्य का और आत्मा का निमित्तनैमित्तिक भाव है। सो परके निमित्त से कुछ भाव हुए देख व्यवहारी जन कहते हैं

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो-
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवन्ते जनाः ॥२१५॥
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं स्वभावस्य शेष-
मन्यद्द्रव्यं भवति यदि वा तस्य किं स्यात्स्वभावः ।
ज्योत्स्नारूपं स्नपयति भुवं नैव तस्यास्तिभूमि-
र्ज्ञानं ज्ञेयं कलयति सदा ज्ञेयमस्यास्ति नैव ॥२१६॥

घटपटादिज्ञेयाकारेण परिणमति न च ज्ञानाद्भिन्नं ज्ञेयं किमप्यस्ति तदपि निराकृतं । कथं ? इति चेत्, यदि ज्ञानं ज्ञेयरूपेण परिणमति तदा ज्ञानाभावः प्राप्नोति यदि वा ज्ञेयं ज्ञानरूपेण परिणमति तदा ज्ञेयाभावस्तथा सत्युभयशून्यत्वं, स च प्रत्यक्षविरोधः । एवं निश्चयव्यवहारव्याख्यानमुख्यतया समुदायेन सप्तमस्थले सूत्रदशकं

कि परद्रव्य को जानता है, परद्रव्य को देखता है, परद्रव्य का श्रद्धान करता है और परद्रव्य को त्यागता है। इस तरह निश्चय व्यवहार का प्रकार जान यथावत् श्रद्धान करना ॥ ३५६–३६५ ॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—शुद्ध इत्यादि। **अर्थ**—आचार्य कहते हैं कि जिसने शुद्धद्रव्य के निरूपण में बुद्धि लगाई है, और जो तत्त्व का अनुभव करता है, ऐसे पुरुष के एकद्रव्य में प्राप्त हुआ अन्यद्रव्य कुछ भी कदाचित् नहीं प्रतिभासित होता। तथा ज्ञान अन्य ज्ञेय पदार्थों को जानता है सो यह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है। ये लोक हैं वे अन्यद्रव्य के ग्रहण में आकुलित हुए शुद्धस्वरूप से क्यों चिगते हैं ?

भावार्थ—शुद्धनय की दृष्टि से तत्त्व का स्वरूप विचारने से अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य में प्रवेश नहीं दीखता, परन्तु ज्ञान में अन्यद्रव्य प्रतिभासित होता है सो यह ज्ञान की स्वच्छता का स्वभाव है, ज्ञान उनको ग्रहण नहीं करता। ये लोक अन्यद्रव्य का ज्ञान में प्रतिभास देख अपने ज्ञानस्वरूप से छूट ज्ञेय के ग्रहण करने की बुद्धि करते हैं सो यह अज्ञान है। आचार्य ने उसको करुणा से कहा है कि ये लोक तत्त्व से क्यों चिगते हैं ? ॥२१५॥

अब इसी अर्थ को काव्य से दृढ़ करते हैं—शुद्धद्रव्यस्वरस इत्यादि। **अर्थ**—द्रव्य का निजी भाव स्वभाव है। आत्मा का ज्ञानचेतना स्वभाव है। शुद्ध आत्मा का निजरसज्ञान चेतना है। उसके होने पर अन्य द्रव्य कुछ भी नहीं हैं। परमार्थ से सम्बन्ध नहीं है। जैसे चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है तथापि पृथ्वी चाँदनी की कदापि नहीं होती। उसी तरह ज्ञान ज्ञेयपदार्थ को सदाकाल जानता है तथापि ज्ञेय ज्ञान का कदापि नहीं होता है।

भावार्थ—शुद्धनय की दृष्टि से देखिए तब किसी द्रव्य का स्वभाव किसी अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, जैसे चाँदनी पृथ्वी को उज्ज्वल करती है परन्तु चाँदनी की पृथ्वी कुछ नहीं लगती; उसी तरह ज्ञान ज्ञेय को जानता है परन्तु ज्ञान का ज्ञेय कुछ नहीं लगता। आत्मा का ज्ञान स्वभाव है इसकी स्वच्छता में ज्ञेय स्वयमेव झलकते हैं, तो भी ज्ञान में उन ज्ञेयों का प्रवेश नहीं है ॥२१६॥

रागद्वेषद्वयमुदयते तावदेतन्न यावद्
ज्ञानं ज्ञानं भवति न पुनर्बोध्यतां याति बोध्यं[1]।
ज्ञानं ज्ञानं भवति तदिदं न्यक्कृताज्ञानभावं
भावाभावौ भवति तिरयन्येन पूर्णस्वभावः ॥२१७॥

दंसणणाणचरित्तं किंचिव णत्थि दु अचेयणे विसये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु विसएसु ॥३६६॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे कम्मे।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तम्मि कम्मम्हि ॥३६७॥
दंसणणाणचरित्तं किंचिवि णत्थि दु अचेयणे काये।
तम्हा किं घादयदे चेदयिदा तेसु कायेसु ॥३६८॥

गतम् ॥ ३५६—३६१ ॥ अथ यावत्कालं निजशुद्धात्मानमात्मत्वेन न जानाति, पञ्चेन्द्रियविषयादिकं परद्रव्यं च परत्वेन न जानात्ययं जीवस्तावत्कालं रागद्वेषाभ्यां परिणमतीति। अथवा बहिरङ्गपञ्चेन्द्रियविषयत्यागसहकारित्वेनाविक्षिप्तचित्तभावनोत्पन्ननिर्विकारसुखामृतरसास्वादबलेन विषयकर्मकायानां विघातं करोम्यहमित्यजानन् स्वसंवित्तिरहितकायक्लेशेनात्मानं दमयति यस्य भेदज्ञानार्थं सिद्धान्तं प्रयच्छति—

अब कहते हैं कि ज्ञान में राग-द्वेष का उदय कहां तक है? उसका काव्य है—रागद्वेष इत्यादि। अर्थ—यह ज्ञान जब तक ज्ञानरूप नहीं होता और ज्ञेय ज्ञेयभाव को प्राप्त नहीं होता तब तक रागद्वेष दोनों उदित होते हैं। इसलिए यह ज्ञान अज्ञानभाव को दूर करके ज्ञानरूप हो इसी कारण भाव अभाव ज्ञान में होते हैं उनको दूर करता हुआ पूर्ण स्वभाव हो।

भावार्थ—जब तक ज्ञान ज्ञानरूप नहीं होता, ज्ञेय ज्ञेयरूप नहीं होता तब तक राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिये यह ज्ञान अज्ञान भाव को दूर करके ज्ञानरूप हो अर्थात् जिस कारण ज्ञान में भाव अभाव ये दो अवस्थायें होती हैं वे मिट जांय और ज्ञान पूर्णस्वभाव को प्राप्त हो जाय, यह प्रार्थना है ॥२१७॥

आगे कहते हैं कि राग-द्वेष मोह से दर्शन ज्ञान चारित्र का घात होता है। दर्शनज्ञान चारित्र पुद्गल द्रव्य में नहीं हैं, आत्मा ही में दर्शन ज्ञान चारित्र हैं, और आत्मा में ही अज्ञान से राग-द्वेष मोह हैं इसलिए अज्ञान से अपना ही घात होता है—[दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र [अचेतने विषये तु] अचेतन विषय में तो [किञ्चिदपि नास्ति] कुछ भी नहीं हैं [तस्मात्] इसलिये [तेषु विषयेषु] उन विषयों में [चेतयिता] आत्मा [किं हन्ति] क्या घात करे? [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र [अचेतने कर्मणि तु] अचेतन कर्म में [किञ्चिदपि नास्ति] कुछ भी नहीं है। [तस्मात्]

---

१. 'पुनर्बोध्यतां याति बोध्यं' इत्यपि पाठः।

णाणस्स दंसणस्स य भणिओ घाओ तहा चरित्तस्स ।
णवि तहिं पुग्गलदव्वस्स कोऽवि घाओ उ णिद्दिट्ठो ॥३६९॥
जीवस्स जे गुणा केइ णत्थि खलु ते परेसु दव्वेसु ।
तम्हा सम्माइट्ठिस्स णत्थि रागो उ विसएसु ॥३७०॥
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव य अणण्णपरिणामा ।
एएण कारणेण उ सद्दादिसु णत्थि रागादि ॥३७१॥ (षट्कम्)

दर्शनज्ञानचरित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने विषये ।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तेषु विषयेषु ॥३६६॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने कर्मणि ।
तस्मात्किं हन्ति चेतयिता तत्र कर्मणि ॥३६७॥
दर्शनज्ञानचरित्रं किञ्चिदपि नास्ति त्वचेतने काये ।
तस्मात् किं हन्ति चेतयिता तेषु कायेषु ॥३६८॥
ज्ञानस्य दर्शनस्य भणितो घातस्तथा चरित्रस्य ।
नापि तत्र पुद्गलद्रव्यस्य कोऽपि घातस्तु निर्दिष्टः ॥३६९॥
जीवस्य ये गुणाः केचिन्न सन्ति खलु ते परेषु द्रव्येषु ।
तस्मात्सम्यग्दृष्टेर्नास्ति रागस्तु विषयेषु ॥३७०॥
रागो द्वेषो मोहो जीवस्यैव चानन्यपरिणामाः ।
एतेन कारणेन तु शब्दादिषु न सन्ति रागादयः ॥३७१॥

दर्शनज्ञानचारित्रं किमपि नास्ति । केषु ? शब्दादिपञ्चेंद्रियविषयेषु ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मसु औदारिकादिपञ्चकायेषु । कथंभूतेषु तेषु ? अचेतनेषु । तस्मात्किं घातयते चेतयिता आत्मा तेषु जडस्वरूपविषयकर्मकायेषु ? न किमपि । किञ्च शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाभिलापरूपो ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मबन्धकारणभूतः

इसलिये [तत्र कर्मणि] उस कर्म में [चेतयिता] आत्मा [किं हन्ति] क्या घात करे ? [दर्शनज्ञानचारित्रं] दर्शन ज्ञान चारित्र [अचेतन काये तु] अचेतन काय में [किंचिदपि नास्ति] कुछ भी नहीं हैं [तस्मात्] इसलिये [तेषु कायेषु] उन कायों में [चेतयिता] आत्मा [किं हन्ति] क्या घाते ? [घातः] घात [ज्ञानस्य दर्शनस्य तथा चारित्रस्य] ज्ञान का, दर्शन का तथा चारित्र का [भणितः] कहा है [तत्र] वहां [पुद्गलद्रव्यस्य तु] पुद्गल द्रव्य का तो [कोपि घातः] कुछ भी घात [नापि निर्दिष्टः] नहीं कहा । [ये केचित्] जो कुछ [जीवस्य गुणाः] जीव के गुण हैं [ते] वे [खलु] निश्चय से [परेषु

यद्धि यत्र भवति तत्तद्घाते हन्यत एव यथा प्रदीपघाते प्रकाशो हन्यते। यत्र च यद्भवति तत्तद्घाते हन्यते एव यथा प्रकाशघाते प्रदीपो हन्यते। यत्तु यत्र न भवति तत्तद्घाते न हन्यते यथा घटघाते घटप्रदीपो न हन्यते। यत्र यन्न भवति तत्तद्घातेन हन्यते यथा घटप्रदीपघाते घटो न हन्यते। तथात्मनो धर्मा दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्यघातेऽपि न हन्यन्ते, न च दर्शनज्ञानचारित्राणां घातेऽपि पुद्गलद्रव्यं हन्यते, एवं दर्शनज्ञानचारित्राणि पुद्गलद्रव्ये न भवन्तीत्यायाति अन्यथा तद्घाते[1] पुद्गलद्रव्यघातस्य, पुद्गलद्रव्यघाते तद्घातस्य दुर्निवारत्वात्। यत एवं ततो ये यावन्तः

कायममत्वरूपश्च योऽसौ मिथ्यात्वरागादिपरिणामो मनसि तिष्ठति तस्य घातः कर्त्तव्यः, ते च शब्दादयो रागादीनां बहिरङ्गकारणभूतास्त्याज्याः—इति भावार्थः। तस्यैव पूर्वोक्तगाथात्रयस्य विशेषविवरणं करोति— तद्यथा—णाणस्स दंसणस्स य भणिदो घादो तहा चरित्तस्स शब्दादिपञ्चेन्द्रियाभिलाषरूपेण कायममत्वरूपेण वा ज्ञानावरणादिकर्मबन्धनिमित्तमनन्तानुबन्ध्यादिरागद्वेषरूपं यन्मनसि मिथ्याज्ञानं तिष्ठति तस्य मिथ्याज्ञानस्य निर्विकल्पसमाधिप्रहरणेन सर्वज्ञैर्घातो भणितः न केवलं मिथ्याज्ञानस्य मिथ्यादर्शनस्य च। तथैव मिथ्यात्वचारित्रस्य च णवि तम्हि कोवि पुग्गलदव्वे घादो दु णिद्दिट्ठो न च तत्राचेतने शब्दादिविषयकर्मकायरूपे पुद्गलद्रव्ये कोऽपि घातो निर्दिष्टः। किं च यथा घटाधारभूते प्रदीपे हते सति घटो हतो न भवति तथा रागादिनिमित्तभूते शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषये हतेऽपि सति मनसि गता रागादयो हता न भवन्ति, नचान्यस्य घाते कृते सत्यन्यस्य घातो भवति। कस्मात्? अतिप्रसङ्गादिति भावः। जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु यस्माज्जीवस्य ये केचन सम्यक्त्वादयो गुणास्ते परेषु परद्रव्येषु शब्दादिविषयेषु न सन्ति खलु स्फुट तम्हा सम्माविट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसयेसु तस्मात्कारणान्निर्विषयस्वशुद्धात्मभावनोत्थसुखतृप्तस्य सम्यग्दृष्टेर्विषयेषु रागो नास्तीति रागो दोसो मोहो जीवस्स दु जे अणण्णपरिणामा रागद्वेषमोहा

द्रव्येषु] परद्रव्यों में [न सन्ति] नहीं हैं [तस्मात्] इसलिये [सम्यग्दृष्टेः] सम्यग्दृष्टि के [विषयेषु] विषयों में [रागस्तु] राग ही [नास्ति] नहीं है [रागः द्वेषः मोहः] राग-द्वेष-मोह ये सब [जीवस्यैव च] जीव के ही [अनन्यपरिणामाः] एक (अभेद) रूप परिणाम हैं [एतेन कारणेन तु] इसी कारण [रागादयः] रागादिक [शब्दादिषु] शब्दादिकों में [न सन्ति] नहीं हैं।

टीका—निश्चय से जो जिसमें होता है वह उसके घात होने पर घाता जाता है। जैसे दीपक में प्रकाश है सो दीपक के घात होने से प्रकाश भी हना जाता है। और जिसमें जो है, उसके घात होने से उस आधार का भी घात होता है; जैसे प्रकाश का घात होने से दीपक भी हना जाता है। जो जिसमें नहीं है वह उसके घात होने से नहीं हना जाता जैसे घट का घात होने से दीपक नहीं हना जाता। तथा जिसमें जो नहीं है वह उसके घात होने से नहीं हना जा सकता। जैसे घड़े में दीपक का घात होने से घड़ा नहीं घाता जाता। आत्मा के धर्म दर्शन-ज्ञान और चारित्र पुद्गल के घात होने पर भी नहीं घाते जाते, तथा दर्शन ज्ञान और चारित्र का घात होने पर पुद्गलद्रव्य भी नहीं घाता जाता। इस तरह दर्शन ज्ञान और चारित्र पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। यदि ऐसा न हो

---

१. आत्मधर्मघाते।

केचनापि जीवगुणास्ते सर्वेऽपि परद्रव्येषु न सन्तीति सम्यक् पश्यामः। अन्यथा अत्रापि जीवगुणघाते पुद्गलद्रव्यघातस्य पुद्गलद्रव्यघाते जीवगुणघातस्य च दुर्निवारत्वात्। यद्येवं तर्हि कुतः सम्यग्दृष्टेर्भवति रागो विषयेषु ? न कुतोऽपि। तर्हि रागस्य कतरा खनिः ? रागद्वेषमोहा हि जीवस्यैवाज्ञानमयाः परिणामास्ततः परद्रव्यत्वाद्विषयेषु न सन्ति, अज्ञानाभावात्सम्यग्दृष्टौ तु न भवन्ति। एवं ते विषयेष्वसन्तः सम्यग्दृष्टेर्न भवन्तो न भवन्त्येव ॥३६६।३७१॥

रागद्वेषाविह हि भवति ज्ञानमज्ञानभावात्
तौ वस्तुत्वप्रणिहितदृशा दृश्यमानौ न किञ्चित्।
सम्यग्दृष्टिः क्षपयतु ततस्तत्त्वदृष्ट्या स्फुटन्तौ
ज्ञानज्योतिर्ज्वलति सहजं येन पूर्णाचलार्चिः ॥२१८॥

यस्मादज्ञानिजीवस्याशुद्धनिश्चयेनाभिन्नपरिणामः। एदेन कारणेण दु सद्दादिसु णत्थि रागादी तेन कारणेन शब्दादिमनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयेष्वचेतनेषु यद्यप्यज्ञानी जीवो भ्रान्तिज्ञानेन शब्दादिषु रागादीन् कल्प-

---

तो दर्शन ज्ञान चारित्र का घात होने से पुद्गलद्रव्य का घात अवश्य हो जावेगा और पुद्गलद्रव्य का घात होने से दर्शन-ज्ञान और चारित्र का घात अवश्य हो जावेगा। इसीलिये आचार्य कहते हैं जो जीवद्रव्य के गुण हैं वे सभी परद्रव्यों में नहीं हैं। ऐसे पुद्गल को अच्छी तरह हम देखते हैं। यदि ऐसा न हो तो यहाँ पर भी जीव के गुण का घात होने से पुद्गलद्रव्य का घात अवश्य होना चाहिए और पुद्गल का घात होने से जीव गुण का घात अवश्य होना चाहिये। सो ऐसा नहीं होता। अब विचारते हैं कि ऐसा होने पर सम्यग्दृष्टि के विषयों में राग किस कारण से होता है ? वहाँ कहते हैं कि किसी भी कारण से नहीं होता। तब पूछते हैं कि राग के उपजने की कौन सी खान है ? वहाँ कहते हैं कि रागद्वेष मोह जीव के ही अज्ञानमय परिणाम हैं। यह अज्ञान ही रागादिक के उपजने की खान है। क्योंकि विषय परद्रव्य हैं, उनमें रागादिक अज्ञानमय परिणाम नहीं हैं। जब अज्ञान का अभाव हो जावे तब आत्मा सम्यग्दृष्टि होवे तब उसमें रागादिक भी नहीं हो सकते। इस तरह रागादिक विषयों में न होते हुए सम्यग्दृष्टि के न होने से नहीं होते।

भावार्थ—दर्शन-ज्ञान-चारित्र आदि जितने जीव के गुण हैं वे अचेतन पुद्गलद्रव्य में नहीं हैं। आत्मा के अज्ञानमय परिणाम से ही राग-द्वेष-मोह होते हैं, उनसे अपने ही दर्शन-ज्ञानचारित्र आदि गुण घाते जाते हैं और वे राग द्वेष मोह जीव के ही अस्तित्व में अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। जब अज्ञान का अभाव हो जाने पर सम्यग्दृष्टि बन जाता है तब वे राग-द्वेष-मोह नहीं उत्पन्न होते। ऐसा होने पर शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पुद्गल में भी रागद्वेष मोह नहीं है और सम्यग्दृष्टि जीव में भी नहीं हैं। इस तरह वे दोनों में ही नहीं हैं। तथा पर्यायदृष्टि में जीव के अज्ञान अवस्था में हैं, ऐसा जानना ॥३६६।३७१॥

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—राग-द्वेष इत्यादि। अर्थ—इस आत्मा में ज्ञान ही अज्ञानभाव से रागद्वेषरूप परिणमित होता है। वास्तव में स्वायिदृष्टि से देखे जांय तो

रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या नान्यद् द्रव्यं वीक्ष्यते किञ्चनापि ।
सर्वद्रव्योत्पत्तिरन्तश्चकास्ति व्यक्तात्यन्तं स्वस्वभावेन यस्मात् ॥२१९॥

अण्णदविएण अण्णदवियस्स ण कीरए गुणुप्पाओ ।[1]
तम्हा उ सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण ॥३७२॥

अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यस्य न क्रियते गुणोत्पादः ।
तस्मात्तु सर्वद्रव्याण्युत्पद्यन्ते स्वभावेन ॥३७२॥

न च जीवस्य परद्रव्यं रागादीन्युत्पादयतीति शङ्कनीयम्—अन्यद्रव्येणान्यद्रव्यगुणोत्पादकरणस्यायोगात् । सर्वद्रव्याणां स्वभावेनैवोत्पादात् । तथाहि—मृत्तिका कुम्भभावेनोत्पद्यमाना किं कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते किं मृत्तिकास्वभावेन ? यदि

यत्यारोपयति तथापि शब्दादिषु रागादयो न सन्ति । कस्मात् ? शब्दादीनामचेतनत्वात् । ततःस्थितं तावदेव रागद्वेषद्वयमुदयते बहिरात्मनो यावन्मनसि त्रिगुप्तिरूपं स्वसंवेदनज्ञानं नास्ति । इति गाथाषट्कं गतम् ॥३६६-३७१॥ एवमेतदायाति शब्दादीन्द्रियविषया अचेतनाश्चेतनरागाद्युत्पत्तौ निश्चयेन कारणं न भवन्ति;—अण्णदविएण अण्णदवियस्स णो कीरदे गुणविघादो अन्य द्रव्येण बहिरङ्गनिमित्तभूतेन कुम्भकारादिनाऽन्य-

---

रागादिक कुछ भी नहीं हैं, द्रव्यरूप भिन्न पदार्थ नहीं हैं। इसलिये आचार्य प्रेरणा करते हैं कि सम्यग्दृष्टि उनकी तत्त्वदृष्टि से प्रकट देखकर नाश करे जिससे कि पूर्ण प्रकाशरूप अचल दीप्तिवाली स्वाभाविक ज्ञानज्योति प्रकाशित हो।

भावार्थ—राग-द्वेष भिन्न द्रव्य नहीं हैं, जीव के अज्ञानभाव से होते हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टि होके तत्त्वदृष्टि से देखो तो कुछ भी वस्तु नहीं। इस तरह देखने से घातिकर्म का नाश होके केवल ज्ञान उत्पन्न होता है॥ २१८॥

आगे कहते हैं कि अन्यद्रव्य से अन्यद्रव्य के गुण उत्पन्न नहीं होते। उसकी सूचना का काव्य—**रागद्वेषो** इत्यादि। **अर्थ**—तत्त्वदृष्टि से देखो तो रागद्वेष का उत्पन्न करने वाला अन्य द्रव्य कुछ भी नहीं दीखता, चेतन के ही परिणाम हैं। क्योंकि यह न्याय है कि सब द्रव्यों की उत्पत्ति अपने ही निज स्वभाव में अत्यन्त प्रगट रूप शोभित होती है। अन्यद्रव्य में अन्य गुण-पर्यायों की उत्पत्ति नहीं है॥ २१९॥

आगे इस अर्थ को गाथा में कहते हैं;—[**अन्यद्रव्येण**] अन्यद्रव्य से [**अन्यद्रव्यस्य**] अन्यद्रव्य के [**गुणोत्पादः**] गुणका उत्पात [**न क्रियते**] नहीं किया जा सकता [**तस्मात्तु**] इसलिये यह सिद्धान्त है कि [**सर्वद्रव्याणि**] सभी द्रव्य [**स्वभावेन**] अपने अपने स्वभाव से [**उत्पद्यन्ते**] उत्पन्न होते हैं।

टीका—ऐसी आशङ्का नहीं करनी चाहिए कि परद्रव्य जीव को रागादिक उत्पन्न कराता है; क्योंकि अन्यद्रव्य से अन्यद्रव्य के गुणों को उत्पन्न कराने की असमर्थता है। सब द्रव्यों में स्वभाव से ही उत्पाद होता है। यही दृष्टान्त से दिखलाते हैं कि मृत्तिका घटभाव से उत्पन्न होती हुई कुम्भकार के स्वभाव से उत्पन्न होती है या मृत्तिका के स्वभाव से ? यदि कुम्भकार के

---

१. तात्पर्यवृत्तौ गुणविघादो इति पाठः ।

कुम्भकारस्वभावेनोत्पद्यते तदा कुम्भकरणाहंकारनिर्भरपुरुषाधिष्ठितव्यापृतकरपुरुषशरीराकारः कुम्भः स्यात् न च तथास्ति द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि मृत्तिका कुम्भकारस्वभावेन नोत्पद्यते किन्तु मृत्तिकास्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति मृत्तिकायाः स्वस्वभावानतिक्रमान्न कुम्भकारः कुम्भस्योत्पादक एव मृत्तिकैव कुम्भकारस्वभावमस्पृशन्ती स्वस्वभावेन कुम्भभावेनोत्पद्यते । एवं सर्वाण्यपि द्रव्याणि स्वपरिणामपर्यायेणोत्पद्यमानानि किं निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावेनोत्पद्यन्ते किं स्वस्वभावेन ? यदि निमित्तभूतद्रव्यान्तरस्वभावेनोत्पद्यन्ते तदा निमित्तभूतपरद्रव्याकारस्तत्परिणामः स्यात्, नच तथास्ति द्रव्यान्तरस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्यादर्शनात् । यद्येवं तर्हि न सर्वद्रव्याणि निमित्तभूतपरद्रव्यस्वभावेनोत्पद्यन्ते किन्तु स्वस्वभावेनैव, स्वस्वभावेन द्रव्यपरिणामोत्पादस्य दर्शनात् । एवं च सति स्वस्वभावानतिक्रमात् सर्वद्रव्याणां निमित्तभूतद्रव्यान्तराणि, स्वपरिणामस्योत्पादकान्येव सर्वद्रव्याण्येव निमित्तभूत-

---

द्रव्यस्योपादानरूपस्य मृत्तिकादेर्न क्रियते । स कः ? चेतनस्याचेतनरूपेण, अचेतनस्य चेतनरूपेण वा चेतनाचेतनगुणघातो विनाशो न क्रियते यस्मात् तम्हा दु सव्वदव्वा उप्पज्जंते सहावेण तस्मात्कारणान्मृत्तिकादिसर्वद्रव्याणि कर्तृणि घटादिरूपेण जायमानानि स्वकीयोपादानकारणेन मृत्तिकादिरूपेण जायन्ते न च कुम्भकारादिबहिरङ्गनिमित्तरूपेण । कस्मात् इति चेत् । उपादानकारणसदृशं कार्यं भवतीति यस्मात्

स्वभाव से उत्पन्न होती है तो जिसमें घट बनाने के अहंकार से भरा हुआ पुरुष विद्यमान है और जिसका हाथ घट बनाने का व्यापार करता है ऐसे पुरुष के आकार रूप घड़ा होना चाहिये अर्थात् कुम्हार के शरीर के आकार घड़ा बनना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता। क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पन्न होना नहीं देखते। यदि ऐसा है कि मृत्तिका कुम्भकार के स्वभाव से तो उत्पन्न नहीं होती तो किस तरह उत्पन्न होती है ? मृत्तिका स्वभाव से ही उत्पन्न होती है, क्योंकि अपने स्वभाव से ही द्रव्य के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने पर मृत्तिका को स्वभाव के उल्लङ्घन करने से कुम्भकार घड़े को उत्पन्न करने वाला नहीं है। मिट्टी ही कुम्भकार के स्वभाव को नहीं स्पर्शती अपने ही स्वभाव से कुम्भभाव से उत्पन्न होती है। इसी तरह सब द्रव्य अपने परिणामरूप पर्याय से उत्पन्न होते हैं। क्या वे निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं या अपने ही स्वभाव से उत्पन्न होते हैं ? यदि कहो कि निमित्तभूत अन्यद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न होते हैं तो निमित्तभूत परद्रव्य के आकार उसका परिणाम होना चाहिये। ऐसा नहीं होता क्योंकि अन्यद्रव्य के स्वभाव से अन्यद्रव्य के परिणाम का उत्पन्न होना नहीं देखा जाता। जब सभी द्रव्य निमित्तभूत परद्रव्य के स्वभाव से उत्पन्न नहीं होते तो अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होते हैं। क्योंकि अपने स्वभाव से ही सब द्रव्यों के परिणाम का उत्पाद देखा जाता है। ऐसा होने पर सभी द्रव्यों के निमित्तभूत जो अन्यद्रव्य वे अन्यद्रव्य के परिणाम के उत्पन्न कराने वाले नहीं हैं। सभी द्रव्य निमित्तभूत अन्यद्रव्यों के

द्रव्यान्तरस्वभावमस्पृशन्ति स्वस्वभावेन स्वपरिणामभावेनोत्पद्यन्ते । अतो न परद्रव्यं जीवस्य रागादीनामुत्पादकमुत्पश्यामो यस्मै कुप्यामः ।।३७२।।

यदिह भवति रागद्वेषदोषप्रसूतिः कतरदपि परेषां दूषणं नास्ति तत्र ।
स्वयमयमपराधी तत्र सर्पत्यबोधो भवतु विदितमस्तं यात्वबोधोऽस्मि बोधः ।।२२०।।
रागजन्मनि निमित्ततां परद्रव्यमेव कलयन्ति ये तु ते ।
उत्तरन्ति न हि मोहवाहिनीं शुद्धबोधविधुरान्धबुद्धयः ।।२२१।।

तेन किं सिद्धं ? यद्यपि पञ्चेन्द्रियविषयरूपेण शब्दादीनां बहिरङ्गनिमित्तभूतेनाज्ञानिजीवस्य रागादयो जायन्ते तथापि जीवस्वरूपा एव चेतना न पुनः शब्दादिरूपा अचेतना भवन्तीति भावार्थः । एवं कोऽपि प्राथमिक-शिष्यश्चित्तस्थितरागादीन्न जानाति बहिरङ्गशब्दादिविषयाणां रागादिनिमित्तानां घातं करोमीति निर्वि-

---

स्वभाव को नहीं स्पर्शते, अपने स्वभाव से अपने परिणामभाव से उत्पन्न होते हैं। इस कारण आचार्य कहते हैं कि जो परद्रव्य है वह जीव के रागादिक के उत्पन्न करने वाला नहीं दीखता, जिस पर हम कोप करें।

भावार्थ—आत्मा के रागादिक अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। निश्चयनय से विचारो तो इनके उत्पन्न करने वाला अन्यद्रव्य नहीं है। अन्यद्रव्य इनका निमित्तमात्र है। क्योंकि यह नियम है कि अन्यद्रव्य के अन्यद्रव्य गुणपर्याय उत्पन्न नहीं करते। इसलिये जो ऐसा मानते हैं कि मेरे रागादिक परद्रव्य ही उत्पन्न कराता है, ऐसा एकान्त करते हैं वे नियम विभाग नहीं समझे, मिथ्यादृष्टि हैं। ये रागादिक जीव के सत्त्व में उत्पन्न होते हैं, परद्रव्य तो निमित्तमात्र है, ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है। इस कारण आचार्य ऐसा कहते हैं कि हम रागद्वेष की उत्पत्ति में अन्यद्रव्य पर क्यों कोप (गुस्सा) करें। राग-द्वेष का उपजना अपना ही अपराध है ।।३७२।।

अब इस अर्थ का कलश रूप काव्य कहते हैं—**यदिह** इत्यादि। **अर्थ**—जो इस आत्मा में रागद्वेष रूप दोष की उत्पत्ति है वहां परद्रव्य का कुछ भी दोष नहीं है। उस आत्मा में यह आप अपराधी फैलता है। यह कथन प्रकट होवे और यह अज्ञान भी अस्त हो जाय। क्योंकि मैं तो ज्ञान-स्वरूप हूं ऐसा मानना सम्यग्ज्ञान है।

भावार्थ—अज्ञानी जीव राग-द्वेष की उत्पत्ति परद्रव्य से मानकर परद्रव्य पर कोप करता है कि मेरे परद्रव्य राग-द्वेष उत्पन्न करता है उसको दूर करूँ। उसके समझाने को कहते हैं कि राग-द्वेष की उत्पत्ति अज्ञान से अपने में ही होती है, वे अपने ही अशुद्ध परिणाम हैं। सो यह अज्ञान नाश को प्राप्त होवे और सम्यग्ज्ञान प्रगट हो। आत्मा ज्ञानस्वरूप है ऐसा अनुभव करो। राग-द्वेष के उत्पन्न होने में परद्रव्य को उत्पन्न करने वाला मानकर उस पर कोप मत करो ऐसा उपदेश है ।।२२०।।

अब इसी अर्थ के दृढ़ करने को अगले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं—**रागजन्मनि** **अर्थ**—जो पुरुष राग की उत्पत्ति में परद्रव्य का ही निमित्तपना मानते हैं, अपना कुछ भी हेतु नहीं मानते, वे मोहरूप नदी के पार नहीं उतरे हैं, क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत जो आत्मा का स्वरूप उसके ज्ञान से रहित अन्धबुद्धि वाले हैं।

णिंदियसंथुयवयणाणि पोग्गला परिणमंति बहुयाणि ।
ताणि सुणिऊण रूसदि तूसदि य अहं पुणो भणिदो ॥३७३॥
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं तस्स जइ गुणो अण्णो ।
तम्हा ण तुमं भणिओ किंचिव किं रूससि अबुद्धो ॥३७४॥
असुहो सुहो व सद्दो ण तं भणइ सुणसु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं सोयविसयमागयं सद्दं ॥३७५॥
असुहं सुहं च रूवं ण तं भणइ पिच्छ मंति सो चेव ।
णय एइ विणिग्गहिउं चक्खुविसयमागयं रूवं ॥३७६॥
असुहो सुहो व गंधो ण तं भणइ जिग्घमंति सो चेव ।
णय एइ विणिग्गहिउं घाणविसयमागयं गंधं ॥३७७॥
असुहो सुहो व रसो ण तं भणइ रसय मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिगहिउं रसणविसयमागयं तु रसं ॥३७८॥

कल्पसमाधिलक्षणभेदज्ञानाभावान्चिन्तयति तस्य सम्बोधनार्थं पूर्वगाथापट्केन सह सूत्रसप्तकं गतं ॥ ३७२ ॥ अथेन्द्रियमनोविषयेषु रागद्वेषौ मिथ्याज्ञानपरिणत एव जीवः करोतीत्याख्याति रूसदि तूसदि य एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रियादिदुर्लभपरम्पराक्रमेणातीतानन्तकाले दृष्टश्रुतानुभूतमिथ्यात्वविषयकषायादिविभावपरिणामा-

---

भावार्थ—शुद्धनय का विषय आत्मा अनन्तशक्ति को लिये चैतन्य चमत्कारमात्र नित्य एक है। उसमें यह स्वच्छता है कि जैसा निमित्त मिले वैसे आप परिणमता है। ऐसा नहीं कि जो जैसा परिणमावे वैसा परिणमन करे, अपना कुछ पुरुषार्थ नहीं हो। आत्मा के स्वरूप का जिनको ज्ञान नहीं है वे ऐसा मानते हैं कि आत्मा को परद्रव्य जैसा परिणमावे वैसे परिणमता है। ऐसा मानने वाले मोह की सेना अथवा नदी रागद्वेषादि परिणाम उनसे पार नहीं होते, उनके राग-द्वेष नहीं मिटते। क्योंकि अपना पुरुषार्थ उनके होने में हो तो उनके मेटने में भी होना चाहिए और पर के ही करने से हो तो वह किया ही करे, अपना मेटना किस काम का ? इस कारण अपना किया होता है, अपना मेंटा मिटता है, इस तरह कथंचित् मानना सम्यग्ज्ञान है ॥२२१॥

आगे इस कथन को प्रगट करते हैं कि जो स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दरूप पुद्गल परिणत होते हैं वे यद्यपि इन्द्रियों से आत्मा के जानने में आते हैं तौ भी वे जड़ हैं, आत्मा को यह नहीं कहते कि हमको ग्रहण करो। आत्मा ही अज्ञानी होकर उनको भले-बुरे मान रागी-द्वेषी होता है, ऐसा गाथा में कहते हैं—[बहुकानि] बहुत प्रकार के [निन्दितसंस्तुतवचनानि] निन्दा और स्तुति के वचन हैं [पुद्गलाः परिणमन्ति] पुद्गल उनरूप परिणमते हैं [तानि] उनको [श्रुत्वा] सुनकर [अहं भणितः]

असुहो सुहो व फासो ण तं भणइ फुससु मंति सो चेव ।
ण य एइ विणिग्गहिउं कायविसयमागयं फासं ॥३७९॥
असुहो सुहो व गुणो ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं तु गुणं ॥३८०॥
असुहं सुहं व दव्वं ण तं भणइ बुज्झ मंति सो चेव ।
ण य एइ विणग्गहिउं बुद्धिविसयमागयं दव्वं ॥३८१॥
एयं तु जाणिऊण उवसमं णेव गच्छई मूढो ।
णिग्गहमणा परस्स य सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो ॥३८२॥ (दशकम्)

निन्दितसंस्तुतवचनानि पुद्गलाः परिणमन्ति बहुकानि ।
तानि श्रुत्वा रुष्यति तुष्यति च पुनरहं भणितः ॥३७३॥
पुद्गलद्रव्यं शब्दत्वपरिणतं तस्य यदि गुणोऽन्यः ।
तस्मान्न त्वं भणितः किंचिदपि किं रुष्यस्यबुद्धः ॥३७४॥
अशुभः शुभो वा शब्दः न त्वां भणति शृणु मामिति स एव ।
न चेति विनिग्रहीतुं श्रोत्रविषयमागतं शब्दम् ॥३७५॥

घीनतया अत्यन्तदुर्लभेन कथञ्चित्कालादिलब्धिवशेन मिथ्यात्वादिसप्तप्रकृतीनां तथैव चारित्रमोहनीयस्य चोपशमक्षयोपशमक्षये सति षड्द्रव्यपञ्चास्तिकायसप्ततत्त्वनवपदार्थादिश्रद्धानज्ञानरागद्वेषपरिहाररूपेण भेदरत्नत्रयात्मकव्यवहारमोक्षमार्गसंज्ञेन व्यवहारकारणसमयसारेण साध्येन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपेणानन्तकेवलज्ञानादिचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसारेण विना खल्वज्ञानिजीवो रुष्यति तुष्यति च । किं कृत्वा ? सुणिऊण श्रुत्वा । पुनः पश्चात् केन रूपेण ? अहं भणिदो अनेनाहं भणित इति । कानि श्रुत्वा ? णिंदिवसंथुदवयणाणि निन्दितसंस्तुतवचनानि ताणि तानि । किं विशिष्टानि ? पोग्गला परिणमंति बहुगाणि भाषा-

---

यह अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि मुझको कहा है इसलिये [रुष्यति] ऐसा मान रोस (गुस्सा) करता है [च पुनः] और [तुष्यति] संतुष्ट होता है । [शब्दत्वपरिणतं] शब्दरूप परिणत हुआ [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य [तस्य गुणः] उसका गुण [अन्यः] यदि तुझसे अन्य है [तस्मात्] तो हे अज्ञानी जीव [त्वं किंचिदपि न भणितः] तुझको तो कुछ भी नहीं कहा [अबुद्धः] तू अज्ञानी हुआ [किं रुष्यसि] क्यों रोष करता है ? [अशुभः वा शुभः] अशुभ अथवा शुभ [शब्दः] शब्द [त्वां न

अशुभं शुभं वा रूपं न त्वां भणति पश्य मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं चक्षुर्विषयमागतं रूपम् ॥३७६॥
अशुभः शुभो वा गन्धो न त्वां भणति जिघ्र मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं घ्राणविषयमागतं गंधं ॥३७७॥
अशुभः शुभो वा रसो न त्वां भणति रसय मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं रसनविषयमागतं तु रसं ॥३७८॥
अशुभः शुभो वा स्पर्शो न त्वां भणति स्पृश मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं कायविषयमागतं तु स्पर्शम् ॥३७९॥

वर्गणायोग्यपुद्गलाः कर्तारो यानि कर्मतापन्नानि बहुविधानि परिणमन्ति । ज्ञानी पुनर्व्यवहारमोक्षमार्गं निश्चयमोक्षमार्गभूतं पूर्वोक्तद्विविधकारणसमयसारं ज्ञात्वा बहिरङ्गेष्टानिष्टविषये रागद्वेषौ न करोतीति भावार्थः । **पुग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणदं** भाषावर्गणायोग्यपुद्गलद्रव्यं कर्तृ म्रियस्वेति जीव त्वमिति रूपेण निन्दितसंस्तुतशब्दरूपत्वपरिणतं **तस्स जदि गुणो अण्णो** तस्य पुद्गलद्रव्यस्य शुद्धात्मस्वरूपाद्यदि गुणोऽन्यो भिन्नो जडरूपः, तर्हि जीवस्य किमायातं ? न किमपि । तस्यैवाज्ञानिजीवस्य पूर्वोक्तव्यवहारकारणसमयसारनिश्चयकारणसमयसाररहितस्य संबोधनं क्रियते । कथं ? इति चेत्, यस्मान्निन्दितसंस्तुतवचनेन पुद्गलाः परिणमन्ति **तह्मा ण तुमं भणिदो किंचिवि** तस्मात्कारणात्त्वं न भणितः किंचिदपि **किं रूससे अबुहो** किं रुष्यसि अबुध बहिरात्मन्निति । स चैवाज्ञानिजीवो व्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां रहितः पुनरपि संबोध्यते । हे अज्ञानिन् ! शब्दरूप-

---

भणति इति] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां शृणु**] मुझको सुन [**च**] और [**श्रोत्रविषयं आगतं**] श्रोत्र इन्द्रिय के विषय में आये हुए [**शब्दं**] शब्द के [**विनिर्ग्रहीतुं**] ग्रहण करने को [**स एव**] वह आत्मा भी अपने स्वरूप को छोड़ [**न एति**] प्राप्त नहीं होता । [**अशुभं शुभं वा**] अशुभ अथवा शुभ [**रूपं**] रूप [**त्वां इति न भणति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां पश्य**] तू मुझको देख [**च**] और [**चक्षुर्विषयं आगतं रूपं**] चक्षु इन्द्रिय के विषय में आये हुए रूप के [**विनिर्ग्रहीतुं**] ग्रहण करने को [**स एव**] वह आत्मा भी अपने प्रदेशों को छोड़ [**न एति**] प्राप्त नहीं होता । [**अशुभः वा शुभः**] अशुभ अथवा शुभ [**गंधः**] गंध [**त्वां इति न भणति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां जिघ्र**] तू मुझको सूंघ [**च**] और [**घ्राणविषयं आगतं गंधं**] घ्राण इन्द्रिय के विषय में आये हुए गंध के [**विनिर्ग्रहीतुं**] ग्रहण करने को [**स एव**] वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ [**न एति**] प्राप्त नहीं होता है । [**अशुभः वा शुभः रसः**] अशुभ वा शुभ रस [**त्वां इति न भणति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां रसय**] मुझको तू आस्वाद कर [**च**] और [**रसनविषयं आगतं तु रसं**] रसना इन्द्रिय के विषय में आये रस के [**विनिर्ग्रहीतुं**] ग्रहण करने को [**स एव**] वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ [**न एति**] प्राप्त नहीं होता । [**अशुभः वा शुभः स्पर्शः**] अशुभ वा शुभ स्पर्श [**त्वां इति न भणति**] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [**मां स्पृश**] तू मुझको स्पर्श (छू ले) [**च**] और [**कायविषयं आगतं स्पर्शं**] स्पर्श

अशुभः शुभो वा गुणो न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं तु गुणम् ॥३८०॥
अशुभं शुभं वा द्रव्यं न त्वां भणति बुध्यस्व मामिति स एव ।
न चैति विनिर्ग्रहीतुं बुद्धिविषयमागतं द्रव्यम् ॥३८१॥
एतत्तु ज्ञात्वा उपशमं नैव गच्छति मूढः ।
विनिर्ग्रहमनाः परस्य च स्वयं च बुद्धिं शिवामप्राप्तः ॥३८२॥

यथेह बहिरर्थो घटपटादिः, देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा 'मां प्रकाशय' इति स्वप्रकाशने न प्रदीपं प्रयोजयति । न च प्रदीपोऽप्ययःकान्तोपलकृष्टायःसूचीवत्

गन्धरसस्पर्शरूपा मनोज्ञामनोज्ञपञ्चेन्द्रियविषयाः कर्तारः, त्वां कर्मतापन्नं किमपि न भणन्ति । किं न भणन्ति ? हे देवदत्त ! मां कर्मतापन्नं शृणु, मां पश्य, मां जिघ्र, मां स्वादय, मां स्पृशेति । पुनरप्यज्ञानी ब्रूते एते शब्दादयः कर्तारो मां किमपि न भणन्ति, परं किन्तु मदीयश्रोत्रादिविषयस्थानेषु समागच्छन्ति ? आचार्या उत्तरमाहुः—हे मूढ ! नचायान्ति विनिर्ग्रहीतुं एते शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाः । कथंभूताः सन्तः ? श्रोत्रेन्द्रियादिस्वकीयस्वकीयविषयभावमा गच्छन्तः । कस्मात् ? इति चेत् वस्तुस्वभावादिति । यस्तु परमतत्त्वज्ञानी जीवः स पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणसमयसाराभ्यां बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणाभ्यां सहितः सन् मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिविषयेषु समागतेषु रागद्वेषौ न करोति, किंतु स्वस्वभावेन शुद्धात्मस्वरूपमनुभवतीति भावार्थः । यथा पञ्चेन्द्रियविषये मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियसंकल्पवशेन रागद्वेषौ करोत्यज्ञानी जीवः, तथा परकीयगुणपरिच्छेदरूपे परद्रव्यपरिच्छेद्यरूपे च मनोविषयेऽपि रागद्वेषौ करोति । तस्याज्ञानिजीवस्य पुनरपि

इन्द्रिय के विषय में आये हुए स्पर्श के [विनिर्ग्रहीतुं] ग्रहण करने को [स एव] वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ [न एति] प्राप्त नहीं होता । [अशुभः वा शुभः] अशुभ वा शुभ [गुणः] द्रव्य या गुण [त्वां इति न भणति] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [मां बुध्यस्व] तू मुझको जान [च] और [बुद्धिविषयं आगतं तु गुणं] बुद्धि के विषय में आये हुए गुण के [विनिर्ग्रहीतुं] ग्रहण करने को [स एव] वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़कर [न एति] प्राप्त नहीं होता । [अशुभं वा शुभं द्रव्यं] अशुभ वा शुभ द्रव्य [त्वां इति न भणति] तुझको ऐसा नहीं कहता कि [मां बुध्यस्व] तू मुझे जान [च] और [बुद्धिविषयं आगतं द्रव्यं] बुद्धि के विषय में आये हुए द्रव्य के [विनिर्ग्रहीतुं] ग्रहण करने को [स एव] वह आत्मा भी अपने प्रदेश को छोड़ [न एति] प्राप्त नहीं होता । [मूढः] मूढ जीव [एतत्तु ज्ञात्वा] ऐसा जानकर भी [उपशमं नैव गच्छति] उपशम भाव को नहीं प्राप्त होता [च] और [परस्य विनिर्ग्रहमनाः] परके ग्रहण करने का मन करता है [च] क्योंकि [स्वयं शिवां बुद्धिं अप्राप्तः] आप कल्याणरूप बुद्धि जो सम्यग्ज्ञान उसको नहीं प्राप्त हुआ है ।

टीका—प्रथम दृष्टान्त कहते हैं—जिस प्रकार देवदत्त यज्ञदत्त का हाथ पकड़ कर उससे अपना कार्य करा लेता है, उस प्रकार घटपटादि बाह्य पदार्थ दीपक से यह नहीं कहते कि तू हमें प्रकाशित कर । और दीपक भी चुम्बक से आकृष्ट लोहे की सुई की तरह अपना स्थान छोड़कर उन पदार्थों को प्रकाशित करने नहीं पहुँचता । किन्तु दीपक घटपटादि पदार्थों के सद्भाव में भी

स्वस्थानात्प्रच्युत्य तं प्रकाशयितुमायाति । किंतु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्यत्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्संनिधानेऽपि स्वरूपेणैव प्रकाशते। स्वरूपेणैव प्रकाशमानस्य चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमासादयन् कमनीयोऽकमनीयो वा घटपटादिर्न मनागपि विक्रियायै कल्प्यते । तथा बहिरर्थः शब्दो रूपं गन्धो रसः स्पर्शो गुणद्रव्ये च देवदत्तो यज्ञदत्तमिव हस्ते गृहीत्वा मां शृणु मां पश्य मां जिघ्र मां रसय मां स्पर्श मां बुध्यस्वेति स्वज्ञाने नात्मानं प्रयोजयति । न चात्माप्ययःकान्तोपलकृष्टायःसूचीवत् स्वस्थानात्प्रच्युत्य तान् ज्ञातुमायाति । किन्तु वस्तुस्वभावस्य परेणोत्पादयितुमशक्यत्वात् परमुत्पादयितुमशक्य-

---

संबोधनं क्रियते तद्यथा—परकीयगुणः शुभोऽशुभो वा चेतनोऽचेतनो वा। द्रव्यमपि परकीयं कर्तृत्वं। कर्मतापन्नं न भणति हे मनोबुद्धे हे अज्ञानिजनचित्त ! मां कर्मतापन्नं बुध्यस्व जानीहि। अज्ञानी वदति—एवं न ब्रूते किंतु मदीयमनसि परकीयगुणोद्रव्यं वा परिच्छित्तिसंकल्परूपेण स्फुरति प्रतिभाति। तत्रोत्तरं दीयते—स चैव परकीयगुणः परकीयद्रव्यं वा मनोबुद्धिविषयमागतं विनिर्ग्रहीतुं नायाति। कस्मात् ? ज्ञेयज्ञायकसंबन्धस्य निषेधयितुमशक्यत्वात् इति हेतोः—यद्रागद्वेषकारणं तदज्ञानं। यस्तु ज्ञानी स पुनः पूर्वोक्तव्यवहारनिश्चयकारणं समयसारं जानन् हर्षविषादौ न करोतीति भावार्थः एवं तु एवं पूर्वोक्तप्रकारेण मनोज्ञामनोज्ञशब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयस्य परकीयगुणद्रव्यरूपस्य मनोविषयस्य वा, कथंभूतस्य ? जाणिदव्वस्स ज्ञातद्रव्यस्य पञ्चेन्द्रियमनोविषयभूतस्येत्यर्थः। तस्य पूर्वोक्तप्रकारेण स्वरूपं ज्ञात्वापि उवसमं णेव गच्छदे मूढो उपशमेनैव गच्छति मूढो बहिरात्मा स्वयं। कथंभूतः ? णिग्गहमणा निग्रहमनाः निवारणबुद्धिः। कस्य संबन्धित्वेन ? परस्स य परस्य पञ्चेन्द्रियमनोविषयस्य। कथंभूतस्य ? परकीयशब्दादिगुणद्रव्यरूपस्य। पुनरपि कथंभूतस्य ? स्वकीयविषयमागतस्य प्राप्तस्य। पुनरपि किं रूपश्चाज्ञानी जीवः। सयं च बुद्धिं सिवमपत्तो स्वयं च शुद्धात्मसंवित्तिरूपां बुद्धिमप्राप्तः। वीतरागसहजपरमानन्दरूपं शिवशब्दवाच्यं सुखं चाप्राप्त इति। किंच, यथायस्कांतोपलाकृष्टा सूची स्वस्थानात्प्रच्युत्यायस्कांतोपलपाषाणसमीपं गच्छति तथा शब्दादयश्चित्तक्षोभरूपविकृतिकरणार्थं जीवसमीपं न गच्छन्ति। जीवोऽपि तत्समीपं न गच्छति निश्चयतः किंतु स्वस्थाने स्वस्वरूपेणैव तिष्ठति। एवं वस्तुस्वभावे सत्यपि यदज्ञानी जीव उदासीनभावं मुक्त्वा रागद्वेषौ करोति तदज्ञानमिति। हे भगवन् पूर्वं बन्धाधिकारे भणितं—"एवं णाणी सुद्धो ण सयं परिणमदि रायमादीहिं। राइज्जदि अण्णेहिं दु सो रत्तादिएहिं भावेहिं ।। १ ।।" इत्यादि रागादीनामकर्ता ज्ञानी, परद्रव्यजनिता रागादयः इत्युक्तं। अत्र तु स्वकीयबुद्धिदोषजनिता रागादयः परेषां शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति पूर्वापरविरोधः ?

उसी प्रकार प्रकाशमान रहता है जिस प्रकार उनके अभाव में, क्योंकि वस्तुस्वभाव ही यह है कि वह दूसरे से उत्पन्न नहीं होता, न दूसरे को उत्पन्न करता है। इसी तरह घटपटादि पदार्थ भी वे सुन्दर हों या असुन्दर, वस्तु स्वभाव के कारण स्वयं तो नाना प्रकार परिणमन करते हैं किन्तु स्वभाव से प्रकाशमान दीपक में कोई विकार पैदा नहीं करते। वैसे ही शब्द, रूप, गन्ध, रस, स्पर्श और गुण द्रव्य यज्ञदत्त का हाथ पकड़कर देवदत्त की तरह आत्मा से यह नहीं कहते कि तू मुझे सुन, देख, सूंघ, आस्वादन कर, छू, समझ, और न आत्मा ही चुम्बक से आकृष्ट लोहे की सुई की तरह अपने स्थान से हटकर उन्हें जानने के लिए उन तक दौड़ जाती है, किन्तु उनके सद्भाव में

त्वाच्च यथा तदसन्निधाने तथा तत्सन्निधानेऽपि स्वरूपेणैव जानीते। स्वरूपेण जानतश्चास्य वस्तुस्वभावादेव विचित्रां परिणतिमाशादयन्तः कमनीया अकमनीया वा शब्दादयो बहिरर्था न मनागपि विक्रियायै कल्प्येरन् । एवमात्मा प्रदीपवत् परं प्रति उदासीनो नित्यमेवेति वस्तुस्थितिः, तथापि यद्रागद्वेषौ तदज्ञानम् ॥३७३-३८२॥

पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा बोधः[1] न बोध्यादयं ।
यायात्कामपि विक्रियां तत इतो दीपः प्रकाश्यादिव ।
तद्वस्तुस्थितिबोधबन्ध्यधिषणा एते किमज्ञानिनो ।
रागद्वेषमयीभवन्ति सहजां मुञ्चन्त्युदासीनताम् ॥२२२॥

अत्रोत्तरमाह—तत्र बन्धाधिकारव्याख्याने ज्ञानिजीवस्य मुख्यता ज्ञानी तु रागादिभिर्न परिणमति तेन कारणेन परद्रव्यजनिता भणिताः। अत्र चाज्ञानिजीवस्य मुख्यता स चाज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण परद्रव्यनिमित्त

भी आत्मा उन्हें उसी प्रकार जानता है जिस प्रकार उनके अभाव में, क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही यह है कि वह दूसरे से उत्पन्न नहीं होता और न दूसरे को उत्पन्न करता है। इसी तरह शब्दादि बाह्य पदार्थ अपनी सुन्दर असुन्दर दोनों अवस्थाओं में वस्तुस्वभाव के कारण नाना रूप परिणमन तो करते हैं किन्तु स्वरूप से जानने वाली आत्मा में कोई विकार पैदा नहीं करते। इस प्रकार आत्मा परपदार्थ के प्रति सदा ही उदासीन है, यही वस्तुस्वभाव है। इस पर भी जो राग-द्वेष होते हैं वह अज्ञान है।

भावार्थ—आत्मा शब्द को सुनकर, रूप को देखकर, गन्ध को सूंघकर, रसको आस्वादन कर, स्पर्श कर, गुणद्रव्य को जानकर भला बुरा मान रागद्वेष उपजाता है सो वह अज्ञान है। क्योंकि ये शब्दादिक तो जड़ (पुद्गलद्रव्य) के गुण हैं, आत्मा को कुछ नहीं कहते कि हमको ग्रहण करो और आत्मा भी स्वयं अपने प्रदेशों को छोड़कर उनके ग्रहण करने को उनमें नहीं जाती है। जैसे उनके समीप न होने पर जानता है वैसे ही समीप होने पर भी जानता है। आत्मा के विकार के लिए कुछ भी नहीं है। जैसे दीपक घटपटादि को प्रकाशित करता है उसी तरह आत्मा उनको जानता है ऐसा वस्तु का स्वभाव है। तो भी आत्मा में जो रागद्वेष उत्पन्न होता है यह अज्ञान ही है ॥३७३-३८२॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—पूर्णै इत्यादि। अर्थ—पूर्ण, एक, अच्युत और शुद्ध (विकार से रहित) ज्ञान स्वरूप जिसकी महिमा है ऐसा ज्ञानी ज्ञेय पदार्थों से कुछ भी विकार को प्राप्त नहीं होता, उसी तरह जैसे दीपक प्रकाशने योग्य घटपटादि पदार्थों से विकार को नहीं प्राप्त होता। ऐसी जिनकी बुद्धि वस्तु की मर्यादा के ज्ञान से रहित है, ऐसे अज्ञानी जीव अपनी स्वाभाविक उदासीनता को क्यों छोड़ते हैं और रागद्वेषमय क्यों होते हैं? ऐसा आचार्य ने सोच किया है।

भावार्थ—ज्ञान का स्वभाव ज्ञेय को जानने का ही है। दीपक का स्वभाव घटपट आदि को प्रकाश करने का है। यह वस्तुस्वभाव है। ज्ञेय को जानने मात्र से ज्ञान में विकार नहीं होता।

---

१. 'बोद्धा इत्यपि पाठः।

रागद्वेषविभावमुक्तमहसो नित्यं स्वभावस्पृशः,
पूर्वागामिसमस्तकर्मविकला भिन्नास्तदात्वोदयात् ।
दूरारूढचरित्रवैभवबलाच्चञ्चच्चिदर्चिर्मयीं
विदन्ति स्वरसाभिषिक्तभुवनां ज्ञानस्य संचेतनाम् ॥२२३॥

मात्मानमाश्रित्य रागादिभिः परिणमति, तेन कारणेन परेषां शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयाणां दूषणं नास्तीति भणितं । ततः कारणात् पूर्वापरविरोधो नास्ति इति । एवं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गभूतं निश्चयकारणसमयसारव्यवहारकारणसमयसारद्वयमजानन् अज्ञानी जीवः स्वकीयबुद्धिदोषेण रागादिभिः परिणमति । परेषां शब्दादीनां दूषणं नास्तीति व्याख्यानमुख्यत्वेन नवमस्थले गाथादशकं गतं ॥ ३७३ । ३८२ ॥ अथ निश्चयप्रतिक्रमणनिश्चयप्रत्याख्याननिश्चयालोचनपरिणततपोधन एवाभेदेन निश्चयचारित्रं भवतीत्युपदिशति;—णिवत्तें अप्पयं तु जो इहलोकपरलोकाकांक्षारूपख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षालक्षणनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहिते शून्ये विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभवनरूपाभेदरत्नत्रयात्मके निर्विकल्पपरमसमाधिसमुत्पन्नवीतरागसहजपरमानन्दस्वभावे सुखरसा-

---

और जो ज्ञेय को जानकर भलाबुरा मान आत्मा रागी, द्वेषी, विकारी होता है सो यह अज्ञान है। इसीसे आचार्य ने सोच किया है कि वस्तु का स्वभाव तो ऐसा है, किन्तु यह आत्मा अज्ञानी होकर रागद्वेषरूप क्यों परिणमता है ? अपनी स्वाभाविक उदासीनता अवस्था रूप क्यों नहीं रहता ? सो यह आचार्य का सोच करना युक्त (ठीक) है। क्योंकि जब तक शुभ राग है तब तक प्राणियों को अज्ञान से दुःखी देख करुणा उत्पन्न होती है तब सोच भी होता है ॥२२२॥

अब अगले कथन की सूचनिकारूप काव्य कहते हैं–रागद्वेष इत्यादि। अर्थ—ज्ञानी रागद्वेष रूप विभाव से रहित तेजवाले हैं। नित्य ही अपने चैतन्य चमत्कारमात्र स्वभाव को स्पर्श करने वाले हैं। पूर्व किये गये समस्त कर्म और आगामी होने वाले समस्त कर्मों से रहित हैं। तथा वर्तमानकाल में आये हुए कर्म के उदय से भिन्न हैं। ऐसे ज्ञानी अतिशय अङ्गीकार किये चारित्र का जो विभव समस्त परद्रव्य का त्याग उसके बल से ज्ञान की सम्यक् प्रकार चेतना को अनुभव करते हैं। वह ज्ञानचेतना चमकती (जागती) चैतन्यरूप ज्योतिमयी है तथा अपने ज्ञानरूप रस से जिसने तीन लोक को सींचा है।

भावार्थ—जिनका राग द्वेष गया और अपने चैतन्यस्वभाव का अङ्गीकार हुआ तथा अतीत अनागत वर्तमान कर्म का ममत्व गया, ऐसे ज्ञानी सब परद्रव्य से पृथक् होकर चारित्र को अङ्गीकार करते हैं। उसके बल से कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से पृथक् जो अपनी चैतन्य के परिणमन स्वरूप ज्ञानचेतना उसका अनुभव करते हैं। यहाँ तात्पर्य यह जानना कि पहले तो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से भिन्न अपनी ज्ञानचेतना मात्र स्वरूप आगम अनुमान स्वसंवेदन प्रमाण जाने और उसका श्रद्धान (प्रतीत) दृढ़ करे। सो यह तो अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था में भी होता है। जब अप्रमत्त अवस्था होती है अपने स्वरूप का ही ध्यान करता है, उस समय ज्ञानचेतना का जैसा श्रद्धान किया था उसमें लीन होता है, तब श्रेणी चढ़ केवलज्ञान उत्पन्न कर साक्षात् ज्ञानचेतनारूप होता है। ऐसा जानना ॥२२३॥

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥३८३॥
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि वज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो सो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥३८४॥
जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं ।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया ॥३८५॥
णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वइ णिच्चं य पडिक्कमदि जो ।
णिच्चं आलोचेयइ सो हु चरित्तं हवइ चेया ॥३८६॥(चतुष्कम्)

कर्म यत्पूर्वकृतं शुभाशुभमनेकविस्तरविशेषम् ।
तस्मान्निवर्तयत्यात्मानं तु यः स प्रतिक्रमणम् ॥३८३॥
कर्म यच्छुभमशुभं यस्मिश्च भावे बध्यते भविष्यत् ।
तस्मान्निवर्तते यः स प्रत्याख्यानं भवति चेतयिता ॥३८४॥

स्वादसमरसीभावपरिणामेन सालम्बने भरितावस्थे केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादके कारणसमयसारे स्थित्वा यः कर्ता, आत्मानं कर्मतापन्नं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं तत्तो शुभाशुभमूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं पूर्वकृतं यत्कर्म तस्मात् सो पडिक्कमणं स पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयप्रतिक्रमणं भवतीत्यर्थः । णियत्तदे जो अनन्तज्ञानादिस्वरूपात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुभूतिस्वरूपाभेदरत्नत्रयलक्षणे परमसामायिके स्थित्वा यः कर्ता आत्मानं निवर्तयति । कस्मात्सकाशात् ? कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्हि वज्झदि भविस्सं तत्तो शुभाशुभानेकविस्तरविस्तीर्णं

अब इस अर्थ को गाथा में कहते हैं; वहाँ पर अतीत कर्म से ममत्व छोड़ना प्रतिक्रमण है, आगामी न करने की प्रतिज्ञा प्रत्याख्यान है, वर्तमान कर्म जो उदय में आया है उसका ममत्व छोड़े वह आलोचना है । ऐसा चारित्र का विधान है उसको कहते हैं;—[पूर्वकृतं] अतीत काल में किये हुये [यत्] जो [शुभाशुभं] शुभ अशुभ [अनेकविस्तरविशेषं] ज्ञानावरण आदि अनेक प्रकार विस्तार विशेषरूप [कर्म] कर्म हैं [तस्मात्] उनसे [यः तु] जो चेतयिता [आत्मानं निवर्तयति] अपने आत्मा को छुड़ाता है [सः] वह आत्मा [प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमणस्वरूप है [च] और [यत् भविष्यत्] जो आगामी काल में [शुभं अशुभं] शुभ तथा अशुभ [कर्म] कर्म [यस्मिन् भावे] जिस भाव के होने पर [बध्यते] बंधे [तस्मात्] उस भाव से [यः चेतयिता] जो ज्ञानी [निवर्तते] छूटे [सः] वह आत्मा [प्रत्याख्यानं भवति] प्रत्याख्यानस्वरूप है । [च] और [यत् प्रति] जो वर्तमान काल में [शुभं अशुभं] शुभ अशुभ कर्म [अनेकविस्तरविशेषं] अनेक प्रकार ज्ञानावरणादि विस्ताररूप विशेषों को लिये हुए [उदीर्णं] उदय आया है [तं दोषं] उस दोष को [यः चेतयिता] जो ज्ञानी [चेतयते] अनुभव

यच्छुभमशुभमुदीर्णं संप्रति चानेकविस्तरविशेषम् ।
तं दोषं यः चेतयते स खल्वालोचनं चेतयिता ॥३८५॥
नित्यं प्रत्याख्यानं करोति नित्यं प्रतिक्रामति यश्च ।
नित्यमालोचयति स खलु चरित्रं भवति चेतयिता ॥३८६॥

यः खलु पुद्गलकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यश्चेतयितात्मानं निवर्तयति स तत्कारणभूतं पूर्वं कर्म प्रतिक्रामन् स्वयमेव प्रतिक्रमणं भवति । स एव तत्कार्यभूतमुत्तरं कर्म प्रत्याचक्षणः प्रत्याख्यानं भवति । स एव वर्तमानं कर्मविपाकमात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलभमानः आलोचना भवति । एवमयं नित्यं प्रतिक्रामन् नित्यं प्रत्याचक्षाणो, नित्यमालोचयंश्च पूर्वकर्मकार्येभ्य उत्तर कर्मकारणेभ्यो भावेभ्योऽत्यन्तं निवृत्तः, वर्तमानं

भविष्यत्कर्म यस्मिन्मिथ्यात्वादिरागादिपरिणामे सति वध्यते तस्मात् सो पच्चक्खाणं हवे चेवा स एवं गुणविशिष्टस्तपोधन एवाभेदनयेन निश्चयप्रत्याख्यानं भवतीति विज्ञेयं । जो वेददि नित्यानन्दैकस्वभावशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मके सुखदुःखजीवितमरणादिविषये सर्वोपेक्षासंयमे स्थित्वा यः कर्ता वेदयत्यनुभवति जानाति । किं जानाति । जं यत्कर्म तं तत् । केन रूपेण ? दोसं दोषोऽयं मम स्वरूपं न भवति । कथंभूतं कर्म ? उदिण्णं उदयागतं । पुनरपि कथंभूतं ? सुहमसुहं शुभाशुभं । पुनश्च किरूपं ? अणेयवित्थरविसेसं मूलोत्तरप्रकृतिभेदेनानेकविस्तरविस्तीर्णं संपडिय संप्रति काले खलु स्फुटं सो आलोयणं चेवा स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयालोचनं भवतीति ज्ञातव्यम् । णिच्चं पच्चक्खाणं कुव्वदि णिच्चंपि जो दु पडिक्कमदि णिच्चं अलोचेदिय निश्चयरत्नत्रयलक्षणे शुद्धात्मस्वरूपे स्थित्वा यः कर्ता पूर्वोक्त-

---

करता है उसका स्वामिपना, कर्तापना छोड़ता है [सः खलु] वह आत्मा निश्चय से [आलोचनं] आलोचनास्वरूप है [च यः] इस तरह जो [चेतयिता] आत्मा [नित्यं प्रत्याख्यानं करोति] नित्य प्रत्याख्यान करता है [नित्यं प्रतिक्रामति] नित्य प्रतिक्रमण करता है [नित्यं आलोचयति] नित्य आलोचना करता है [सः खलु] वह चेतयिता निश्चय से [चरित्रं भवति] चारित्रस्वरूप है ।

टीका—जो आत्मा पुद्गलकर्म के उदय से हुए भावों से अपने आत्मा को छुड़ावे, उस भाव के कारणभूत पूर्व (अतीत) काल में किये कर्म को प्रतिक्रमणरूप करता हुआ आप ही प्रतिक्रमण स्वरूप होता है। वही आत्मा पूर्वकर्म का कार्यभूत जो आगामी बँधने वाला कर्म उसको प्रत्याख्यान रूप करता (त्यागता हुआ) आप ही प्रत्याख्यान स्वरूप होता है, तथा वही आत्मा वर्तमान कर्म के उदय से अपने को अत्यन्त भेद से अनुभव करता हुआ प्रवर्तता है वह आप ही आलोचना-स्वरूप होता है। ऐसे यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य आलोचना करता हुआ पूर्व कर्म के कार्यरूप और आगामी कर्म के कारण रूप भावों से अत्यन्त निवृत्तिस्वरूप हुआ वर्तमान कर्म के उदय से आपको अत्यन्त भेदपूर्वक अनुभव करता हुआ अपने ज्ञानस्वभाव में ही निरन्तर प्रवर्तन करने से आप ही चारित्र स्वरूप होता है। ऐसे

कर्मविपाकमात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलभमानः स्वस्मिन्नेव खलु ज्ञानस्वभावे निरन्तरचरणाच्चारित्रं भवति। चारित्रं तु भवन् स्वस्य ज्ञानमात्रस्य चेतनात् स्वयमेव ज्ञानचेतना भवतीति भावः ॥३८३।३८४।३८५।३८६॥

ज्ञानस्य सञ्चेतनयैव नित्यं प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम्।
अज्ञानसञ्चेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धिं निरुणद्धि बन्धः ॥२२४॥

निश्चयप्रत्याख्यानप्रतिक्रमणालोचनानुष्ठानानि नित्यं सर्वकालं करोति **सो दु चरित्तं हवदि चेदा** स चेतयिता पुरुष एवाभेदनयेन निश्चयचारित्रं भवति। कस्मात्? इति चेत् शुद्धात्मस्वरूपे चरणं चारित्रमिति वचनात्। एवं निश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानरूपेणाष्टमस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ॥ ३८३। ३८४। ३८५। ३८६॥ अथ मिथ्यात्वरागादिपरिणतजीवस्याज्ञानचेतना केवलज्ञानादिगुणप्रच्छादकं कर्मबन्धं जन-

---

चारित्ररूप होता अपने को ज्ञानमात्र अनुभव करने से आप ही ज्ञानचेतनास्वरूप होता है ऐसा तात्पर्य है।

भावार्थ—यहाँ निश्चय चारित्र की प्रधानता से कथन है। चारित्र में प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना का विधान है। पहले लगे हुए दोष से आत्मा को निवर्तन करना प्रतिक्रमण है, आगामी दोष लगाने का त्याग करना प्रत्याख्यान है, वर्तमान दोष से आत्मा को पृथक् करना आलोचना है। सो निश्चय से विचारने पर जो आत्मा तीनों काल सम्बन्धी कर्मों से आत्मा को भिन्न जानता है, भिन्न श्रद्धान करता है और भिन्न अनुभव करता है, वह आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण है, स्वयं ही प्रत्याख्यान है और स्वयं ही आलोचना है। इन तीनों स्वरूप आत्मा का निरन्तर अनुभव करना वही चारित्र है। और निश्चय चारित्र ही ज्ञान चेतना का अनुभवन है। इसी अनुभव से साक्षात् ज्ञान चेतना स्वरूप केवल ज्ञानमय आत्मा प्रकट होता है ॥३८३-३८६॥

अब ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना (कर्म चेतना और कर्मफल चेतना) इनका स्वरूप प्रकट करते हैं, उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं—**ज्ञानस्य** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञान की चेतना से ही ज्ञान अत्यन्त शुद्ध निरन्तर प्रकाशित होता है और अज्ञान की चेतना से बन्ध दौड़ता हुआ ज्ञान की शुद्धता को रोकता है।

भावार्थ—किसी वस्तु के प्रति उसी का एकाग्र होकर अनुभव रूप स्वाद लेना वह उसका सञ्चेतना कहा जाता है। ज्ञान के प्रति ही एकाग्र उपयुक्त होकर उसी तरफ ध्यान रखना ज्ञानचेतना है। इससे तो अत्यन्त शुद्ध होकर प्रकाशित होता है—केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है, तब सम्पूर्ण ज्ञानचेतना नाम पाता है। और अज्ञान रूप (कर्म और कर्मफलरूप) उपयोग को करना उसी तरफ एकाग्र होकर अनुभव करना वह अज्ञानचेतना है। इससे कर्म का बन्ध होता है वह ज्ञान की शुद्धता को रोकता है ॥ २२४ ॥

अब इस कथन को गाथा से कहते हैं—[यः तु] जो आत्मा [कर्मफलं वेदयमानः] कर्म के फल को अनुभव करता हुआ [कर्मफलं आत्मानं करोति] कर्मफल को निजरूप ही करता है [सः]

वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं कुणइ जो दु कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८७॥
वेदंतो कम्मफलं मए कयं मुणइजोदु कम्मफलं ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्य अट्ठविहं ॥३८८॥
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो दुहिदो य हवदि जो चेदा ।
सो तं पुणोवि बंधइ वीयं दुक्खस्स अट्ठविहं ॥३८९॥(त्रिकलम्)

वेदयमानः कर्मफलमात्मानं करोति यस्तु कर्मफलम् ।
स तत्पुनरपि वध्नाति वीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥३८७॥
वेदयमानः कर्मफलं मया कृतं जानाति यस्तु कर्मफलम् ।
स तत्पुनरपि वध्नाति वीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥३८८॥
वेदयमानः कर्मफलं सुखितो दुःखितश्च भवति यः चेतयिता ।
स तत्पुनरपि वध्नाति वीजं दुःखस्याष्टविधम् ॥३८९॥

ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतनं अज्ञानचेतना । सा द्विधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ज्ञानादन्यत्रेदं वेदयेऽहमिति

यतोति प्रतिपादयति—ज्ञानाज्ञानभेदेन चेतना तावद्द्विविधा भवति । इयं तावदज्ञानचेतना गाथात्रयेण कथ्यते—उदयागतं शुभाशुभं कर्म वेदयन्ननुभवन् सन्नज्ञानिजीवः स्वस्वभावाद् भ्रष्टो भूत्वा मदीयं कर्मेति

वह [पुनरपि] फिर भी [दुःखस्य बीजं] दुःख का बीज [अष्टविधं तत्] ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को [बध्नाति] बाँधता है। [यस्तु] जो [कर्मफलं वेदयमानः] कर्म के फल का वेदन करता हुआ [कर्मफलं मया कृतं जानाति] उस कर्मफल को ऐसा जानता है कि यह मैंने किया है [स पुनरपि] वह फिर भी [दुःखस्य बीजं] दुःख का बीज [अष्टविधं तत्] ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को [बध्नाति] बाँधता है। [यः चेतयिता] जो आत्मा [कर्मफलं वेदयमानः] कर्म के फल को वेदता हुआ [सुखितः च दुःखितः] सुखी और दुःखी [भवति] होता है [स] वह चेतयिता [पुनरपि] फिर भी [दुःखस्य बीजं अष्टविधं तत् बध्नाति] दुःख का बीज ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को बाँधता है।

टीका—ज्ञान से अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि 'यह मैं हूँ' वह अज्ञान चेतना है। वह दो प्रकार की है—कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। उनमें से ज्ञान के सिवाय अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि 'इसको मैं करता हूँ' यह कर्मचेतना है और ज्ञान के सिवाय अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि इसको मैं भोगता हूँ वह कर्मफलचेतना है। ये दोनों ही अज्ञानचेतना

चेतनं कर्मफलचेतना । सा तु समस्तापि संसारबीजं । संसारबीजस्याष्टविधिकर्मणो बीजत्वात् । ततो मोक्षार्थिना पुरुषेणाज्ञानचेतनाप्रलयाय सकलकर्मसंन्यासभावनां सकलकर्मफलसंन्यासभावनां च नाटयित्वा स्वभावभूता भगवती ज्ञानचेतनैवैका नित्यमेव नाटयितव्या । तत्र तावत्सकलकर्मसंन्यासभावनां नाटयति—

कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचनकायैः ।
परिहृत्य कर्म सर्वं परमं नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥२२५॥

यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २ यदहमकार्षं यदचीकरं

भणति । मया कृतं कर्मेति च यो भणति । स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति । कथंभूतं ? बीजं कारणं । कस्य ? दुःखस्य । इति गाथाद्वयेनाज्ञानरूपा कर्मचेतना व्याख्याता । कर्मचेतना कोऽर्थः ? इति चेत् मदीयं कर्म मया कृतं कर्मेत्याद्यज्ञानभावेन—ईहापूर्वकमिष्टानिष्टरूपेण निरुपरागशुद्धात्मानुभूतिच्युतस्य

संसार का बीज है। क्योंकि संसार का बीज आठ प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म है, उसका यह अज्ञानचेतना बीज है। इससे कर्म बँधते हैं। इसलिये मोक्ष को चाहने वाले पुरुष को अज्ञानचेतना का नाश करने के लिए सब कर्मों के छोड़ देने की भावना को भाकर फिर समस्त कर्मों के फल के त्याग की भावना को नृत्य करा कर अपना स्वभावभूत जो ज्ञानवती-भगवती एक ज्ञानचेतना उसी को निरन्तर नृत्य कराना चाहिये। वहाँ प्रथम ही सकल कर्मों के संन्यास की भावना को नचाते हैं उसका कलशरूप काव्य कहते हैं—कृत इत्यादि। अर्थ—अतीत अनागत वर्तमानकाल सम्बन्धी सभी कर्मों को कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय से छोड़ कर उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्था का मैं अवलम्बन करता हूँ। इस प्रकार सब कर्मों का त्याग करने वाला ज्ञानी प्रतिज्ञा करता है।

अब सब कर्मों के त्याग करने के कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय के ४९ भङ्ग होते हैं। वहाँ अतीत काल सम्बन्धी कर्म के त्याग करने को प्रतिक्रमण कहा है उसके निम्नाङ्कित ४९ भङ्ग हैं यदहं इत्यादि। अर्थ—प्रतिक्रमण करने वाला कहता है कि जो मैंने (अतीतकाल में कर्म) किया, कराया और दूसरे से करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से तथा काय से, यह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। (कर्म करना कराना, और अन्य करने वाले का अनुमोदन करना संसार का बीज है, यह जानकर उस दुष्कृत के प्रति हेय बुद्धि आई तब जीव ने उसके प्रति ममत्व छोड़ा, सो यही उसका मिथ्या करना है।) ॥ १ ॥ जो मैंने (अतीतकाल में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२॥ जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥ ३ ॥ जो मैंने किया, कराया, और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से तथा काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४॥ जो मैंने (अतीतकाल में) किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या

यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ५ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ६ यदहमकार्षं यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ७ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ८ यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ९ यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १० यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ११ यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १२ यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १३ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमित १४ यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १५ यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या

मनोवचनकायव्यापारकरणं यत्, सा बन्धकारणभूता कर्मचेतना भण्यते। उदयागतं कर्मफलं वेदयन् शुद्धात्मस्वरूपमचेतयमानो मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयनिमित्तेन यः सुखितो दुःखितो वा भवति स जीवः पुनरपि तदष्टविधं कर्म बध्नाति। कथंभूतं? बीजं कारणं। कस्य? दुःखस्य। इत्येकगाथया कर्मफलचेतना व्याख्याता। कर्मफलचेतना कोऽर्थः? इति चेत् स्वस्वभावरहितेनाज्ञानभावेन यथासंभवं व्यक्ताव्यक्तस्वभावे-

---

हो ॥५॥ जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥६॥ जो मैंने किया, कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥७॥ जो मैंने किया और कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥८॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से और काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥९॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१०॥ जो मैंने (अतीत काल में) किया और कराया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥११॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया, मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१२॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१३॥ जो मैंने किया और कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१४॥ जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१५॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१६॥

मे दुष्कृतमिति १६ यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १७ यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १८ यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति १९ यदहमकार्षं यदचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २० यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २१ यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २२ यदहमकार्षं यदचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २३ यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २४ यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं २५ यदहमकार्षं यदचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २६ यदहमकार्षं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २७ यदहमचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २८ यदहमकार्षं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति २९ यदहमचीकरं मनसा च वाचा च कायेन च

नेहापूर्वकमिष्टानिष्टविकल्परूपेणहर्षविषादमयं सुखदुःखानुभवनं यत्, सा बन्धकारणभूता कर्मफलचेतना भण्यते । इयं कर्मचेतना कर्मफलचेतना च द्विरूपापि त्याज्या बन्धकारणत्वादिति । तत्र तयोर्द्वयोः कर्मचेतना-कर्मफलचेतनयोर्मध्ये पूर्वं तावन्निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चयप्रत्याख्यान—निश्चयालोचनास्वरूपं यत्पूर्वं व्याख्यातं तत्र स्थित्वा शुद्धज्ञानचेतनाबलेन कर्मचेतनासंन्यासभावनां नाटयति । कर्मचेतनात्यागभावनां कर्मबन्धविनाशार्थं करोतीत्यर्थः । तद्यथा—यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं कुर्वतमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषम् । केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति षट्संयोगेनैकभङ्गः । यदहमकार्षं यदहमचीकरं यदहं

जो मैंने किया और कराया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१७॥ जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१८॥ जो मैंने कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥१९॥

जो मैंने (अतीतकाल में) किया और कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२०॥ जो मैंने किया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२१॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२२॥ जो मैंने किया और कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२३॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२४॥ जो मैंने कराया तथा अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२५॥ जो मैंने किया और कराया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२६॥ जो मैंने किया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२७॥ जो मैंने कराया और अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२८॥

तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति । ३० यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३१ यदहमकार्षं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३२ यदहमचीकरं मनसा च वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३३ यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३४ यदहमकार्षं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३५ यदहमचीकरं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३६ यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३७ यदहमकार्षं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३८ यदहमचीकरं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ३९ यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४० यदहमकार्षं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं ४१ यदहमचीकरं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतं ४२ यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं मनसा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४३ यदहमकार्षं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४४ यदहमचीकरं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४५ यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं वाचा च तन्मिथ्या मे दुष्कृ-

---

कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समन्वज्ञासिषं । केन ? मनसा वाचा तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पञ्चसंयोगेन, एकैकापनयनेन भङ्गत्रयं भवति । संयोगेनेत्याद्यक्षसंचारेणैकोनपञ्चाशद्भङ्गा भवन्तीति टीकाभिप्रायः । अथवा त एव सुखोपायेन कथ्यन्ते । कथं ? इति चेत् कृतं कारितमनुमतमिति प्रत्येकं भङ्गत्रयं भवति । कृतकारितद्वयं कृतानुमतद्वयं कारितानुमतद्वयमिति द्विसंयोगेन च भङ्गत्रयं जातं कृतकारितानुमतत्रयमिति

जो मैंने (अतीतकाल में) किया मन से, वचन से, तथा काय से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥२९॥ जो मैंने कराया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३०॥ जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३१॥

जो मैंने (अतीतकाल में) किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३२॥ जो मैंने कराया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३३॥ मैंने जो अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३४॥ जो मैंने किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३५॥ जो मैंने कराया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३६॥ जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३७॥ जो मैंने किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३८॥ जो मैंने कराया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥३९॥ जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया वचन से तथा काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४०॥

जो मैंने (अतीतकाल में) किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४१॥ जो मैंने कराया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४२॥ जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया मन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४३॥ जो मैंने किया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४४॥ जो मैंने कराया वचन से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४५॥ जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया

तमिति ४६ यदहमकार्षं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४७ यदहमचीकरं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४८ यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञासिषं कायेन च तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति ४९

त्रिसंयोगेनैको भङ्ग इति सप्तभङ्गी । तथैव च मनसा वाचा कायेनेति प्रत्येकं भङ्गत्रयं भवति । मनोवचनद्वयं मनःकायद्वयं वचनकायद्वयमिति द्विसंयोगेन भङ्गत्रयं जातम् । मनोवचनकायत्रयमिति च त्रिसंयोगेनैको भङ्ग इयमपि सप्तभङ्गी । कृतं मनसा सह, कृतं वाचा सह, कृतं कायेन सह, कृतं मनोवचनद्वयेन सह, कृतं मनःकायद्वयेन सह, कृतं वचनकायद्वयेन सह, कृतं मनोवचनकायत्रयेण सहेति कृते निरुद्धे विवक्षिते सप्तभङ्गी जाता यथा । तथा

वचन से वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो । ॥४६॥ जो मैंने किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४७॥ जो मैंने कराया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४८॥ जो मैंने अन्य करते हुए का अनुमोदन किया काय से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो ॥४९॥

(इन ४९ भङ्गों के भीतर, पहले भङ्ग में कृत, कारित, अनुमोदना—ये तीन लिये हैं और उन पर मन, वचन, काय—ये तीन लगाये हैं । इस प्रकार बने हुए इस एक भङ्ग को '३३'[1] की समस्या से–संज्ञा से पहचाना जा सकता है । २ से ४ तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं । इस प्रकार बने हुए इन तीन भङ्गों को '३२'[2] की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है । ५ से ७ तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना के तीनों लेकर उन पर मन, वचन, काय में से एक-एक लगाया है । इन तीन भङ्गों को '३१' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है । ८ से १० तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं । इन तीन भङ्गों को '२३' की संज्ञा वाले भङ्गों के रूप में पहचाना जा सकता है । ११ से १९ तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना में से दो-दो लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं । इन नौ भङ्गों को '२२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है । २० से २८ तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना में से २-२ लेकर उन पर मन, वचन, काय में से १-१ लगाया है । इन ९ भङ्गों को '२१' की संज्ञा वाले भंगों के रूप में पहिचाना जा सकता है । २९ से ३१ तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना में से १-१ लेकर उन पर मन, वचन, काय तीनों लगाये हैं । इन तीन भङ्गों को '१३' की संज्ञा से पहचाना जा सकता है । ३२ से ४० तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना में से १-१ लेकर उन पर मन, वचन, काय में से दो-दो लगाये हैं । इन नौ भङ्गों को '१२' की संज्ञा से पहिचाना जा सकता है । ४१ से ४९ तक के भङ्गों में कृत, कारित, अनुमोदना में से १-१ लेकर उन पर मन, वचन, काय में से १-१ लगाया है । इन ९ भङ्गों को '११' की संज्ञा से पहचाना जा सकता है । इस प्रकार सभी मिलाकर ४९ भङ्ग हुए ।)

---

१. कृत, कारित, अनुमोदना ये तीनों लिये गये हैं, उन्हें बताने के लिए पहिले ३ का अङ्क रखना चाहिए और फिर मन, वचन, काय ये तीन लिए हैं सो इन्हें बताने के लिए उसी के पास दूसरा ३ का अङ्क रखना चाहिए । इस प्रकार ३३ की समस्या हुई ।

२. कृत, कारित, अनुमोदना ये तीनों लिये हैं, यह बताने के लिए पहले '३' का अङ्क रखना चाहिये और फिर मन, वचन, काय में से दो लिये हैं, यह बताने के लिए ३ के पास २ का अङ्क रखना चाहिये । इस प्रकार '३२' की संज्ञा हुई ।

मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२६॥

इति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः ।

न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १ न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति २ न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३ न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४ न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ५ न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ६ न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ७ न करोमि न कारयामि

कारितेऽपि, तथा अनुमतेऽपि, तथा कृतकारितद्वयेऽपि, तथा कृतानुमतद्वयेऽपि, तथा कारितानुमतद्वयेऽपि, तथा

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं—मोहाद्य इत्यादि । अर्थ—मैंने जो मोह से अथवा अज्ञान से कर्म किये हैं, उन समस्त कर्मों का प्रतिक्रमण करके मैं निष्कर्म (समस्त कर्मों से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही (निज से ही) निरन्तर वर्त रहा हूँ (इस प्रकार ज्ञानी अनुभव करता है) ।

भावार्थ—भूतकाल में किये गये कर्म को ४९ भङ्ग पूर्वक मिथ्या करने वाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानी ज्ञानस्वरूप आत्मा में लीन होकर निरन्तर चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करे, इसकी यह विधि है । 'मिथ्या' कहने का प्रयोजन इस प्रकार है:-जैसे किसी ने पहले धन कमाकर घर में रख छोड़ा था; और फिर जब उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया, तब उसे भोगने का अभिप्राय नहीं रहा । उस समय भूतकाल में जो धन कमाया था वह नहीं कमाने के समान ही है; इसी प्रकार, जीव ने पहले जो कर्म बन्ध किया था; फिर जब उसे अहितरूप जानकर उसके प्रति ममत्व छोड़ दिया और उसके फल में लीन न हुआ, तब भूतकाल में जो कर्म बांधा था वह नहीं बांधने के समान मिथ्या ही है ॥२२६॥

इस प्रकार प्रतिक्रमण-कल्प (प्रतिक्रमण की विधि) समाप्त हुआ ।

अब टीका में आलोचनाकल्प कहते हैं ।

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूँ, और न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से ॥१॥

मैं (वर्तमान में कर्म) न तो करता हूँ, न कराता हूं, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से ॥२॥ मैं न तो करता हूँ, न कराता हूं, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काय से ॥३॥ मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूं, वचन से तथा काय से ॥४॥

मैं न तो करता हूँ, न कराता हूं, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूं, मन से ॥५॥ मैं न तो करता हूं, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से ॥६॥ मैं न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, काय से ॥७॥

मनसा च वाचा च कायेन चेति ८ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ९ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १० न करोमि न कारयामि मनसा च वाचा चेति ११ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १२ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति १३ न करोमि न कारयामि मनसा च कायेन चेति १४ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १५ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति १६ न करोमि न कारयामि वाचा च कायेन चेति १७ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १८ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति १९ न करोमि न कारयामि मनसा चेति २० न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति २१ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति २२ न करोमि न कारयामि वाचा चेति २३ न करोमि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति २४ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति २५ न करोमि न कारयामि कायेन चेति २६ न करोमि न

कृतकारितानुमतत्रये चेति प्रत्येकमनेन क्रमेण सप्तभङ्गी योजनीया। एवं-एकोनपञ्चाशद्भङ्गा भवन्तीति प्रतिक्रमणकल्पः समाप्तः। इदानीं प्रत्याख्यानकल्पः कथ्यते—तथाहि—यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुज्ञास्यामि। केन ? मनसा वाचा कायेन तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत्

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से ॥८॥ न तो मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से ॥९॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से ॥१०॥

न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मन से तथा वचन से ॥११॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से ॥१२॥ न तो मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से ॥१३॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ मन से तथा काय से ॥१४॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काय से ॥१५॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काय से ॥१६॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचन से तथा काय से ॥१७॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काय से ॥१८॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काय से ॥१९॥

न तो मैं करता हूँ, न कराता हूँ, मन से ॥२०॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से ॥२१॥ न मैं कराता हूँ न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से ॥२२॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, वचन से ॥२३॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से ॥२४॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता

कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति २७ न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति २८ न करोमि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ न कारयामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ न करोमि मनसा च वाचा चेति ३२ न कारयामि मनसा च वाचा चेति ३३ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च वाचा चेति ३४ न करोमि मनसा च कायेन चेति ३५ न कारयामि मनसा च कायेन चेति ३६ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा च कायेन चेति ३७ न करोमि वाचा च कायेन चेति ३८ न कारयामि वाचा च कायेन चेति ३९ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा च कायेन चेति ४० न करोमि मनसा चेति ४१ न कारयामि मनसा चेति ४२ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि मनसा चेति ४३ न करोमि वाचा चेति ४४ न कारयामि वाचा चेति ४५ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि वाचा चेति ४६ न करोमि कायेन चेति ४७ न कारयामि कायेन चेति ४८ कुर्वन्तमप्यन्यं समनुजानामि कायेन चेति ॥४९॥

षट्संयोगेनैको भङ्गः। यथा यदहं करिष्यामि यदहं कारयिष्यामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समानुज्ञास्यामि। केन? मनसा वाचा चेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववदेकैकापनयनेन पञ्चसंयोगेन भङ्गत्रयं भवति एवं पूर्वोक्तक्रमेण—एकोनपञ्चाशद्भङ्गा ज्ञातव्याः। इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः। इदानीमालोचनाकल्पः कथ्यते, तद्यथायदहं करोमि यदहं कारयामि यदहं कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि। केन? मनसा वाचा कायेनेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति पूर्ववत् षट्संयोगेनैकभङ्गः। तथा यदहं करोमि यदह कारयामि यदहं

हूँ, वचन से, ॥२५॥ न मैं करता हूँ, न कराता हूँ, काय से ॥२६॥ न मैं करता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ काय से ॥२७॥ न मैं कराता हूँ, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूं, काय से ॥२८॥

न मैं करता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से ॥२९॥ न मैं कराता हूँ, मन से, वचन से तथा काय से ॥३०॥ मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन नहीं करता मन से, वचन से तथा काय से ॥३१॥

न तो मैं करता हूँ, मन से तथा वचन से ॥३२॥ न मैं कराता हूँ, मन से तथा वचन से ॥३३॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा वचन से ॥३४॥ न मैं करता हूँ मन से तथा काय से ॥३५॥ न मैं कराता हूँ, मन से तथा काय से ॥३६॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, मन से तथा काय से ॥३७॥ न मैं करता हूँ, वचन से तथा काय से ॥३८॥ न मैं कराता हूँ, वचन से तथा काय से ॥३९॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ, वचन से तथा काय से ॥४०॥

न मैं करता हूँ मन से ॥४१॥ न मैं कराता हूँ मन से ॥४२॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ मन से ॥४३॥ न मैं करता हूँ वचन से ॥४४॥ न मैं कराता हूँ वचन से ॥४५॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ वचन से ॥४६॥ न मैं करता हूँ काय से ॥४७॥ न मैं

मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२७॥

इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः ।

न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति २ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ५ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ६ न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ७ न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ८ न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च

कुर्वन्तमप्यन्यं प्राणिनं समनुजानामि, केन ? मनसा वाचेति तन्मिथ्या मे दुष्कृतमिति—एकैकापनयनेन पञ्चसंयोगेन भङ्गत्रयं भवति। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण एकोनपञ्चाशद्भङ्गा ज्ञातव्याः। इत्यालोचनाकल्पः समाप्तः।

कराता हूँ, काय से ॥४८॥ न मैं अन्य करते हुए का अनुमोदन करता हूँ काय से ॥४९॥ (इस प्रकार प्रतिक्रमण के समान आलोचना में भी ४९ भङ्ग कहे ।)

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं,—मोहविलास इत्यादि। अर्थ—(निश्चय चारित्रको अङ्गीकार करने वाला कहता है कि) मोह के विलास से फैला हुआ जो यह उदयमान (उदय में आता हुआ) कर्म, उस सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ।

भावार्थ—वर्तमानकाल में कर्म का उदय आता है उसके विषय में ज्ञानी यह विचार करता है कि पहले जो कर्म बांधा था उसका यह कार्य है, मेरा नहीं। मैं इसका कर्ता नहीं, हूं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा हूँ। उसकी दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्ति है। उस दर्शन-ज्ञानरूप प्रवृत्ति के द्वारा मैं इन उदयागत कर्म को देखने—जानने वाला हूँ। मैं अपने स्वरूप में ही वर्तमान हूँ। ऐसा अनुभव करना ही निश्चय चारित्र है। इस प्रकार आलोचनाकल्प समाप्त हुआ।

अब टीका प्रत्याख्यान कल्प (अर्थात् प्रत्याख्यान की विधि) कहते हैं। प्रत्याख्यान करने वाला कहता है कि—

मैं (भविष्य में कर्म) न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से, वचन से तथा कार्य से ॥ १ ॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से तथा वचन से ॥ २ ॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से तथा काय से ॥ ३ ॥ मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा वचन से तथा काय से ॥ ४ ॥

मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, मन से ॥५॥ मैं न

कायेन च ९ न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति १० न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ११ न करिष्यामि कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति १२ न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति १३ न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति १४ न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १५ न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति १६ न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति १७ न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १८ न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति १९ न करिष्यामि न कारयिष्यामि मनसा चेति २० न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २१ न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति २२ न करिष्यामि न कारयिष्यामि वाचा चेति २३ न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २४ न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति २५ न करिष्यामि न कारयिष्यामि कायेन चेति २६ न करिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन

कल्पः पर्व परिच्छेदोऽधिकारोऽध्यायः प्रकरणमित्याद्येकार्था ज्ञातव्याः । एवं निश्चयप्रतिक्रमण—निश्चय-प्रत्याख्यान—निश्चयालोचनाप्रकारेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनारूपेण गाथाद्वयव्याख्यानेन कर्मचेतनासंन्यासभावना

तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा वचन से ।।६।। मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, काय से ।।७।।

मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मन से, वचन से तथा काय से ।।८।। मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, मन से, वचन से तथा काय से ।।९।। मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से, वचन से, तथा काय से ।।१०।।

मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मन से तथा वचन से ।।११।। मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा वचन से ।।१२।। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा वचन से ।।१३।। मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मन से तथा काय से ।।१४।। मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से तथा काय से ।।१५।। मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, मन से तथा काय से ।।१६ ।। मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, वचन से तथा काय से ।।१७।। मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, वचन से तथा काय से ।।१८।। मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूँगा, वचन से तथा काय से ।।१०।।

मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, मन से।।२०।। मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, मन से ।।२१।। मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा मन से ।।२२।। मैं न तो करूंगा, न कराऊंगा, वचन से ।।२३।। मैं न तो करूंगा, न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा, वचन से ।।२४।। मैं न तो कराऊंगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा वचन से ।।२५।।

चेति २७ न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति २८ न करिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति २९ न कारयिष्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३० न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन चेति ३१ न करिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३२ न कारयिष्यामि मनसा च वाचा चेति ३३ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा चेति ३४ न करिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३५ न कारयिष्यामि मनसा च कायेन चेति ३६ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा च कायेन चेति ३७ न करिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३८ न कारयिष्यामि वाचा च कायेन चेति ३९ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा च कायेन चेति ४० न करिष्यामि मनसा चेति ४१ न कारयिष्यामि मनसा चेति ४२ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि मनसा चेति ४३ न करिष्यामि वाचा चेति ४४ न कारयिष्यामि वाचा चेति ४५ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि वाचा चेति ४६ न करिष्यामि कायेन चेति ४७ न कारयिष्यामि कायेन चेति ४८ न कुर्वन्तमप्यन्यं समनुज्ञास्यामि कायेन चेति ॥४९॥

समाप्ता। इदानीं शुद्धज्ञानचेतनाभावनाबलेन कर्मफलचेतनासंन्यासभावनां नाटयति करोतीत्यर्थः तद्यथा—नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये सम्यगनुभवे इत्यर्थः। नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे। तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये।

मैं न तो करूंगा, न कराऊँगा, काय से ॥२६॥ मैं न तो करूंगा न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा, काय से ॥२७॥ मैं न तो कराऊँगा, न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा काय से ॥२८॥

मैं न तो करूँगा मन से, वचन से तथा काय से ॥२९॥ मैं न तो कराऊँगा मन से वचन से तथा काय से ॥३०॥ मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मन से, वचन से तथा काय से ॥३१॥

मैं न तो करूंगा मन से तथा वचन से ॥३२॥ मैं न तो कराऊँगा मन से तथा वचन से ॥३३॥ मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मन से तथा वचन से ॥३४॥ मैं न तो करूंगा मन से तथा काय से ॥३५॥ मैं न तो कराऊँगा मन से तथा काय से ॥३६॥ मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मन से तथा काय से ॥३७॥ मैं न तो करूंगा वचन से तथा काय से ॥३८॥ मैं न तो कराऊँगा वचन से तथा काय से ॥३९॥ मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा वचन से तथा काय से ॥४०॥

मैं न तो करूंगा मन से ॥४१॥ मैं न तो कराऊँगा मन से ॥४२॥ मैं न अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा मन से ॥४३॥ मैं न तो करूंगा वचन से ॥४४॥ मैं न तो कराऊँगा वचन से ॥४५॥ मैं न तो अन्य करते हुए का अनुमोदन करूंगा वचन से ॥४६॥ मैं न तो करूंगा काय से ॥४७॥ मैं न तो कराऊंगा काय से ॥४८॥ मैं न अन्य करते हुये का अनुमोदन करूंगा काय से ॥४९॥ (इस प्रकार प्रतिक्रमण के समान ही प्रत्याख्यान में भी ४९ भङ्ग कहे।)

प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्तं निरस्तसंमोहः ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥२२८॥

इति प्रत्याख्यानकल्पः समाप्तः ।

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुद्धनयावलम्बी ।
विलीनमोहो रहितं[1] विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥२२९॥

नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । नाहं केवलज्ञानावरणीयफलं भुञ्जे । किं तर्हि करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । इति पञ्चप्रकारज्ञानावरणीयरूपेण कर्मफलचेतनासंन्यासभावना व्याख्याता । नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयफलं भुञ्जे । तर्हि किं करोमि ? शुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमेव संचेतये । एवं टीकाकथितक्रमेण—"पण णव दु अठ्ठवीसा चउ तिय णउदीय दुण्णि पञ्चेव । वावण्णहीण वियसय पयडिविणासेण होंति ते सिद्धा" ॥१॥ इमां गाथामाश्रित्य अष्टचत्वारिंशदधिकशतप्रमितोत्तरप्रकृतीनां कर्मफलसंन्यासभावना नाटयितव्या, कर्तव्येत्यर्थः । किंच जगत्त्रयकालत्रयसंबन्धिमनोवचनकायकृतकारितानुमतख्यातिपूजालाभदृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षारूपनिदानबन्धादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितेन शून्येन चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपा-

---

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं--प्रत्याख्यायेति । अर्थ—(प्रत्याख्यान करनेवाला ज्ञानी कहता है कि—) भविष्य के समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान (त्याग) करके, जिसका मोह नष्ट हो गया है, ऐसा मैं निष्कर्म अर्थात् समस्त कर्मो से रहित) चैतन्यस्वरूप आत्मा में आत्मा से ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

भावार्थ—निश्चयचारित्र में प्रत्याख्यान का विधान ऐसा है कि—समस्त आगामी कर्मों से रहित, चैतन्य की प्रवृत्तिरूप अपने शुद्धोपयोग में रहना सो प्रत्याख्यान है । इससे ज्ञानी आगामी समस्त कर्मों का प्रत्याख्यान करके अपने चैतन्यस्वरूप में रहता है ।

यहां तात्पर्य इस प्रकार जानना चाहिये—व्यवहारचारित्र में प्रतिज्ञा में जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान होता है । यहाँ निश्चयचारित्र की प्रधानता से कथन है, इसलिए शुद्धोपयोग से विपरीत सर्व कर्म आत्मा के दोषस्वरूप हैं । उन समस्त कर्मचेतना स्वरूप परिणामों का—तीनों काल के कर्मों का—प्रतिक्रमण, आलोचना तथा प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्व कर्मचेतना से भिन्न अपने शुद्धोपयोगरूप आत्मा के ज्ञान-श्रद्धान द्वारा और उसमें स्थिर होने के विधान द्वारा निष्प्रमाद दशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान उत्पन्न करने के सन्मुख होता है । यह, ज्ञानी का कार्य है । इस प्रकार प्रत्याख्यान कल्प समाप्त हुआ ।

अब समस्त कर्मों के संन्यास (त्याग) की भावना को नचाने के सम्बन्ध का कथन समाप्त करते हुये कलशरूप काव्य कहते हैं—समस्तेति इत्यादि । अर्थ—(शुद्धनय का आलम्बन करनेवाला कहता है कि—) पूर्वोक्त प्रकार से तीनों काल के समस्त कर्मों को दूर करके, शुद्धनयावलम्बी

---

१. रहितो विकारैः इत्यापि पाठः ।

अथ सकलकर्मफलसंन्यासभावनां नाटयति ।

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥२३०॥

नाहं मतिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १ नाहं श्रुतज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २ नाहमवधिज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३ नाहं मनःपर्ययज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४ नाहं केवलज्ञानावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५ नाहं चक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६ नाहमचक्षुर्दर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७ नाहमवधिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मान-

---

भेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजपरमानन्दरूपसुखरसास्वादपरमसमरसीभावानुभवसालम्बनेन भरितावस्थेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकेन निश्चयकारणसमयसाररूपेण शुद्धज्ञानचेतनाभावनावष्टम्भेन कृत्वा कर्मचेतनासंन्यासभावना कर्मफलचेतनासंन्यासभावना

और विलीनमोह (अर्थात् जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया है) ऐसा मैं अब सर्व विकारों से रहित चैतन्यमात्र आत्मा का अवलम्बन करता हूँ ॥ २२९ ॥

अब समस्त कर्मफल संन्यास की भावना को नचाते हैं—उसमें प्रथम, उस कथन के समुच्चय अर्थ का काव्य कहते हैं—विगलन्तु इत्यादि । अर्थ—समस्त कर्मफल की संन्यास भावना का करने वाला कहता है कि—कर्मरूपी विषवृक्ष के फल मेरे द्वारा भोगे बिना ही खिर जायें; मैं (अपने) चैतन्यस्वरूप आत्मा का निश्चलतया संचेतन-अनुभव करता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी कहता है कि—जो कर्म उदय में आता है उसके फल को मैं ज्ञाता द्रष्टा रूप से देखता हूँ, उसका भोक्ता नहीं होता, इसलिए मेरे द्वारा भोगे बिना ही वे कर्म खिर जायें; मैं अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होता हुआ उसका ज्ञाता द्रष्टा ही होऊँ। यहां इतना विशेष जानना चाहिये कि अविरत, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत दशा में ऐसा ज्ञानश्रद्धान ही प्रधान है और जब जीव अप्रमत्तदशा को प्राप्त होकर श्रेणी चढ़ता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है ॥२३० ॥

अब टीका में समस्त कर्मफल के संन्यास की भावना को नचाते हैं—

मैं (ज्ञानी होने से) मति ज्ञानावरणीय कर्मफल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही सचेतन करता हूँ अर्थात् एकाग्रतया करता हूँ ॥१॥ मैं श्रुतज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन अनुभव करता हूँ ॥२॥ मैं अवधिज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥३॥ मैं मनःपर्ययज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥४॥ मैं केवलज्ञानावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥ ५ ॥

मैं चक्षुर्दर्शनावरणीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन

मत्मानमेव संचेतये ८ नाहं केवलदर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ९ नाहं[1] निद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १० नाहं निद्रानिद्रादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ११ नाहं प्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १२ नाहं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १३ नाहं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १४ नाहं सातावेदनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १५ नाहमसातावेदनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १६ नाहं सम्यक्त्वमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १७ नाहं मिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १८ नाहं सम्यक्त्वमिथ्यात्वमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये १९ नाहं अनन्तानुबन्धिक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २० नाहमप्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २१ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २२ नाहं संज्वलनक्रोधकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २३ नाहमनन्तानुबन्धिमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २४ नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २५ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव

च मोक्षार्थिना पुरुषेण कर्तव्येति भावार्थः। एवं गाथाद्वयं कर्मचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेन, गाथैका

करता हूँ ॥६॥ मैं अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥ ७ ॥ मैं अवधिदर्शनावरणीय कर्म के० चैतन्य० ॥८॥ मैं केवलदर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥९॥ मैं निद्रादर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१०॥ मैं निद्रानिद्रादर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥११॥ मैं प्रचलादर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१२॥ मैं प्रचलाप्रचलादर्शनावरणीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१३॥ मैं स्त्यानगृद्धिदर्शनावरणीय कर्म के० चैतन्य० ॥१४॥

मैं सातावेदनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१५॥ मैं असातावेदनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१६॥

मैं सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१७॥ मैं मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥ १८॥ मैं सम्यक्त्व मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥१९॥ मैं अनन्तानुबन्धि क्रोधकषाय वेदनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२०॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के० चैतन्य० ॥२१॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीय क्रोधकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२२॥ मैं संज्वलन क्रोधकषाय वेदनीय मोहनीय

---

१. मदखेदस्वापविनोदार्थं स्वापो निद्रा। अस्या उपर्युपरि वृत्तिर्निद्रानिद्रा। या क्रिया आत्मानं प्रचलयति सा प्रचला शोकमदश्रमादासीनस्यापि नेत्रमात्रविक्रियासूचिका सैव पुनरावर्त्यमाना प्रचलाप्रचला।

संचेतये २६ नाहं संज्वलनमानकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २७ नाहमनन्तानुबन्धिमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २८ नाहमप्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये २९ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३० नाहं संज्वलनमायाकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३१ नाहमनन्तानुबन्धिलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३२ नाहमप्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३३ नाहं प्रत्याख्यानावरणीयलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३४ नाहं संज्वलनलोभकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३५ नाहं हास्यनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३६ नाहं रतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३७ नाहं अरतिनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३८ नाहं शोकनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ३९ नाहं भयनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४० नाहं जुगुप्सानोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४१ नाहं स्त्रीवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुञ्जे चैतन्यात्मानमात्मान-

---

कर्मफलचेतनासंन्यासभावनामुख्यत्वेनेति दशमस्थले गाथात्रयं गतम् ॥३८७।३८८-३८९॥ अथेदानीं व्यावहारिकजीवादिनवपदार्थेभ्यो भिन्नमपि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकपारमार्थिकपदार्थसंज्ञं गद्यपद्यादिविचित्ररचनारचितशास्त्रैः शब्दादिपञ्चेन्द्रियविषयप्रभृतिपरद्रव्यैश्च शून्यमपि रागादिविकल्पोपाधिरहितं सदानन्दैकलक्षणसुखामृतरसा-

---

कर्म के०, चैतन्य० ॥२३॥ मैं अनन्तानुबन्धी मानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२४॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२५॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीय मानकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२६॥ मैं संज्वलन मानकषाय वदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य०, ॥२७॥ मैं अनन्तानुबन्धी मायाकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥२८॥ मैं अप्रत्याख्यानावरणीय मायाकषाय वदनीय मोहनीय कर्म क०, चैतन्य० ॥२९॥ मैं प्रत्याख्यानावरणाय मायाकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३०॥ मैं संज्वलन मायाकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य०॥३१॥ मैं अनन्तानुबन्धी लोभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३२॥ मै अप्रत्याख्यानावरणीय लोभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३३॥ मैं प्रत्याख्यानावरणीय लोभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चतन्य० ॥३४॥ मे सज्वलन लाभकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३५॥ मैं हास्यनोकषाय वेदनाय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३६॥ मैं रतिनोकषाय वेदनीय मोहनीय कम के०, चैतन्य० ॥३७॥ मैं अरतिनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥३८॥ मैं शाकनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य०

मेव संचेतये ४२ नाहं पुंवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४३ नाहं नपुंसकवेदनोकषायवेदनीयमोहनीयकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४४ नाहं नरकायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४५ नाहं तिर्यगायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४६ नाहं मानुषायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४७ नाहं देवायुःकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४८ नाहं नरकगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ४९ नाहं तिर्यग्गतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५० नाहं मनुष्यगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५१ नाहं देवगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५२ नाहमेकेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५३ नाहं द्वीन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५४ नाहं त्रीन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५५ नाहं चतुरिन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५६ नाहं पञ्चेन्द्रियजातिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५७ नाहमौदारिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५८ नाहं वैक्रियिकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ५९ नाहमाहारकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६० नाहं तैजसशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव

स्वादेन भरितावस्थं परमात्मतत्त्वं प्रकाशयति;—न श्रुतं ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः।

॥३९॥ मैं भयनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४०॥ मैं जुगुप्सानोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४१॥ मैं स्त्रीवेदनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४२॥ मैं पुरुषवेदनोकषायवेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४३॥ मैं नपुंसकवेदनोकषाय वेदनीय मोहनीय कर्म के०, चैतन्य० ॥४४॥

मैं नरकायु कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥४५॥ मैं तिर्यंचायु कर्म के०, चैतन्य० ॥४६॥ मैं मनुष्यायु कर्म के०, चैतन्य० ॥४७॥ मैं देवायु कर्म के०, चैतन्य० ॥४८॥

मैं नरकगति नामकर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥४९॥ मैं तिर्यंचगतिनामकर्म के०, चैतन्य० ॥५०॥ मैं मनुष्यगतिनामकर्म के०, चैतन्य० ॥५१॥ मैं देवगति नाम कर्म के०, चैतन्य० ॥५२॥ मैं एकेन्द्रियजाति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५३॥ मैं द्वीन्द्रियजाति नाम कर्म के०, चैतन्य ॥५४॥ मैं त्रीन्द्रियजाति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५५॥ मैं चतुरिन्द्रिय जातिनाम कर्म के०, चैतन्य० ॥५६॥ मैं पञ्चेन्द्रियजाति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५७॥ मैं औदारिकशरीरनाम कर्म के०, चैतन्य ॥ ५८॥ मैं वैक्रियिकशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥५९॥ मैं आहारकशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६०॥ मैं तैजसशरीर नामकर्म के० चैतन्य० ॥६१॥ मैं

संचेतये ६१ नाहं कार्मणशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६२ नाहमौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६३ नाहं वैक्रियिकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६४ नाहमाहारकशरीराङ्गोपाङ्गनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६५ नाहमौदारिकशरीरबन्धननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६६ नाहं वैक्रियिकशरीरबन्धननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६७ नाहमाहारकशरीरबन्धननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६८ नाहं तैजसशरीरबन्धननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ६९ नाहं कार्मणशरीरबन्धननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७० नाहमौदारिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७१ नाहं वैक्रियिकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव सचेतये ७२ नाहमाहारकशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७३ नाहं तैजसशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७४ नाहं कार्मणशरीरसंघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७५ नाहं समचतुरस्रसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७६ नाहं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७७ नाहं स्वातिसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७८ नाहं कुब्जकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ७९ नाहं वामनसंस्थाननामकर्म-

---

न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गन्धो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगन्धयोर्व्यतिरेकः। न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः।

कार्मणशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६२॥ मैं औदारिकशरीरअङ्गोपाङ्ग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥६३॥ मैं वैक्रियिक शरीर अंगोपांग नामकर्म के, चैतन्य० ॥६४॥ मैं आहारकशरीरअंगोपांग नामकर्म के, चैतन्य० ॥६५॥ मैं औदारिकशरीर बन्धन नामकर्म के०, चैतन्य०॥६६॥ मैं वैक्रियिकशरीर बन्धननामकर्म के०, चैतन्य० ॥६७॥ मैं आहारकशरीरबन्धन नामकर्म के०, चैतन्य०, ॥६८॥ मैं तैजसशरीरबन्धन नामकर्म के०, चैतन्य०, ॥६९॥ मैं कार्मणशरीरबन्धन नामकर्म के०, चैतन्य०, ॥७०॥ मैं औदारिकशरीर संघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७१॥ मैं वैक्रियिकशरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७२॥ मैं आहारक शरीरसंघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७३॥ मैं तैजसशरीरसंघात नामकर्म के० चैतन्य० ॥७४॥ मैं कार्मणशरीरसंघात नामकर्म के० चैतन्य० ॥७५॥ मैं समचतुरस्रसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७६॥ मैं न्यग्रोधपरिमण्डलसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७७॥ मैं स्वातिसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७८॥ मैं कुब्जकसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥७९॥ मैं वामनसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८०॥ मैं हुण्डकसंस्थान नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८१॥ मैं

फलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८० नाहं हुण्डकसंस्थाननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८१ नाहं वज्रर्षभनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८२ नाहं वज्रनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८३ नाहं नाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८४ नाहमर्धनाराचसंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८५ नाहं कीलिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८६ नाहमसंप्राप्तासृपाटिकासंहनननामकर्मफलं भुंजे चैतन्यात्मानमात्मानमेव संचेतये ८७ नाहं स्निग्धस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ८८ नाहं रूक्षस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ८९ नाहं शीतस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९० नाहमुष्णस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९१ नाहं गुरुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९२ नाहं लघुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९३ नाहं मृदुस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९४ नाहं कर्कशस्पर्शनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९५ नाहं मधुररसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९६ नाहमाम्लरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९७ नाहं तिक्तरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९८ नाहं कटुकरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ९९ नाहं कषायरसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०० नाहं सुरभिगन्धनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०१ नाहमसुरभिगन्धनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०२ नाहं शुक्लवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०३ नाहं रक्तवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०४ नाहं पीत-

---

न कर्म ज्ञानं अचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः । न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः । नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः । न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः । नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः । नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसान-

---

वज्रर्षभनाराचसंहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८२॥ मैं वज्रनाराच सहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८३॥ मैं नाराचसंहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८४॥ मैं अर्धनाराच संहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८५॥ मैं कीलिकासंहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८६॥ मैं असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८७॥ मैं स्निग्धस्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८८॥ मैं रुक्षस्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥८९॥ मैं शीत स्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९०॥ मैं उष्णस्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९१॥ मैं गुरु स्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९२॥ मैं लघु स्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९३॥ मैं मृदु स्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९४॥ मैं कर्कश स्पर्श नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९५॥ मैं मधुररस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९६॥ मैं आम्लरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९७॥ मैं तिक्तरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९८॥ मैं कटुकरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥९९॥ मैं कषायरस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥ १०० ॥

मैं सुरभिगन्ध नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०१॥ मैं असुरभिगन्ध नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०२॥ मैं शुक्लवर्ण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥ १०३॥ मैं रक्तवर्ण नामकर्म के ०, चैतन्य० ॥१०४॥ मैं पीत

वर्णनामकर्मफलं भुञ्जे चैतन्या० १०५ नाहं हरितवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०६ नाहं कृष्णवर्णनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०७ नाहं नरकगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०८ नाहं तिर्यग्गत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १०९ नाहं मनुष्यगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११० नाहं देवगत्यानुपूर्वीनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १११ नाहं निर्माणनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११२ नाहमगुरुलघुनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११३ नाहमुपघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११४ नाहं परघातनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११५ नाहमातपनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११६ नाहमुद्योतनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११७ नाहमुच्छ्वासनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११८ नाहं प्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ११९ नाहमप्रशस्तविहायोगतिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२० नाहं साधारणशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२१ नाहं प्रत्येकशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२२ नाहं स्थावरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२३ नाहं त्रसनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२४ नाहं सुभगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२५ नाहं दुर्भगनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२६ नाहं सुस्वरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२७ नाहं दुःस्वरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२८ नाहं शुभनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १२९ नाहमशुभनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३० नाहं सूक्ष्मशरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३१ नाहं बादर-शरीरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३२ नाहं पर्याप्त-

---

योर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेकः निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः। न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात् ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शङ्कनीयः। एवं सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः ज्ञानमेवाङ्गपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ,

---

वर्ण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०५॥ मैं हरित वर्ण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०६॥ मैं कृष्ण वर्ण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०७॥ मैं नरकगत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०८॥ मैं तिर्यंचगत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१०९॥ मैं मनुष्यगत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११०॥ मैं देवगत्यानुपूर्वी नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१११॥ मैं निर्माण नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११२॥ मैं अगुरुलघु नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११३॥ मैं उपघातक नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११४॥ मैं परघात नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११५॥ मैं आतप नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११६॥ मैं उद्योत नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११७॥ मैं उच्छ्वास नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११८॥ मैं प्रशस्त विहायोगति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥११९॥ मैं अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२०॥ मैं साधारण शरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२१॥ मैं प्रत्येक शरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२२॥ मैं स्थावर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२३॥ मैं त्रस नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२४॥ मैं सुभग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२५॥ मैं दुर्भग नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२६॥ मैं सुस्वर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२७॥ मैं दुःस्वर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२८॥ मैं शुभ नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१२९॥ मैं अशुभ नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३०॥ मैं सूक्ष्मशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३१॥ मैं बादरशरीर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३२॥ मैं

नामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३३ नाहमपर्याप्तनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३४ नाहं स्थिरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३५ नाहमस्थिरनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३६ नाहमादेयनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३७ नाहमनादेयनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३८ नाहं यशःकीर्तिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १३९ नाहमयशः-कीर्तिनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४० नाहं तीर्थंकरत्वनामकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४१ नाहमुच्चैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४२ नाहं नीचैर्गोत्रकर्मफलं भुंजे चैत-न्या० १४३ नाहं दानान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४४ नाहं लाभान्तरायकर्म-फलं भुंजे चैतन्या० १४५ नाहं भोगान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४६ नाहमुप-भोगान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० १४७ नाहं वीर्यान्तरायकर्मफलं भुंजे चैतन्या० ॥१४८।३८७-३८९॥

ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण चातिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमय-मुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमापद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं

पर्याप्त नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३३॥ मैं अपर्याप्त नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३४॥ मैं स्थिर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३५॥ मैं अस्थिर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३६॥ मैं आदेय नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३७॥ मैं अनादेय नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३८॥ मैं यशःकीर्ति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१३९॥ मैं अयशःकीर्ति नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१४०॥ मैं तीर्थंकर नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१४१॥ मैं उच्चगोत्र कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१४२॥ मैं नीच गोत्र नामकर्म के०, चैतन्य० ॥१४३॥ मैं दानान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१४४॥ मैं लाभान्तराय कर्म के०, चैतन्य० ॥१४५॥ मैं भोगान्तराय कर्म के०, चैतन्य० ॥१४६॥ मैं उपभोगान्तराय कर्म के०, चैतन्य० ॥१४७॥ मैं वीर्यान्तराय कर्म के फल को नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्मा का ही संचेतन करता हूँ ॥१४८॥ (इस प्रकार ज्ञानी सकल कर्मों के फल के संन्यास की भावना करता है)।

यहां भावना का अर्थ वारम्वार चिन्तवन करके उपयोग का अभ्यास करना है। जब जीव सम्यग् दृष्टि—ज्ञानी होता है तब उसे ज्ञान—श्रद्धान तो हुआ ही है कि 'मैं शुद्धनय से समस्त कर्म और कर्म के फल से रहित हूँ? परन्तु पूर्ववद्ध कर्म उदय में आने पर उनसे होनेवाले भावों का कर्तृत्व छोड़कर, त्रिकाल सम्वन्धी ४९-४९ भङ्गों द्वारा कर्मचेतना के त्याग की भावना करके तथा समस्त कर्मों का फल भोगने के त्याग की भावना करके, एक चैतन्य स्वरूप आत्मा को ही भोगना शेष रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त अवस्था वाले जीव के ज्ञान श्रद्धान में निरन्तर यह भावना तो है ही; और जब जीव अप्रमत्त दशा को प्राप्त करके एकाग्रचित्त से ध्यान करे, केवल चैतन्य मात्र अवस्था में उपयोग लगाये और शुद्धोपयोग रूप हो, तब निश्चयचारित्र रूप शुद्धोपयोग भाव से श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त करता है। उस समय इस भावना का फल जो कर्मचेतना और कर्मफलचेतना से रहित साक्षात् ज्ञान-चेतना रूप परिणमन है सो होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त काल तक ज्ञानचेतना रूप ही रहता हुआ परमानन्द में मग्न रहता है।

निःशेषकर्मफलसंन्यसनान्ममैवं [1]सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्वं कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥२३१॥
यः पूर्वभावकृतकर्मविषद्रुमाणां भुङ्क्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं [2]निष्कर्मशर्ममयमेति दशान्तरं सः ॥२३२॥

कृत्वा समवाप्तसम्पूर्णविज्ञानघनभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धज्ञानमेकमेवावस्थितं द्रष्टव्यम् । "अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुतामादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् । मध्याद्य तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभास्वरः शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति" ॥१॥ उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् । यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य संधारणमात्मनीह ॥२॥ तपश्चरणं च यत् केन नयेन एतत्सर्वं ज्ञानं मन्यते ? इति चेत् मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायपर्यन्तस्वकीयस्वकीयगुणस्थानयोग्यशुभाशुभशुद्धोपयोगाविनाभूतविवक्षिताशुद्धनिश्चयनयेनाशुद्धोपादानरूपेणेति । ततः स्थितं शुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन शुद्धोपादानरूपेण जीवादिव्यावहारिकनवपदार्थेभ्यो भिन्नमादिमध्यान्त-

---

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—निःशेष इत्यादि । सकल कर्मों के फल का त्याग करके ज्ञान चेतना की भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि पूर्वोक्त प्रकार से सकल कर्मों के फल का संन्यास (त्याग) करने से मैं चैतन्यलक्षणवाले आत्मतत्त्व को ही अतिशयतया भोगता हूँ, और इसके सिवाय अन्य उपयोग की क्रिया तथा बाह्य की क्रिया उसमें प्रवृत्ति से रहित वर्तनेवाला अचल हूँ । सो मेरे यह काल की आवली प्रवाहरूप अनन्त है, वह आत्मतत्त्व के उपभोग में लगी रहे, उपयोग की प्रवृत्ति अन्य में मत जावे ।

भावार्थ—ऐसी भावना करनेवाला ज्ञानी ऐसा तृप्त हुआ है कि भावना करते हुए मानो साक्षात् केवली ही हुआ है । सो अनन्तकाल तक ऐसा ही रहना चाहता है । यह ठीक है; क्योंकि इसी भावना से केवली होता है । केवलज्ञान उत्पन्न होने का परमार्थ उपाय यही है, बाह्य व्यवहारचारित्र इसी का साधन रूप है । इसके बिना व्यवहारचारित्र शुभकर्म को बांधता है, मोक्ष का उपाय नहीं है ॥ २३१ ॥

अब पुनः काव्य कहते हैं—यः पूर्व इत्यादि । अर्थ—जो पुरुष पूर्व काल में अज्ञानभाव से किये कर्मरूप विषवृक्ष के उदय आये हुए फल को स्वामी होकर नहीं भोगता और निश्चय से अपने आत्मस्वरूप से ही तृप्त है, अन्य कुछ तृष्णा नहीं करता, वह पुरुष वर्तमानकाल में सुन्दर (रमण करने योग्य) तथा आगामी काल में जिनका फल सुन्दर (रमणे योग्य) ऐसे कर्मों से रहित स्वाधीन सुखमयी अन्य स्वरूप दशा को प्राप्त होता है, जो दशा संसार अवस्था में पहले कभी नहीं हुई थी ।

भावार्थ—ज्ञानचेतना की भावना का यह फल है । इसकी भावना से अत्यन्त तृप्ति रहती है, अन्य तृष्णा नहीं रहती । और आगामी काल में केवलज्ञान उपार्जन कर सब कर्मों से रहित मोक्ष अवस्था को प्राप्त होता है ॥ २३२ ॥

---

१. सर्वं यत्क्रियान्तरं शुद्धचेतनातिरिक्तविभावरूपं न तु विहरणं नाम शुद्धसंवित्तेः सत्त्वेन भवनं तस्मान्निवृत्ता वृत्तिर्ज्ञानचेतना यस्य तस्य तथाभूतस्येत्यर्थः । २. स्वर्गादिसुखं हि कर्मजन्यं मोक्षे तु तदभावात् अनाकुलत्वलक्षणशर्मसद्भावाच्च निष्कर्मशर्ममयत्वमिति ।

अत्यन्तं भावयित्वा विरतिमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसञ्चेतनां स्वां ।
सानन्दं नाटयन्तः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिबन्तु ॥२३३॥
इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद् विना कृतेरेकमनाकुलं ज्वलत् ।
समस्तवस्तुव्यतिरेकनिश्चयात् विवेचितं ज्ञानमिहावतिष्ठते ॥२३४॥

मुक्तमेकमखण्डप्रतिभासमयं निजनिरञ्जनसहजशुद्धपरमसमयसाराभिधानं सर्वप्रकारोपादेयभूतं शुद्धज्ञानस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वमेव श्रद्धेयं ज्ञेयं ध्यातव्यमिति। एवं व्यावहारिकनवपदार्थमध्ये भूतार्थनयेन शुद्धजीव एक एव वास्तवः स्थित इति व्याख्यानमुख्यत्वेन एकादशस्थले पञ्चदश गाथा गताः । किं च—मत्यादिसंज्ञानपञ्चकं पर्यायरूपं

अब उपदेश करते हैं कि ऐसे कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के त्याग की भावना से अज्ञान चेतना के अभाव को प्रगट नचाकर ज्ञानचेतना के स्वभाव को पूर्ण करके, उसको नचाते हुए ज्ञानी-जन सदाकाल आनद रूप रहें।

इसी अर्थ का कलशरूप काव्य है अत्यन्तं इत्यादि। अर्थ—ज्ञानीजन कर्म से तथा कर्म के फल से अत्यन्त विरक्त भावना को निरन्तर भाकर, और समस्त अज्ञानचेतना के नाश को अच्छी तरह नृत्य कराकर, अपने निज रस से प्राप्त स्वभावरूप ज्ञानचेतना को आनन्द के साथ जैसे हो उस तरह पूर्ण करके नृत्य कराते हुए यहां से आगे कर्म के अभावरूप आत्मीकरसरूप अमृत रस को सदाकाल पीवें। यह ज्ञानीजनों को प्रेरणा है।

भावार्थ—पहले तो तीन काल सम्बन्धी कर्म का कर्तृत्वरूप कर्मचेतना के ४९ भङ्गरूप त्याग की भावना कराई, फिर १४८ कर्मप्रकृतियों का उदयरूप कर्मफल के त्याग की भावना कराई। ऐसे अज्ञानचेतना का प्रलय कराके ज्ञानचेतना में प्रवर्तन का उपयोग किया है। यह ज्ञान-चेतना सदा आनन्दरूप अपने स्वभाव का अनुभवरूप है। उसको ज्ञानीजन सदा भोगो, यह श्री-गुरुओं का उपदेश है।

यह सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार है; इसलिये ज्ञान को कर्ता-भोक्तापने से भिन्न दिखलाया है ॥२३३॥

अब अन्य द्रव्य और अन्य द्रव्यों के भावों से ज्ञान को पृथक् दिखलाते हैं, उसकी सूचनिका का काव्य कहते हैं—**इतः पदार्थ** इत्यादि। **अर्थ**—यहां से आगे ज्ञान के अधिकार में सब वस्तुओं से भिन्नत्व के निश्चय से पृथक् किया गया ज्ञान निश्चल ठहरता है। पदार्थ के विस्तार को ज्ञेय-ज्ञान सम्बन्ध करके एकसा दिखलाने से हुई जो अनेक रूप कर्तृत्वभावरूप क्रिया, उसके बिना एक ज्ञान क्रियामात्र सब आकुलता से रहित देदीप्यमान हुआ ठहरता है।

भावार्थ—ज्ञान को सब वस्तुओं से पृथक् दिखलाते हैं ॥ २३४ ॥

सत्थं णाणं ण हवइ जम्हा सत्थं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सत्थं जिणा विंति ॥३९०॥
सद्दो णाणं ण हवइ जम्हा सद्दो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं सद्दं जिणा विंति ॥३९१॥
रूवं णाणं ण हवइ जम्हा रूवं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं रूवं जिणा विंति ॥३९२॥
वण्णो णाणं ण हवइ जम्हा वण्णो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं वण्णं जिणा विंति ॥३९३॥
गंधो णाणं ण हवइ जम्हा गंधो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं गंधं जिणा विंति ॥३९४॥
ण रसो दु हवदि णाणं जम्हा दु रसो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं रसं य अण्णं जिणा विंति ॥३९५॥
फासो ण हवइ णाणं जम्हा फासो याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं फासं जिणा विंति ॥३९६॥
कम्मं णाणं ण हवइ जम्हा कम्मं ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कम्मं जिणा विंति ॥३९७॥
धम्मो[1] णाणं ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं धम्मं जिणा विंति ॥३९८॥
णाणमधम्मो [2]ण हवइ जम्हा धम्मो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णमधम्मं जिणा विंति ॥३९९॥

तिष्ठति शुद्धपारिणामिकभावस्तु द्रव्यरूपः। जीवपदार्थो हि न च केवलं द्रव्यं, न च पर्यायः, किन्तु

यही गाथाओं में कहते हैं;—[शास्त्रं] शास्त्र [ज्ञानं न भवति] ज्ञान नहीं हैं [यस्मात्] क्योंकि [शास्त्रं किंचित् न जानाति] शास्त्र कुछ नहीं जानता, जड़ है [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्]

---

१. धम्मच्छिओ ण णाणं पाठः तात्पर्यवृत्तौ । २. ण हवदि णाणमधम्मच्छिओ, तात्पर्यवृत्तौ ।

कालो णाणं ण हवइ जम्हा कालो ण याणए किंचि ।
तम्हा अण्णं णाणं अण्णं कालं जिणा विंति ॥४००॥
आयासंपि ण णाणं जम्हायासं ण याणए किंचि ।
तम्हायासं अण्णं अण्णं णाणं जिणा विंति ॥४०१॥
णज्झवसाणं[1] णाणं अज्झवसाणं अचेदणं जम्हा ।
तम्हा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णा ॥४०२॥
जम्हा जाणइ णिच्चं तम्हा जीवो दु जाणओ णाणी ।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४०३॥
णाणं सम्मादिट्ठि दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं ।
धम्माधम्मं च तहा पव्वज्ज अब्भुवंति बुहा ॥४०४॥(पञ्चदशकम्)

शास्त्रं ज्ञानं न भवति यस्माच्छास्त्रं न जानाति किञ्चित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यच्छास्त्रं जिना विदन्ति ॥३९०॥
शब्दो ज्ञानं न भवति यस्माच्छब्दो न जानाति किञ्चित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं शब्दं जिना विदन्ति ॥३९१॥
रूपं ज्ञानं न भवति यस्माद्रूपं न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यद्रूपं जिना विदन्ति ॥३९२॥

परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायधर्माधारभूतो धर्मी । तत्रेदानीं केन ज्ञानेन मोक्षो भवतीति विचार्यते—केवलज्ञानं तावत्फलभूतमग्रे भविष्यति । अवधिमनःपर्ययज्ञानद्वयं च 'रूपिष्ववधेः' । 'तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य' इति वचनात् मूर्तविषयत्वादेव मूर्तः मोक्षकारणं न भवति ततः सामर्थ्यादेव बहिर्विषयमतिज्ञानश्रुतज्ञानविकल्प-

---

ज्ञान अन्य है [शास्त्रं अन्यत्] शास्त्र अन्य है, ऐसे [जिना विदंति] जिन भगवान् कहते हैं। [शब्दः ज्ञानं न भवति] शब्द ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [शब्दः किंचित् न जानाति] शब्द कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [शब्दं अन्यं] शब्द अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते हैं [रूपं ज्ञानं न भवति] रूप ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [रूपं किंचित् न जानाति] रूप कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिये [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [रूपं अन्यत्] रूप अन्य है ऐसा [जिना विदंति] जिनदेव कहते हैं। [वर्णः ज्ञानं न भवति] वर्ण ज्ञान नहीं है

१. अज्झवसाणं णाणं णहवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं इति तात्पर्यवृत्तौ पाठः ।

वर्णो ज्ञानं न भवति यस्माद्वर्णो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं वर्णं जिना विदन्ति ॥३९३॥
गन्धो ज्ञानं न भवति यस्माद्गन्धो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं गन्धं जिना विदन्ति ॥३९४॥
न रसस्तु भवति ज्ञानं यस्मात्तु रसो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानं रसं चान्यं जिना विदन्ति ॥३९५॥
स्पर्शो न भवति ज्ञानं यस्मात्स्पर्शो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं स्पर्शं जिना विदन्ति ॥३९६॥

रहितत्वेन स्वशुद्धात्माभिमुखपरिच्छित्तिलक्षणं निश्चयनिर्विकल्पभावरूपमानसमतिज्ञान श्रुतज्ञानसंज्ञंपञ्चेन्द्रियाविषयत्वेनातीन्द्रियं शुद्धपारिणामिकभावविषये तु या भावना तद्रूपं निर्विकारस्वसंवेदनशब्दवाच्यं संसारिणां

[यस्मात्] क्योंकि [वर्णं किञ्चित् न जानाति] वर्ण कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [वर्णः अन्यः] वर्ण अन्य है [जिना विदन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं [गन्धः ज्ञानं न भवति] गन्ध ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [गन्धः किञ्चित् न जानाति] गन्ध कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [गन्धः अन्यं] गन्ध अन्य है ऐसा [जिना विदन्ति] जिनदेव कहते हैं। [रसः तु ज्ञानं न भवति] और रस ज्ञान नहीं है [यस्मात्तु] क्योंकि [रसः किञ्चित् न जानाति] रस कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [रसं च अन्यं] रस अन्य है ऐसा [जिना विदन्ति] जिनदेव कहते हैं [स्पर्शः ज्ञानं न भवति] स्पर्श ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [स्पर्शः] स्पर्श [किञ्चित् न जानाति] कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [स्पर्शं अन्यं] स्पर्श अन्य है ऐसा [जिना विदन्ति] जिनदेव कहते हैं। [कर्म ज्ञानं न भवति] कर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कर्म किञ्चित् न जानाति] कर्म कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [कर्म अन्यत्] कर्म अन्य है [जिना विदन्ति] ऐसा जिनदेव कहते हैं [धर्मः ज्ञानं न भवति] धर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [धर्मः किञ्चित् न जानाति] धर्म कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [धर्म अन्यं] धर्म अन्य है ऐसा [जिना विदन्ति] जिनदेव कहते हैं [अधर्मः ज्ञानं न भवति] अधर्म ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अधर्मः किञ्चित् न जानाति] अधर्म कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [अधर्मं अन्यं] अधर्म अन्य है ऐसा [जिना विदन्ति] जिनदेव कहते हैं [कालः ज्ञानं न भवति] काल ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [कालः किञ्चित् न जानाति] काल कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए

कर्म ज्ञानं न भवति यस्मात्कर्म न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यत्कर्म जिना विदन्ति ॥३९७॥
धर्मो ज्ञानं न भवति यस्माद्धर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यं धर्मं जिना विदन्ति ॥३९८॥
ज्ञानमधर्मो न भवति यस्मादधर्मो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमन्यमधर्मं जिना विदन्ति ॥३९९॥
कालो ज्ञानं न भवति यस्मात्कालो न जानाति किंचित् ।
तस्मादन्यद् ज्ञानमन्यं कालं जिना विदन्ति ॥४००॥
आकाशमपि न ज्ञानं यस्मादाकाशं न जानाति किंचित् ।
तस्मादाकाशमन्यदन्यज्ज्ञानं जिना विदन्ति ॥४०१॥
नाध्यवसानं ज्ञानमध्यवसानमचेतनं यस्मात् ।
तस्मादन्यज्ज्ञानमध्यवसानं तथान्यत् ॥४०२॥
यस्माज्जानाति नित्यं तस्माज्जीवस्तु ज्ञायको ज्ञानी ।
ज्ञानं च ज्ञायकादव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यम् ॥४०३॥
ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं तु संयमं सूत्रमंगपूर्वगतम् ।
धर्माधर्मं च तथा प्रव्रज्यामभ्युपयान्ति बुधाः ॥४०४॥

क्षायिकज्ञानाभावात् क्षायोपशमिकमपि विशिष्टभेदज्ञानं मुक्तिकारणं भवति । कस्मात् ? इति चेत् समस्त-

---

[ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [कालं अन्यं] काल अन्य है ऐसा [जिना विदन्ति] जिनदेव कहते हैं [आकाशं अपि ज्ञानं न] आकाश भी ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आकाशं किञ्चित् न जानाति] आकाश कुछ नहीं जानता [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [आकाशं अन्यत्] आकाश अन्य है ऐसा [जिना विदन्ति] जिनदेव ने कहा है। [तथा] उसी प्रकार [अध्यवसानं ज्ञानं न] अध्यवसान ज्ञान नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [अध्यवसानं] अध्यवसान [अचेतनं] अचेतन है [तस्मात्] इसलिए [ज्ञानं अन्यत्] ज्ञान अन्य है [अध्यवसानं अन्यत्] अध्यवसान अन्य है ऐसा जिनदेव कहते हैं। [तस्मात् तु] इसलिए [जीवः] जीव [ज्ञायकः ज्ञानी] ज्ञायक है, वही ज्ञानी है [यस्मात्] क्योंकि [नित्यं जानाति] निरन्तर जानता है [च] और [ज्ञानं] ज्ञान [ज्ञायकात् अव्यतिरिक्तं ज्ञातव्यं] ज्ञायक से अभिन्न है ऐसा जानना चाहिए [तु] और [ज्ञानं सम्यग्दृष्टिं] ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है [संयमं] संयम है [अङ्गपूर्वगतं सूत्रं] अङ्गपूर्वगत सूत्र है [च धर्माधर्मं] और धर्म अधर्म है [तथा] तथा। [प्रव्रज्यां] दीक्षा भी ज्ञान है [बुधाः अभ्युपयान्ति] ऐसा ज्ञानीजन अङ्गीकार करते [मानते] हैं।

न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेकः। न शब्दो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानशब्दयोर्व्यतिरेकः। न रूपं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरूपयोर्व्यतिरेकः। न वर्णो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानवर्णयोर्व्यतिरेकः। न गन्धो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानगन्धयोर्व्यतिरेकः। न रसो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानरसयोर्व्यतिरेकः। न स्पर्शो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानस्पर्शयोर्व्यतिरेकः। न कर्म ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकर्मणोर्व्यतिरेकः। न धर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानधर्मयोर्व्यतिरेकः। नाधर्मो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाधर्मयोर्व्यतिरेकः। न कालो ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानकालयोर्व्यतिरेकः। नाकाशं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाकाशयोर्व्यतिरेकः। नाध्यवसानं ज्ञानमचेतनत्वात् ततो ज्ञानाध्यवसानयोर्व्यतिरेकः। इत्येवं ज्ञानस्य सर्वैरेव परद्रव्यैः सह व्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः। अथ जीव एवैको ज्ञानं चेतनत्वात् ततो ज्ञानजीवयोरेवाव्यतिरेकः, न च जीवस्य स्वयं ज्ञानत्वात्ततो व्यतिरेकः कश्चनापि शङ्कनीयः। एवं तु सति ज्ञानमेव सम्यग्दृष्टिः, ज्ञानमेव संयमः, ज्ञानमेवाङ्गपूर्वरूपं सूत्रं, ज्ञानमेव धर्माधर्मौ, ज्ञानमेव प्रव्रज्येति ज्ञानस्य जीवपर्यायैरपि

मिथ्यात्वरागादिविकल्पोपाधिरहितस्वशुद्धात्मभावनोत्थपरमाह्लादैकलक्षणसुखामृतरसास्वादैकाकारपरमसमरसीभावपरिणामेन कार्यभूतस्यानन्तज्ञानसुखादिरूपस्य मोक्षफलस्य विवक्षितैकशुद्धनिश्चयनयेन शुद्धोपादानकारणत्वादिति। तथा चोक्तं "भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन। तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन"। ॥३९०—४०४॥ अतः परमेवं सति शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मतत्त्वस्य देह एव नास्ति कथमाहारो भविष्यतीत्युपदिशति;—अत्ता जस्स अमुत्तो आत्मा यस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेण मूर्तो न भवति ण हु सो

टीका—वचनात्मक द्रव्य श्रुतज्ञान नहीं है क्योंकि वचन अचेतन है इसलिए ज्ञान का और श्रुत का भेद है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द पुद्गल द्रव्य की पर्याय है, अचेतन है; इसलिए ज्ञान का और शब्द का भेद है। रूप ज्ञान नहीं है क्योंकि रूप पुद्गल का गुण है, अचेतन है, इसलिए रूप का और ज्ञान का भेद है। वर्ण ज्ञान नहीं है क्योंकि वर्ण पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिए वर्ण का और ज्ञान का भेद है। गन्ध ज्ञान नहीं है क्योंकि गन्ध पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिए गन्ध का और ज्ञान का भेद है। रस ज्ञान नहीं है क्योंकि रस पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिए रस का और ज्ञान का परस्पर भेद है। स्पर्श ज्ञान नहीं है क्योंकि स्पर्श पुद्गलद्रव्य का गुण है, अचेतन है, इसलिए स्पर्श का और ज्ञान का भेद है। कर्म ज्ञान नहीं है क्योंकि कर्म अचेतन है, इसलिए कर्म का और ज्ञान का भेद है। धर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि धर्म अचेतन है इसलिए धर्मद्रव्य का और ज्ञान का भेद है। अधर्मद्रव्य ज्ञान नहीं है क्योंकि अधर्मद्रव्य अचेतन है इसलिए अधर्मद्रव्य का और ज्ञान का भेद है। कालद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि काल अचेतन है इसलिए काल का और ज्ञान का भेद है। आकाशद्रव्य ज्ञान नहीं है, क्योंकि आकाश अचेतन है इसलिए ज्ञान का और आकाश का भेद है। अध्यवसान ज्ञान नहीं है, क्योंकि अध्यवसान अचेतन है, इसलिए ज्ञान का और कर्म के उदय की प्रवृत्ति रूप अध्यवसान

सहाव्यतिरेको निश्चयसाधितो द्रष्टव्यः । अथैवं सर्वपरद्रव्यव्यतिरेकेण सर्वदर्शनादिजीवस्वभावाव्यतिरेकेण वा अतिव्याप्तिमव्याप्तिं च परिहरमाणमनादिविभ्रममूलं धर्माधर्मरूपं परसमयमुद्वम्य स्वयमेव प्रव्रज्यारूपमाषद्य दर्शनज्ञानचारित्रस्थितिस्वरूपं स्वसमयमवाप्य मोक्षमार्गमात्मन्येव परिणतं कृत्वा समवाप्तसम्पूर्णविज्ञानघनभावं हानोपादानशून्यं साक्षात्समयसारभूतं परमार्थरूपं शुद्धं ज्ञानमेकमेव स्थितं द्रष्टव्यम् ॥३९०-४०४॥

आहारगो हवदि एवं स एवममूर्तत्वे सति हु स्फुट तस्य शुद्धनयस्याभिप्रायेणाहारको न भवति । आहारो खलु मुत्तो आहारः । कथंभूतः ? खलु स्फुटं मूर्तः जम्हा सो पुग्गलमओ दु यस्मात् स नोकर्माद्याहारः पुद्गलमयः । सो कोवि य तस्स गुणो स कोपि तस्य गुणोऽस्त्यात्मनः । कथं ? पाउग्गिय विस्ससो वापि प्रायोगिको

का भेद है । इस प्रकार ज्ञान का सब परद्रव्यों के साथ-साथ भिन्न होने का निश्चय साधित देखना चाहिए ।

अब कहते हैं कि जीव ही एक ज्ञान है; क्योंकि जीव चेतन है; इसलिए ज्ञान का और जीव का अभेद है । जीव के अपने आप ज्ञानपना है, ज्ञान जीव का भेद कुछ भी शङ्कारूप नहीं करना । ऐसा होने पर ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है, ज्ञान ही संयम है, ज्ञान ही अङ्गपूर्वगत सूत्र है । तथा धर्म अधर्म भी ज्ञान ही है और ज्ञान ही दीक्षा है और ज्ञान ही निश्चयचारित्र है । इस तरह जीव का पर्यायों के साथ भी अभेद का निश्चय साधित देखना ।

अब कहते हैं कि इस प्रकार सब परद्रव्यों के साथ तो व्यतिरेक (भेद) के द्वारा तथा सब दर्शनादि जीवस्वभावों के साथ अभेद के द्वारा अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष को दूर करता हुआ, अनादिकाल से जिसका मूलकारण अविद्या है ऐसे पुण्य पाप जो शुभ अशुभ रूप पर-समय उसको दूर करके, आप निश्चयचारित्ररूप दीक्षा को पाकर, दर्शनज्ञानचारित्र में स्थिति-रूप जो स्वसमय उसको व्यापकर आत्मा में ही मोक्षमार्ग के परिणाम कर जिसने सम्पूर्ण विज्ञानघनस्वभाव पा लिया है ऐसा, त्याग ग्रहण से रहित साक्षात् समयसारभूत परमार्थरूप शुद्ध एक ज्ञान ही अवस्थित हुआ देखना अर्थात् प्रत्यक्ष स्वसंवेदन अनुभव करना ।

भावार्थ—सब परद्रव्यों से तो जुदा और अपने पर्यायों से अभेदरूप ऐसा एक ज्ञान दिखलाया । इसलिए अतिव्याप्ति और अव्याप्ति नाम वाले लक्षण के दोष दूर हो गये । क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग है, उपयोग में ज्ञान प्रधान है, वह अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है; इस कारण अतिव्याप्ति स्वरूप नहीं है । और अपनी सब अवस्थाओं में है, इसलिए अव्याप्ति स्वरूप नहीं है । यहां पर ज्ञान कहने से आत्मा ही जानना, क्योंकि अभेदविवक्षा में गुण और गुणी का आपस में अभेद है; इसलिए विरोध नहीं । यहां ज्ञान को ही प्रधान कर आत्मा का अधिकार है इसी लक्षण से सब परद्रव्यों से भिन्न अनुभवगोचर होता है । यद्यपि आत्मा में अनन्त धर्म हैं तो भी उनमें कोई तो छद्मस्थ के अनुभवगोचर ही नहीं कि उनको कहे । छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को नहीं पहचान सकता । कोई धर्म अनुभवगोचर हैं उनमें कोई अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्वादिक हैं वे अन्य द्रव्यों से साधारण (समान) हैं उनके कहने से पृथक् आत्मा

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत्पृथग्वस्तुता-
मादानोज्झनशून्यमेतदमलं ज्ञानं तथावस्थितम् ।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति ।।२३५।।

वैस्रसिकश्चेति । प्रायोगिकः कर्मसंयोगजनितः । वैस्रसिकः स्वभावजः येन गुणेन किं करोति ? णवि सक्कदि घित्तुं जे ण मुञ्चिदुं चेव जं परं दव्वं परद्रव्यमाहारादिकं गृहीतुं मोक्तुं च न शक्नोति । अहो हे भगवन् ?

नहीं जाना जाता । कोई परद्रव्य के निमित्त से हुए हैं, उनको कहने से परमार्थ आत्मा का शुद्ध-स्वरूप कैसे जाना जाय ? इसलिये ज्ञान ही कहने से छद्मस्थ ज्ञानी आत्मा को पहचान सकता है । इसलिये ज्ञान को ही आत्मा कहकर इस ज्ञान में अनादि अज्ञान से शुभाशुभ उपयोगरूप परसमय की प्रवृत्ति को दूर करके, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में प्रवृत्तिरूप स्वसमयरूप परिणमनस्वरूप मोक्षमार्ग में आत्मा को परिणमा के सम्पूर्ण ज्ञान को जब प्राप्त होता है, तब फिर त्याग ग्रहण के लिये कुछ नहीं रहता । ऐसा साक्षात् समयसारस्वरूप पूर्ण ज्ञान परमार्थभूत शुद्ध ठहरे उसको देखना । वहां पर देखना भी तीन प्रकार जानना । एक तो शुद्धनय के ज्ञानद्वारा इसका श्रद्धान करना । यह तो अविरत आदि अवस्था में भी मिथ्यात्व के अभाव से होता है । दूसरा ज्ञान श्रद्धान हुए बाद बाह्य सब परिग्रह का त्यागकर इसका अभ्यास करना । उपयोग को ज्ञान में ही ठह-राना । जैसा शुद्धनय से अपने स्वरूप को सिद्ध समान जानकर श्रद्धान किया, वैसा ही ध्यान में लेकर एकाग्र चित्त को ठहराना, बार बार इसी का अभ्यास करना । किन्तु यह देखना तो अप्रमत्त-दशा में होता है । इसलिए जहाँ तक ऐसे अभ्यास से केवलज्ञान प्राप्त हो वहां तक यह अभ्यास निरन्तर करना । यह देखना दूसरा प्रकार है । यहां तक तो पूर्ण ज्ञान का शुद्धनय के आश्रय से परोक्ष देखना है और तीसरा केवलज्ञान प्राप्त हो तब साक्षात् देखना होता है । उस समय सब विभावों से रहित हुआ सबको देखने जानने वाला ज्ञान होता है । यह पूर्ण ज्ञान का प्रत्यक्ष देखना है । ज्ञान है वही आत्मा है । अभेदविवक्षा में ज्ञान कहो या आत्मा कहो कुछ विरोध नहीं जानना ।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—अन्येभ्यो इत्यादि । अर्थ—यह ज्ञान उस तरह अवस्थित हुआ है जैसे इसकी महिमा निरन्तर उदित रहे, प्रतिपक्षी कर्म न रहे । अन्य परद्रव्यों से भिन्न अवस्थित हुआ है, अपने में ही निश्चत है, पृथक् वस्तुत्व धारण करता हुआ अर्थात् वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक है सो ज्ञान ने भी सामान्यविशेषात्मकपने को धारण कर रखा है, ग्रहण त्याग से रहित है, रागादिक मलसे रहित है । और इसकी महिमा नित्य उदय रूप ठहर रही है । मध्य आदि अन्त जो भेद उनसे रहित स्वाभाविक विस्तार रूप हुए प्रकाश कर देदीप्यमान है और शुद्ध ज्ञान का समूह है । ऐसी जिसकी महिमा सदा उदयमान है, उस तरह ठहरा हुआ है ।

भावार्थ—ज्ञान का पूर्णरूप सबको जानना है । सो जब यह प्रकट होता है तब उन विशे-

उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्तथात्तमादेयमशेषतस्तत् ।
यदात्मनः संहृतसर्वशक्तेः पूर्णस्य सन्धारणमात्मनीह ॥२३६॥
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं ज्ञानमवस्थितम् ।
कथमाहारकं तत्स्याद्येन देहोऽस्य शङ्क्यते ॥२३७॥

अत्ता जस्सामुत्तो ण हु सो आहारओ हवइ एवं ।
आहारो खलु मुत्तो जम्हा सो पुग्गलमओ उ ॥४०५॥
णवि सक्कइ घित्तुं जं ण[1] विमोत्तुं जं य जं परद्दव्वं ।
सो कोवि य तस्स गुणो पाउगिओ विस्ससो वावि ॥४०६॥
तम्हा उ जो विसुद्धो चेया सो णेव गिण्हए किंचि ।
णेव विमुंचइ किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं ॥४०७॥(त्रिकलम्)

कर्मजनितप्रायोगिकगुणेन आहारं गृह्णन्तस्ते च कथमनाहारका भवन्ति इति । हे शिष्य ! भद्रमुक्तं त्वया परं किन्तु निश्चयेन तन्मयो न भवति स व्यवहारनयः । इदं तु निश्चयव्याख्यानमिति । **तम्हा दु जो विशुद्धो चेदा** यस्मान्निश्चयनयेनानाहारकः तस्मात्कारणात् यस्तु विशेषेण शुद्धो रागादिरहितश्चेतयितात्मा **सो णेव गिह्लदे किंचि णेव विमुञ्चदि किंचिवि जीवाजीवाण दव्वाणं** कर्माहार-नोकर्माहार-कवलाहार-लेप्याहार-ओजआहारमानसाहाररूपेण जीवाजीवद्रव्याणां मध्ये सचित्ताचित्ताहारं नैव किञ्चिद् गृह्णाति न मुञ्चति । ततः कारणान्नोकर्माहारमयं शरीरं जीवस्वरूपं न भवति । शरीराभावे शरीरमयद्रव्यलिङ्गमपि जीवस्वरूपं न भवति इति ।

षणों के साथ प्रकट होता है। इसकी महिमा कोई नहीं बिगाड़ सकता, सदा उदयमान रहती है ॥ २३५ ॥

अब इसी अर्थ को काव्य से कहते हैं कि ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का धारण करना यही कृतकृत्यपना है—**उन्मुक्त** इत्यादि। **अर्थ**—जिसने सब शक्तियां समेट ली हैं, ऐसे पूर्णस्वरूप आत्मा का आत्मा में ही धारण करना। जो छोड़ने योग्य था सो छोड़ा और जो ग्रहण करने योग्य था सो सब ग्रहण कर लिया।

भावार्थ—पूर्णज्ञानस्वरूप सब शक्तियों का समूहस्वरूप आत्मा को धारण करना। त्यागने योग्य सभी त्याग किया और जो ग्रहण करने योग्य था वह ग्रहण किया। यही कृतकृत्यपना है ॥ २३६ ॥

आगे कहते हैं कि ऐसे ज्ञान के देह भी नहीं है उसकी सूचना का श्लोक है—**व्यतिरिक्तं** इत्यादि। **अर्थ**—ज्ञान पूर्वोक्त प्रकार परद्रव्य से पृथक् ठहरा। ऐसा ज्ञान कर्म-नोकर्मरूप आहार करनेवाला आहारक कैसे हो सकता है? और जब आहारक नहीं है तो इसके देह की शङ्का नहीं करना ॥२३७ ॥

---

१. ण मुंचदे चेव जं परं दव्वं, पाठोयं तात्पर्यवृत्तौ ।

आत्मा यस्यामूर्तो न खलु स आहारको भवत्येवम् ।
आहारः खलु मूर्तो यस्मात्स पुद्गलमयस्तु ॥४०५॥
नापि शक्यते गृहीतुं यन्न विमोक्तुं यच्च यत्परं द्रव्यम् ।
स कोऽपि च तस्य गुणो प्रायोगिको वैस्रसो वापि ॥४०६॥
तस्मात्तु यो विशुद्धश्चेतयिता स नैव गृह्णाति किंचित् ।
नैव विमुञ्चति किंचिदपि जीवाजीवयोर्द्रव्ययोः ॥४०७॥

ज्ञानं हि परद्रव्यं किञ्चिदपि न गृह्णाति न मुञ्चति प्रायोगिकगुणसामर्थ्यात् वैस्रसिकगुणसामर्थ्याद्वा ज्ञानेन परद्रव्यस्य गृहीतुं मोक्तुं चाशक्यत्वात् । परद्रव्यं च न ज्ञानस्या मूर्तात्मद्रव्यस्य मूर्तपुद्गलद्रव्यत्वादाहारः ततो ज्ञानं नाहारकं भवत्यतो ज्ञानस्य देहो न शङ्कनीयः ॥४०५।४०६।४०७॥

एवं निश्चयेन जीवस्याहारो नास्ति, इति व्याख्यानमुख्यत्वेन द्वादशस्थले गाथात्रयं गतम् ॥४०५।४०६।४०७॥ अथैवं विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावस्य परमात्मनो नोकर्माहाराद्यभावे सत्याहारमयदेहो नास्ति । देहाभावे देहमयं द्रव्यलिङ्गं निश्चयेन मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादयति;—पाखण्डिलिङ्गानि गृहस्थलिङ्गानि च बहु-

---

अब इस अर्थ को गाथा में कहते हैं;—[एवं] इस प्रकार [यस्य आत्मा अमूर्तः] जिसका आत्मा अमूर्तिक है [स खलु] वह निश्चय से [आहारकः न भवति] आहारक नहीं है [यस्मात्] क्योंकि [आहार खलु मूर्तः] आहार मूर्तिक है [स तु पुद्गलमयः] वह तो पुद्गलमय है । [यत् परद्रव्यं] जो परद्रव्य है [यत् गृहीतुं च विमोक्तुं नापि शक्यते] वह ग्रहण भी नहीं किया जा सकता और छोड़ा भी नहीं जा सकता [स कोपि च तस्य गुणः] वह कोई ऐसा ही आत्मा का गुण [प्रायोगिकः वापि वैस्रसः] प्रायोगिक तथा वैस्रसिक है । [तस्मात्तु] इसलिये [यः विशुद्धः चेतयिता] जो विशुद्ध आत्मा है [सः] वह [जीवाजीवयोः द्रव्ययोः] जीव अजीव परद्रव्य में से [किंचित् नैव गृह्णाति] किसी को भी न तो ग्रहण ही करता है [अपि किञ्चित् नैव विमुञ्चति] और न किसी को छोड़ता है ।

टीका—यहां आत्मा कहने से ज्ञान का ग्रहण है, क्योंकि अभेद विवक्षा से लक्षण में ही लक्ष्य का व्यवहार है । इस न्याय से आत्मा को ज्ञान ही कहा जाता है । इसलिये टीकाकार कहते हैं कि ज्ञान परद्रव्य को किञ्चित् मात्र भी ग्रहण नहीं करता और न छोड़ता है; क्योंकि प्रायोगिक अर्थात् परनिमित्त से उत्पन्न हुआ जो गुण, उसकी सामर्थ्य से तथा वैस्रसिक (स्वाभाविक) गुण की सामर्थ्य से दोनों तरह से ज्ञान के द्वारा परद्रव्य के ग्रहण करने का और छोड़ने का असमर्थपना है । अमूर्तिक आत्मद्रव्य जो ज्ञान उसके मूर्तिक पुद्गलद्रव्य आहार नहीं है, क्योंकि अमूर्तिक के मूर्तिक आहार नहीं होता । इसलिये ज्ञान आहारक नहीं है । इस कारण ज्ञान में देह की शङ्का न करना ।

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप आत्मा अमूर्तिक है और कर्मनोकर्मरूप पुद्गलमय आहार मूर्तिक

एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य देह एव न विद्यते ।
ततो देहमयं ज्ञातुर्न लिङ्गं मोक्षकारणम् ॥२३८॥

पाखंडीलिंगाणि व गिहिलिंगाणि व बहुप्पयाराणि ।
घित्तुं वदंति मूढा लिंगमिणं मोक्खमग्गोत्ति ॥४०८॥
ण उ होदि मोक्खमग्गो लिंगं जं देहणिम्ममा अरिहा ।
लिंगं मुइत्तु दंसणणाणचरित्ताणि सेयंति ॥४०९॥

पाषण्डिलिङ्गानि वा गृहिलिङ्गानि वा बहुप्रकाराणि ।
गृहीत्वा वदन्ति मूढा लिङ्गमिदं मोक्षमार्ग इति ॥४०८॥
न तु भवति मोक्षमार्गो लिङ्गं यद्देहनिर्म्ममा[1] अर्हन्तः ।
लिङ्गं मुक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते ॥४०९॥

केचिद्द्रव्यलिङ्गमज्ञानेन मोक्षमार्गं मन्यमानाः सन्तो मोहेन द्रव्यलिङ्गमेवोपाददते ।

प्रकाराणि गृहीत्वा वदन्ति मूढाः । किं वदन्ति ? इदं द्रव्यमयलिङ्गमेव मुक्तिकारणं । कथंभूताः सन्तः ? रागादिविकल्पोपाधिरहितं परमसमाधिरूपं भावलिङ्गमजानन्तः ण य होदि मोक्खमग्गो लिंगं भावलिङ्गरहितं

है; इसलिये परमार्थ से आत्मा के पुद्गलमय आहार नहीं है । आत्मा का ऐसा ही स्वभाव है । इस कारण परद्रव्य को तो ग्रहण ही नहीं करता । स्वभावरूप परिणमन करे तथा विभावरूप परिणमन करे, अपने ही परिणाम का ग्रहण त्याग है, परद्रव्य का ग्रहण त्याग कुछ भी नहीं है । इसलिये आत्मा के पुद्गलमयदेहस्वरूप लिङ्ग (वेष—बाह्यचिह्न) मोक्ष के कारण नहीं ॥ ४०५।४०६-४०७ ॥

उसकी सूचना का श्लोक कहते हैं—एवं ज्ञानस्य इत्यादि । अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से शुद्धज्ञान के देह ही विद्यमान नहीं है इसलिये ज्ञाता के देहमय चिह्न (भेष) मोक्ष का कारण नहीं है ॥ २३८ ॥

अब इस अर्थ को गाथाओं से कहते हैं—[पाखण्डिलिङ्गानि] पाखण्डिलिङ्ग [वा] अथवा [गृहिलिङ्गानि] गृहिलिङ्ग ऐसे [बहुप्रकाराणि] बहुत प्रकार के बाह्यलिङ्ग हैं उनको [गृहीत्वा] धारण करके [मूढा इति वदन्ति] अज्ञानी जन ऐसा कहते हैं कि [इदं लिङ्गं] यह लिङ्ग ही [मोक्षमार्गः] मोक्ष का मार्ग है । आचार्य कहते हैं कि [लिङ्गं मोक्षमार्गः न तु भवति] लिङ्ग मोक्ष का मार्ग नहीं है [यत्] क्योंकि [अर्हन्तः] अर्हन्त देव भी [देहनिर्ममाः] देह से निर्ममत्व हुए [लिङ्गं मुक्त्वा] लिङ्ग को छोड़कर [दर्शनज्ञानचारित्राणि सेवन्ते] दर्शनज्ञानचारित्र को ही सेवन करते हैं ।

टीका—कितने ही लोग अज्ञान से द्रव्यलिङ्ग को ही मोक्षमार्ग मानते हुए मोह से द्रव्यलिङ्ग को ही अंगीकार करते हैं । इस द्रव्यलिङ्ग को मोक्ष मार्ग मानना अयुक्त है; क्योंकि सभी अरहंत देवों

१. निर्ममा इत्यपि पाठः ।

तदप्यनुपपन्नं सर्वेषामेव भगवतामर्हद्देवानां शुद्धज्ञानमयत्वे सति द्रव्यलिङ्गाश्रयभूतशरीरममकारत्यागात् । तदाश्रितद्रव्यलिङ्गत्यागेन दर्शनज्ञानचारित्राणां मोक्षमार्गत्वेनोपासनस्य दर्शनात् ॥४०८।४०९॥

अथैतदेव साधयति—

ण वि एस मोक्खमग्गो पाखंडीगिहिमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४१०॥

नाप्येष मोक्षमार्गः पाखण्डिगृहिमयानि लिङ्गानि ।
दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्गं जिना विदन्ति ॥४१०॥

न खलु द्रव्यलिङ्गं मोक्षमार्गः शरीराश्रितत्वे सति परद्रव्यत्वात् । तस्माद्दर्शनज्ञानचारित्राण्येव मोक्षमार्गः, आत्माश्रितत्वे सति स्वद्रव्यत्वात् ॥४१०॥

द्रव्यलिङ्गं केवलं मोक्षमार्गो न भवति । कस्मात् ? इति चेत्—जं यस्मात्कारणात् देहणि म्मम्मा अरिहा अर्हन्तो भगवन्तो देहनिर्ममाः सन्तः । किं कुर्वंति ? लिंगं मुइत्तु लिङ्गाधारं यच्छरीरं तस्य शरीरस्य

के शुद्ध ज्ञानमयता होने से, द्रव्यलिङ्ग का आश्रयभूत शरीर के ममत्व का त्याग होने से, उस शरीर के आश्रित द्रव्यलिङ्ग के त्याग को और दर्शनज्ञानचारित्र की मोक्षमार्ग रूप से उपासना देखी जाती है ।

भावार्थ—यदि देहमय द्रव्यलिङ्ग ही मोक्ष का कारण होता तो अरहंतादिक देह का ममत्व छोड़ दर्शनज्ञानचारित्र को क्यों सेवन करते, द्रव्यलिङ्ग से ही मोक्ष को प्राप्त हो जाते । इसलिए यह निश्चय हुआ कि देहमयलिङ्ग मोक्षमार्ग नहीं है । परमार्थ से दर्शनज्ञानचारित्ररूप आत्मा ही मोक्ष का मार्ग है ॥ ४०८।४०९ ॥

आगे यह सिद्ध करते हैं कि दर्शन, ज्ञान और चरित्र ही मोक्षमार्ग है;—[पाखण्डिगृहिमयानि लिङ्गानि] पाखण्डी (मुनिलिंग) और गृहस्थलिंग [एषः] यह [मोक्षमार्गः] मोक्षमार्ग [नापि] नहीं है [दर्शनज्ञानचारित्राणि] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [मोक्षमार्गं] मोक्षमार्ग हैं [जिना विदंति] ऐसा जिनदेव कहते हैं ॥

टीका—निश्चय से द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है, क्योंकि इनको शरीर के आश्रित होने से यह परद्रव्य है, दर्शनज्ञानचारित्र ही मोक्ष मार्ग है; क्योंकि इसको आत्माश्रित होनेसे (निज आत्म) द्रव्यपना है ॥

भावार्थ—मोक्ष सब कर्मों के अभावरूप आत्मा का परिणाम है, इसलिए इसका कारण भी आत्मा का परिणाम ही होना चाहिये । दर्शनज्ञानचारित्र आत्मा के परिणाम हैं इसलिये वे ही मोक्ष के मार्ग हैं, यह निश्चय से कहा है । लिंग देहमय है, देह पुद्गलद्रव्यमय है; इसलिए देह मोक्ष का मार्ग नहीं है । परमार्थ से अन्यद्रव्य का अन्यद्रव्य कुछ नहीं करता यह नियम है ॥४१०॥

यत एवं—

तम्हा दु हित्तु लिङ्गे सागारणगारएहिं वा गहिए।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४११॥

तस्मात् तु हित्वा लिङ्गानि सागारैरनगारैर्वा गृहीतानि।
दर्शनज्ञानचारित्रे आत्मानं युंक्ष्व मोक्षपथे ॥४११॥

यतो द्रव्यलिङ्गं न मोक्षमार्गः, ततः समस्तमपि द्रव्यलिंगं त्यक्त्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव मोक्षमार्गत्वात् आत्मा योक्तव्य इति सूत्रानुमतिः ॥४११॥

यन्ममत्वं तन्मनोवचनकायैर्मुक्त्वा। पश्चात् दंसणणाण चरित्ताणि सेवते चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वविषये यानि श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि तानि सेवन्ते भावयन्तीत्यर्थः ॥४०८।४०९॥ अथैतदेव व्याख्यानं विशेषेण दृढयति;—ण वि एस मोक्खमग्गो न चैष मोक्षमार्गः। एष कः ? पाखंडिगिहिमयाणि लिंगाणि निर्विकल्पसमाधिरूपभावलिङ्गान्निरपेक्षाणि रहितानि यानि पाखण्डिगृहिमयानि द्रव्यलिङ्गानि। कथंभूतानि ? निर्ग्रन्थकोपीनग्रहणरूपाणि बहिरङ्गाकारचिह्नानि। तर्हि को मोक्षमार्गः ? इति चेत् दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति शुद्धबुद्धैकस्वभावा एवं परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानानुभूतिरूपाणि सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिना वदन्ति कथयन्ति ॥४१०॥ यत एवं—तम्हा जहित्तु लिंगे सागारणगारिएहिं

आगे कहते हैं कि यदि द्रव्यलिंग मोक्षमार्ग नहीं है तो यह उपदेश है कि आत्मा को दर्शनज्ञान और चारित्र में ही लगाना चाहिये [तस्मात्] इस कारण [सागारैः] गृहस्थों के [वा] अथवा [अनगारैः] मुनियों के [गृहीतानि लिङ्गानि] ग्रहण किये गये लिंगों को [जहित्वा] छोड़कर [आत्मानं] अपने आत्मा को [दर्शनज्ञानचारित्रे] दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूप [मोक्षपथे] मोक्षमार्ग में [युङ्क्ष्व] युक्त करो। यह श्रीगुरुओं का उपदेश है।

टीका—क्योंकि द्रव्यलिंग मोक्ष का मार्ग नहीं है, इस कारण सभी द्रव्यलिंगों को छोड़कर दर्शनज्ञानचारित्र में ही आत्मा को युक्त करना। यही मोक्ष का मार्ग है ऐसा सूत्र का उपदेश है।

भावार्थ—यहां द्रव्यलिंग को छोड़कर दर्शन ज्ञान और चारित्र में लगाने का वचन है। यह सामान्य परमार्थवचन है। मुनि श्रावक के व्रत को छुड़ाने उपदेश नहीं है। जो केवल द्रव्यलिंग को ही मोक्षमार्ग जानकर भेष धारण करते हैं उनको द्रव्यलिंग का पक्ष छुड़ाया है कि वेषमात्र से मोक्ष नहीं है, परमार्थ रूप मोक्षमार्ग आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप परिणाम ही हैं। व्यवहार आचारसूत्र में कहे अनुसार जो मुनि श्रावक के बाह्य व्रत हैं वे व्यवहार से निश्चय मोक्षमार्ग के साधक हैं। उनको नहीं छुड़ाते; परन्तु ऐसा कहते हैं कि उनका भी ममत्व छोड़ परमार्थ मोक्षमार्ग में लगने से ही मोक्ष होता है, केवल वेषमात्र से मोक्ष नहीं है, ऐसा जानना ॥४११॥

दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा तत्त्वमात्मनः ।
एक एव सदा सेव्यो मोक्षमार्गो मुमुक्षुणा ॥२३९॥

मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तं चेव झाहि तं चेय ।
तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥

मोक्षपथे आत्मानं स्थापय तं चैव ध्यायस्व तं चेतयस्व ।
तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥४१२॥

आ संसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञा-गुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवावस्थापय अतिनिश्चलमात्मानम् । तथा समस्तचिन्तान्तरनिरोधेनात्यन्तमेकाग्रो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव ध्याय । तथा सकलकर्मकर्मफलचेतनासंन्यासेन शुद्धज्ञानचेतनामयो भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्राण्येव चेतयस्व । तथा द्रव्यस्वभाववशतः प्रतिक्षणविजृम्भमाणपरिणामतया तन्मयपरिणामो

षा गहिदे यस्मात्कारणात् पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं जिनाः प्रतिपादयन्ति तस्मात्त्यक्त्वा । कानि ? निर्विकारस्वसंवेदनरूपभावलिङ्गरहितानि सागारानगारवर्गैः समूहैः—गृहीतानि बहिरङ्गाकारद्रव्यलिङ्गानि । पश्चात् किं कुरु ? दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे हे भव्य ! आत्मानं योजय सम्बन्धं कुरुष्व । क्व केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रय-लक्षणे मोक्षपथे मोक्षमार्गे ॥४११॥ अथ निश्चयरत्नत्रयात्मकः शुद्धात्मानुभूतिलक्षणो मोक्षमार्गो मोक्षार्थिना पुरुषेण सेवितव्य इत्युपदिशति—मोक्खपहे अप्पाण ठवेहि हे भव्य ! आत्मानं स्थापय, क्व विषये ? शुद्धज्ञान-दर्शनस्वभावात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयस्वरूपे मोक्षपथे । चेदयहि तमेव मोक्षपथं चेतयस्व

आगे इसी अर्थ को दृढ़ करने की सूचना का श्लोक कहते हैं —दर्शन इत्यादि । अर्थ—जिस कारण आत्मा का यथार्थरूप दर्शनज्ञानचारित्र का त्रिकस्वरूप है इस कारण मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को एक यही मोक्षमार्ग सदा सेवने योग्य है ॥ २३९ ॥

अब यही उपदेश गाथा से कहते हैं; हे भव्य तू [मोक्षपथे] मोक्षमार्ग में [आत्मानं] अपने आत्मा को [स्थापय] स्थापन कर [च तं एव] उसीका [ध्यायस्व] ध्यान कर [तं चेतयस्व] उसी को अनुभवगोचर कर [तत्रैव नित्यं विहर] और उसी आत्मा में ही निरन्तर विहार कर [अन्यद्रव्येषु मा विहार्षीः] अन्यद्रव्यों में विहार मत कर ।

टीका—आचार्य उपदेश करते हैं कि हे भव्य ! अनादिसंसार से लेकर यह आत्मा अपने बुद्धिदोष से परद्रव्य में रागद्वेषादि करने में नित्य ही तिष्ठता हुआ प्रवर्त रहा है, और तू उसको अपनी बुद्धि के ही गुण से उन परद्रव्यों में राग-द्वेष से छुड़ाकर दर्शनज्ञानचारित्र में निरन्तर तिष्ठता अति निश्चल स्थापनकर । समस्त अन्य चिंताओं का निरोध करके अत्यन्त एकाग्र-

भूत्वा दर्शनज्ञानचारित्रेष्वेव विहर। तथा ज्ञानरूपमेकमेवाचलितमवलम्बमानो ज्ञेयरूपेणोपाधितया सर्वत एव प्रधावत्स्वपि परद्रव्येषु सर्वेष्वपि मनागपि मा विहार्षीः ॥४१२॥

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्तात्मकस्-
तत्रैवस्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विदन्ति ॥२४०॥
ये त्वेनं परिहृत्य संवृतिपथप्रस्थापितेनात्मना
लिंगे द्रव्यमये वहन्ति ममतां [1]तत्त्वावबोधच्युताः।
नित्योद्योतमखण्डमेकमतुलालोकं स्वभावप्रभा-
प्राग्भारं समयस्य सारममलं नाद्यापि पश्यन्ति ते ॥२४१॥

परमसमरसीभावेन अनुभवस्व झायहि तं चेव तमेव ध्याय निर्विकल्पसमाधौ स्थित्वा भावय। तत्थेव विहर णिच्चं तत्रैव विहर वर्तनापरिणति कुरु। नित्यं सर्वकालं। मा विहरसु अण्णदव्वेसु दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकांक्षा-

---

चित होकर दर्शनज्ञानचारित्र का ही ध्यान कर। समस्त कर्म और कर्मफलरूपचेतना का त्याग करके शुद्धज्ञानचेतनामय होकर दर्शन-ज्ञानचारित्र का ही अनुभवकर। द्रव्य के स्वभाव के वश क्षण-क्षण में जो परिणाम उत्पन्न होते हैं उन परिणामों में तन्मय होकर दर्शनज्ञानचारित्र में ही विहार कर। तू एक ज्ञानरूप को ही निश्चलरूप से अवलम्बन करता हुआ जो ज्ञेयरूप से ज्ञान में उपाधि स्वरूप है ऐसे सब ओर से फैले हुए परद्रव्य उनमें किंचितमात्रभी विहार मत कर।

भावार्थ—परमार्थ रूप आत्मा के परिणाम दर्शन, ज्ञान और चारित्र हैं, वे ही मोक्ष मार्ग हैं, उनमें ही आत्मा को स्थापन करना, उनका ही ध्यान करना, उन्हीं का अनुभव करना और उन्हीं में प्रवर्तना, अन्य द्रव्यों में नहीं प्रवर्तना, परमार्थ से यही उपदेश है, केवल व्यवहार में ही मूढ़ न रहना ॥४१२॥

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**एको मोक्ष** इत्यादि। **अर्थ**—दर्शन ज्ञान चारित्रस्वरूप यही एक मोक्ष का मार्ग है। जो पुरुष उसी में तिष्ठता है, उसी को निरन्तर ध्याता है, उसी का अनुभव करता है और अन्य द्रव्यों का स्पर्श नहीं करता, उसी में निरन्तर प्रवर्तन करता है, वह पुरुष थोड़े ही काल में अवश्य समयसार अर्थात् जिसका नित्य उदय रहे, ऐसे परमात्मा के रूप को अनुभव करता है।

भावार्थ—निश्चय मोक्ष मार्ग के सेवन से थोड़े काल में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है यह नियम है ॥२४०॥

---

१. तत्त्वज्ञानबहिर्भूता इत्यर्थः।

पाखंडीलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

पाखण्डिलिंगेषु वा गृहिलिंगेषु वा बहुप्रकारेषु।
कुर्वन्ति ये ममत्वं तैर्न ज्ञातः समयसारः ॥४१३॥

ये खलु श्रमणोऽहं श्रमणोपासकोऽहमिति द्रव्यलिङ्गममकारेण मिथ्याहङ्कारं कुर्वन्ति तेऽनादिरूढव्यवहारविमूढाः प्रौढविवेकं निश्चयमनारूढाः परमार्थसत्यं भगवन्तं समयसारं न पश्यन्ति ॥४१३॥

रूपनिदानबन्धादिपरद्रव्यालम्बनोत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्पेषु मा विहार्षीः, मा गच्छ, मा परिणतिं कुर्वन्ति ॥४१२॥ अथ सहजशुद्धपरमात्मानुभूतिलक्षणभावलिङ्गरहिता ये द्रव्यलिङ्गे ममतां कुर्वन्ति तेऽद्यापि समयसारं

आगे कहते हैं कि जो द्रव्यलिङ्ग को ही मोक्षमार्ग मानकर उसमें ममत्व रखते हैं वे मोक्ष को नहीं पाते उसकी सूचना का काव्य है—ये त्वेन इत्यादि। अर्थ—जो पुरुष इस पूर्वोक्त परमार्थ स्वरूप मोक्षमार्ग को छोड़कर व्यवहारमार्ग में स्थापन किये आत्मा के बाह्य वेष में ही ममता करते हैं, अर्थात् यह जानते हैं कि यही हमको मोक्ष प्राप्त कराएगा वे पुरुष तत्त्व के यथार्थज्ञान से रहित हुए मुनिपद लेने से भी इस समयसार को नहीं पाते। कैसा है समयसार ? जिसका नित्य उदय है, कोई भी विरोधी होकर उसके उदय का नाश नहीं कर सकता, अखण्ड है, जिसमें अन्य ज्ञेय आदि के निमित्त से खण्ड नहीं होता, एक है अर्थात् पर्यायोंकर अनेक अवस्थायें होती हैं, तौ भी एकरूपपने को नहीं छोड़ता, जिसके समान अन्य नहीं ऐसा जिसका प्रकाश है, सूर्यादिक के प्रकाश की ज्ञान के प्रकाश को उपमा नहीं लग सकती। अपने स्वभाव की प्रभा का प्राग्भार है, अर्थात् जिसका भार अन्य नहीं सहन कर सकता तथा अमल है, अर्थात् रागादि विकार रूप मल से रहित है। ऐसे परमात्मा के स्वरूप को द्रव्यलिङ्गी नहीं पा सकता ॥२४१॥

अब इसी अर्थ की गाथा कहते हैं;—[ये] जो पुरुष [पाखण्डिलिङ्गेषु] पाखण्डी लिङ्गों में [वा] अथवा [बहुप्रकारेषु गृहिलिंगेषु वा] बहुत भेद वाले गृहस्थ लिङ्ग में [ममत्वं] ममता [कुर्वन्ति] करते हैं अर्थात् हमको ये ही मोक्ष के देने वाले हैं ऐसे, [तैः] उन पुरुषों ने [समयसारः] समयसार को [न ज्ञातः] नहीं जाना।

टीका—जो पुरुष निश्चयतः ऐसा मानते हैं कि मैं श्रमण हूँ अथवा श्रमण का उपासक हूँ इस तरह द्रव्यलिङ्ग में ममकार करके मिथ्या अहंकार करते हैं, वे अनादि के चले आये व्यवहार में विमूढ हुए भेदज्ञानवाले निश्चयनय को नहीं पाते हुए परमार्थ से सत्यार्थभगवान ज्ञानरूप समयसार को नहीं देखते।

भावार्थ—जो अनादि कालीन परद्रव्य के संयोग से व्यवहार में मोही हैं वे ऐसा जानते हैं कि यह बाह्य महाव्रतादि रूप भेद ही हमको मोक्ष प्राप्त करायेगा परन्तु जिससे भेदज्ञान का जानना होता है ऐसे निश्चयनय को नहीं जानते, उनके सत्यार्थ परमात्मरूप शुद्धज्ञानमय समयसार की प्राप्ति नहीं होती ॥४१३॥

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः ।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तण्डुलम् ॥२४२॥
द्रव्यलिंगममकारमीलितैः दृश्यते समयसार एव न ।
द्रव्यलिंगमिह यत्किलान्यतो ज्ञानमेकमिदमेव हि स्वतः ॥२४३॥

ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणइ मोक्खपहे ।
णिच्छयणओ ण इच्छइ मोक्खपहे सव्वलिंगाणि ॥४१४॥

व्यावहारिकः पुनर्नयो द्वे अपि लिंगे भणति मोक्षपथे ।
निश्चयनयो नेच्छति मोक्षपथे सर्वलिंगानि ॥४१४॥

न जानन्तीति प्रकाशयति;—पाखंडिलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु कुव्वंति जे ममत्ति वीतरागस्वसंवेदनज्ञानलक्षणभावलिङ्गरहितेषु निर्ग्रन्थरूपपाखण्डिद्रव्यलिङ्गेषु कौपीनचिह्नादिगृहस्थद्रव्यलिङ्गेषु बहुप्रकारेषु ये ममतां कुर्वंति तेहि ण णादं समयसारं जगत्त्रयकालत्रयवर्तिख्यातिपूजालाभमिथ्यात्वकामक्रोधादिसमस्तपरद्रव्यालम्बनसमुत्पन्नशुभाशुभसंकल्पविकल्परहितः शून्यः चिदानन्दैकस्वभावशुद्धात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसंजातवीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपसुखरसानुभवपरमसमरसीभाव-

---

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**व्यवहार** इत्यादि । **अर्थ**—जो लोक व्यवहार में ही मोहित बुद्धि वाले हैं वे परमार्थ को नहीं जानते । जैसे लोक में तुष (भूषा) के ही ज्ञान में विमुग्ध बुद्धिवाले तुष को ही चावल जानते हैं वे तन्दुल को चावल नहीं जानते ।

भावार्थ—जो परमार्थ आत्मा का स्वरूप नहीं जानते और व्यवहार में मूढ़ हो रहे हैं अर्थात् शरीरादि परद्रव्य को ही आत्मा जानते हैं वे परमार्थ आत्मा को नहीं जानते। जैसे तुष और तन्दुल का भेद न जाननेवाले को पराल (छिलके) को कूटने से तन्दुल की प्राप्ति नहीं होती, तुष और तन्दुल का भेदज्ञान होने पर ही तन्दुल पा सकता है ॥२४२॥

आगे इसी अर्थ के दृढ़ करने को काव्य कहते हैं—**द्रव्यलिङ्ग** इत्यादि । **अर्थ**—जो द्रव्यलिङ्ग के मोह से अन्धे हैं उनमें समयसार नहीं देखा जा सकता; क्योंकि इस लोक में द्रव्यलिङ्ग तो अन्य-द्रव्य से होता है और ज्ञान अपने आत्मद्रव्य से ही होता है ।

भावार्थ—जो द्रव्यलिङ्ग को ही अपना मानते हैं वे अन्धे हैं ॥२४३॥

आगे कहते हैं कि व्यवहारनय तो मुनिश्रावक के भेद से दो प्रकार के लिङ्गों को मोक्षमार्ग कहता है और निश्चयनय किसी लिङ्ग को मोक्षमार्ग नहीं कहता;—[**व्यावहारिकः नयः पुनः**] व्यवहारनय तो [**द्वे लिंगे अपि**] मुनि श्रावक के भेद से दोनों ही प्रकार के लिङ्गों को [**मोक्षपथे भणति**] मोक्षमार्ग कहता है और [**निश्चयनयः**] निश्चयनय [**सर्वलिंगानि**] सभी लिङ्गों को [**मोक्षपथे न इच्छति**] मोक्षमार्ग में इष्ट नहीं करता ।

यः खलु श्रमणश्रमणोपासकभेदेन द्विविधं द्रव्यलिंगं मोक्षमार्ग इति प्ररूपणप्रकारः स केवलं व्यवहार एव, न परमार्थस्तस्य स्वयमशुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वाभावात् । यदेव श्रमणश्रमणोपासकविकल्पातिक्रान्तं दृशिज्ञप्तिवृत्तप्रवृत्तिमात्रं शुद्धज्ञानमेवैकमिति निस्तुषसंचेतनं परमार्थः, तस्यैव स्वयं शुद्धद्रव्यानुभवनात्मकत्वे सति परमार्थत्वात् । ततो ये व्यवहारमेव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते समयसारमेव न चेतयन्ते । य एव परमार्थबुद्ध्या चेतयन्ते ते एव समयसारं चेतयते ॥४१४॥

अलमलमतिजल्पैर्दुर्विकल्पैरनल्पैरयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्यमेकः ।
स्वरसविसरपूर्णज्ञानविस्फूर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तरं किञ्चदस्ति ॥२४४॥

परिणामेन सालम्बनः पूर्णकलशवद्भरितावस्थः केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य साक्षादुपादेयभूतस्य कार्यसमयसारस्योत्पादको योऽसौ निश्चयकारणसमयसारः स खलु तैर्न ज्ञात इति ॥४१३॥ अथ निर्विकारशुद्धात्मसंवित्तिलक्षणभावलिङ्गसहितं निर्ग्रन्थयतिलिङ्गं कौपीनकरणादिबहुभेदसहितं गृहिलिङ्गं चेति द्वयमपि मोक्षमार्गे व्यवहारनयो मन्यते । निश्चयनयस्तु सर्वद्रव्यलिङ्गानि न मन्यत इत्याख्याति;—ववहारिओ पुण णओ दोण्णिवि लिंगाणि भणदि मोक्खपहे व्यावहारिकनयो द्वे लिङ्गे मोक्षपथे मन्यते । केन कृत्वा ? निर्विकार-

---

टीका—मुनि और उपासक—श्रावक के भेद से लिङ्ग दो प्रकार का है । वे दोनों ही लिङ्ग मोक्षमार्ग हैं ऐसा कहना केवल व्यवहार ही है परमार्थ नहीं है, क्योंकि इस व्यवहारनय के स्वयं अशुद्ध द्रव्य का अनुभव स्वरूपपना होने से परमार्थपने का अभाव है । तथा मुनि और श्रावक के भेद से भिन्न दर्शन ज्ञान चारित्र की प्रवृत्तिमात्र निर्मलज्ञान ही एक है, ऐसा निर्मल अनुभवन वही परमार्थ है, वही मोक्षमार्ग है । क्योंकि ऐसे ज्ञान के ही शुद्धद्रव्यरूप होने का स्वरूपपना होने से परमार्थपना है । इसलिए जो पुरुष केवल व्यवहार का ही परमार्थबुद्धि से अनुभव करते हैं वे समयसार का अनुभव नहीं करते, जो परमार्थ को ही परमार्थ की बुद्धि से अनुभव करते हैं वे ही इस समयसार को अनुभव करते हैं ।

भावार्थ—व्यवहारनय का विषय भेदरूप अशुद्धद्रव्य परमार्थ नहीं है । और निश्चयनय का विषय अभेदरूप शुद्धद्रव्य परमार्थ है । जो व्यवहार को ही निश्चय मानकर प्रवर्तन कर रहे हैं उनको समयसार की प्राप्ति नहीं है और जो परमार्थ को परमार्थ जानते हैं उनको समयसार की प्राप्ति होती है वे ही मोक्ष पाते हैं ॥४१४॥

आगे कहते हैं कि बहुत कहने से क्या लाभ, एक परमार्थ का ही चिन्तवन करना । उसका काव्य है—अलमल इत्यादि । अर्थ—आचार्य कहते हैं कि बहुत कहने से और बहुत से दुर्विकल्पों से तो कुछ लाभ नहीं । इस अध्यात्मग्रन्थ में इस एक परमार्थ को ही निरन्तर अनुभवन करना चाहिये । क्योंकि वास्तव में अपने रस के फैलाव से पूर्ण जो ज्ञान उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समयसार—परमात्मा उसके सिवाय अन्य कुछ भी सार नहीं है ।

भावार्थ—पूर्ण ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव निश्चय से करना ही सार है ॥२४४॥

इदमेकं जगच्चक्षुरक्षयं याति पूर्णताम् ।
विज्ञानघनमानन्दमयमध्यक्षतां नयत् ॥२४५॥

स्वसंवित्तिलक्षणभावलिङ्गस्य बहिरङ्गसहकारिकारणत्वेनेति । णिच्छयणओ दु णेच्छदि मुक्खपहे सव्वलिंगाणि निश्चयनयस्तु निर्विकल्पसमाधिरूपत्रिगुप्तिगुप्तबलेन अहं निर्ग्रन्थलिङ्गी कोपीनधारकोऽहमित्यादि मनसि सर्वद्रव्यलिङ्गविकल्पं रागादिविकल्पवन्नेच्छति । कस्मात् ? स्वयमेव निर्विकल्पसमाधिस्वभावत्वात् इति । किंच—अहो शिष्य ! पाखण्डीलिंगाणि य इत्यादि गाथासप्तकेन द्रव्यलिङ्गनिषिद्धमेवेति त्वं मा जानाहि किंतु निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपं भावलिङ्गरहितानां यतीनां संबोधनं कृतम् । कथं ? इति चेत्, अहो तपोधनाः ! द्रव्यलिङ्गमात्रेण संतोषं मा कुरुत किन्तु द्रव्यलिङ्गाधारेण निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूपभावनां कुरुत । ननु भवदीयकल्पनेयं, द्रव्यलिङ्गनिषेधो न कृत इति । अत्र ग्रन्थे पुनर्लिखितमास्ते ण य होदि मोक्खमग्गो लिंग इत्यादि ? नैव ण य होदि मोक्खमग्गो लिंग मित्यादिवचनेन भावलिङ्गरहितं द्रव्यलिङ्गं निषिद्धं न च भावलिङ्गसहितं । कथं ? इति चेत् द्रव्यलिङ्गाधारभूतो योऽसौ देहस्तस्य ममत्वं निषिद्धं । न च द्रव्यलिङ्गं निषिद्धं । केन रूपेण ? इति चेत्, पूर्वं दीक्षाकाले सर्वसङ्गपरित्याग एव कृतो न च देहत्यागः । कस्मात् ? देहाधारेण ध्यानज्ञानानुष्ठानं भवति इति हेतोः । न च देहस्य पृथक्त्वं कर्तुमायाति शेषपरिग्रहवदिति । वीतरागध्यानकाले पुनर्मदीयो देहोऽहं लिङ्गीत्यादिविकल्पो व्यवहारेणापि न कर्तव्यः । देहनिर्ममत्वं कृतं कथं ज्ञायते ? इति चेत् जं देहणिम्ममा अरिहा दसणणाणचरित्ताणि सेवंते इत्यादि वचनेनेति । न हि शालितन्दुलस्य बहिरङ्गतुषे विद्यमाने सत्यभ्यन्तरतुषस्य त्यागः कर्तुमायाति अभ्यन्तरतुषत्यागे सति बहिरङ्गतुषत्यागो नियमेन भवत्येव । अनेन न्यायेन सर्वसङ्गपरित्यागरूपे बहिरङ्गद्रव्यलिङ्गे सति भावलिङ्गं भवति न भवति वा नियमो नास्ति, अभ्यन्तरे तु भावलिङ्गे सति सर्वसङ्गपरित्यागरूपं द्रव्यलिङ्गं भवत्येवेति । हे भगवन् भावलिङ्गे सति बहिरङ्गद्रव्यलिङ्गं भवतीति नियमो नास्ति साहारणासाहारणेत्यादि वचनादिति ? परिहारमाह कोऽपि तपोधनो ध्यानारूढस्तिष्ठति तस्य केनापि दुष्टभावेन वस्त्रवेष्टनं कृतं । आभरणादिकं वा कृतं तथाप्यसौ निर्ग्रन्थ एव । कस्मात् ? इति चेत्, बुद्धिपूर्वकममत्वाभावात् पाण्डवादिवत् । येऽपि घटिकाद्वयेन मोक्षं गता भरतचक्रवर्त्यादयस्तेऽपि निर्ग्रन्थरूपेणैव । परं किन्तु तेषां परिग्रहत्यागं लोका न जानन्ति स्तोककालत्वादिति भावार्थः । एवं भावलिङ्गरहितानां द्रव्यलिङ्गमात्रं मोक्षकारणं न भवति । भावलिङ्गसहितानां पुनः सहकारिकारणं भवतीति व्याख्यानमुख्यत्वेन त्रयोदशस्थले गाथासप्तकं गतम् । अत्राह शिष्यः—केवलज्ञानं शुद्धं छद्मस्थज्ञानं पुनरशुद्धं शुद्धस्य केवलज्ञानस्य कारणं न भवति । कस्मात् ? इति चेत्—सुद्धं तु वियाणंतो शुद्धमेवप्पयं लहदि जीवो इति वचनात् इति ? नैवं, छद्मस्थज्ञानस्य कथंचिच्छुद्धा-

---

आगे इस समयसार ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं उसकी सूचना का श्लोक है—इदमेकं इत्यादि । अर्थ—यह समयप्राभृत ग्रन्थ पूर्णता को प्राप्त होता है। कैसा है ? जिसका विनाश न हो सके ऐसा जगत् के अद्वितीय नेत्र के समान है, क्योंकि वह शुद्ध परमात्मा समयसार आनन्दमय है उसको प्रत्यक्ष प्राप्त करता है।

भावार्थ—यह समयप्राभृतग्रन्थ वचनरूप तथा ज्ञानरूप दोनों ही तरह से नेत्र के समान है, क्योंकि जैसे नेत्र घटपटादि को प्रत्यक्ष दिखलाता है वैसे यह भी शुद्ध आत्मा के स्वरूप को प्रत्यक्ष अनुभवगोचर दिखलाता है ॥२४५॥

जो समयपाहुडमिणं पडिहूणं अत्थतच्चदो णाउं ।
अत्थे ठाही चेया सो होही उत्तमं सोक्खं ॥४१५॥

यः समयप्राभृतमिदं पठित्वा अर्थतत्त्वतो ज्ञात्वा ।
अर्थे स्थास्यति चेतयिता स भविष्यत्युत्तमं सौख्यम् ॥४१५॥

यः खलु समयसारभूतस्य भगवतः परमात्मनोऽस्य विश्वप्रकाशत्वेन विश्वसम-

---

शुद्धत्वं । तद्यथा—यद्यपि केवलज्ञानापेक्षया शुद्धं न भवति तथापि मिथ्यात्वरागादिरहितत्वेन वीतरागसम्यक्त्वचारित्रसहितत्वेन च शुद्धं । अभेदनयेन पुनः छद्मस्थानां संबन्धि भेदज्ञानमात्मस्वरूपमेव ततः कारणात्तेनैकदेशव्यक्तिरूपेणापि सकलव्यक्तिरूपं केवलज्ञानं जायते, नास्ति दोषः । अथ मतं सावरणत्वात्क्षायोपशमिकत्वाद्वा शुद्धं न भवति तर्हि मोक्षोऽपि नास्ति । कस्मात् ? छद्मस्थानां ज्ञानं यद्यप्येकदेशेन निरावरणं तथापि केवलज्ञानापेक्षया नियमेन सावरणमेव क्षायोपशमिकमेवेति । अथाभिप्रायः पारिणामिकभावः शुद्धः तेन मोक्षो भविष्यति तदपि न घटते । कस्मात् ? इति चेत् केवलज्ञानात्पूर्वं पारिणामिकभावस्य शक्तिमात्रेण शुद्धत्वं न व्यक्तिरूपेणेति । तथाहि—जीवत्वभव्यत्वाभव्यत्वरूपेण त्रिविधो हि पारिणामिकः । तत्र तावदभव्यत्वं मुक्तिकारणं न भवति यत्पुनर्जीवत्वभव्यत्वद्वयं तस्य द्वयस्य तु यदायं जीवो दर्शनचारित्रमोहनीयोपशमक्षयोपशमक्षयलाभेन वीतरागसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयेण परिणमति तदा शुद्धत्वं । तच्च शुद्धत्वं—औपशमिकक्षायोपशमिकक्षायिकभावत्रयस्य संबन्धि मुख्यवृत्त्या, पारिणामिकस्य पुनर्गौणत्वेनेति । तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बन्धमोक्षस्य कारणरहितत्वं पञ्चास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते ।

मोक्षं कुर्वंति मिश्रौपशमिकक्षायिकाभिधाः ।
बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः ॥ १ ॥

तत एव स्थितं निर्विकल्पशुद्धात्मपरिच्छित्तिलक्षणं वीतरागसम्यक्त्वचारित्राविनाभूतमभेदनयेन तदेव शुद्धात्मशब्दवाच्यं क्षायोपशमिकमपि भावश्रुतज्ञानं मोक्षकारणं भवतीति । शुद्धपारिणामिकभावः पुनरेकदेशव्यक्तिलक्षणायां कथंचिद्भेदाभेदरूपस्य द्रव्यपर्यायात्मकस्य जीवपदार्थस्य शुद्धभावनावस्थायां ध्येयभूतद्रव्यरूपेण तिष्ठति न च ध्यानपर्यायरूपेण, कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वात् इति ॥४१४॥ अभेदं शुद्धात्मतत्त्वं निर्विकारस्वसंवेदनप्रत्यक्षेण भावयन्नात्मा परमाक्षयसुखं प्राप्नोतीत्युपदिशति;—श्रीकुंदकुंदाचार्यदेवा समयसार ग्रन्थसमाप्तिं कुर्वंतः फलं दर्शयंति—तद्यथा—जो समयपाहुणमिणं पठिदूणय यः कर्ता समयप्राभृताख्यमिदं शास्त्रं पूर्वं पठित्वा न केवलं पठित्वा अत्थतच्चदो णादुं ज्ञात्वा च । कस्मात् ? ग्रन्थार्थतः न केवलं ग्रन्थार्थतः ? तत्त्वतो

अब भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रन्थ को पूर्ण करते हैं सो इसकी महिमारूप पढ़ने के फल की गाथा कहते हैं—[यः चेतयिता] जो चेतयिता पुरुष—भव्यजीव [इदं समयप्राभृतं पठित्वा] इस समयप्राभृत को पढ़कर [अर्थतत्त्वतः ज्ञात्वा] अर्थ से और तत्त्व से जानकर [अर्थे स्थास्यति] इसके अर्थ में ठहरेगा [सः] वह [उत्तमं सौख्यं भविष्यति] उत्तम सुख स्वरूप होगा।

टीका—जो भव्य पुरुष निश्चयतः इस शास्त्र को पढ़कर सर्व पदार्थों के प्रकाशन में समर्थ ऐसे परमार्थभूत चैतन्यप्रकाशरूप आत्मा का अर्थ से तथा तत्त्व से निश्चय करता हुआ इसी के

यस्य प्रतिपादनात् शब्दब्रह्मायमाणं शास्त्रमिदमधीत्य विश्वप्रकाशनसमर्थपरमार्थभूत-चित्प्रकाशरूपं परमात्मानं निश्चिन्वन् अर्थतस्तत्त्वतश्च परिच्छिद्य अस्यैवार्थभूते

भावपूर्वेण अत्थे ठाहिदि पश्चादुपादेयरूपे शुद्धात्मलक्षणेऽर्थे निर्विकल्पसमाधौ स्थास्यति चेदा सो पावदि उत्तमं सोक्खं स चेतयितात्मा भाविकाले प्राप्नोति लभते । किं लभते ? वीतरागसहजापूर्वपरमाह्लादरूपं, "आत्मा-नोपादानसिद्धं स्वयमतिशयवद्वीतबाधं विशालं वृद्धिह्रासव्यपेतं विषयविरहितं निःप्रतिद्वन्द्वभावम् । अन्यद्रव्या-नपेक्षं निरुपममिमितं, शाश्वतं सर्वकालमुत्कृष्टानन्तसारं परमसुखमतस्तस्य सिद्धस्य जातम्" इति ।

अत्राह शिष्यः—हे भगवन् ? अतीन्द्रियसुखं निरन्तरं व्याख्यातं भवद्भिस्तच्च जनैर्नज्ञायते ? भगवानाह–कोऽपि देवदत्तः स्त्रीसेवनाप्रभृतिपञ्चेन्द्रियविषयव्यापाररहितप्रस्तावे निर्व्याकुलचित्तः तिष्ठति, स केनापि पृष्टः भो देवदत्त ! सुखेन तिष्ठसि त्वमिति ? तेनोक्तं सुखमस्तीति तत्सुखमतीन्द्रियं । कस्मात् ? इति चेत् सांसारिकसुखं पञ्चेन्द्रियप्रभवं । यत्पुनरतीन्द्रियसुखं तत्पञ्चेन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि दृष्टं यत इदं तावत्सामान्येनातीन्द्रियसुखमुपलभ्यते । यत्पुनः पञ्चेन्द्रियमनोभवसमस्तविकल्पजालरहितानां समाधिस्थपर-मयोगिनां स्वसंवेदनगम्यमतीन्द्रियसुखं तद्विशेषेणेति । यच्च मुक्तात्मनामतीन्द्रियसुखं तदनुमानगम्यमागमगम्यं च । तथाहि—मुक्तानामिन्द्रियविषयव्यापाराभावेऽपि अतीन्द्रियसुखमस्तीति पक्षः । कस्मात् ? इति चेत् इदानीं तेन विषयव्यापारातीतनिर्विकल्पसमाधिरतपरममुनीन्द्राणां स्वसंवेद्यात्मसुखोपलब्धिरिति हेतुः । एवं पक्षहेतुरूपेण द्व्यङ्गमनुमानं ज्ञातव्यम् । आगमे तु प्रसिद्धमेवात्मोपादानसिद्धमित्यादिवचनेन । अतः कारणात् अतीन्द्रियसुखे संदेहो न कर्तव्य इति ।

उक्तं च—यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम् ।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम् ॥ १ ॥
सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकम् ।
भाविनो ये च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्टं स्वान्तरञ्जकम् ॥२॥
अनन्तगुणिनं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम् ।
एकस्मिन् समये भुङ्क्ते तत्सुखं परमेश्वर. ॥३॥

अर्थ भूत भगवान् एक पूर्ण विज्ञानघनस्वरूप परब्रह्म उसमें सब प्रकार से उद्यम करके ठहरेगा, वह पुरुष आप ही उत्तम अनाकुलता लक्षण वाले सुख रूप हो जायगा। यह शास्त्र समयसारभूत भगवान् परमात्मा सबके प्रकाशने वाला होने से जिसको विश्वसमय कहते हैं उसके प्रकाशित करने से आप स्वयं शब्दब्रह्म सरीखा है । वह सुख तत्काल उदयरूप प्रगट होता एक चैतन्यरस से भरे अपने स्वभाव में अच्छी तरह ठहरा निराकुल आत्मस्वरूपपने से परमानन्द शब्द द्वारा कहने योग्य है ॥

भावार्थ—इस शास्त्र का नाम समयप्राभृत है। समय का नाम पदार्थ का है। उसको कहने वाला है अथवा समय नाम आत्मा का है उसको कहने वाला है। वह आत्मा सब पदार्थों का प्रकाशक है उसको यह कहता है। सब पदार्थों के कहने वाले को शब्दब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार आत्मा को कहने से इस शास्त्र को भी शब्दब्रह्म सरीखा कहना चाहिए। शब्दब्रह्म तो द्वादशाङ्ग शास्त्र है इसको भी उसकी उपमा है। यह शब्दब्रह्म को (शुद्ध परमात्मा को) साक्षात् दिखलाता है। जो इस शास्त्र को पढ़कर इसके यथार्थ अर्थ में ठहरेगा वह परमब्रह्म को पायेगा। इसी से परमा-

भगवति एकस्मिन् पूर्णे विज्ञानघने परमब्रह्मणि सर्वारम्भेण स्थास्यति चेतयिता, स साक्षात्तक्षणविजृम्भमाणचिदेकरसनिर्भरस्वभावसुस्थितनिराकुलात्मरूपतया परमानन्द-शब्दवाच्यमुत्तममनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं स्वयमेव भविष्यतीति ॥४१५॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विष्णुकर्तृत्वनिराकरणमुख्यत्वेन गाथासप्तकं । तदनन्तरमन्यः करोति अन्यो भुङ्क्ते-इति बौद्धमतैकान्तनिराकरणमुख्यत्वेन गाथाचतुष्टयं । ततः परमात्मा रागादिभावकर्म न करोति इति सांख्यमतनिराकरणरूपेण सूत्रपञ्चकं । ततः परं कर्मैव सुखादिकं करोति न चात्मेति पुनरपि सांख्यमतैकान्त-निराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रयोदशकम् । तदनन्तरं चित्तस्थरागस्य घातः कर्तव्य-इत्यजानन्बहिरङ्गशब्दादि-विषयाणां घातं करोमीति योऽसौ चिन्तयति तत्संबोधनार्थं गाथासप्तकं । तदनन्तरं द्रव्यकर्म व्यवहारेण करोति भावकर्म निश्चयेन करोतीति मुख्यत्वेन गाथासप्तकं । ततः परं ज्ञानं ज्ञेयरूपेण न परिणमति इति कथनरूपेण सूत्रदशकं । तदनन्तरं शुद्धात्मोपलब्धिरूपनिश्चयप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानालोचनाचारित्रव्याख्यानमु-ख्यत्वेन सूत्रचतुष्टयं । तदनन्तरं पञ्चेन्द्रियमनोविषयनिरोधकथनरूपेण सूत्रदशकं । तदनन्तरं कर्मचेतनाकर्मफल-चेतनाविनाशनिरूपणमुख्यत्वेन गाथात्रयं । ततः परं शास्त्रेन्द्रियविषयादिकं ज्ञानं न भवतीति प्रतिपादनरूपेण

नन्द रूप स्वात्मीक, स्वाधीन, बाधा रहित (अविनाश) उत्तम सुख को प्राप्त करेगा। इसलिए हे भव्यजीवो ! तुम अपने कल्याण के लिए इसको पढ़ो, सुनो, निरन्तर इसी का ध्यान रखो, जिससे कि अविनाशी सुख की प्राप्ति हो। यह श्री गुरुओं का उपदेश है ॥४१५॥

अब इस सर्वविशुद्ध ज्ञान के अधिकार की पूर्णता का कलश रूप श्लोक कहते हैं-इतीदं इत्यादि। अर्थ-इस प्रकार यह आत्मा का तत्त्व (परमार्थ भूत स्वरूप) ज्ञान मात्र ही निश्चित हुआ। जो अखण्ड है, अर्थात् अनेक ज्ञेयाकारों को तथा प्रतिपक्षी कर्मों को यद्यपि खण्ड-खण्ड दीखता है, तौ भी ज्ञान मात्र में खण्ड नहीं है इसी से एक रूप है, अचल है, ज्ञान रूप से चल नहीं होता, ज्ञेय रूप नहीं होता, अपने आप से ही आप जानने योग्य है और किसी खोटी युक्ति से बाधित नहीं होता।

भावार्थ—यहाँ आत्मा का निज स्वरूप ज्ञान ही कहा गया है। आत्मा में अनन्त धर्म हैं उनमें कोई तो साधारण हैं वे अतिव्याप्तिस्वरूप हैं। उनसे आत्मा पहचाना नहीं जाता। कोई पर्यायाश्रित हैं किसी अवस्था में होते हैं, किसी में नहीं हैं इसलिए वे अव्याप्तिस्वरूप हैं। उनसे भी आत्मा नहीं पहचाना जाता। तथा चेतनता यद्यपि लक्षण है तौ भी शक्तिमात्र है। वह अदृष्ट है इसलिए उसकी व्यक्ति दर्शन और ज्ञान हैं। उनमें से ज्ञान साकार है, प्रगट अनुभव गोचर हैं; इसलिए ज्ञान के द्वारा ही आत्मा पहचाना जाता है। इस कारण इस ज्ञान को ही प्रधान कर आत्मतत्त्व कहा गया है। ऐसा नहीं समझना कि जो आत्मा को ज्ञानमात्र तत्त्व कहा है सो इतना ही परमार्थ है, अन्य धर्म झूठे हैं, आत्मा में नहीं हैं। ऐसा सर्वथा एकान्त करने से मिथ्यादृष्टि होता है। विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध का तथा वेदान्त का मत आता है। ऐसा एकान्त बाधा सहित है। ऐसे एकान्त अभिप्राय को कोई मुनिव्रत भी पालन करे तथा आत्मा के ज्ञानमात्र का ध्यान करे तौ भी मिथ्यात्व नहीं छूटता। मन्द कषाय के निमित्त से भले ही स्वर्ग प्राप्त हो जावे परन्तु मोक्ष का साधन तो नहीं होता। इसलिए स्याद्वाद को यथार्थ समझना चाहिए ॥२४६॥

इतीदमात्मनस्तत्त्वं ज्ञानमात्रमवस्थितम् ।
अखण्डमेकमचलं स्वसंवेद्यमबाधितम् ॥२४६॥

इति श्रीअमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ
सर्वविशुद्धज्ञानप्ररूपको नवमोऽङ्कः ॥९॥

गाथापञ्चदशकं । ततः परं शुद्धात्मा कर्मनोकर्माहारादिकं निश्चयेन न गृह्णाति इति व्याख्यानमुख्यत्वेन गाथात्रयं । तदनन्तरं शुद्धात्मभावनारूपं भावलिङ्गनिरपेक्षं द्रव्यलिङ्गं मुक्तिकारणं न भवतीति प्रतिपादनमुख्यत्वेन गाथासप्तकं । तदनन्तरं सुखरूपफलदर्शनमुख्यत्वेन सूत्रमेकं ॥४१५॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां समयसारव्याख्यायां शुद्धात्मानुभूतिलक्षणायां
तात्पर्यवृत्तौ समुदायेन षडधिकनवतिगाथाभिस्त्रयोदशाधिकारैः
समयसारचूलिकाभिधानो सर्वविशुद्धज्ञाननामा
नवमोऽधिकारः समाप्तः ॥९॥

इस प्रकार यहाँ तक ४१५ गाथाओं का व्याख्यान और उस व्याख्यान के कलश रूप तथा सूचनिका रूप २४६ काव्य टीकाकार ने किये ।

इस प्रकार श्री पण्डित जयचन्द्रजी कृत समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नाम टीका की
भाषा वचनिका में नौवां सर्वविशुद्धज्ञान का अधिकार
पूर्ण हुआ ॥ ९ ॥

।। अथ स्याद्वादाधिकारः ।।१०।।

अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग् भूयोऽपि चिन्त्यते ।।२४७।।

स्याद्वादो हि समस्तवस्तुतत्त्वसाधकमेकमस्खलितं शासनमर्हत्सर्वज्ञस्य । स तु सर्वमनेकान्तात्मकमित्यनुशास्ति सर्वस्यापि वस्तुनोऽनेकान्तस्वभावत्वात् । अत्र त्वात्मवस्तुनि ज्ञानमात्रतया अनुशास्यमानेऽपि न तत्परिकोपः, ज्ञानमात्रस्यात्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तत्वात् । तत्र यदेव तत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं यदेव सत्तदेवासत् यदेव नित्यं तदेवानित्यमित्येकवस्तुवस्तुत्वनिष्पादकपरस्परविरुद्धशक्तिद्वयप्रकाशनमनेकान्तः । तत्स्वात्मवस्तुनो ज्ञानमात्रत्वेऽप्यन्तश्चकचकायमानज्ञानस्वरूपेण तत्त्वात्, बहिरुन्मिषदनन्तज्ञेयतापन्नस्वरूपातिरिक्तपररूपेणातत्त्वात्, सहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशसमुदयरूपाविभागद्रव्येणैकत्वात्, अविभागैकद्रव्यव्याप्तसहक्रमप्रवृत्तानन्तचिदंशरूपपर्यायैरनेकत्वात्

अथ स्याद्वादाधिकारः

अत्र स्याद्वादसिद्ध्यर्थं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ।
उपायोपेयभावश्च मनाग्भूयोऽपि चिन्त्यते ।।

चिन्त्यते विचार्यते कथ्यते मनाक् संक्षेपेण भूयः पुनरपि । काऽसौ ? वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिः ? वस्तुतत्त्वस्य वस्तुस्वरूपस्य व्यवस्थितिर्व्यवस्था । किमर्थं ? स्याद्वादशुद्ध्यर्थं ? स्याद्वादनिश्चयार्थं । अत्र समयसारव्याख्याने समाप्तिप्रस्तावेन केवलं वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिश्चिन्त्यते, उपायोपेयभावश्च । उपायो मोक्षमार्गः उपेयो मोक्ष इति । अतः परं स्याद्वादशब्दार्थः कः ?—इति प्रश्ने सत्याचार्या उत्तरमाहुः—स्यात्कथञ्चित् विवक्षितप्रकारेणानेकान्तरूपेण वदनं वादो जल्पः कथनं प्रतिपादनमिति स्याद्वादः स च स्याद्वादो भगवतोऽर्हतः शासनमित्यर्थः ।

अथ स्याद्वाद अधिकार

अब यहां टीकाकार विचारते हैं कि, इस ग्रन्थ में ज्ञान को प्रधान करके आत्मा को ज्ञानमात्र कहते आये हैं। यदि कोई ऐसा तर्क करे कि जैनमत में तो स्याद्वाद है, तब क्या आत्मा को ज्ञानमात्र कहने से एकान्त नहीं आ जाता, अर्थात् स्याद्वाद से विरोध आया । तथा एक ही ज्ञान में उपाय तत्त्व और उपेय तत्त्व ये दो किस प्रकार बन सकते हैं ? ऐसे तर्क को दूर करने के लिए उसका काव्य कहते हैं—अत्र स्याद्वाद इत्यादि । अर्थ—इस अधिकार में स्याद्वाद की शुद्धि के लिए वस्तुतत्त्व की व्यवस्था तथा एक ही ज्ञान में उपायभाव और उपेयभाव कैसे घटित होता है, यह विचारते हैं।

भावार्थ—यद्यपि यहां ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व कहा है तो भी वस्तु का स्वरूप सामान्यविशेषात्मक अनेकधर्मस्वरूप है वह स्याद्वाद से सिद्ध किया जाता है। ज्ञानमात्र आत्मा भी वस्तु है उसकी व्यवस्था स्याद्वाद से साधते हैं और इस ज्ञान में ही उपाय और उपेयभाव अर्थात् साध्यसाधक-

स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेन सत्त्वात् परद्रव्यक्षेत्रकालभावाभवनशक्तिस्वभाववत्त्वेनाऽसत्त्वात्, अनादिनिधनाविभागैकवृत्तिपरिणतत्वेन नित्यत्वात्, क्रमप्रवृत्तैकसमयावच्छिन्नानेकवृत्त्यंशपरिणतत्वेनानित्यत्वात्, तदतत्त्वमेकानेकत्वं सदसत्त्वं नित्यानित्यत्वं च प्रकाशत एव । ननु यदि ज्ञानमात्रत्वेऽपि आत्मवस्तुनः स्वयमेवानेकान्तः प्रकाशते तर्हि किमर्थमर्हद्भिस्तत्साधनत्वेनाऽनुशास्यतेऽनेकान्तः ? । अज्ञानिनां ज्ञानमात्रात्मवस्तुप्रसिद्ध्यर्थमिति ब्रूमः । न खल्वनेकान्तमन्तरेण ज्ञानमात्रमात्मवस्त्वेव प्रसिद्ध्यति । तथाहि—इह हि स्वभावत एव बहुभावनिर्भरे विश्वे सर्वभावानां स्वभावेनाद्वैतेऽपि द्वैतस्य निषेद्धुमशक्यत्वात् समस्तमेव वस्तु स्वपररूपप्रवृत्तिव्यावृत्तिभ्यामुभयभावाध्यासितमेव । तत्र यदायं ज्ञानमात्रो भावः शेषभावैः सह स्वरसभर-

---

तत्र भगवतः शासनं किं करोति ? सर्वं वस्तु अनेकान्तात्मकमित्यनुशास्ति । अनेकान्त इति कोऽर्थः ? इति चेत् एकवस्तुनि वस्तुत्वनिष्पादकं—अस्तित्वनास्तित्वद्वयादिस्वरूपं परस्परविरुद्धसापेक्षशक्तिद्वयं यत्तस्य प्रतिपादनं स्यादनेकान्तो भण्यते । अथानेकान्तः किं करोति ? ज्ञानमात्रो योऽसौ भावो जीवपदार्थः शुद्धात्मा स

भाव विचारते हैं । अब इसकी व्यवस्था कहते हैं—स्याद्वाद सब वस्तु को साधने वाला एक निर्बाध अर्हत्सर्वज्ञ का शासन (मत) है, वह स्याद्वाद सब वस्तुओं को अनेकात्मक कहता है, क्योंकि सभी पदार्थों का अनेक धर्मरूप स्वभाव है । असत्यार्थ कल्पना से नहीं कहता, जैसा वस्तु का स्वभाव है वैसा ही कहता है । यहाँ आत्मा नामक वस्तु को ज्ञान मात्रपने कहने से स्याद्वाद का कोप नहीं है, ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के भी स्वयमेव अनेकान्तात्मकपना है । अनेकान्त का ऐसा स्वरूप है कि जो वस्तु सत्स्वरूप है वही वस्तु असत्स्वरूप है, जो वस्तु नित्यस्वरूप है वही वस्तु अनित्यस्वरूप है । इस प्रकार एकवस्तु में वस्तुपने की उपजाने वाली परस्पर विरुद्ध दो शक्तियां अपने आत्मवस्तु के ज्ञानमात्र होने पर भी पाई जाती हैं । आत्मा का ज्ञानमात्रपना होने से भी अन्तरङ्ग में प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप से तो तत्स्वरूपपना है और बाह्य उघड़ते अनन्त ज्ञेयभाव को प्राप्त ज्ञानस्वरूप से भिन्न जो परद्रव्यों के रूप उनसे अतत्स्वरूपपना है, ज्ञान उन स्वरूप नहीं है । सहभूत प्रवर्तमान और क्रमरूप प्रवर्तमान अनन्त चैतन्य के अंश उनके समुदायरूप अविभागरूप जो द्रव्यत्व उससे तो एकपना है तथा अविभाग एकद्रव्य में व्याप्त जो सहभूत प्रवर्तमान या क्रमरूप प्रवर्तमान चैतन्य के अनन्त अंशों स्वरूप पर्यायों से अनेकपना है । अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावरूप होने की शक्ति के स्वभावपने से सत्स्वरूप है और पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होने की शक्ति के स्वभावपने के अभाव से असत्स्वरूप है । अनादिनिधन अविभाग एक वृत्तिरूप परिणमन होने से नित्यस्वरूप है और क्रम से प्रवर्तमान एक समय में अनेक वृत्तियों के अंश रूप से परिणमन होने से अनित्यपनास्वरूप है । इस तरह तत्पना-अतत्पना, एकपना-अनेकपना, सत्पना-असत्पना, नित्यपना-अनित्यपना प्रकट प्रकाशित होता है । यहां तर्क, यदि आत्म-वस्तु के ज्ञानमात्रपना होने पर भी स्वयमेव अनेकान्त प्रकाशता है तो अर्हन्त भगवान् उसके साधन के रूप में अनेकान्त का (स्याद्वाद का) किसलिये उपदेश करते हैं ? उसका समाधान—जो अज्ञानी जन हैं उनके ज्ञानमात्र आत्मवस्तु के प्रसिद्ध करने के लिये उपदेश देते हैं । निश्चयतः अनेकान्त के बिना ज्ञानमात्र आत्मवस्तु ही प्रसिद्ध नहीं होती । यही कहते हैं—स्वभाव से ही बहुत से भावों से भरे हुए इस लोक में सब भावों के अपने-

प्रवृत्तज्ञातृज्ञेयसम्बन्धतयाऽनादिज्ञेयपरिणमनाज्ज्ञानतत्त्वं पररूपेण प्रतिपद्याज्ञानी[1]भूत्वा-त्तमुपैति, तदा स्वरूपेण तत्त्वं द्योतयित्वा ज्ञातृत्वेन परिणमनाज्ज्ञानी कुर्वन्ननेकान्त एव तमुद्गमयति १। यदा तु सर्वं वै खल्विदमात्मेति अज्ञानत्वं ज्ञानस्वरूपेण प्रति-पद्य विश्वोपादानेनात्मानं नाशयति तदा पररूपेणातत्त्वं द्योतयित्वा विश्वाद्भिन्नं ज्ञानं दर्शयन् अनेकान्त एव नाशयितुं न ददाति २। यदानेकज्ञेयाकारैः खण्डितसकलैक-ज्ञानाकारो नाशमुपैति तदा द्रव्येणैकत्वं द्योतयन् अनेकान्त एव तमुज्जीवयतीति ३। यदा त्वेकज्ञानाकारोपादानायानेकज्ञेयाकारत्यागेनात्मानं नाशयति तदा पर्यायैरनेकत्वं द्योतयन् अनेकान्त एव नाशयितुं न ददाति ४। यदा ज्ञायमानपरद्रव्यपरिणमनाद् ज्ञातृद्रव्यं परद्रव्यत्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वद्रव्येण सत्त्वं द्योतयन् अनेकान्त एव

तदतद्रूप एकानेकात्मकः सदसदात्मको नित्यानित्यादिस्वभावात्मको भवतीति कथयति। तथाहि—ज्ञानरूपेण

अपने स्वभाव से अद्वैतपना है तो भी द्वैतपने का निषेध करने का असमर्थपना है। इसलिए सभी वस्तुस्वरूप में प्रवृत्ति और पररूप से व्यावृत्ति इन दोनों रीतियों से दोनों भावों से युक्त है यह नियम है। यही ज्ञानमात्र भाव में लगाना। वहां, जब यह ज्ञानमात्रभाव (आत्मा) शेष भावों के साथ निजरस के भार से प्रवर्तित ज्ञाता-ज्ञेय के सम्बन्ध के कारण और अनादि काल से ज्ञेयों के परिणमन के कारण ज्ञान तत्त्व को पररूप मानकर (अर्थात् ज्ञेयरूप से अङ्गीकार करके) अज्ञानी होता हुआ नाश को प्राप्त होता है, तब उस (ज्ञान मात्र भाव का) स्वरूप से (ज्ञान रूप से तत्पना) प्रकाशित करके अर्थात् (ज्ञान रूप से ही है ऐसा प्रकट करके) ज्ञातारूप से परिणमन के कारण ज्ञानी करता हुआ अनेकान्त ही उसका उद्धार करता है—नाश नहीं होने देता॥ १॥

और जब वह ज्ञानमात्रभाव 'वास्तव में यह सब आत्मा है' इस प्रकार अज्ञानतत्त्व को स्वरूप से (ज्ञान रूप से) मानकर अङ्गीकार करके विश्व के ग्रहण द्वारा अपना नाश करता है (सर्व जगत् को निज रूप मानकर उसका ग्रहण करके जगत् से भिन्न ऐसे अपने को नष्ट करता है) तब उस (ज्ञान मात्र भाव का) पररूप से अतत्पना प्रकाशित करके (अर्थात् ज्ञान पररूप नहीं है यह प्रकट करके) विश्व से भिन्न ज्ञान को दिखाता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना (ज्ञानमात्रभाव का) नाश नहीं करने देता॥ २॥

जब यह ज्ञानमात्रभाव अनेक ज्ञेयाकारों के द्वारा (ज्ञेयों के आकारों द्वारा) अपना सकल (अखण्ड, सम्पूर्ण) एक ज्ञानाकार खंडित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र-भाव का) द्रव्य से एकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जीवित रखता है—नष्ट नहीं होने देता॥३॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव ज्ञान-आकार का ग्रहण करने के लिए अनेक ज्ञेयाकारों के त्याग द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान में जो अनेक ज्ञेयों के आकार आते हैं उनका त्याग करके अपने को नष्ट करता है) तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) पर्यायों से अनेकत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता॥४॥

---

१. नाशमुपैति इत्यपि पाठः।

तमुज्जीवयति ५। यदा तु सर्वद्रव्याणि अहमेवेति परद्रव्यं ज्ञातृद्रव्यत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परद्रव्येणासत्त्वं द्योतयन् अनेकान्त एव नाशयितुं न ददाति ६। यदा परक्षेत्रगतज्ञेयार्थपरिणमनात् परक्षेत्रेण ज्ञानं सत् प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वक्षेत्रेणास्तित्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति ७। यदा तु स्वक्षेत्र भवनाय परक्षेत्रगतज्ञेयाकारत्यागेन ज्ञानं तुच्छीकुर्वन्नात्मानं नाशयति तदा स्वक्षेत्र एव ज्ञानस्य परक्षेत्रगतज्ञेयाकारपरिणमनस्वभावत्वात्परक्षेत्रेण नास्तित्वं द्योतयन् अनेकान्त एव नाशयितुं न ददाति ८। यदा पूर्वालम्बितार्थविनाशकाले ज्ञानस्यासत्त्वं प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वकालेन सत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तमुज्जीवयति ९। यदा त्वर्थालम्बनकाल एव ज्ञानस्य सत्त्वं प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परकालेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति १०। यदा ज्ञायमानपरभावपरिणमनात् ज्ञायकभावं परभाव-

तद्रूपो भवति। ज्ञेयरूपेणातद्रूपो भवति। द्रव्यार्थिकनयेनैकः। पर्यायार्थिकनयेनानेकः। स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावचतुष्टयेन

अब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आनेवाले परद्रव्यों के परिणमन के कारण ज्ञातृद्रव्य को परद्रव्यरूप से मानकर—अङ्गीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) स्व द्रव्य से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥५॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्वद्रव्य मैं ही हूँ, (अर्थात् सर्वद्रव्य आत्मा ही है इस प्रकार परद्रव्य को ज्ञातृद्रव्यरूप से मानकर अङ्गीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञान मात्र भाव का) परद्रव्य से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ (आत्मा परद्रव्य रूप से नहीं है, इस प्रकार प्रकट करता हुआ) अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥६॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव परक्षेत्रगत (परक्षेत्र में रहे हुये) ज्ञेय पदार्थों के परिणमन के कारण परक्षेत्र से ज्ञान को सत् मानकर—अङ्गीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वक्षेत्र से अस्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥७॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव स्वक्षेत्र में रहने के लिये, परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकारों के त्याग द्वारा (अर्थात् ज्ञान में जो परक्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों का आकार आता है उनका त्याग करके) ज्ञान को तुच्छ करता हुआ अपना नाश करता है, तब स्वक्षेत्र में रहकर ही परक्षेत्रगत ज्ञेयों के आकार रूप से परिणमन करने का ज्ञान का स्वभाव होने से (उस ज्ञानमात्रभाव का) परक्षेत्र से नास्तित्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥८॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव पूर्वालम्बित पदार्थों के विनाशकाल में (पूर्व में जिनका आलम्बन किया था ऐसे ज्ञेय पदार्थों के विनाश के समय) ज्ञान को असत्य मानकर अङ्गीकार करके नाश को प्राप्त होता है, तब (उस ज्ञानमात्र भाव का) स्वकाल से (ज्ञान के काल से) सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है—नष्ट नहीं होने देता ॥९॥

और जब वह ज्ञानमात्रभाव पदार्थों के आलम्बन काल में ही (मात्र ज्ञेय पदार्थों को जानते समय ही) ज्ञान का सत्त्व मानकर, अङ्गीकार करके अपना नाश करता है, तब (उस ज्ञानमात्र भावका)

त्वेन प्रतिपद्य नाशमुपैति तदा स्वभावेन सत्त्वं द्योतयन् अनेकान्त एव तमुज्जीवयति ११ यदा तु सर्वे भावा अहमेवेति परभावं ज्ञायकभावत्वेन प्रतिपद्यात्मानं नाशयति तदा परभावेनासत्त्वं द्योतयन्ननेकान्त एव नाशयितुं न ददाति १२ । यदाऽनित्यज्ञान-विशेषैः खण्डितनित्यज्ञानसामान्यो नाशमुपैति तदा ज्ञानसामान्यरूपेण नित्यत्वं द्योत-यन्ननेकान्त एव [1]तमुज्जीवयति १३ । यदा तु नित्यज्ञानसामान्योपादानायानित्यज्ञान-विशेषत्यागेनात्मानं नाशयति तदा ज्ञानविशेषरूपेणानित्यत्वं द्योतयन्ननेकान्त एव तं नाशयितुं न ददाति १४ । भवन्ति चात्र श्लोकाः—

सद्रूपः । परद्रव्य क्षेत्रकालभावचतुष्टयेनासद्रूपः । द्रव्यार्थिकनयेन नित्यः । पर्यायार्थिकनयेनानित्यः । पर्यायार्थिक-नयेन भेदात्मकः द्रव्यार्थिकनयेनाभेदात्मको भवतीत्याद्यनेकधर्मात्मक इति । तदेव स्याद्वादस्वरूपं तु समन्तभद्रा-चार्यदेवैरपि भणितमास्ते—

परकाल से (ज्ञेय के काल से) असत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥१०॥

जब यह ज्ञानमात्र भाव, जानने में आते हुए परभावों के परिणमन के कारण ज्ञायक भाव को परभाव रूप से मानकर—अङ्गीकार करके नाश को प्राप्त होता है तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) स्वभाव से सत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता ॥११

और जब वह ज्ञानमात्र भाव 'सर्वभाव मैं ही हूँ' इस प्रकार परभाव को ज्ञायकभावरूप से मानकर—अङ्गीकार करके अपना नाश करता है तब (उस ज्ञान मात्र भाव का) परभाव से असत्त्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥१२॥

जब वह ज्ञानमात्र भाव अनित्य ज्ञान विशेषों के द्वारा अपना नित्य ज्ञान सामान्य खण्डित हुआ मानकर नाश को प्राप्त होता है, तब (तब उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान सामान्य रूप से नित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे जिलाता है-नष्ट नहीं होने देता ॥१३॥

और जब वह ज्ञानमात्र भाव नित्य ज्ञान सामान्य का ग्रहण करने के लिए अनित्य ज्ञान विशेषों के त्याग के द्वारा अपना नाश करता है (अर्थात् ज्ञान के विशेषों का त्याग करके अपने को नष्ट करता है) तब (उस ज्ञानमात्रभाव का) ज्ञान विशेष रूप से अनित्यत्व प्रकाशित करता हुआ अनेकान्त ही उसे अपना नाश नहीं करने देता ॥१४॥

यहाँ तत्-अतत् के २ भङ्ग, एक अनेक के २ भङ्ग, सत्-असत् के द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव से ८ भङ्ग और नित्य-अनित्य के दो भङ्ग—इस प्रकार सब मिलाकर १४ भङ्ग हुए। इन १४ भङ्गों में यह बताया गया है कि एकान्त से ज्ञान मात्र आत्मा का अभाव होता है और अनेकान्त से आत्मा जीवित रहती है, अर्थात् एकान्त से आत्मा जिस स्वरूप है उस स्वरूप नहीं समझा जाता, स्वरूप में परिणमित नहीं होता, और अनेकान्त से वह वास्तविक स्वरूप से समझा जाता है, स्वरूप में परिणमित होता है।

---

१. नाशयितुं न ददाति इत्यपि पाठः ।

बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झितनिजप्रव्यक्तिरिक्तीभवद्
विश्रान्तं पररूप एव परितो ज्ञानं पशोः सीदति ।
यत्तत्तत्तदिह स्वरूपत इति स्याद्वादिनस्तत्पुन-
र्दूरोन्मग्नघनस्वभावभरतः पूर्णं समुन्मज्जति ॥२४८॥
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य सकलं दृष्ट्वा स्वतत्त्वाशया,
भूत्वा विश्वमयः पशुः पशुरिव स्वच्छन्दमाचेष्टते ।
यत्तत्तत्पररूपतो न तदिति स्याद्वाददर्शी पुन-
र्विश्वाद्भिन्नमविश्वविश्वघटितं तस्य स्वतत्त्वं स्पृशेत् ॥

सदेकनित्यवक्तव्यास्तद्विपक्षाश्च ये नयाः ।
सर्वथेति प्रदुष्यन्ति पुष्यन्ति स्यादितीह ते ॥ १ ॥
सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः ।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषामात्मविद्विषाम् ॥ २ ॥

यहां निम्न प्रकार से (चौदह भङ्गों के कलशरूप) चौदह काव्य भी कहे जा रहे हैं । उनमें से पहले, प्रथम भङ्ग का कलश रूप काव्य कहते हैं—**बाह्यार्थैरित्यादि** । अर्थ—वाह्य ज्ञेय पदार्थों के द्वारा सम्पूर्णतया पिया गया, अपनी व्यक्ति (प्रकटता) को छोड़ देने से रिक्त हुआ समस्ततया पररूप में ही विश्रान्त हुआ—पशुवत् सर्वथा एकान्तवादी का ज्ञान नाश को प्राप्त होता है और स्याद्वादी का ज्ञान है वह अपने स्वरूप से तत्स्वरूप ही है ज्ञानस्वरूप ही है, ऐसे तत्स्वरूप हुआ, अतिशय से प्रकट हुए ज्ञान के समूहरूप स्वभाव के भार से सम्पूर्ण उदयरूप प्रकट होता है ।

भावार्थ—कोई सर्वथा एकान्ती तो ज्ञान को ज्ञेयाकारमात्र ही मानता है उसके ज्ञान को तो ज्ञेय पी गये ज्ञान कुछ न रहा । और स्याद्वादी ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अपने स्वरूप से ज्ञान ही है, ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानत्व को नहीं छोड़ता । इसलिए तत्स्वरूप ज्ञान प्रकट प्रकाशमान है ॥२४८॥

पुनः काव्य कहते हैं—**विश्वं इत्यादि** । अर्थ—अज्ञानी सर्वथा एकान्तवादी, समस्त ज्ञेय पदार्थ ज्ञानमय हैं ऐसा विचारकर सकल जगत् को निजतत्त्व की आशा से देख आप समस्त वस्तुमयी होके तिर्यञ्च की तरह स्वच्छन्द चेष्टा करता है । और जो स्याद्वाद को देखनेवाला है वह उस ज्ञान के निज स्वरूप को ऐसा देखता है कि अपने ज्ञानस्वरूप से तत्स्वरूप है, पर ज्ञेय स्वरूपों से तत्स्वरूप नहीं है । इस प्रकार सब वस्तु से भिन्न, सब ज्ञेय वस्तुओं से घटित होने पर भी समस्तज्ञेयस्वरूप नहीं, और ज्ञेयकाररूप होने पर भी उससे भिन्न ऐसा ज्ञान का स्वरूप अनुभव करता है ।

भावार्थ—जो वस्तु अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है वही वस्तु पर के स्वरूप से अतत्स्वरूप है ऐसे स्याद्वादी देखता है । ज्ञान अपने स्वरूप से तत्स्वरूप है उसी तरह परज्ञेयों के आकार होने पर उनसे भिन्न है इसलिए अतत्स्वरूप है । एकान्तवादी ज्ञान को समस्तवस्तुस्वरूप मान आत्मा को ज्ञेयस्वरूप मान अज्ञानी हो पशु की तरह स्वच्छन्द प्रवर्तता है । ऐसा अतत्स्वरूप का भंग है ॥२४९॥

बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो विश्वग्विचित्रोल्लसज्
ज्ञेयाकारविशीर्णशक्तिरभितस्त्रुट्यन् पशुर्नश्यति ।
एकद्रव्यतया सदाप्युदितया भेदभ्रमं ध्वंसयन्
एकं ज्ञानमबाधितानुभवनं पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५०॥
ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति प्रक्षालनं कल्पयन्
एकाकारचिकीर्षया स्फुटमपि ज्ञानं पशुर्नेच्छति ।
वैचित्र्येऽप्यविचित्रतामुपगतं ज्ञानं स्वतः क्षालितं,
पर्यायैस्तदनेकतां परिमृशन् पश्यत्यनेकान्तवित् ॥२५१॥

अनेकान्तोप्यनेकान्तः प्रमाणनयसाधनः ।
अनेकान्तः प्रमाणात्ते तदेकान्तोऽर्पितान्नयात् ॥ ३ ॥
धर्मिणोऽनन्तरूपत्वं धर्माणां न कथंचन ।
अनेकान्तोप्यनेकान्त इति जैनमतं ततः ॥ ४ ॥

अब काव्य कहते हैं—बाह्यार्थ इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी सर्वथा एकान्तवादी, बाह्य ज्ञेय पदार्थों के ग्रहणरूप ज्ञान के स्वभाव के भार से समस्त अनेक प्रकट ज्ञान में आये ज्ञेय के आकारों से जिसकी शक्ति खण्ड-खण्ड हो गयी है ऐसा हुआ समस्तपने से खण्ड-खण्ड होता आप नाश को प्राप्त होता है और अनेकान्त का जानने वाला सदा उदयरूप ज्ञान के एक द्रव्यत्व से ज्ञेयों के आकार होने से सर्वथा हुए भेद के भ्रम को दूर करता निर्बाध अनुभवस्वरूप ज्ञान को एक देखता है ।

भावार्थ—ज्ञान है वह ज्ञेयों के आकार परिणमने से अनेक दीखता है उसको सर्वथा एकान्तवादी अनेक खण्ड-खण्ड रूप देखता हुआ ज्ञानमय आत्मा का नाश करता है और स्याद्वादी ज्ञान को ज्ञेयाकार होने पर भी सदा उदयरूप द्रव्यत्वरूप से एक देखता है । यह एकस्वरूप भंग है ॥२५०॥

अब काव्य कहते हैं—ज्ञेयाकार इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी सर्वथा एकान्तवादी, ज्ञेयों के आकारों से कलङ्कित अनेकाकार रूप मलिन चैतन्य में एक चैतन्यमात्र के आकार करने की इच्छा से प्रक्षालन की कल्पना करता हुआ ज्ञान अनेकाकार प्रकट है तो भी उसको नहीं मानता, एकाकार ही मान ज्ञान का अभाव करता है । और अनेकान्त का जानने वाला, ज्ञेयाकार से ज्ञान की विचित्रता होने पर भी एकत्व को प्राप्त ज्ञान स्वयमेव धोया हुआ शुद्ध है, एकाकार है ऐसे उस ज्ञान की पर्यायों से अनेकता को अनुभव करता है ।

भावार्थ—एकान्तवादी तो ज्ञान में ज्ञेयाकार को मैल समझ एकाकार करने के लिए ज्ञेयाकार को धोकर ज्ञान का नाश करता है । और अनेकांती ज्ञान को स्वरूप से अनेकाकार स्वरूप मानता है । ऐसा वस्तु का स्वभाव है वह सत्यार्थ है । ऐसा अनेकस्वरूप भंग है ॥२५१॥

प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिरपरद्रव्यास्तितावञ्चितः,
स्वद्रव्यानवलोकनेन परितः शून्यः पशुर्नश्यति ।
स्वद्रव्यास्तितया निरूप्य निपुणं सद्यः समुन्मज्जता ।
स्याद्वादी तु विशुद्धबोधमहसा पूर्णो भवन् जीवति ॥२५२॥
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य पुरुषं दुर्वासनावासितः,
स्वद्रव्यभ्रमतः पशुः किल परद्रव्येषु विश्राम्यति ।
स्याद्वादी तु समस्तवस्तुषु परद्रव्यात्मना नास्तितां,
जानन्निर्मलशुद्धबोधमहिमा स्वद्रव्यमेवाश्रयेत् ॥२५३॥
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्यनियतव्यापारनिष्ठः सदा
सीदत्येव बहिः पतन्तमभितः पश्यन्पुमांसं पशुः

एवं कथंचिच्छब्देन वाचकस्यानेकान्तात्मकवस्तुप्रतिपादकस्य स्याच्छब्दस्यार्थ संक्षेपेण ज्ञातव्यः ।

अब काव्य कहते हैं—प्रत्यक्षा इत्यादि। अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, प्रत्यक्ष प्रमाण से चित्रित हुआ दीखता प्रकट स्थूल निश्चल ऐसे परद्रव्य को देख उसके अस्तित्व से ठगा हुआ अपने निज आत्म द्रव्य के अस्तित्व को नहीं देखने से समस्तपने सर्वथा शून्य हुआ आत्मा का नाश करता है और स्याद्वादी अपने निज द्रव्य के अस्तित्व से निपुण रीति से निज आत्म द्रव्य का निरूपण कर तत्काल प्रकट हुए विशुद्ध ज्ञानरूप तेज से पूर्ण हुआ जीता है, नष्ट नहीं होता।

भावार्थ—एकान्त बाह्य परद्रव्य को प्रत्यक्ष देख उसी का अस्तित्व मानने लगता है और अपना आत्म द्रव्य इन्द्रिय-प्रत्यक्ष कर दीखा नहीं इसलिए उसको शून्य मान आत्मा का नाश करता है। परन्तु स्याद्वादी, ज्ञानरूप तेज से अपने आत्मद्रव्य के अस्तित्व को अवलोकन कर आप जीता है आत्मा का नाश नहीं करता। यह स्वद्रव्य अपेक्षा अस्तित्व का भङ्ग है ॥२५२॥

अब पुनः काव्य कहते हैं—सर्वद्रव्य इत्यादि। अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी आत्मा को सब द्रव्यमयी एक कल्पना कर दुर्नीति की वासना से वासित हुआ प्रकट परद्रव्य में स्वद्रव्य का भ्रम करके विश्राम करता है। और स्याद्वादी, समस्त वस्तु में ही परद्रव्य स्वरूप से नास्तिता को जानता हुआ जिसके शुद्ध ज्ञान की महिमा निर्मल है ऐसा हुआ स्वद्रव्य को ही आश्रय करता है।

भावार्थ—एकान्तवादी तो सब द्रव्यमय एक आत्मा को मान परद्रव्य अपेक्षा नास्तिता का लोप करता है। और स्याद्वादी, सबमें परद्रव्य की अपेक्षा नास्तिता मान अपने निज द्रव्य में रमता है। यह परद्रव्य की अपेक्षा नास्तिता का भङ्ग है ॥२५३॥

पुनः काव्य कहते हैं;—भिन्न इत्यादि। अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय

स्वक्षेत्रास्तितया निरुद्धरभसः स्याद्वादवेदी पुनः
तिष्ठत्यात्मनिखातबोध्यनियतव्यापारशक्तिर्भवन् ।।२५४।।
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध[1] परक्षेत्रस्थितार्थोज्झना-
त्तुच्छीभूय पशुः प्रणश्यति चिदाकारान्सहार्थैर्वमन् ।
स्याद्वादी तु वसन् स्वधामनि परक्षेत्रे विदन्नास्तितां
त्यक्तार्थोऽपि न तुच्छतामनुभवत्याकारकर्षी परान् ।।२५५।।
पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये ज्ञानस्य नाशं विदन्,
सीदत्येव न किञ्चनापि कलयन्नत्यन्ततुच्छः पशुः ।

तत्रैवमनेकान्तव्याख्यानेन ज्ञानमात्रभावो जीवपदार्थः एकानेकात्मको जातः । तस्मिन्नेकानेकात्मके जाते सति

पदार्थों में ज्ञेयज्ञायक सम्बन्ध रूप निश्चित व्यापार में स्थित पुरुष को समस्तपने से बाह्य ज्ञेयों में ही पड़ते हुए को देखता कष्ट को ही प्राप्त होता है। और स्याद्वाद का जानने वाला अपने क्षेत्र में अपने अस्तित्व से जिसने अपना वेग रोक लिया है ऐसा हुआ अपने क्षेत्र में ही अस्तित्वरूप ठहरता है।

भावार्थ—एकान्तवादी तो भिन्न क्षेत्र में स्थित ज्ञेय पदार्थों के जानने के व्यापार रूप हुए पुरुष को बाह्य पड़ता ही मान नष्ट करता है। और स्याद्वादी, अपने क्षेत्र में ही ठहरा हुआ पुरुष अन्यक्षेत्र में स्थित ज्ञेयों को जानता हुआ अपने क्षेत्र में ही अस्तित्व को धारता है—ऐसा मानता आत्मा में ही ठहरता है। यह स्वक्षेत्र में अस्तित्व का भङ्ग है ।।२५४।।

पुनः काव्य कहते हैं—स्वक्षेत्र इत्यादि। **अर्थ**—अज्ञानी एकान्तवादी, अपने क्षेत्र में ठहरने के लिए भिन्न-भिन्न परक्षेत्र में ठहरे हुए ज्ञेय पदार्थों के छोड़ने से तुच्छ होकर अपने चैतन्य के ज्ञेय रूप आकारों को पर ज्ञेय अर्थ के साथ वमन करता हुआ जैसे अर्थों को छोड़ता है वैसे ही चैतन्य के आकारों को भी छोड़ता है तब आप तुच्छ रहा। ऐसे अपना नाश करता है। और स्याद्वादी अपने क्षेत्र में बसता हुआ परक्षेत्र में अपनी नास्तिता को जानता यद्यपि परक्षेत्र के ज्ञेय पदार्थों को छोड़ता है तो भी अपने चैतन्य के जो ज्ञेय रूप आकार हुए उनको पर से खेंचता हुआ तुच्छता को नहीं अनुभव करता, नष्ट नहीं होता।

भावार्थ—एकान्ती तो परक्षेत्र में तिष्ठते ज्ञेय पदार्थों के आकार चैतन्य के आकार हुए उनको जैसे अर्थों को छोड़ता है वैसे चैतन्य के आकारों को भी छोड़ता है। ऐसा जानता है कि चैतन्य के आकारों को अपना करूंगा तो अपना क्षेत्र छूट जायगा इसलिए आप चैतन्य के आकाररहित हुआ तुच्छ (नष्ट) होता है। और स्याद्वादी ज्ञेय पदार्थों को छोड़ देता है तो भी अपने चैतन्य के आकारों को नहीं छोड़ता, अपने क्षेत्र में बसता हुआ परक्षेत्र में अपनी नास्तिता को जानता नष्ट नहीं होता। यह परक्षेत्र की अपेक्षा नास्तिता का भङ्ग है ।।२५५।।

---

१. विधि इत्यपि पाठः ।

अस्तित्वं निजकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
पूर्णस्तिष्ठति बाह्यवस्तुषु मुहुर्भूत्वा विनश्यत्स्वपि ॥२५६॥
अर्थालम्बनकाल एव कलयन् ज्ञानस्य सत्त्वं बहि-
र्ज्ञेयालम्बनलालसेन मनसा भ्राम्यन् पशुर्नश्यति,
नास्तित्वं परकालतोऽस्य कलयन् स्याद्वादवेदी पुनः
तिष्ठत्यात्मनिखातनित्यसहजज्ञानैकपुञ्जीभवन् ॥२५७॥
विश्रान्तः परभावभावकलनान्नित्यं बहिर्वस्तुषु,
नश्यत्येव पशुः स्वभावमहिमन्येकान्तनिश्चेतनः ।
सर्वस्मान्नियतस्वभावभवनज्ञानाद्विभक्तोभवन्,
स्याद्वादी तु न नाशमेति सहजस्पष्टीकृतप्रत्ययः ॥२५८॥

ज्ञानमात्रभावस्य जीवपदार्थस्य नयविभागेन भेदाभेदरत्नत्रयात्मकं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयरूपेणोपायभूतं

पुनः काव्य कहते हैं—पूर्वा इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, पूर्वकाल में आलंबे ज्ञेय पदार्थों के नाश होने के समय में ज्ञान का भी नाश जानता हुआ कुछ भी नहीं जानता तुच्छ हुआ नाश को प्राप्त होता है । और स्याद्वाद का जानने वाला, इस आत्मा के अपने काल से अस्तित्व को जानता हुआ बाह्य वस्तु को बार-बार होके नष्ट हो जाने पर भी आप पूर्ण ही ठहरता है ।

भावार्थ—पहले जो ज्ञेय जाने थे वे उत्तरकाल में नष्ट हो गये उनको देख एकान्ती अपने ज्ञान का भी नाश मान अज्ञानी हुआ आत्मा का नाश करता है और स्याद्वादी ज्ञेय पदार्थों के नष्ट होने पर भी अपना अस्तित्व अपने काल से ही मानता नष्ट नहीं होता । यह स्वकाल अपेक्षा अस्तित्व का भङ्ग है ॥२५६॥

पुनः काव्य कहते हैं—अर्थालम्बन इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, ज्ञेय पदार्थ के आलम्बन काल से ही ज्ञान का अस्तित्व जानता हुआ बाह्य ज्ञेय के आलम्बन में चित्त को अनुराग सहित कर बाह्य भ्रमता हुआ नाश को प्राप्त होता है । और स्याद्वाद का जानने वाला, परकाल से अपने आत्मा का नास्तित्व जानता हुआ आत्मा में खुद जो नित्य स्वाभाविक ज्ञान पुञ्ज उस स्वरूप हुआ ठहरता है, नष्ट नहीं होता ।

भावार्थ—एकान्ती तो ज्ञेय के आलम्बन के काल में ही ज्ञान का सत्त्व जानता है इसलिए ज्ञेय के आलम्बन में मन लगा के बाह्य भ्रमता हुआ नष्ट होता है और स्याद्वादी, ज्ञेय के काल से अपना अस्तित्व नहीं जानता अपने ही काल से अपना अस्तित्व जानता है इसलिये ज्ञेय से भिन्न ही अपने ज्ञान का पुञ्ज रूप हुआ नष्ट नहीं होता । यह परकाल अपेक्षा नास्तित्व का भङ्ग है ॥२५७॥

अब काव्य कहते हैं—विश्रान्त इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, परभाव को ही

अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं शुद्धस्वभावच्युतः,
सर्वत्राप्यनिवारितो गतभयः स्वैरं पशुः क्रीडति ।
स्याद्वादी तु विशुद्ध एव लसति स्वस्य स्वभावं भरा-
दारूढः परभावभावविरहव्यालोकनिष्कम्पितः ॥२५९॥
प्रादुर्भावविराममुद्रितवहज्ज्ञानांशनानात्मना-
निर्ज्ञानात्क्षणभङ्गसङ्गपतितः प्रायः पशुर्नश्यति ।
स्याद्वादी तु चिदात्मना परिमृशंश्चिद्वस्तु नित्योदितं,

साधकरूपं घटते । मोक्षरूपेण पुनरुपेयभूतं साध्यरूपं च घटत इति ज्ञातव्यम् । अथ प्राभृताध्यात्मशब्दयोरर्थः

अपना भाव जानने से बाह्य वस्तुओं में विश्राम करता अपने स्वभाव की महिमा में एकान्तकर निश्चेतन हुआ (जड़ हुआ) आप नाश को प्राप्त होता है। और स्याद्वादी, सभी वस्तुओं में अपना नियमरूपस्वभाव भाव के भवनस्वरूप ज्ञान से पृथक् हुआ, सहज स्वभावका प्रत्यक्ष अनुभवरूप किया है प्रतीतिरूप जानपना जिसने ऐसा हुआ नाशको नहीं प्राप्त होता।

भावार्थ—एकान्ती तो परभाव को निज भाव जान बाह्य वस्तु में ही विश्राम करता हुआ आत्मा का नाश करता है। और स्याद्वादी अपने ज्ञानभाव को ज्ञेयाकार होनेपर भी ज्ञानको ही अपना भाव जानता हुआ अपना नाश नहीं करता। यह अपने भाव की अपेक्षा अस्तित्वका भङ्ग है ॥२५८॥

पुनः काव्य कहते हैं—अध्यास्य इत्यादि। अज्ञानी एकान्तवादी, अपने आत्मा में सब ज्ञेय पदार्थों का होना निश्चयकर शुद्धज्ञान स्वभाव से च्युत हुआ सब पदार्थों में स्वेच्छाचारी हुआ क्रीडा करता है, अपने भाव का लोप करता है और स्याद्वादी, अपने भाव में ही सर्वथा आरूढ हुआ परभाव का अपने भाव में अभाव प्रगट है ऐसा समझ निश्चित हुआ शुद्ध ही शोभायमान है।

भावार्थ-एकान्ती तो परभावों को अपना जान अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ सब जगह निःशङ्क (स्वेच्छा से) प्रवर्तता है। और स्याद्वादी, परभावों को जानता है तो भी उनसे भिन्न अपने आत्मा को शुद्ध ज्ञानस्वभाव अनुभव करता हुआ शोभता है। यह परभाव अपेक्षा नास्तित्व का भङ्ग है।॥२५९॥

पुनः काव्य कहते हैं—प्रादुर्भाव इत्यादि। अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, उत्पाद व्यय से प्राप्त हुए ज्ञान के अंशों द्वारा नाना स्वरूप के निर्णय के ज्ञान से क्षणभङ्ग के सङ्ग में पड़ा बहुधा अपना नाश करता है और स्याद्वादी, चैतन्यस्वरूप से चैतन्य वस्तु को नित्य उदयरूप अनुभव करता हुआ टङ्कोत्कीर्ण घनस्वभाव महिमा वाले ज्ञानरूप से जीता है, अपना नाश नहीं करता।

भावार्थ—एकान्ती तो ज्ञेय के आकारवत् ज्ञान को उत्पन्न होता और विनाश होता देख क्षणभङ्ग की संगतिवत् अपना नाश करता है और स्याद्वादी, ज्ञेय के साथ ज्ञान के उपजने और

टङ्कोत्कीर्णघनस्वभावमहिमा ज्ञानं भवन् जीवति ॥२६०॥

टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसराकारात्मतत्त्वाशया,
वांछत्युच्छलदच्छचित्परिणतेर्भिन्नं पशुः किश्चन ।
ज्ञानं नित्यमनित्यतापरिगमेऽप्यासादयत्युज्ज्वलं,
स्याद्वादी तदनित्यतां परिमृशंश्चिद्वस्तुवृत्तिक्रमात् ॥२६१॥

इत्यज्ञानविमूढानां ज्ञानमात्रं प्रसाधयन् ।
आत्मतत्त्वमनेकान्तः स्वयमेवानुभूयते ॥२६२॥

कथ्यते । तद्यथा—यथा कोऽपि देवदत्तो राजदर्शनार्थं किंचित्सारभूतं वस्तु राज्ञे ददाति तत्प्राभृतं भण्यते । तथा

विनाश होने पर भी चैतन्यभाव का नित्य उदय अनुभव करता हुआ ज्ञानी होता जीता है, अपना नाश नहीं करता । यह नित्यपने का भङ्ग है ॥२६०॥

पुनः काव्य कहते हैं—टङ्कोत्कीर्ण इत्यादि । अर्थ—अज्ञानी एकान्तवादी, टङ्कोत्कीर्ण निर्मल ज्ञान का फैलावरूप एक आकार जो आत्मतत्त्व उसकी आशाकर अपने में उछलती निर्मल चैतन्य की परिणति से पृथक् कुछ आत्मा को चाहता है सो कुछ है नहीं । और स्याद्वादी, नित्यज्ञान को अनित्यता को प्राप्त होने पर भी उज्ज्वल देदीप्यमान चैतन्यवस्तु की प्रवृत्ति के क्रम से ज्ञान की अनित्यता को अनुभव करता हुआ ज्ञान को अङ्गीकार करता है ।

भावार्थ—एकान्ती तो ज्ञान को एकाकार नित्य ग्रहण करने की इच्छा से ज्ञानचैतन्य की परिणति उत्पन्न होती और नाश होती है उससे भिन्न कुछ मानता है सो परिणाम के सिवाय परिणामी कुछ भिन्न तो है नहीं और स्याद्वादी यद्यपि ज्ञान नित्य है तो भी चैतन्य की परिणति क्रम से उपजती विनशती है उसके क्रम से ज्ञान की अनित्यता मानता है वस्तु स्वभाव ऐसा ही है यह अनित्यपने का भङ्ग है ॥२६१॥

अब श्लोक से कहते हैं कि ऐसा अनेकान्त अज्ञान से मोही जीवों को आत्मतत्त्व को ज्ञानमात्र साधता हुआ स्वयमेव अनुभव में आता है—इत्यज्ञान इत्यादि । अर्थ—इस पूर्वोक्त प्रकार अनेकान्त, अज्ञान से मूढ प्राणियों को समझाने के लिये आत्मतत्त्व को ज्ञानमात्र साधता हुआ अपने अनुभवगोचर होता है ।

भावार्थ—अनादिकाल से प्राणी स्वयमेव तथा एकान्तवाद का उपदेश कर आत्मतत्त्व का ज्ञान के अनुभव से अनेक प्रकार पक्षपात कर आत्मा का नाश करते हैं उनको समझाने के लिये आत्मा का स्वरूप ज्ञानमात्र ही कहकर उसको अनेकान्तस्वरूप प्रकट कर स्याद्वाद से दिखलाया है सो यह असत्कल्पना नहीं हैं । ज्ञानमात्र वस्तु अनेकधर्मसहित अपने आप अनुभवगोचर प्रत्यक्ष प्रतिभास में आती है सो हे प्रवीण पुरुषो ! तुम अपने आत्मा की तरफ देख, अनुभव कर देखो । ज्ञान को तत्स्वरूप, अतत्स्वरूप, अनेक स्वरूप, अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव से सत्स्वरूप, परके द्रव्यक्षेत्रकालभाव से असत्स्वरूप, नित्यस्वरूप अनित्यस्वरूप इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव गोचर कर अनेक धर्मस्वरूप प्रतीति में लाओ । यही सम्यग्ज्ञान है । सर्वथा एकान्त मानने से मिथ्याज्ञान है, ऐसा जानना ॥२६२॥

एवं तत्त्वव्यवस्थित्या स्वं व्यवस्थापयन् स्वयम् ।
अलङ्घ्यं शासनं जैनमनेकान्तो व्यवस्थितः ॥२६३॥

परमात्माराधकपुरुषस्य निर्दोषपरमात्म राजदर्शनार्थमिदमपि शास्त्रं प्राभृतम् । कस्मात् ? सारभूतत्वात् इति

अब अनेकान्त की महिमा श्लोक से करते हैं एवमित्यादि । अर्थ—इस प्रकार वस्तु के यथार्थ स्वरूप की व्यवस्थिति कर अपने स्वरूप को आप ही स्थापन करता हुआ अनेकान्त है वह निश्चित ठहरा । कैसा है यह ? किसी से जीता न जाय ऐसा जिनदेव का मत (आज्ञा) है।

भावार्थ—यह अनेकान्त की निर्बाध जिनमत है सो जैसा वस्तु का स्वरूप है वैसा स्थापन करता हुआ अपने आप सिद्ध हुआ है । असत्कल्पना से वचनमात्र प्रलाप किसीने नहीं कहा । सो हे निपुण पुरुषो ! अच्छी तरह विचारकर प्रत्यक्ष अनुमान प्रमाण से अनुभव कर देखो । यहाँ कोई तर्क करता है कि आत्मा अनेकान्तमयी है, अनन्तधर्मा है तो भी उसका ज्ञानमात्रपने से नाम किसलिये किया ? ज्ञान मात्र कहने में तो अन्य धर्मो का निषेध जाना जाता है । उसका समाधान—यहाँ लक्षण की प्रसिद्धि से लक्ष्य की प्रसिद्धि के लिये आत्मा का ज्ञानमात्रपने से नाम किया है कि आत्मा ज्ञानमात्र है । यही कहते हैं—आत्मा का ज्ञान लक्षण है क्योंकि वह ज्ञान आत्माका असाधारण गुण है । यह ज्ञान किसी अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता इसलिये इस ज्ञानलक्षण की प्रसिद्धिकर उससे लखने योग्य आत्मा की प्रसिद्धि होती है । लक्षण वही है जिसको बहुतकर सब जानें और लक्ष्य वह है कि जिसको प्रसिद्धपने न जान सकें । इस कारण लक्षण कहने से लक्ष्य प्रसिद्ध होता है । यहाँ फिर तर्क करता है कि इस लक्षण की प्रसिद्धि से क्या प्रयोजन ? लक्ष्य ही साधने योग्य है, आत्मा को ही साधना चाहिये । उसका समाधान–जिसके लक्षण अप्रसिद्ध है ऐसे अज्ञानी पुरुष के लक्ष्य की प्रसिद्धि नहीं होती । अज्ञानी को तो पहले लक्षण दिखाया जाय तब लक्ष्य जो ग्रहण करता है, क्योंकि जिसके लक्षण प्रसिद्ध हो उसीके उस लक्षणस्वरूप लक्ष्य की प्रसिद्धि होती है । फिर पूछते हैं कि वह लक्ष्य भिन्न ही क्या है जो ज्ञान की प्रसिद्धि से उससे पृथक् ही सिद्ध होता है ? उसका उत्तर–ज्ञान से भिन्न ही लक्ष्य आत्मा नहीं है, क्योंकि द्रव्य रूप से ज्ञान और आत्मा में भेद नहीं है, अभेद ही है । यहाँ फिर पूछते हैं कि ज्ञान आत्मा अभेदरूप है तो लक्ष्य लक्षण का भेद किसके द्वारा किया जाता है ? उसका उत्तर–प्रसिद्धिकर प्रसाध्यमानपना है उससे किया भेद है । ज्ञान प्रसिद्ध है क्योंकि ज्ञानमात्र का स्व-संवेदन कर सिद्धपना है, सब प्राणियों के स्वसंवेदनरूप अनुभव में आता है । उस प्रसिद्धिकर साधे हुए उस ज्ञान से अविनाभावी जो अनन्तधर्म उनका समुदाय रूप अभिन्न देशरूप मूर्ति आत्मा है । इसलिये ज्ञानमात्र में अचलित निश्चल लगाई दृष्टि कर क्रमरूप और अक्रमरूप युगपद्रूप प्रवर्तता जो उस ज्ञान से अविनाभूत अनन्तधर्म का समूह जितना कुछ देखा जाता है उतना कुछ समस्त ही एक निश्चयकर आत्मा है । इसी प्रयोजन के लिये इस अध्यात्म प्रकरण में इस आत्मा का ज्ञानमात्रपने से नाम कहा है । फिर पूछते हैं कि क्रमरूप व अक्रमरूप अनन्त धर्म जिसमें प्रवर्तते हैं ऐसे आत्मा के ज्ञानमात्रपना कैसा है ? उसका समाधान–परस्पर भिन्न-भिन्न स्वरूप को धारण करने वाले अनन्त धर्मो का समुदायरूप परिणत हुई जो एक ज्ञानक्रिया उस मात्र भावरूपकर अपने आप (स्वयमेव) होने से आत्मा के ज्ञानमात्रपना है । आत्मा के जितने धर्म

नन्वनेकान्तमयस्यापि किमर्थमत्रात्मनो ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः ? लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यप्रसिद्ध्यर्थं। आत्मनो हि ज्ञानं लक्षणं तदसाधारणगुणत्वात्तेन ज्ञानप्रसिद्ध्या तल्लक्ष्यस्यात्मनः प्रसिद्धिः। ननु किमनया लक्षणप्रसिद्ध्या लक्ष्यमेव प्रसाधनीयं नाप्रसिद्धलक्षणस्य[1] लक्ष्यस्यप्रसिद्धिः प्रसिद्धलक्षणस्यैव तत्प्रसिद्धेः। ननु किं तल्लक्ष्यं यज्ज्ञानप्रसिद्ध्या ततो भिन्नं प्रसिद्ध्यति ? न ज्ञानाद्भिन्नं लक्ष्यं ज्ञानात्मनोर्द्रव्यत्वेनाभेदात्। तर्हि किंकृतो लक्ष्यलक्षणविभागः ? प्रसिद्धप्रसाध्यमानत्वात् कृतः। प्रसिद्धं हि ज्ञानं ज्ञानमात्रस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। तेन प्रसिद्धेन प्रसाध्यमानस्तदविनाभूतानन्तधर्मसमुदयमूर्तिरात्मा ततो ज्ञानमात्राचलितनिखातया दृष्ट्या क्रमाक्रमप्रवृत्तं तदविनाभूतमनन्तधर्मजातं यद्यावल्लक्ष्यते तत्तावत्समस्तमेवैकः खल्वात्मा। एतदर्थमेवात्रास्य ज्ञानमात्रतया व्यपदेशः। ननु क्रमाक्रमप्रवृत्तानन्तधर्ममयस्यात्मन कथं ज्ञानमात्रत्वं ? परस्परव्यतिरिक्तानन्तधर्मसमुदायपरिणतैकज्ञप्तिमात्रभावरूपेण स्वयमेव भवनात्। अत एवास्य ज्ञानमात्रैकभावान्तःपातिन्योऽनन्ताः शक्तय उत्प्लवन्ते। आत्मद्रव्यहेतुभूतचैतन्यमात्रभावधारणलक्षणा जीवत्वशक्तिः। अजडत्वात्मिका चितिशक्तिः। अनाकारोपयोगमयी दृष्टिशक्ति। साकारोपयोगमयी ज्ञानशक्तिः। अनाकुलत्वलक्षणा सुखशक्तिः। स्वरूपनिर्वर्तनसामर्थ्यरूपा वीर्यशक्तिः। अखण्डितप्रताप-

---

प्राभृतशब्दस्यार्थः। रागादिपरद्रव्यनिरालम्बनत्वेन निजशुद्धात्मनि विशुद्धाधारभूतेऽनुष्ठानमध्यात्मं। इदं प्राभृतशास्त्रं ज्ञात्वा किं कर्तव्यं ? सहजशुद्धज्ञानानन्दैकस्वभावोऽहं निर्विकल्पोऽहं, उदासीनोऽहं निजनिरञ्जन-

---

हैं वे सभी ज्ञान के परिणमनस्वरूप हैं। यद्यपि उनमें लक्षण भेद से भेद है तो भी प्रदेशभेद नहीं है इसलिये एक असाधारण ज्ञान के कहने से सभी इसमें आ गये। इसीसे इस आत्मा का ज्ञानमात्र जो एक भाव उसके अन्तःपातिनी (इसी में आकर पड़ने वाली) अनन्त शक्तियां उदय होती (उघड़ती) हैं ॥२६३॥

उनमें से कितनी एक शक्तियों को कहते हैं। उनका टीका में संस्कृत पाठ है उनकी वचनिका लिखते हैं—आत्म इत्यादि। **अर्थ**—प्रथम तो जीवत्वनामा शक्ति है। वह कैसी है ? आत्मद्रव्य को कारणभूत जो चैतन्यमात्र भाव वही हुआ भावप्राण उसका धारण जिसका लक्षण है ऐसी है। अजड इत्यादि। **अर्थ**—यह दूसरी चितिशक्ति है। वह कैसी है ? जिसका स्वरूप जड़ रहित चेतना है ऐसी है। अनाका इत्यादि। **अर्थ**—यह तीसरी दर्शन क्रिया रूप शक्ति है। कैसी है ? जिसमें ज्ञेयरूप आकार का विशेष नहीं ऐसे दर्शनोपयोगमयी (सत्तामात्र पदार्थ से उपयुक्त होने स्वरूप) है। साकारो इत्यादि। **अर्थ**—यह चौथी ज्ञान शक्ति है। वह कैसी है ? ज्ञेयपदार्थ के आकाररूप विशेष से उपयुक्त होने वाले ज्ञानमयी है। अना इत्यादि। **अर्थ**—यह पांचवीं सुख शक्ति है। कैसी है ? आकुलता से रहितपना जिसका लक्षण है ऐसी है। स्वरूप इत्यादि। **अर्थ**—यह छठी वीर्य शक्ति है। कैसी है ? अपने आत्मस्वरूप की रचना की सामर्थ्य रूप है। अखण्डित इत्यादि।

---

१. लक्ष्यप्रसिद्धिः इत्यपि पाठः।

स्वातन्त्र्यशालित्वलक्षणा प्रभुत्वशक्तिः सर्वभावव्यापकैकभावरूपा विभुत्वशक्तिः। विश्वविश्वसामान्यभावपरिणतात्मदर्शनमयी सर्वदर्शित्वशक्तिः। विश्वविश्वविशेषभावपरिणामात्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्वशक्तिः। नीरूपात्मप्रदेशप्रकाशमानलोकालोकाकारमेचकोपयोगलक्षणा स्वच्छत्वशक्तिः। स्वयंप्रकाशमानविशदस्वसंवित्तिमयी प्रकाशशक्तिः क्षेत्रकालानवच्छिन्नचिद्विलासात्मिकाऽसंकुचितविकाशत्वशक्तिः। अन्याक्रियमाणाऽन्याकारकैकद्रव्यात्मिका अकार्यकारणशक्तिः। परात्मनिमित्तकज्ञेयज्ञानाकारग्रहणग्राहणस्वभावरूपा परिणम्यपरिणामकत्वशक्तिः। अन्यूनातिरिक्तस्वरूपनियतत्वरूपा त्यागोपादानशून्यत्वशक्तिः। षट्स्थानपतितवृद्धिहानिपरिणतस्वरूपप्रतिष्ठत्वकारणविशिष्टगुणात्मिका-अगुरुलघुत्वशक्तिः। क्रमाक्रमवृत्तिवृत्तित्वलक्षणोत्पादव्ययध्रुवत्वशक्तिः।

शुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसञ्जातवीतरागसहजानन्दरूपसुखानु-

---

अर्थ—यह सातवीं प्रभुत्व शक्ति है। कैसी है? जिसका प्रताप किसी से खण्डित न किया जाय ऐसा जो स्वाधीनपना उससे शोभायमानपना जिसका लक्षण है ऐसी है। सर्व इत्यादि। अर्थ—यह आठवीं विभुत्वनामक शक्ति है। सब भावों में व्यापक जो एक भाव उस रूप है, जिसका ज्ञान एक भाव सब भावों में व्याप्त होता है। विश्व इत्यादि। अर्थ—यह नौमी सर्वदर्शित्व नामक शक्ति है। समस्त पदार्थों का समूहरूप जो लोक अलोक उसका सामान्यभाव सत्तामात्र उसके देखने रूप जिसका स्वरूप परिणत हुआ है ऐसे देखने वाली है। विश्व इत्यादि। अर्थ—समस्त पदार्थों का समूह रूप लोक अलोक उनके समस्त जो आकार सहित भाव उनके जानने रूप जिसका स्वरूप परिणत हुआ है ऐसी ज्ञानमयी दशवीं सर्वज्ञत्व नामा शक्ति है। नीरूपा इत्यादि। अर्थ—अमूर्त्तिक आत्मा के प्रदेशों में प्रकाशमान जो लोक अलोक के आकार से अनेक आकार रूप दीखता उपयोग जिसका लक्षण है ऐसी स्वच्छत्व नामा ग्यारहवीं शक्ति है। जिस प्रकार दर्पण में घटपटादि प्रकाशित हों, ऐसी स्वच्छता है। स्वयं इत्यादि। अर्थ—अपने आप प्रकाशमान स्पष्ट अपने अनुभवमयी प्रकाश नामा बारहवीं शक्ति है। क्षेत्र इत्यादि। अर्थ—क्षेत्र काल से अमर्यादरूप चैतन्य का विलास उस स्वरूप असंकुचित विकासत्व नामा तेरहवीं शक्ति है। अन्या इत्यादि। अर्थ—अन्य से न करने योग्य और अन्य का कारण नहीं ऐसा एकद्रव्य उस स्वरूप अकार्यकारणत्वनामा चौदहवीं शक्ति है। परात्म इत्यादि। अर्थ—पर और आप जिनका निमित्त है ऐसे ज्ञेयाकार ज्ञानाकार उनका ग्रहण करना और ग्रहण कराना ऐसा स्वभाव जिसका रूप है, ऐसी परिणम्यपरिणामकत्व नामा पन्द्रहवीं शक्ति है, यह शक्ति ज्ञेयाकार और ज्ञानाकार आप ही परिणमती है। अन्यूना इत्यादि। अर्थ—न घटे न बढ़े ऐसे स्वरूप में नियम रूप जैसे का तैसा रहना उस रूप त्यागोपादानशून्यत्व नामा सोलहवीं शक्ति है। षट् इत्यादि। अर्थ—षट्स्थानपतितवृद्धिहानिरूप परिणत हुआ जो वस्तु के निजस्वरूप की प्रतिष्ठा का कारण विशेष अगुरुलघुत्वनामा गुण उस स्वरूप अगुरुलघुत्वनामा सत्रहवीं शक्ति है। इस षट्स्थान पतित हानि वृद्धि का स्वरूप गोम्मटसार ग्रन्थ से जानना, यह अविभाग प्रतिच्छेद की संख्या रूप षट् स्थानों

द्रव्यस्वभावभूतध्रौव्यव्ययोत्पादालिङ्गितसदृशविसदृशरूपैकाऽस्तित्वमात्रमयी परिणामशक्तिः । कर्मबन्धव्यपगमव्यंजितसहजस्पर्शादिशून्यात्मप्रदेशात्मिका अमूर्तत्वशक्तिः । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामकरणोपरमात्मिका अकर्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मकृतज्ञातृत्वमात्रातिरिक्तपरिणामानुभवोपरमात्मिका अभोक्तृत्वशक्तिः । सकलकर्मोपरमप्रवृत्तात्मप्रदेशनैष्पन्द्यरूपा निष्क्रियत्वशक्तिः । आसंसारसंहरणविस्तरणलक्षितकिंचिदूनचरमशरीरपरिमाणावस्थितलोकाकाशसम्मितात्मावयवत्वलक्षणा नियतप्रदेशत्वशक्तिः । सर्वशरीरैकस्वरूपात्मिका स्वधर्मव्यापकत्वशक्तिः स्वपरसमाना-

---

भूतिमात्रलक्षणेन स्वसंवेदनेव संवेद्यो गम्यः प्राप्यो भरितावस्थोऽहम् राग, द्वेष, मोह क्रोध, मान-मात-माया-

---

से वस्तुस्वभाव का घटना बढ़ना वस्तु के स्वरूप को ठहराने का कारण ऐसा ही कोई गुण है उसको अगुरुलघुगुण कहते हैं, सो यह भी शक्ति आत्मा में है । **क्रमा** इत्यादि । **अर्थ**—क्रमवृत्तिरूप पर्याय, अक्रमवृत्ति गुण, उनका वर्तना जिसका लक्षण है ऐसी उत्पादव्यय-ध्रुवत्वनामा अठारहवीं शक्ति है, क्रमवर्ती पर्याय तो उत्पादव्ययरूप होते हैं और सहवर्ती गुण ध्रुवरूप रहते हैं । **द्रव्य** इत्यादि । **अर्थ**—द्रव्य के स्वभाव भूत ऐसे ध्रौव्य-व्यय-उत्पादों से स्पर्शित जो समान रूप व असमान रूप परिणाम उनस्वरूप एक अस्तित्वमात्रमयी उन्नीसवीं परिणाम शक्ति है । **कर्मबन्ध** के अभाव से व्यक्त हुआ जो स्वभाव से ही स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण से रहित आत्मा का प्रदेश उस स्वरूप अमूर्तत्व नामा बीसवीं शक्ति है । **सकल** इत्यादि । **अर्थ**—सब कर्मों से किये गये ज्ञातापने मात्र से भिन्न परिणाम उनके करने का अभाव स्वरूप इक्कीसवीं अकर्तृत्व शक्ति है, आत्मा ज्ञातापने के अतिरिक्त कर्म से किये परिणामों का कर्ता नहीं है यह भी इसमें शक्ति है । **सकल** इत्यादि । **अर्थ**—सकल कर्मों से किये ज्ञातापने मात्र से भिन्न जो परिणाम उनके नहीं भोगने रूप अभोक्तृत्व नामा बाईसवीं शक्ति है । आत्मा ज्ञातापने के सिवाय कर्म के किये अन्य परिणामों का भोक्ता नहीं है यह भी इसमें शक्ति है । **सकल** इत्यादि । **अर्थ**—सब कर्मों के अभाव से प्रवृत्त हुआ जो आत्मा के प्रदेशों का निश्चलपना उस स्वरूप तेईसवीं निष्क्रियत्व शक्ति है । सब कर्मों का जब अभाव होता है तब प्रदेशों का कम्प मिट जाता है इसलिये यह शक्ति भी इसमें है । **आसंसार** इत्यादि । **अर्थ**—अनादि संसार से लेकर संकोच विस्तार से चिन्हित और किंचित् ऊन चरम-शरीर प्रमाण से अवस्थित ऐसे दोनों भावों को लिये हुए लोकाकाश परिणामस्वरूप अवयवपना जिसका लक्षण है ऐसी नियतप्रदेशत्व शक्ति चौबीसवीं है । आत्मा के लोकपरिणाम असंख्यात प्रदेश नियत हैं वे संसार अवस्था में चरमशरीर से कुछ कम अवस्थित हैं ऐसी शक्ति है । **सर्व** इत्यादि । **अर्थ**—सब ही शरीरों में एक स्वरूप रहना, यह पच्चीसवीं स्वधर्मव्यापकत्व शक्ति है । शरीर के धर्मरूप न होना और अपने धर्मो में व्याप्त होना यह शक्ति है । **स्वपर** इत्यादि । **अर्थ**—अपने पर के समान धर्म व असमान धर्म व समानासमान धर्म ऐसे तीन प्रकार

समानसमानासमानत्रिविधभावधारणात्मिका साधारणासाधारणसाधारणासाधारणधर्मत्वशक्तिः। विलक्षणानन्तस्वभावभावितैकभावलक्षणानन्तधर्मत्वशक्तिः। तदतद्रूपमयत्वलक्षणा विरुद्धधर्मत्वशक्तिः। तद्रूपभवनरूपा तत्त्वशक्तिः। अतद्रूपाऽभवनरूपा अतत्त्वशक्तिः। अनेकपर्यायव्यापकैकद्रव्यमयत्वरूपा एकत्वशक्तिः। एकद्रव्यव्याप्यानेकपर्यायमयत्वरूपा अनेकत्वशक्तिः। भूतावस्थत्वरूपा भावशक्तिः। शून्यावस्थत्वरूपाऽभावशक्तिः। भवत्पर्यायव्ययरूपा भावाभावशक्तिः। अभवत्पर्यायोदयरूपाऽभावभावशक्तिः। भवत्पर्यायभवनरूपा भावभावशक्तिः। अभवत्पर्यायाऽभवनरूपाऽभावाभावशक्तिः। कारकानुगतक्रियानिष्क्रान्तभवनमात्रमयी भावशक्तिः। कारकानुगतभवत्तारूपभावमयी क्रियाशक्तिः। प्राप्यमाणसिद्धरूपभावमयी कर्मशक्तिः। भवत्तारूपसिद्धरूपभावभावकत्वमयी कर्तृशक्तिः। भवद्भावभवनसाधकतमत्वमयी करणशक्तिः। स्वयं दीयमानभावोपेयत्वमयी सम्प्रदानशक्तिः। उत्पादव्ययालिङ्गितभावापायनिर-

---

लोभ—पञ्चेन्द्रियविषयव्यापारमनोवचनकायव्यापार—भावकर्म—द्रव्यकर्म-नोकर्म—ख्याति-पूजा-लाभदृष्टश्रुतानुभूत-

---

के भाव धारणस्वरूप साधारण, असाधारण और साधारणासाधारण धर्मत्व नामा छब्बीसवीं शक्ति है। विलक्ष इत्यादि। अर्थ—परस्पर भिन्न लक्षण स्वरूप जो अनन्त स्वभाव उनसे मिला हुआ जो एक भाव जिसका लक्षण है ऐसी सत्ताईसवीं अनन्तधर्मत्व शक्ति है। तद इत्यादि। अर्थ—तत्स्वरूप और अतत्स्वरूप जिसका लक्षण है ऐसी विरुद्ध धर्मत्व शक्ति अट्ठाईसवीं है। तद्रूप इत्यादि। अर्थ—तत्स्वरूप होना जिसका स्वरूप है ऐसी उनतीसवीं तत्त्वशक्ति है, जो वस्तु का स्वभाव है उसे तत्त्व कहते हैं वही तत्त्वशक्ति है। अत इत्यादि। अर्थ—तत्स्वरूप न होने रूप तीसवीं अतत्त्वशक्ति है, जैसे चेतन जड़रूप नहीं होता यह शक्ति है। अनेक इत्यादि। अर्थ—अनेक पर्यायों में व्यापक जो एक द्रव्य उसमयस्वरूप इकतीसवीं एकत्व शक्ति है। एक इत्यादि। अर्थ—एक द्रव्य में व्यापने योग्य अनेक पर्यायमय स्वरूप बत्तीसवीं अनेकत्व शक्ति है। भूता इत्यादि। अर्थ—विद्यमान परिणामों से अवस्थितस्वरूप तेतीसवीं भाव शक्ति है। शून्या इत्यादि। अर्थ—जिस परिणाम का अभाव है उसके शून्यत्व से अवस्थित स्वरूप चौतीसवीं अभावशक्ति। भवत्—इत्यादि। अर्थ—वर्तमान में होने वाली पर्याय के व्यय होने रूप पैंतीसवीं भावाभावशक्ति है। अभव इत्यादि। अर्थ—वर्तमान में न होने वाले पर्याय के उदय होने रूप छत्तीसवीं अभाव-भाव शक्ति है। भवत् इत्यादि। अर्थ—वर्तमान पर्याय के होने रूप (रहने रूप) सैंतीसवीं भावभाव शक्ति है। अभव इत्यादि। अर्थ—न होने वाले पर्याय के नहीं होने रूप अड़तीसवीं अभावाभाव शक्ति है। कारका इत्यादि। अर्थ—कर्ता कर्म आदि कारकों में अनुगत क्रिया से रहित होने मात्रमयी उनतालीसवीं भावशक्ति है। कारका इत्यादि। अर्थ—कारक के अनुसार होने रूप भावमयी चालीसवीं क्रियाशक्ति है। प्राप्य इत्यादि। अर्थ—पाने में आता ऐसा बना बनाया जो भाव उसमयी इकतालीसवीं कर्मशक्ति है। भवत्ता इत्यादि। अर्थ—होने रूप जो सिद्ध स्वभाव उसके

पायध्रुवत्वमयी अपादानशक्तिः । भाव्यमानभावाधारत्वमयी अधिकरणशक्तिः । स्वभावमात्रस्वस्वामित्वमयी सम्बन्धशक्तिः ।

इत्याद्यनेकनिजशक्तिसुनिर्भरोऽपि यो ज्ञानमात्रमयतां न जहाति भावः ।
एवं क्रमाक्रमविवर्तिविवर्तचित्रं तद्द्रव्यपर्ययमयं चिदिहास्ति वस्तु ।।२६४।।
नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तुतत्त्वव्यवस्थितिरिति प्रविलोकयन्तः ।
स्याद्वादशुद्धिमधिकामधिगम्य सन्तो ज्ञानीभवन्ति जिननीतिमलङ्घयन्तः ।।२६५।।

भोगाकांक्षारूपनिदान-माया-मिथ्याशल्यत्रयादिसर्वविभावपरिणामरहितः शून्योऽहं । जगत्त्रयेऽपि कालत्रयेऽपि

होनेवाले पनासयी ब्यालीसवीं कर्तृत्वशक्ति है। भव इत्यादि। अर्थ—होते हुए भाव के होने में अतिशयवान् साधकपनेमयी तेतालीसवीं करणशक्ति है। स्वयं इत्यादि। अर्थ—अपने ही से देने में आता जो भाव उसके प्राप्त होने योग्यपना पाने योग्यपनेमयी चौवालीसवीं संप्रदान शक्ति है। उत्पाद इत्यादि। अर्थ—उत्पादव्यय से स्पर्शित जो भाव उसके अपाय के होने से नष्ट न होता ऐसे ध्रुवपना उसमयी पैंतालीसवीं अपादानशक्ति है। भाव्यमान इत्यादि। अर्थ—भावने में आता जो भाव उसके आधारपनेमयी छ्यालीसवीं अधिकरणशक्ति है। स्वभाव इत्यादि। अर्थ—अपने भावमात्र स्वस्वामिपनेमयी सम्बन्ध शक्ति सैंतालीसवीं है, अपने भावों का स्वामी आप है, यह सम्बन्ध है। ऐसे सैंतालीस शक्तियों के नाम कहे। इनको आदि लेकर अनेक शक्तियों से युक्त आत्मा है तो भी ज्ञानमात्रपने को नहीं छोड़ता।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य है—इत्याद्य इत्यादि। अर्थ—ऐसे ये सैंतालीस शक्तियां अनेक अपनी शक्तियों से अच्छी तरह परिपूर्ण होने पर भी जो भाव ज्ञानमात्रमयीपने को नहीं छोड़ता वह चैतन्य आत्मा द्रव्यपर्यायमयी इस लोक में वस्तु है। क्रमरूप अक्रमरूम विशेष वर्तने वाले जो विवर्त (परिणमन की विकाररूप अवस्था) उनसे अनेक प्रकार होकर प्रवर्तन करता है।

भावार्थ—कोई जानेगा कि ज्ञानमात्र कहा हुआ आत्मा एकस्वरूप ही है। किन्तु ऐसा नहीं है वस्तु का स्वरूप द्रव्यपर्यायमयी है, चैतन्य भी वस्तु है वह अनन्त शक्ति से भरा है सो क्रमरूप व अक्रमरूप अनेक परिणामों के विकारों का समूह रूप अनेकाकार होता है परन्तु ज्ञान असाधारण भाव को नहीं छोड़ता सब अवस्थायें परिणामपर्यायी हैं वे ज्ञानमय हैं ।।२६४।।

अब इस अनेकस्वरूप वस्तु को जो जानते हैं, श्रद्धान करते हैं और अनुभव करते हैं उनकी प्रशंसा में कलशरूप काव्य कहते हैं।—नैकान्त इत्यादि। अर्थ—वस्तु अपने आप अनेकान्तात्मक है ऐसे वस्तुतत्त्व की व्यवस्था को अनेकान्त में प्राप्त की गई दृष्टि से देखते हुए सत्पुरुष स्याद्वाद की अधिक शुद्धि को अङ्गीकार करके ज्ञानी होते हैं। और जिनेश्वरदेव के स्याद्वादन्याय को उल्लंघन नहीं करते।

भावार्थ—जो सत्पुरुष अनेकान्त में लगायी हुई दृष्टि से ऐसे अनेकान्तरूप वस्तुतत्त्व की मर्यादा को देखते हैं वे स्याद्वाद की शुद्धि को पाकर ज्ञानी होते हैं। वे जिनदेव के स्याद्वाद न्याय को उल्लंघन नहीं करते। स्याद्वादन्याय वस्तु जैसी है वैसा कहता है, इस प्रकार स्याद्वाद का अधिकार पूर्ण हुआ ।।२६५।।

अथास्योपायोपेयभावश्चिन्त्यते । आत्मवस्तुनो हि ज्ञानमात्रत्वेऽप्युपायोपेयभावो विद्यत एव । तस्यैकस्यापि स्वयं साधकसिद्धरूपोभयपरिणामित्वात् । तत्र यत्साधकं रूपं स उपायः । यत्सिद्धं रूपं स उपेयः । अतोऽस्यात्मनोऽनादिमिथ्यादर्शनाज्ञानाचरित्रैः स्वरूपप्रच्यवनात्संससरतः सुनिश्चलपरिगृहीतव्यवहारसम्यग्दर्शनज्ञानचरित्रपाकप्रकर्षपरम्परया क्रमेण स्वरूपमारोप्यमाणस्यान्तर्मग्ननिश्चयसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रविशेषतया साधकरूपेण तथा परमप्रकर्ष[1]मकरिकाधिरूढरत्नत्रयातिशयप्रवृत्तसकलकर्मक्षयप्रज्वलितास्खलितविमलस्वभावभावतया सिद्धरूपेण च स्वयं परिणममानज्ञानमात्रमेकमेवोपायोपेयभावं साधयति । एवमुभयत्रापि ज्ञानमात्रस्यानन्यतया नित्यमस्खलितैकवस्तुनो निष्कम्पपरिग्रहणात् तत्क्षण एव मुमुक्षूणामासंसारादलब्धभूमिकानामपि भवति भूमिका लाभः। ततस्तत्र नित्यदुर्ललितास्ते स्वत एव क्रमाक्रमवृत्तानेकान्तमूर्तयः साधकभावसंभवपरमप्रकर्षकोटिसिद्धिभावभाजनं भवन्ति । ये तु नेमामन्तर्नीतानेकान्तज्ञानमात्रैकभावरूपां भूमिमुपलभन्ते ते नित्यमज्ञानिनो भवन्तो ज्ञानमात्रभावस्य स्वरूपेणाभवनं पररूपेण भवनं पश्यन्तो जानन्तोऽनुचरन्तश्च मिथ्यादृष्टयो मिथ्याज्ञानिनो मिथ्याचरित्राश्च भवन्तोऽत्यन्तमुपायोपेयभ्रष्टा विभ्रमन्त्येव ।

मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च शुद्धनिश्चयेन तथा सर्वजीवाः । इति निरन्तरं भावना कर्तव्या । इति स्याद्वादोऽधिकारः ।

अब ज्ञानमात्र भाव के उपाय और उपेय दो भावों का विचार करते हैं। उपाय वह है जिससे पाने योग्य भाव पाये जांय, उसको मोक्षमार्ग भी कहते हैं और उपेय भाव पाने योग्य (आदर करने योग्य) भाव को कहते हैं। वह आत्मा का शुद्ध सब कर्मों से रहित भाव है, उसको मोक्ष भी कहते हैं। सो यद्यपि ज्ञानमात्र भाव एक है, तो भी अनेकान्तस्वरूप है। उसमें स्याद्वाद से साधा हुआ उपाय और उपेय ये दोनों भाव एक में ही बनते हैं। उन्हीं का विचार करते हैं—आत्मवस्तु के ज्ञानमात्र होने पर भी उपाय और उपेय भाव विद्यमान ही हैं, क्योंकि उस एक के भी अपने आप साधक और सिद्ध इन दोनों रूप परिणामीपना है। आत्मा तो परिणामी है और साधकपना व सिद्धपना ये दोनों परिणाम हैं। उनमें साधकरूप तो उपाय है और जो सिद्ध है वह उपेय है। क्योंकि इस आत्मा के अनादिकाल से मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान-मिथ्याचारित्रों के कारण अपने स्वरूप से च्युत होने से संसार में भ्रमण करते हुए के भली प्रकार ग्रहण किए गए व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र के परिपाक (पचना) के बढ़ने की परम्परा के अनुक्रम से अपने स्वरूप में अपने को आरोपण करने वाले के अन्तर्मग्न निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र के विशेषपने से साधक रूप है। इस तरह परमप्रकर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त रत्नत्रय की अतिशयता से प्रवर्तित, सकलकर्म के क्षय से दैदीप्यमान, अस्खलित और विमल स्वभाव के कारण स्वयं सिद्धरूप से परिणत, ऐसा एक ही ज्ञानमात्र उपाय और उपेय भाव को सिद्ध करता है।

---

१. मकरा एव मकरिका मर्यादा—इत्यर्थः।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पां भूमिं श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिद्धा मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ॥२६६॥
स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसंयमाभ्यां यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः श्रयति भूमिमिमां स एकः ॥२६७॥

अत्र ग्रंथे प्रचुरेण पदानां सन्धिर्न कृता । वाक्यानि च भिन्नभिन्नानि कृतानि सुखबोधार्थं । तेन कारणेन

भावार्थ—यह आत्मा अनादिकाल से मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र के कारण संसार में भ्रमण करता है। जब व्यवहार सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र को निश्चल अङ्गीकार करे, तब अनुक्रम से अपने स्वरूप के अनुभव की वृद्धि करता हुआ निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता को प्राप्त होता है तब तक तो साधक रूप है और निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की पूर्णता से सब कर्मों का नाश हो तब साक्षात् मोक्ष होता है, वही सिद्धरूप भाव है। सो इन दोनों भावरूप, ज्ञान का ही परिणाम है, वही उपायोपेय भाव है। इस तरह दोनों ही भावों में ज्ञानमात्र का अनन्यपना है, और अन्यपना नहीं है। उससे निरन्तर नहीं चिगता जो एक वस्तु उसके निष्कम्प परिग्रहण से उसी काल मोक्ष के चाहने वाले पुरुषों के अनादि संसार से लेकर कभी जिन्होंने नहीं पायी ऐसी भूमिका का इस प्रकार लाभ होता है, इसलिए वे सत्पुरुष वहाँ सदाकाल निश्चल हुए आप से ही क्रमरूप और अक्रमरूप प्रवर्ते अनेक धर्मो की मूर्ति हुए, साधक भाव से जिसकी उत्पत्ति है ऐसे परमप्रकर्ष की हदरूप सिद्धभाव के पात्र होते हैं। और अनेक धर्म जिसमें गर्भित हैं ऐसे ज्ञानमात्र एकभावस्वरूप ऐसी भूमि को जो नहीं पाते वे नित्य अज्ञानी हुए ज्ञानमात्रभाव को अपने स्वरूपकर नहीं होना और पररूपकर होना श्रद्धान करते, जानते और आचरण करते हुए मिथ्यादृष्टि हुए, मिथ्याज्ञानी हुए, मिथ्याचारित्री हुए, अत्यन्त उपायोपेयभाव से भ्रष्ट हुए संसार में भ्रमते ही रहते हैं।

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं—**ये ज्ञान** इत्यादि। **अर्थ**—जिनका किसी तरह अज्ञान (मिथ्यात्व) दूर हो गया है ऐसे भव्यपुरुष ज्ञानमात्र, निजभावमयी निश्चल भूमिका को आश्रय करते हैं। वे पुरुष साधकपने को अङ्गीकार करके सिद्ध होते हैं। और जो मोही (अज्ञानी-मिथ्यादृष्टि) हैं वे भूमिका को न पाकर संसार में भ्रमण करते हैं।

भावार्थ—जो पुरुष गुरु के उपदेश से तथा स्वयमेव काललब्धि को पाकर मिथ्यात्व से रहित होते हैं वे ज्ञानमात्र अपने स्वरूप को पाकर साधक होकर सिद्ध होते हैं। और जो अपने को ज्ञानमात्र नहीं पाते, वे संसार में भ्रमण करते हैं ॥२६६॥

अब कहते हैं कि वे भूमिका किस प्रकार पाते हैं—**स्याद्वाद** इत्यादि। **अर्थ**—जो पुरुष स्याद्वादन्याय का प्रवीणपना और निश्चल व्रतसमितिगुप्तिरूप संयम इन दोनों के द्वारा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में उपयोग लगाता हुआ आत्मा को निरन्तर भाता है, वही पुरुष ज्ञाननय और क्रियानय से उन दोनों में परस्पर तीव्र मैत्रीभाव का पात्रभूत हुआ इस निज भावमयी भूमिका को पाता है।

भावार्थ—जो ज्ञानमय को ही ग्रहण कर क्रियानय को छोड़ता है, वह प्रमादी स्वच्छन्द

चित्पिण्डचण्डिमविलासिविकासहासः [1]शुद्धप्रकाशभरनिर्भरसुप्रभातः ।
आनन्दसुस्थितसदास्खलितैकरूपस्तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ॥२६८॥
स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावैर्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ॥२६९॥
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्डमेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोऽस्मि ॥२७०॥

लिङ्ग-वचन-क्रिया-कारक-सन्धिसमास-विशेष्य-विशेषणवाक्य-समाप्त्यादिकं दूषणं न ग्राह्यं विवेकिभिः । शुद्धा-

---

हुआ इस भूमि को नहीं पाता । और जो क्रियानय को ही ग्रहण कर ज्ञाननय को नहीं जानता वह भी शुभ कर्म से संतुष्ट हुआ इस निष्कर्म भूमिका को नहीं पाता । तथा जो ज्ञान पाकर निश्चय संयम को अङ्गीकार करते हैं उनके ज्ञाननय के और क्रियानय के परस्पर अत्यन्त मित्रता होती है, वे ही इस भूमिका को पाते हैं । इन दोनों नयों के ग्रहण त्याग का स्वरूप व फल पञ्चास्तिकाय ग्रन्थ के अन्त में कहा है वहां से जानना ॥२६७॥

अब काव्य से कहते हैं कि जो इस भूमिका को पाता है वही आत्मा को पाता है—**चित्पिण्ड** इत्यादि । **अर्थ**—जो पुरुष पूर्वोक्त प्रकार भूमिका को पाता है, उसी पुरुष के यह आत्मा उदय होता है । कैसा है आत्मा ? चैतन्यपिण्ड का निरर्गल विलास करने वाला जो प्रफुल्लित होना उसरूप जिसका फूलना है, शुद्ध प्रकाश के समूह से उत्तम प्रभात के समान उदय रूप है, आनन्द से अच्छी तरह ठहरा सदा नहीं चिगता है एकरूप जिसका, जिसकी ज्ञान रूप दीप्ति अचल है । ऐसा है ।

भावार्थ—यहां चित्पिण्ड इत्यादि विशेषण से तो अनन्त दर्शन का प्रकट होना बतलाया है, अचल शुद्धप्रकाश इत्यादि विशेषण से अनन्तज्ञान का प्रकट होना जताया है, आनन्दसुस्थित इत्यादि विशेषण से अनन्तसुख का प्रकट होना जताया है और अचलार्चि इस विशेषण से अनन्तवीर्य का प्रकट होना जतलाया है । पूर्वोक्त भूमि के आश्रय से ऐसा आत्मा का उदय होता है ॥२६८॥

अब काव्य से कहते हैं कि ऐसा ही आत्मस्वभाव हमारे भी प्रकट होवे—**स्याद्वाद** इत्यादि । **अर्थ**—स्याद्वाद से प्रकाशरूप हुआ है लहलहाट करता तेज:पुञ्ज जिसमें, और जिसमें शुद्ध स्वभाव की महिमा है ऐसा ज्ञानप्रकाश मुझ में उदय होने से बन्ध मोक्ष के मार्ग से पटकने वाले अन्य भावों से क्या साध्य है ? मेरे तो केवल अनन्तचतुष्टयरूप यह अपना स्वभाव ही निरन्तर उदयरूप हुआ स्फुरायमान होवे ।

भावार्थ—स्याद्वाद के द्वारा यथार्थ आत्मज्ञान होने के बाद इसका फल पूर्ण आत्मा का प्रकट होना है । मोक्ष का इच्छुक पुरुष यही प्रार्थना करता है कि मेरा पूर्णस्वभाव आत्मा उदय हो । अन्य भाव बन्धमोक्ष मार्ग की कथारूप है उनसे क्या प्रयोजन है ? ॥२६९॥

अब काव्य से कहते हैं कि यद्यपि नयों के द्वारा आत्मा साधा जाता है तथापि यदि नयों

---

१. शुद्धप्रकाशभरेण निर्भरमत्यन्तं शुद्धो भातः सुष्ठु प्रदीप्तः ।

न द्रव्येण खण्डयामि । न क्षेत्रेण खण्डयामि । न कालेन खण्डयामि । न भावेन खण्डयामि । सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रोभावोऽस्मि ।

योऽयं भावो ज्ञानमात्रोऽहमस्मि ज्ञेयो ज्ञेयज्ञानमात्रः स नैव ।

ज्ञेयो ज्ञेयः ज्ञानकल्लोलवल्गन् ज्ञानज्ञेयज्ञातृमद्वस्तुमात्रम् ॥१७१॥

स्मादितत्त्वप्रतिपादनविषये यदज्ञानात् किंचिद्विस्मृतं तदपि क्षमितव्यमिति । जयउ रिसि पउमणंदी जेण महा-

---

पर ही दृष्टि रहे तो नयों में परस्पर विरोध भी है इसलिये मैं नयों का विरोध मिटाकर आत्मा का अनुभव करता हूँ—चित्रात्म इत्यादि । अर्थ—यह आत्मा अनेक प्रकार की अपनी शक्तियों के समुदायमय है। नयों की दृष्टि से भेदरूप किया हुआ तत्काल खण्ड खण्डरूप होकर नाश को प्राप्त होता है। इसलिये मैं अपने आत्मा को ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं चैतन्यमात्र तेजरूप वस्तु हूँ। जिसमें खण्ड दूर नहीं किये गये हैं तो भी खण्ड (भेद) रहित अखण्ड हूं एक हूं। जिसमें कर्म के उदय का लेश नहीं ऐसा शान्तभावमय हूं और अचल हूँ अर्थात् कर्म के उदय से चलाया नहीं चलता ।

भावार्थ—आत्मा में अनेक शक्तियां हैं, एक-एक शक्ति का ग्राहक एक-एक नय है। सो नयों की एकान्त दृष्टि से देखो तो आत्मा का खण्ड-खण्ड हो नाश हो जाय। इसलिये स्याद्वादी, नयों की विरोध मेंट चैतन्यमात्र वस्तु अनेकशक्तिसमूहरूप सामान्यविशेषस्वरूप सर्वशक्तिमय एक ज्ञानमात्र को अनुभव करता है। ऐसा वस्तु का स्वरूप है, उसमें विरोध नहीं है ॥२७०॥

अब ज्ञानी अखण्ड आत्मा का ऐसा अनुभव करता है उसे कहते हैं—न द्रव्येण इत्यादि । अर्थ—ज्ञानी शुद्धनय का आलम्बन लेकर ऐसा अनुभव करता है कि मैं अपने शुद्धात्मस्वरूप को न तो द्रव्य से खण्डित करता हूँ न क्षेत्र से खण्डित करता हूं न काल से खण्डित करता हूँ और न भाव से खण्डित करता हूं। अत्यन्त विशुद्ध (निर्मल) एक ज्ञानमय भाव हूँ।

भावार्थ—शुद्धनय से देखा जाय तब द्रव्यक्षेत्रकालभाव से शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में कुछ भी भेद नहीं दीखता। इसलिये ज्ञानी अभेदज्ञानस्वरूप अनुभव में भेद नहीं करता।

अब कहते हैं कि मैं तो ज्ञान हूँ और ज्ञेय ज्ञेय हैं—योऽयमित्यादि । अर्थ—जो यह मैं ज्ञानमात्र भाव हूं सो ज्ञेय का ज्ञानमात्र नहीं जानना। तो यह ज्ञानमात्र भाव कैसा जानना ? ज्ञेयों के आकार जो ज्ञान के कल्लोल उनको विलगता ऐसा ज्ञान वही ज्ञान, वही ज्ञेय, वही ज्ञाता इस तरह ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता, इन तीन भावों सहित वस्तुमात्र जानना।

भावार्थ—अनुभव करते ज्ञानमात्र अनुभवै तब बाह्य ज्ञेय तो पृथक् ही हैं ज्ञान में बैठे नहीं और ज्ञेयों के आकार की झलक ज्ञान में है सो वह ज्ञान भी ज्ञेयाकाररूप दीखता है। ये ज्ञान के कल्लोल हैं सो ऐसा भी ज्ञान का स्वरूप है। आपसे आप जानने योग्य है इसलिये ज्ञेयरूप भी है। आप ही अपने को जानने वाला है इसलिये ज्ञाता भी है। ऐसे तीनों भावस्वरूप ज्ञान एक हैं। इसीसे सामान्य विशेषस्वरूप वस्तु कहा जाता है, उस मात्र ही ज्ञानमात्र कहा जाता है। सो अनुभव करने वाला इसी तरह अनुभव करे कि ऐसा ज्ञानभाव यह मैं हूँ ॥२७१॥

क्वचिल्लसति मेचकं क्वचिन्मेचकाऽमेचकं
क्वचित् पुनरमेचकं सहजमेव तत्त्वं मम ।
तथापि न विमोहयत्यमलमेधसां तन्मनः
परस्परसुसंहतप्रकटशक्तिचक्रं स्फुरत् ॥२७२॥
इतो गतमनेकतां दधदितः सदाप्येकता-
मितः क्षणविभंगुरं ध्रुवमितः सदैवोदयात् ।
इतः परमविस्तृतं धृतमितः प्रदेशैर्निजै-
रहो सहजमात्मनस्तदिदमद्भुतं वैभवम् ॥२७३॥

तच्चपाहुडसेलो । बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स ॥१॥ जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरमणंतं ।

अब काव्य से कहते हैं कि अनुभव की दशा में अनेकरूप दीखते हैं तो भी यथार्थ ज्ञाता निर्मल ज्ञान को नहीं भूलता ।

क्वचिल्ल इत्यादि । **अर्थ**—अनुभव करनेवाला कहता है कि मेरा आत्मतत्त्व कभी तो अनेकाकार दीखता है, कभी शुद्ध एकाकार दीखता है, कभी दोनों रूप दीखता है, तो भी जो निर्मल बुद्धि हैं उनके मन को भ्रम उत्पन्न नहीं करता, क्योंकि वह परस्पर अच्छी तरह मिलीं जो प्रगट अनेक शक्तियां उनके समूह स्वरूप स्फुरायमान होता है ।

भावार्थ—आत्मतत्त्व अनेक शक्तियों को लिये हुए है इसलिये किसी अवस्था में कर्म के उदय के निमित्त से अनेक आकार अनुभव में आते हैं, किसी अवस्था में शुद्ध एकाकार अनुभव में आता है और किसी अवस्था में शुद्धाशुद्धरूप अनुभव में आता है, तो भी यथार्थ ज्ञानी स्याद्वाद के बल से भ्रमरूप नहीं होता । जैसा है वैसा ही मानता है, ज्ञानमात्र से च्युत नहीं होता ॥२७२॥

अब काव्य से कहते हैं कि अनेकरूप को धारता यह आत्मा का अद्भुत आश्चर्यकारी विभव है—**इतो** इत्यादि । **अर्थ**—अहो ! बड़ा आश्चर्यकारी यह आत्मा का स्वाभाविक अद्भुत विभव है कि एक तरफ देखो तो अनेकता को धारण करता है, यह पर्याय दृष्टि है । एक तरफ देखिये तो सदा ही एकता ही धारता है, यह द्रव्यदृष्टि है । एक तरफ देखा जाय तो क्षणभंगुर है, वह क्रमभावी पर्यायदृष्टि है । एक तरफ देखा जाय तो ध्रुव दीखता है, यह सहभावी गुणदृष्टि है क्योंकि सदा उदयरूप दीखती है । एक तरफ देखिये तो परमविस्तारस्वरूप दीखता है, यह ज्ञान अपेक्षा सर्वगत दृष्टि है । और एक तरफ देखिये तो अपने प्रदेशों से ही धारण किया जाता है, यह प्रदेशों की अपेक्षादृष्टि है । ऐसे आश्चर्यरूप विभव को आत्मा धारण करता है ।

भावार्थ—यह द्रव्यपर्यायात्मक अनन्तधर्मा वस्तु का स्वभाव है । जो पूर्ण अज्ञानी हैं उनके ज्ञान में आश्चर्य उत्पन्न होता है कि यह असम्भव सी बात है । ज्ञानियों के वस्तु स्वभाव में आश्चर्य नहीं है, तो भी ऐसा अद्भुत परम आनन्द होता है कि ऐसा पहले कभी नहीं हुआ, यह आश्चर्य भी उपजता है ॥२७३॥

कषायकलिरेकतः स्खलति शान्तिरस्त्येकतो
भवोपहतिरेकतः स्पृशति मुक्तिरप्येकतः ।
जगत्त्रितयमेकतः स्फुरति चिच्चकास्त्येकतः
स्वभावमहिमात्मनो विजयतेऽद्भुताद‌द्भुतः ॥२७४॥

जयति सहजतेजः पुञ्जमज्जत्त्रिलोकी—
स्खलदखिलविकल्पोऽप्येक एव स्वरूपः ।
स्वरसविसरपूर्णाच्छिन्नतत्त्वोपलम्भः
प्रसभनियमितार्चिश्चिच्चमत्कार एषः ॥२७५॥

तं सव्वजीवसरणं पंदउ जिणसासणं सुइरं ॥२॥ यश्चान्यस्यति संशृणोति पठति प्रख्यापयत्यादरात् । तात्पर्या-

---

अब इसी का अर्थरूप काव्य है—कषाय इत्यादि । अर्थ—आत्मा के स्वभाव की महिमा अद्भुत से अद्भुत विजयरूप प्रवर्तती है, किसी से बाधित नहीं होती । एक तरफ देखिये तो कषायों का क्लेश दीखता है, एक तरफ देखिये तो कषायों का उपशमरूप शान्तभाव है, एक तरफ देखिये तो संसारसंबंधी पीड़ा दीखती है, एक तरफ देखिये तो संसार का अभावरूप मुक्ति भी स्पर्श करती है, और एक तरफ देखिये तो केवल (एक) चैतन्यमात्र ही शोभता है, इस प्रकार अद्भुत से अद्भुत महिमा है ।

भावार्थ—यहां भी पहले काव्य के भावार्थरूप ही जानना । यह अन्यवादी सुनकर बड़ा आश्चर्य करते हैं । उनके चित्त में विरोध के कारण यह बात समझ में नहीं आ सकती । यदि उनके कभी श्रद्धा भी हो जाय तो प्रथम अवस्था में बड़ा अद्भुत दीखता है कि हमने अनादिकाल योंही खोया, ये जिनवचन बड़े उपकारी हैं, वस्तु का स्वरूप यथार्थ जताते हैं, ऐसा आश्चर्य कर श्रद्धान करता है ॥२७४॥

आगे टीकाकार इस सर्वविशुद्धज्ञान के परिशिष्ट अधिकार को पूर्ण करते हैं, इसके अन्त के मंगल के लिए इस चिच्चमत्कार को ही काव्य से सर्वोत्कृष्ट कहते हैं—जयति इत्यादि । अर्थ—यह प्रत्यक्ष अनुभवगोचर चैतन्यचमत्कार जयवन्त प्रवर्तता है, किसी से बाधा न जाय इस तरह सर्वोत्कृष्ट हो प्रवर्तता है । अपने स्वभावस्वरूप प्रकाशरूप के पुञ्ज में मग्न हुए जो तीन लोक के पदार्थ उनसे जिसमें अनेक भेद हुए दीखते हैं ऐसा है तो भी एकस्वरूप ही है, अर्थात् केवलज्ञान में सब पदार्थ झलकते हैं वे अनेक ज्ञेयाकाररूप दीखते हैं तो भी चैतन्यरूप ज्ञानाकार की दृष्टि में एक ही स्वरूप है । अपने निज रस से पूर्ण ऐसा तत्त्वस्वरूप का पाना जिसका छिदा नहीं है अर्थात् प्रतिपक्षी कर्म का अभाव होने से जिसके स्वभाव का अभाव नहीं पाया जाता । प्रगट बलात्कार से जिसकी दीप्ति नियमरूप है, अपने अनन्त वीर्य से निष्कम्प ठहर रहा है । ऐसा चिच्चमत्कार जयवन्त है । यहां जयवन्त कहने से सर्वोत्कृष्टपने कर रहना कहा तो यही मङ्गल है ।

अविचलितचिदात्मन्यात्मनात्मानमात्म-
न्यनवरतनिमग्नं धारयद् ध्वस्तमोहम् ।
उदितममृतचन्द्रज्योतिरेतत्समन्ताज्-
ज्वलतु विमलपूर्णं निःसपत्नस्वभावम् ॥२७६॥
मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादितः ।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्तिं नमाम्यहम् ॥१॥

अथ द्रव्यस्यादेशवशेनोक्तां सप्तभङ्गीमवतारयामः—स्यादस्ति द्रव्यं ।१। स्यान्नास्ति द्रव्यं ।२। स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यं ।३। स्यादवक्तव्यं द्रव्यं ।४। स्यादस्ति

ख्यमिदं स्वरूपरसिकैः संवर्णितं प्राभृतं । शश्वद्रूपमलं विचित्रसकलं ज्ञानात्मकं केवलं संप्राप्याग्रपदेऽपि मुक्तिललनारक्तः सदा वर्तते ॥३॥

आगे टीकाकार अपने नाम को प्रगट करते हुए पूर्वोक्त आत्मा को ही आशीर्वाद देते हैं— **अविचलित** इत्यादि । अर्थ—यह अमृतचन्द्रज्योति अर्थात् जिसका मरण नहीं, तथा जिससे अन्य का भी मरण नहीं वह अमृत और अत्यन्त स्वादुरूप मिष्ट हो उसे लोक रूढि से अमृत कहते हैं, ऐसी अमृतमयी चन्द्रमा के समान ज्योति अर्थात् प्रकाशस्वरूपज्ञान या प्रकाशस्वरूपआत्मा वह उदय को प्राप्त हुआ सब क्षेत्रकाल में देदीप्यमान प्रकाशरूप रहो । कैसी है ? निश्चलचेतना जिसका स्वरूप है ऐसे आत्मा में आप ही द्वारा अपने आत्मा को निरन्तर मग्न करती हुई धारती है, अपने प्राप्त किये स्वभाव को कभी नहीं छोड़ती । जिसका मोह नाश को प्राप्त हुआ है अर्थात् जिसने अज्ञान अन्धकार को दूर किया है । जिसका स्वभाव प्रतिपक्षी कर्म से रहित है, निर्मल है और पूर्ण है ।

भावार्थ—यहां आत्मा को अमृतचंद्रज्योति कहा, सो यह लुप्तोपमा अलंकार से कहा जानना, क्योंकि अमृतचंद्रवत् ज्योति ऐसा समास करने से वत् शब्द का लोप हो जाता है तब अमृतचंद्रज्योति कहा जाता है और वत् शब्द न करो तो अमृतचंद्ररूप ज्योति ऐसा कहना तब भेदरूपक अलंकार है । तथा अमृतचंद्रज्योति ऐसा ही आत्मा का नाम कहो तब अभेदरूपक अलंकार होता है । इसके विशेषणों के द्वारा चन्द्रमा से व्यक्तिरेक भी है, क्योंकि ध्वस्तमोह विशेषण तो अज्ञान अंधकार दूर होना बतलाता है और निर्मलपूर्ण विशेषण लांछन रहितपना पूर्णता बताता है । निःसपत्नस्वभाव विशेषण राहु बिम्ब से और बादल आदि से आच्छादित न होना बतलाता है । समंतात् ज्वलन है वह सब क्षेत्र और सब काल में प्रतापरूप प्रकाश करना बतलाता है । ऐसा चंद्रमा नहीं है । अमृतचंद्र ऐसा टीकाकार ने अपना नाम भी सूचित किया है और इसका समास बदलकर अर्थ किया जाय तब अनेक अर्थ होते हैं, सो यथासम्भव जानना चाहिए ।

मुक्तेत्यादि । अर्थ—जो कर्मों से मुक्त है और ज्ञानादि गुणों से अमुक्त है उन अविनाशी ज्ञानमूर्ति परमात्मा को नमस्कार करता हूँ ॥१॥

चावक्तव्यं च द्रव्यं ।५। स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ।६। स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ।७। इति । अत्र सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथञ्चिदर्थः स्याच्छब्दो निपातः । तत्र स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति द्रव्यम् । परद्रव्यक्षेत्रकाल-भावैरादिष्टं नास्ति द्रव्यम् । स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरादिष्टमस्ति च नास्ति च द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपदादिष्टमवक्तव्यं द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टमस्ति चावक्तव्यं द्रव्यम् । परद्रव्यक्षेत्रकालभावैः युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चादिष्टं नास्ति चावक्तव्यं द्रव्यम् । स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः परद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्च युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकाल-भावैश्चादिष्टमस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यमिति । इति सप्तभङ्गी समाप्ता ।। इति स्याद्वादोऽधिकारः ।।

इतिश्रीकुन्दकुन्ददेवाचार्यविरचितसमयसारप्राभृताभिधानग्रन्थस्य सम्बन्धिनी श्रीजयसेनाचार्यकृता दशाधिकारैरेकोनचत्वारिंशदधिकगाथाशतचतुष्टयेन तात्पर्यवृत्तिः समाप्ता ।

अब द्रव्यको लेकर प्रतिपादित सप्तभङ्गी दिखाते हैं:—स्यादस्ति द्रव्य १ स्यान्नास्ति द्रव्यं २ स्यादस्ति नास्ति च द्रव्यं ३ स्यादवक्तव्यं द्रव्यं ४ स्यादस्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ५ स्यान्नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ६ स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यं च द्रव्यं ७ ।

यहाँ 'स्यात्' शब्द का अर्थ कथंचित् है जो एकान्त का निषेध और अनेकान्त का प्रकाश करता है । अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है १, अन्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य नहीं है २, स्वपरद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं है ३, स्वद्रव्य क्षेत्र काल भाव और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों से युगपद् कहे जाने की अपेक्षा–अर्थात् नहीं कहा जा सकता–द्रव्य अवक्तव्य है ४,स्वद्रव्यक्षेत्र, काल, भाव और युगपत् स्वपरद्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा द्रव्य है और अवक्तव्य है ५, परद्रव्य क्षेत्र काल भाव और युगपत स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है ६, स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परद्रव्य, क्षत्र, काल, भाव तथा युगपत् स्वपरद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों की अपेक्षा द्रव्य है और नहीं है तथा अवक्तव्य है ७ ।

इस तरह सप्तभङ्गी समाप्त हुई ।

सवैया इकतीसा—सुख विशुद्ध ज्ञानरूप सदा चिदानंद करता न भोगता न परद्रव्यभाव को,
मूरत अमूरत जे आनद्रव्य लोकमांहि ते भी ज्ञानरूप नहीं न्यारे न अभाव को ।
यहै जानि ज्ञानी जीव आपकूं भजै सदैव ज्ञानरूप सुखरूप आन न लगाव को,
कर्म कर्मफलरूपचेतनाकूं दूरि टारि ज्ञानचेतना अभ्यास करे शुद्ध भाव को ।।१।।

इस प्रकार समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नाम टीका की वचनिका में सर्वविशुद्धज्ञान का स्याद्वाद अधिकार पूर्ण हुआ । इति स्याद्वाद अधिकार ।।

यस्माद्द्वैतमभूत् पुरा स्वपरयोर्भूतं यतोऽत्रान्तरं ।
रागद्वेषपरिग्रहे सति यतो जातं क्रियाकारकैः ।
भुञ्जाना च यतोऽनुभूतिरखिलं खिन्ना क्रियायाः फलं ।
तद्विज्ञानघनौघमग्नमधुना किंचिन्न किंचित् खलु ॥२७७॥
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वैः
व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः ।

संस्कृत टीकाकार का वक्तव्य—अब संस्कृत टीका पूर्ण कर अमृतचन्द्र आचार्य कहते हैं कि आत्मा में परसंयोग से अनेक भाव होते हैं। उनका वर्णन ग्रन्थों में है इसलिए सभी वर्णन इस विज्ञानघन में मग्न हुए कुछ भी नहीं दीखते।

यस्मात् इत्यादि। अर्थ—जिस परसंयोगरूप बन्धपर्यायजनित अज्ञान से प्रथम तो अपना और पर का द्वैतरूप एक भाव हुआ, पुनः उस द्वैतपने से अपने स्वरूप में अन्तर हुआ अर्थात् बन्ध पर्याय को ही आप जाना, उस अन्तर के पड़ने से राग द्वेष का परिग्रहण हुआ, उसके होने से क्रिया और कर्त्ता कर्म आदि कारकों से भेद पड़ा, उस क्रिया कारक के भेद से आत्मा की जो अनुभूति है वह क्रिया के सब फल को भोगती खेदखिन्न हुई। ऐसा अज्ञान है। इसलिए जब ज्ञान हुआ तब उस विज्ञान घन के समूह में मग्न हो गया। अब इसको देखा जाय तो कुछ भी नहीं है, यह प्रकट अनुभव में आता है।

भावार्थ—अज्ञान है वह पर संयोग से ज्ञान ही अज्ञानरूप परिणमित हुआ था, कुछ दूसरी वस्तु तो थी नहीं। इसलिए अब ज्ञानरूप परिणमित हुआ तब कुछ भी न रहा। उस समय इस अज्ञान के निमित्त से राग-द्वेष, कर्ता-कर्म, सुख-दुख आदि भाव होते थे वे भी नष्ट हो गये। एक ज्ञान ही रह गया। तीन कालवर्ती अपने पर के सब भावों को आत्मा ज्ञाता द्रष्टा हुआ देखना चाहिए ॥२७७॥

आगे अमृतचन्द्र आचार्य इस ग्रन्थ करने के अभिमानरूप कषाय को दूर करते हुए यथार्थ कहते हैं--स्वशक्ति इत्यादि। अर्थ—यह समय अर्थात् आत्मवस्तु तथा समयप्राभृत नाम शास्त्र, उसका व्याख्यान या यह आत्मख्याति नाम टीका शब्दों से की गई है। कैसे हैं शब्द ? अपनी शक्ति से ही अच्छी तरह कहा है वस्तु का यथार्थ स्वरूप जिन्होंने। निज आत्मस्वरूप अमूर्तिक ज्ञानमात्र, उसमें गुप्त होने वाले (प्रवेश करने वाले) मुझ अमृतचन्द्र सूरि का कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है।

भावार्थ—शब्द है वह तो पुद्गल है, सो पुरुष के निमित्त से वर्णपद-वाक्य रूप परिणमन करता है। सो इन में वस्तु के स्वरूप के कहने की शक्ति स्वयमेव है, क्योंकि शब्द और अर्थ का वाच्य-वाचक सम्बन्ध है, सो द्रव्यश्रुत की रचना शब्द को ही करना सम्भवती है। आत्मा अमूर्तिक और ज्ञान-स्वरूप है ? इसलिए मूर्तिक पुद्गल की रचना कैसे करे ? इसलिए आचार्य ने ऐसा कहा है कि यह समयप्राभृत की टीका शब्दों से की गई है, मैं तो अपने स्वरूप में लीन हूँ मेरा कर्तव्य इसमें नहीं है। ऐसा कहने से उद्धतपने का त्याग भी आता है। तथा निमित्तनैमित्तिक

१. किल तत किंचित क्रियायाः फलं अधुना विज्ञानघनौघमग्नं न किंचित्।

स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिदस्ति
कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः ॥२७८॥

इति श्री अमृतचन्द्राचार्यकृता समयसारव्याख्या आत्मख्यातिः समाप्ता ॥

व्यवहार से ऐसा ही कहते हैं कि विवक्षित कार्य उस पुरुष ने किया, इस न्याय से अमृतचन्द्र आचार्य-कृत यह टीका है ही। इसी न्याय से पढ़ने सुनने वालों को उनका उपकार भी मानने योग्य है। क्योंकि इसके पढ़ने सुनने से परमार्थ आत्मा का स्वरूप जाना जाता है। उसका श्रद्धान आचरण होने पर मिथ्याज्ञान-श्रद्धान-आचरण दूर हो जाते हैं और परम्परया मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए इसका निरन्तर अभ्यास करना योग्य है।

इस प्रकार समयसार ग्रन्थ की आत्मख्याति नामा टीका समाप्त हुई।
यहाँ तक गाथा तो ४१५ हुई और कलश काव्य २८८ हुए।

भाषाकार का वक्तव्य

सवैया इकतीसा—कुंदकुंद मुनि कियो गाथाबंध प्राकृत है प्राभृत समय शुद्ध आतम दिखावनूं
सुधाचंद्रसूरि करि संस्कृत टीकावर आत्मख्याति नाम यथातथ्य भावनूं
देश की वचनिका में लिखि जयचंद्र पढ़ें संक्षेप अर्थ अल्पबुद्धिकूं पावनूं,
पढ़ो सुनो मन लाय शुद्ध आतमा लखाय ज्ञान रूप गहो चिदानंद दरसावनूं ॥१॥

दोहा—समयसार अविकार का वर्णन कर्ण सुनंत,
द्रव्यभावनोकर्म तजि आतमतत्त्व लखंत ॥२॥

इस प्रकार इस समयप्राभृत नामा ग्रंथ की आत्मख्याति नामा संस्कृत टीका की देश भाषामय वचनिका लिखी है : सो यह उसका संक्षेप भावार्थरूप अर्थ लिखा है। संस्कृत टीका में न्याय से सिद्ध हुए प्रयोग हैं, उनका विस्तार करो तब अनुमान प्रमाण के प्रयोग, प्रतिज्ञा हेतु उदाहरण उपनय और निगमन रूप हैं उनका स्पष्टतः व्याख्यान लिखा जाय तो ग्रंथ बहुत बढ़ जाय, इस लिये आयु, बुद्धि बल, स्थिरता अल्प होने से जितना बन सका उतना संक्षेप में प्रयोजनमात्र लिखा है, उसको पढ़कर भव्य जीवो ! पदार्थ समझना, और कुछ अर्थ में हीनाधिकता हो तो हे बुद्धिमानो ! मूल ग्रंथ से जिस प्रकार हो, उस प्रकार समझना। कालदोष से इन ग्रंथों के गुरु-सम्प्रदाय का व्युच्छेद हो गया हैं इससे जितना बनता है, उतना अभ्यास होता है। जैनमत स्याद्वाद रूप है सो जो जिनमत की आज्ञा मानते हैं, उनके विपरीत श्रद्धान नहीं होता। कहीं अर्थ का अन्यथा समझना भी हो जाता है तो विशेष बुद्धिमान् का निमित्त मिलने से यथार्थ हो जाता है। जिनमत के श्रद्धान करने वाले हठग्राही नहीं होते ऐसा जानना चाहिए।

अब अन्त मङ्गल के लिए पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार कर ग्रंथ समाप्त करते हैं—

मंगल श्री अरहंत घातिया कर्म निवारे,
मंगल सिद्ध महंत कर्म आठौं परजारे।

आचारज उवझाय मुनो मंगलमय सारे,
दीक्षाशिक्षा देय भव्य जीवनि कूं तारे।
अठवीस मूल गुण धार जे सर्व साधु अनगार हैं,
मैं नमूं पंच गुरु चरण कूं मंगल हेतु करार हैं ॥१॥

जैपुर नगर माहि तेरापंथ शैली बड़ी बड़े बड़े गुणी जहां पढ़ैं ग्रन्थ सार हैं,
जयचन्द्र नाम मैं हूँ तिनि में अभ्यास किछु कियो बुद्धिसारू धर्मरागतें विचारे हैं।
समयसार ग्रंथ ताकी देश के वचनरूप भाषा करि पढ़ो सूनूं करो निरधार है,
आपा पर भेद जानि हेय त्यागि उपादेय गहो शुद्ध आतम कूँ यहै बात सार है॥२॥

संवत्सर विक्रम तणूं अष्टादशशत और।
चौसठि कातिकवदि दशैं पूरणग्रंथ सुठौर॥३॥

इस प्रकार श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यकृतसमयप्राभृतनामा प्राकृतगाथाबद्धग्रंथ की अमृतचंद्राचार्यकृत आत्मख्याति नामा संस्कृत टीका के अनुसार पं० जयचन्द्रकृत यह संक्षेप भावार्थ मात्र भाषाटीका सम्पूर्ण हुई।

॥ समाप्तोऽयं समयसारः ॥

"हे कुन्दकुंदादि आचार्यो ! तुम्हारे वचन भी स्वरूपानुसंधान में इस पामरको परम उपकारभूत हुए हैं, इसके लिए मैं तुम्हें अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ।"

❀

"कुन्दकुन्दाचार्य और आनन्दघनजीको सिद्धान्त सम्बन्धी ज्ञान तीव्र था। कुन्दकुन्दाचार्यजी तो आत्मस्थितिमें बहुत स्थित थे।"

❀

"वेदान्त और जिनसिद्धान्त इन दोनोंमें अनेक प्रकारसे भेद है। वेदान्त एक ब्रह्मस्वरूपसे सर्व स्थिति कहता है। जिनागममें उससे दूसरा प्रकार कहा है। 'समयसार' पढ़ते हुए भी बहुतसे जीवोंका एक ब्रह्मकी मान्यतारूप सिद्धान्त हो जाता है। सिद्धान्तका विचार, बहुत सत्संगसे तथा वैराग्य और उपशमका बल विशेषरूपसे बढ़नेके बाद कर्तव्य है। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो जीव दूसरे मार्गमें आरूढ़ होकर वैराग्य और उपशमसे हीन हो जाता है।"

श्रीमद् राजचन्द्र

अथसमयसारस्य अकारादिक्रमेण गाथासूची

	गा. सं.	पृ. सं.
अ		
अज्झवसाणनिमित्तम्	२६७	३४४
अज्झवसिदेण वंधो	२६२	३३९
अट्ठवियप्पे कम्मे	१८२	२५१
अट्ठविहं पि य कम्मं	४५	८३
अण्णदविएण	३७२	४५५
अण्णाणमओ भावो	१२७	१८३
अण्णाणमया भावा	१२९	१८५
अण्णाणमया भावा	१३१	१६८
अण्णाणमोहिदमदी	२३	५२
अण्णाणस्स स उदओ	१३२	१८८
अण्णाणी कम्मफलं	३१६	४०२
अण्णाणी पुण रत्तो	२१९	२९९
अण्णी करेइ अण्णो	३४८	४२९
अत्ता जस्सामुत्तो	४०५	४९८
अपडिक्कमणं दुविहं	२८३	३६२
अपडिक्कमणं दुविहं दव्वे	२८४	३६२
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१०	२८९
अपरिग्गहो अणिच्छो	२११	२९०
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१२	२९१
अपरिग्गहो अणिच्छो	२१३	२९२
अपरिणमंतम्हि सयं	१२२	१७८
अप्पडिकमणं अपडिसरणं	३०७	३८९
अप्पाणमप्पणा रुंधिऊण	१८७	२५८
अप्पाणमयाणंता	३९	७६
अप्पाणमयाणंतो	२०२	२७७
अप्पा णिच्चो असंखिज्जपदेसो	३४२	४२१
अप्पाणं झायंतो	१८९	२५८
अरसमरूवमगंधं	४९	८६
अवरे अज्झवसाणेसु	४०	७६
असुहं सुहं व दव्वं	३८१	४५९
असुहं सुहं व रूवं	३७६	४५८
असुहो सुहो व गंधो	३७७	४५८
असुहो सुहो व गुणो	३८०	४५९
असुहो सुहो व फासो	३७९	४५९
असुहो सुहो व रसो	३७८	४५८
असुहो सुहो व सद्दो	३७५	४५८
अह जाणओ उ भावो	३४४	४२२
अह जीवो पयडी तह	३३०	४१५
अह ण पयडी ण जीवो	३३१	४१५
अह दे अण्णो कोहो	११५	१७३
अहमिक्को खलु सुद्धो	३८	७३
अहमिक्को खलु सुद्धो	७३	११९
अहमेदं एदमहं	२०	४९
अहवा एसो जीवो	३२९	४१५
अहवा मण्णसि मज्झं	३४१	४२१
अह सयमप्पा परिणमदि	१२४	१७८
अह संसारत्थाणं	६३	१०३
अह सममेव हि परिणमदि	११९	७५
आ		
आउक्खयेण मरणं	२४८	३३०
आउक्खयेण मरणं	२४९	३३०
आऊदयेण जीवदि	२५१	३३२
आऊदयेण जीवदि	२५२	३३२
आदम्हि दव्वभावे	२०३	२८०
आदा खु मज्झ णाणं	२७७	३५६
आधाकम्मं उद्देसियं	२८७	३६५
आधाकम्माईया	२८६	३६५
आभिणिसुदोहि	२०४	२८२
आयारादी णाणं	२७६	३५६
आयारं पि णाणं	४०१	४९२
आसि मम पुव्वमेदं	२१	४९
इ		
इणमण्णं जीवादो	२८	५८
इय कम्मबंधणाणं	२९०	३७०

	गा. सं.	पृ. सं.
उ		
उदओ असंजमस्स दु	१३३	१८८
उदयविवागो विविहो	१९८	२७३
उप्पण्णोदयभोगो	२१५	२९४
उप्पादेदि करेदि य	१०७	१६७
उम्मग्गं गच्छंतं	२३४	३१६
उवओगस्स अणाई	८९	१०३
उवओए उवओगो	१८१	२५१
उवघायं कुव्वंतस्स	२३९	३२२
उवघायं कुव्वंतस्स	२४४	३२६
उवभोगमिंदियेहिं	१९३	२६६
ए		
एएण कारणेण दु	८२	१३२
एए सव्वे भावा	४४	८०
एएसु य उवओगो	९०	१४४
एएहिं य संबंधो	५७	९७
एक्कं च दोण्णि तिण्णि	६५	१०४
एकस्स दु परिणामो	१४०	१९३
एकस्स दु परिणामो	१३८	१९१
एदम्हि रदो णिच्चं	२०६	२८५
एदाणि णत्थि जेसिं	२७०	३४८
एदे अचेदणाखलु	१११	१६९
एदेण कारणेण दु	१७६	२४१
एदेण दु सो कत्ता	९७	१५५
एदेसु हेदुभूदेसु	१३५	१८८
एदाहि य णिव्वत्ता	६६	१०४
एमादिए दु विविहे	१२४	२९३
एमेव कम्मपयडी	१४९	२११
एमेव जीवपुरिसो	२२५	३०५
एमेव मिच्छदिट्ठी	३२६	४१२
एमेव य ववहारो	४८	८५
एमेव सम्मदिट्ठी	२२७	३०५
एयं तु अविवरीदं	१८३	२५१
एयं तु जाणिऊण	३८२	४५९
एयत्तणिच्छयगओ	३	१०
एयं तु असंभूदं	२२	४९
एवमलिये अदत्ते	२६३	३४०
एवमिह जो दु जीवो	११४	१७३
एवं हि सावराहो	३०३	३८५
एवं जाणदि णाणी	१८५	२५५
एवं ण कोवि मोक्खो	३२३	४०९
एवं णाणी सुद्धो	२७९	३५८
एवं तु णिच्छयणयस्स	३६०	४३९
एवं पराणि दव्वाणि	९६	१५२
एवं पुग्गलदव्वं	६४	१०३
एवं बंधो उ दुण्हं वि	३१३	३९९
एवं मिच्छादिट्ठी	२४१	३२२
एवं ववहारणओ	२७२	३५१
एवं ववहारस्स उ	३५३	४३४
एवं ववहारस्स दु	३६५	४४१
एवं विहा बहुविहा	४३	७६
एवं संखुवएसं	३४०	४२१
एवं सम्मदिट्ठी	२००	२७५
एवं सम्मादिट्ठी	२४६	३२६
एवं हि जीवराया	१८	४४
एसा दु जा मई दे	२५९	३३७
क		
कणयमया भावादो	१३०	१८६
कम्मइयवग्गणासु य	११७	१७५
कम्मं जं पुव्वकयं	३८३	४६५
कम्मं जं सुहमसुहं	३८४	४६५
कम्मं णाणं ण हवइ	३९७	४९१
कम्मं पडुच्च कत्ता	३११	३९६
कम्मं बद्धमबद्धं	१४२	१९५
कम्ममसुहं कुसीलं	१४५	२०८
कम्मसस्साभावेण य	१९२	२६०
कम्मस्स य परिणामं	७५	१२४
कम्मस्सुदयं जीवं	४१	७६
कम्मे णोकम्मम्हि य	१९	४७
कम्मेहिं दु अण्णाणी	३३२	४१९

	गा. सं.	पृ० सं०
कम्मेहिं भमाडिज्जइ	३३४	४१९
कम्मेहिं सुहाविज्जइ	३३३	४१९
कम्मोदएण जीवा	२५४	३३४
कम्मोदएण जीवा	२५५	३३४
कम्मोदएण जीवा	२५६	३३४
कह सो घिप्पइ अप्पा	२९६	३७७
कालो णाणं ण हवइ	४००	४९२
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४५	४२९
केहिंचि दु पज्जएहिं	३४६	४२९
को णाम भणिज्ज बुहो	२०७	२८७
को णाम भणिज्ज	३००	३८४
कोहादिसु वट्टंतस्स	७०	११२
कोहुवजुत्तो कोहो	१०५	१७८
ग		
गंधरसफासरूवा	६०	९८
गंधो णाणं ण हवइ	३९४	४९१
गुणसण्णिदा दु एदे	११२	१६९
च		
चउविह अणेयभेयं	१७०	२३६
चारित्तपडिणिबद्धं	१६३	२२४
चेया उ पयडिअट्ठं	३१२	३९९
छ		
छिंददि भिंददि य तहा	२३८	३२१
छिंददि भिंददि य तहा	२४३	३२६
छिज्जदु वा भिज्जदु वा	२०९	२८८
ज		
जइ जीवेण सहच्चिय	१३९	१९३
जइ णवि कुणई छेदं	२८९	३६९
जइया इमेण जीवेण	७१	११५
जइया स एव संखो	२२२	३०१
जं कुणइ भावमादा	९१	१४५
जं कुणदि भावमादा	१२६	१८७
जं भावं सुहमसुहं	१०२	१६३
जं सुहमसुहमुदिण्णं	३८५	४६५

	गा. सं.	पृ. सं.
जदि जीवो ण सरीरं	२६	५६
जदि पुग्गलकम्ममिणं	८५	१३६
जदि सो परदव्वाणि य	९९	१५९
जदि सो पुग्गलदव्वी	२५	५२
जया विमुचए चेया	३१५	४००
जह कणयमग्गितवियं	१८४	२५५
जह कोवि णरो जंपइ	३२५	४१२
जह चिट्ठं कुव्वंतो	३५५	४३४
जह जीवस्स अणण्णुवओगो	११३	१७३
जह णवि सक्कमणज्जो	८	१८
जह णाम को वि पुरिसो	१७	४४
जह णाम कोवि पुरिसो	३५	६७
जह णाम कोवि पुरिसो	१४८	२११
जह णाम कोवि पुरिसो	२३७	३२१
जह णाम कोवि पुरिसो	२८८	३६९
जह परदव्वं सेडदि	३६१	४४०
जह परदव्वं सेडदि	३६२	४४०
जह परदव्वं सेडदि	३६३	४४०
जह परदव्वं सेडदि	३६४	४४१
जह पुण सो चिय	२२६	३०५
जह पुण सो चेव णरो	२४२	३२६
जह पुरिसेणाहारो	१७९	२४७
जह फलिहमणी सुद्धो	२७८	३५८
जह बंधे चिंतंतो	२९१	३७१
जह बंधे छित्तूण य	२९२	३७२
जह मज्जं पिवमाणो	१९६	२७०
जह राया ववहारा	१०८	१६८
जह विसमुवभुंजंतो	१९५	२६९
जह सिप्पिओ उ कम्मफलं	३५२	४३४
जह सिप्पिओ उ कम्मं	३४९	४३४
जह सिप्पिओ उ करणाणि	३५१	४३४
जह सिप्पिओ उ करणेहिं	३५०	४३४
जह सिप्पिओ उ चिट्ठं	३५४	४३४
जह सेडिया दु	३५६	४३९
जह सेडिया दु	३५७	४३९

	गा. सं.	पृ. सं.
जह सेडिया दु	३५८	४३९
जह सेडिया दु	३५९	४३९
जम्हा कम्मं कुव्वइ	३३५	४१९
जम्हा घाएइ परं	३३८	४२०
जम्हा जाणइ णिच्चं	४०३	४९२
जम्हा दु अत्तभावं	८६	१३८
जम्हा दु जहण्णादो	१७१	२३७
जा एस पयडिडीअट्ठं चेया	३१४	४००
जावं अपडिक्कमणं	२८५	३६२
जाव ण वेदि विसेसंतरं	६९	११२
जिदमोहस्स दु जइया	३३	६४
जीवणिवद्धा एए	७४	१२०
जीवपरिणामहेदुं	८०	१३२
जीवम्हि हेदुभूदे	१०५	१६६
जीवस्स जीवरूवं	३४३	४२२
जीवस्स जे गुणा केइ	३७०	४५२
जीवस्स णत्थि केई	५३	९१
जीवस्स णत्थि रागो	५१	९०
जीवस्स णत्थि वग्गो	५२	९१
जीवस्स णत्थि वण्णो	५०	९०
जीवस्स दु कम्मेण य	१३७	१९१
जीवस्साजीवस्स दु	३०९	३९६
जीवादीसद्दहणं	१५५	२१९
जीवे कम्मं वद्धं	१४१	१९४
जीवे ण सयं वद्धं	११६	१७५
जीवो कम्मं उहयं	४२	७६
जीवो चरित्तदंसण	२	७
जीवो चेव हि एदे	६२	१०२
जीवो ण करेदि घडं	१००	१६०
जीवो परिणामयदे	११८	१७५
जीवो वंधो य तहा	२९४	३७३
जीवो वंधो य तहा	२९५	३७७
जे पुग्गलदव्वाणं	१०१	१६१
जो अप्पणा दु मण्णादि	२५३	३३३
जो इंदिये जिणित्ता	३१	६१

	गा. सं.	पृ. सं.
जो कुणदि वच्छलत्तं	२३५	३१६
जो चत्तारि वि पाए	२२९	३१२
जो चेव कुणइ	३४७	४२९
जो जम्हि गुणे दव्वे	१०३	१६४
जो ण करेदि जुगुप्पं	२३१	३१३
जो ण कुणइ अवराहे	३०२	३८५
जो ण मरदि ण य दुहिदो	२५८	३३६
जो दु ण करेदि कंखं	२३०	३१३
जोवेहिं कदे जुद्धे	१०६	१६७
जो पस्सदि अप्पाणं	१४	३४
जो पस्सदि अप्पाणं	१५	३९
जो पुण णिरवराधो	३०५	३८७
जो मण्णदि जीवेमि य	२५०	३३१
जो मण्णदि हिंसामि य	२४७	३२९
जो मरइ जो य दुहिदो	२५७	३३६
जो मोहं तु जिणित्ता	३२	६२
जो वेददि वेदिज्जदि	२१६	२९६
जो समयपाहुडमिणं	४१५	५०९
जो सव्वसंगमुक्को	१८८	२५८
जो सिद्धभत्तिजुत्तो	२३३	३१५
जो सुयणाणं सव्वं	१०	२०
जो सो दु णेहभावो	२४०	३२२
जो सो अणेहभावो	२४५	३२६
जो हवइ असंमूढो	२३२	३१४
जो हि सुएणहिगच्छइ	९	२०
ण		
ण कुदोचि वि उप्पण्णो	३१०	३९६
णज्झवसाणं णाणं	४०२	४९२
णत्थि दु आसववंधो	१६६	२३१
णत्थि मम को वि मोहो	३६	६९
णत्थि मम धम्मआदी	३७	७१
ण उ होइ मोक्खमग्गो	४०९	५००
ण मुयइ पयडिमभव्वो	३१७	४०३
णयरम्मि वण्णिदे जह	३०	
ण य रायदोसमोहं	२८०	३६०

	गा. सं.	पृ. सं.
ण रसो दु हवइ णाणं	३९५	४९१
ण वि एस मोक्खमग्गो	४१०	५०१
णवि कुव्वइ कम्मगुणे	८१	१३२
णवि कुव्वइ णवि वेयइ	३१९	४०५
णवि परिणमदि ण गिह्णदि	७६	१२६
णवि परिणमदि ण गिह्णदि	७७	१२७
णवि परिणमदि ण गिह्णइ	७८	१२८
णवि परिणमदि ण गिह्णदि	७९	१३०
णवि सक्कइ घित्तुं जं	४०६	४९८
णवि होदि अप्पमत्तो	६	१४
ण सयं बद्धो कम्मे	१२१	१७८
णाणं सम्मादिट्ठि	४०४	४९२
णाणगुणेण विहीणा	२०५	२८४
णाणमधम्मो ण हवइ	३९९	४९१
णाणमया भावाओ	१२८	१८५
णाणस्य दंसणस्स य	३६९	४५२
णाणस्य पडिणिबद्धं	१६२	२२४
णाणावरणादीयस्स	१६५	२३०
णाणी रागप्पजहो	२१८	२९९
णादूण आसवाणं	७२	११६
णिंदियसंथुयवयणाणि	३७३	४५८
णिच्चं पच्चक्खाणं	३८६	४६५
णिच्छयणयस्स एवं	८३	१३४
णियमा कम्मपरिणदं	१२०	१७५
णिव्वेयसमावण्णो	३१८	४०४
णेव य जीवट्ठाणा	५५	९१
णो ठिदिबंधट्ठाणा	५४	९१
त		
तं एयत्तविहत्तं	५	१३
तं खलु जीवणिबद्धं	१३६	१८८
तं णिच्छये ण जुज्जदि	२९	५९
तं जाण जोगउदयं	१३४	१८८
तत्थ भवे जीवाणं	६१	१००
तह जीवे कम्माणं	५९	९८
तह णाणिस्स दु पुव्वं	१८०	२४७

	गा. सं.	पृ. सं.
तह णाणिस्स वि विविहे	२२१	३०१
तह णाणी वि दु जइया	२२३	३०१
तहवि य सच्चे दत्ते	२६४	३४०
तम्हा उ जो विसुद्धो	४०७	४९८
तम्हा दुहित्तु लिंगे	४११	५०२
तम्हा ण कोवि जीवो	३३७	४२०
तम्हा ण कोवि जीवो	३३९	४२०
तम्हा ण मेत्ति णिच्चा	३२७	४१२
तम्हा दु कुसीलेहिं य	१४७	२११
तिविहो एसुवओगो	९४	१५०
तिविहो एसुवओगो	९५	१५१
तेसिं पुणोवि य इमो	११०	१६९
तेसिं हेऊ भणिया	१९०	२६०
थ		
थेयाई अवराहे	३०१	३८५
द		
दंसणणाणचरित्त	१७२	२३८
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६६	४५१
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६७	४५१
दंसणणाणचरित्तं किंचि	३६८	४५१
दंसणणाणचरित्ताणि	१६	४२
दव्वगुणस्स य आदा	१०४	१६५
दवियं जं उप्पज्जइ	३०८	३९६
दव्वे उवभुंजंते	१९४	२६८
दिट्ठी जहेव णाणं	३२०	४०६
दुक्खिदसुहिदे जीवे	२६६	३४३
दुक्खिदसुहिदे सत्ते	२६०	३३८
दोण्हवि णयाण भणियं	१४३	२००
ध		
धम्माधम्मं च तहा	२६९	३३५
धम्मो णाणं ण हवइ	३९८	४९१
प		
पंथे मुस्संतं पस्सिदूण	५८	९८
पक्के फलम्हि पडिए	१६८	२३४

	गा. सं. पृ. सं.
पज्जत्तापज्जत्ता	६७ १०६
पडिकमणं पडिसरणं	३०६ ३८९
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा	२९७ ३७८
पण्णाए घित्तव्वो जो णादा	२९९ ३८०
पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा	२९८ ३८०
परमट्ठबाहिरा जे	१५४ २१७
परमट्ठम्हि दु अठिदो	१५२ २१५
परमट्ठो खलु समओ	१५१ २१४
परमप्पाणं कुव्वं	९२ १४७
परमप्पाणमकुव्वं	९३ १४८
परमाणुमित्तयंपि हु	२०१ २७७
पाखंडी लिंगाणि व	४०८ ५००
पाखंडी लिंगेसु व	४१३ ५०५
पुग्गलकम्मं कोहो	१२३ १७८
पुग्गलकम्मं मिच्छं	८८ १४२
पुग्गलकम्मं रागो	१९९ २७३
पुढवीपिंडसमाणा	१६९ २३५
पुरिसित्थियाहिलासी	३३६ ४२०
पुरिसो जह कोवि	२२४ ३०५
पोग्गलदव्वं सद्दत्तपरिणयं	३७४ ४५८
फ	
फासो ण हवइ णाणं	३९६ ४९१
ब	
बंधाणं च सहावं	२९३ ३७३
बंधुवभोगणिमित्ते	२१७ २९८
बुद्धी ववसाओवि य	२७१ ३५०
भ	
भावो रागादिजुदो	१६७ २३३
भुंजंतस्स वि विविहे	२२० ३०१
भूयत्थेणाभिगदा	१३ २९
म	
मज्झं परिग्गहोजइ	२०८ २८७
मारेमि जीवावेमि य	२६१ ३३८
मिच्छत्तं अविरमणं	१६४ २३०
मिच्छत्तं जइ पयडी	३२८ ४१५
मिच्छत्तं पुण दुविहं	८७ १४१
मोक्खं असद्दहंतो	२७४ ३५३
मोक्खपहे अप्पाणं	४१२ ५०३
मोत्तूण णिच्छयट्ठं	१५६ २२०
मोहणकम्मस्सुदया	६८ १०७
र	
रत्तो बंधदि कम्मं	१५० २१३
रागो दोसो मोहो जीवस्सेव	३७१ ४५२
रागो दोसो मोहो य	१७७ २४४
रायम्हि य दोसम्हि य	२८१ ३६१
रायम्हि य दोसम्हि य	२८२ ३६२
राया हु णिग्गदो त्तिय	४७ ८५
रूवं णाणं ण हवइ	३९२ ४९१
ल	
लोगसमणाणमेयं	३२२ ४०९
लोयस्स कुणइ विण्हू	३२१ ४०८
व	
वंदित्तु सव्वसिद्धे	१ ५
वण्णो णाणं ण हवइ	३९३ ४९१
वत्थस्स सेदभावो	१५७ २२१
वत्थस्स सेदभावो	१५८ २२१
वत्थस्स सेदभावो	१५९ २२२
वत्थुं पडुच्च जं पुण	२६५ ३४१
वदणियमाणि धरंता	१५३ २१६
वदसमिदीगुत्तीओ	२७३ ३५२
ववहारणओ भासदि	२७ ५७
ववहारभासिएण ऊ	३२४ ४१२
ववहारस्स दरीसण	४६ ८४
ववहारस्स दु आदा	८४ १३५
ववहारिओ पुण णओ	४१४ ५०६
ववहारेण दु आदा	९८ १५८
ववहारेण दु एदे	५६ ९६
ववहारेणुवदिस्सइ	७ १६
ववहारोऽभूयत्थो	११ २१

	गा सं. पृ. सं.		गा. सं. पृ. सं.
विज्जारहमारूढ़ा	२३६ ३१७	सव्वे करेइ जीवो	२६८ ३४४
वेदंतो कम्मफलं अप्पाणं	३८७ ४६८	सव्वे पुव्वणिबद्धा	१७३ २४०
वेदंतो कम्मफलंमए	३८८ ४६८	सव्वे भावे जम्हा	३४ ६६
वेदंतो कम्मफलं सुहिदो	३८९ ४६८	सामण्णपच्चया खलु	१०९ १६९
स		सुदपरिचिदाणुभूया	४ ११
संति दु णिरुवभोज्जा	१७४ २४०	सुद्धं तु वियाणंतो	१८६ २५७
संसिद्धिराधसिद्धं	३०४ ३८७	सुद्धो सुद्धादेसो	१२ २४
सत्थं णाणं ण हवइ	३९० ४९१	सेवंतो वि ण सेवइ	१९७ २७१
सद्दहदि य पत्तियदि य	२७५ ३५४	सोवण्णियं पि णियलं	१४६ २१०
सद्दो णाणं ण हवइ	३९१ ४९१	सो सव्वणाणदरिसी	१६० २२३
सम्मत्तपडिणिवद्धं	१६१ २२४	ह	
सम्मद्दिट्ठी जीवा	२२८ ३०८	हेउअभावे णियमा	१९१ २६०
सम्मद्दंसणणाणं	१४४ २०३	हेदूचदुव्वियप्पो	१७८ २४४
सव्वण्हुणाणदिट्ठो	२४ ५२	होदूण णिरुवभोज्जा	१७५ २४०

॥ तात्पर्यवृत्तिगत अतिरिक्त गाथाएं ॥

आ	पृ. सं.		पृ. सं.
आदा खु मज्झ णाणे	४१	जो संगं तु मुइत्ता	१८१
आधा कम्मं उद्दे	३६६	जो संकप्प वियप्पो	३४९
आधा कम्मादीया	३६६	जं कुणदि भावमादा	४९
उ		झ	
उवदेसेण परोक्खं	२६०	झाणं हवेइ अग्गी	३०१
क		ण	
कम्मं हवेइ किट्टं	३०१	णागफणीए मूलं	३००
कत्ता आदा भणिदो	१२३	णाणम्हि भावना खलु	२२
कह एस तुज्झ न हवदि	२७४	ध	
कायेण दुक्खवेमिय	३४६	धम्मच्छि अधम्मच्छी	२९१
कायेण य वाया वा	३४७	प	
कोऽविदिदच्छो साहू	२६२	पुग्गल कम्मणिमित्तं	१४१
ज		म	
जह संखो पोग्गलदो	३०१	मणसाए दुक्खवेमिय	३४७
जीवे व अजीवे वा	४८	व	
जो आदभावणमिणं	२२	वाचाए दुक्खवेमिय	३४७
जो पुण निरावराहो	४०२	स	
जो मोहं तु मुइत्ता	१८२	सच्छेण दुक्खवेमिय	३४७
जो धम्मं तु मुइत्ता	१८२	सम्मत्ता जदि पयदि	४१६

॥ अथ कलशकाव्यानाम् अकारादिक्रमेण सूची ॥

	का. सं.	पृ. सं.
अ		
अकर्ता जीवोऽयं	१९५	३९८
अखण्डितमनाकुलं	१४	११
अचिन्त्यशक्तिः स्वयमेव	१४४	२८६
अच्छाच्छाः स्वयमुच्छलन्ति	१४१	२८३
अज्ञानतस्तु सतृणाभ्यव	५७	१५६
अज्ञानमयभावानामज्ञानी	६८	१८८
अज्ञानमेतदधिगम्य	१६९	३३५
अज्ञानान्मृगतृष्णिकां जलधिया	५८	१५७
अज्ञानं ज्ञानमप्येवं	६१	१५८
अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव	१९७	४०२
अतो हताः प्रमादिनो	१८८	३९१
अतः शुद्धनयायत्तं	७	२८
अत्यन्तं भावयित्वा विरति	२३३	४९०
अत्र स्याद्वादशुद्ध्यर्थं	२४७	५१३
अथ महामदनिर्भरमन्थरं	११३	२२९
अद्वैतापि हि चेतना	१८३	३८३
अध्यास्य शुद्धनय	१२०	२४५
अध्यास्यात्मनि सर्वभावभवनं	२५९	५२३
अनन्तधर्मणस्तत्त्वं	२	३
अनवरतमनन्तै	१८७	३८८
अनाद्यनन्तमचलं	४१	१०९
अनेनाध्यवसायेन	१७१	३४५
अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं	२३५	४९७
अयि कथमपि मृत्वा	२३	५५
अर्थालम्बनकाल एव कलयन्	२५७	५२२
अलमलमतिजल्पै	२४४	५०७
अवतरति न यावद्	२९	६८
अविचलितचिदात्म	२७६	५३७
अस्मिन्ननादिनि	४४	११०
आ		
आक्रामन्नविकल्पभावमचलं	९३	२०३
आत्मनश्चिन्तयैवालं	१९	४३
आत्मभावान्करोत्यात्मा	५६	१४१
आत्मस्वभावं परभावभिन्न	१०	३३
आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं	६२	१५८
आत्मानं परिशुद्धमीप्सुभि	२०८	४३२
आत्मानुभूतिरिति	१३	३८
आसंसारत एव धावति	५५	१४०
आसंसारविरोधिसंवर	१२५	२५०
आसंसारात्प्रतिपदममी	१३८	२७९
इ		
इति परिचिततत्त्वै	२८	६५
इति वस्तुस्वभावं स्वं ज्ञानी	१७६	३५९
इति वस्तुस्वभावं स्वं नाज्ञानी	१७७	३६०
इति सति सह	३१	७२
इतीदमात्मनस्तत्त्वं	२४६	५१२
इतः पदार्थप्रथनावगुण्ठनाद	२३४	४९०
इतो गतमनेकतां	२७३	५३५
इत्थं ज्ञानक्रकचकलना	४५	११०
इत्थं परिग्रहमपास्य समस्तमेव	१४५	२८९
इत्यज्ञानविमूढानां	२६२	५२४
इत्याद्यनेकनिजशक्ति	२६४	५३०
इत्यालोच्य विवेच्य	१७८	३६७
इत्येवं विरचय्य सम्प्रति	४८	१२३
इदमेकं जगच्चक्षु	२४५	५०८
इदमेवात्र तात्पर्यं	१२२	२४८
इन्द्रजालमिदमेवमुच्छलत्	९१	१९९
उ		
उदयति न नयश्री	९	३३
उन्मुक्तमुन्मोच्यमशेषतस्तत्	२३६	४९८
उभयनयविरोध	४	३६
ए		
एकं ज्ञायकभावनिर्भर	१४०	२८१

	का. सं.	पृ. सं.
एकत्वं व्यवहारतो न तु	२७	६५
एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो	६	२७
एकमेव हि तत्स्वाद्यं	१३९	२८१
एकश्चितश्चिन्मय एव भावो	१८४	३८३
एकं ज्ञानमनाद्यनन्तमचलं	१६०	३११
एकः परिणमति सदा	५२	१३९
एकः कर्ता चिदहमिह	४६	११२
एको दूरात्त्यजति मदिरां	१०१	२०७
एको मोक्षपथो य एष	२४०	५०४
एवं ज्ञानस्य शुद्धस्य	२३८	५००
एवं तत्त्वव्यवस्थित्या	२६३	५२५
एकस्य कर्ता	७४	१९७
एकस्य कार्यं	७९	१९८
एकस्य चेत्यो	८६	१९८
एकस्य चैको	८१	१९१
एकस्य जीवो	७६	१९७
एकस्य दुष्टो	७३	१९७
एकस्य दृश्यो	८७	१९९
एकस्य नाना	८५	१९८
एकस्य नित्यो	८३	१९८
एकस्य बद्धो न तथा परस्य	७०	१९६
एकस्य भातो	८९	१९९
एकस्य भावो	८०	१९८
एकस्य भोक्ता	७५	१९७
एकस्य मूढो	७१	१९७
एकस्य रक्तो	७२	१९७
एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण	२०१	४१४
एकस्य वाच्यो	८४	१९८
एकस्य वेद्यो	८८	१९९
एकस्य सान्तो	८२	१९८
एकस्य सूक्ष्मो	७७	१९८
एकस्य हेतुर्न	७८	१९८
एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा	१५	४१
एषैकैव हि वेदना	१५६	३०९

	का. सं.	पृ. सं.
क		
कथमपि समुपात्त	२०	४६
कथमपि हि लभन्ते	२१	४८
कर्ता कर्ता भवति न यथा	९९	२०६
कर्ता कर्मणि नास्ति	९८	२०५
कर्तारं स्वफलेन यत्किल	१५२	३०४
कर्तुर्वेदयितुश्च युक्तिवशतो	२०९	४३२
कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९४	३९५
कर्म सर्वमपि सर्वविदो	१०३	२१३
कर्मैव प्रवितर्क्य कर्तृहतकैः	२०४	४१८
कषायकलिरेकतः	२७४	५४६
कान्त्यैव स्नपयन्ति ये	२४	५६
कार्यत्वादकृतं न कर्म	२०३	४१७
कृतकारितानुमननै	२२५	४६९
क्लिश्यन्तां स्वयमेव	१४२	२८४
क्वचिल्लसति मेचकं	२७२	५१३
घ		
घृतकुम्भाभिधानेऽपि	४०	१०७
च		
चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्व	३६	९०
चित्पिण्डचण्डिमविलासविकास	२६८	५३३
चित्रात्मशक्तिसमुदायमयो	२७०	५२३
चिरमिति नवतत्त्व	८	३१
चित्स्वभावभरभावितभावा	९२	२०१
चैद्रूप्यं जडरूपतां च	१२६	२५४
ज		
जयति सहजतेजः	२७५	५३६
जानाति यः स न करोति	१६७	३२९
जीवः करोति यदि पुद्गलकर्म	६३	१६९
जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा	३३	७६
जीवादजीवमिति	४३	१०९
ट		
टङ्कोत्कीर्णविशुद्धबोधविसरा	२६१	५२४
टङ्कोत्कीर्णस्वरसनिचित	१६१	३११

	का. सं.	पृ. सं.
त		
तज्ज्ञानस्यैव सामर्थ्यं	१३४	२६९
तथापि न निरर्गलं	१६६	३२८
तदथ कर्म शुभाशुभभेदतो	१००	२०७
त्यक्तं येन फलं स कर्म	१५३	३०६
त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि	१९१	३९३
त्यजतु जगदिदानीं	२२	५२
द		
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयात्मा	२३९	५०३
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रित्वा	१६	४१
दर्शनज्ञानचारित्रैस्त्रिभिः	१७	४३
दूरं भूरिविकल्पजालगहने	९४	२०३
द्रव्यलिङ्गममकारमीलितै	२४३	५०६
द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकच	१८०	३६९
ध		
धीरोदारमहिम्न्यनादिनिधने	१२३	२४८
न		
न कर्मबहुलं जगन्न	१६४	३२५
न जातु रागादि	१७५	३५९
ननु परिणाम एव किल	२११	४३७
नमः समयसाराय	१	९
न हि विदधति बद्ध	११	३८
नाश्नुते विषयसेवनेऽपि	१३५	२७१
नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः	२००	४११
निजमहिमरतानां	१२८	२६०
नित्यमविकारसुस्थित	२६	६०
निर्वर्त्यते येन यदत्र किञ्चित्	३८	१०५
निःशेषकर्मफल	२३१	४८९
निषिद्धे सर्वस्मिन्	१०४	२१३
नीत्वा सम्यक् प्रलय	१९३	३९५
नैकस्य हि कर्तारौ द्वौ	५४	१४०
नैकान्तसंगतदृशा स्वयमेव वस्तु	२६५	५३०
नोभौ परिणमतः खलु	५३	१४०
प		
पदमिदं ननु कर्मदुरासदं	१४३	२८५
परद्रव्यग्रहं कुर्वन्	१८६	३८५
परपरिणतिहेतो	३	४
परपरिणतिमुज्झत्	४७	११८
परमार्थेन तु व्यक्त	१८	४३
पूर्णैकाच्युतशुद्धबोधमहिमा	२२२	४६२
पूर्वबद्धनिजकर्म	१४६	२९४
पूर्वालम्बितबोध्यनाशसमये	२५६	५२१
प्रच्युत्य शुद्धनयतः	१२१	२४६
प्रज्ञाछेत्री शितेयं	१८१	३७६
प्रत्यक्षालिखितस्फुटस्थिर	२५२	५२०
प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म	२२८	४८०
प्रमादकलितः कथं भवति	१९०	३९२
प्राकारकवलिताम्बर	२५	६०
प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं	१५९	३१०
प्रादुर्भावविराममुद्रित	२६०	५२३
ब		
बन्धच्छेदात्कलयदतुलं	१९२	३९३
बहिर्लुठति यद्यपि	२१२	४३८
बाह्यार्थग्रहणस्वभावभरतो	२५०	५१९
बाह्यार्थैः परिपीतमुज्झित	२४८	५१८
भ		
भावयेद्भेदविज्ञान	१३०	२६२
भावास्रवाभावमयं प्रपन्नो	११५	२३६
भावो रागद्वेषमोहैर्विना यो	११४	२३५
भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षण	१८२	३७९
भिन्नक्षेत्रनिषण्णबोध्य	२५४	५२०
भूतं भान्तमभूतमेव	१२	३८
भेदज्ञानोच्छलन	१३२	२६४
भेदविज्ञानतः सिद्धाः	१३१	२६३
भेदोन्मादभ्रमरसभरा	११२	२२७
भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य	१९६	४०१

	का. सं.	पृ. स.
म		
मग्नाः कर्मनयावलम्बनपरा	१११	२२७
मज्जन्तु निर्भरममी	३२	७५
माकर्तारममी स्पृशन्तु	२०५	४२८
मिथ्यादृष्टेः स एवास्य	१७०	३३७
मोक्षहेतुतिरोधानात्	१०८	२२१
मोहविलासविजृम्भित	२२७	४७७
मोहाद्यदहमकार्षं	२२६	४७४
य		
य एव मुक्त्वा नयपक्षपातं	६९	१९६
यत्तु वस्तु कुरुते	२१४	४३९
यत्सन्नाशमुपैति तन्न नियतं	१५७	३०९
यदि कथमपि धारावाहिना	१२७	२५८
यदिह भवति रागद्वेष	२२०	४५७
यदेतज् ज्ञानात्मा	१०५	२१७
यत्र प्रतिक्रमणमेव	१८९	३९२
यस्माद्द्वैतमभूत्पुरा	२७७	५३९
यः करोति स करोति केवलं	९६	२०४
यः परिणमति स कर्ता	५१	१३९
यः पूर्वभावकृतकर्म	२३२	४८९
यादृक् तादृगिहास्ति	१५०	३००
यावत्पाकमुपैति कर्मविरति	११०	२२६
ये तु कर्तारमात्मानं	१९९	४०७
ये तु स्वभावनियमं	२०२	४१४
ये त्वेनं परिहृत्य	२४१	५०४
ये ज्ञानमात्रनिजभावमयी	२६६	५२३
योऽयं भावो ज्ञानमात्रो	२७१	५३४
र		
रागजन्मनि निमित्ततां	२२१	४५७
रागद्वेषद्वयमुदयते	२१७	४५१
रागद्वेषविभावमुक्तमहसो	२२३	४६४
रागद्वेषविमोहानां	११९	२४३
रागद्वेषाविह हि भवति	२१८	४५४
रागद्वेषोत्पादकं तत्त्वदृष्ट्या	२१९	४५५
रागादयो बन्धनिदानमुक्ता	१७४	३५८
रागादीनामुदयमदयं	१७९	३६८
रागादीनां झगिति विगमात्	१२४	२४८
रागाद्यास्रवरोधतो	१३३	२६६
रागोद्गारमहारसेन सकलं	१६३	३२१
रुन्धन् बन्धं नवमिति	१६२	३१९
ल		
लोकः कर्मततोऽस्तु	१६५	३२८
लोकः शाश्वत एक एष	१५५	३०८
व		
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदन्तु	३९	१०६
वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा	३७	९५
वर्णाद्यैः सहितस्तथा	४२	१०९
वस्तु चैकमिह नान्यवस्तुनो	२१३	४३८
विकल्पकः परं कर्ता	९५	२०४
विगलन्तु कर्मविषतरु	२३०	४८१
विजहति न हि सत्तां	११८	२४३
विरम किमपरेणाकार्य	३४	८२
विश्रान्तः परभावभावकलना	२५८	५२२
विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावा	१७२	३४७
विश्वं ज्ञानमिति प्रतर्क्य	२४९	५१८
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०७	२२१
वृत्तं कर्मस्वभावेन	१०६	२२१
वृत्त्यंशभेदतोऽत्यन्तं	२०७	४२९
वेद्यवेदकविभावचलत्वाद्	१४७	२९७
व्यतिरिक्तं परद्रव्यादेवं	२३७	४९८
व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि	५	२७
व्यवहारविमूढदृष्टयः	२४२	५०६
व्याप्यव्यापकता तदात्मनि	४९	१२५
व्यावहारिकदृशैव केवलं	२१०	४३३
श		
शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पित	२१५	४५०
शुद्धद्रव्यस्वरसभवनात्किं	२१६	४५०

	का. सं.	पृ. सं.
स		
सकलमपि विहायाह्नाय	३५	९०
समस्तमित्येवमपास्य कर्म	२२९	४८०
संन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं	११६	२४०
संन्यस्तव्यमिदं समस्तमपि	१०९	२२६
संपद्यते संवर एष	१२९	२६२
सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं	१५४	३०६
सम्यग्दृष्टिः स्वयमयमहं	१३७	२७६
सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं	१३६	२७२
सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं	३०	७०
सर्वत्राध्यवसानमेवमखिलं	१७३	३५१
सर्वद्रव्यमयं प्रपद्य	२५३	५२०
सर्वस्यामेव जीवन्त्यां	११७	२४०
सर्वं सदैव नियतं	१६८	३३५
सिद्धान्तोऽयमुदात्तचित्त	१८५	३८४
स्थितेति जीवस्य निरन्तराया	६५	१८१
स्थितेत्यविघ्ना खलु पुद्गलस्य	६४	१७७
स्याद्वादकौशलसुनिश्चल	२६७	५३२
स्याद्वाददीपितलसन्महसि	२६९	५३३
स्वशक्तिसंसूचितवस्तुतत्त्वै	२७८	५३९
स्वक्षेत्रस्थितये पृथग्विध	२५५	५२१
स्वेच्छासमुच्छलदनल्प	९०	१९९
स्वं रूपं किल वस्तुनो	१५८	३१०
ह		
हेतुस्वभावानुभवाश्रयाणां	१०२	२१०
क्ष		
क्षणिकमिदमिहैकः	२०६	४२८
ज्ञ		
ज्ञप्तिः करोतौ न हि	९७	२०४
ज्ञानमय एव भावः	६६	१८५
ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि	१४९	२९९
ज्ञानस्य संचेतनयैव नित्यं	२२४	४६७
ज्ञानादेव ज्वलनपयसो	६०	१५७
ज्ञानाद्विवेचकतया तु	५९	१५७
ज्ञानिन् कर्म न जातु	१५१	३०३
ज्ञानिनो न हि परिग्रहभावं	१४८	२९९
ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः	६७	१८६
ज्ञानी करोति न	१९८	४०५
ज्ञानी जानन्नपीमां	५०	१३१
ज्ञेयाकारकलङ्कमेचकचिति	२५१	५१९

शुद्धिपत्रक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	३	चेति	गच्छेति चेति
७	५	षरसमयम्	परसमयम्
१५	१०	अपने आप	अपने आपसे
२०	१३	ज्ञानामात्मे····	ज्ञानमात्मे····
२९	७	भूतार्थनयेक····	भूतार्थनयेनैक····
,,	१६	ज्ञात्या	ज्ञात्वा
,,	२१	····सम्यक्त्वानि	····सम्यक्त्वनि
३०	९	अभिगदा शुद्धनयेन	शुद्धनयेन अभिगदा
,,	१०	संवरतिर्जरा	संवरनिर्जरा
,,	११	भवति । निश्चये	भवन्ति । निश्चयेन
३१	४	तत्रोपात्तामु····	तत्रोपात्तानु····
३४	२८	इसलिये	असत्यार्थता है–इसलिये
३५	१७	अनुभव	अनुभवन
३७	७	सम्यक्श्रद्धानानु····	सम्यक्श्रद्धानज्ञानानु····
,,	२८	चैतन्यशक्तिमान	चैतन्यशक्तिमात्र
३९	२१	अनुभूति है,	अनुभूति है, वही इस ज्ञानकी अनुभूति है,
४०	९	निश्चयनगेननो	निश्चयनयेनो
५०	७	पूर्वमासीग्नाग्ने	पूर्वमासीन्नाग्ने
५१	१५	प्ररह	तरह
५५	१०	शिष्ट	शिष्य
५८	१६	खघु	खलु
६०	११	संकरः	संकरः संयोगः
६१	१७	आदं	मुणइ आदं
६२	१०	"क्रोष"	"क्रोध"
६३	२५	दूसरी	दूरकर दूसरी
६५	८	पूर्वपक्षे····	पूर्वपक्ष····
६६	३	श्रद्धाय न	श्रद्धाय च
६७	२७	ऐसा हैं	हैं ऐसा
६९	६	मता	सता
६९	१०	परस्परसाधारण····	परस्परसाधारणा····

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७६	११	खल	खलु
,,	१४	णिच्यवाईहि णिद्दट्ठा	णिच्छयवाईहिं णिद्दिट्ठा
११४	१५	किया है	क्रिया है
१३४	५	....रङ्गवस्थयोः	....रङ्गावस्थयोः
,,	१६	आत्मानाम्	आत्मानम्
,,	१७	जानाहि	जानीहि
१३८	२५	जो परिणाम	दो परिणाम
१४५	५	हृदि	होदि
,,	१६	भादस्	भावम्
१५२	४	अण्णाणं	अप्पाणं
१५५	१४	जाणदि	जाणदि सो
१६२	९	वचन-	वचनकाय-
१६९	१५	तथा	यथा
१८२	२	कुणदि	जं कुणदि
१८८	१२	....भावावाणं	....भावाणं
,,	२२	देवलोण	देवलोके
१९२	१२	किं	किं च
,,	१६	कम्माभावे	कम्मभावेण
२१३	१४	विन्दन्त्येते	स्वयं विन्दन्त्येते
२२३	२६	सर्वज्ञानदर्शी	सर्वज्ञानदर्शी
२२७	१६	को तो	आत्माको तो
२४२	१५	होने	होने पर
२४५	२९	आत्मस्वरू	आत्मस्वरूप
३२४	१२	एवं तथा	एवं यथा
३४०	१९	अलोके	अलीके
३४३	१९	अध्यवसान	अध्यवसान नहीं
४०४	१८	आवेदक	अवेदक
४१७	२७	प्रकृत	प्रकृति
५०१	३०	देह मोक्ष का	आत्मा के देह मोक्ष का
५१०	२९	समय का नाम	समय नाम
५१०	३३	शब्दब्रह्म को	शब्दब्रह्म परमब्रह्म को

पृष्ठ १६६ पंक्ति ३१ "ऐसा विकल्प होता है" के बाद जोड़े "वह निर्विकल्प विज्ञानघन-स्वभावसे भ्रष्ट और विकल्पोंमें तत्पर अज्ञानियोंके होता है।"

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित

श्री परमश्रुतप्रभावक मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

(१) गोम्मटसार जीवकाण्ड

श्री नेमिचंन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, श्री ब्रह्मचारी पं० खूबचन्दजी सिद्धान्त-शास्त्रीकृत संस्कृत छाया तथा नयी हिन्दी टीका युक्त। अबकी बार पंडितजीने धवल, जयधवल, महाधवल और बडी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृत टीका लिखी है। पंचमावृत्ति

मूल्य—उन्नीस रुपये।

(२) गोम्मटसार कर्मकाण्ड

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीकृत मूल गाथाएँ, पं० मनोहरलालजी शास्त्रीकृत संस्कृत छाया और हिन्दी टीका। पं० खूबचन्दजी द्वारा संशोधित। जैन सिद्धान्त-ग्रन्थ है। चतुर्थावृत्ति।

मूल्य—सत्रह रुपये।

(३) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा

स्वामिकार्तिकेयकृत मूल गाथाएँ, श्री शुभचन्द्रकृत बडी संस्कृत टीका तथा स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक पं० कैलासचन्द्रजी शास्त्रीकृत हिन्दी टीका। डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक संपादन। द्वितीयावृत्ति।

मूल्य—उन्नीस रुपये।

(४) परमात्मप्रकाश और योगसार

श्री योगीन्दुदेवकृत मूल अपभ्रंश दोहे, श्री ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका व पं० दौलतरामजीकृत हिन्दी टीका। विस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित। महान् अध्यात्मग्रंथ। डॉ० आ० ने० उपाध्येका अमूल्य सम्पादन। नवीन चतुर्थ संस्करण। मूल्य—अठारह रुपये।

(५) ज्ञानार्णव

श्री शुभचन्द्राचार्यकृत महान् योगशास्त्र। सुजानगढ़ निवासी पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत हिन्दी अनुवाद सहित। पंचमावृत्ति। मूल्य—पच्चीस रुपये।

(६) प्रवचनसार

श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित ग्रन्थरत्नपर श्री अमृतचन्द्राचार्य कृत तत्त्वप्रदीपिका एवं श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकाएँ तथा पांडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीका। डॉ० आ० ने० उपाध्येकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद तथा विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन। चतुर्थावृत्ति। मूल्य—छत्तीस रुपये।

(७) बृहद्द्रव्यसंग्रह

आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवविरचित मूल गाथाएँ, संस्कृत छाया, श्री ब्रह्मदेवविनिर्मित संस्कृतवृत्ति और पं० जवाहरलाल शास्त्रीप्रणीत हिन्दीभाषानुवाद। षड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम ग्रन्थ। चतुर्थावृत्ति। मूल्य—बारह रुपये पचास पैसे।

(८) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

श्री अमृतचन्द्रसूरिकृत मूल श्लोक । पं० टोडरमल्लजी तथा प० दौलतरामजीकी टीकाके आधार पर पं० नाथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दी टीका सहित । श्रावकमुनिधर्मका चित्तस्पर्शी अद्भुत वर्णन । षष्ठावृत्ति । मूल्य—पाँच रुपये ।

(९) पञ्चास्तिकाय

श्री कुन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज । श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत 'समयव्याख्या' (तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति) एवं श्री जयसेनाचार्यकृत 'तात्पर्यवृत्ति' नामक संस्कृत टीकाओंसे अलंकृत और पांडे हेमराजजी रचित बालावबोधिनी भाषाटीकाके आधारपर पं० पन्नालालजी बाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दी अनुवाद सहित । तृतीयावृत्ति । मूल्य—सात रुपये ।

(१०) स्याद्वादमञ्जरी

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्यकृत अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका तथा श्री मल्लिषेणसूरिकृत संस्कृत टीका। श्री जगदीशचन्द्र शास्त्री एम० ए० पी० एच० डी० कृत हिन्दी अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। बड़ी खोजसे लिखे गये ८ परिशिष्ट हैं। चतुर्थावृत्ति।

मूल्य—इक्कीस रुपये ।

(११) इष्टोपदेश

श्री पूज्यपाद-देवनन्दि आचार्यकृत मूल श्लोक, पंडितप्रवर श्री आशाधरकृत संस्कृतटीका, पं० धन्यकुमारजी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दीटीका, बैरिस्टर चम्पतरायजीकृत अंग्रेजी टीका तथा विभिन्न विद्वानों द्वारा रचित हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं अंग्रेजी पद्यानुवादों सहित भाववाही आध्यात्मिक रचना । द्वितीय आवृत्ति । मूल्य—दो रुपये पचास पैसे ।

(१२) लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)

श्री नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्तीरचित करणानुयोग ग्रन्थ । पंडितप्रवर टोडरमल्लजीकृत बड़ी टीका सहित । श्री फूलचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीका अमूल्य सम्पादन । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—तेंतालीस रुपये ।

(१३) द्रव्यानुयोगतर्कणा

श्री भोजकविकृत मूल श्लोक तथा व्याकरणाचार्य ठाकुरप्रसादजी शर्माकृत हिन्दी अनुवाद । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—ग्यारह रुपये पचीस पैसे ।

(१४) न्यायावतार

महान् तार्किक आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकरकृत मूल श्लोक व जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० कृत श्री सिद्धर्षिगणिकी संस्कृतटीकाका हिन्दीभाषानुवाद । न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है । द्वितीयावृत्ति । मूल्य—छः रुपये ।

(१५) प्रशमरतिप्रकरण

आचार्य श्री उमास्वातिविरचित मूल श्लोक, श्री हरिभद्रसूरिकृत संस्कृतटीका और पं० राजकुमारजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित सरल अर्थ सहित वैराग्यका बहुत सुन्दर ग्रन्थ है। प्रथमावृत्ति । मूल्य—छः रुपये ।

(१६) सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र (मोक्षशास्त्र)

श्री उमास्वातिकृत मूलसूत्र और स्वोपज्ञ भाष्य तथा पं० खूबचन्दजी सिद्धान्तशास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका। तत्त्वोंका हृदयग्राह्य गम्भीर विश्लेषण। द्वितीयावृत्ति। मूल्य—छः रुपये।

(१७) सप्तभंगीतरंगिणी

श्री विमलदासकृत मूल और पंडित ठाकुरप्रसादजी शर्मा कृत भाषाटीका। न्यायका महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ। तृतीयावृत्ति। मूल्य—छः रुपये।

(१८) समयसार

आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित महान् अध्यात्म ग्रन्थ। आत्मख्याति, तात्पर्यवृत्ति, आत्मख्यातिभाषावचनिका—इन तीन टीकाओं सहित तथा पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य द्वारा सम्पादित। तृतीयावृत्ति। मूल्य—बत्तीस रुपये।

(१९) इष्टोपदेश

मात्र अंग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मूल्य—पचहत्तर पैसे।

(२०) परमात्मप्रकाश

मात्र अंग्रेजी प्रस्तावना व मूल गाथाएँ। मूल्य—दो रुपये।

(२१) योगसार

मूल गाथाएँ व हिन्दी सार। मूल्य—पचहत्तर पैसे।

(२२) कार्तिकेयानुप्रेक्षा

मूल्य गाथाएँ और अंग्रेजी प्रस्तावना। मूल्य—दो रुपये पचास पैसे।

(२३) प्रवचनसार

अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठांतर सहित। मूल्य—पाँच रुपये।

(२४) अष्टप्राभृत

श्री कुन्दकुन्दाचार्य विरचित मूल गाथाओंपर श्री रावजीभाई देसाई द्वारा गुजराती गद्य पद्यात्मक भाषान्तर। मूल्य—दो रुपये।

(२५) मोक्षमाला (भावनाबोध सहित)

श्रीमद् राजचन्द्रकृत मूल गुजराती ग्रन्थका श्री हंसराजजीकृत हिन्दी अनुवाद। इसमें जैन धर्मको यथार्थ समझानेका प्रयास किया गया है। भाषाशैली बहुत सुन्दर और सरल है। इसमें १०८ शिक्षापाठ हैं। साथमें भावनाबोधमें बारह भावनाओंका सुन्दर दृष्टान्तसहित वर्णन है। तृतीयावृत्ति मूल्य—छः रुपये

(२६) श्रीमद् राजचन्द्र

श्रीमद् राजचन्द्रके मूल गुजराती पत्रों व रचनाओंका श्री हंसराजजीकृत हिन्दी अनुवाद तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है। मूल्य—बाईस रुपये पचास पैसे

अधिक मूल्यके ग्रन्थ मँगानेवालोंको कमिशन दिया जायेगा। इसके लिये वे हमसे पत्रव्यवहार करें

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगासकी ओरसे

प्रकाशित गुजराती ग्रन्थ

१. श्रीमद् राजचन्द्र २. मोक्षमाला (भावनाबोध सहित) ३. तत्त्वज्ञान ४. पत्रशतक ५. आत्मसिद्धि शास्त्र ६. सुबोध संग्रह ७. श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला ८. श्रीमद् राजचन्द्र आत्मकथा ९. श्रीमद् लघुराजस्वामी (प्रभुश्री) उपदेशामृत १०. नित्यक्रम ११. नित्यनियमादि पाठ (भावार्थ सहित) १२. समाधिसोपान (रत्नकरण्ड श्रावकाचारके विशिष्ट स्थलोंका अनुवाद) १३. आठ दृष्टिनी सज्झाय (भावार्थ सहित) १४. आलोचनादि पद संग्रह १५. आलोचनादि पद संग्रह (संक्षिप्त) १६. सहजसुखसाधन १७. धर्मामृत (अप्राप्य) १८. समयसार (अप्राप्य) १९. ज्ञानमंजरी (अप्राप्य) २०. पूजासंचय २१. तत्त्वज्ञान तरंगिणी २२. परमात्मप्रकाश २३. सुवर्ण-महोत्सव (आश्रम परिचय) २४. पूजादि स्मरणांजलि काव्यो २५. A Great Seer २६. श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला (हिन्दी अनुवाद) २७. नित्यनियमादि पाठ भावार्थयुक्त (हिन्दी अनुवाद) २८. नित्यक्रम (बालबोध लिपि) २९. तत्त्वज्ञान (बालबोध लिपि)।

आश्रमके गुजराती प्रकाशनोंका पृथक् सूचीपत्र मंगाइये। सभी ग्रन्थोंपर डाकखर्च अलग रहेगा।

: प्राप्तिस्थान :

१. श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम,
स्टेशन—अगास; पोस्ट—बोरिया
वाया—आणंद (गुजरात)
पिन : ३८८१३०

२. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल,
(श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला)
चोकसी चेम्बर, खारा कुंवा, जौहरी बाजार
बम्बई—४००००२